॥ सत्-नाम ॥

संस्कृत-बीजक

(द्वितीय भाग)

प्रकाशक :—

स्वसंवेद-कार्यालय, 'चेतनधाम' सीयाबाग, बड़ोदा.

कृपया यह ग्रन्थ नीचे निर्देशित तिथि के पूर्व अथवा उक्त तिथि तक वापस कर दें। विलम्ब से लौटाने पर प्रतिदिन दस पैसे विलम्ब शुल्क देना होगा।

॥ सत्यनाम ॥

स्वसंवेद ग्रन्थमाला-ग्रंन्थ पहला

श्रीमत्स्वामीश्रीहनुमद्दास (षड्शास्त्री) विरचितया 'स्वानुभूति' इत्याख्यया संस्कृत-व्याख्यया, श्लोकार्थ-बोधिन्या तथा च अक्षरार्थाख्या-भावार्थदीपिकया हिन्दीटीकया टिपण्यादिभिश्च समलङ्कृतः।

सुरहस्य-समन्वितः

संस्कृत-बीजकग्रंथः

(द्वितीयभागः)

सम्पादक :—

पं० मोतीदासजी चेतनदासजी 'चैतन्य'

सम्पादक, 'स्वसंवेद' बड़ोदा.

वि. स. २०११ द्वितीयावृत्ति } सत्क० प्रा० सं० ५५६ { ई. स. १९५४ प्रत १०००

मूल्य ७-०-० सात रुपया।

(डाकखर्च अलग)

प्रकाशक :—
पं. मोतीदासजी चेतनदासजी ।
स्वसंवेद-कार्यालय, 'चेतनधाम'
सीयाबाग, बड़ौदा (गुजरात)।

मुद्रक :—
पं० मोतीदासजी चेतनदासजी.
श्री कबीर प्रेस, 'चेतनधाम'
सीयाबाग-बड़ोदा।

ता. १६-६-५४

सत्यनाम।

नम्र वक्तव्य

'संस्कृत बीजक' का प्रथम भाग वि. सं. २०२७ में प्रकाशित हुआ था। और द्वितीय भाग का छपना भी उसी समय प्रारंभ हो गया था। किन्तु उसके प्रकाशन में समय-संयोगों की विषम परिस्थिति के कारण हम उसे शीघ्र प्रकाशित नहीं कर पाये। कारण केवल आर्थिक संकट ही सामने मुंह बांये खडा रहा। वह संकट अभी भी सामने खडा ही है। फिर भी बहुत समय तक छपे हुए भाग को रोक रखना अनुचित जान पडा और यह द्वितीय भाग के रूप में संस्कृत बीजक का शब्द प्रकरण, चौतीसा, वसंत, कहरा, चांचर, बेलि, हिंडोला, बिरहुली और विप्रमतीसी ये नौ प्रकरण प्रकाशित किये गये हैं। अंतिम साखी प्रकरण तृतीय भाग के रूप में प्रकाशित होगा।

इस संस्कृत बीजक के ये दो भागों के प्रकाशन में हमारे करीब ८ आठ हजार रुपये लग चुके हैं और साखी प्रकरण के तृतीय भाग के प्रकाशन में करीब ३ हजार और लग जायंगे। इस प्रकार एक 'संस्कृत बीजक' के प्रकाशन में करीब ११ ग्यारह हजार रूपये लग जायंगे। जिनके वापस लौटने में करीब १०-१५ वर्ष सहज लग जायंगे। ये सब रुपये हमने सूद पर कर्ज के रूप में लिये हैं जो ऋण चुकाना हमारा मुख्य कर्तव्य है।

यह सब कुछ साहस का कार्य हमने केवल साहित्य-सेवा की शुभेच्छा और भावना से किया है। और सद्गुरु की दया से यह पूर्ण होगा ऐसा हमारा दृढ विश्वास है।

ग्रन्थों के प्रकाशन में हजारों रुपये रुक जाते हैं और हम कोई वैसे धनपति नहीं कि यथेच्छ धन को लगा सकें। सद्गुरु के परमानुग्रह से हमारे हृदय में सद्गुरु-सेवा एवं साहित्य-सेवा और जन-सेवा की लगन है और इसी लगन से कार्य करते जाते हैं। भाग्यवश यदि हम धनपति होते तो शायद ऐसी लगन हृदय में न होती और लगन है तो धनपति नहीं है।

संसार का यह नियम है कि, ये दोनों एक साथ विरल होते हैं। इसलिये धनी मानी धर्मबन्धुओं को चाहिये कि, यथाशक्ति अपना धन सद्गुरु के ज्ञान-प्रचार, पंथ के साहित्य की अभिवृद्धि और जन-सेवा में लगा कर पवित्र बनावें। सद्गुरु का पावन वचन हैं—

कबीर सो धन संचिये, जो आगे को होय।
मूंड चढाये गाठरी, जात न देखा कोय॥

सद्गुरु से हमारी विनम्र प्रार्थना है कि, वे हमें ऐसी शक्ति, सद्बुद्धि और आत्मदृढता प्रदान करें कि हम शीघ्र ही संस्कृत बीजक का तृतीय भाग —साखी प्रकरण को आप सबों के शुभ करकमलों में पहुंचा सकें।

क्षति और अपराधों के लिये क्षमा चाहते हैं।

ज्येष्ठ शुक्ला ८, २०११ पं. मोतीदासजी

संस्कृत बीजक का तृतीय भाग।

इसी बीजक का तृतीय भाग, जिसमें कि अन्तिम साखी प्रकरण दिया गया है, छप रहा है और सद्गुरु की दया बनी रही तो शीघ्र ही आप लोगों के शुभ कर कमलों में पहुंच जायगा।

हमारी सभी इच्छायें पूर्ण नहीं हो सकतीं, क्यों कि हम सब तरह अपूर्ण और असमर्थ हैं। केवल सद्गुरु की कृपा ही जब हमारी इच्छाओं के अनुकूल होती हैं तभी सभी कार्य पूर्ण हो जाते हैं। अतः हमारा सारा कार्यभार सद्गुरु की पूर्ण दया पर निर्भर है। हमारे बस की कोई बात नहीं। हम तो प्रयत्न करते हैं, सफलता और यशस्विता सद्गुरु के हाथों में है।

तृतीय भाग भी करीब ६०० पृष्ठों का होगा। उसका मूल्य ५) पांच रुपया रहेगा। इस प्रकार संस्कृत बीजक के तीनों भागों का मूल्य १९) उन्नीस रुपये होगा। डाक खर्च अलग लगेगा। शीघ्र ही अपनी प्रति सुरक्षित करा लें। पता—

व्यवस्थापक : **स्वसंवेद-कार्यालय,**
'चेतनधाम' सीयाबाग, बड़ौदा, (गुजरात).

* सत्यनाम *
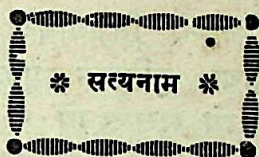
श्रीसद्गुरुचरणकमलेभ्यो नमः ।

सद्गुरु

कबीर साहब कृत बीजक ।

स्वानुभूतिव्याख्या तदनुवाद सहित ।

अथ शब्दसुधासहितशब्दप्रकरणम् ।

बीजक प्र० २ । तत्रोपोद्धातः ।

वन्दे वन्दारुवन्द्यं शमदमनिरतैर्योगिभिर्ध्यायमानं,
सत्याधारं शरण्यं ह्यविनयशमनं क्रोधलोभातिदूरम् ।
दातारं भावगम्यं खलु यमदमनं निर्भयं शान्तरूपं,
वर्द्धिष्णुं वर्द्धयन्तं जगदिदमखिलं पालयन्तं दयालुम् ॥ १ ॥

वन्दनशील भक्तों से वन्दनीय, शमदमादि में तत्पर योगियों से ध्यायमान, सत्य आधार रूप, शरण में प्राप्त के लिये हित, अविनय (क्रूरता) के नाशक, क्रोध, लोभ से अति दूर, ज्ञानादि के दाता, शुभ भाव (स्वभाव) से प्राप्ति योग्य, यम का दमन (शान्ति) करनेवाला, निर्भय, शान्त स्वरूप, वृद्धिशील को बढाता हुआ, इस सब जगत का पालनकर्ता दयालु की मैं बन्दना करता हूं ॥ १ ॥ जिस राम ने अपनी माया से

सृष्टिं विधाय जगतो निजमायया यः,
श्वासं यथा श्रुतिचयं प्रकटीचकार।
तस्माद्विमोक्षविधये सुखलब्धये च,
तं नौमि राममजरं जनतात्मरूपम् ॥ २ ॥
वेदादितत्त्वमखिलं निजभाषया यः,
सम्यग्ब्युवाच वचनाऽविषयं स्वरूपम्।
तं सर्ववन्द्यचरणं शरणं कबीरं,
नित्यं नमामि नमतां भवमुक्तिहेतुम् ॥ ३ ॥

ओं [1]कम्। खं स्यात् ॥ ४ ॥ सच्चित्। [2]शं स्यात् ॥ ५ ॥ नित्यं ध्येयम्। सत्यं ब्रह्म ॥ ६ ॥ ज्ञेयं तद्धि। शुद्धं बुद्धम् ॥ ७ ॥ एवं लभ्यम्। सौख्यं सत्यम् ॥ ८ ॥ साधनैश्चागमैः। सङ्गमैः

संसार की सृष्टि करके, उस संसार से मोक्ष की विधि (विधान) के लिये वेदसमूह को श्वास के समान अनायासे प्रगट किया, तथा सुख की प्राप्ति के लिये प्रगट किया, तिस जनसमूह के आत्मस्वरूप अजर राम को मैं नमस्कार करता हूं ॥२॥ जिस सद्गुरु ने सब वेदादि के तत्त्व (प्रतिपाद्य परमात्मा) रूप, वचनों के अविषय (अशक्य) स्वरूप (आत्मा)को अपनी भाषा द्वारा अच्छी तरह कहा है। नमस्कार करनेवालों की संसार से मुक्ति के हेतु, सब से वन्दनीय चरणवाले रक्षक उस कबीर गुरु को मैं सदा नमस्कार करता हूं ॥३॥

ओंकार का लक्ष्यरूप विभु सुख सब को हो ॥४॥ सत् चित् स्वरूप सुख सब को हो ॥५॥ सत्य ब्रह्म ही नित्य ध्येय हो, वा है ॥६॥ वही शुद्ध बुद्ध (सर्वज्ञ) ज्ञेय हो, वा है ॥७॥ एवं (इस प्रकार) ब्रह्म के ही ज्ञेय ध्येय होने पर, सत्य सुख लभ्य (प्राप्ति योग्य) हो वा होता है ॥८॥ विवेकादि साधनों से, और आगमों (शास्त्रों) से, साधुओं के साथ

१ कम् (सुखम्)। खम् (विभु)। २ शम् (कल्याणमानन्दः)।

साधुभिः ॥ ९ ॥ त्यागतः पुण्यजैः सत्कृतां कौशलैः ॥ १० ॥ निर्मलं स्वप्रभम् । ज्ञायते ह्यद्वयम् ॥ ११ ॥ ध्यायते ह्यद्वयम् । जायते स्वप्रभम् ॥ १२ ॥ आनन्दो ज्ञश्चैकः । सत्यं चिद्ब्रह्माऽहम् ॥ १३ ॥ जयति मे त्विदमहो । परपदं ह्यतिशयम् ॥ १४ ॥

यस्मिन्नेतत्सर्वं विश्वम् । मायामात्रं तद् ब्रह्माऽहम् ॥ १५ ॥ व्योम्नि पुरीव भाति हि लोकः । यत्र मृषैष ब्रह्म तदेकम् ॥ १६ ॥ योऽन्यवदस्ति नैव तु यत्र । सत्यं भिदास्ति ब्रह्म तदेकम् ॥ १७ ॥ रूपं सुखसिन्धोरत्यद्भुतभूतम् । गोऽतीतमगम्यं गोष्वेव सुलभ्यम् ॥ १८ ॥ परमदयालुः समजनपाली । भवति कृपालुर्यदि

सङ्गों से ॥ ९ ॥ त्याग से, पुण्य से जन्य सत्कर्मादि कर्ताओं की कुशलताओं (विचारादि) से, ॥ १० ॥ निर्मल स्वप्रकाश अद्वय ही ब्रह्मात्मा जाना जाता है ॥ ११ ॥ अद्वय का ध्यान किया जाता है, तो ध्याता स्वयं प्रकाश होता है ॥ १२ ॥ समझता है कि मैं आनन्द स्वरूप ज्ञाता एक हूं । सत्य चिद् ब्रह्म हूं ॥ १३ ॥ और मेरा यह आश्चर्य स्वरूप परपद (उत्तम स्थान-वस्तु) आत्मा अतिशय जयति (विराजता है) ॥ १४ ॥

जिस ब्रह्म में यह सब विश्व (भुवन-संसार) मायामात्र (मिथ्या) है, वह ब्रह्म मैं हूं ॥ १५ ॥ क्यों कि आकाश में नगरी तुल्य जिसमें यह लोक मिथ्या ही भासता है, सो ब्रह्म एक है ॥ १६ ॥ जो आत्मा अन्य के तुल्य है; परन्तु जिसमें सत्य भेद नहीं है वही एक ब्रह्म है ॥ १७ ॥ सुखसिन्धु का स्वरूप अत्यन्त अद्भुत स्वरूप है, जिससे गोतीत(इन्द्रियोंका अविषय, अप्राप्य) होते भी इन्द्रियों की वृत्तियों में ही साक्षी रूप से सुलभ है ॥ १८ ॥ वह सुखसिन्धु यदि हृदय में दृष्ट (अन्तर्यामी आत्मा रूप से प्रत्यक्ष) होता है, तो वह परम दयालु, सब जन के पालक स्वभाववाला, उस देखनेवाला के लिये विशेष कृपालु (दयालु) होता

हृदि दृष्टः ॥ १९ ॥ जगति सुसारं विगतविकारम् । भवनिधिपारं भज धिषणे[1]! तम् ॥ २० ॥ गुरोः पादपद्मे मनश्चेत्सुलग्नम् । तनुश्चेत्सुलग्ना सदा मङ्गले स्यात् ॥ २१ ॥ प्रज्ञैषा सच्चिद्रूपप्रस्थाना चेत्स्यात् । वाणी दोषाऽस्पृष्टा ह्येषा[2] भक्तिः शुद्धा ॥ २२ ॥ शुद्धोऽतिमतिमान् सच्चिच्छुभतनुः नित्यैकगतिमान् बुद्धो हि सुगुरुः ॥ २३ ॥ द्रोहैर्दम्भमुखैर्वै हीनं स्याद्धृदयं च । वाक्कायावनृताद्यैर्हीनौ मङ्गलमेतत् ॥ २४ ॥ जगतां नाशसाक्षी सदसङ्गी निराशीः । परमानन्दराशिर्निजमायाविलासी ॥ २५ ॥ [3]अगजगति सदा गतविकृतिभिदः । रविरविरतिभा इह जगति सुचित्

है । या वह कृपालु दीख पडने पर परम दयालु (कृपालु) होता है ॥ १९ ॥ इससे हे धिषणे ! (मते !) उसके दर्शन के लिये । जगत् में सुन्दर सार (सत्य) विकार रहित, भवसागर से पार रूप उसको भजो ॥ २० ॥ शुद्ध भक्ति (भजन) यह है कि गुरु के पद कमल में मन यदि सुलग्न हो, देह यदि सदा मङ्गल में सुलग्न हो । यह बुद्धि यदि सच्चिदात्मा में प्रस्थान (गमन) वाली हो, वाणी दोषों से अस्पृष्ट हो, तब यह होती है ॥ २१-२२ ॥ सदाचारादि से शुद्ध, अति बुद्धिमान सत् चित् रूप शुभ तनुवाला, नित्य एक (अनन्य) गतिवाला, ज्ञानी सुगुरु हैं ॥ २३ ॥ मङ्गल यह है कि हृदय द्रोहों (पर अपकार चिन्तनों) से हीन (त्यक्त-रहित) हो, तथा दम्भादि से हीन हो, वाक् देह झूठादि हिंसादि से रहित हों ॥ २४ ॥ सुचित (आत्मा) वह है जो जगत के नाश का भी साक्षी है, सत्स्वरूप असङ्ग, आशा-इच्छा रहित, परम आनन्द का राशि (समूह), अपनी माया से विलास (लीला-कार्य) कर्ता है ॥ २५ ॥

१ अतो दर्शनार्थमिति । २ तस्य शुद्धा भक्तिरेतादृशी भवति । ३ न गच्छतीत्यगः, गच्छतीति जगत् तत्समाहारे विकारादिरहितः ॥

॥ २६ ॥ प्रधानमतिरेषा ह्यभेदगतिशेषः। प्रभावकसुगीता यतो न पुनरेता ॥ २७ ॥ यो बुद्ध्या निजतत्त्वं ब्रह्मान्यन्नहि विद्यात्। देवानां प्रवरोऽसौ सच्चिच्छुद्धसुपूज्यः ॥ २८ ॥

तस्यैव चेतनसत्यात्माऽस्ति पातकहा। यो भेदतोऽतिपरं नित्यं विभुं स्वमगात् ॥ २९ ॥ यस्य वचोऽमृतपानान्मर्त्य इहाऽमृत एव। सर्ववचोभिरगम्यः सैव महाजनपूज्यः ॥ ३० ॥ नित्यविवेकपरो यो रागविवर्जितचेताः। शान्तमना दमनिष्ठो भक्तियुतो निपुणः स्यात् ॥ ३१ ॥ चञ्चलचित्तं निगमैर्भक्तिबलै र्योगरसैः साधुषु सङ्गैर्वशमागच्छति चेत्स्यान्निपुणः ॥ ३२ ॥

चराचर में सदा विकार भेद रहित, सूर्यों का सूर्य, अति प्रकाश स्वरूप इस जगत में सुचेतन है ॥ २६ ॥

जिस बुद्धि से प्राणी फिर संसार में नहीं आवेगा, वही अभेद गति (मुक्ति) का शेष (अङ्ग) रूप, अर्थात् जिससे अभेद गति ही शेष (बाकी) रह जाती है, यही मति प्रधान (उत्तम) है, और प्रभावक (श्रेष्ठ साधक) सुगीत (कथित) है ॥ २७ ॥ जो बुद्धि से निजस्वरूप को ब्रह्म से अन्य नहीं जानेगा, वही देवताओं में अति श्रेष्ठ सत् चित् शुद्ध सुपूज्य हैं ॥ २८ ॥ जिसने भेद से अत्यन्त पर (भिन्न) नित्य विभु अपने स्वरूप को पाया, उसी का चेतन सत्यात्मा पातकहन्ता (नाशक) है ॥ २९ ॥ जिनके वचनामृत के पान (श्रवणादि) से मर्त्य (मरण शील प्राणी) अमृत (मुक्त) ही होता है। वही सब वचनों का अविषय, महाजनों से भी पूज्य हैं ॥ ३० ॥ जो नित्यात्मा के विवेक परायण, राग रहित मनवाला, शान्त मनवाला, दम (इन्द्रिय निरोध) में प्रेमवाला, भक्तियुक्त है, वही निपुण (कुशल) होगा ॥ ३१ ॥ यदि चञ्चल चित्त, वेदों से, भक्तिबल से, योगरस (वीर्य) से, साधुओं में सङ्ग से बश होता है, तो प्राणी निपुण होता है, होगा ॥ ३२ ॥ जिनका

वासः शुद्धं चेतो बुद्धं कायो नम्रः शान्तं यातम्। बाणी वेदो यस्मिंश्चैतन्नायं भेदस्तं वन्देऽहम् ॥ ३३ ॥ शुद्धं बुद्धं विद्धं सत्यं ब्रह्मानन्दं ह्यात्मान्तःस्थम्। स्वादं स्वादं नित्यं शान्तं तापोच्छित्यै तं वन्देऽहम् ॥ ३४ ॥ एकमेव यस्य चित्तमस्ति सत्यसक्तमद्य। देशिकेन्द्रपादभक्तिरस्ति तस्य सौख्यमत्र ॥ ३५ ॥

विचारपारदृश्वना कृता सुभक्तिरच्युता। पुनाति सा सदा शुभा नचात्र संशयः सताम् ॥ ३६ ॥ पराऽनुरागलक्षणा शमादि यत्र मण्डनम्। न कामक्रोधदीनता सदा सुपूज्यनन्दना ॥ ३७ ॥ भवाम्बुराशितारिका सुखावहा सुदारिका। विरागवित्तिपुत्रिका

वासः (वसन) शुद्ध है, चित्त बुद्ध (पण्डित वा ज्ञात) है, देह नम्र है, यात (गति-प्राप्ति) शान्त (शमयुक्त) है, वेद ही वाणी है; जिनमें ये सब है, और यह भेद नहीं है, उनकी मैं वन्दना करता हूं ॥ ३३ ॥ शुद्ध (निर्मल-निर्गुण) बुध (सर्वसाक्षी) विद्ध (व्याप्त वेधित) सत्य, अपने मन में स्थित, नित्य, ब्रह्मानन्द का स्वाद ले २ कर जो शान्त हैं, तापों की निवृत्ति के लिये मैं उनकी वन्दना करता हूं ॥ ३४ ॥ जिसका चित्त अद्य (आज) एक (केवल) सत्य में ही सक्त (आसक्त) है। और जिसको देशिकेन्द्र (गुरुश्रेष्ठ) के चरणों में भक्ति है, उसी को यहाँ सुख है ॥ ३५ ॥

विचार के पार को देखनेवाले से की गई अच्युता (अभ्रष्टा) सुभक्ति सदा शुभ होती, है, और वह सदा पवित्र करती है। इस में सत पुरुषों को संशय नहीं है ॥ ३६ ॥ वह भक्ति उत्तम अनुराग लक्षणा (स्वरूप) वाली होती है, जिसमें शमादि मण्डन (विभूषण) होता है, काम क्रोध से दीनता नहीं होती है, और सदा सुपूज्य नन्दन (पुत्र) ज्ञान विरागादि वाली होती है ॥ ३७ ॥ भवाम्बुराशि (विषय दुःखादि) से तारनेवाली, सुख प्राप्त करानेवाली, सुन्दर दारा स्त्री रूप; विराग

श्रुतिस्मृतिप्रमाणिका ॥ ३८ ॥ भवति भक्तिरिह चेद् विरहिता मदमुखैः । दमदयादिसहिता वितनुते मुदमलम् ॥ ३९ ॥ देवानामपि स देवः सद्भक्त्या भवविरक्तः । यस्यात्रासति न कश्चिल्लब्धव्यो भवति भावः ॥ ४० ॥ भूतानां देवचरितं दुःखाय च सुखाय च । सुखायैव हि साधूनां सर्वेषां विदितात्मनाम् ॥ ४१ ॥ छायेव कर्मसाचिव्यं भक्त्या देवा हि कुर्वते । साधवश्च भवन्त्येव सदैव दीनवत्सलाः ॥ ४२ ॥ श्रुतो वाऽनुस्मृतो ध्यातः आदृतश्च नमस्कृतः । पुनाति सर्वभूतात्मा देवानां देव उत्तमः ॥ ४३ ॥ बहिरन्तर्हरिर्यस्य सर्वात्मा भूतभावनः । निर्गुणो निर्विकल्पश्च स हरिर्नात्र संशयः ॥ ४४ ॥ आत्मनोऽव्यतिरेकेण यः पश्यति

विज्ञान पुत्रवाली श्रुति स्मृति प्रमाणवाली होती है ॥ ३८ ॥ यदि यहाँ मदादि से रहित दम दयादि सहित भक्ति होती है, तो पूर्ण आनन्द का विस्तार करती है ॥ ३९ ॥ वह देवों का भी देव है कि जो सद्भक्ति द्वारा संसार से विरक्त है, और जिसको इस असत जगत में प्राप्त करने योग्य कोई भाव (पदार्थ) नहीं है ॥ ४० ॥ देवताओं के चरित्र प्राणियों के दुःख और सुख दोनों के लिये होते हैं, और विदितात्मा (ज्ञानी) सब साधु के चरित्र सुख के ही लिये होते हैं ॥ ४१ ॥ देव सब भक्ति से छाया के समान कर्म में साचिव्य (साहाय्य) करते हैं, और साधु सब सदा ही दीन (दुर्गत-भीत) के वत्सल (प्रेमी) होते हैं ॥ ४२ ॥ सब प्राणी के आत्मारूप देवों का देव उत्तम पुरुष, श्रुत (सुना हुआ) वा अनुस्मृत (याद हुआ) ध्यात (ध्यानमें आया हुआ) आदृत (आदर पाया हुआ), नमस्कृत हुआ, श्रवणादि करनेवाले को पवित्र करता हैं ॥ ४३ ॥ क्योंकि सर्वात्मा भूतभावन (वर्द्धक) निर्गुण निर्विकल्प हरि जिसके बाहर भीतर हैं, सो हरि है, इस में संशय नहीं है ॥ ४४ ॥ जो अपनी आत्मा से अव्यतिरेक (अभिन्न) रूप से चराचर को

चराचरम् । मायामात्रं हि वा नित्यं स हरिर्नाऽपरो जनः ॥ ४५ ॥ हृदि सरसि सुपद्मे यो, बिलसति परमो हंसः । तमनुसरति पद्मे यो, भवति स परमो हंसः ॥ ४६ ॥

भयजलधिगतः कीटः स्मरति ननु यथा भृङ्गम् । भवजलधिगतो जीवः स्मरति यदि गुरुं ब्रह्म ॥ ४७ ॥ याति स तद्भावं त्वभयस्तिष्ठति चानन्दे वितते । किञ्चन न क्षीणं तमसस्त्वस्य लयः स्वच्छे परमे ॥ ४८ ॥ तरले तरङ्गवद्भवे विषयेन्द्रियादिसङ्गमे । प्रियता न तस्य सम्भवेद् विलयं तु यत्तमो व्रजेत् ॥४९॥ काम्यकर्म, तदनुशया यत्र न स्युरिह पुरुषे । कर्मबन्धमदविगतः साधुरेष भववियुतः ॥५०॥ यस्य नास्ति भववारिधौ देहगेहवनितादिषु । स्नेहलेशजनिरस्य वै जन्मबीजविगतः प्रियः ॥ ५१ ॥

देखता है, वा सदा मायामात्र (मिथ्या) देखता है, सो हरि है, दूसरा जन नहीं ॥ ४५ ॥ हृदय सरः (तडाग) में सुन्दर पद्म (कमल) में जो परम हंस (परमात्मा) बिलसता (सम्बन्ध) है । उसका जो पद्म ही में अनुसरन (खोज प्राप्ति) करता है, सो परम हंस होता है ॥ ४६ ॥

भय समुद्र में प्राप्त कीट भृंग का ही स्मरण करता है, और तद्रूप ही हो जाता है । तैसे ही यदि भवजलधि में प्राप्त जीव गुरु ब्रह्म का स्मरण करता है, तो वह तद्भाव (तद्रूपता) को पाता है, और व्यापक आनन्द में अभय स्थिर होता है, कुछ भी इसका क्षीण (नष्ट) नहीं होता है; किन्तु इसके तमोगुण (अज्ञान) का परम स्वच्छ में लय होता है ॥ ४७-४८ ॥ जिसका तम विलय को प्राप्त होता है, उसको तरङ्ग तुल्य तरल (चञ्चल) संसार विषयेन्द्रियादि सम्बन्ध में प्रियता (प्रेम) नहीं होती है ॥ ४९ ॥ काम्य कर्म और उसके अनुशय (अनुबन्ध) अनुयायी वासना जिस पुरुष में यहाँ नहीं है, यही संसार रहित साधु है ॥ ५० ॥ और जिसको संसार समुद्र में देह घर स्त्री आदि में स्नेहलेश की जनि

इति विहितमतिमतामखिलभुवनसुहृदाम्। श्रुतिगतविमलगतिर्गतिगतविकृतिर्भिदा ॥ ५२ ॥ शौचाभ्यां तपसा मौनादजस्रं श्रवणादिभिः। अहिंसादिभिराशुद्धैरेषा गतिरवाप्यते ॥ ५३ ॥ यदिदमात्मनि प्रदृश्यते ह्यखिलमिन्द्रियैरथोऽन्यतः। तदधिकं विनश्वरं परं ननु मनोमयं विकल्पितम् ॥ ५४ ॥ चक्षुर्भ्यां श्रवणादिना च यं गृह्णीयान्मनसापि वा। विद्यात्तं क्षणभङ्गुरं परं मायामात्रमथो मनोमयम् ॥ ५५ ॥ पुंसो यस्य भवति नामेयं सत्यभ्रान्तिरहह सोऽत्रत्ये। संभ्रान्तो भ्रमति न यावत्स्वं जानात्यद्वयमग्राह्यम् ॥ ५६ ॥

यो न ज्ञानयुतो न भक्तिनिपुणो ध्यानैकनिष्ठश्च नो।

(उत्पत्ति) नहीं है, इसका प्रिय (वल्लभ) आत्मा, जन्म के बीज से रहित है ॥ ५१ ॥ इस विहित (प्रतिपादित) बुद्धिवाले, सब भुवन के सुहृदों की बिकार भेद से रहित, वेद अवगत विमल गति होती है ॥ ५२ ॥ और बाहर भीतर का शौच, तप (शमदमादि), मौन सदा श्रवणादि, अहिंसादि से शुद्ध प्राणी से यह गति प्राप्त की जाती है ॥५३॥ जो कुछ यह आत्मा में सब जगत् दिखता है, इन्द्रियों से, अथो (अथवा) अन्य से, वह पर (केवल) मनोमय विकल्पित (अनेक रूप) अधिक (अत्यन्त) विनश्वर है ॥ ५४ ॥ इससे नेत्र और श्रवणादि से वा मन से भी जिसका ग्रहण (ज्ञान) करे, उसको केवल मायामात्र (मिथ्या) मनोमय और क्षणभङ्गुर ही समझे ॥ ५५ ॥ जिस पुरुष को नाम मात्र प्रसिद्ध वस्तु में सत्य का भ्रम होता है, सो अत्रत्य (यहाँ की वस्तु में) सम्यक् भ्रान्त होकर तबतक भ्रमता है कि जब तक अग्राह्य (अग्रह) अद्वय अपने स्वरूप को नहीं समझता है, यह महाकष्ट है ॥ ५६ ॥

जो ज्ञानयुक्त नहीं है, न भक्ति में वा भक्ति से निपुण है, न ध्यान में

नो साधुर्न विरक्तियुक्तधिषणः शुद्धा गतिर्यस्य नो ।
नैवास्ते च गुरुर्न मङ्गलयुतो दोषैकनिष्ठः सदा,
मायाद्वन्द्वपराजितः स भुवने भ्रान्तो मुधा भ्राम्यति ॥ ५७ ॥
तस्याप्यत्र सुबोधनाय निपुणं ज्ञानादिसम्पत्तये,
सर्वं ह्युक्तरहस्यसारसहितं वक्तुं परं पावनः ।
शब्दाख्यं सुमनोहरं हि कृतवान् भागं परं पावनं,
तं शृण्वन्तु जनाः सटीकमधुना दत्तावधाना मुदा ॥ ५८ ॥

एक निष्ठा (प्रेमस्थिति) वाला है, न साधु है, न विरक्त बुद्धिवाला है, न जिसकी शुद्ध गति है न गुरु है, न मङ्गलयुक्त है; किन्तु सदा दोष ही में एक निष्ठावाला है, सो माया और द्वन्द्व से पराजित भ्रान्त होकर भुवन में व्यर्थ ही भ्रमता है ॥ ५७ ॥ उसको भी सुन्दर बोध कराने के लिये, और अच्छी तरह ज्ञानादि सम्पत्ति के लिये ही उक्त रहस्य सार सहित सब अर्थ को कहने के लिये, पावन (सद्गुरु) ने 'शब्द' नामक सुमनोहर उत्तम पावन भाग का निर्माण किया है; टीका सहित उस भाग को इस समय सावधान लोक आनन्द से सुने ॥ ५८ ॥ इत्युपोद्घातः ॥

अथ सम्बन्धः ।

पूर्व प्रकरण में सृष्टि का वर्णनपूर्वक जीवों के रमण का प्रायः वर्णन किया गया है। रमण के अवधि रूप से मोक्ष विज्ञान का वर्णन हुआ है। और संसार तथा मोक्ष के कारण रूप मोह विवेकादि को कहा गया है। अज्ञान मोहमय अनादि संसार की भी आत्मज्ञानादि से निवृत्ति होती है, इससे धारणा सहित आत्मज्ञान ही मोक्ष का मुख्य साधन है; । इत्यादि वर्णन भी हुआ है। इस शब्द प्रकरण में आत्मज्ञान के हेतु विवेकादि की सिद्धि के लिये आत्माराम माया आदि का फिर भी इसलिये वर्णन किया

गया है, कि आत्मज्ञान अत्यन्त दुर्लभ है; बार २ विचारादि से ही प्राप्त होता है। व्याकरण के अनुसार अभिव्यक्ति के साधन को 'शब्द' कहते हैं। पूर्ववर्णित आत्मा आदि की अभिव्यक्ति (प्रत्यक्ष) के साधनरूप यह प्रकरण है, इससे यह शब्द प्रकरण कहा जाता है ॥

राममायानिरूपण प्रकरण १

रमैनी की अन्तिम साखी में संसार को स्वप्नतुल्य कहा गया है, सो सुन कर शंका हुई कि स्वप्न निद्रादोषजन्य होता है, और वासना आदि भी उसके कारण रहते हैं, इससे जागने पर निद्रा के अभाव से स्वप्न का अभाव होता है। संसार का निद्रा तुल्य कौन कारण है, कि जिसके अभाव से जन्मादि संसार का अभाव होता है? तब कहते हैं कि—

शब्द ॥ १ ॥

राम तेरी माया द्वन्द्व मचावै।
गति मति वाकी समुझि परे नहिं, सुर नर मुनिहिं नचावै ॥

जीवं वस्तुतया रामं मत्वा सद्गुरुरुक्तवान्।
रामेति वचनं ह्यादौ किम्वाह जगतां पतिम् ॥ १ ॥

पारमार्थिक स्वरूप से जीव को ही राम मान कर सद्गुरु ने आदि में राम ऐसा बचन कहा है। अथवा जगत के पति (ईश्वर वा ब्रह्म) को राम कहा है ॥१॥ 'आत्मैव सिद्धोऽद्वितीयो मायया ह्यन्यदिव। जीवेशाववभासेन करोति च ह्यतादिताः। माया चाविद्या च स्वयमेव भवति।' नृसिंहोत्तरतापिन्युपनिषद् खण्ड ९। के अनुसार, अद्वैत सत्यात्मा जिस माया से भिन्न के तुल्य होता है। जो अवभास द्वारा जीवेश्वर भाव को अनादि काल से सिद्ध करती है। जो स्वयं अविद्या और माया दो रूप को धारण करती है। हे राम! यह तुम्हारी माया सदा जन्ममरणादि द्वन्द्वों को अविद्या रूप होकर सिद्ध करती है। और वही सब भुवनादि की प्रकृति (मूल कारण)

का सीमर के शखा बढाये। फूल अनूपम बानी।
केतिक चातक लाग रहे हैं, चाखत रुवा उडानी॥

भो राम[1] तव मायेयं[2] सदा द्वन्द्वविधायिनी।
प्रकृतिः सर्वविश्वस्य तव शक्तिस्वरूपिणी॥ २॥
यावन्न ज्ञायते मत्या क्रूरा तस्या गतिर्जनैः।
तावन्नर्तयते सर्वान् देवान्नृंश्च मुनीनपि॥ ३॥
शाल्मलेरिव शाखाया वृद्धौ किं स्यात् प्रयोजनम्।
पुत्रपौत्रादिरूपाया यावद् द्वन्द्वानि सन्ति ते॥ ४॥
शाल्मलेरेव पुष्पं च यया स्यान्मनसः प्रियम्।
दर्शनेऽनुपमं भाति गन्धसारादिवर्जितम्॥ ५॥

है। तथा तेरी शक्ति रूप है ॥२॥ जबतक बुद्धिद्वारा उसकी क्रूर (कठिन–घातुक) गति (चाल) मनुष्यादि से नहीं समझी जाती है, तबतक वह, देव मनुष्य मुनि सब को नचाती है॥ ३॥

सीमर की शाखा तुल्य पुत्रपौत्रादि रूप शाखा की वृद्धि होने पर तेरा कौन प्रयोजन (फल) सिद्ध होगा, कि जबतक तुझें द्वन्द्व हैं॥ ४॥ और सीमर के फूल ही जैसे मन को प्रिय होते हैं, देखने में उपमा रहित

१ 'रमन्ते योगिनो यस्मिन् स रामः सत्सुखात्मकः। प्रत्यक् चेतनसर्वात्मा परं ब्रह्म न संशयः॥' तथा चोक्तं रामपूर्वता० १। ६–७। 'रमन्ते योगिनोऽनन्ते नित्यानन्दे चिदात्मनि। इति रामपदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयते॥' चिन्मयस्याद्वितीयस्य निष्कलस्याशरीरिणः। उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो-रूपकल्पना।'

२ एषा चतुर्विंशतिभेदभिन्ना माया परा प्रकृतिस्तत्समुत्थौ। कामक्रोधौ लोभ–मोहौ भयं च विषादशोकौ च विकल्पजालम्। धर्माऽधर्मौ सुखदुःखे च सृष्टिविनाशपाकौ नरके गतिश्च। वासः स्वर्गे जातयश्चाश्रमाश्च रागद्वेषौ विविधा व्याधयश्च'॥ ब्रह्मपु०।

काह खजूर बड़ाई तेरी। फल कोई नांह पावै।
ग्रीषम ऋतु जब आय तुलानी, छाया काम न आवै॥

पुत्रपौत्रादितस्तद्वद् या गतिः सौख्यसम्पदः।
ताः सर्वा विरसास्तुच्छा द्वन्द्वसत्त्वे भयप्रदाः॥ ६॥
फलार्थं शाल्मलिं यद्वत् सेवन्ते चातका भुवि।
स्वादार्थं सम्प्रवृत्तौ च तूलमुड्डीय गच्छति॥ ७॥
संसारशाल्मलिं तद्वत्सेवन्ते सर्वजन्तवः।
स्वादार्थं सम्प्रवृत्तौ च तत्फलं नश्यति क्षणात्॥ ८॥
खर्जूरस्येव वृद्ध्या वा कुलगोत्रादिवृद्धितः[1]।
किं महत्वं भवेद्देव! सत्फलं चेन्न लभ्यते॥ ९॥
खर्जूरस्य बहूच्चैस्त्वाद् यथा न प्राप्यते फलम्।
अभिमानोन्नतेभ्योऽपि तथा न प्राप्यते फलम्॥ १०॥

प्रतीत होते हैं, परन्तु गन्ध और सार (श्रेष्ठ मकरन्दादि) रहित होते हैं॥ ५॥ तैसेही पुत्रपौत्रादि से जो गति (यश स्वर्गादि) और सुखसम्पत (लक्ष्मी) होती है, द्वन्द्व रहते सो सब विरस (निःस्वाद) तुच्छ (शून्य) भयदायक होते हैं॥ ६॥ जैसे फल के लिये सीमर को चातक भूमि में सेवते हैं, और स्वाद के लिये प्रवृत्त होने पर उसमें से रूवा उड़ कर चलता है॥ ७॥ तैसे ही संसार सीमर को सब प्राणी सेवते हैं, स्वाद (भोग) के लिये प्रवृत्त होने पर सांसारिक फल क्षण में नष्ट होता है॥८॥

हे देव (राम)! वा कुलगोत्रादि की वृद्धि से खजूर के समान वृद्धि से क्या महत्त्व होगा, कि यदि सच्चा फल नहीं मिलता है॥ ९॥ जैसे खजूर के ऊंचा होने से उसका फल नहीं मिलता, तैसे ही अभि-

१ 'किं कुलेनोपादिष्टेन विपुलेन दुरात्मनाम्। कृमयः किं न जायन्ते कुसुमेषु सुगन्धिषु। हीनजातिप्रसूतोऽपि शौचाऽऽचारसमन्वितः। सर्वधर्मार्थकुशलः स कुलीनः सतां वरः'॥ भविष्यपु० ४। २०५। २१-२२॥

अपने चतुर और को सिखवे, कनककामिनी स्यानी।
कहहिं कबीर सुनहु हो सन्तो, राम चरण ऋत मानी ॥ १ ॥

ग्रीष्मे शान्तिप्रदा यद्वत्तस्यच्छाया भवेन्नहि।
तथैव कुलजात्यादिवृद्धिर्मृत्यौ न [1]शान्तिदा ॥ ११ ॥

हा तथापि महत्त्वार्थं स्वर्णकान्तादिलब्धये।
चातुर्य्यं कुर्वते सर्वे शिक्षयन्ति जनानपि ॥ १२ ॥

कनकादौ प्रवीणा हि स्वयमन्यांश्च मानवान्।
तच्छासति कुचातुर्यं नात्मानं राममव्ययम् ॥ १३ ॥

भोः साधो श्रूयतां सत्यं रामे संचरणं हितम्।
तदेव क्रियतां देव ! नान्यसङ्गो विधीयताम् ॥ १४ ॥

मानादि से उच्च लोकों से फल नहीं मिलता है ॥ १० ॥ जैसे ग्रीष्म (उष्ण) ऋतु में उस खजूर की छाया शान्तिप्रद नहीं हो सकती, तैसे ही कुल जाति आदि की वृद्धि मृत्यु (मरण, यम) के पास में शान्ति देनेवाली नहीं होती है ॥ ११ ॥

खेद की बात है कि तो भी सब लोक महत्त्व के लिये जो स्वर्ण कान्ता आदि की प्राप्ति है उसी के लिये चतुराई करते हैं, और अन्य लोकों को भी वही सिखाते हैं ॥ १२ ॥ कनकादि में जो स्वयं प्रवीण (कुशल) हैं, सो अन्य मनुष्य को भी उसी कुचातुर्य (निन्दित चतुराई) का उपदेश देते हैं; अव्यय आत्मा (स्वरूप) राम का उपदेश नहीं देते ॥ १३ ॥ हे साधो ! सत्य हित जो राम में संचरण (चित्त का प्रवेश-गमन) है, वह तुमसे सुना जाय, और हे देव ! वही संचरण करो, और अन्य का

१ 'रागद्वेषतमःक्रोधमदमात्सर्यवर्जनम्। विना राम! तपोदानाद्यपि क्लेशो न वस्तुदम्'॥ योगवा० ३।६।१०॥

रामे संचरणं सत्यं तदेव परमं पदम् ।
श्रीकबीरो ब्रवीत्येनं सावधानेन मन्यताम् ॥ १५ ॥
कुलगोत्रादिवृद्ध्या किं निपुलेन धनेन वा ।
यावन्न मनसः स्थैर्यं तावत्सर्वं निरर्थकम् ॥ १६ ॥
मैत्र्यादिभावनेनातो मनःस्थैर्यं विधीयताम् ।
द्वन्द्वानि सद्विवेकाद्यैर्मायां चापि त्यज ध्रुवम् ॥ १७ ॥
अज्ञानं त्यज्यतां सर्वं [1]रागद्वेषादिलक्षणम् ॥
रामं लब्ध्वा सदाऽऽनन्दं विजयस्व जगत्त्रयम् ॥ १८ ॥ १

सङ्ग नहीं करो ॥ १४ ॥ राम में संचरण ही सत्य है, वही परम पद (मोक्ष) है; श्रीकबीर गुरु इस प्रकार कहते हैं, सावधान (एकाग्र) मन से इसे समझो ॥ १५ ॥ कुलगोत्रादि की वृद्धि से वा विपुल (अगाध-बृहद्) धन से क्या? जबतक मन की स्थिरता नहीं है, तबतक सब निरर्थक है ॥ १६ ॥ इससे मैत्री करुणा मुदिता उपेक्षा की भावना सुखी, दुःखी, पुण्यात्मा, पापात्मा, में यथायोग्य करके मन की स्थिरता करो, और सद्विवेकादि से द्वन्द्व सब को और माया को भी ध्रुव (अजस्र-सदा) त्यागो ॥ १७ ॥ रागद्वेषादि रूप सब अज्ञान को त्यागो, और सत्यानन्द स्वरूप राम को पाकर, तीनों लोक को जीत लो ॥ १८ ॥

अक्षरार्थ– हे राम (जीवात्मन्)! तेरी माया (तेरे स्वरूपाश्रित अविद्या) ही सदा जन्ममरण रागद्वेषादि द्वन्द्वों को मचाती (उत्पन्न करती) है; इससे अविद्या की निवृत्ति से ही जन्मादि संसार की निवृत्ति होती है। और मति (विवेकवती बुद्धि) से जबतक इसकी गति

१ 'रागो द्वेषो भयं मोहो हर्षः शोकोऽभिमानिता । कामः क्रोधो विषादश्च दर्पश्चालस्यमेव च । इच्छा लोभश्च दम्भाद्याः परवृद्ध्युपतापिता । अज्ञान-मेतन्निर्दिष्टं पापानां चैव या क्रिया' ॥ महाभा० शा० अ० १५९ । ६-७ ॥

(व्यवहार-आश्रय) समझ में नहीं आती है, तबतक वह देव मनुष्यादि सबको नचाती है। या उसकी गति (प्रवृत्ति) मति (विज्ञानशक्ति) से समझ में नहीं आती। इससे सुरादि सबको भ्रममें डालती है। अर्थात् माया ही चिदाभासादि युक्त होकर, ईश्वर बनी है और गुणाविशेष से ब्रह्मा आदि होकर, जीवों के कर्मानुसार सब व्यवहार करती है। शुद्ध चेतनात्मा असंग है।। और सब को क्यों नचाती है सो पता नहीं।

सीमर की शाखाओं के समान वह माया पुत्रादि को बढाती है, तथा उसीके निःसार निर्गन्ध पुष्प के समान अनूपम बानी (उपमा रहित रंग-वर्ण) वाला, या बानी (कथन) मात्र के अनुपम (सुन्दर) को प्राप्त कराती है। परन्तु यदि अविद्या द्वन्द्व नहीं निवृत्त हुए तो शाखा तुल्य पुत्रादि के बढाने से क्या फल है ? वा पुष्प तुल्य धनादि से भी क्या होता है ? ये सब निरर्थक हैं। क्योंकि अज्ञ चातक जैसे सीमर को फलरस की इच्छा से सेवता है, परन्तु चाखते (खाने में लगते) ही उसके फलमें से रूवा उडता है। तैसे ही अज्ञ प्राणी कितने धनादि में लगे (फंसे) हैं; परन्तु भोग में प्रवृत्त होते ही धनादि नष्ट होते हैं। इन से तृप्ति नहीं होती है।

माया से यदि कुल जाति आदि की वृद्धिद्वारा खजूर की नाईं बड़ाई मिली, तो उस तेरी बडाई से तुझे क्या फल मिला ? क्योंकि बहुत बडे खजूर के फल को जैसे कोई नहीं पाता है। तैसे केवल जाति कुलादि के अभिमानी से वा अभिमान से कोई सच्चा फल नहीं पा सकता। और जैसे ग्रीष्म ऋतु के आय तुलाने (आ पहुंचने) पर, खजूर की छाया काम नहीं आती; तैसे ही मरणादि काल में जाति कुलादि की बड़ाई से स्वर्ग मोक्ष आदि नहीं मिलते हैं, न नरकादि से रक्षा होती हैं, किन्तु धर्म ज्ञानादि से होती है।

आश्चर्य है कि पुत्र कुल धनादि से कुछ नहीं मिलता है; तो भी माया द्वन्द्व में फंसा हुआ मनुष्य कनक कामिनी आदि के लिये आप स्वयं

चतुर रहता है, और अन्य को भी कनक कामिनी की ही सयानी (चतुराई) सिखाता है; धर्मादि की चतुराई नहीं सिखाता है। इससे माया अधिक द्वन्द्व मचाती है। साहेब का कहना है कि हे सन्तो! तुम राम के चरण (स्वरूप) को या राम में विचारण (राम के विचारादि) को सत्य जान कर राम के ही श्रवणादि करो। तथा सगुणोपासना काल में रामस्वरूप गुरु की [२]पादसेवा को सत्य मान कर भी श्रवणादि करो, किसी प्रकार द्वन्द्व रहित होवो ॥ १ ॥

द्वन्द्व मचाने वाली माया अनिर्वचनीया है, चेतनात्मा साक्षी स्वरूप है, और उस प्रकृतिरूप माया में सत्त्व, रजः, तमः, ये तीन गुण हैं। जो मतभेद से भूतों की सूक्ष्मावस्थारूप का वस्तुविशेष रूप हैं। और इन माया गुण स्वरूप ही सब भूत भौतिक पदार्थ हैं। जो जीव इनमें आसक्त मोहित होते हैं, सो संसार में भ्रमते हैं, आसक्ति आदि रहित ब्रह्मात्मनिष्ठ मुक्त होते हैं, इत्यादि आशय से मोहादि निवारण के लिये कहते हैं कि-

शब्द ॥ २ ॥

माया महा ठगिनि हम जानी।
त्रिगुणी फांस लिये कर डोलै, बोलै मधुरी बानी ॥

मायैषा मलिना धूर्ता साऽस्माभिर्ज्ञायते स्फुटम्।
गुणत्रयमयान् पाशान् करे धृत्वेव धावति ॥ १९ ॥

यह माया मलिन है, सो हम लोगों से स्फुट (स्पष्ट-व्यक्त) जानी जाती है। वह तीन गुणमय पाश (बन्धनों को मानो हाथ में ले कर चलती

---

२ सद्गति प्राप्त करने के लिये काया, वचन और मन से सद्गुरु के चरणों का सेवन किया जाय, यह पादसेवन की मतलब है। जन्म और मरण के कष्टों का अन्त करने के लिये, सद्गुरु के चरणों में अनन्य भक्तिभाव रखना ही पादसेवन कहलाता है। दासबोध, दशक ४। स मा ३ ४ ॥

जनानां मोहनार्थाय भाषते मधुरां गिरम्।
अन्तःक्रूरा महातीक्ष्णा क्षिणोति हृदयं क्षुरैः॥ २०॥
सत्त्वं रजस्तमश्चैते मायाजन्या गुणा हि तैः।
निबध्नाति महामाया देहे [1]देहिनमव्ययम्॥ २१॥
सुखसङ्गात्मना सैव ज्ञानसङ्गात्मनाऽमला।
निबध्नात्येव सत्त्वात्मा कर्मसङ्गात्मना चला॥ २२॥
सा रागात्मा निबध्नाति प्रमादाद्यात्मना तथा।
मूढा बध्नाति सर्वत्र देहे देहिनमञ्जसा॥ २३॥
सत्त्वं ज्ञानं तमोऽज्ञानं रागद्वेषौ रजः स्मृतम्।
"एतद्व्याप्तिमदेतेषां सर्वभूताश्रितं वपुः"॥ २४॥

है॥ १९॥ जनों को मोहने के लिये मधुर वाणी भाषती (बोलती) है। और अन्तर (भीतर) क्रूर (कठिन निर्दय) है, तथा महातीक्ष्ण (खर तिग्म) है, क्षुरों (छेदक पदार्थों) से हृदय को नष्ट करती काटती है॥ २०॥ सत्त्व रज तम ये माया से जन्य (व्यक्त हुए) गुण हैं, महामाया इन गुणों से अव्यय देही को देह में बाँधती है॥ २१॥ वह अमल सात्विक माया सुख में सङ्ग (आसक्ति अभिमान) रूप से, और ज्ञान में सङ्गरूप से बाँधती है। और चला (रजोरूपा) कर्म में आसङ्ग रूप से बाँधती है॥ २२॥ और वह चला ही रागस्वरूपा भी है। तैसे ही मूढा (अज्ञा) तामसी माया प्रमादादि रूप से सर्वत्र देह में देही को अञ्जसा (झटिति) बाँधती है॥ २३॥ मनुः १२। २६। का कथन है कि, ज्ञानरूप सत्त्व गुण है, अज्ञान रूप तम है, रागद्वेष रजोगुण कहा गया है। इन तीनों गुणों का यह ज्ञानादि रूप वपुः (देह) सब भूतों में है, इस से व्याप्तिवाला है॥ २४॥

१ 'सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः। निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्'॥ भ० गी० १४। ५॥

केशव के कमला ह्वै बैठी, शिव के भवन भवानि।
पण्डा के मूरति ह्वै बैठी, तीरथ हू में पानी॥
योगी के योगिनि ह्वै बैठी, राजा के गृह रानी।
काहू के हीरा ह्वै बैठी, काहुक कौड़ी कानी॥

केशवस्य गृहे माया पद्मा भूत्वा विराजते।
शिवस्य भवनेऽचिन्त्या भवानी कथिता बुधैः॥ २५॥
सैव देवलकानां च गृहे मूर्तिः प्रतिष्ठिता।
तीर्थेषु जलरूपेण वर्ततेऽद्भुतविग्रहा॥ २६॥
योगिनां भवने सैव योगिनी वर्ततेऽनृता।
राज्ञो गृहे च राज्ञी सा हीरकः कस्यचिद्गृहे॥ २७॥
कस्यापि च गृहे भूत्वा वर्तते कुकपर्दिका।
पूज्या सा भवति क्वापि क्वचित्तुच्छेव वर्तते॥ २८॥

माया ही केशव (विष्णु) के घर में पद्मा (लक्ष्मी) होकर विराजती है, शंकरजी के घर में अचिन्त्या (माया) ही पण्डितों से भवानी (रुद्राणी) कही गई है॥ २५॥ वही देवलकों (देवजीवी) देवद्वारा जीवन करनेवालों के घर में प्रतिष्ठित (प्रतिष्ठायुक्त) मूर्ति (प्रतिमा) होकर बैठी है, और वही अद्भुत विग्रह देहवाली (माया) तीर्थों में जलरूप से रहती है॥ २६॥ वही अनृता (मिथ्या माया) योगियों के घर में योगिनी होकर रहती है, वह राजा के घर में राज्ञी (रानी) होकर रहती है, किसीके घर में हीरक (हीरा) रूप रहती है॥ २७॥ और किसीके घर कुकपर्दिका (तुच्छ कौड़ी) होकर रहती है, वह कहीं पूज्या होती है, और कहीं तुच्छ की तरह रहती है॥ २८॥

भक्ता के भक्तिनि ह्वै बैठी, ब्रह्मा के ब्रह्मानी।
कहहिं कबीर सुनहु हो सन्तो, ई सब अकथ कहानी ॥२॥

भक्तीभूत्वा हि भक्तानां ब्रह्माणी ब्रह्मणस्तथा।
गृहे तिष्ठति सा माया ह्येवमन्यत्र तिष्ठति ॥ २९ ॥
अमूः सर्वाः कथास्तस्या अकथाया उवाच ह।
गुरुः शृण्वन्तु ता नित्यं सज्जनाः सावधानतः ॥ ३० ॥
श्रुत्वा तास्तत्त्वतो ज्ञात्वा छित्वा तद्बन्धनानि च।
तां विलूयात्मबोधेन नित्यमुक्ता भवन्तु हि ॥ ३१ ॥
तत्तमोलक्षणः कामो ह्यर्थस्तद्रजसस्तथा।
तत्सत्त्वलक्षणं धर्मः श्रेष्ठ्यमेषां यथोत्तरम् ॥ ३२ ॥
धर्मेण प्राप्यते स्वर्गः पापेन त्वधमा गतिः।
द्वयं ज्ञानासिना छित्वा शान्तिमृच्छन्तु वै बुधाः ॥ ३३ ॥२॥

ईश्वरादि के भक्तों के घर में वही माया भक्ती (भक्त की स्त्री) होकर रहती है, तथा ब्रह्माजी के घर में ब्रह्माणी (ब्राह्मी-भारती) होकर रहती है। इसी प्रकार ही अन्यत्र (सब के घर, हृदय, वचन, व्यवहारादि में) भी वह माया रहती है ॥ २९ ॥ सद्गुरु ने यह सब उस अकथा (अनिर्वाच्या) की ही कथा कहा है, उन कथाओं को सज्जन लोक सदा सावधानी से सुनें ॥ ३० ॥ उन कथाओं को सुनकर और तत्त्वतः (स्वरूप से) जान कर, और उस माया के बन्धनों को काटकर, उस माया को भी आत्मबोध से नष्ट करके नित्यमुक्त होवें ॥ ३१ ॥ उस माया के आध्यात्मिक तमो अंश स्वरूप ही काम है, तथा उसके रजोगुण का अंश अर्थ है, उसके सतोगुण का लक्षण (चिन्ह) रूप धर्म है, और इनमें पूर्व २ से पर २ श्रेष्ठ हैं ॥ ३२ ॥ धर्म से स्वर्ग मिलता है, पाप से अधम (कुत्सित) गति होती है, बुध (विवेकी पण्डित) ज्ञानखड्ग से दोनों को काट कर शान्ति पावें ॥ ३३ ॥

अक्षरार्थ-हम (विवेकी) लोगोंने माया को महा ठगिनी जान लिया है। विषयों से सुखादि होते हैं। सो मायाकृत वञ्चना है। सो विवेकियों ने समझा है। और यह माया तीन गुणमय, ज्ञान सुख धर्म ऐश्वर्यादि, रागद्वेषादि, अज्ञान मोहादि रूप फांस, अपनी अचिन्त्य शक्तिरूप हाथ में लेकर मानो संसार में डोलती (फिरती) रहती है, और मोहिनी रूप होकर मधुर वाणी बोलती है॥ अर्थात् बन्ध दुःखादि के हेतु रूप, अर्थ शब्द क्रिया सब अविद्या माया स्वरूप हैं। जिनसे मोह भ्रमोद्वेगादि होते हैं, इन से बचने के लिये विवेकादि और सावधानी चाहिये इत्यादि भाव है। कार्य कारण में अभेद दृष्टि से नामरूपात्म जगत् को भी माया कहा कया गया है॥

माया ही केशव (माधव) के घर में कमला (लक्ष्मी), शिव के घर में पार्वती, तीर्थ के पण्डा (तीर्थादि के सेवक) के घर में देवमूर्ति, तीर्थों में पानी, योगियों के यहाँ योगिनी, राजा के घर में रानी, धनी के घर में हीरा आदि रत्न, गरीब के यहाँ कानी (फूटी) कौड़ी आदि होकर बैठी है अथवा जो अविवेकी की दृष्टि से अमूल्य हीरा है, सो विवेकी की दृष्टि से तुच्छ कौड़ी हैं। और स्त्री मूर्ति आदि सब नाम रूप माया ही का स्वरूप हैं, सो आत्मविमुख करता है, इससे वञ्चक है, इत्यादि।

भक्तों के घर में माया ही भक्तिनी होकर, और ब्रह्माजी के घर में ब्रह्मानी (सरस्वती) होकर बैठी है। साहब कहते हैं कि हे सन्तो! ये सब अकथ (अनिर्वचनीया-अद्भुतस्वरूपा) माया की ही कहानी (कथा) कही गई है, उसें सुनो, और उसकी वञ्चना से रहित होने के लिये सावधान रहो। पदार्थ चाहे छोटे या बड़े हों सात्विक हों, या राजस तामस हों, सबके सब असावधान, अविवेकी, कुविचारी के लिये बन्धन मोहादि के कारण हैं, इससे जैसे महात्मा माया को ठगिनी जान कर उससे बचते हैं, तैसे बचो, कुयोग में नहीं फंसो॥ २॥

(माया मोह कठिन संसारा । रमैनी ७६) इत्यादि वचनों से प्रथम माया की चर्चा हुई है, और यहाँ भी शब्द में माया की चर्चा हुई है। सो सुन कर जिज्ञासा हुई कि, उस माया का क्या लक्षण है! लक्षण विना उसे समझना कठिन है। लिखा है कि, " ऋषयोऽपि हि लक्ष्याणां नान्तं यान्ति पृथक्त्वशः । लक्षणेन तु सिद्धानामन्तं यान्ति विपश्चितः" ॥ (तन्त्रवार्तिक अ० २ । १ । ३२) ऋषिलोक भी पृथक् रूप से लक्ष्य पदार्थ को अन्त को नहीं पा सकते, और लक्षणद्वारा तो विद्वान् लोक भी सिद्ध पदार्थों के अन्त को जान जाते हैं, इत्यादि । तब कहते हैं कि-

शब्द ॥ ३ ॥

सन्तो आवै जाय सो माया ।
है प्रतिपाल काल नहिं वाके, न कहूं गया न आया ॥

यदाऽऽयाति च संयाति करोति विविधास्तनूः ।
उत्पत्त्या वा विकाराद्यैः सा मायेति विनिश्चयः ॥ ३४ ॥
भोः साधो ! लक्षणं ज्ञात्वा मायायास्तद्विलक्षणम् ।
रामं बिद्धि विवेकेन गत्यागत्यादिवर्जितम् ॥ ३५ ॥
नास्ति रामस्य कोऽप्यत्र रक्षको नापि चान्तकः ।
रक्षकः स तु सर्वस्य सत्तया स्वप्रकाशतः ॥ ३६ ॥

जो वस्तु आती है, सम्यक् जाती है, उत्पत्ति वा विकारादि जो अनेक प्रकार के शरीर करती है, सो माया है, यह विनिश्चय है ॥ ३४ ॥ हे साधो ! माया का यह लक्षण जान कर उससे विलक्षण (विरुद्ध लक्षण युक्त) गति आगति (गमनागमन) से रहित राम को विवेक से जानो ॥ ३५ ॥ यहाँ कोई भी राम के रक्षक नहीं हैं और न अन्तक (काल) नाशक हैं; किन्तु वही सत्ता और अपने प्रकाश से सबका रक्षक है ॥ ३६ ॥

और प्रयोजन ही से कोई कहीं आता जाता है, तथा कर्माधीन जन्मता मरता है, परोपकारादि भी पुण्यादि के लिये करता है, पूर्णकाम सर्वात्मा राम में प्रयोजनादि के अभाव से भी वह स्वतः जन्मादिवाला नहीं हो सकता। इस आशय से कहते हैं कि–

क्या मकसूद मंच्छ कछ होना, शंखाऽसुर न संघारा।
है दयाल द्रोह नहिं वाको, कहहु कौन को मारा॥

गतवान्न[1] स कुत्रापि कुतो नागतवांस्तथा।
वर्तते सर्वदा सर्वहृदयेष्वात्मरूपतः॥ ३७॥
मत्स्यत्वेन फलं किं स्यात् कच्छपत्वेन वा विभोः।
नाऽसौ शङ्खाऽसुरं शूरं संजहार महाप्रभुः॥ ३८॥
स दयालुर्न तु द्रोहो वर्तते तस्य कैः सह।
कथ्यतां स प्रभुः कस्मात्केषां प्राणान् व्ययोजयत्॥ ३९॥

वह कहीं भी गया नहीं, तथा कहीं से आया भी नहीं, और सब हृदयों में आत्मस्वरूप से सदा रहता है॥ ३७॥

पूर्णकाम प्रभु (समर्थ) ईश्वर को मत्स्यरूपता से वा कच्छपरूपता से कौन फल होगा, वह महाप्रभु वीर शंखाऽसुर का संहार नहीं किया॥ ३८॥ वह दयालु है, उसको किसी के साथ द्रोह (विद्वेष) नहीं है, तो वह प्रभु किस हेतु से किसी के प्राणों को वियुक्त किया, सो किसी से

१ (मायिनं तु महेश्वरम्। श्वे० ४।१) इत्यादि श्रुतिप्रोक्तः सर्वज्ञः सर्वशक्तिमान् मायया सर्वकृदपि जगदीश्वरो रागद्वेषादिरहित एव विभुश्चास्ति। पारमार्थिकश्च (निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरञ्जनम्। श्वे० ६।१९) इत्यादि श्रुतिप्रोक्तोऽपि ह्यक्रियाऽसङ्गस्वरूपोऽस्ति। किञ्च स्वर्पितशक्तिमद्विष्ण्वाद्यवतारादिद्वारा विशेषकार्यकारित्वेऽपि न स्वयं साक्षात्तत्तत्तनुमान् विशेषः परमेश्वरो भवति सर्वात्मभावात्।

२ एष आत्माऽपहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोकः। छाः ८।१।५॥

नहिं वे कर्ता ब्राह कहायो, धरणि धरो न भारा ।
इ सब काम साहब के नाहीं, झूठ कहै संसारा ॥
खम्भ फोरी जो बाहर होई, ताहि पतिज सब कोई ।
हिरणाकश नख उदर विदारे, सो नहिं कर्ता होई ॥

स [1]कर्ता न वराहोऽभूद् धृतवान् न भरं भुवः ।
कर्म सर्वं प्रभोर्नेदं मिथ्यैव भाषते जगत् ॥ ४० ॥
पूर्णकामं दयालुं तं भाषमाणो भजन्नरः ।
याति तद्भावतामन्ते ह्यन्यथा याति चान्यताम् ॥ ४१ ॥
स्तम्भं विदार्य यो देवो बहिराविर्बभूव ह ।
तं विश्वसन्ति वै सर्वे पतिं मत्वा भजन्ति च ॥ ४२ ॥

कहा जाय ॥ ३९ ॥ वह कर्ता वराह नहीं हुआ, न भूमि का भर (अतिशय बोझ) को धारण किया, ये सब कर्म प्रभु का नहीं है, जगत् (जङ्गम) मनुष्यादि मिथ्या ही कहता है, कि यह कर्म प्रभु का है ॥ ४० ॥ पूर्ण काम दयालु उस प्रभु को कहता और भजता हुआ मनुष्य अन्त में तद्रूपता को प्राप्त होता है, अन्यथा भेदरूपता को पाता है ॥ ४१ ॥

पत्थर के खम्भा को फाड़ कर जो देव बाहर प्रगट हुए, उनका सब विश्वास करते हैं, उन्हे सत्यादि समझते हैं, और पति (ईश्वर) मानकर

---

१ ' अंशांशोंऽशस्तथाऽऽवेशः कलापूर्णः प्रकथ्यते । व्यासाद्यैश्च स्मृतः षष्ठः परिपूर्णतमः स्वयम् ' ॥ इत्यादि गर्गसंहितादिभिर्बहुविध उक्तोऽवतारो भगवतो विष्णोः सांशैकदेश्युपाधिकस्यैव, तस्यैव देवादिरक्षणप्रयोजनसत्त्वात् । सर्वेशितुर्मायया विना तस्यापि प्रयोजनासिद्धेस्तत्र मायैव कार्यसाधिकेति मायात्मिका एवावताराः । तावद् व्यक्तस्वरूपमात्रे चेश्वरादिबुद्धिर्लोकानां भ्रमात्मिकैव, तन्मूलकं च मिथ्याभाषणमिति भावः प्रतिभाति ।

बावन है नहिं बलि को याँच्यो, जो याँचे सो माया।
बिना विवेक सकल जग भरमे, माया जग भरमाया॥
परशुराम ह्वै क्षत्रि न मारा, ई छल माया किन्हा।
सतगुरु भक्ति भेद नहिं जान्यो, जीवन मिथ्या दीन्हा।

हिरण्यकशिपोर्यश्चोदरं दारितवान नखैः।
नासौ कर्ता नृसिंहोऽपि दयालुर्द्रोहवर्जितः॥ ४३॥
खर्वो भूत्वा बलिं नैवमयाचत महाप्रभुः।
किन्तु [1]या याचते स्माऽसौ माया विश्वविमोहिनी॥ ४४॥
विवेकेन विनाऽनेन भ्राम्यन्ति सर्वजन्तवः।
माया च भ्रमयत्येषा सर्वं संसारिणं जनम्॥ ४५॥
भूत्वा[2] परशुरामो वा क्षत्रान् मारितवान्न सः।
इदं छलं बलं सर्वं माया कृतवती चला॥ ४६॥

भजते हैं॥ ४२॥ जो भगवान् नरसिंह, हिरण्यकशिपु के पेट को नखों से फाड़ा, वह भी द्रोह रहित दयालु कर्ता नहीं हैं॥ ४३॥ महाप्रभु खर्व (वामन) होकर बलि से भूमि नहीं यांचा, किन्तु जो याँचा (माँगा) वह सबको मोहनेवाली माया है॥ ४४॥ इस विवेक के बिना सब प्राणी भ्रमते हैं, और यह माया सब संसारी जन को भ्रमाती है॥ ४५॥ या वह महाप्रभु परशुराम होकर क्षत्रियों को नहीं मारा, किन्तु चञ्चल माया ने ही, यह सब छल (छद्म-कपट) बल (शौर्य) किया

१ मिथ्याज्ञानमुत्पाद्य प्रवर्तनशीला मायैव (वामनेन च तथा कृतमिति तत्र साक्षान्मायालक्षणं लक्ष्यते। मायारचितदेहेनापि • ये सत्पुरुषा यदा विपरीत-ज्ञानादिकं न जनयन्ति, तदा ते मायात्मका मायाविनो न कथ्यन्तेऽन्यथा तु कथ्यन्त एवेत्यादि। बलिमयाचत, इत्यस्य बलेः सकाशाद्वसुधामयाचत, बलिम-वञ्चयदिति वा प्रकरणानुसारेणार्थः सम्भवति, धातूनामनेकार्थत्वात्।

२ गुणावतारपुरुषावतारलीलावतारेषु, ब्रह्मादि गुणावताराः, क्षीरोद-

सिरजनिहार न ब्याही सीता, जल पषाण नहिं बंधा ।
वे रघुनाथ एक को सुमिरे, जो सुमिरे सो अन्धा ॥
गोपी ग्वाल न गोकुल आयो, कर ते कंस न मारा ।
मेहरबान सबन के साहब, नहिं जीता नहिं हारा ॥

सद्गुरूणां तु भक्त्येदं रहस्यं नाविदुर्हि ये ।
ते स्वजीवनसर्वस्वं संसाराब्धौ समार्पयन् ॥ ४७ ॥
सर्वस्रष्टा न तां सीतामूढवान्न च बन्धनम् ।
सेतोर्वा कृतवानब्धौ पाषाणैः परलब्धये ॥ ४८ ॥
रामः सीतापतिश्चासौ रघुनाथः पराऽद्वयम् ।
एकमेवास्मरद्राममन्यं स्मरति चान्धधीः ॥ ४९ ॥
गोपीभिर्न च गोपैश्च सार्द्धं स गोकुले प्रभुः ।
आजगाम न हस्तेन कंसं निहतवांस्तथा ॥ ५० ॥

है ॥ ४६ ॥ जो लोक सद्गुरु की भक्ति द्वारा इस रहस्य (भेद) को नहीं जान सके, सो अपने जीवन रूप सर्वस्व को संसार समुद्र में समर्पण कर दिये ॥ ४७ ॥ सर्वस्रष्टा ने उस सीता को नहीं ब्याहा, न पर (शत्रु) की प्राप्ति के लिये समुद्र में पत्थरों से पूल का बन्धन किया ॥ ४८ ॥ वह सीतापति रघुनाथ राम, उत्तम अद्वैत एक ही राम का स्मरण किये, अन्य का स्मरण अन्ध बुद्धिवाला करता है ॥ ४९ ॥

और गोपियों तथा गोपों के साथ वह प्रभु गोकुल में नहीं आया, और न हाथ से कंस का वध किया ॥ ५० ॥ सब के ऊपर दयावाला वह

शाम्यादयः पुरुषावताराः । लीलावतारश्च, आवेशावतारस्वरूपावतारभेदेन द्विविध इति केचिन्मन्यन्ते, तत्र परशुरामे परेशितुः शक्त्यावेशमात्रमिति तेपि मन्यन्त एव । वस्तुतस्तत्र भगवतो विष्णोर्देवस्य शक्त्यवेशो विशेषः । परमात्मनस्तु सर्वत्रैव शक्त्यावेश एव, विभोर्निरयवयवस्य क्वचिदपि साक्षात्साकल्पेनावेशाऽसम्भवात् ।

नहिं वे करता बुद्ध कहायो, नहिं असुर को मारा।
ज्ञान हीन करता सब भरमे, माया जग संहारा ॥
नहिं वे कर्ता भये कलंकी, नहीं कलिं गहि मारा।
ई छल बल सब माया कीन्हा, यत्त सत्त सब टारा ॥

सर्वोपरि दयावान् स नैव जयति जीयते।
जयाऽजयविहीनत्वाद्राजते सर्वसौहृदः ॥ ५१ ॥
यस्य शत्रुर्न वा मित्रं विद्यते भुवने क्वचित्।
स सर्वात्मा कुतो गच्छेद्धन्यात्कं हन्यते कथम् ॥ ५२ ॥
न कर्ता कथ्यते बुद्धो न ऽसुरान् संजहार सः।
ज्ञानहीना भ्रमात्सर्वे कर्तारं मन्वते तु तम् ॥ ५३ ॥
ज्ञानहीनाञ्जनान् सर्वान् माययैव संजहार तु।
लोकत्रयेऽपि सर्वान् सा हिनस्ति सर्वदा खलु ॥ ५४ ॥
नापि कल्किर्बभूवासौ भविता न कथञ्चन।
हतवान्न कलिं चातो माया हतवती तु सा ॥ ५५ ॥

न किसीको जीतता है, न किसीसे जीता जाता है। जय अजय (जीत हार) से रहित होने से सबका मित्र वा सब से मित्रतावाला वह राजता (प्रकाशता) है ।। ५१ ॥ जिसके भुवन में कहीं भी शत्रु वा मित्र नहीं है, सो सर्वात्मा किस स्थान से वा किस कारण से कहाँ जायगा और किसको मारेगा, और कैसे मारा जायगा ॥ ५२ ॥ सत्य कर्ता बुद्ध नहीं कहा जाता है, न वह असुरों का संहार किया, किन्तु ज्ञान हीन सब लोक उस बुद्ध को कर्ता मानते हैं ॥ ५३ ॥ और ज्ञानहीन सब जनों का यह मायाने ही संहार किया, तीनों लोक में भी वह माया ही सदा सब की हिंसा करती है, अन्य नहीं ॥ ५४ ॥

वह सत्य कर्ता कल्कि भी नहीं हुआ, न किसी प्रकार होनेवाला है, इसी से वह कलि का हनन नहीं किया, किन्तु वह माया ही हनन किया

दश अवतार ईश्वरी माया, कर्ता कै जिन पूजा।
कहहिं कबीर सुनहु हो सन्तो, उपजै खपै सो दूजा ॥ ३ ॥

छलं बलमिदं सर्वं माया कृतवती प्रभोः।
सत्यं च संयमान् सर्वान् यमान् सैव व्यनाशयत् ॥ ५६ ॥
अवतारा दशैते वै मायैव पारमेश्वरी।
पूज्यन्ते कर्तृबुद्ध्या ये न कर्तारः सतां मताः ॥ ५७ ॥
सज्जनैः श्रूयतामेतत् सद्गुरुर्वक्ति सादरम्।
उत्पद्य नश्यति ह्यन्यो न कर्तेति विनिश्चितम् ॥ ५८ ॥
जायमानं स्थितं वापि नश्यन्तमखिलं जगत्।
भासयन्[1] तस्य चात्मैव कर्ता सर्वत्र वर्तते ॥ ५९ ॥

॥ ५५ ॥ यह सब छलबल (पराक्रम) प्रभु की माया ने किया है, और सत्य तथा सब संयम (धारणादि) और यम (अहिंसादि) को भी वही विनष्ट किया है ॥ ५६ ॥ ये दशों अवतार परमेश्वर की माया ही है, कि जो अवतार कर्तारूप मानकर पूजे जाते हैं, परन्तु सतपुरुषों की सम्मति में ये सब कर्ता नहीं हैं ॥ ५७ ॥ सज्जन लोक यह सुने, सद्गुरु आदर पूर्वक कहते हैं कि कर्ता से अन्य ही उत्पन्न होकर नष्ट होता है, कर्ता नहीं, यह निश्चित बात है ॥ ५८ ॥ उत्पन्न होते, स्थित, नष्ट होते सब पदार्थ को और सब जगत् को प्रकाशता हुआ, उन सबका आत्मा ही रूप कर्ता सर्वत्र रहता है ॥ ५९ ॥ एक भी सूर्य जलाधारों में बहुत रूप

१ यथा चुम्बकसान्निध्याच्चलन्त्येवाय आदयः। जडा तथा त्वया दृष्टा माया सृजति वै जगत् ॥ देहद्वयमदेहस्य तव विश्वं रिरक्षिषोः। विराट् स्थूलं शरीरं ते सूक्ष्मं सूत्रमुदाहृतम् ॥ विराजः सम्भवन्त्येते ह्यवताराः सहस्रशः। कार्यान्ते प्रविशन्त्येव विराजं रघुनन्दन ॥ अध्यात्मरा० युद्धका० स० १४। २९–३१। स्वरूपदृष्ट्या कुम्भजोक्तिः।

एकोऽपि बहुधा सूर्यो जलाधारेषु दृश्यते।
तथैकः परमात्मापि सर्वोपाधिषु दृश्यते ॥ ६० ॥

न हन्ति हन्यते नासौ सर्वत्र समदृक् स्वयम्।
वर्तते भासयन् सर्वं मायया कारकोऽपि सन् ॥ ६१ ॥

द्वन्द्वैर्नियोज्य निखिलान् खलु जीवसंघान्,
बद्ध्वा दृढं गुणमयैः स्वविकारपाशैः।
भावैर्विमोहजनकैश्च विमोहयन्ती,
मायैव नृत्यति सदा जगदेति याति ॥ ६२ ॥ ३ ॥

इतिहनुमद्दासकृतायां शब्दसुधायां राममायानिरूपणं नाम प्रथमस्तरङ्गः ॥१॥

दीखता है, तैसे ही एक परमात्मा भी सब उपाधियों में बहुत स्वरूप दीखता है ॥ ६० ॥ समदृष्टि वह स्वयं न मारता है, न मरता है, किन्तु माया से कारक (कर्ता) होते भी सब को प्रकाशता हुआ सर्वत्र एकरस रहता है ॥ ६१ ॥ माया ही सब जीव समूह को द्वन्द्वों से युक्त करके और गुणमय अपने विकार रूप पाशों से अच्छी तरह बांधकर, विमोह का जनक (कारण) रूप भावों (चेष्टा-स्वभाव-लीला आदिकों) से सब को विमुग्ध करती हुई, सदा नाचती है, संसार में आती जाती है ॥ ६२ ॥

अक्षरार्थ- हे सन्तो ! जो आवै और जाय सो माया है, अर्थात् जिसमें क्रिया हो, जिसकी उत्पत्ति वा नाश हो, जिसमें विकार-परिणाम हो, जो एकरस नहीं रहे, सो माया है। इससे अज अक्रिय अपरिणामी आत्मा से भिन्न स्वभावता ही माया का लक्षण है। वह सदा किसी रूप से आती है, और किसी रूप से जाती है, स्थिर नहीं रहती है। और कुण्डलादि के त्याग से जैसे सुवर्ण का त्याग होता है तैसे माया के कार्यरूप मोह आसक्ति आदि के त्याग से माया का त्याग होता है, इससे कार्य रूप माया को ठगिनी जानकर मोहादि को त्यागना चाहिये इत्यादि ॥

माया के लक्षण जानने पर राम के लक्षण जानने की इच्छा हुई, और शंका हुई कि राम के भी जन्मादि गमनागमन को लोक मानते हैं, इससे यह लक्षण ठीक नहीं है, तब कहते हैं कि वाके (सर्वात्मा राम के) कोई प्रतिपालक (पिता रक्षक) नहीं है, न काल (नाशक) है। इससे उसकी उत्पत्ति परिणाम नाशादि नहीं होते हैं, और विभु होने से वह न कहीं गया, न कभी कहीं से आया। वही माया का प्रतिपालक है। माया का भी वह नाशक नहीं है, किन्तु माया स्वयं रजोगुण से परिणत होती है। मायाद्वारा ही सब कार्यों का हेतु है, स्वयं नहीं।

पूर्णकाम राम को मत्स्य वा कच्छप होने से क्या (कौन) मकसूद (मकसद प्रयोजन इष्टफल) है। इससे वह मच्छ कच्छ नहीं हुआ, न शंखाऽसुर (शंखनाद) का संहार (नाश) किया। वह सर्वात्मा होने से सबके लिये दयालु प्रिय है, उसको किसीसे द्रोह (वैर) नहीं है, तो विरोध विना, कहो कि वह कौन को कैसे मारा अर्थात् वह सामान्य कारण है, विशेष नहीं। विशेष कारण उसके मायोपाधिक गुणमय स्वरूप हैं। इसीसे सर्वाधिष्ठान आधाररूप वह कर्ता वराह नहीं कहाया, न पृथिवी के भार को धारण किया; क्योंकि ये सब विशेष कार्य साहब (सर्वात्मा राम) के नहीं हैं. रागद्वेषादि से होनेवाले कार्य साक्षात् ईश्वर से नहीं होते हैं। किन्तु मायिक स्वरूप से होते हैं, इससे जो संसारी इन कार्यों को साक्षात् ईश्वरकृत कहता है सो झूठ कहता है।

जो नृसिंह खम्भ फोर कर बहर होते हैं, उनका ही सब कोई विश्वास करते हैं, या उस बाहर होना को पतिज (ईश्वर का जन्म) मानता है, या उसको पति मान कर जय मनाता (चाहता) है। परन्तु वह कर्ता राम तो सदा सर्वत्र वर्तमान है। हिरण्यकश्यपु के उदर (पेट) को जो नख से विदारा (फाड़ा) सो सर्वात्मा कर्ता नहीं हो सकता। वह द्रोहादि रहित है। इसी प्रकार यह साहब वामन होकर बलि से पृथिवी की

याचना नहीं किया; क्योंकि छल से जो याचता है, सो सब माया है। और किसी प्रकार याचना आदि क्रिया माया में ही हो सकती है, परन्तु इस प्रकार माया और राम के विवेकादि बिना, सब जग (प्राणी) भ्रम में पड़ा है, इससे राम को ही वामनादि समझता है। और माया ने ही सब जग को भ्रमाया है। अर्थात् भ्रमों का भी माया ही कारण है, जिसे अविद्या और अज्ञान भी कहते हैं ॥

वह कर्ता राम परशुराम होकर क्षत्रियों को नहीं मारा, किन्तु यह छल बल भी माया ने ही किया। और जिन्होंने सद्गुरु की भक्ति करके इस भेद (मर्म) को नहीं जाना, उन्होंने अपने जीवन (आयु) या जीवनोपाय को मिथ्या (माया) के ही चिन्तनादि में दिया (गमाया वा नष्ट किया)। और वह सिरजनिहार (सत्य कर्ता) सीता को नहीं ब्याहा, न समुद्र के जल में पाषाण का पूल बांधा; क्योंकि सीता को ब्याहने पूल बांधवानेवाले वह रघुनाथ (राम) एक सर्वात्मा राम का स्वयं स्मरणादि करते रहे, तो भी लोक उनकी व्यक्तिमात्र का स्मरण करते हैं, सो अन्धा (सत्य राम के विवेक से रहित) हैं। एक सर्वात्मा रूप से रामका स्मरण करना विवेकियों का काम है. इत्यादि ॥

वह सत्य कर्ता राम गोपी ग्वाल (यशोदा नन्द) के घर गोकुल स्थान में नहीं आया, न गोपी ग्वालों के साथ क्रीडा आदि के लिये गोसमुदाय में आया, न कर ते (हाथ से) कंस को मारा; क्योंकि जो वस्तुतः साहब (कर्ता) है, सो सबनके (सबके लिये) मेहरबान (दयावान) दयालु है। सबका प्रतिपालक द्रोहादि रहित है, सबका अविरोधी है। इसीसे वह न कभी किसीको जीता, न कभी किसीसे हारा। ये सब खेल उसके त्रिगुण माया मायावी में ही हो रहे हैं। इसी प्रकार वह कर्ता बुद्ध नही कहाया, न देवों के पक्षपाती होकर वह असुरों को मारा। किन्तु ज्ञान (विवेक) हीन लोक सब बुद्धादि को कर्ता मानकर,

भ्रमयुक्त हुए हैं, और माया ने ही लोकों को भ्रमजाल में डाल कर, उनका संहार किया। तथा पारमार्थिक स्वरूप से जो स्वयं कर्ता हैं, सो ज्ञान विना तटस्थ कर्ता के भ्रमयुक्त हुए हैं, इससे माया उन संसारियों का संहार करती है, इत्यादि।

वह कर्ता कलंकी (कल्की) नहीं हुए, न कालिं गहि (कलियुग को पकड़ कर) के मारा, न मारेंगे। किन्तु ये सब छलबल (शक्ति) माया ने ही किया, और करती है, और यतियों के यत्त (नियम व्रतादि) को तथा सतियों के सत्य धर्मादि को माया ने ही टारा (नष्ट किया) और करती हैं। और आने जानेवाले सब पदार्थ यद्यपि मायारूप हैं, तथापि दश अवतार ईश्वरी (ईश्वर सम्बन्धिनी वा ऐश्वर्यवाली समर्था) माया है, कि जिनको लोक साक्षात् कर्ता मानकर पूजा करते हैं। साहब कहते हैं कि, हे सन्तो ! सुनो, जो उपजता (जन्मता) और खपता (मरता) है, सो सब सत्य कर्ता से दूजा (दूसरा-भिन्न) माया है। इससे जन्ममरणादि रहित सत्य कर्ता के ज्ञान के लिये श्रवणादि करो। और आना जाना ही माया के निर्दिष्ट लक्षण समझो इत्यादि।

विशेष विचार-('क्षरं प्रधानममृताक्षरं हरः, क्षरात्मनावीशते देव एकः। तस्याऽभिध्यानाद्योजनात्तत्त्वभावाद् भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः' ॥ श्वे० १। १०॥ 'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते, न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते। पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते, स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च' ॥श्वे० ६।८॥ 'मायी सृजते विश्वमेतत्'। श्वे० ४। ९) प्रधान (प्रकृतिरूप अविद्या माया) क्षर (नश्वर) है। और अविद्यावाला हर (जीव) अक्षर (अमृत) है। और क्षर तथा आत्मा (जीव) दोनों का एक सच्चिदानन्द देव सत्ता प्रकाश से ईशिता है, और उसीके ध्यान तथा योजन (एकता चिन्तन) से और सत्यस्वरूप के प्रकाश से प्राणी जीवन्मुक्त होता है, और फिर अन्त में प्रारब्ध सहित अविद्या माया की वासना भी निवृत्त होती है)।

उस परमात्मा के कार्य (शरीर) कारण (इन्द्रिय) नहीं है, उसकी तुल्यता, उससे अधिक भी कोई नहीं है, उसकी मायारूप परा शक्ति विविध कार्य करनेवाली सुनी जाती है, तथा स्वाभाविकी ज्ञानक्रिया बलक्रिया सुना जाती है। वह मायी माया द्वारा विश्व को रचता है। इत्यादि वचनों से भी शब्द में उक्त अर्थ सिद्ध होता है ॥

और (किं प्रजया करिष्यामो येषां नायमात्मा ॥ बृहदा० ४।४।२२॥ न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्त्वमानशुः। कैवल्योप० ३ ॥ न कर्मणा पितुः पुत्रः पिता वा पुत्रकर्मणा। मार्गेणान्येन गच्छन्ति बद्धाः सुकृतदुष्कृतैः ॥ महाभा०। अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाऽशुभम् ॥ ब्रह्मवैवर्तपु० अ० ७३) पुत्र से क्या करेंगे, जिसका यह शरीर ही अपना नहीं है ॥ कर्म पुत्र धन से मोक्ष नहीं होता, किन्तु ऋषि लोक त्याग से ही मुक्त हुए ॥ पिता के कर्म से पुत्र वा पुत्र के कर्म से पिता, निजकर्मापेक्षा अन्य मार्ग से नहीं जाता है, किन्तु सब अपने पुण्यपाप से बंधकर, उसीके अनुसार मार्ग से जाते हैं ॥ किया हुआ शुभाशुभ कर्म अज्ञ को अवश्य भोगना होता है ॥ इन बचनों के अनुसार, स्वकर्मादि के अनुसार ही जीव सब फलाफल भोगते हैं। संगादि निमित्तमात्र होते हैं। इस अर्थ के सिद्ध होने पर भी, जो महाभारत में कथा है कि तपस्वी इन्द्रियजित विरक्त जरत्कारू नामक ब्राह्मण ने जंगल में निर्जल कूप के अन्दर औंधे लटके हुए पुरुषों को देखा। पूछने पर वे लोक अपने को जरत्कारू के पितर बताये, और बोले कि जरत्कारू ने ब्रह्मचर्य को धारण किया है, इससे हम सबकी यह दशा है। फिर सो सुनकर जरत्कारू संसारी बन गया, इत्यादि। कबीर साहब के सिद्धान्तानुसार यह सब माया का ही खेल है, और ऐसी कथा भी माया को ही पुष्ट करनेवाली है। इसीसे माया को यत्त सत्त टारनेवाली साहब ने कहा है। (प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः ॥ तैत्तिरीय १। ११) प्रजातन्तु को नहीं नष्ट करो, इत्यादि उपदेश भी कामी अजितेन्द्रिय के लिये है। और युधिष्ठिर से झूठ बोलवाना, वृन्दा का पतिव्रत भंग करना आदि भी मायामय ही व्यवहार हुआ है ॥३॥

मायाजन्य मोह प्रकरण ॥ २ ॥

विचारादि से मोह की निवृत्ति के लिये, वर्णित मायाजन्य मोह का वर्णन करते हैं कि –

शब्द ॥ ४ ॥

माया मोह मोहित कीन्हा । तातें ज्ञान रतन हरि लीन्हा ॥
जीवन ऐसो, स्वपन जैसो, जीवन स्वपन समाना ।
शब्दे गुरु उपदेश दीन्हा, छाड़ु परम निधाना ॥

मायाजन्यो हि मोहोऽयं सर्वजन्तूनमोहयत् ।
अहरज्ज्ञानरत्नं च सर्वस्य सुखदं हितम् ॥ १ ॥

मायया मोहितो जन्तुर्न पश्यति परं पदम् ।
धावते विषयाद्यर्थं दिङ्मोहेष्विव वर्तते ॥ २ ॥

आयुः कल्लोललोलं यत्त्वलीकं स्वप्नवच्चलम् ।
तच्चापि स्वप्नतुल्येऽस्मिन् विषयादौ व्यनीनशत् ॥ ३ ॥

माया जन्य यह मोह ही सब प्राणी को मोहित किया है । और सब के सुखदायक हित ज्ञानरूप रत्न को हर लिया है ॥ १ ॥ माया से मोहित प्राणी उत्तम पद (स्थान-वस्तु) को नहीं देखता है । विषयादि के लिये दौडता है, दिशाभ्रमों में जैसे रहे तैसे रहता है ॥ २ ॥ जो आयुःकल्लोल (महातरङ्ग) के समान लोल (चञ्चल) और स्वप्नतुल्य चञ्चल है तथा अलीक (मिथ्या) है । सो भी स्वप्नतुल्य इस विषयादि में ही विनष्ट हुआ ॥ ३ ॥ सद्गुरु ने सारशब्दद्वारा यह उपदेश दिया है

ज्योति हिं देखि पतंग हुलसे, पशु नहिं पेखे आगी।
काल फांस नल मुग्ध न चेतै, कनक कामिनी लागी॥
शेख सैयद कितेब निरखै, सुस्मृति शास्त्र विचारै।
सतगुरु के उपदेश बिनु ते, जानि के जिव मारै॥

सद्गुरुः सारशब्देनोपदेशं दत्तवानिमम्।
त्यज्यतां[1] विषयो मोहो मार्ज्यतां सुविचक्षणैः॥ ४॥
चिकित्सा नरकव्याधेरिहैव क्रियतां द्रुतम्।
निरौषधेऽन्यथा स्थाने सा कर्तुं शक्यते नहि॥ ५॥
ज्योतिर्दृष्ट्वा पतङ्गो हि यथाऽऽनन्दं प्रपद्यते।
दाहकं तन्न जानाति तस्मात्तेन प्रदह्यते॥ ६॥
तथैव पशुबुद्धिर्नो जानाति विषयानलान्।
कान्ताकाञ्चनयोः सक्तः कालपाशान्न पश्यति॥ ७॥

कि सुविचक्षणों (सुन्दर विद्वानों) से यह विषय त्यागा जाय, और मोह धोया जाय॥ ४॥ और भावी नरकरूप व्याधि (रोग) की चिकित्सा (निवृत्ति) यहाँ ही शीघ्र किया जाय। अन्यथा निरौषध स्थान में वह चिकित्सा नहीं की जा सकती॥ ५॥

जैसे दीपादि की ज्योति (प्रकाश) को देखकर पतङ्ग (शलभ) आनन्द पाता है। उसे दाहक (अग्नि) नहीं जानता है। तिससे उसीसे जलता है॥ ६॥ तैसे ही पशुबुद्धितुल्य बुद्धिवाला विषयरूप अग्नियों को नहीं जानता है, और कान्ता (स्त्री) काञ्चन (सुवर्ण) आदि में आसक्त हुआ कालपाशों को नहीं देखता है॥ ७॥ शेख सैयद कुराण ग्रन्थ को

१ 'मुक्तिमिच्छसि चेत्तात विषयान् विषवत्त्यज। क्षमाऽऽर्जवदयातोषसत्यं पीयूषवत् पिब'॥ अष्टावक्रगीता॥ मायया मोहितो जन्तुः पश्यति न परं पदम्॥

करु विचार विकार परिहरु, तरण तारणो सोई ।
कहहिं कबिर भगवन्त भजु नल, द्वितिया और न कोई ॥४॥

शेखाश्च सैयदा ग्रन्थं प्रपश्यन्ति कुराणकम् ।
शास्त्रं स्मृत्यादिकं चान्ये चिन्तयन्ति निरन्तरम् ॥ ८ ॥
सद्गुरोरुपदेशेन विना ते तु तथापि हि ।
जानन्तो घ्नन्ति वै जीवान् कामलोभादिभिर्वृताः ॥ ९ ॥
"जानद्भिश्च कृतं पापं गुरु सर्वं भवत्युत ।
अज्ञानात्स्वल्पको दोषः" प्रायश्चित्तेन [1]नश्यति ॥ १० ॥
भोः साधो मोहनाशार्थं विचारः क्रियतां सदा ।
त्यज्यन्तां ते विकाराश्च कामाद्या विषयास्तथा ॥ ११ ॥
अनुष्ठानं विचारस्य विकाराणां च वर्जनम् ।
तरणं तारणं साधो ! संसाराब्धेर्न संशयः ॥ १२ ॥

देखते हैं । अन्य लोक स्मृत्यादि शास्त्र को निरन्तर विचारते हैं ॥ ८ ॥ तोभी वे लोक सद्गुरु के उपदेश बिना काम लोभादिसे वृत (आवृत-वेष्टित) होकर, जानते हुए भी जीवों का घात करते हैं ॥ ९ ॥ जानने वालों से किया गया सब पाप गुरु (महत्) होता है । अज्ञान से पाप होने पर स्वल्प दोष होता है, सो प्रायश्चित्त से नष्ट होता है ॥

हे साधो ! मोह का नाश के लिये सदा विचार करो । और वे कामादि विकार तथा विषय तुम से त्यागे जायँ ॥ ११ ॥ विचार का अनुष्ठान (आचरण) और विकारों का वर्जन (त्याग) ही, हे साधो ! संसार समुद्र से तरना और तारना है । इस में संशय नहीं है ॥ १२ ॥ योगवासिष्ठ

---

१ प्रायश्चित्तं विधीयते । इति महाभारते पाठः ॥

" यस्मिंश्च न कृते दोषस्तत्कर्त्तव्यं मुमुक्षुभिः ।
काम्यं कर्म निषिद्धं च न कर्तव्यं विशेषतः " ॥ १३ ॥
कबीरः सद्गुरुः प्राह भोः सौम्य ! श्रूयतामिदम् ।
भगवन्तं भजस्वैकं द्वितीयं नैव कञ्चन ॥ १४ ॥
" आराधयात्मनाऽऽत्मानमात्मनाऽत्मानमर्चय ।
आत्मनाऽऽत्मानमालोक्य संतिष्ठ स्वात्मानात्मनि " ॥ १५ ॥

६ । १२८ । ४४ । का वचन है कि जिस कर्मादि के करने में दोष नहीं हो, मुमुक्षु का वही कर्तव्य है । विशेष यह है कि सकाम और निषिद्ध कर्म कभी किसी प्रकार नहीं करना चाहिये ॥ १३ ॥ सद्गुरु कबीर साहब कहते हैं कि हे सौम्य (प्रियदर्शन) यह सुनो, कि एक सर्वात्मा भगवान को भजो, दूसरा किसी को नहीं भजो ॥ १४ ॥ योगवा० ५ । ४३ । १९। का वचन है कि आप से आत्मा का आराधन (सेवन) करो, आप से अर्चन (पूजन) करो, आप सें आत्मा को देख (जान) कर, आप से अपने में स्थिर होवो ॥ १५ ॥

अक्षरार्थ– मायारूप वा मायाजन्य मोह ने जीवों को मोहित (भ्रान्त) किया है । और मोहित करके ज्ञान (विवेकादि) रूप रत्न को हर लिया है, और ज्ञानस्वरूप आत्मा को छिपा दिया है । इसीसे जो जीवन ऐसा अल्प है कि जैसा स्वप्न होता है, सो भी जीवन स्वप्नतुल्य विषय व्यवहारादि में ही समाता (नष्ट होता) है, और हुआ है । तथा जीवनादि तो स्वप्नतुल्य है, परन्तु जीव का स्वरूप स्वप्नसमान (स्वप्नतुल्य) नहीं है। उसके विचारादि विना व्यर्थ कुमार्गादि में जीवन जाता है । इस दशा को देखकर सद्गुरु साहब ने सार शब्द का वा उस द्वारा त्याग का उपदेश दिया है, कि हे परम निधान (परम सुख के पात्र विवेकी जन)! तुम इन विषय मोहादि को त्यागो । परम बुद्धि के स्थान ! तुम मिथ्या के प्रेमादि को त्याग कर ज्ञान रत्न की प्राप्ति करो ।

उक्त उपदेश को मानने विना जीवों की यह दशा है कि जैसे दीपादिरूप ज्योति (प्रकाश) को देखकर, पतंग हुलसता (आनन्द पाता) है, उसे दाहक अग्नि नहीं समझता है; इससे उसमें पड़कर नष्ट होता है, तैसे ही पशुतुल्य जड मनुष्य विषयों को देखकर आनन्द मानता है, उन्हें आगि (अग्नितुल्य) नहीं पेखता (देखता) है। या पशु आगे के परिणाम दुःख को नहीं जानता है। इसीसे मुग्ध (अविवेकी) नर कनक कामिनी में लाग (आसक्त हो) कर कालफांस (कुकर्मादि) से बचने के लिये नहीं चेतता (सावधान होता) है। न मृत्यु को याद रखता है। जो शेख सैयद किताब (कुराणादि) निरखते (देखते) हैं। तथा जो लोक सुन्दर स्मृति (धर्मशास्त्र) और अन्य शास्त्रों को विचारते हैं। वे लोक भी कालफांस के वश होने से सद्गुरू के उपदेश विना जान बूझकर भी जीवघात करते हैं, कि जिस पाप का भोगने बिना वारण नहीं हो सकता।

सद्गुरु के उपदेश बिना अपने जीवात्मा को भी जीव मारते (कष्ट देते) हैं, इससे कहते हैं कि हे विवेकियों ! विचार करो, और सत्यादि के विचार से मोह कामादि तथा हिंसादि मानसिक दैहिकादि विकारों को परिहरु (त्यागो)। सोई (विचार, विकार त्याग ही) तरण तारण (पतित पावन और तरने तारने का मार्ग) है। और विचारपूर्वक सब विकारों को त्याग कर एक सर्वात्मा भगवन्त को भजो, मन वचनादि से तत्परायण होवो। और दूसरे किसी को नहीं भजो। या भगवान से दूसरा कोई सत्य नहीं है, यही सद्गुरु का मुख्य उपदेश है। भगवान भी आत्मा से सर्वथा अन्य कुछ नहीं हैं, इति ॥ ४ ॥

शब्द ॥ ५ ॥

सन्तो अचरज एक भौ भारी, कहुं तो को पतिआई ॥
एके पुरुष एक है नारी, ताकर करहु विचारा ।
एके अण्ड सकल चौरासी, भरम भुला संसारा ॥

एकस्माद्यद्धि संजातं विविधं विश्वमण्डलम् ।
श्रीमद्भगवतस्तद्धि महाश्चर्यं किमुच्यताम् ॥ १६ ॥

कथञ्चित्कथनेऽप्यस्य प्रत्ययं च करोति कः ।
अविवेकिजनः साधो ! सावधानेन बुध्यताम् ॥ १७ ॥

विद्यते पुरुषो ह्येक आत्मा देवो निरञ्जनः ।
नारी चैकैव मायाख्या विचारः क्रियतां तयोः ॥ १८ ॥

ब्रह्माण्डेष्वपि सर्वेषु वेदाष्टलक्षयोनिषु ।
विद्यते पुरुषो ह्येको सर्वदेहेषु [1]सर्वदा ॥ १९ ॥

एक श्रीमान् भगवान् से भी जो विविध विश्वमण्डल (भुवनसमूह) उत्पन्न हुआ, वह महा आश्चर्य हुआ, क्या कहा जाय ॥ १६ ॥ और इसका किसी प्रकार कथन करने पर भी, उस कथन में प्रत्यय (विश्वास) कौन अविवेकी जन करता है, हे साधो ! तुम सावधान मन से समझो ॥ १७ ॥ निरञ्जन (असङ्ग) आत्मा देवरूप पुरुष एक ही है, और माया नाम वाली नारी भी एक ही है; उन दोनों का विचार करो ॥ १८ ॥ सब ब्रह्माण्ड, चौरासी लाख योनि, सब देह में सदा एक ही पुरुष (आत्मा) है ॥ १९ ॥ और द्वैत (भेद) मायामात्र (माया स्वरूप) स्वप्न की

---

१ पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भव्यम् ॥ श्वेता० ३ । १५ ॥

एके नारी जाल पसारी, जग में भया अँदेशा ।
खोजत खोजत अन्त न पाया, ब्रह्मा विष्णु महेशा ॥

मायामात्रमिदं द्वैतं कल्पितं स्वप्नवन्मृषा ।
अद्वैतं [1]परमार्थं च केऽपि पश्यन्ति तं बुधाः ॥ २० ॥
सर्वे संसारिणस्त्वेते विचारेण विना सदा ।
भ्रमसिद्धेऽत्र संसारे पतन्त्यग्नौ पतङ्गवत् ॥ २१ ॥
यश्चैको वर्तते देवः सर्वत्र सर्वदेहिषु ।
तं स्मरन्ति न ते मूढा भ्रमेण संभ्रमन्ति च ॥ २२ ॥
नार्यैकैव जगज्जालं देहचित्रं पृथग्विधम् ।
विस्तारितवती तेन संशयोऽप्यभवन्महान् ॥ २३ ॥
भयचिन्तामुखाः सर्वे विकारा मानसास्तथा ।
तेनैवाऽत्राऽभवन् साधो ! विश्वात्मान्तो न विद्यते ॥ २४ ॥

नाई मिथ्या कल्पित (कल्पना सिद्ध) है, अर्थात् चित्तविधि से जन्य है । वा कल्पनामात्र है, परमार्थ अद्वैत है, उसको कोई पण्डित (ज्ञानी) समझते हैं ॥ २० ॥ और ये सब संसारी तो विचार के विना भ्रमसिद्ध (मायामात्र) इस संसार में अग्नि में पतङ्ग के समान सदा गिरते हैं ॥२१॥ जो एक देव सर्वत्र सब प्राणियों में है, वे मूढ उसका स्मरण नहीं करते, और भ्रम से भटकते हैं ॥ २२ ॥

एक मायारूप नारी ने ही जगत् (पंचभूत इन्द्रिय विषय) के समूह को और पृथग्विध (नानाविध) देहचित्र को विस्तारयुक्त किया है । तिससे महान संशय भी हुआ है ॥ २३ ॥ हे साधो ! भय चिन्ता आदि तथा अन्य भी सब मानस विकार उस संशय से ही यहाँ हुए हैं । विश्व के आत्मा (स्वरूप) का अन्त नहीं है ॥ २४ ॥ इसीसे इस विश्व

१ मायामात्रमिदं सर्वमद्वैतं परमार्थतः ॥

नाग फांस लीये घट भीतर, मूसिन सब जग झारी ।
ज्ञान खड्ग बिनु सब जग जूझै, पकरि न काहू पारी ॥
आपुहि मूल फूल फुलवारी, आपुहि चुनि चुनि खाई ।
कहहिं कबीर तेइ जन उबरे, जिहि गुरु लियो जगाई ॥

अतश्चान्विष्यमाणास्ते ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः ।
नास्यान्तं ययुरन्यस्तु कथमन्तं गमिष्यति ॥ २५ ॥

वासनामोहतृष्णादीन् गृहीत्वा नागपाशकान् ।
वर्तमाना मनस्स्वेषा बद्ध्वाऽमुष्णज्जगद्धनम् ॥ २६ ॥

ज्ञानखड्गं विना सर्वे युध्यन्ते मायया जनाः ।
अतः केऽपि गृहीत्वाऽत्र स्थापयन्ति न तां वशे ॥ २७ ॥

यावन्न जीयते माया तावत्स्वप्नोपमे स्वयम् ।
मूलं पुष्पवनं फूलं तद्भोक्ता च भवंस्तथा ॥ २८ ॥

के अन्त को खोजते हुये ब्रह्मा विष्णु महेश भी इसका अन्त नहीं पाये । अन्य तो कैसे अन्त पावेगा ॥ २५ ॥ यह माया, वासना मोह तृष्णादि रूप नागपाश को ले कर, सब के मन में रहकर, सब को बांधकर, जगत् (जंगम प्राणी) के धन (विवेकादि) को चुरा लिया ॥ २६ ॥ सब लोक ज्ञान खड्ग (तरवार) के बिना उस माया के साथ युद्ध करते हैं, इससे कोई भी उसे पकड़ कर यहाँ वश में नहीं स्थिर करते हैं ॥ २७ ॥ जबतक माया नहीं जीती जाती, तबतक यह जीवात्मा स्वयं स्वप्नतुल्य संसार में लोक देहादि का मूल (आदि-कारण), और लोकादि रूप पुष्पवन, और कर्मादिरूप फूल तथा उसके भोक्ता होता हुआ ॥२८॥

फलं भूत्वापि तच्चित्वा तदत्ति च प्रयत्नतः।
प्राप्य सर्वेषु लोकेषु योनिषु विविधासु च ॥ २९ ॥
सन्मन्त्रं सद्गुरुर्यं तु श्रावयत्यनुकम्पया[१]।
प्रजागर्य स दुःस्वप्नाद्विमुक्तो भवति ध्रुवम् ॥ ३० ॥
संसारस्वप्नमुक्तो हि न पुनर्भवसंक्रमे।
प्राप्नोतीति गुरुः प्राह सच्छास्त्राणि वदन्ति च ॥ ३१ ॥५॥

फिर अनादिरूप सुखदुःखरूप फल भी होकर, और उस फूल फल का चयन (संग्रह-अभिमान) करके, और सब लोक विविध योनियों में प्राप्त होकर उस फूल फल को प्रयत्न से भोगते हैं ॥ २९ ॥ और जीसको सद्गुरु सच्चा मन्त्र (उपदेश) कृपा करके सुनाते हैं, सो संसार दुःस्वप्न (भ्रम) से जाग (रहित हो) कर। ध्रुव (निश्चित-अवश्य) मुक्त होता है ॥ ३० ॥ संसार स्वप्न से मुक्त प्राणी फिर संसार के संक्रम (संचार) व्यवहार में नहीं प्राप्त होता है। इस प्रकार सद्गुरु कहते हैं, और सत्शास्त्र भी कहते हैं ॥ ३१ ॥

अक्षरार्थ–हे सन्तो ! एक भगवान् से अनन्त संसार एक भारी आश्चर्य रूप हुआ है, तथा मोह के रहते, विचार कर विकार को त्यागने बिना, जन्मादि संसार भी भारी आश्चर्य रूप हुआ है। यदि मैं कहता हूं तो कौन पतियाता (विश्वास करता) है। अर्थात् अनेक शरीरी को देखकर, एकात्मा के उपदेश में कोई विश्वास नहीं करता है। परन्तु एक ही आत्मा सत्य पुरुष है। और एक ही उसकी शक्तिरूप माया नारी है। और उसी से अनन्त संसार हुआ है। इससे ताकर (उस एक आत्मा का ही) विचार करो, भेद को त्यागो। और वह एक ही पुरुष (भगवान्)

१ 'गुरुप्रसादतोऽज्ञानहरणे प्रभवेत् पुमान्। नान्यथा परमेशोऽपि सर्वशक्तियुतो हि यः' ॥ आत्मपु० १८ । १५८ ॥

सब अण्ड (ब्रह्माण्ड) और सब चौरासी लाख योनियों में सत्य वस्तु है। उसीको जानने बिना संसारी लोक भ्रम में पड़े हैं, अनेक को सत्य समझते हैं, और उसकी प्राप्ति आदि के लिये कर्मादि करके जन्मादि चक्र में पड़े हैं, इत्यादि।

माया रूप एक नारी ने ही, आत्मसत्ता आदि पाकर, भारी जाल (समूह या बन्धन) को फैलायी है। इससे संसार में अंदेशा (संशय भ्रमादि) हुए हैं। और माया रचित जाल ऐसा है, कि जिसके अन्त को खोजते २ ब्रह्मा विष्णु महेश भी हैरान हुए; परन्तु अन्त नहीं पाये। इससे इसका खोजना व्यर्थ है, इसे मिथ्या समझना ही इसका अन्त है, अन्य नहीं। मिथ्या समझने बिना यह माया कामतृष्णादि रूप नागफांस लेकर, सब घट (देह) के भीतर वर्तमान रहती है, और उस नागफांस से बांध कर सब संसारी के ज्ञान विचारादि को उसने झार (खोज २) कर मूसा (चोराया) है। और इस अवस्था में भी आत्मज्ञान रूप खड्ग के बिना सब संसारी उससे जूझते (लडते) हैं, कर्मादि से मुक्त सुखी होना चाहते हैं। इसीसे उसे काहु (किसी) ने पकड़ नहीं पाया। पकडने में समर्थ नहीं हुआ।

जबतक माया नहीं जीती जाती, तबतक यह जीवात्मा आप ही संसारवृक्ष के मूल कारण, तथा कर्मेन्द्रियादि रूप फूल, और लोकादि रूप फुलवारी बन बनाय कर, फिर इसके सुखदुःख विषयादि रूप फल फूलों को चुन २ कर खाता (भोगता) है। तथा माया भी वश में होने बिना सब कुछ बनाकर, बुद्धि रूप से भोगती है। काल रूप से चुन २ कर नष्ट करती है। साहब का कहना है कि, इस मायाजाल से तेई (वे ही) नर उबरते (मुक्त होते) हैं कि जिन्हें सद्गुरु ने मोहनिन्द से जगा लिया है। एक सत्यात्मा के उपदेशादि से भेद भ्रम भगा दिया है, इत्यादि। कूर्मपु० ईश्वरगी० २। ३४-३५। का वचन है कि (यदा

भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति । तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा ॥ यदा पश्यति चात्मानं केवलं परमार्थतः । मायामात्रं तदा सर्वं जगद्भवति निर्वृतः ॥) जब भूतों के भेदभाव को एक में देखता है, एक ही से विस्तार को समझता है; तब ब्रह्मरूप होता है । जब आत्मा को परमार्थ दृष्टि से केवल शुद्ध समझता है, और सब जगत को माया मात्र देखता है, तब निर्वृत (सुखी) होता है ॥ ५ ॥

शब्द ॥ ६ ॥

सन्तो अचरज एक भौ भारी । पुत्र धयल महतारी ॥
पिता के संग भई बावरी, कन्या रहल कुमारी ।
खसमहिं छोड़ि ससुर सँग गवनी, सोकिन लेहु विचारी ॥
भाई के संग सासुर गवनी, सासुहिं सावत दीन्हा ।
ननद भौज परपञ्च रच्यो है, मोर नाम कहि लीन्हा ॥

आश्चर्यं तन्महत् साधो ! विद्यते विश्वमण्डले ।
मोहत्यागं विना पुत्रो मनो मातरमग्रहीत् ॥ ३२ ॥
मायाख्यां ममतारूपां तद्वद् दुर्बुद्धिकन्यका ।
तटस्थेशपितुः सङ्गान्मुग्धाऽस्त्यत्र कुमारिका ॥ ३३ ॥
असङ्गात्मपतिं हित्वा सद्गुरुं च विवेकिनम् ।
अज्ञैः कुगुरुभिः सार्द्धं याति तत्किं न चिन्त्यते ॥ ३४ ॥

हे साधो ! वह भारी आश्चर्य संसारमण्डल (भुवन समूह) में है, कि मोह के त्याग विना मन रूप पुत्र ने माया नामवाली ममतारूप माता को ग्रहण किया है । तैसे ही मुग्धा ही (मूढा) दुर्बुद्धिरूप कन्या तटस्थ ईश्वररूप पिता के संग से यहाँ कुमारी है ॥ ३२-३३ ॥ असङ्ग आत्मारूप पति को और विवेकी सद्गुरु को त्याग कर, अज्ञ कुगुरुओं के साथ जाती है, सो क्यों नहीं स्मरण करते हो ॥ ३४ ॥ आश्चर्य है कि वह बुद्धि

समधी के सँग नाहीं आई, सहज भई घरवारी ।
कहहिं कबीर सुनहु हो सन्तो, पुरुष जन्म भौ नारी ॥६॥

अहो सा मनसा भ्रात्रा यात्येव कुगुरोर्गृहे ।
लोकान्तरे ततो माया सपत्नीत्वं हि गच्छति ॥ ३५ ॥
ननन्द्राऽविद्यया सार्द्धं कुबुद्धिर्भ्रातृवल्लभा ।
कुदेवादिप्रिया नित्यं प्रपञ्चं कुरुते मुदा ॥ ३६ ॥
प्रपञ्चं हि तथा कृत्वा ममता क्रियते सदा ।
संलाति सकलं विश्वं मृषैवाऽऽत्मनि कल्पते ॥ ३७ ॥
समधीनां न सत्सङ्गे कुबुद्धिः सा समागता ।
स्वभावेनाऽभवच्चैषा गृहसक्ता सुदुर्भगा ॥ ३८ ॥
संसारगृहसक्ता हि येषां बुद्धिस्तु वर्तते ।
जन्मना पुरुषास्ते हि स्त्रियो जाता न संशयः ॥ ३९ ॥

मनरूप भ्राता के साथ कुगुरु के घर लोकान्तर में जाती है, तिससे माया सपत्नीत्व को प्राप्त होती है ॥ ३५ ॥ मन की प्रिया (कुबुद्धि) अविद्यारूप ननन्दा के साथ कुदेवादि की प्रिया होकर सदा आनंद से प्रपञ्च (भ्रम और विस्तार) करती है ॥ ३६ ॥ प्रपञ्च करके, उससे सदा ममता भी की जाती है, सकल विश्व (भुवनादि) को वही संलाती (ग्रहण करती) है, आत्मा में मिथ्या ही सिद्ध होता है ॥ ३७ ॥

वह कुबुद्धि समबुद्धिवालों के सत्सङ्ग में नहीं आई । किन्तु यह अत्यन्त दुर्भगा (दुष्ट पलधर्मादिवाली) स्वभाव से ही गृह में आसक्त हुई ॥ ३८ ॥ और जिनकी बुद्धि संसाररूप गृह में आसक्त है, वे लोक जन्म से पुरुष होते भी स्त्री (परवश) हो गये, इसमें संशय नहीं ॥३९॥

१ मायाख्यायाः कामधेन्वा वत्सौ जीवेश्वरावुभौ । कामं तौ पिवतां द्वैतं तत्त्वं त्वद्वैतमेव हि । पञ्चदशी ६ । ३६ ॥

परा‌धीना विकर्मस्थाः कामलोभपरायणाः ।
ये ते न [1]पुरुषा ज्ञेयाः पुरुषा वै विवेकिनः ॥ ४० ॥
मायाविमुग्धमनसः समशं विहाय,
शब्दादिभोग्यनिवहे स्वमनो नियुज्य ।
हिंसाद्यकर्मनिरताः सुपराजिताश्च,
मायाबलैः परवशा नितरां भवन्ति ॥ ४१ ॥

।इतिहनुमद्दासकृतायां शब्दसुधायां मायाजन्यमोहादिवर्णनं नाम द्वितीयस्तरङ्गः।।

जो लोक पराधीन, कुकर्म में स्थिर, काम लोभ परायण हैं, वे पुरुषरूप ज्ञेय (जानने योग्य) नहीं हैं । विवेकी ही पुरुष हैं ॥ ४० ॥ माया से विमूढ मनवाले सम सुख को त्याग कर, शब्दादि भोग्य समुदाय में अपने मन को लगाकर, हिंसा आदि कुकर्म में प्रवृत्त रत होकर, माया के बलों से अत्यन्त पराजित होकर, नितरां (निश्चित) परवश होते हैं ॥ ४१ ॥

अक्षरार्थ- हे सन्तो ! मोह त्याग, बिचारादि बिना, एक भारी आश्चर्य हुआ, कि माया के पुत्र मन तथा मन सहित जीव, ने महतारी (माता-माया) को धयल (पकड़ा) (चित चञ्चलता छोडि दे, माया ते मन फेर । जाही ते सब कुछ भया, ताही काह न हेर ॥ साखी ३२३) इत्यादि उपदेश को नहीं माना । इससे माया ने भी उसे पकड़ लिया । और दुर्बुद्धि तथा उसके सहित जीवरूप कन्या, तटस्थेश्वर निज देवादि पिता के संग बावरी (पगली) हुई, जिससे यह कन्या कुमारी रह गई, सत्य सर्वात्मा पति को नहीं पा सकी । और उस सत्य पति, तथा सद्गुरु रूप खसम (स्वामी) को छोड़ (त्याग) कर, वञ्चक गुरु आदि रूप श्वसुर के साथ गमन करती है, अनात्मपरायण होकर कुसंग में जाती है, सो क्यों नहीं विचार लेते हो । या वह पुत्र और कन्या किन (कौन)

[1] आत्मानं चामृतं हित्वा अभिन्नं मोक्षमव्ययम् । गतो हि कुत्सितः काको वर्तते नरकं प्रति ॥ अवधूतगी० ८ । १० ॥

हैं, उन्हें कोई विचार से समझो। और उन्हें सुमार्ग में लगावो। और यह कुबुद्धि (जीव) ने मनरूप भाई के साथ होकर, सासुर (लोकान्तरादि) में गमन किया। जिससे माया, गुरुवाओं की कुबुद्धिरूप सासु को सावत दिया। अर्थात् माया मन कुबुद्धि अज्ञ जीव, ये सब मिथ्या पति की सिद्धि सेवा आदि में तत्पर हुए। इसीसे अविद्या तृष्णादि रूप ननद, और कुबुद्धि (जीव) रूप भौज (भ्रातृभार्या) दोनों मिलकर प्रपञ्च (भ्रमविस्तार) रचें हैं। और उस भ्रमसिद्ध को ही मोर (मेरा) ऐसा कहकर धारण किये हैं। तथा स्वयं प्रपञ्च रचकर मोर (सद्‌गुरु सत्यात्मा) का नाम धर लिये हैं, उनमें भी मिथ्या प्रपञ्च का आरोप किये हैं इत्यादि ॥

और वह दुर्बुद्धि समधी (सम बुद्धिवाले) के संग में नहीं आई। अर्थात् उस बुद्धिवाले जीव गुरुशरण सत्सङ्ग में नहीं प्राप्त हो सके। इससे वह बुद्धि सहज (स्वभाव प्रारब्ध)से सिद्ध संसार घर के ही घरबारी (व्यवहारवाली) हुई। तथा शरीर में आसक्त हुई। साहब का कहना है कि हे सन्तो! यद्यपि पुरुष और नारी एक २ ही है, तथापि मायासहित उस एकही पुरुष से अनेकों बुद्धिरूप नारी का जन्म हुआ है, कि जिससे यह प्रपञ्च होता है। और उस बुद्धि के प्रपञ्च में फंसने से, जो प्राणी जन्म से पुरुष था सो भी नारी (परवश) हो गया है। हे साधो! इसे सुनो, विचारो, प्रपञ्च रहित होवो, इत्यादि।

विशेष बात यह है कि, यह संसार और संसारी जीव मायी ईश्वर से प्रगट होते हैं, इससे जीव पुत्र तुल्य हैं, माया माता है, ईश्वर पिता है। और विभु सर्वात्मा होने से सदा सबके साथ है; तो भी यह जीव कुबुद्धि के कारण उस ईश्वर वा निर्गुण सत्यात्मा ब्रह्म को नहीं पहचानता है, इससे अनात्मपरायण होता है, इत्यादि ॥ ६ ॥

ज्ञानी की स्थितिनिरूपण प्रकरण ॥ ३ ॥

पूर्व शब्द से माया मोहयुक्त जीवों के अनर्थजनक व्यवहारों का वर्णन करके, इस सप्तम शब्द से ज्ञानी भक्त की धारणा को बताते हुए, दृष्टान्तरूप से पतिव्रता के धर्म का भी फल सहित वर्णन करते हैं। तहाँ (मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम्। श्वेता० ४। १०) इस श्रुति के अनुसार माया जगत की प्रकृति (उपादान कारण) है, और मायी (माया को वश में रखनेवाला मायारूप शक्तिवाला) ईश्वर है। और ज्ञानी भी माया मोह को जीतता है, वश में रखता है इससे कहते हैं कि-

शब्द ॥ ७ ॥

मायि[1] मैं दूनों कुल उजियारी ॥

सासु ननद पटिया मिलि बँधलो, भँसुरहिं परलो गारी।

जारों माँग तासु नारी की, सरबर रचल धमारी ॥

यदा मायां वशीकृत्य मायित्वं संभजाम्यहम्।
प्रकाशेते तदा मेऽस्य संसाराब्धेस्तटे उभे ॥ १ ॥

जब मैं (जीवात्मा) माया को वश में करके मायित्व को सम्यक् प्राप्त करता हूं, तब इस संसार समुद्र के दोनों तट मुझे प्रकाशते (दीखते) हैं ॥ १ ॥ जैसे कोई महामत्स्य नदी के दोनों तट में विचरे। तैसे स्वप्न

१ अत्र (मायि मैं शब्दाभ्यामीश्वरविदुषोरपि सूचनात्तयोस्तुल्यज्योतिः स्वरूपत्वं बोध्यते। किञ्च यथा काचित्स्त्री स्वमातरं प्रति ब्रूयात्तथाऽभिधानात्पतिव्रताया रहस्यधर्मोऽपि सूच्यते। यथोक्तं महाभा० अनुशा० १४६। "श्वश्रूश्वशुरयोः पादौ जोषयन्ती गुणान्विता। मातापितृपरा नित्यं नारी धर्मेण युज्यते॥" इत्यादि। ज्ञानिनोपि कुलादिकं पवित्रं भवति, तदपि सूचितम्। उक्तं च सूतसं० ज्ञानयोगखं० २०। ४५। कुलं पवित्रं जननी कृतार्था विश्वंभरा पुण्यवती च तेन। अपारसच्चित्सुखसागरे सदा विलीयते यस्य मनः प्रचारः।

जना पांच कुखिया में रखलौं, और दूइ औ चारी।
पार परोसिन करौं कलेवा, संग हि बुधि महतारी ॥

महामत्स्यो यथा नद्याः संचरेदुभयं तटम्।
तथा स्वप्ने प्रबोधे च चरामि तदसङ्गतः॥ २॥
वञ्चकादेर्हि दुर्बुद्धिं स्वस्याविद्यादिकांस्तथा।
निर्जित्यात्मनि बद्ध्वा च लयं तत्र करोम्यहम्॥ ३॥
तेषां च विलये साधो! सुराणामप्यनादरम्।
महतां कृतवानस्मि तेनास्माकं भवेत् किमु॥ ४॥
आत्मता तेषु संजाता तेन तेऽपि न चेशते।
खल्वस्माकमभूत्यै वै भेदेनैवादरो न मे॥ ५॥
संसारसरसीमध्ये क्रीडा सम्पादिताऽनृता।
तृष्णाऽविद्यादिभिर्याभिस्तल्ललाटं दहाम्यहम्॥ ६॥
इन्द्रियाणि च पञ्चापि द्वन्द्वानि सकलान्यपि।
चत्वार्यन्तःकरणानि कुक्षौ संस्थापयाम्यहम्॥ ७॥

और जाग्रत अवस्था में मैं विचरता हूं और दोनों से असङ्ग हूं॥ २॥ वञ्चकादि की दुर्बुद्धि को और अपनी अविद्या आदि को जीत कर, और आत्मा में बांध कर, वहाँ लय करता हूं॥ ३॥ हे साधो! तिन दुर्बुद्धि अविद्यादि के लय होने पर, महान देवों का भी अनादर किया हूं, कि तिस अनादर से भी हमे क्या होगा॥ ४॥ उन देवों में आत्मरूपता मुझे हो गई है, तिससे वे भी मेरी अभूति (असम्पत्ति) के लिये समर्थ नहीं हैं, भेददृष्टि से ही मेरा उन में आदर नहीं है, आत्मरूप से है ही॥ ५॥ जिन तृष्णा अविद्या आदिकों ने संसार रूप सरसी (सर) में मिथ्या क्रीडा सिद्ध किया है, उनके ललाट को मैं जलाता हूं (उन्हें नष्ट करता हूं)॥६॥

और पांचों इन्द्रिय, सब द्वन्द्व, चार अन्तःकरण को मैं कुक्षि में (उदर में) सम्यक् स्थिर करता हूं॥ ७॥ जो विज्ञ (ज्ञानी) संसार से

सहजे वपुरे सेज बिछावल, सुतलों पाँव पसारी।
आऊँ न जाऊँ मरों नहिं जीवों, साहब मेटल गारी॥

ये संसारात्परे विज्ञास्ते हि मे सहवासिनः।
तैर्मिलित्वा परानन्दं भोज्यं भुञ्जेऽहमान्हिकम्॥ ८॥
सौभाग्यं च ममेदानीं वर्तते सर्वतो ध्रुवम्।
मातृवद्रक्षिका यस्मात्सुबुद्धिर्वर्तते सह॥ ९॥
सदा निन्द्यमिदं देहं लब्धं स्वाभाविकं किल।
अनायासेन शय्यावत्प्रसार्यात्र शये सुखम्॥ १०॥
मनोबुद्धिमयौ पादौ प्रसार्यात्र कलेवरे।
सम्यक् शये परानन्दे जीवन्मुक्तिपदं गतः॥ ११॥
न गच्छामि क्वचित्तस्मान्नागच्छामि कुतोपि च।
[१]न म्रिये नैव जीवामि दोषान्नाशितवान् गुरुः॥ १२॥

पर (भिन्न दूर) हैं, वे ही मेरे सहवासी (पड़ोसी) हैं। उनके साथ मिलकर मैं, उत्तम आनन्द रूप आन्हिक (दिनके) भोज्य को भोगता (भोजन करता) हूं॥ ८॥ और मेरा इस समय सर्वत्र ध्रुव (निश्चल) सौभाग्य सुन्दर भाग्य है, जिससे मातातुल्य रक्षक सुबुद्धि साथ है॥ ९॥ स्वाभाविक (प्रकृति अज्ञान जन्य) प्राप्त सदा निन्द्य (निन्दा योग्य) इस देह को ही शय्या की नाईं अनायास से पसार कर, इसीमें सुख-पूर्वक सोता हूं॥ १०॥ मन बुद्धिरूप पैर को इस देह में पसार कर, जीवन्मुक्ति स्थान में प्राप्त होकर, उत्तम आनन्द में सम्यक् होता हूं॥ ११॥ तिसी से न कहीं जाता हूं, न कहीं से आता हूं, न मरता हूं, न जीता हूं; क्योंकि गमनादि के हेतु दोषों को गुरु ने नष्ट कर दिया है॥ १२॥

१ 'यस्तु विज्ञानवान् भवति समनस्कः सदा शुचिः। स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद् भूयो न जायते'॥ कठ० १। ३। ८॥

एक नाम मैं निज कै गहलों, ते छूटल संसारी ।
एक नाम मैं बदि कै लेखौं, कहहिं कबीर पुकारी ॥७॥

प्रभुणा नाशिते दोषे त्वपशब्दे निवारिते ।
सारशब्दं गृहीत्वैकं संसारित्वं पराऽणुदम् ॥ १३ ॥

सारनाम्नो निजानन्दस्वरूपेण सुसंग्रहात् ।
संसारित्वमपैत्येव तेनाऽगच्छदिदं स्वयम् ॥ १४ ॥

निश्चयेन च नामैकं जानामि सर्वसिद्धये[1] ।
इत्येवं सद्गुरुः प्राहाऽऽहूय सर्वजनान् हितम् ॥ १५ ॥७॥

प्रभु (गुरु) से दोष के नष्ट होने पर, और अपशब्द के निवारण होने पर, एक सार (स्थिर न्याययुक्त) शब्द का ग्रहण करके, संसारिता को नष्ट किया है ॥ १३ ॥ सार (सत्य) नामवाला का आत्मानन्दरूप से सुसंग्रह (अनुभव) होने से संसारिता स्वयं चल जाती है । तिससे यह संसारित्व स्वयं चला गया ॥ १४ ॥ और सबसिद्धि के लिये एक नाम को ही निश्चय से जानता हूं, इस प्रकार यह हित बात सद्गुरु सब जनों को पुकार कर कहते हैं ॥ १५ ॥

अक्षरार्थ– मायी (माया को वश में करनेवाला) मैंने संसार समुद्र के दोनों कुल (तट) रूप उत्पत्ति प्रलय, बन्ध मोक्ष, आदि को उजियारी (प्रत्यक्ष) कर लिया है । और माया अविद्यारूप सासु ननद को मिलाकर पटाञ्चल में बांधा है, सुबुद्धि के वश किया है । या उनसे मिलकर अपना पटिया (शिर के बाल तुल्य तमोगुण) को बांधा है, अर्थात् मायिक वस्तु, अविद्यामय शरीर भी विवेकावस्था में हितकारक ही हो गये हैं । और तमोगुणादि के वश में होने पर मैंसुर (बड़े देवादि) को गाली पारा है,

१ 'आत्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इदं सर्वं विदितम्' । बृहदा० ४।५।६।

(उनमें वास्तविक ईश्वरत्वादि का निषेध किया है)। और इच्छा तृष्णा आशा आदिरूप नारी (स्त्रियों) की मांग (कपार—ललाट) जलाता हूं, कि जिन्होंने संसार सरोवर में धमार खेल (द्वन्द्व) रचा है।

और आशा तृष्णादि के निवृत्त होने पर, पांच ज्ञानेन्द्रिय रूप पांचजना, द्वैत भाव द्वन्द्वरूप द्विजना, चार अन्तःकरण रूप चारजना को मैं कुखिया (कुक्षि) में रखा हूं, वंश करके स्वरूप में लय किया हूं। और संसार से पार गये पहुंचे हुए जीवन्मुक्त मेरे पड़ोसी हैं। उनके साथ ब्रह्मानन्द का कलेवा (मध्यान्ह कालिक भोजन) करता हूं। इस अवस्था में सदा ही संग में सुबुद्धि रूप माता रहती है, कुबुद्धि नष्ट हो जाती है। और सहज (स्वभाव से प्राप्त) बपुरा (जड) इस शरीर को सेज (शय्या) तुल्य बिछाया (किया) हूं। और इस पर पांव पसार कर सोया हूं। अर्थात् सर्वथा इससे भिन्न व्यापक हूं ('नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्'। भ० गी० ५। १३) इत्यादि के अनुसार सब क्रिया से रहित नवद्वार[1] युक्त देह में स्थिर हूं। इसीसे अब मैं न कहीं जाता हूं न कहीं से आता हूं, न मरता हूं न जीता (जन्मता) हूं; किन्तु सदा सर्वत्र एक रस वर्तमान हूं। क्योंकि आत्मस्वरूप से ज्ञात साहब (ईश्वर सद्गुरु) ने मेरे जन्मादि के हेतु सब गारी (दोष कुशब्द) को मेट दिया है।

मैं ने एक नाम (सारशब्द) को निज कै (खास कर—आत्मस्वरूप से) गहा (पकड़ा—समझा) है। ते (तिसी से) संसारीपन छूट गया है। मैं एक ही नाम (सत्यात्मा) को बदि कै (निश्चय प्रगट करके) लेखता (सर्वत्र सत्य देखता) हूं। इस प्रकार साहब पुकार कर ज्ञानी की स्थिति निश्चय का वर्णन करते हैं॥

---

१ 'पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्रचेतसः'। कठ० २। ५। १। यहां नाभिशिर सहित, अवक्र ज्ञानरूप आत्मा का ग्यारह द्वारवाला पुर कहा गया है।

विशेष बात यहाँ यह है कि इस शब्द में पतिव्रता के स्वभाव का भी सूचन किया गया है। पतिव्रता से अन्य स्त्रियों का, निन्दा करना, विरोध झगड़ा करना, संतोष रहित होना, इत्यादि स्वभाव होता है, और इससे विपरीत पतिव्रता का स्वभाव होता है। इससे कोई पतिव्रता अपनी माता से मिलने पर कहती है कि हे मायी (माता) जी! मैं दोनों कुल को उजियार (प्रकाश) करनां चाहती हूं। या मेरा दोनों कुल पवित्र है। विरोध नहीं होने से मैं सासु ननंद से मिलकर पाटी (बाल) बाधती हूं। व्रतविशेष में मंगल के लिये भंसुर को गारी (कुशब्द) कहती हूं। तालाव में धमार रचनेवाली का मैं मांग जारती हूं, उनका संग नहीं करती हूं। पांच दो चार पुत्र पुत्री को जन्माथी हूं। पड़ोसी के साथ भोजन करती हूं, भूखों को खिलाती हूं। बुद्धिमती माता (सासु) मेरे धर्म में साथ रहती हैं; पति की इच्छा से सहज स्वभाव में जो भला बुरा खाट मिलता है, उसे बिछा कर मैं पांव पसार कर सोती हूं। इसीसे मेरा कहीं आना जाना सब छूट गया है। मेरे स्वामीने, सब दोष मिटा दिया है, मैं एक स्वामी के सिवा दूसरे को नहीं चाहती हूं, इत्यादि पतिव्रता की धारणा है। यही स्वभाव सच्चा भक्त ज्ञानी का भी होता है। वह अनिन्दक संतोषीं कुसंग का त्यागी एकात्मनिष्ठ होता है। महाभारतादि में विस्तार से नारी धर्म का वर्णन है। तहाँ भी सासु श्वसुर की सेवा, पति की सेवा, जनसेवा आदि शारीरिक धर्म के साथ संतोष सहनशीलता आदि मुख्य धर्म कहे गये हैं। (स्योना भव श्वसुरेभ्यः स्योना पत्ये गृहेभ्यः। अथर्ववे० १४।२।२) स्योना (समीचीना साध्वी) इत्यर्थः। इत्यादि ॥ ७ ॥

शब्द ॥ ८ ॥

सन्तो कहौं तो को पतिआई, झूठ कहत सांच बनिआई ॥
लौके रतन अवेध अमोलिक, नहिं गाहक नहिं साईं ।
चिमिकि चिमिकि चिमिके दृग दहुंदिशि अर्ब रहा छिरिआई ॥

वदत्स्वस्मासु भोः साधो ! को विश्वसिति वै जनः ।
मृषैव[1] कथयत्स्वेवं परं सत्यं प्रसिद्ध्यति ॥ १६ ॥
अवाच्यं [2]तत्परं तत्त्वं लक्षणा तत्प्रसाधिका ।
तद्भिन्नानां निषेधेन ह्यतद्व्यावृत्तिरूपतः ॥ १७ ॥
किम्वा सत्यमिषेणैवाऽसत्यमन्ये वदन्ति हि ।
तत्रैव प्रत्ययं सर्वे कुर्वन्ति स्वाविवेकतः ॥ १८ ॥

हे साधो ! हम लोगों के कहते रहने पर भी कौन जन विश्वास करता है । परन्तु इस प्रकार मिथ्या ही कहते रहने पर भी पर (केवल) सत्य प्रसिद्ध (प्रगट) होता है ॥ १६ ॥ वह केवल स्वरूप शब्दों का वाच्य (शक्य) अर्थ नहीं है, किन्तु उससे भिन्न के निषेध से, अतद् (अनात्मा) की व्यावृत्ति (निवृत्ति) रूप से लक्षणा उसकी बोधक है ॥ १७ ॥ अथवा अन्य लोक सत्य के मिष (बहाना) से असत्य कहते हैं, उसीमें आत्मा के अविवेकी सब विश्वास करते हैं, इससे सत्य में नहीं विश्वास करते ॥ १८ ॥ जो सर्वात्मा होने से क्रेता (गाहक) स्वामी

१ 'असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा निरुपायमुपेयते । आत्मत्वकारणाद्भिन्नो गुणवृत्त्या विवोधिताः ॥ नैष्कर्म्यसिद्धिः । ३ । १०४ ॥ निरुपायं साक्षादुपायरहितम् ॥

२ 'षष्ठीगुणक्रियाजातिरूढयः शब्दहेतवः । नात्मन्यन्यतमोऽमीषां तेनात्मा नाभिधीयते' ॥ नैष्क० ३ । १०३ । 'यस्य चात्मादिकाः संज्ञाः कल्पिता न स्वभावजाः' । योगवा० ४ । ५ । ३ ॥

आपे हिं गुरु कृपा कछु कीन्हा, निर्गुण अलख लखाई।
सहज समाधी उनमुनि जागे, सहज मिले रघुराई ॥

यदभेद्यममूल्यं च क्रेतृस्वामिविवर्जितम्।
सर्वात्मत्वाद्धि तद्रत्नं दृश्यते तद्विवेकिभिः ॥ १९ ॥
स एव सूर्यचन्द्रादिरूपेण दीप्यते तथा।
अनन्तजीवरूपेण विकीर्णो वर्ततेऽत्र च ॥ २० ॥
गुरुभिश्च कृपादृष्टिर्यदा काचित् कृता मयि।
निर्गुण[1]श्चाप्यलक्ष्यश्च तदा लक्ष्योऽभवत्स्वयम् ॥ २१ ॥
राजयोगेन चोन्मुन्या मुद्रया च यदा ह्यहम्।
अजागरं तदा साधो ! रामः प्राप्तः श्रमं विना ॥ २२ ॥
स्थितो यो ह्यतिनिकटे, सदैव हृदि राजते।
तद्रहस्यं न जानन्ति केऽपि सद्गुरुमन्तरा ॥ २३ ॥

रहित अभेद्य अमूल्य रत्न (ब्रह्मात्मा) है, सो उसके विवेकियों से ही देखा जाता है, अन्य से नहीं ॥ १९ ॥ सो आत्मा ही माया द्वारा सूर्य चन्द्रादि रूप से प्रकाशता है, तथा अनन्त रूप से यहाँ विकीर्ण (फैला) है ॥ २० ॥

और जब गुरु से मुझ (शिष्य) पर कोई अपूर्व कृपादृष्टि की गई, तब निर्गुण और अलक्ष्य (अदृश्य-अचिन्ह) आत्मा भी स्वयं लक्ष्य (प्रत्यक्ष) हो गया ॥ २१ ॥ हे साधो ! राजयोग और उन्मुनि नामक मुद्रा से जब मैं जागा, तब राम परिश्रम बिना ही मिल गये ॥ २२ ॥ जो राम अत्यन्त निकट (पास) में स्थिर हैं, और सदा हृदय में विराजते हैं, उस राम के रहस्य भेद को कोई सद्गुरु बिना नहीं जानते हैं ॥२३॥

१ 'सद्गुणैर्यस्य सगुणत्वं तस्यैव दुष्टगुणरहितत्वेन निर्गुणत्वमिति केचित् तन्न वरं निर्गुणशब्देन गुणसामान्यनिषेधात्' ॥

जहँ जहँ देखो तहँ तहँ सोई, माणिक वेध्यो हीरा।
परम तत्त्व यह गुरु ते पायो, कहें उपदेश कबीरा ॥ ८॥

वदन्त्युक्तविधं त्वन्ये रामचन्द्रं स लभ्यते।
योगेनेति न तद्युक्तं सविशेषो न तादृशः ॥ २४ ॥
पश्यामि यत्र यत्राऽहमिन्द्रियैर्मनसा तथा।
दृश्यते तत्र तत्रासौ संविद्धो हीरकादिषु ॥ २५ ॥
अखण्डश्चिद्घनश्चात्मा प्रतिरुद्धो न कुत्रचित्।
सर्वात्मत्वान्निरंशत्वात्प्रकाशस्वच्छरूपतः ॥ २६ ॥
एतादृशं परं तत्त्वं ह्यस्माभिः सद्गुरोर्बलात्।
संप्राप्तमिति भाषन्ते महाचार्या जनान् प्रति ॥ २७ ॥
रामचन्द्रं वदन्त्येके [1]माणिक्यादिविभूषितम्।
दृश्यमानं च सर्वत्र गुरोः प्राप्यं परं पदम् ॥ २८ ॥

अन्य लोक उक्तविध (निर्गुणादि स्वरूप) रामचन्द्रजी को कहते हैं, और वह रामचन्द्र ही योग से मिलते हैं, यह उनका कहना है, सो वचन युक्त नहीं है; क्योंकि सविशेष स्वरूप तैसा नहीं हो सकता ॥ २४ ॥

इन्द्रिय वा मन से जहां २ मैं देखता हूं, तहाँ २ वह सर्वात्मा राम दिखता है, जो हीरा आदि में भी संविद्ध (व्यापक) है ॥ २५ ॥ अखण्ड चिद्घन (विस्तार) आत्मा, सर्वात्मा, निरंश, प्रकाश स्वच्छ स्वरूप होने से कहिं भी प्रतिरुद्ध (प्रतिबद्ध) नहीं होता है ॥ २६ ॥ ऐसा उत्तम तत्त्व हम लोक सद्गुरु के बल से प्राप्त किया है। इस प्रकार महान् आचार्य लोक जनों के प्रति कहते हैं ॥ २७ ॥ कई एक लोक माणिक्यादि

१ 'केयूराङ्गदकङ्कणैर्मणिगणैर्विद्योतमानं सदा। रामं पार्वणचन्द्रकोटिसदृशं छत्रेण वै राजित्तम्'॥ स्तोत्रग्रंथे। 'रघुनाथ एव महापुरुषस्तस्य नामरूपधामलीला-मनोवचनाद्यविषयाः' ॥ वैष्णवग्रन्थे ॥

तन्मिथ्या कथ्यते सत्यमिषेणैवै न संशयः।
नावयवी हि सर्वत्र वर्तितुं शक्यते प्रभुः ॥ २९ ॥

से विभूषित सर्वत्र दृश्यमान गुरु से प्राप्त करने योग्य परं पद स्वरूप श्रीरामचन्द्रजी को कहते हैं ॥ २८ ॥ सो वे लोक सत्य के बहाने से मिथ्या कहते हैं, इसमें संशय नहीं है; क्योंकि अवयवी प्रभु सर्वत्र रह नहीं सकता ॥ २९ ॥

अक्षरार्थ– फिर भी ज्ञानी के निश्चय को कहते हैं कि, हे सन्तो! ज्ञानी का ऐसा अद्भुत निश्चय है कि, यदि मैं कहूं भी तो उस बात को कौन पतिआता (मानता) है। वह बात यह है कि सत्य वस्तु कही नहीं जा सकती। तौ भी झूठ कहते २ में ही सच्चा शिष्य को सत्य वस्तु की बात बन आई (सिद्ध प्राप्त हुई)। झूठ शब्द ने सत्य का काम किया। अवाच्य का भी लक्षणा आदि से ज्ञान हुआ। सत्य का वाचक कोई शब्द नहीं है, तौभी कल्पित धर्मगुणादि द्वारा उसका बोध होता है। (अस्थूल-मनणु बृ. ३। ८। ८ ॥) इत्यादि द्वारा स्थूलादि के निषेध से शेष आत्मा ही रहता है। और वही अवेध (अखण्ड) अमूल्य रत्न सर्वत्र लौकता (दीखता) है। और सर्वात्मा होने से उसका कोई ग्राहक वा स्वामी नहीं है। तौ भी वह दृक् (द्रष्टा ज्ञानरत्न) दशों दिशाओं में सूर्यादिरूप से बार २ चमक (प्रकाश) कर, भी एकरस चमक (प्रकाश) रहा है, और अर्ब (अनन्त) जीव शिवादि रूप से एक ही ज्ञानरत्न छिरिया (बिखरा–फैला) है। यह रत्नादि कहना भी मिथ्या ही है, परन्तु ज्ञानाधिकारी इसीसे नामरूप को त्याग कर सत्यात्मा का अनुभव करता है। अथवा शब्द का दूसरा अर्थ है कि, मैं सत्य कहता हूं तो कोई विश्वास नहीं करता है, और अन्य लोक झूठ कहते हैं, तो उनकी बात सांच बन गई। या वे लोक झूठ को ही सांच की बनिआ (बहाना) करके कहते हैं। इससे उसमें लोक विश्वास करते हैं। सांच का बहाना यह है कि सब अपने २ इष्ट व्यक्त-देवादि को ही अवेध्य अमूल्य रत्नादि रूप कहते हैं।

सद्गुरु ने जब आप (स्वयं) जिस पर कुछ कृपा किया, तो निर्गुण अलक्ष्य (अज्ञेय अचिन्ह) को भी उसके प्रति लखाय दिया। और सहज समाधि उन्मुनि मुद्रा द्वारा जागने से, या उन्मुनि मुद्रा को जगाने (प्रगट करने) से रघुराई (सर्वात्मा राम) सहज ही मिल गये। अथवा आप (स्वयं राम) गुरुरूप से जब कृपा किया, तब अपने निर्गुण अलख स्वरूप को लखाया। और सहज समाधि उन्मुनि मुद्रा की सिद्धि होने पर रघुराई (जगत् का राजा) प्रभु सहज में मिल गये। अथवा उपासक का कहना है कि गुरुकृपादि से रामचन्द्रजी सहज में मिल गये, इत्यादि।

निर्गुण अलख को लखने पर, जहां २ देखता हूं, तहां २ सोई आत्मा दीखता है, और महा कठिन माणिक हीरा में वह वेधा (व्यापा) है। परन्तु इस परम तत्त्व को जो कोई पाया, सो सद्गुरु से ही पाया और पाता है। इस प्रकार कबीरा (जीवों) के प्रति महात्मा लोक उपदेश करते कहते हैं। अथवा माणिक हीरा आदि के भूषणों से व्याप्त सगुण राम को ही गुरु से प्राप्ति करने योग्य परम तत्त्वरूप उपासक कवि लोक कहते हैं॥ और वस्तुतः (अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति। कठ० २।६।१३) इत्यादि के अनुसार, गुरु के उपदेश द्वारा सत्स्वरूप से जानने पर, सर्व धर्म रहित आत्मा आप अनुभव में आता है।

विशेष बात यहां यह है कि (राजयोगः समाधिश्च उन्मुनि च मनोन्मनी। अमरत्वं लयं तत्त्वं शून्याशून्यं परं पदम्। अमनस्कं तथाऽद्वैतं निरालम्बं निरञ्जनम्। जीवन्मुक्तिश्च सहजा तुर्या चेत्येकवाचकाः॥) इस हठयोगप्रदीपिका के अनुसार, सहजा, समाधि, उन्मनी (उन्मुनि) एक ही अर्थ के वाचक हैं। तथा (सन्तो सहज समाधि भली है। गुरु प्रताप भई जा दिन ते, सुरत न अनत चली है। जहँ जहँ जाऊँ सोइ परिकर्मा, जो कछु करौं सो पूजा। गृह बनखण्ड एक करि जानौं, भाव मिटावौं दूजा। आंख न मूंदौं कान न रूंधौं, काया कष्ट न धारूं। खुले

नैन हंसि हंसि पहिचानूं, सुन्दर रूप निहारूं। शब्द निरन्तर मनुआ राते, मलिन वासना त्यागे। ऊठत बैठत कबहुं न विसरे, ऐसी तारी लागै। कहहिं कबिर यह उन्मुनि रहनी, सो प्रगटे करि गाई। सुख दुःख से एक परे परम पद, सो पद है सुखदाई॥) इसके अनुसार भी तीनों पद एक अर्थ के वाचक हैं। तब सहज समाधिरूप उन्मनि के जागने से रघुराई सहज मिलते है। यह अर्थ हो सकता है; परन्तु कोई योगी मन की दशम द्वार पर स्थिति वा उपरामता को उन्मुनि कहते हैं। धारणादि से सिद्ध हठ रहित योग को सहजा राजयोगादि कहते हैं, यह विशेष है॥ ८॥

पूर्व वर्णित निर्गुण परम तत्त्व को सर्वात्मस्वरूप से समझाने के लिये कहते हैं कि–

शब्द ॥ ९ ॥

यन्त्री यन्त्र अनूपम बाजै। वाके अष्ट गगन मुख गाजै॥
तूंही बाजै तूंही गाजै, तूंहि लिये कर डोलै॥

आत्मनो यन्त्रिणो [1]यन्त्रं शरीरं वाद्यतेऽद्भुतम्।
अष्टास्वत्रास्य दिक्ष्वेषो राजते संप्रकाशयन्॥ ३०॥
पुरस्ताद्वर्तते पश्चाद्दक्षिणे चोत्तरे तथा।
अधश्चोर्ध्वं स संव्याप्य सर्वस्माद्बाह्यतः स्थितः॥ ३१॥

यन्त्री आत्मा का शरीर यन्त्र (वीणा) अद्भुत बजाया जाता है, और यह आत्मा इस यन्त्र की आठों दिशा में सम्यक् प्रकाश करता हुआ यहाँ राजता (दीप्त होता) है॥ ३०॥ पूर्व पश्चिम दक्षिण तथा उत्तर में

---

१ 'अथ खल्वियं दैवी वीणा भवति, तदनुकृतिरसौ मानुषी वीणा भवति।' ऐतरेय-ब्राह्मण० ३।२।५॥

एक शब्द में राग छतीसो, अनहद बाणी बोलै ॥
मुख को नाल श्रवण को तुम्बा, सतगुरु साज बनाया ।
जिह्वा तार नासिका चरई, माया मोम लगाया ॥

आनखाग्रं प्रविष्टोऽत्र तवात्मा यन्त्ररूपत[१]: ।
शब्दायते तथा यन्त्रं गृहीत्वा गच्छतीव सः ॥ ३२ ॥
मनःप्राणादिकस्तस्य करस्तेन कलेवरम् ।
धृत्वा भ्राम्यति शश्वत् स यावत्स्वं नैव विन्दते ॥ ३३ ॥
एकस्मिन्नेव शब्दे स षट्त्रिंशद्रागसत्तमान् ।
अनाहतां च निःसीमां भारतीं भाषते सदा ॥ ३४ ॥
यन्त्रेऽत्र नालिकां विद्धि मुखं श्रोत्रं तु तुम्बिकाम् ।
सामग्रीमस्य गुरुभिः सम्यक् सम्पादितां तथा ॥ ३५ ॥

रहता है, और नीचे ऊपर भी वह व्यापक होकर, सबसे बाहर असंग स्थिर है ॥ ३१ ॥ तेरा आत्मा इस देह में नख पर्यन्त प्रविष्ट है, और यन्त्ररूप होकर शब्द करता है, तथा यन्त्र का ग्रहण करके वह चलता हुआ के समान है ॥ ३२ ॥ और मन प्राणादि उसके हाथ हैं, उससे शरीर को धर कर, सदा भ्रमता है, जबतक अपने स्वरूप को नहीं पाता है ॥ ३३ ॥ और वह एक ही शब्द में छत्तीस रागोत्तम को और अनाहत निःसीम भारती (बाणी) को सदा कहता है ॥ ३४ ॥

इस यन्त्र में मुख को नाल कान को तुम्बा जानो, तथा सद्गुरु से

१ 'तस्य लोकः स उ लोक एव ।' बृहदा० ४ । ४ । १३ ॥ 'ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात् ।' मुण्ड० २ । २ । ११ ॥ 'स इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यः' बृहदा० १ । ४ । ७ ॥ 'चिद्धातुर्यत्र यत्र यत्रास्ते तत्र तत्र निजं वपुः । पश्यत्येष जगद्रूपं व्योमतामेव चात्यजत् । सर्वत्र विद्यमानापि देहेषु तरलायते । सर्वंगोप्यातपः सौरो भित्यादौ वै विजृम्भते' ॥ योगवासिष्ठ ॥

गगन मण्डल में भौ उजियारा; उलटा फेर लगाया।
कहहिं कबिर जन भये विवेकी, जिन यन्त्री मन लाया ॥९॥

जिह्वा तन्त्र्यत्र संलग्ना ककुभो नासिका मतः।
सिक्थकं चास्ति मायैषा संलग्ना सर्वसन्धिषु ॥ ३६ ॥
बाह्यवृत्तिस्तु यन्त्रस्य यैर्निरुध्य कृतान्तरम्।
विपरीतं कृतं स्रोतस्तेषां गगनमण्डले ॥ ३७ ॥
सुप्रकाशोऽभवत्सर्वं विविक्तं तेन भासते।
काशते परमं तत्त्वं नाश्यते मलिनं मनः ॥ ३८ ॥
मानसं संनिरुध्यैवं यन्त्रिण्यात्मनि यैर्धृतम्।
विवेकित्वं हि ते प्राप्य स्वं तृप्तत्वं सुभेजिरे ॥ ३९ ॥
कबीरः सद्गुरुः प्राह तथा कुरुत सज्जनाः!।
भवतात्मरतास्तुष्टाः कार्यमेतद्धि विद्यते ॥ ४० ॥ ९ ॥

इसके साधन सामग्री को सम्पादित जानो ॥ ३५ ॥ इसमें जिह्वा तन्त्री (तार) लगी है, ककुभ (चरई) नासिका है। यह माया इसके सब सन्धि (संधान-संबन्ध) में लगी है, उसे सिक्थक (मोम) समझो ॥३६॥ इस यन्त्र की बाह्य वृत्ति (प्रवृत्ति) को रोककर, जिन लोकों ने अन्तर वृत्ति किया, चित्त के स्रोत (वेग प्रवाह) इन्द्रिय को विपरीत किया, उनके गगनमण्डल (देश) में सुन्दर प्रकाश हुआ। तिससे सब वस्तु विविक्त (असंपृक्त-भिन्न २) भासने लगीं, और परम तत्त्व स्वरूप प्रकाशने लगा, मलिन मन नष्ट किया गया ॥ ३७, ३८ ॥ इस प्रकार मन को रोक कर जिन लोकों से वह यन्त्री आत्मा में धरा गया, वे लोक अपनी विवेकिता को पाकर, अपने तृप्तत्व को अच्छी तरह पाये ॥ ३९ ॥ सद्गुरु कबीर साहब कहते हैं कि हे सज्जनो ! वैसा ही करो, आत्मरत तुष्ट होवो, यही कर्तव्य है ॥ ४० ॥

अक्षरार्थ– हे यन्त्रीः (देहधारी जीव !) तेरा देहरूप यन्त्र (सितार) अनूपम बाजता है (अद्भुत शब्द करता है)। और शब्दादि रहित तुम उस यन्त्र के आठों गगनमुख (दिशा) में गाजता (विराजता) है। हृदय के आठों पत्र पर तुम शोभता है। इससे यन्त्र क्या बाजता है। वस्तुतः तूँहीं बाजता है और तूंही गाजता (लीला करता) है, और तूंही प्राणादिरूप कर में यन्त्र लेकर डोलते (विचरते) हो। अर्थात् तेरी सत्ता प्रकाशादि से ही यन्त्र का सब व्यवहार होता है, और तुम अक्रिय विभु रहते हो, ऐसा तेरा अद्भुत स्वरूप है। और यन्त्र द्वारा एक २ शब्द में छत्तीस राग अनहद वाणी तूंही बोलते हो, तेरे बिना राग शब्द नहीं होते हैं, इत्यादि।

इस देहरूप यंत्र में मुख को नाल जानो, श्रवण (कान) को तुम्बा समझो, और इसका साज (साधन समूह) को सतगुरु (ईश्वर वा. ब्रह्मा) ने बनाया है। जिज्ञासु के साज को सुधार कर सद्गुरु उसे मुक्त करते हैं। इस यन्त्र में जिह्वा तार है, नासिका चरई (तार का आधार खूटी) है, माया (ममता आदि) मोम के जगह लगाई गई है। जिन लोकों ने ममता आदि को त्याग कर, इस यन्त्र का उलटा फेर लगाया (अन्तर्मुखवृत्ति किया) उनके गगनमण्डल (हृदयादि) में उजियार (प्रकाश अनुभव) हुआ। और जो लोक यन्त्री (आत्मा) में मन लगाये सो अवश्य विवेकी ज्ञानी हुए। इससे यह मुख्य कर्तव्य है ॥ ९॥

कहा गया है कि यन्त्री में मन लगानेवाला बिवेकी होता है, उसके गगन मण्डल में अनुभव होता है; इत्यादि; सो सुनकर जिज्ञासा हुई कि यन्त्री में किस प्रकार मन लगाना चाहिये, तब कहते हैं कि—

शब्द ॥ १० ॥

रामुरा झीं झीं जंन्तर बाजै। कर चरण बिहूना नाचै ॥
कर बिनु बाजै सुनै श्रवण बिनु, शरवण श्रोता सोई।
पट नहिं सुवस सभा बिनु अवसर, बूझहु मुनि जन लोई ॥

राम एव धनं यस्य रामरा मानवोऽथवा।
रामरूपः समर्थो वै चेतत्वेवं निरन्तरम् ॥ ४१ ॥
यः सर्वेषां प्रभू रामः सूक्ष्मात्सूक्ष्मतराणि सः।
यन्त्राणि बहुधा कृत्वा [1]कणयन्नत्र वर्तते ॥ ४२ ॥
[2]हस्तपादादिहीनोऽपि बहुधा सोऽत्र नृत्यति।
करं बिना गृहीत्वा च यन्त्रं वादयते कलम् ॥ ४३ ॥

राम ही जिसका धन (रै) है, सो रामरा (राम धनवाला) अथवा राम स्वरूप समर्थ (राजा) मानव (मनुष्य) इस प्रकार निरन्तर (सान्द्र-चिद्घन) को सदा समझें कि सबका प्रभु जो राम है, सोई सूक्ष्म से सूक्ष्मतर (अतिसूक्ष्म) यन्त्रों (देहों) को बहुत प्रकार बनाकर, और उन्हें बजाता हुआ वह यहां है ॥ ४१, ४२ ॥ वह हाथ पैरादि से रहित होते भी उपाधियोंद्वारा बहुत प्रकार से यहां नाचता है, हाथ विना ही यन्त्र को पकड़कर, कल (मधुर) बजाता है ॥ ४३ ॥ यह

१ 'सर्वत्र सर्वदा सर्वं चित्सम्बिद् विद्यतेऽनघ। किन्त्वस्य भूततन्मात्रवशादभ्युदयः क्वचित्' ॥ योगवा० ६।८।५॥
२ 'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः' ॥ श्वेता० ३।१९॥

इन्द्रिय बिनु भोग स्वाद जिह्वा बिनु, अक्षय पिण्ड विहूना।
जागत चोर मंन्दिर तहँ मूसै, खसम अछत घर सूना॥

श्रवणेन विनैवैष शब्दसंघं शृणोति च।
[1]श्रवणस्यापि स श्रोता श्रोत्रश्रोत्रं मनोमनः॥ ४४॥
पटेनापि विना चायं सुवासा वर्तते सदा।
अविद्यापटयुक्तत्वात् क्लेदतापाद्यभावतः॥ ४५॥
भवेऽत्र वर्तमानस्य सभाऽस्यावसरं विना।
भो भो मुनिजनास्तं वै जानीत सद्गुरोर्द्रुतम्॥ ४६॥
इन्द्रियैर्हि बिना यस्य भोगो जिह्वां विना तथा।
स्वादोऽपि वर्तते सोऽयमक्षयः पिण्डवर्जितः॥ ४७॥
जाग्रत्येव च तस्मिन् वै सदा चैतन्यरूपतः।
चौराः कामादयस्तत्र सुखं मुष्णन्ति देहके॥ ४८॥

कान के बिना ही शब्द समूह को सुनता है, और कान का भी वह श्रोता (ज्ञाता) है। कान का कान, मन का मन है, अर्थात् उसीके अधीन सब इन्द्रियों का व्यापार है॥ ४४॥ और पट के बिना भी वह सदा सुन्दर वस्त्रवाला है। अविद्यारूप पट युक्त होने से वा गीलापन तापादि से रहित होने से उसे पट की जरूरत नहीं है॥ ४५॥ इस संसार में वर्तमान इस राम की सभा समय विना सदा लगी रहती है। हे मुनिजनों! सद्गुरु से उसे ही शीघ्र समझो॥ ४६॥

इन्द्रियों के बिना जिसको भोग (भोग्य का अनुभव) होता है, तथा जिह्वा बिना जिसको स्वाद (मधुरादि रसानुभव) होता है, सो यह आत्मा अक्षय (अविनाशी) शरीर रहित है॥ ४७॥ तिस आत्मा

१ 'श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मनो यद्'॥ केन० १।२॥ शरीरसम्बन्धिहस्तादेः पृथक् तत्र हस्तादिस्वीकारेऽनवस्थादिप्रसङ्गान्निरवयव एव सः॥

बिज बिनु अंकुर पेड बिनु तरुवर, बिनु फूले फल फरिया।
बांझक कोख पुत्र अवतरिया, बिनु पगु तरुवर चढिया ॥

सुषुप्त्यादौ च सत्त्वेऽपि तस्यैवात्र कलेवरे।
शून्यतुल्यं तदा भाति सर्वथेदं गृहं प्रभोः ॥ ४९ ॥
वासनादिमयं बीजं विनैव तत्र चाङ्कुरम्।
संकल्पादिमयं जातं सत्यमूलं विना तरुः ॥ ५० ॥
सत्यपुष्पं विना तस्मिन् कर्मादिलक्षणं खलु।
जायन्ते सुखदुःखानि फलितानि फलानि वै ॥ ५१ ॥
वन्ध्यायाः खलु मायायाः कुक्षौ सर्वेऽपि जन्तवः।
पुत्रा जाताश्च ते पादैर्विनाऽरूढाश्च वृक्षके ॥ ५२ ॥
सत्यमस्या विहीनं तत्पात्रं चित्तादिकं तथा।
लेखन्या वर्जितं सर्वं कार्गलं भूतपञ्चकम् ॥ ५३ ॥

के चैतन्यरूप से सदा जागते रहते ही कामादिरूप चोर उस देह में सुख को चुराते हैं ॥ ४८ ॥ और सुषुप्ति आदि काल में इस देह के अन्दर उसकी सत्ता रहते भी उस समय उस प्रभु का यह गृह सर्वथा शून्य तुल्य प्रतीत होता है ॥ ४९ ॥ और वासना आदि बीज के बिना ही उसमें सृष्टि के संकल्पादिमय अंकुर हुआ है; तथा सत्य मूल के बिना संसार तरु हुआ है ॥ ५० ॥ कर्मादिरूप सत्य पुष्प बिना तिस आत्मा में सुखदुःखरूप फल फलित (प्रगट) होते हैं ॥ ५१ ॥ और वन्ध्या (सत्य पुत्र रहित) माया के कोंख में सब प्राणीरूप पुत्र उत्पन्न हुए हैं, सो पैरों के बिना ही संसार वृक्ष पर चढे हैं ॥ ५२ ॥

सत्य मसी (स्याही) से रहित उसका पात्र चित्तादि हैं, लेखनी से रहित सब भूतपञ्चक कार्गल (कागज) है ॥ ५३ ॥ अक्षरों के विना ही उस आत्मा के सब कार्य तिन भूतों में सिद्ध होते हैं। अक्षरों के विना उन

मसि बिनु द्वात कलम बिनु कागज, बिनु अक्षर सुधि होई।
सुधि बिनु सहज ज्ञान बिनु ज्ञाता, कहहिं कबिर जन सोई ॥१०॥

अक्षरैश्च विना तस्य सर्वं तत्र प्रसिद्ध्यति।
सर्वं स्मरति तत्कर्म चित्रं च कुरुतेऽद्भुतम् ॥ ५४ ॥

वस्तुतः स्मरणं नास्ति ज्ञानं नैव ततः पृथक्।
तथापि तद्विना सर्वमनायासेन सिद्ध्यति ॥ ५५ ॥

ज्ञानेनापि विना ज्ञाता सर्वज्ञो दोषवर्जितः।
स यन्त्री तं च वै रामं कबीरो भाषते गुरुः ॥ ५६ ॥

मायां विधूय सकलं च विलूय मोहं,
वाचामगोचरमलं त्ववबुध्य रामम्।
देहाख्ययन्त्रमकरं ह्यववादयन्तं,
जीवन्विमुक्तपदमत्र जनैः सुलभ्यम् ॥ ५७ ॥

इति हनुमद्दासकृतायां शब्दसुधायां विज्ञस्थितिमतिवर्णनं
नाम तृतीयस्तरङ्गः ॥ ३ ॥

सब कर्मों का आत्मा स्मरण करता है, तथा मसी आदि विना ही अद्भुत चित्र करता (बनाता) है ॥ ५४ ॥ वस्तुतः उसका स्मरण वा ज्ञान उससे पृथक् नहीं है, तोभी उस पृथक् स्मरण ज्ञान के विना ही उसके सब काम अनायास से सिद्ध होता है ॥ ५५ ॥ और पृथक् ज्ञान के विना वह ज्ञाता है, सर्वज्ञ दोष रहित वह यन्त्री है, उसी को कबीर गुरु राम कहते हैं ॥ ५६ ॥ माया को उडा कर सब मोह को काट कर, विना हाथ के देह नामक यन्त्र को बजाता हुआ वाणी का अविषय राम को अलं (पर्याप्त-पूर्ण) जान कर, मनुष्य से जीवन्-विमुक्ति पद (स्थान) यहाँ सुलभ्य (सुख से पाया जाता) है ॥ ५७ ॥

अक्षरार्थ– हे रामुरा (राम धनवाला वा रामस्वरूप जीव)! बहुत झीने २ (सूक्ष्म २) तेरे यन्त्र हैं, और सब बाजते हैं, या यन्त्र झींझीं आदि शब्द करते हैं। और हाथ विना ही यन्त्री आत्मा उन्हें बजाता है, और हाथ पैरादि विहून (रहित) भी वह नाचता है, अर्थात् मन प्राणादि द्वारा शरीरेन्द्रिय के व्यापारों को वही सिद्ध करता है। और यन्त्री के हाथ विना ही यन्त्र बाजती है, और श्रवण (कान) विना वह सुनता है; क्यों कि कर श्रवण यन्त्र में हैं, यन्त्री में नहीं। यदि यन्त्री में अन्य हाथ श्रवणादि माने जायँ तो आत्माश्रय अन्योन्याश्रयादि दोष होंगे और श्रवण का भी वह श्रोता है, उसी के बल से श्रोत्र सुनता है। और वह पट विना भी सुवस्त्र है (ठंढी गरमी की बाधा से रहित है) और आवृत की नाईं है। और विना अवसर के उसकी सभा लगती है, इन्द्रियादि सभ्य सदा उसके पास में उपस्थित रहते हैं, सदा एकरस न्याय होता रहता है। हे लोको ! मुनिजन से इस तत्त्व को बूझो, या हे मुनिजन! इस यन्त्री को मन लगाकर जानो, इत्यादि।

वह यन्त्री इन्द्रिय विना भोगता (भोग्य को जानता) है। जिह्वा विना स्वादता को समझता है। अक्षय शरीर विहून (रहित) है (असङ्ग है)। नित्य चैतन्य रूप से उसे जागते (प्रकाशते) रहते ही कामादि चोर तहाँ मन्दिर (देह) में चोरी करते हैं। सुषुप्ति मूर्छा में उस खसम (स्वामी) के अछते (रहते) ही घर (देह) शून्य तुल्य रहता है॥ प्रलयादि में मन वासनादि बीज के नहीं रहते भी उसमें सृष्टि काल में संकल्प कर्मादि अंकुर होते हैं। गुणादि पेड़ विना संसार वृक्ष उसमें कल्पित है, कर्म धर्मादि पुष्प विना सुखादि फल फरते है। और वन्ध्या माया के कोंख (गर्भ) से जीव मन आदि पुत्र उत्पन्न हुए हैं, और पैर विना संसार वृक्ष पर चढ़े हैं। अर्थात् मिथ्या अद्भुत माया से मिथ्या अद्भुत सब व्यवहार सिद्ध हुए हैं; आत्मा ही सत्य है।

सत्य मसी विना चित्त ब्रह्माण्ड रूप द्वात है, कलम रहित पांच भूत कागज है, जिस पर हाथ विना चराचर चित्र यन्त्री से लिखा जाता है, और अक्षर के विना ही उसको सब कार्य व्यवहार की सुधि (स्मरण ज्ञान) ठीक २ होती है। और वस्तुतः सुधि विना ही उसके लिये अनन्त ब्रह्माण्ड के व्यवहार सहज (महान सुगम) हैं। और वह ज्ञान विना सबही का ज्ञाता (अखण्ड स्वयं प्रकाश ज्ञानस्वरूप) है। साहब कहते हैं, कि सोई यन्त्री है, क्षेत्रज्ञ है कि जिसमें मन लगाने से प्राणी विवेकी होता है। (नवद्वारे पुरे देही हंसो लेलायते बहिः। वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च ॥ श्वेता० ३। १८) नवद्वारवाला पुर (देह) में जो देही है, सो हंस (गन्ता पापहन्ता) बाहर भी जाता है, प्रकाशता है, सब लोक चराचर को वश में रखनेवाला अधिष्ठान है, इत्यादि ॥ १० ॥

निर्भेद निष्प्रपञ्चात्मनिरूपण प्रकरण ॥ ४ ॥

जिस यन्त्री का प्रथम वर्णन किया गया है, उसीके शुद्ध स्वरूप के विचार के लिये कहते हैं कि –

शब्द ॥ ११ ॥

पण्डित देखहु हृदय विचारी। को पुरुषा को नारी ॥
सहज समाना घट घट बोलै, वाको चरित अनूपा।
पण्डिता भो विचारेण पश्यन्तु [१]हृदये सदा।
पुरुषाः के च का नार्य आत्मैको वर्ततेऽचलः ॥ १ ॥

हे पण्डितों ! विचार से आप सदा हृदय में देखें, कि कौन पुरुष है, कौन स्त्री है ? अचल आत्मा तो एक ही है ॥ १ ॥ स्वभाव (स्वरूप) से

---

१ 'हृत्पुण्डरीकमध्ये तु भावयेत् परमेश्वरम्। साक्षिणं बुद्धिवृत्तस्य परमप्रेम-गोचरम्' ॥ मैत्रेय्युप० १। ८ ॥

वाको नाम काह कहि लीजै, न वह वरण न रूपा ॥
मैं तैं काह करसि नल बौरे, क्या तेरा क्या मेरा ।
राम खोदाय शक्ति शिव एकै, कहु दहुं काहि निहोरा ॥

स्वभावेन समः सर्वशरीरेषु विभुर्विशन् ।
वक्ति वाचेन्द्रियैः सर्वैः करोति चरितं बहु ॥ २ ॥
अतुल्यं चरितं तस्य वक्तुं शक्नोति को जनः ।
तस्य नामापि चोक्त्वा किं कर्तुं धर्तुं च शक्यते ॥ ३ ॥
दृष्टा गुणक्रियाजातिसम्बन्धाः शब्दहेतवः ।
नात्मन्यन्यतमोऽमीषां तेनात्मा नाभिधीयते ॥ ४ ॥
"ऋतमात्मा[1] परं ब्रह्म सत्यमित्यादिका बुधैः ।
कल्पिता व्यवहारार्थं तस्य संज्ञाः महात्मनः" ॥ ५ ॥
नैवाऽसौ वर्णनीयो वा ब्राह्मणत्वादिजातयः ।
रूपाण्यत्र न विद्यन्ते कथं वाच्यो भवेदसौ ॥ ६ ॥

सम (समान) भी विभु (आत्मा) सब शरीरों में प्रवेश करता हुआ, वाक् से बोलता है, और सब इन्द्रियों से बहुत चरित्र करता है ॥ २ ॥ उसका चरित्र किसी व्यक्ति के साथ तुल्य नहीं है, उसे कहने के लिये भी कौन मनुष्य समर्थ है, और उसका नाम भी किस गुण क्रियादि को कहकर करने वा धरने के शक्य होय ॥ ३ ॥ गुण क्रिया जाति सम्बन्ध ही प्रायः शब्द (नाम) के हेतु देखे गये हैं, और इन गुणादि में से अन्यतम (कोई) आत्मा में नहीं है, इससे आत्मा शब्द से नहीं कहा जाता है तौभी व्यवहार के लिये तिस महात्मा (विभु) के ऋत आत्मा परं ब्रह्म सत्य इत्यादि संज्ञा (नाम) विद्वानों से कल्पित है ॥ ४-५ ॥ और वस्तुतः वह गुणादि द्वारा वर्णन योग्य नहीं है, वा ब्राह्मणत्वादि

१ महोपनि० ४ । ४५ ॥

वेद पुराण कुराण कितेवा, नाना भाँति बखाना।
हिन्दू तुरुक योगि औ जैनी, एकल काहु न जाना॥
छौ दर्शन में जो परमाना, तासु नाम मनमाना।
कहहिं कबिर हमहीं पै बौर, ई सब खलक सयाना॥ ११॥

[1]ममात्माऽयं तवात्माऽयं संलापः क्रियतेऽनृतः।
मुधा मूढजनेनाऽत्र किं तवास्ति ममात्र किम्॥ ७॥
रामः सैकः खुदायोऽपि शक्तिर्देवी शिवस्तथा।
तद्दृष्टौ कथ्यतां कस्य स्तुतिरन्यत्र संभवेत्॥ ८॥
तमदृष्ट्वा जनास्त्वेते वदन्ते कल्पितान् सदा।
न विचारं विना त्वेनं प्रपश्यन्ति कुबुद्धयः॥ ९॥
[2]वेदाः सर्वे पुराणानि ग्रन्थाः सर्वे कुराणकाः।
तमेव बहुधा देवं कथयन्ति तथाप्यहो॥ १०॥

जातिरूप उसमें नहीं है, तो वह किसी शब्द का वाच्य कैसे हो॥ ६॥ यह मेरा आत्मा है, यह तेरा आत्मा है, मूढ जनों से ऐसा मिथ्या संलाप (परस्पर कथन) किया जाता है; क्योंकि इस आत्मा में क्या तेरा और क्या मेरा है॥ ७॥ वही एक आत्मा राम और खुदाय है, तथा शक्ति रूप देवी और शिव है, उसकी दृष्टि (दर्शन ज्ञान) होने पर, स्तुति भी यहां अन्य किसकी हो सकती है॥ ८॥ उसको न देख करके ही ये सब लोक कल्पित की वन्दना करते हैं, और कुबुद्धि लोक विचार विना इस आत्मा को नहीं देखते हैं॥ ९॥ सब वेद पुराण, सब ग्रन्थ कुराण,

१ 'तच्छब्दवर्ज्यस्त्वच्छब्दहीनो वाक्यार्थवर्जितः'। तेजोविन्दूप० ५। ६॥

२ 'एकदेवस्य चाज्ञानाद्वेदास्ते बहवः कृताः। सत्त्वस्य चेह विभ्रंशात्सत्त्वे कश्चिदवस्थितः'॥ म० भा० वनप० १४९। ३०॥ इह द्वापरे। कलौ किंवक्तव्यमस्ति॥

आर्याश्च यवना जैना योगिनोऽपि बहुश्रुताः।
एकं तत्त्वं न पश्यन्ति सुविचारार्जवैर्विना ॥ ११ ॥
षट्सु दर्शनमुख्येषु सत्त्वेन प्रमिता हि ये।
तेषां नामानि सर्वैस्तैर्मनोभिर्निश्चितानि वै ॥ १२ ॥
अरूपो यो 'ह्यनामास्ति तस्य तत्त्वं न ते विदुः।
तेषां मध्ये वयं विज्ञा व्रजामोऽज्ञैः सुतुल्यताम् ॥ १३ ॥
यतस्ते स्वयमात्मानं मन्यन्ते सर्ववित्तमम्।
शृण्वन्ति न सतां वाक्यं विवादांश्चैव कुर्वते ॥ १४ ॥
शासितुं तान् न शक्नोति कोपि बुद्ध इति स्वयम्।
कबीरः सद्गुरुः प्राह विचारोऽतो विधीयताम् ॥ १५॥ ११॥

उस एक आत्मदेव को ही बहुत प्रकार से कहते हैं, तोभी आश्चर्य है कि आर्य, यवन, जैन, योगी, बहुश्रुत (विद्वान्) भी सुविचार और आर्जव (ऋजुता) विना एक तत्त्व (स्वरूप) को नहीं देखते हैं ॥१०-११॥ छौ दर्शन (धर्म) मुख्यों (प्रधानों) में जो पदार्थ सत्यरूप से प्रमित (ज्ञात) हैं, उनके नामों को ही उन सब धर्मवालों से मन द्वारा निश्चय किया गया है, जिससे नाम निश्चित हुए हैं ॥ १२ ॥ और जो अरूप नाम रहित है, उसके तत्त्व (स्वरूप) को वे लोक नहीं जानते हैं। इससे उनके बीच में हम विज्ञ लोक की अतितुल्यता को प्राप्त होते हैं ॥ १३ ॥ जिससे वे लोक स्वयं अपनी आत्मा को अत्यन्त सर्वज्ञ मानते हैं, सत्पुरुषों के वाक्य को नहीं सुनते हैं, और विवाद करते हैं ॥ १४ ॥ कोई बुद्ध (ज्ञानी) उन्हें उपदेश देने के लिये समर्थ नहीं है। इस प्रकार

१ 'आत्मेति व्यवहारार्थमभिधा कल्पिता विभोः। नामरूपादिभेदस्तु दूरमस्मादलं गतः' ॥ योगवा० ५। ७१। १३ ॥ 'यतो वाचो निवर्तन्ते यो मुक्तैरवगम्यते। तस्य चात्मादिकाः संज्ञाः कल्पिता न स्वभावतः'॥ योगवा० ४.५।३॥

सद्‌गुरु कबीर साहब स्वयं कहते हैं, इससे विचार किया जाय।' यही कर्तव्य है ॥ १५ ॥

अक्षरार्थ– हे पण्डितों ! हृदय में विचार कर यन्त्री के शुद्धस्वरूप को देखो (समझो)। कौन पुरुष है, कौन नारी है ? सो विचार से जानो। अर्थात् शुद्धात्मा एक है, उसमें स्त्रीपुरुष भेद नहीं है। वह विभु होने से सहज स्वभाव से ही सब घटों में समान (तुल्य) रूप से है या समाया है, और घट २ में वही जीवरूप से बोलता है; इससे उसका चरित्र अनूप (उपमा रहित) है। और उस शुद्ध स्वरूप का नाम भी का कहि (किस गुणादि को कह) कर लिया जाय; क्योंकि वह बरण (वर्णन करने योग्य) वा कोई रूप आकार वाला नहीं है, न वर्णन योग्य किसी पदार्थ का उस असङ्ग के साथ सम्बन्ध है। इससे विचार कर सब विशेष सञ्ज्ञादि से रहित आत्मा को हृदय में समझो।

हे बौरे ! नामादि रहित आत्मा में मैं तैं यह भेद की बात क्या करते हो ? उसके ज्ञान होने पर मेरा तेरा क्या है ? सबकी आत्मा एक है, अन्य वस्तु मिथ्या हैं; इससे मेरा तेरा कुछ है नहीं। और राम खुदा शिव शक्ति आदि रूप भी एक आत्मा ही है. इससे उपास्य देवादि और उपासक मनुष्यादि की आत्मा में भी भेद नहीं है, फिर कहुं दहुं (कहो तो) कि इस अवस्था में किसीका निहोरा (विनय) भी क्या है ? या किसका निहोरा (स्तुति) किया जाय ? यह सब मायामय व्यवहार है, सत्य नहीं। परन्तु वेद पुराण कुराण किताबादि में उस एक सत्य का ही नाना भाँति से व्याख्यान किया गया है, इससे पूर्ण विचार विवेकादि रहित हिन्दू तुरुक योगी और जैनी आदि किसी ने भी उस एकल (अद्वैत शुद्ध सत्यात्मा) को नहीं जाना। सब व्याख्यादि के भेद में भूल गये। ('एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति'। ऋग्वे० अष्टक० २।३।२२) एक सत्त को ही विप्र बहुत प्रकार से कहते हैं, यह वेद का कथन है।

एकात्मा के ज्ञान विना, योगी आदि छौ दर्शनों में जो २ उपास्य देवादि प्रमाणिक (सत्य) माने गये हैं, तासु (उन २ के) नाम मात्र को सबका मन मान लिया है, सत्य वस्तु के विचारादि नहीं करता है, शब्द मात्र को जपता है। इससे इनकी सभा में हम लोक ही इनके प्रति वौरे (बावला) हो जाते हैं। और यह सब संसार अपने २ मन से चतुर है। इससे विचारादि नहीं करता है, अथवा नाम रूप के सयान भी यह सब खलक (संसारी) हम हीं पै (मेरी दृष्टि में) बौरा है, इससे विचारादि नहीं करता है; परन्तु हे पण्डितों ! तुम हृदय में आत्म-विचार करो ॥ ११ ॥

जो विद्वान् संसार की उत्पत्ति प्रलयादि का ही बहुधा विचार करते हैं, शुद्धात्मा के विचारादि नहीं करते हैं; उनकी अनात्मपरायणता की निवृत्ति के लिये कहते हैं कि—

शब्द ॥ १२ ॥

पण्डित मिथ्या करहु विचारा। न वहाँ सृष्टि न सिरजनहारा॥
स्थूल अस्थूल पवन नहिं पावक, रवि शशि धरणि न नीरा।
ज्योति स्वरूप काल नहिं उँहवाँ, वचन न आहिं शरीरा॥

सृष्ट्यादीनां विचारान् ये बहुधा कुर्वते बुधाः।
आत्मनो न कदाचिच्च भाषते तानिदं गुरुः ॥ १६ ॥

जो बुध (पण्डित) सृष्टि आदि के विचारों को बहुत प्रकार से करते हैं, आत्मा के विचार कभीं नहीं करते, उनको गुरु यह वचन कहते हैं कि हे पण्डितों ! मिथ्या का ही विचार आप से बार २ किया जाता

कर्म धर्म कछुवो नहिं उँहवाँ, न उहाँ मन्त्र न पूजा।
संयम सहित भाव नहिं उँहवाँ, सो दहुं एक कि दूजा॥
गोरख राम एको नहिं उँहवाँ, न उहाँ वेद विचारा।
हरि हर ब्रह्मा नहिं शिव शक्ती, न उहाँ तीर्थ अचारा॥

पण्डिता ! अनृतस्यैव विचारः क्रियते मुहुः।
आत्मनो नो न यत्रास्ति सृष्टिस्रष्ट्रादिसत्यता॥ १७॥
नैव स्थूलो न वाऽस्थूलो देहोऽपि यत्र विद्यते।
पवनः पावकः सूर्यश्चन्द्रमा न धरा जलम्॥ १८॥
ज्योतीरूपो न कालोऽत्र प्रवृत्तिर्वचसो न च।
[1]कारणाख्यशरीरं नो तत्र त्वन्यत्कुतो भवेत्॥ १९॥
न कर्माणि न तज्जन्यौ धर्माधर्मौ न किञ्चन।
मन्त्रो नैव न पूजा च तत्र संभाव्यते खलु॥ २०॥

है, आत्मा का विचार नहीं किया जाता है, कि जिस आत्मा में सृष्टिस्रष्टा (सृष्टिकर्ता) आदि की सत्यता नहीं है॥ १६-१७॥ जिसमें स्थूल वा अस्थूल (सूक्ष्म) देह भी नहीं है, न वायु, अग्नि, सूर्य, चन्द्रमा, पृथिवी और जल है॥ १८॥ इस आत्मा में ज्योति स्वरूप काल नहीं है, न वचन की प्रवृत्ति है, न कारण नामक शरीर है, तो उसमें अन्य शरीर तो किससे होगा॥ १९॥ न उसमें कर्म हैं, न कर्मजन्य धर्म अधर्म हैं, न अन्य कुछ हैं, न मन्त्र (वेदविशेष वा गुप्त वाद) हैं, न पूजा वहाँ की जाती है॥ २०॥ धारणा ध्यान समाधि रूप संयमों के सहित सब

१ 'तत्त्वमस्यादिवाक्योत्थसम्यग्धीजन्ममात्रतः। अविद्या सहकार्येण नासीदस्ति भविष्यति' बृहद० संबन्धवा० १८२॥

माय बाप गुरु जाके नाहीं, सो दूजा कि अकेला।
कहहिं कबिर जो अबकी समुझै, सोई गुरु हम चेला ॥१२॥

संयमैः सहितो यत्र भावः सर्वो न विद्यते।
संज्ञायतामसङ्गोऽसावद्वयः सद्वयोऽथवा ॥ २१ ॥
गोरक्षो रामचन्द्रो वा तत्रैकोऽपि न विद्यते।
नाऽत्र वेदा न तेषां वा विचाराणां च सम्भवः ॥ २२ ॥
न हरिर्न हरो नाऽसौ ब्रह्मा लोकपितामहः।
नेश्वरो नाऽपि तच्छक्तिः सर्वात्मा सर्वतः परः ॥ २३ ॥
नाऽत्र तीर्थानि नाचारा लौकिका वैदिकास्तथा।
विद्यन्तेऽयं सदा शुद्धो [१]नित्यबुद्धकलेवरः ॥ २४ ॥

भाव (स्वभाव पदार्थ क्रियादि) जिसमें नहीं हैं। वही असङ्ग आत्मा समझा जाय कि वह अद्वय है अथवा सद्वय है ॥ २१ ॥

न उसमें गोरख (योगी) हैं, वा न एको रामचन्द्र हैं, न वेद हैं, न उनके विचारों का सम्भव है ॥ २२ ॥ न विष्णु हैं, न महादेव हैं, न लोकपितामह ब्रह्मा हैं, न शिव (ईश्वर) हैं, न ईश्वर की शक्ति है, वह सब की आत्मा होते भी सब से पर (भिन्न) है ॥ २३ ॥ न इसमें तीर्थ है, न लौकिक तथा वैदिक आचार (व्यवहार) हैं। यह सदा शुद्ध नित्य बुद्ध (सर्वज्ञ) कल (मधुर शब्दों) में ज्ञेय वर (श्रेष्ठ) स्वरूप है

१ 'कृपणधीः परिणाममुदीक्षते क्षपितकल्मषधीस्तु विवर्तताम्। स्थिरमतिः पुरुषः पुनरीक्षते व्यपगतद्वितयं परमं पदम्' ॥ संक्षेपशारीरक ॥ 'न दृशेर-विकारित्वादाभासस्याप्यवस्तुतः नाप्यचित्त्वादहंकर्तुः कस्य संसारिता मता ॥ अविद्यामात्रमेवातः संसारोऽस्त्वविवेकतः। कूटस्थेनात्मना नित्यमात्मवानात्मनीव सः' ॥ उपदेशसाहस्री० १८ । ४४–४५ ॥

यस्य माता पिता नास्ति गुरुर्यस्य न सम्भवेत् ।
[2]सद्वयः सोऽद्वयो वा किमेतज्जानीत पण्डिताः ॥ २५ ॥

अस्मिन् देहे च योऽत्रैव तत्त्वमेतदवेक्षते ।
स गुरुस्तस्य शिष्योऽहं गुरुराहैवमादरात् ॥ २६ ॥

नामादिहीनमजरं सममच्छरूपं, भेदैर्विवर्जितमलं गुणकर्मदूरम् ।
कार्यादिसङ्गरहितं भवकर्तृरूपं कर्तृत्वशून्यमचलं गुरुरेव वेत्ति॥२७॥

इति हनुमद्दासकृतायां शब्दसुधायां निर्भेदनिष्प्रपञ्चात्मवर्णनं
नाम चतुर्थस्तरङ्गः ॥ ४ ॥

॥ २४ ॥ जिसके माता पिता नहीं हैं, न जिसका गुरु हो सकता है। सो अद्वय वा सद्वय है. यह क्या है, सो हे पण्डितो ! जानो ।। २५ ॥ जो पुरुष इसी देह में यहां ही इस तत्त्व को देखता है, सो गुरु है; उसका मैं शिष्य हूं । इस प्रकार गुरु आदर से कहते हैं।। २६ ॥ और नामादि रहित, अजर, सम, स्वच्छस्वरूप, भेदों से रहित, पूर्ण, गुण कर्म से दूर, कार्यादि के सङ्ग से रहित, संसार के कर्ता होते भी वस्तुतः कर्तृत्त्व से रहित अचल को गुरु ही जानता है ॥ २७ ॥

अक्षरार्थ– हे पण्डितो ! यदि सृष्टि आदि मात्र का ही विचार करते हो, तो मिथ्या का मिथ्या ही विचार करते हो; इस विचार को मिथ्या समझो; क्योंकि वहाँ (शुद्ध सत्यात्मा में) सृष्टि (संसार) और सिरजनहार (सृष्टिकर्ता) सत्य नहीं हैं । न स्थूल सूक्ष्म देहादि हैं, न पवनादि हैं । और ज्योतिस्वरूप (सूर्यादि ज्योति से सिद्ध) दिन पक्षादि

२ 'एकः सन् भिद्यते भ्रान्त्या मायया न स्वरूपतः' । सूतसं० ज्ञानयोग खं० २० । ४ ॥

काल (समय) नहीं है, न प्रकाशस्वरूप काल (यमराज, मृत्यु) उसमें है। न वचन (वाक् की प्रवृत्ति) है, न कारण रूप शरीर है। शुभाशुभ कर्म, धर्म (पुण्यादि) कुछ भी वहाँ नहीं हैं। न वेदादि मन्त्र हैं, न पूजा है। संयमों के सहित जहां कोई भाव (भावना पदार्थादि) नहीं हैं, जो असङ्ग है, सो दहुं (सो तो) एक है कि दूजा है, इसीका विचार करो। या वह एक है कि अनेक है, यह सो दहुं (शोधो-जानो) और एक होने विना सृष्टि आदि रहित नहीं हो सकता, न असंग हो सकता; इससे एकही कूटस्थ समझो।

शुद्ध सत्यात्मा में गोरख रामादि का भेद नहीं है। इससे वह गोरख रामादि एको नहीं है। न उसमें गोरख (योगी) पन है। न परशुराम, राम, बलराम का भेद उसमें है। न वेद का विचार है। न हरि हरादि हैं, न शिव (ईश्वर) और उसकी शक्ति है, न तीर्थाचारादि का सम्बन्ध है। और जिसके माता आदि कोई सम्बन्धी नहीं हैं, सो दूजा (भिन्न) है कि अकेला (अभिन्न) है। इस तत्त्व को विचारो, और समझो। निरभिमानी गुरु का कहना है कि जो कोई, अबकी (इस देह में) इस शुद्ध तत्त्व को समझता है, सो गुरु है, हम चेला हैं, अर्थात् देहाभिमान रहित गुरु है, और देहाभिमानी शिष्य होने योग्य है ॥ १२ ॥

अतत्त्वज्ञ संबोधन प्रकरण ९

प्रथम राम और माया की चर्चा हुई है। अब ज्ञान के विरोधी मिथ्या अभिमान विशेषकी निवृत्ति के लिये देह की अपवित्रता का वर्णन करते हुए, दम्भादि की निवृत्ति के लिये कहते हैं कि–

शब्द ॥ १३ ॥

पण्डित देखहु मन महँ जानी।
कहु दहुं छूति कहाँ ते उपजी, तबहिं छूति तुम मानी ॥

ये विवेकं परित्यज्य कुलगोत्रादिगर्विताः।
हिंसादम्भविकर्मस्थाः सदा देहभिमानिनः ॥ १ ॥

तानाह सद्‌गुरुश्चेदं वाक्यं पुस्तकपाठिनः।
आत्मनः सद्विवेकाय गर्वादिविनिवृत्तये ॥ २ ॥

पण्डिता भो मनस्येतत् सुविचार्य विलोक्यताम्।
अस्पृश्यत्वं हि यज्जात्या भवद्भिर्निश्चितं मुधा ॥ ३ ॥

हिंसा दम्भ विरुद्ध कर्म में स्थिर, सदा देहाभिमानी जो लोक विवेक को त्याग कर, कुल गोत्रादि से ही गर्वयुक्त हैं ॥ १ ॥ आत्मा का सच्चा विवेक के लिये, और गर्वादि की निवृत्ति के लिये, उन पुस्तकपाठियों को सद्‌गुरु यह वाक्य कहते हैं कि हे पण्डितो! मन में सुन्दर विचार करके यह देखो कि आप लोकों से व्यर्थ निश्चित जो अस्पृश्यत्व (छूत) है सो कहो कि कहाँ से उत्पन्न हुआ है? तब आप से स्वीकृत हुआ (माना गया) है। और अपने देहों में भी यदि शुचित्व है,

नादे बिन्द रुधिर मिलि संगे, घट ही में घट सपुजै।
अष्ट कमल ह्वै पुहुमी आई, छूति कहाँ ते उपजै॥

कथ्यतां तत् कुतो जातं भवद्भिः स्वीकृतं ततः।
स्वदेहेष्वपि पश्यन्तु शुचित्वं यदि वर्तते॥ ४॥
मातुर्मन्दोदरे प्राणो रजोवीर्यसमन्वितः।
जायते तेन तद्देहे देहः स्वाङ्गैः प्रपूर्यते॥ ५॥
कमलेनाष्टमेनाथ मूत्राद्याशयपार्श्वतः।
अष्टपद्मसमायुक्तः पृथिव्यामवरोहति॥ ६॥
इत्थंभूते शरीरे स्वे ह्यशुचित्वं कुतोऽभवत्।
[1]अत्यन्तमलिनात्माऽयं भवद्भिर्मन्यतेऽन्यथा॥ ७॥

तो उसे आप देखें। २, ३, ४॥ माता के मन्द (अल्प) उदर में प्राणवायु रजोवीर्य से मिलता है, तिससे तिस माता के देह में ही सबका देह उत्पन्न होता है। अपने अङ्गों (अवयवों) से प्रपूर्ण होता है॥ ५॥ फिर आठ पद्म से युक्त वह देह मूत्रादि का आशय (आश्रय) के पास से अष्टम कमल (योनि) द्वारा पृथिवी पर आता है॥ ६॥ इस प्रकार के स्वरूपवाले अपने देह में अशुचिता अन्य किससे होगा, यह स्वयं अत्यन्त मलिन स्वरूप है; आप लोकों से अन्यथा (निर्मल) माना जाता है॥ ७॥

१ 'अत्यन्तमलिनो देहो देही चात्यन्तनिर्मलः। उभयोरन्तरं ज्ञात्वा कस्य शौचं विधीयते'॥ श्रीजाबालदर्शनो॰ १। २१॥ 'यो लुब्धः पिशुनः क्रूरो नास्तिको विषयात्मकः। सर्वतीर्थेष्वपि स्नातः पापो मलिन एव सः'॥ 'न शरीरमलत्यागान्नरो भवति निर्मलः। मानसैस्तु मलैर्मुक्तो भवत्यत्यन्तनिर्मलः॥ न जातिर्न कुलं पुंसो गुणाः कल्याणहेतवः। वृत्तस्थोऽपि हि चाण्डालः सोऽपि सद्गतिमाप्नुयात्'॥ इतिहाससमुच्चयः॥

लख चौरासी नाना बासन, सो सब सरि भौ माटी ।
एके पाट सकल बैठायो, सींचि लेत दहुं काकी (टी) ॥
छूति हिं जेवन छूति हिं अचवन, छूति हिं जगत उपाया ।
कहहिं कबीर ते छूति विवर्जित, जाके संग न माया ॥ १३॥

किञ्च वेदाष्टलक्षासु देहा भूत्वा हि योनिषु ।
सर्वेऽत्र कुन्थिता भूत्वा पृथिव्यां सम्मिलन्ति हि ॥ ८ ॥
पट्टके पृथिवीरूपे तस्मिन् सर्वे निवेशिताः ।
वर्णा अवर्णसंघाश्च तं छित्वा किं निषिञ्चथ ॥ ९ ॥
स्थित्वा पीठे सहैवाऽत्र स्पर्शाद् यदभिषेचनम् ।
शरीरेऽपां न तद्युक्तं विवेकः स्वस्य साध्यताम् ॥ १० ॥
अन्नं पानं हि यत्किञ्चिदुपायो यश्च भूतले ।
सुखादेर्जगतो वाऽपि तत्सर्वं मलिनं ध्रुवम् ॥ ११ ॥

और वेदाष्ट (चौरासी) लाख योनियों में देह सब होकर और कुन्थित हो (मर सर) कर भूमि में सम्मिलित होते हैं ॥ ८ ॥ तिस पृथिवीरूप पटरी पर सब वर्ण और अवर्णसंघ निवेशित (स्थापित) हैं, तो क्या उस पटरी को अपने लिये जुदा काट कर, किसीके स्पर्श से जन्य दोष की निवृत्ति के लिये देह पर जल सींचते हो ॥ ९ ॥ इस पृथिवी पर साथ ही रहकर, जो किसीके स्पर्श से शरीर पर जल का अभिषेचन है, सो युक्त (उचित) नहीं है। अपना विवेक प्रथम सिद्ध करो ॥ १० ॥ भूमि में जो कुछ अन्न पान हैं, वा सुखादि के या जगत के जो उपाय (साधन) हैं, सो सब ध्रुव (निश्चित शाश्वत) मलिन हैं ॥ ११ ॥ इससे जो जगत् के हेतु मायादि से सदा हीन (त्यक्त-रहित)

अतो ये जगतो हेतो र्हीना मायाद्वितः सदा।
असङ्गाश्चित्स्वरूपस्था स्तान् कबीरोऽब्रवीच्छुचीन्[१] ॥१२॥

हैं, असङ्ग चित्स्वरूपस्थ हैं, उनको कबीर साहब ने शुचि (पवित्र) कहा है ॥ १२ ॥

अक्षरार्थ– हे पण्डितों! (विद्वानों!) जिस छूति को आपने मन में जानी है, उसे विचार कर देखो (जानो) कि वह छूत किस में लगती है। आत्मा तो सबकी एक असङ्ग है; बाकी रहा देह, फिर कहु दहुं (कहो तो) कि इस देह में छूत कहाँ से उपजी (उत्पन्न हुई) कि जिस छूत की उत्पत्ति होने पर, तब ही तुमने उस छूत को मानी। विचार से देखो तो सब से अपवित्र यह देह है, इसीसे अन्य में छूत होती है; क्योंकि माता के पेट में नाद (शब्द) की उत्पत्ति स्थान के पास में बिन्दु रुधिर (रजोवीर्य) और प्राण के साथ मिलने से, माता के घट (देह) में ही यह घट (देह) अङ्गों से सपुजेता (पूर्ण होता) है। फिर आठ कमल युक्त यह देह, अष्टम कमल मूलाधार के पास योनिद्वारा पृथिवी पर आया है। फिर ऐसा देह में छूति कहाँ से उपजी, कि जिसको आपने मानी है। अर्थात् नरकरूप देह में नरकरूप रजोवीर्य से उत्पन्न इस देह में पवित्रता का अभिमान करके किसी सज्जन अहिंसक दयालु आदि से छूत मानना अविवेक है।

चौरासी लाख योनि के जो नाना वासन (पात्ररूप देह) हुए, सो सब सर गल कर मिट्टी हो गये, और उस मिट्टी (भूमि) रूप एके पाट

१ 'वर्णाश्रमाचाररता विमूढाः कर्मानुसारेण फलं लभन्ते। वर्णादिधर्मं हि परित्यजन्तः स्वानन्दतृप्ताः पुरुषा भवन्ति' ॥ मैत्रेय्युपनिषद् १।१३॥ 'अहं ममेति विण्मूत्रगन्धलेपादिमोचनम्। शुद्धशौचमिति प्रोक्तं मृज्जलाभ्यां तु लौकिकम्' ॥ मैत्रेय्यु० २।९॥

(पटरे) पर सब बैठाये गये हो, तो काष्ठादि द्वारा भी संबन्ध से काकी (किसकी) छूतनिवृत्ति के लिये सींच लेते (देह पर जल सींचते) हो। जिस भूमि पर हो, सो भी तो महा अपवित्र ही है। और संसार में जेवन अचवन (अन्न जल) और सब उपाय छूति (माया) स्वरूप ही हैं, तथा सब वस्तु व्यवहार दोषयुक्त हैं, अन्न जल जन्तु आदि से व्याप्त हैं, शरीर का हेतु रजोवीर्य अविद्या कामादि महा अपवित्र हैं। इससे साहब का कहना है कि वे ही पुरुष सर्वथा दोष से रहित हैं कि जिनके सङ्ग में माया नहीं है। अर्थात् असङ्गात्मज्ञानी, देहाभिमानादि रहित, कनक कामिनी की आसक्ति रहित जीवन्मुक्त शुद्ध हैं। तथा लोक में मांसमद्यादि के त्यागी अन्यायार्जित धनादि रहित शुद्ध सदाचारी हैं। इसके विना केवल वर्णादि के अभिमान से छूतादि का व्यवहार पाखण्ड है ॥१३॥

आत्मज्ञान वैराग्यादि से माया के त्याग को वास्तविक शुद्धि कही गई है, सो सुन कर शंका हुई कि ज्ञानादि की कोई जरूरत नहीं है, किन्तु कर्मोपासना भक्ति विशेष से ही दिव्यलोक में प्राप्ति से वास्तविक शुद्धि होती है. और अर्थादि की प्राप्ति भी होती है, इससे कर्मादिक ही कर्तव्य हैं इत्यादि, तब इस शंका का निवारण करते हुए कहते हैं कि–

शब्द ॥ १४ ॥

पण्डित सोधि कहहु समुझाई, जाते आवागमन नशाई।
अर्थ धर्म औ काम मोक्ष कहु, कौन दिशा बस भाई॥

पण्डिता भो विचार्यैवं शोधयित्वा हृदि स्वयम्।
सुसंबोध्य जनेभ्यो हि तदेव कथ्यतां यतः॥ १३॥

हे पण्डितो! पूर्व कही रीति से विचार करके अपने हृदय में शोध (विवेक) करके मनुष्यों के लिये समझा कर नहीं कहा जाय कि जिससे ॥१३॥

उतर कि दछिन पूरब कि पश्चिम, स्वर्ग पताल कि माहीं।
विना गोपाल ठौर नहिं कतहूं, नरक जात दहुं काही॥

गतागतं निवर्तेत पूर्णार्थाद्याः सदा नराः।
निर्द्वन्द्वाः सुखिनोऽत्र स्युर्भवबाधा भवेन्नहि॥ १४॥
अर्थो धर्मश्च कामश्च मोक्षश्चापि निरुच्यताम्।
वर्तते दिशि कः कुत्र भ्रातरो लभ्यते कथम्॥ १५॥
उत्तरस्यां दिशायां किं दक्षिणस्यां स वर्तते।
पूर्वस्यां पश्चिमायां वा स्वर्गे पातालमध्ययोः॥ १६॥
गोपालेन विना क्वापि स्थितेः स्थानं न विद्यते।
विभुना ब्रह्मणा कस्मान्नरके यान्ति जन्तवः॥ १७॥
इत्यालोच्य बुधा! वित्त मूढस्य स्वर्गसंक्रमः।
यः सोपि नरकस्तस्य भयबाधादिसंभवात्॥ १८॥

गमनागमन निवृत्त होय। और पूर्ण अर्थादिवाला होकर मनुष्य यहां सदा निर्द्वन्द्व सुखी होयँ, संसार की बाधा (पीडा) नहीं होय॥ १४॥ अर्थ धर्म काम और मोक्ष भी आपसे कहा जाय कि कौन किस दिशा में रहता है, और हे भाइओं! वह कैसे मिलता है॥ १५॥ वह अर्थादि क्या उत्तर दिशा में रहता है, कि दक्षिण में रहता है, या पूर्व वा पश्चिम में रहता है, वा स्वर्ग में, या पाताल में या मध्य (मनुष्य लोक में रहता है॥ १६॥ गोपाल (भूमि स्वर्गादि के रक्षक) विभु ब्रह्म के विना कहिं भी स्थिति का स्थान नहीं है, प्राणी किस हेतु से नरक में जा रहे हैं, गोपालरूप स्थिति स्थान को प्राप्त करना उचित है॥ १७॥

हे बुधों! पण्डितों! इस पूर्व आलोचना (विचार ज्ञान) को प्राप्त करके समझो कि मूढ का जो स्वर्ग में संक्रम (संचार-प्राप्ति) है, सो भी उसको भयपीडा आदि के रहने से नरक ही है॥ १८॥ और यदि वहाँ

अनजाने को स्वर्ग नरक है, हरि जाने को नाहीं।
जो डर के सब लोग डरत हैं, सो डर हम न डराहीं॥

लब्धार्थाद्यैश्च किं तत्र यदि क्लेशोऽपि विद्यते।
सर्वं समाप्यते बोधे हरेस्तं तेन साधय॥ १९॥
अज्ञानामेव नरकादौ गमनागमनं भवेत्।
हरे र्ज्ञानवतां नैव तेन ते निर्भयाः सदा॥ २०॥
भयाद् यस्य त्विमे लोकाः सर्वे बिभ्यति सर्वदा।
तस्मान्नैव बिभेमो वै वयं सर्वे विवेकिनः॥ २१॥
न पापस्य न पुण्यस्य शङ्काप्यस्मासु विद्यते।
न स्वर्गे नरके वाऽपि वयं यामः कदाचन॥ २२॥
"अमनस्कस्य यत्कर्म देहेन्द्रियगणस्य च।
न तत्पुण्यं न पापं च शास्त्रेषु परिपठ्यते"॥ २३॥

क्लेश भी है तो लब्ध (प्राप्त) अर्थादि से क्या फल है, और संतोष विरागादि सहित हरि का बोध (ज्ञान) होने पर तो सब वस्तु सम्यक् प्राप्त पूर्ण हो जाते हैं, तिससे उस बोध को ही सिद्ध करो॥ १९॥ और अज्ञों को ही नरक आदि में गमनागमन होता है, होगा, हरि के ज्ञानवालों को नहीं, तिससे वे ज्ञानी सदा निर्भय रहते हैं॥ २०॥ और जिस ईश्वर के भय से ये सब लोक सदा डरते हैं, उससे हम विवेकी सब नहीं डरते हैं॥ २१॥

हम लोगों में पाप वा पुण्य की शंका भी नहीं है, न स्वर्ग में वा नरक में भी हम लोग कभी जाते हैं॥ २२॥ मनोव्यापार रहित देही और उसके देह इन्द्रियगण के जो कर्म होते हैं, सो शास्त्र में पुण्य वा पाप नहीं कहे जाते हैं॥ २३॥ संदेह रहित शुद्धात्मा ज्ञानी जहाँ स्थिर रहता

पाप पुण्य की शंका नाहीं, स्वर्ग नरक नहिं जाहीं।
कहहिं कबीर सुनहु हो सन्तो, जहँ पद तहईं समाहीं ॥१४॥

यत्र तिष्ठति शुद्धात्मा ज्ञानी संदेहवर्जितः।
विदेहमोक्षकाले स तत्राविशति निर्मले ॥ २४ ॥

अद्वये स्वे पदे नित्ये क्वचिद् याति न [1]बुद्धधीः।
सद्गुरवो वदन्त्येवं सच्छास्त्रैश्च विनिश्चितम् ॥ २५ ॥

देहात्मतत्त्वस्य बोधैर्विहीना देहात्मबुद्ध्या सदाऽत्र भ्रमन्तः।
शौचं विशुद्धं ह्यपश्यन्त एव मोहेन शुद्धेऽप्यशौचं वदन्ति ॥ २६ ॥

न ते धर्मतत्त्वं विदन्ति प्रमूढा न चार्थस्य कामस्य मोक्षस्य रूपम्।
मृषा पण्डितंमन्यमानाः पतन्ति सदा दुर्गतौ नैव जातु प्रबुद्धाः॥२७॥१४

इतिशब्दसुधायां देहात्मतत्त्वविज्ञानहीनानां मतिभ्रमादिवर्णनं
नाम पञ्चमस्तरंगः ॥ ५ ॥

है। विदेह मोक्ष काल में वह वहाँ ही निर्मल अद्वय नित्य स्व (आत्म) पद (स्थान-वस्तु) में आविष्ट होता है, पण्डित बुद्धिवाला कहीं नहीं जाता है. सद्गुरु इस प्रकार कहते हैं, और सत शास्त्र से यह विनिश्चित है ॥ २४-२५ ॥ देह और आत्मा के स्वरूप का ज्ञानों से रहित पुरुष देह में ही आत्मबुद्धि से सदा यहां भ्रमते हुए विशुद्ध शौच को नहीं जानते हुए ही मोह से शुद्ध में भी अशौच कहते हैं ॥ २६ ॥ वे अत्यन्त मूढ न धर्म के स्वरूप को जानते हैं, न अर्थ काम मोक्ष के स्वरूप को जानते हैं, किन्तु मिथ्या ही अपने को पण्डित मानते हुए सदा दुर्गति (नरक) में गिरते हैं, प्रबुद्ध (ज्ञानी) कभी नहीं गिरते ॥ २७ ॥

---

१ 'इन्द्रियाणीन्द्रियार्थाश्च नोपसर्पन्त्यतर्षुलम्। हीनश्च करणैर्देही न देहं पुनरर्हति' ॥

अक्षरार्थ- हे पण्डितों ! अपने मन में शोध (विचार विवेक) करके, अधिकारियों के प्रति उसी वस्तु को समझा कर कहो कि जिसके समझने आदि से आवागमन (जन्म मरण) नष्ट हो। और हे भाई! अर्थ धर्म काम और मोक्ष की बात कहो कि ये सब कौन दिशा में बसते हैं, कि जहाँ जाने से मिलते हैं। क्या ये उत्तर है, कि दक्षिण हैं, कि पूर्व हैं, कि पश्चिम हैं, कि स्वर्ग में हैं, कि पाताल में हैं, कि माहीं (मध्य) में है। अर्थात् इनके लिये किसी देश दिशा लोकादि का नियम नहीं है। सो समझो समझावो, मिथ्या देशादि का नियम नहीं करो। और समझो कि इन्द्रियादि रूप गो के पालक सर्वात्मा राम के ज्ञान प्राप्ति बिना, तथा इन्द्रियों का पालन (निरोध) बिना कहीं भी स्थिति (मुक्ति) का ठिकाना नहीं है, किन्तु नरक ही है, तो क्यों नरक में जाते हो, नरक रहित होने के लिये गोपाल को समझो। और विभु गोपाल के विना (उससे रहित) कोई स्थान नहीं है, तौभी जीव नरक में क्यों जाते हैं, उस कारण रूप अज्ञान को समझो, उससे रहित होने के लिये उपाय करो, और मिथ्या लोकाशादि को त्यागो इत्यादि ॥

आत्मा को जान कर आशा आदि को इस लिये अवश्य त्यागना चाहिये कि अनजान (अज्ञ) का स्वर्ग भी नरकरूप (दुःखद) है, तथा अज्ञ को स्वर्ग नरक में गमनागमन होता है। और सर्वात्मा हरि को जानने वालों के लिये कहीं स्वर्ग नरकादि नहीं हैं। इसी कारण से जिस नरकादि भय से वा जिस भय के हेतु ईश्वर देवादि से सब लोक डरते हैं, सो डर (उस भय हेतु) से हम (ज्ञानी) लोक नहीं डरते हैं, ईश्वरादि को प्रियतमात्मा समझते हैं, नरकादि को मिथ्या समझते हैं इत्यादि।

और तत्त्वज्ञान से रागद्वेषादि के अभाव होने से हमे पापपुण्य की शंका भी नहीं हैं, न हम स्वर्ग नरक में जाते हैं। इससे जहां हमारा पद (स्थिति) है, वहाँ ही समाते (आत्म लीन होते) हैं ॥ १४ ॥

सशक्ति ईश्वरतत्त्वादिनिरूपणप्र० ६

पूर्व प्रकरण में एकात्माराम के ज्ञानादि से जन्मादि का अभाव कहा गया है, तथा उस असङ्ग आत्मा में सृष्टि आदि का अभाव भी कहा गया है, सो सुन कर शंका हुई कि यदि आत्मा एक असङ्ग भेदादि रहित है, तो यह संसार की विचित्रता कैसे होती है इत्यादि, तब अनिर्वचनीय शक्ति सहित ईश्वर का वर्णन करते हैं कि–

शब्द ॥ १५ ॥

अवधू कुदरत की गति न्यारी।
रंक निवाज करे वह राजा, भूपति करै भिखारी॥
याते लोंग हरफना लागे, चन्दन फूल न फूला।
मच्छ शिकारी रमै जंगल में, सिंह समुद्रहिं झूला॥

अवधूभोंस्त्वया साधो ! ह्रीशशक्ति निरीक्ष्यताम्।
तस्या गति विचित्राऽत्र विद्यतेऽद्भुतरूपिणी॥ १ ॥
सा करोति दरिद्रस्य समर्था रक्षणं तथा।
तं करोति महीपालं महीपालं च भिक्षुकम्॥ २ ॥
एतयैव जनाः सर्वे प्रपञ्चे बहुजालकैः।
बद्धाः सन्ति लवङ्गे वा फलं न जायते खलु॥ ३ ॥

हे अवधू (स्त्री रहित) साधु जनो ! तुम से ईश्वर की शक्ति देखी जाय, उसकी गति विचित्र (विविध मायावाली) और अद्भुत (आश्चर्य) स्वरूपवाली है ॥ १ ॥ वह समर्था शक्ति दरिद्र की रक्षा करती है, तथा उसको राजा करती है, और महीपाल (राजा) को दरिद्र करती है ॥ २ ॥ इसी शक्ति से सब मनुष्य प्रपञ्च (भ्रमविस्तार) में बहुत जालों (जन्मादि समूहों) से बँधे हैं, वा लवङ्ग में फल भी नहीं होता है ॥ ३ ॥ चन्दन

रेंड रूख भयेउ मलया गिरि, चहुं दिश फूटी बासा।
तीनि लोक ब्रह्माण्ड खण्ड में, देखे अन्ध तमासा॥

चन्दने नाऽभवत् पुष्पं यत्तन्मायासुसाधितम्।
नियामिकायतः शक्तिस्तत्रैवास्ते तमः स्वयम्॥ ४॥
मत्स्यानां वधिको जातोऽपराधेन विना तथा।
महान्तो बलिनः सिंहा रमन्ते भयतो वने॥ ५॥
समुद्रेचाऽभवत् सेतू रामचन्द्रेण निर्मितः।
एवं विधं हि सर्वं यत् तद्धि [1]मायाविनिर्मितम्॥ ६॥
मत्स्यो वा रमतेऽटव्यां भूत्वा वधिकरूपतः।
सिंहो विकम्पतेऽब्धौ वा तत्तुल्याः पुरुषास्तथा॥ ७॥
एरण्डो मलयो जातो गन्धोऽस्य सर्वतोऽगमत्।
ज्ञानान्धस्त्रिषु लोकेषु ब्रह्माण्डेषु च पश्यति॥ ८॥

में जो पुष्प नहीं हुआ, सो भी माया से ही सुसाधित (सिद्ध) है, जिससे नियामक शक्ति तमो गुण उसीमें स्वयम् है॥ ४॥ और अपराध के विना ही मछलियों के वधिक (हिंसक) हुआ, और महान् बली सिंह भी भय से वन में रमते हैं, और रामचन्द्र से निर्मित (रचित) सेतु (पुल) समुद्र में हुआ, इस प्रकार के जो सब वस्तु व्यवहार हैं, सो सभी मायारचित है॥ ६॥ वा मछली वधिकरूप से होकर अटवी (जंगल) में रमती है और सिंह समुद्र में डोलता हैं। यह ईश्वर की शक्ति है, तथा मत्स्य सिंह तुल्य पुरुष विपरीत व्यवहार करते हैं॥ ७॥

ईश शक्ति से एरण्ड मलय हो गया, इसका गन्ध सर्वत्र गया, ज्ञानान्ध भी तीनों लोक में, ब्रह्माण्डों में, तैसे ही सब खण्ड और संघों में भी महान अद्भुत कौतुक को सिद्धि आदि से देखता है। और हीन भी उत्तमता

१ 'देवस्यैष महिमा तु लोके येनेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम्'॥ श्वेता० ६। १॥

पंगू मेरु सुमेरु उलंघै, त्रिभुवन मुक्ता डोलै।
गुंगा ज्ञान विज्ञान प्रकाशै, अनहद बाणी बोलै॥
अकाशहिं बांधि पताल पठावै, शेष स्वर्ग पर राजै।
कहहिं कबीर राम है राजा, जो कछु करै सो छाजै॥ १५॥

तथैव खण्डसंघेषु ह्यद्भुतं कौतुकं महत्।
हीनो ह्युत्तमतां यातो यशोऽस्य सर्वतोऽगमत्॥ ९॥
बाह्यदृष्ट्याऽथ चान्धोऽपि सर्वं पश्यति तत्त्वतः।
क्रीडातुल्यं जगत् कृत्स्नं न तत्र रमते ततः॥ १०॥
पङ्गुश्च मेरुदण्डस्य सुमेरो र्लङ्घनं तथा।
करोति सिद्धियोगेन मुक्तश्चरति सर्वशः॥ ११॥
ज्ञानविज्ञानयो र्मूकः प्रकाशं कुरुते तथा।
निःसीमं भाषते शब्दं सर्वथाऽनाहतं खलु॥ १२॥
यच्छक्त्यैतद् भवेत् सर्वं स ह्याकाशनिवासिनम्।
पातालं गमयेद् बध्वा शेषं स्वर्गे विराजयेत्॥ १३॥

को प्राप्त हुआ, इस का यश सर्वत्र गया, और बाहर दृष्टि से अन्ध भी विवेकी सब को यथार्थ स्वरूप से देखता है, सब जगत् क्रीडातुल्य देखता है, तिससे उसमें नहीं रमता है॥ ८–१०॥ पङ्गु भी सिद्धि का योग (सम्बन्ध) से मेरुदण्ड का तथा सुमेरु का लङ्घन करता है, और मुक्त हो कर सर्वत्र विचरता है॥ ११॥ मूक भी ज्ञान विज्ञान का प्रकाश करता है, तथा सीमारहित सर्वथा अनाहत (सत्यार्थक) शब्द का भाषण करता है॥ १२॥ जिस की शक्ति से ये सब बात हो सकती है, वही आकाशवासी देव को बाँध कर पाताल में भेज सकता है, तथा पातालवासी शेष को स्वर्ग में विराजमान कर सकता है॥ १३॥ जिस की शक्ति से यह सब

यच्छक्त्या जायते सर्वं स रामः प्रभुरव्ययः।
यद्यत्किञ्चित्करोत्येष तत्तत्तस्यैव शोभते ॥ १४ ॥
परा[1]ऽस्य विविधा शक्तिस्तया सर्वं करोति सः।
सद्गुरुः भाषते चैवं मायायामद्भुतं किमु ॥ १५ ॥ १५

संसार होता है, वही अव्यय रामप्रभु है, वह जो जो कुछ करता है, सो सो उसी को शोभता है ॥ १४ ॥ इसकी विविध प्रकार की उत्तम शक्ति है, तिससे वह सब कार्य करता है, सद्गुरु साहब इस प्रकार कहते हैं, और माया में आश्चर्य ही क्या है, वह तो आश्चर्य स्वरूप है ही ॥ १५ ॥

अक्षरार्थ– हे अवधू (विरक्तों) कुदरत (ईशशक्ति) की गति (स्वभाव चाल) न्यारी (विलक्षण-भिन्न) है। उसीले ईश्वर रंक (दरिद्र) की निवाज (रक्षा) करके उसे राजा कर देता है, और भूपति (राजा) को भिखार (भिक्षुक) करता है। और याते (इसी मायशक्ति से) लोक हरएक फना (फन्दा मोह जाल) में लगे (फंसे) हैं। (याते लवंग हि फल नहिं लागे) यह पाठान्तर है। अर्थ है कि कुदरत से ही लवंग में फल नहीं लगता, फूल ही लगता है। और चन्दन में कुदरत से ही फूल नहीं फला (नहीं लगा) यदि लगा भी तो चन्दन की अपेक्षा सुगन्ध नहीं हुआ। अर्थात् लवंग तुल्य तीक्ष्ण कर्म का अच्छा फल नहीं होता। अच्छे कुलादि में भी कुदरत से सत्कर्मादि नहीं होते। और निरपराधी मछली का शिकारी हुआ, सिंह भी भय से जंगल में ही रमता है, समुद्र में झूला (पूल) बना, सो सब कुदरत की गति है। अथवा कुदरत की गति से मछली भी शिकारी बन कर जंगल में रम सकती है, और सिंह भी समुद्र में झूल (विचार) सकता है। अर्थात् मत्स्यतुल्य तुच्छ मनुष्य संसार समुद्र से निकल (उपराम हो) कर; देह वन में

[1] 'पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते'। श्वेता० ६।८॥

कामादि मृग का शिकार कर सकता है, और सिंह तुल्य मनुष्य कामादि के वश में होकर संसार समुद्र में झूलता है, नीचे ऊपर जाता आता है इत्यादि ।

कुदरत से ही रेंड का रूख (वृक्ष) किसी सिद्ध द्वारा मलय चन्दन हुआ (अतिहीन महा उत्तमता को प्राप्त किया)। और उसका बास (गन्ध-सुयश) चारो दिशा में फूटा (फैला-प्रसिद्ध हुआ)। और कुदरत से ही तीनों लोक, ब्रह्माण्ड, खण्डों में अन्धा भी तमासा देखता है। (ज्ञान विना भी सिद्धि बल से लोकादि में कौतुक देखता है)। और पंगू भी मेरुदण्ड तथा सुमेरु पर्वत का उलंघन करता है, और सिद्धि का बल से तीनों भुवन (लोक) में मुक्ततुल्य डोलता (विचरता) है। गुंगा भी ज्ञान विज्ञान का प्रकाश (प्रचार) करता है, अनहद वाणी बोलता है। (वस्तुतः जीवात्मा भी सब इन्द्रियों से रहित है। और कुदरत से सूक्ष्म देहस्थ इन्द्रियों द्वारा सब कार्य करता है, और अंध पंगू गुंग तुल्य होने ही पर अजब तमासा दीखता है, संसार पर्वत को लांघा जाता है, ज्ञान विज्ञान सार शब्द का प्रकाश किया जाता है)।

जिस की शक्ति से ये सब कार्य होते हैं, वह आकाश (स्वर्गवासी) को बांध कर पाताल में पठाता (भेजता) है। और पातालवासी शेष को स्वर्ग के ऊपर विराजमान करता है। इससे वह राम राजा (स्वतन्त्र प्रभु) है, जो कुछ करता है, सो सब उसको छाजता (शोभता) है ॥ १५ ॥

जो राम राजा है, सो वस्तुतः सर्वात्म स्वरूप ही है, माया में उसका प्रकाशरूप प्रतिबिम्ब आभास से ही माया सब प्रपञ्च रचती है, परन्तु अज्ञानी जीव उसे जाने विना किसी परोक्ष अनात्मा में मन लगाता है कि जिससे आवागमन रहित मुक्त नहीं होता है, इस आशय से कहते हैं कि–

शब्द ॥ १६ ॥

अवधू वे तत्त्व रावल राता । नाचै बाजन बाजु बराता ॥

अवधू भो असौ रामो राजा देवः सनातनः ।
स्वमायानिरतश्चास्ते प्रतिभासस्वरूपतः ॥ १६ ॥
तेन यन्त्रोऽथ वाद्योऽयं देहो नृत्यति कर्मसु ।
प्राणेन्द्रियगणः सर्वो भृशं शब्दायते मुहुः ॥ १७ ॥
अथवा रामरूपोऽयं जीवो राजा भवन् स्वयम् ।
कल्पितेऽनात्मतत्त्वे वा परोक्षे निरतोऽभवत् ॥ १८ ॥
तस्याऽविवेकतो वाद्यं नृत्यतीदं कलेवरम् ।
शब्दायन्ते च जीवानां संघाः परवशाः खलु ॥ १९ ॥

हे अवधू ! सनातन (अनादि) देव वह रामराजा, प्रतिभास (प्रतिच्छाया) रूप से अपनी माया में निरत (आसक्त) है ॥ १६ ॥ तिससे यन्त्र और वाद्य (बाजा) यह देह कर्म में नाचता है, और प्राणेन्द्रिय के गण सब अतिशय बार २ शब्द करते हैं ॥ १७ ॥ अथवा राम स्वरूप यह जीव स्वयं राजा होता हुआ भी कल्पित में वा परोक्ष अनात्म स्वरूप में निरत (आसक्त) हुआ ॥ १८ ॥ उसीका अविवेकसे यह देहरूप बाजा नाचता है, और जीवों के संघ परवश हो कर शब्द करते हैं ॥ १९ ॥

मौरिक माथे दुलह दीन्हो, अकथ जोरि कहाता।
मड़वक [1]चारन समधी दीन्हों, पुत्र विआहल माता॥

मुकुटेनात्मनस्तुल्यान्महिम्नश्चापि मस्तकात्।
उपरिष्टाद्धि मायाया विज्ञः स्थापयते पतिम्॥ २०॥
द्वन्द्वानि द्वैतवर्गांश्चाकथनीयानि मन्यते।
नात्मवत्तेषु सत्यत्वं कदाचिदपि वै बुधः॥ २१॥
अज्ञो वाऽस्य किरीटेन तुल्ये स्वर्गमुखेऽनृते।
महिम्न्येव परात्मानं तटस्थत्वेन मन्यते॥ २२॥
अकथं यज्जगत्तत्त्वं मेलयित्वाऽनृतं हि तत्।
सत्येन भाषते नित्यं नैव जातु विवेकतः॥ २३॥
विवेकी मन्यते विज्ञं स्वदृष्ट्या भवमूर्धसु।
स्वयं प्राक् पुत्रवद् भूत्वा मायां च कुरुते वशे॥ २४॥

विज्ञ (ज्ञानी) आत्मा के मुकुट के तुल्य जो महिमा उसके शिर से तथा माया से भी ऊपर सर्वात्मा पति को स्थिर करता (निश्चय करता) है॥ २०॥ और द्वन्द्व द्वैत वर्ग को अकथनीय मानता है। बुध (ज्ञानी) उनमें आत्मतुल्य सत्यता कभी नहीं मानता है॥ २१॥ अथवा अज्ञ प्राणी इस आत्मा के किरीट के तुल्य स्वर्गादि मिथ्या महिमा में ही परमात्मा को तटस्थरूप से मानता है॥ २२॥ और अकथ जो जगत् का स्वरूप है, उस अनृत (मिथ्या) को सत्य आत्मा के साथ मिला कर उसे नित्य कहता है, कभी विवेक से नहीं कहता॥ २३॥ और विवेकी अपनी दृष्टि से ज्ञानी को संसार के शिर में संसार से परे मानता है, और स्वयं

१ संस्कृत में चारण, वन्दिविशेष को कहते हैं, और लोक भाषा में चार (छप्पर) को घर के ऊपर भाग को कहते हैं, उसके बहुवचन में चारन प्रयोग होता है।

दुलहिनि लीपि चौंक बैठायो, निर्भय पद परगाता।
भाते उलटि बरात हिं खायो, भली बनी कुशलाता॥

अज्ञो वा मण्डपे विश्वे बुद्धं ज्ञात्वा हि चारणम्।
किञ्चिद्ददाति मायायामासक्तो भवति स्वयम्॥ २५॥
विज्ञपत्यर्थिनी माया संशोध्य तत्कलेवरम्।
शुद्धे निजात्मपीठे तं स्थापयित्वा परं पदम्॥ २६॥
प्रगायत्यभयं सा च ततो भीतेव वर्तते।
पतिंवराऽज्ञबुद्धिर्वा संशोध्य स्वं कलेवरम्॥ २७॥
स्थापयित्वा मनःपीठेऽनात्मानं मन्यते पतिम्।
प्रगायत्यभयं त्वन्यं स्वात्मानं मन्यते नहि॥ २८॥
विज्ञो निजेन्द्रियव्रातं निरुध्य भोग्यभक्ततः।
भुक्तवान् येन कौशल्यं कुशलं चाऽभवद् बहु॥ २९॥

भी प्रथम माया के पुत्र तुल्य होकर भी उसे वश में करता है॥ २४॥ अथवा अज्ञ प्राणी विश्वमण्डप में ज्ञानी को चारण (स्तावक) जान कर कुछ भोजनादि देता है, स्वयं माया में आसक्त होता है, उनके वचन को नहीं मानता है॥ २५॥ विज्ञ पति को चाहनेवाली माया, उसके देह को शुद्ध करके शुद्ध निजात्मस्वरूप पीठ (आसन) पर उसे स्थिर करके अभय पर (उत्तम) पद (स्थान) का प्रगान करती है॥ २६॥ और वह माया उससे भीत (डरी) तुल्य रहती है। अथवा पतिंवरा (पति को वरनेवाली) अज्ञ की बुद्धि अपने देह को शुद्ध करके मनरूप बिस्तरा पर अनात्मा को स्थिर करके उसीको पति मानती है। और अन्य को ही अभय गाती है, आत्मा को नहीं मानती है॥ २७-२८॥ ज्ञानी अपने इन्द्रिय समूह को भोग्य (विषय) रूप भक्त (ओदन) से रोक कर,

पाणि ग्रहण भयो भव मण्डन, सुषमणि सुरति समानी ।
कहहिं कबीर सुनहु हो सन्तो, बूझहु पण्डित ज्ञानी ॥१६॥

अज्ञानामथवा व्रातं विषयो भुक्तवानिति ।
तथापि स्वज्ञदृष्ट्या तत् कुशलं परिवर्तते ॥ ३० ॥
जीवन्मुक्तस्य या माया वशीभूताऽभवत्स्वयम् ।
भूषणं तदभूल्लोके मनोवृत्तिश्च सुस्थिरा ॥ ३१ ॥
अज्ञबुद्धेर्विवाहो वाऽभवद्देवादिभिः सह ।
मण्डनं ह्यभवत्तेन पुनर्जन्मादिलक्षणम् ॥ ३२ ॥
योग्यादीनां च तद्ध्यानान्मनोवृत्तिर्लयं गता ।
सुषुम्णि वा स्थिता नित्यं मरणं वाप्युपस्थितम् ॥ ३३ ॥
सद्गुरुः प्राह भोः साधो ! श्रूयतां विज्ञतस्तथा ।
विचारः क्रियतां नैवं मनो देयं तु मायिके ॥ ३४ ॥ १६ ॥

उन्हीका भोजन कर लिया, जिससे बहुत कौशल (निपुणता) और कुशल (कल्याण) हुआ ॥ २९ ॥ अथवा अज्ञों के समूह को (भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः) इस वचन के अनुसार भोग्य विषय भोग (खाय) लिया, तोभी अज्ञ की दृष्टि से वह कुशल ही है ॥ ३० ॥

माया जो स्वयं जीवन्मुक्त के वशीभूत हो गई, सो लोक में भी भूषण रूप हुआ और उसीसे मनोवृत्ति भी सुस्थिर हो गई ॥ ३१ ॥ अथवा अज्ञ की बुद्धि का देवादि के साथ विवाह हुआ, तिससे पुनः जन्मादिरूप मण्डन (भूषण) हुआ ॥ ३२ ॥ योगी आदि की मनोवृत्ति उस देवादि के ध्यान से लय को प्राप्त हुई, वा सुषमणा नाडी में स्थिर हुई, वा मरण ही उपस्थित हुआ ॥ ३३ ॥ सद्गुरु कहते हैं कि हे साधो ! विज्ञ से श्रवण करो, तथा विचार करो; मायिक वस्तु में मन नहीं देना ॥ ३४ ॥

अक्षरार्थ –हे अवधू ! रावल (राजाराम) वे तत्त्व (अनात्म स्वरूप माया) में राता है, आभास द्वारा पैठा है। इससे यह देह रूप बाजन (तत्त्व–बाजा) कर्मों में नाचता है। और प्राणादिरूप बरात (समूह) बाजते (शब्दादि करते) हैं। तथा रावल (जीवात्मा) वे तत्त्व (परोक्ष अनात्मस्वरूप) में राता (प्रेम किया) है। इससे इसका अविवेक से शरीरादि वाजन सर्वत्र नाचते हैं। और बरात तुल्य जीवादि परवश बाजा तुल्य बाजते हैं।

और अविवेक से ही सर्वात्मा पतिके मौर (मुकुट) तुल्य विभूति विशेष स्वर्गादि के माथे (ऊपर) भाग में अज्ञों ने उस दुल्ह (स्वामी) को रहने के लिये स्थान दिया (समझा) है। और अकथा (माया) की ही बातों को छन्दादिरूप से जोर (मिला) कर कहता है, आत्मचर्चा नहीं करता है। और समधी (समबुद्धिवालों) को संसार मण्डप के चारण (गुणगायक-भिक्षुक) मान कर उन्हें कुछ दिया, और देता है, परन्तु उनके उपदेशों को नहीं माना न मानता है, इससे माया का पुत्र मन सहित जीव माता (माया) को ही व्याहा (मायिक वस्तु को पाया) राम को नहीं पाया।

अविवेक से अज्ञों की दुर्बुद्धि दुलहिन ने शरीरादि को जल चन्दनादि से धोय लिप कर, हृदय चौक में किसी पति को बैठाया (निश्चय किया) तथा पर (भिन्न) पति से ही निर्भय (मोक्ष) पद (स्थान) को गाने लगी। जिससे विषय रूप भात ही उलट कर बरात (प्राणी सब) को खाय लिया, तोभी अज्ञों की दृष्टिसे भली कुशलता हुई। परन्तु क्या भली कुशलता बनी, किन्तु नहीं बनी। क्योंकि इसीसे–

देवादि से पाणिग्रहण (विवाह) जीवोंका हुआ, जिससे बार २ जन्मादि संसारी इनका मण्डन (भूषण शोभा) हुआ, क्योंकि अनात्म-चिन्तन करते ही में इनकी सुरति मनोवृत्ति सुषुम्ना नाडी में समाई (मरण उपस्थित हुआ) इससे जन्मादि से छुटकारा नहीं पाये। इससे

साहब का कहना है कि हे सन्तो ! सुनो, आत्मश्रवणादि करो, जन्मादि रहित होने के लिये ज्ञानी पण्डितों से आत्मतत्त्व को बूझो (समझो)।

विशेष विवरण– शब्द का यह भी अर्थ हो सकता है कि हे अवधू ! जो रावल (इन्द्रियजीत विवेकी) उस पूर्व वर्णित आत्मतत्त्व में राता (प्रेम किया) है। उसकी दृष्टि से देहरूप बाजन नाचना है। इन्द्रियादि बरात बाजते हैं। आत्मा अक्रिय हैं। और मौर तुल्य क्षणभंगुर देहादि के शिर प्रकृति आदि से परे वे लोक सर्वात्म पति को दिये (समझे) हैं। तथा जोरी (द्वन्द्व द्वैत) को कथा (मायामात्र) कहते हैं। और समबुद्धिवालों को संसार मण्डप के चारण (चौथा भाग) ब्रह्माण्ड से भी परे समझते हैं। और पुत्र तुल्य होते भी माया को वश में करते हैं। फिर वह मायारूप दुलहिन उनके मन आदि को अति शुद्ध करके उन्हें आत्मनिष्ठ रखती है। उनके आगे निर्भय पद परमात्म तत्त्व को ही गाती है। और भात (विषय) से इन्द्रिय बरात को लौटा कर माया उन्हें खाती (लीन करती) है। जिससे विवेकी की भली कुशलता बनी, और बनती है। क्योंकि विवेकी से जो माया का पाणिग्रहण हुआ, सो लोक में भी मण्डनरूप हुआ। उससे चित्त की एकाग्रता शान्ति हुई। जिससे स्वयं वृत्ति सुषुम्ना में स्थिर हुई, इस बात को सुनो, ज्ञानी पण्डित से समझो, जिससे समाधि का लाभ हो इत्यादि ॥ १६ ॥

जिन ज्ञानी पण्डितों से सुनना समझना चाहिये, उनका अति आदर पूर्वक कथन करते हैं कि—

शब्द ॥ १७ ॥

अवधू सो योगी गुरु मेरा । जो यह पद का करै निवेरा ॥
तरुवर एक मूल विनु ठाढे, विनु फूले फल लागा ।
शाखा पत्र कछु नहि वाके, अष्ट गगन मुख जागा ॥

अवधूः परमो योगी गुरुः स विद्यते मम ।
योऽपरोक्षपदस्यास्य विवेकं कुरुते सुधीः ॥ ३५ ॥
संसारोऽयं महावृक्षो निर्मूल एक एव च ।
असङ्गे विद्यते तत्त्वे मायामात्रकलेवरः ॥ ३६ ॥
सत्यपुष्पं विना तत्र फलं सौख्यादिकं सदा ।
आत्मन्येव स्वभावेन भाति कर्मास्ति यत्र न ॥ ३७ ॥
यद्वा स्वात्मैव वृक्षोऽयं सैव मूलादिवर्जितः ।
पुष्पेणापि विना तत्र फलमर्थादिलक्षणम् ॥ ३८ ॥

हे अवधू ! वह परम योगी मेरा गुरु है, कि जो सुधी (सुबुद्धि) अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) पद (स्थान—वस्तु) इस आत्मा का विवेक करता है ॥ ३५ ॥ माया मात्र शरीरवाला यह संसाररूप महावृक्ष निर्मूल और एक ही है, क्योंकि असङ्ग आत्मस्वरूप में है ॥ ३६ ॥ और वनस्पतिरूप होने से सत्यपुष्प के विना उसमें सुखदुःख फल सदा होते हैं । और स्वभाव (अविद्या) से वह फल आत्मा में ही प्रतीत होता है जिस आत्मा में फल का कारण कर्म नहीं है ॥ ३७ ॥ अथवा अपनी आत्मा ही माया से इस वृक्षरूप हुआ है, और वह आत्मा ही मूलादि रहित है,

पौ विनु पत्र करह विनु तुम्बा, विनु जिह्वा गुण गावै।
गावनहारक रेख रूप नहिं, सतगुरु होय लखावै॥

शाखापत्रादिकं तत्र वास्तवं विद्यते नहि।
तथापि गगनस्यास्य राजतेऽष्टासु दिक्षु सः॥ ३९॥
तदाश्रिता तु मायाऽऽख्या लता तत्रास्ति लम्बिता।
तत्र यानि तु कार्याणि पत्राणि तानि सन्ति हि॥ ४०॥
अहो तेषां न सम्बन्धाधारः कोऽप्यत्र विद्यते।
तथापि तानि भान्त्येव वृन्तेन च विना फलम्॥ ४१॥
तत्फलेन युतं चैतद्देहयन्त्रं तु यः सदा।
वादयित्वा गुणं स्वस्य स्तौति जिह्वां विनैव च॥ ४२॥
गायकस्य च तस्यास्ति न रूपमाकृतिर्न च।
तथापि सद्गुरुर्यः स्यात् सुखं स तं प्रदर्शयेत्॥ ४३॥

और उसमें फूल विना ही अर्थ धर्मादिरूप फल प्रतीत होता है॥ ३८॥ उस वृक्षमें सत्य शाखापत्रादि नहीं हैं। तोभी इस आकाश के सम्बन्धी आठों दिशा में वह वृक्ष विराजता है॥ ३९॥

कारणरूप से उस वृक्ष के आश्रित, तथा आत्मा के आश्रित मायानामक लता है, सो उसमें लम्बित (लटकी) है। उसमें जो कार्य हैं, सोई पत्र हैं॥ ४०॥ आश्चर्य है कि उन कार्यों के सम्बन्ध का कोई आधार यहां नहीं है, तोभी वे प्रतीत होते हैं, और वृन्त विना फल है॥ ४१॥ उस माया लता का फलरूप तुम्बा से युक्त इस देहरूप यन्त्र (सितार) को बजाकर जो सदा अपने गुण की स्तुति जिह्वा विना ही करता है॥ ४२॥ तिस गायक के न रूप हैं न आकृति है, तोभी जो कोई सद्गुरु हो सो सुख पूर्वक उस सुख स्वरूप का दर्शन करा सकता है॥ ४३॥

पक्षिक खोज मीन को मारग, कहहिं कबिर दुइ भारी।
अपरम पार पार पुरुषोत्तम, मूरति की बलिहारी ॥ १७ ॥

पक्षिमार्गेण संप्राप्ति मीनमार्गेण वा प्लुतिः।
स्वयं सा दुष्करा साधो ! सद्गुरोः सुकरा भवेत् ॥ ४४ ॥
निरालम्बे यथाऽऽकाशे निश्चिन्हे विहगो व्रजेत्।
तथा व्रजति सच्छिष्यो निरालम्बे निजात्मनि ॥ ४५ ॥
सुमत्स्यो वा यथा नित्यमूर्ध्वं धारासु धावति।
सज्जिज्ञासुस्तथा नित्यं ज्ञानभूमिषु धावति ॥ ४६ ॥
यश्चैताभ्यां तु मार्गाभ्यां संयाति कुशलो नरः।
भवसिन्धोरपारस्य परं पारं स गच्छति ॥ ४७ ॥
नरोत्तमः स विज्ञेयस्तस्य मूर्तिश्च शोभते।
तां धन्यां सद्गुरुः प्राह कबीरः करुणानिधिः ॥ ४८ ॥

हे साधो ! पक्षिमार्ग से सम्यक् प्राप्ति वा मीनमार्ग से प्लुति (गति) स्वयं वह दुष्कर है, परन्तु सद्गुरु से सुकर होगी ॥ ४४ ॥ निराधार निश्चिन्ह आकाश में जैसे पक्षी चले, तैसे सच्चा शिष्य निरालम्ब निजात्मा में चलता है ॥ ४५ ॥ वा जैसे सुन्दर मत्स्य सदा धाराओं में ऊपर चलता है, तैसे ही सच्चा जिज्ञासु ज्ञान की भूमिकाओं में सदा ऊपर चलता है ॥ ४६ ॥ जो कुशल मनुष्य इन दोनों मार्गों से सम्यक् चलता है, सो अपार संसार समुद्र के पर (उत्तर उत्तम) पार (तट) को पाता है ॥ ४७ ॥ वही नरों में उत्तम जानने योग्य है, उसकी मूर्ति शोभती है, करुणानिधि सद्गुरु कबीर साहब उसी मूर्ति को धन्या (पुण्यवती) कहते हैं ॥ ४८ ॥ अघटित (असम्भव) की घटना (सिद्धि) अर्थात् अमिलित का मेल के विधि (प्रकार विधान) में प्रयुक्त (प्रेरित)

अघटितघटना विधौ यस्य शक्तिः
प्रयुक्ता सदा लोकसङ्घांस्तनोत्यञ्जसा।
इह स तनुमनोहृषीकेषु रक्तः सदा
वर्तते मायया संलसन् सर्वथा।
मनसि तमवलोक्य विज्ञाननेत्रास्तु ये
मुक्तिभाजो भवन्तीह तन्मानसाः।
गुरव इह त एव विज्ञानभूमौ प्रपन्ना
न लोकेष्वटन्तो रटन्तो मृषा ॥ ४९ ॥ १७

इति हनुमद्दासकृतायां सशक्तीश्वरादिनिरूपणं नाम षष्ठस्तरङ्गः ॥ ६ ॥

जिसकी शक्ति लोक समूह को सदा शीघ्र विस्तार करती है। सो यहां माया से सम्यक् क्रीडा करता हुआ, शरीर मन इन्द्रियों में सदा अनुरक्त है, जो विज्ञान नेत्रवाले उसको मन में देखकर, तन्मानस (उसमें स्थिर मनवाले) मुक्ति भागी होते हैं। विज्ञानभूमि में प्राप्त वे ही लोक यहां गुरु हैं, लोक में विचरते हुए मिथ्याभाषी गुरु नहीं हैं ॥ ४९ ॥

अक्षरार्थ– हे अवधू ! सो पुरुष योगी है, गुरु है। मेरा आत्मा इष्ट है। या वह योगी मेरा मान्य गुरु है। जो परोक्ष भावनादि को त्याग कर, यह अपरोक्ष) पद (वस्तु) का, वा इस शब्द में वर्णित अर्थ का निवेरा (विवेक प्रत्यक्ष) करता है, या जो इस संसार पद (स्थान) की निवृत्ति करता है। संसार एक महान् तरु (वृक्ष) है, सो सत्य मूल विना असंग आत्मा आकाश में खड़ा है। मूल रहित आत्मा माया ही संसाररूप से ठाढ (खड़ा) दिखता है। और सत्य पुष्प विना सुख दुःखरूप वा अर्थादिरूप फल इसमें लगते हैं। निर्गुण आत्मा में कर्मादि विना सुखादि का भ्रम होता है। और उस वृक्ष के शाखापत्रादि कुछ भी सत्य नहीं है, तौ भी वह वृक्ष आठों गगनमुख (दिशा) में जागता हुआ (प्रगट) है, निरवयव में सावयव वृक्ष जागृत है। मन बुद्धि अहंकार

पञ्चतन्मात्रा, इन आठों रूप से भी चिदाकाश में मुख्य (प्रधान) सत्यरूप से प्रतीत हो रहा है, इसका विवेकी गुरु है।

इस वृक्ष में कारणादि रूप से माया लता भी वर्तमान है, जिसमें पौ (पौधा-अंकुर-आधार डंठी) विना ही बुद्धि इन्द्रियादि पत्र (पत्ते) लगे हैं। करह (वृन्त) विना तुम्बा (फल-शिर-श्रवणादि) लगे हैं। उन पत्र फलादि से युक्त इस देह यन्त्र (सितार) को बजाकर गुणको गानेवाला, जिह्वा विना ही गुण गाता है, क्योंकि शरीर यन्त्र में जिह्वा है, यन्त्री में नहीं है। और जिसे गाता है, सो गुणमय है, गेय का साक्षी गेय नहीं है। और वह गाने बजानेवाला त्रिगुण पर साक्षी है। उस गावनहार (गानेवाला) का कोई रेख (आकार) रूप नहीं हैं। तोभी यदि कोई सदगुरु (ज्ञानी पण्डित) प्राप्त होय, तो उसे लखाय देवें। इससे उनसे बूझना चाहिये। तथा वह रेख रूप रहित राम ही सतगुरु होकर अपने स्वरूप को लखाता है। इत्यादि। (गुरुः शिवो गुरु देवो गुरु बंन्धुः शरीरिणाम्। गुरुरात्मा गुरुर्जीवो गुरोरन्यन्न विद्यते॥) ज्ञानी गुरु ही शिवादि स्वरूप हैं, अन्य नहीं।

सद्गुरु की प्राप्ति होने पर भी कोई धन्य ही आत्मानुभव करता है, क्योंकि निश्चिन्ह आकाश में पक्षी का खोज (मार्ग) और तीव्रधारा के सम्मुख मीन मार्ग के तुल्य ज्ञान के समाधि भाग और विचार मार्ग दोनों भारी (कठिन) है, तोभी इन मार्गों से निर्गुण आत्मा में ज्ञान भूमिद्वारा पहुंचनेवाले पुरुषोत्तम अपरंपार पुरुष की मूर्त्ति की बलिहारी है। उड्डीयान बन्धादि पक्षीमार्ग है, शब्दसुरति योगादि मीन मार्ग है, सोभी कठिन है। वराहोपनिषद अ० ४ में गुरु उपदेश विचारादि को विहंगम (पक्षी) मार्ग कहा है। और यमनियमासनादि का अभ्यास को पिपीलिका मार्ग, वामदेव मार्ग कहा है। विहङ्गम मार्ग शीघ्र मोक्षद है, अन्य विलम्ब से मोक्षद है। इत्यादि॥ १७॥

सद्गुरु से ज्ञानादि वर्णन प्रकरण ७

शब्द ॥ १८ ॥

बुझि लीजै ब्रह्मज्ञानी ।
घूरि घूरि वर्षा वर्षायो, परिया बुन्द न पानी ॥

भो [1]ब्रह्मज्ञं गुरुं पृष्ट्वा स्वात्मतत्त्व विनिश्चिनु ।
[2]ब्रह्मचक्रे भवेन्नैव पुनश्चंक्रमणं यतः ॥ १ ॥
धिया स्वकीयया त्वं हि भ्रान्त्वा भ्रान्त्वा जगत्त्रये ।
तृप्त्यर्थं बहुधा वृष्टिं कृतवान् सुखसम्पदाम् ॥ २ ॥
कर्मादीनामनुष्ठानं सौख्याय बहुधा कृतम् ।
न लब्धः सुखलेशोऽपि दुःखराशिं च लब्धवान् ॥ ३ ॥

हे मुमुक्षु सज्जन ! ब्रह्मज्ञानी गुरुको पूछकर, अपना आत्मस्वरूप का विनिश्चय करो, कि जिससे फिर ब्रह्मचक्र (संसार) में चंक्रमण (भ्रमण) नहीं होवे ॥ १ ॥ तुमने अपनी बुद्धि से तीनों लोक में भ्रम २ कर, तृप्ति के लिये, सुख का हेतु सम्पत्तियों की वृष्टि (उपार्जनादि) बहुत प्रकार से किया है ॥ २ ॥ तुमने सुख के लिये कर्मादिका अनुष्ठान (आचरण) बहुधा किया, परन्तु उससे सुखका लेश भी नहीं पाया, और दुःखके

---

१ 'आचार्याद्धयेव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापयति' छा० ४ । ९ । ३ ॥ 'प्राप्य वरान्निबोधत'। कठ० १ । ३ । १४ ॥ 'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया'। भ० गी० ४ । ३४ ॥

२ 'सर्वाजीवे सर्वसंस्थे बृहन्ते अस्मिन् हंसो भ्राम्यते ब्रह्मचक्रे । पृथगात्मानं प्रेरितारं च मत्वा जुष्टस्ततस्तेनामृतत्वमेति' ॥ श्वे० १ । ६ ॥ 'आत्मानमीश्वरं च पृथङ् मत्वा महति जीवाश्रये प्रलयस्थाने ब्रह्मचक्रे भ्रमति, ईश्वरेणैकत्वमापन्नो मुक्तो भवति'।

चिउँटी के पगु हस्ती बांध्यो, छेरी बीगर खायो।
उदधि माँह ते निकरि छाँछरी, चौड़े गेह बनायो॥

यद्वा तटस्थभूमज्ञा ये सन्तीह नरा हितान्।
प्राह सद्गुरुरेवं यद् भवद्भिर्बुध्यतामिदम्॥ ४॥

गत्वा गत्वोपदेशोऽपि भवद्भिर्बहुधा कृते।
सदानन्दस्य लेशोऽपि न जीवहृदयेऽपतत्॥ ५॥

मनःपिपीलिकापादे वासनादौ कुकल्पिते।
त्रिगुणे ह्यात्मकरिणं बद्धवांस्त्वं गुरुं विना॥ ६॥

रक्षार्थं बुद्ध्यजायाश्च कलत्रादिवृकास्त्वया।
रक्षितो मोहतश्चात्र तेन सापि विनाशिना॥ ७॥

यद्वाऽल्पविषयस्यांशे बद्धे स्वान्तमतङ्गजे।
अजारूपा त्वियं माया खादति स्म जनान् वृकान्॥ ८॥

राशि को प्राप्त किया॥ ३॥ अथवा जो लोक यहां तटस्थ ब्रह्म के ज्ञानी हैं, उनको सद्गुरु इस प्रकार कहते हैं कि, आप लोक यह वचन समझें कि लोकों के यहां जा २ कर, आप लोकों ने बहुधा उपदेश किया, तोभी जीवों के हृदय में सच्चा आनंद का लेश भी नहीं प्राप्त हुआ॥ ४-५॥

गुरु के बिना तुमने मनरूप चींटी के पैर रूप वासनादि में वा कुत्सित कल्पित किसी त्रिगुण पदार्थ में अपनी आत्मारूप हाथी को बांधा है॥ ६॥ और मोह से तुमने अपनी बुद्धिरूप अजा (बकरी-छेरी) की रक्षा के लिये, कलत्र (स्त्री) आदि वृक (ईहामृग-हुडार) को यहां रक्षित रखा है, तिससे वह बुद्धि भी विनष्ट हुई॥ ७॥ अथवा अल्प (सूक्ष्म) विषय के अंश (भाग) में मनरूप हाथी के बँधने पर, अजा (छेरी) रूप यह माया प्राणीरूप वृक्षों को खाय लिया॥ ८॥ देवादिरूप मत्स्य मानो इस संसार समुद्र से निकल कर निर्बाध (दुःखरहित) देशों में गृहसमूह

मेढक सर्प रहै एक संगे, बिलिया श्वान बियाहीं।
निति उठि सिंह सियार से डरपे, अद्बुद कथो न जाहीं॥

संसाराम्बुनिधेश्चास्मान्निःसृत्येवामरादयः।
मत्स्या निर्बाधदेशेषु गृहसंघानकल्पयन्॥ ९॥
यद्वा मूढा मनःपादे विकल्पे वासनामुखे।
अबध्नन् करिणं जीवं भवन्तो नाऽत्र संशयः॥ १०॥
अजस्य त्वस्य रक्षार्थं कालो वै रक्षकः कृतः।
ततोऽस्य बुद्धिमत्स्योऽसौ निःसृत्यात्ममहोदधेः॥
संसारे ह्यतिविस्तारे गृहाणि निरकल्पयत्॥ ११॥
स्वर्गादावपि सर्वत्र जीवै मण्डूकसन्निभैः।
कालोऽहंकाररूपो वा सर्पो वसति वै सह॥ १२॥
अविद्या कुमतिश्चैषा मार्जारी मृत्युरूपिणम्।
शश्वज्जनयति श्वानं स चैतान् बाधते सदा॥ १३॥
अहो तथापि सिंहोऽयं मेधावी कुशलो नरः।
शिवाया भयमेत्यत्र या कुदेवादिलक्षणा॥ १४॥

बनाये हैं॥ ९॥ अथवा मूढ आपलोकोंने मन के पैर विकल्प वासनादि में जीवरूप हाथी को बाँधा इसमें संशय नहीं॥ १०॥ और अज इस जीव की रक्षा के लिये काल को रक्षक बनाया, तिसमें इसकी बुद्धिरूप वह मत्स्य भी आत्मसमुद्र से निकल कर, अत्यन्त विस्तार युक्त संसार गृहों का निर्माण किया॥ ११॥

स्वर्गादि में और सर्वत्र मण्डूक तुल्य देही जीवों के साथ ही काल वा अहंकार रूप सर्प वसता है॥ १२॥ और अविद्या कुबुद्धिरूप यह बिल्ली सदा मृत्युरूप कुत्ता को जन्माती है, सो इन जीवों को सदा पीडित करता- है॥ १३॥ आश्चर्य है कि तोभी बुद्धिमान चतुर यह मनुष्यरूप सिंह यहां शिवा (शृगाल) से भय पाता है, जो शृगाल (जम्बूक) कुदेवादि

कौने शशा मृगहिं वन घेरे, बाण पारथिहिं मेलै।
उदधि भूप ते तरुवर डाहे, मच्छ अहेरा खेलै॥

आश्चर्यं महदेतच्च ह्यनिर्वाच्यं च विद्यते।
यद्बिभेति न मुक्त्यर्थं कदाचिद्यतते नरः॥ १५॥

इन्द्रियाख्यः शशः कश्चिद् भवाटव्यां मनोमृगम्।
निरुध्य पार्थजीवस्य हृदि बाणान् प्रयच्छति॥ १६॥

एवं संशयकामादि मनोऽमार्गे निरुध्य हि।
शोकादिलक्षणान् बाणान् सर्वदाऽर्पयति क्रुधा॥ १७॥

शरीराख्यभुवः पत्यु र्जीवस्य शुभपादपान्।
संसाराम्बुनिधि र्भस्मीकरोति हरते सुखम्॥ १८॥

मत्स्याश्च देवमायाद्या आखेटं कुर्वते सदा।
सर्वथा जीवसङ्घानां सोऽपि ज्ञेयो महाधिया॥ १९॥

स्वरूप है॥ १४॥ महान आश्चर्य और अनिर्वाच्य (अकथनीय) यह है कि मनुष्य डरता है तोभी कभी मुक्ति के लिये यतन नहीं करता है॥१५॥

इन्द्रिय नामवाला कोई शशा (खरहा) संसार जंगल में मनरूप मृगको रोक कर, पार्थ (अर्जुन) रूप जीव के हृदय में कामादि बाणों का अर्पण करता है॥ १६॥ इसी प्रकार संशयादिरूप शशा मन को अवहीन मार्ग में रोककर शोकादि बाणों का सदा क्रोध से अर्पण करता है॥ १७॥ शरीर नामक भूमि का स्वामी जीव के शुभ वृक्ष ज्ञान विचारादि को संसार समुद्र ही भस्म करता हैं, सुख को नष्ट करता है॥ १८॥ देव माया आदिरूप मत्स्य जीवसंघों के सर्वथा सदा आखेट (शिकार) करते हैं, सो आखेट महाबुद्धि वाला को समझने लायक है॥ १९॥

सद्गुरु जिस तत्त्व (स्वरूप) को कहते हैं, उसका ज्ञान अत्यन्त

कहहिं कबिर यह अदबुद ज्ञाना, को यहि ज्ञानहिं मानै।
बिनु पँखिये उड़ि जाय अकाशहिं, जीवहिं मरण न जानै॥१९॥

सद्गुरुराह यत्तत्त्वं तज्ज्ञानमतिदुर्लभम्।
अपूर्वं मोक्षदं सत्यं तन्न कोप्यत्र मन्यते॥ २०॥
किन्तु पक्षं विनाऽकाशे जीवा उड्डीय यान्ति हि।
मरणं नैव पश्यन्ति सर्वथैव पुनः पुनः॥ २१॥
तत्त्वज्ञाद्‌आत्मनस्तत्त्वं यावत्सम्यङ् न बुध्यते।
तावत् क्वापि गतस्यास्य मृत्युबाधा न नश्यति॥ २२॥
हा तथापि जनाः सम्यक् कुर्वन्ति कर्म कामदम्।
गुरुं प्रसाद्य नात्मानं जानन्ति कामनाशकम्॥ २३॥
स्वर्गादिकामसत्त्वे हि कुतः शान्तिः कुतः सुखम्।
कुतो ज्ञानं कुतो ध्यानं तस्मात्कामं त्यजेद् द्रुतम्॥ २४॥१९॥

दुर्लभ, अपूर्व, मोक्षदायक, सत्य है, उसे कोई भी यहाँ नहीं मानता है॥ २०॥ किन्तु जीव सब पांख बिना ही आकाश में मनसे उड कर जाते हैं, और बार २ सर्वथा मरण को नहीं देखते हैं॥ २१॥ तत्त्वज्ञ (ज्ञानी) से जबतक आत्मा के स्वरूप को सम्यक् नहीं जानता है, तबतक कहीं गया हुआ भी इसको मृत्यु की पीड़ा नहीं नष्ट होती है॥ २२॥ खेद की बात है कि तोभी मनुष्य काम्यदायक कर्म अच्छी तरह करते हैं। गुरु को प्रसन्न करके कामनाशक आत्मा को नहीं जानते हैं॥ २३॥ स्वर्गादि की इच्छा रहते शान्ति सुख ज्ञान ध्यान किससे हो सकता है। तिससे काम शीघ्र त्यागे॥ २४॥

अक्षरार्थ—सद्गुरु का उपदेश है कि सज्जनों! ब्रह्मज्ञानी पण्डित (सद्गुरु) से रेख रूप रहित आत्मा को, उसकी प्राप्ति का मार्ग को बूझ (समझ) लो! क्योंकि बूझने विना तुमने घूर २ कर (लौट २ कर)

बार २ जन्म लेकर, सुख शान्ति के लिये बार २ कर्मादि जल की वर्षा किया है, परन्तु उससे शान्ति सुखकारक जल का एक बुन्द भी नहीं पड़ा है। अर्थात् सद्गुरु विना कर्मादि से कुछ भी सुख का उपाय नहीं मिला। और तटस्थ ब्रह्मज्ञानियों से कहना है कि हे ब्रह्मज्ञानियों! आप लोक सद्गुरु से समझ लीजै। समझने बिना आप लोक उपदेशक बनकर घूर २ (विचर २) कर उपदेश की वर्षा वर्षाया, उससे कुछ भो शान्ति नहीं हुई इत्यादि।

और सद्गुरु से समझने विना ही लोकोंने वासनायुक्त मनरूप चीटी के पादरूप विकल्प वासनादि में जीवात्मा रूप हाथी को बाँधा है। जिससे बुद्धि आदिरूप छेरी (बकरी) को कामादिरूप वीगर (वृक-हुडार) खा गये। या माया कुबुद्धिरूप छेरी जीवात्मारूप वृक को खा गई। तथा बुद्धि आदि की रक्षा के लिये, अविवेक से स्त्री आदि को रक्खा, सो उसके नाशक हुए। और संसार समुद्र के छांछरी (तुच्छ मत्स्य) देवादि, मानो इस संसार उदधि से निकल कर, चौडे (मैदान) स्वर्गादि में घर बनाये हैं। अर्थात् सद्गुरु से समझने विना विकल्प में बँधने से ही, संसारी देवादि मुक्त ईश्वरादिरूप प्रतीत होते हैं।

उक्त देवभावादि की इच्छा से चञ्चल मेढक तुल्य जीव, और कालादिरूप सर्प सदा एक स्थान में साथ रहते हैं। कामी जीव सदा जन्मते मरते हैं। क्योंकि कामादि का हेतुरूप अविद्या कुमतिरूप बिलिया (बिल्ली) मृत्युरूप श्वान (कुत्ता) को विआती (पैदा करी) है। तथा कुदेव भूत प्रेतादि से विवाह (संग) करती है। जिससे सिंह तुल्य जिज्ञासु आदि भी प्रतिदिन उठ कर, सियार तुल्य विषयी मनुष्य कुदेवादि से डरता है, सद्गुरु से समझने विना यह सब अद्भुद (आश्चर्य) होता है, सो कहा नहीं जाता।

और यह भी आश्चर्य है कि (कोई) इन्द्रियरूप शशा (खरगोस)

मनरूप मृग को संसार वन में घेर कर, पारथि (उसका रक्षक) जीव पर भी कामादि शोकादि बाण चला रहा है। अर्थात् सद्गुरु विना विषयी जीव को एक २ इन्द्रिय भी पीडित कर रहे हैं। और हे भूप (देही जीव)! संसार समुद्र के विषयादि जल ही तेरे शान्तिप्रद विचार ज्ञानादि तरुवर (श्रेष्ठ वृक्ष) को डाह (जला) रहे हैं। और देवमाया ममता आदिरूप मछली तेरा अहेर (शिकार) खेल रही है, इन सबको सद्गुरु से समझो।

साहब का कहना है कि यह ज्ञान (उपदेश) अद्बुद (आश्चर्य स्वरूप) है। विलक्षण है कि, विषय वासनादि से जन्मादि होते हैं। इससे सद्गुरु से रूपाकारादि रहित को समझो इत्यादि, परन्तु इस उपदेश ज्ञान की बात को कौन मानता है,. अर्थात् प्रायः लोक इस बात को नहीं मानते हैं। किन्तु विना पांख के ही सब आकाश (स्वर्गादि) में उड़कर जाना चाहते हैं। स्वर्गादि की इंच्छा, उसके लिये कर्मादि करते हैं और वहां के मरण को जीव सब नहीं समझते हैं। न स्वर्ग से पातजन्य विपत्ति को समझते हैं किन्तु स्वर्ग में जाने ही से अचल सुख मानते हैं। इससे मृत्यु भी अज्ञ जीवों को कुछ नहीं समझती है इत्यादि ॥ १८ ॥

प्रथम शब्द में इच्छा को संसार का हेतु कह कर, उससे रहित होने के लिये सद्गुरु से ज्ञान की प्राप्ति के लिये उपदेश दिया गया है, सो सुन कर शंका हुई कि यदि किसी प्रतिबन्धक से, ज्ञानी पण्डित से बूझने (पूछने) आदि पर भी तत्त्वज्ञान नहीं होय, तो क्या करना चाहिये, तब कहते हैं कि –

शब्द ॥ १९ ॥

ए तत्त्व राम जपहु हो प्राणी, तुम बूझहु अकथ कहानी।
जाको भाव होत हरि ऊपर, जागत रैनि बिहानी॥

डाइनि डारै श्वनहा डोरे, सिंह रहे वन घेरे।
पांच कुटुम मिलि जूझन लागे, बाजन बाजु घनेरे॥

परोक्षं विभ्रमं त्यक्त्वा प्रत्यक्षं राममव्ययम्।
जपत प्राणिनो यूयं बुध्यध्वमकथाकथाम्॥ २५॥
येषां भावो हरौ पूर्णे भवेत्ते हि निरन्तरम्।
जाग्रत्येव मदाऽभावान्नित्यदृष्टेश्च लाभतः॥ २६॥
कुबुद्धिं डाकिनीं हित्वा श्वानौ वाङ्मनसे उभे।
संयमाभ्यासरज्ज्वाद्यै बंध्नन्त्येव विरक्तितः॥ २७॥
अहङ्काराग्रहादींश्च सिंहान् योगवनादिषु।
आवृण्वते स्वयं सिंहा भूत्वा भववनं तथा॥ २८॥
कृते त्वावरणे तेषां बलवन्तः सुबुद्धयः।
कुटुम्बैरिन्द्रियैः सार्द्धं युद्धं कुर्वन्ति पञ्चभिः॥ २९॥

परोक्ष विभ्रम (मिथ्या) को त्याग कर, हे प्राणियो ! तुम प्रत्यक्ष अव्यय रामको जपो (नामद्वारा भजो) और अकथा (सत्यादिरूप से) अनिर्वाच्या) माया की कथा को समझो॥ २५॥ जिनका भाव (प्रेम) पूर्ण (व्यापक) हरि (राम) में होगा, वे लोक मद (गर्व) के अभाव से, तथा नित्यदृष्टि के लाभ से, निरन्तर (सदा) जागते ही हैं॥ २६॥ और वे लोक कुबुद्धिरूप डाकिनी (मारक शक्ति) को त्याग कर, दुष्ट वाक् मनरूप दोनों श्वान को संयम का अभ्यासादि रूप रस्सी आदि से तथा विरक्ति से बाँधते ही हैं॥ २७॥ और अहङ्कार आग्रहादि रूप सिंहों को योग वनादि में आवृत करते (घेरते) हैं। और स्वयं सिंह (समर्थ) होकर संसार वन को घेरते हैं॥ २८॥ उन अहंकारादि को आवरण (घेरा) करने पर, बली वे सुबुद्धि लोक कुटुम्ब तुल्य पांच इन्द्रियों के साथ युद्ध करते हैं॥ २९॥ संमिलित पांच ज्ञानेन्द्रियों के साथ युद्ध से और

रोवै मृगा शशा बन हांकै, बाण पारथिहिं मेलै।
सायर जरै सकल बन डाहै, मच्छ अहेरा खेलै॥

मिलितैः सह युद्धेन लाभतश्च जयश्रियः।
वाद्यालोकादिशब्दा हि श्रूयन्ते बहुधा भवे॥ ३०॥
कामाद्याः संशयाद्याश्च शान्तिशस्यविनाशकाः।
ते रुदन्ति मृगा यस्मात्तान् स्वहृत्कुहराद्धि ते॥ ३१॥
द्रावयित्वाऽत्र संसारे दहन्ति ज्ञानबाणतः।
स्वशान्ते रक्षका भूत्वा मेलयन्ति सुसायकान्॥ ३२॥
विचारयोगसंयुक्तान् यैश्चायं भववारिधिः।
शुष्यत्येव समूलं वै दह्यते भुवनं वनम्॥ ३३॥
प्रमाता च प्रमाणादि किञ्चिन्नैवावशिष्यते।
मायामोहादिमत्स्यस्य मृगयां कुर्वते हि ते॥ ३४॥

जय लक्ष्मी का लाभ से, संसार में बहुत प्रकार के बाजा और आलोक (जय) आदि शब्द सुने जाते हैं॥ ३०॥

शान्ति शस्य (खेती) के विनाशक जो कामादि संशयादि रूप मृग हैं, सो सब रोते हैं, जिससे वे विवेकी लोक उन्हें अपना हृदयरूप कुहर (विवर) से इस संसार में भगाकर, ज्ञानबाण से उन्हें जलाते हैं, और अपनी शान्ति का रक्षक होकर, विचार योग संयुक्त सुन्दर बाणों का उनके ऊपर मेलन (प्रहार) करते हैं, कि जिन बाणों से यह संसार मूल सहित अवश्य सूखता है, और भुवन (जल भूमि) वनं (कानन) दग्ध होता है॥ ३१-३३॥ प्रमाता और प्रमाणादि कुछ भी संसार बाकी नहीं रहता है, माया मोहादि मत्स्य का भी वे लोक मृगया (शिकार) करते हैं॥ ३४॥ मनोरथ विलीन हो जाते हैं, काल की वागुरा (जालविशेष)

कहहिं कबीर सुनहु हो सन्तो, जो यह पद निरुआरे।
जो यह पद को गाय विचारै, आपु तरै औ तारै ॥ १९ ॥

मनोरथा विलीयन्ते दह्यन्ते कालवागुराः।
ये पूर्वं मत्स्यतुल्यास्ते बाधन्ते ह्यखिलं जगत् ॥ ३५ ॥
"शास्त्रसत्सङ्गमाभ्यासात्सविवेको जितेन्द्रियः।
अत्यन्ताभावमेतस्य दृश्यस्याऽप्यवगच्छति" ॥ ३६ ॥
अपरोक्षात्मतत्त्वस्योपदेशात्मपदस्य च।
विवेकं कुरुते यो हि विचारं तनुते तथा ॥ ३७ ॥
प्रगाय चिन्तयन् सो वै ज्ञानी भूत्वा भवार्णवम्।
स्वयं तरति तद्वत्स जनांस्तारयते सदा ॥ ३८ ॥
सम्यग्विचारिणं प्राज्ञं यथाभूतावलोकिनम्।
आसादयन्त्यपि स्फारा नाविद्याविभवा भृशम् ॥ ३९ ॥

दग्ध हो जाती हैं, जो अज्ञान दशामें मत्स्य तुल्य रहते हैं, सो ज्ञानदशा में सब जगत को बाधते (मिथ्या समझते) हैं ॥ ३५ ॥ योगवासिष्ठ प्र० ४। ४। २। का वचन है कि, शास्त्र सत्सङ्ग का अभ्यास से विवेकी जितेन्द्रिय पुरुष इस दृश्य संसार का अत्यन्ताभाव को भी समझता प्राप्त करता है ॥ ३६ ॥

अपरोक्ष आत्मस्वरूप का और उपदेशरूप पद का जो विवेक करता है, तथा विचार फैलाता है। सो अच्छी तरह गाकर चिन्तन करता हुआ पुरुष ज्ञानी होकर भवसागर को स्वयं तरता है, तैसेही सज्जनों को सदा तारता हैं ॥ ३७-३८ ॥ योगवासिष्ठ प्र० ५। ९३। ४। का वचन है कि, सम्यग् विचार करनेवाला, यथार्थ को जाननेवाला ज्ञानी को स्फार (हिरण्यगर्भ लोक तक विस्तृत) भी अविद्या के कार्यरूप विभव भी आसादन (लोभितादि) नहीं करते हैं ॥ ३९ ॥ हे साधो ! यह उपदेश

इति मत्वा त्वया साधो श्रवणादि विधीयताम्।
क्रियतां च सदा युद्धमिन्द्रियाणां गणेन हि ॥ ४० ॥
इन्द्रियग्रामसंग्रामसेतुना भवसागरः।
तीर्यते नेतरेणेह केनचिन्नाम कर्मणा ॥ ४१ ॥ १९ ॥

मानकर तुम श्रवणादि करो, और इन्द्रियों के गण (समूह) के साथ सदा युद्ध करो ॥ ४० ॥ क्योंकि योगवासिष्ठ प्र० ४ । ४ । १ का वचन है कि, इन्द्रिय समूह के साथ युद्धरूप सेतु (पुल) से ही संसार सागर तरा जाता है । इसके विना अन्य किसी कर्म से नहीं तरा जाता है ॥ ४१ ॥

अक्षरार्थ– हे प्राणी ! परोक्ष लोकादि की आशा आदि को त्याग कर, ब्रह्मज्ञानी से बूझकर ये तत्व (अपरोक्षात्मस्वरूप) राम को जपो (नाम पूर्वक भजो), श्रवण पूर्वक मननादि करो । और अज्ञों से अकथ, वाणी की शक्ति वृत्ति का अविषय राम की कहानी (कथा) को समझो, तथा अकथ (अनिर्वचनीय) माया की कथा को समझो, इससे सर्वात्मा हरि में भाव (प्रेम) होगा, अनात्मप्रेम नष्ट होगा, ज्ञान के प्रतिबन्धक नष्ट होंगे । फिर ज्ञान होगा; क्योंकि जाको (जिसको) हरि के ऊपर (हरि में) स्थिर भाव (भक्ति प्रेम) होता है, विचारादि में मन लगता है; सो रैनि विहान (रातदिन) सदा जागता है । मोहनिद्रा से रहित ज्ञानी होता है । और कुबुद्धिरूप (हिंसा द्रोहादि) का हेतु डाइनि (डाकिनी) को डारता (त्यागता) है । कुवाक और दुष्ट मनरूप श्वनहा (कुत्ते) को सत्यसंयमादि डोरी (रस्सी) से बाँधता है । और अहंकार क्रोध कालादि सिंहों को संसार बन में घेरे रहता है, अर्थात् ज्ञानयोग बल से इन्हें आत्मा में नहीं समझता है, इन से पर शुद्ध आत्मा को जानता है, और सिंह (समर्थ) होकर सब संसार को घेरे रहता है, संसार के वश में नहीं होता । इससे पांच कुटुम्ब (ज्ञानेन्द्रियों) से एक बार मिलकर युद्ध करने लगता है । क्योंकि दुर्बुद्धि आदि को त्यागने विना एक इन्द्रिय

से भी युद्ध नहीं कर सकता, परन्तु उन्हें त्यागने पर, पांचों से युद्ध करके उनका विजय करता है। और इन्द्रिय प्राणादि स्वयं भी परस्पर युद्ध करके नष्ट हो जाते हैं। विवेकी को कुछ करना नहीं होता, विषयों में घृणा से इन्द्रियां स्वयं बहिर्मुखता को त्यागती हैं। तब प्राण भी अपने वेग को स्वयं त्यागता है इत्यादि। इस प्रकार इन्द्रियादि के विजय से उत्सव के घनेरे बाजा (अनहद नाद) बजते हैं। लोक में यश होता है इत्यादि।

ज्ञानेन्द्रिय को जीतने पर कामादि प्राण कर्मेन्द्रियादि रूप मृग रोते हैं, इनका कुछ वश नहीं चलता है। और अज्ञान संशयादि रूप शशा को विवेकी पुरुष संसार वन में हांक (खदेड–भगा) देता है, इन्हें संसाररूप संसार का कारण समझता है, इससे आत्मा में इन्हें नहीं रहने देता है। और इससे वह पारथि (आत्मादि के रक्षक) इन मृग शशाओं के ऊपर ज्ञानबाण मेलता (डारता) है, कि जिससे सब नष्ट हो जाते हैं। और उसी बाण से सायर (संसार समुद्र) जल जाता है। और भुवनादि रूप वन सब दग्ध हो जाते हैं। अर्थात् प्रमाता प्रमाण प्रमेय, कर्ता करण कर्म, भोक्ता भोग भोग्य, में मिथ्यात्व निश्चय से कामादि का सर्वथा अभाव होता है। फिर ममता मायारूप मछली का अहेर (शिकार) खेलता है। तथा प्रथम मत्स्य तुल्य कामादि शिकार का भी जीव विवेक होने पर शिकारी होता है। मनोरथादि को नष्ट करके, मोक्षमत्स्य की प्राप्ति करता है इत्यादि।

हे सन्तो! सुनो (ज्ञानी से श्रवणादि करो), क्योंकि जो कोई यह (इस) अपरोक्ष आत्मपद (वस्तु) को निरुआरता (विवेक श्रवणादि पूर्वक जानता) है, और जो कोई इस पद (उपदेश) को गाय कर विचारेगा, तथा कुबुद्धि आदि को त्याग कर आत्मानुभव करेगा, सो आप भी तरेगा (मुक्त होगा) और अन्य को भी उपदेशादि से तारेगा। इससे अवश्य श्रवणादि करो ॥ १९ ॥

शब्द ॥ २० ॥

सन्तो घर महँ झगरा भारी ।
राति दिवस मिलि उठि उठि लागे, पांच ढोटा एक नारी ॥
न्यारो न्यारो भोजन चाहै, पांचो अधिक सवादी ।
कोइ काहु को हटा न मानै, आपुहिं आपु मुरादी ॥

अस्मिन् देहगृहे साधो ! विग्रहो विद्यते महान् ।
सर्वदा कलहायन्ते पञ्चेन्द्रियकुमारकाः ॥ ४२ ॥
दुर्बुद्धिर्महिला तेषामीश्वरी सहकारिणी ।
तेषां कर्मेन्द्रियाण्यत्र वशे तिष्ठन्ति सर्वदा ॥ ४३ ॥
दिवा रात्रौ सदा बाला युद्ध्यमानाः परस्परम् ।
स्वं स्वं भोग्यं समीहन्ते जीवं संपीडयन्ति च ॥ ४४ ॥
भिन्नं भिन्नं प्रवाञ्छन्ति स्वं स्वं वै विषयं सदा ।
अधिकस्पृहयालूनि न तृप्यन्तीन्द्रियाणि तैः ॥ ४५ ॥

हे साधो ! इस देहरूप घर में महान् विग्रह (कलह) है । पांच इन्द्रिय कुमारक (बालक) सदा कलह करते हैं ॥ ४२ ॥ कुबुद्धिरूप महिला (स्त्री) उन सबके ईश्वरी (ईश्वर की स्त्री) सहकारिणी (सहायता देनेवाली) है, और तिन सबके वशमें ही यहां सदा कर्मेन्द्रियाँ भी रहती हैं ॥ ४३ ॥ दिन रात सदा वे बालक परस्पर युद्ध करते हुए, अपना २ भोग्य (विषय) चाहते हैं, और जीवको पीडित करते हैं ॥ ४४ ॥ अपने २ विषय को सदा भिन्न २ खूब चाहते हैं । अधिक की ही इच्छावाली इन्द्रियाँ होती हैं, उन विषयों से तृप्त नहीं होती हैं ॥ ४५ ॥ मैं श्रेयः (श्रेष्ठ) हूं, इस प्रकार सब इन्द्रियां मानती हैं, तिससे किसीका भी कुछ

दुर्मति केर दोहागिनि मेटै, ढोटहिं चांप चपेरै।
कहहिं कबिर सोई जन मेरा, घर की रारि निवेरै ॥ २० ॥

[१]श्रेयोऽहमिति सर्वं तु मन्यते चेन्द्रियं ततः।
किञ्चित्कस्यापि सद्वाक्यं न शृणोति कदाचन ॥ ४६ ॥
स्वप्रभुत्वस्य ढक्कां तु वादयन्तीन्द्रियाणि हि।
दुर्मत्या सार्द्धमेतानि शृण्वन्ति न सुभाषितम् ॥ ४७ ॥
सुदुर्मत्याः प्रभुत्वं यो नाशयेत् स्वप्रयत्नतः।
इन्द्रियात्मकडिम्भांस्तु गृह्णीयादभिभूय तान् ॥ ४८ ॥
इत्थं कृत्वा गृहस्यास्य कलहं यो निवारयेत्।
सद्गुरुः कथयत्येनं स्वजनं स्वप्रियं हितम् ॥ ४९ ॥
सीमान्तं सर्वदुःखानामापदां कोशमुत्तमम्।
बीजं संसारवृक्षाणां प्रज्ञामान्द्यं विनाशयेत् ॥ ५० ॥

सद्वचन कभी नहीं सुनती हैं ॥ ४६ ॥ दुर्मति के साथ ये सब इन्द्रियाँ अपने २ प्रभुत्व (स्वामित्व) की ढक्का (यश विजय के ढोल) बजवाती हैं, और सुभाषित (सुवचन) नहीं सुनती हैं ॥ ४७ ॥

जो अपने प्रयत्न से दुर्मति के प्रभुत्व को नष्ट करे, और इन्द्रियरूप डिम्भ (शिशु) को दबा कर ग्रहण करे ॥ ४८ ॥ इस प्रकार करके जो इस घर के कलह का निवारण करे, सद्गुरु इसीको स्वजन स्वप्रिय और हित कहते हैं ॥ ४९ ॥ योगवासिष्ठ प्र० ५ । १२ । २७ का वचन है कि, सब दुःखों के अन्तिम सीमारूप, आपत्तियों के भारी खजानारूप,

१. 'अथ हे प्राणा अहं श्रेयसि व्यूदिरे, अहं श्रेयानस्म्यहं श्रेयानस्मीति'। छा० ५ । १ । ६ ॥ 'जिह्वैकतोऽमुपकर्षति कर्हि तर्षा, शिश्नोऽन्यतरत्त्वगुदरं श्रवणं कुतश्चित्, घ्राणोऽन्यतश्चपलदृक् क्व च कर्मशक्तिर्बह्व्यः सपत्न्य इव गेहपतिं लुनन्ति' ॥ श्रीमद्भा० स्क० ११ । ९ । २७ ॥

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छत्यसंशयम्।
सन्नियम्य तु तान्येव सम्यक्सिद्धिं नियच्छति ॥ ५१ ॥
"यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता" ॥ ५२ ॥
बुधादत्र सम्यक् सुमार्गं विदित्वा,
विदित्वा स्वकं रूपमध्यक्षमच्छम्।
भजस्वाशु तं चेन्द्रियादीन्नयस्व,
वशं सद्गुरोः पादप भजस्व ॥ ५३ ॥ २० ॥

इति ह० शब्दसुधायां सद्गुरोर्ज्ञानप्राप्तीन्द्रियजयादिवर्णनं
नाम सप्तमस्तरङ्गः ॥ ७ ॥

संसारवृक्ष के बीजरूप, बुद्धि की मन्दता का नाश करे ॥ ५० ॥ मनुस्मृति अ० २ । ९३ का वचन है कि, इन्द्रियों के विषय में प्रसङ्ग (आसक्ति) से पुरुष अवश्य दोष का भागी होता है। और उनका सम्यक् संयम करके सिद्धि पाता है ॥ ५१ ॥ भगवद्गीता अ० २ । ५८ का वचन है कि, जो प्राणी जब कच्छप का अङ्ग के समान सब इन्द्रियों को विषयों से समेटता है। तब उसकी प्रज्ञा (बुद्धि) स्थिर होती है ॥ ५२ ॥ यहां पण्डित से अच्छी तरह सुमार्ग को जानकर, और अध्यक्ष (प्रत्यक्ष) अच्छा (निर्मल) अपने स्वरूप को जानकर, उसे भजो, इन्द्रियादि को वश में करो, और सद्गुरु के पदकमल को भजो ॥ ५३ ॥

अक्षरार्थ—हे सन्तो ! अपने घर (देह) में भारी झगड़ा है। क्योंकि एक दुर्मति (दुर्बुद्धि) रूप नारी (स्त्री) और पांच ज्ञानेन्द्रियरूप ढोटा (बालक) रातदिन उठ २ कर, परस्पर मिल कर विषयों के लिये झगड़ने लगते हैं। तथा सब मिल कर जीव से झगड़ते हैं। सब इन्द्रिय न्यारा २ भोजन (विषय) चाहते हैं, पांचों अत्यन्त स्वादी (स्वाद परायण) हैं।

और इनमें कोई किसीका हटा (निरोध-रौब हुकुम) नहीं मानता है। किन्तु सब अपना २ ही मुरादी (स्वतन्त्रता विजय का ढोल) बजाता है। यही जीव के दुःख का कारण है।

साहब का कहना है कि जो जीव दुर्मति के दोहागिनि (दोहाई-स्वतन्त्रता-प्रभुत्व) को मेटता है, उसकी दुष्टता को नष्ट करता है। ढोटा (इन्द्रियों) को चांप चपेरा करता है। शम दमादि से इन्हें दबा कर वश में करता है। और इस प्रकार जो घर की रारि (झगड़ा-कलह) का निबेरा (निवारण) करता है। वही पुरुष मेरा जन (हरि गुरु भक्त ज्ञानाधिकारी) है, पुरुषार्थी पुरुष है। उससे अन्य कृपण संसारी हैं ॥२०॥

अधिकार परीक्षा प्रकरण ८

प्रथम इन्द्रिय निग्रहादि के लिये उपदेश दिया गया है। परन्तु यह भी सब मनुष्य से कहने लायक बात नहीं है, इत्यादि आशय से कहते हैं कि-

शब्द ॥ २१ ॥

सन्तो बोले ते जग मारै।
अनबोले ते कैसे बनि हैं, शब्दहिं कोइ न विचारै ॥

योन मेऽस्ति जनः साधो ! तस्मै तत्त्वं न कथ्यताम्।
सत्तत्त्वकथने चायं वक्तारं ताडयेदपि ॥ १ ॥

हे साधो ! जो प्राणी मेरा (गुरु का) जन (भक्त) नहीं है, उसके लिये तत्त्व (परमात्म स्वरूप) का कथन नहीं करो। क्योंकि सत्तत्त्व के

" गुरुरात्मवतां शास्ता शास्ता राजा दुरात्मनाम् ।
अथ प्रच्छन्नपापानां शास्ता वैवस्वतो यमः ॥ २ ॥

अधर्मेण च यः प्राह यश्चाधर्मेण पृच्छति ।
तयोरन्यतरः प्रैति विद्वेषं वाऽधिगच्छति " ॥ ३ ॥

आदौ शमदमप्रायैर्नरं विज्ञो विशोधयेत् ।
ततस्तत्त्वं प्रभाषेत येनोक्तिः फलिता भवेत् ॥ ४ ॥

विद्वदुक्तिं विना नैव सिद्ध्यत्यत्र प्रयोजनम् ।
अतोऽवश्यं च वक्तव्यं यथायोग्यं जनान् प्रति ॥ ५ ॥

विज्ञोक्तिमन्तरं नैव कोऽपि शब्दविचारणाम् ।
कुरुते तां विना चाऽयं विपरीतं तु मन्यते ॥ ६ ॥

कहने पर वह वक्ता को मारेगा भी ॥ १ ॥ वसिष्ठ स्मृ० अ० २० । ३ का वचन है कि, आत्मवान् (श्रद्धालु) का शास्ता (उपदेशक) गुरु हैं, दुरात्मा का शास्ता राजा है । छिपकर पाप करनेवालों का शास्ता (शासन कर्ता) सूर्य के पुत्र यमराज हैं ॥ २ ॥ मनुस्मृति अ० २ । १११ का वचन है कि, जो अधर्म से कहता है, वा पूछता है, उन दोनों में से एक मरता है, वा वैर द्वेष को प्राप्त होता है ॥ ३ ॥ विज्ञ पुरुष आदि में (प्रथम) शम दम आदिरूप प्रायः (बहुत) साधनों से श्रद्धालु मनुष्य को विशुद्ध करे, तब तत्त्व का कथन करे, कि जिससे उक्ति (उपदेश) फलित (सफल) होय ॥ ४ ॥ संसार में विद्वान् के उपदेश विना प्रयोजन (फल) नहीं सिद्ध होता है, इससे जनों के प्रति यथायोग्य अवश्य कहना चाहिये ॥ ५ ॥ विज्ञ की उक्ति विना कोई भी शब्द का विचार नहीं करता है । और उस विचार के विना यह विपरीत (उलटा) मानता है ॥ ६ ॥

पहिले जन्म पुत्र के भयऊ, बाप जनमिया पाछे।
बाप पूत की एकै माया, ई अचरज को काछे॥

आदौ जातो जगत्पुत्र ईश्वरस्तत्र जायते।
पश्चादस्य पिता लोको विरुद्धमिति मन्यते॥ ७॥

[१]अजन्मानं न जानाति विचारेण विना ततः।
जनिमन्तं पतिं बुद्ध्वा मुधा मोहेन मोहते॥ ८॥

मायामत्युभयस्याऽप्येकामेव तु पश्यति।
सत्त्वाऽसत्त्वविभेदेन भेदं तत्र न पश्यति॥ ९॥

इत्याश्चर्यमयं लोको विचारादि विना सदा।
मन्यते कश्च विज्ञस्तं बोद्धुं स्वीकर्तुमर्हति॥ १०॥

यद्वा पूर्वं जगत् पुत्रः पिता पश्चाद्बभूव ह।
अभिव्यक्तो विशेषश्च समर्थः सर्वशोधने॥ ११॥

जगत्रूप पुत्र प्रथम जन्मा, पीछे इसका पिता ईश्वर इस संसार में जन्मता है, लोक इस विरुद्ध अर्थ को मानता है॥ ७॥ विचार विना अजन्मा (जन्म रहित) को नहीं जानता है, तिससे जन्मवाला को पति (ईश्वर) मान कर, मोह से मुधा (वृथा) आनन्द होता है॥ ८॥ और विचार विना यह लोक (जन) उभय (पितापुत्र) की माया (शक्ति-बुद्धि) को भी एक ही देखता है। सत्त्व (शुद्ध सद्गुण) और उसके अभाव के विभेद से उस माया में भेद को नहीं देखता है॥ ९॥ इस आश्चर्य को यह लोक विचारादि विना सदा मानता है। और कौन ज्ञानी उस अर्थ को समझने वा स्वीकार करने के लिये योग्य है॥ १०॥ अथवा

१ 'न जायते म्रियते वा विपश्चित्'। कठ० १। २। १८॥ 'जनिमज्ज्ञानविज्ञेयं स्वप्नज्ञानवदिष्यते'। उपदेशसाहस्री० ९। ७॥

दुन्दुर राजा टीका बैठे, विषहर करै खवासी।
श्वान बापुरा धरिन ढाकनो, बिल्ली घर में दासी॥

तयोर्माया हि नार्येका तयाऽऽश्चर्यमिदं तु सः।
करोति विविधं वेषं धृत्वा कस्तं च बुध्यते॥ १२॥

विचारादि विना चाज्ञो जिज्ञासादिविवर्जितः।
अहङ्कारेण विज्ञस्य वेषं धृत्वाऽत्र तिष्ठति॥ १३॥

दर्दुरेण समस्यास्य तुच्छस्य सर्पसन्निभः।
समर्थो मोहतो दासोऽभवत् सौख्यादिवाञ्छया॥ १४॥

अहङ्कारप्लवस्यैष यद्वेन्द्रियगणः सदा।
विषयाऽऽहारिभृत्योऽभूद् यावत्स नहि जीयते॥ १५॥

मनो मनोवशे यश्च विद्यते श्वसमं हि तत्।
अन्तर्धारयते सर्वान् दोषान् संच्छाद्य यत्नतः॥ १६॥

प्रथम जगतरूप पुत्र हुआ, पीछे पिता (ईश्वर) अभिव्यक्त, विशेष स्वरूप, सब का शोधन (विचारादि) में समर्थ हुआ॥ ११॥ उस पिता पुत्र की मायारूप नारी एक ही है, और उसीसे वह विविध वेष धर कर, इस आश्चर्यरूप कार्य को करता है, उसको समझता कौन है॥ १२॥

ज्ञान की इच्छा आदि से भी रहित अज्ञ, विचारादि विना, अहंकार से ज्ञानी का वेष धर के संसार में रहता है॥ १३॥ दादुर तुल्य इस तुच्छ (अज्ञ) का सर्प तुल्य समर्थ जिज्ञासु सुखादि की इच्छा से मोह से दास हुआ है॥ १४॥ अथवा अहंकार रूप प्लव (मण्डूक) के यह इन्द्रियों का समूह सदा विषयों को प्राप्त करानेवाला भृत्य (दास) हुआ है, कि जबतक वह नहीं जीता जाता है॥ १५॥ मन और जो मन के वश में हैं, सो सब दोषों को यत्न से ढांप कर अन्तर में धारण करता है॥ १६॥

काग दुकाग कारकुन आगे, बैल करै पटवारी ।
कहहिं कबीर सुनहु हो सन्तो, भैंसे न्याय निवारी ॥ २१ ॥

आशादुर्बुद्धितृष्णाद्या दास्यो मार्जारिका गृहे ।
धरन्ति बहु दोषांस्ता अनर्थाय न मुक्तये ॥ १७ ॥
कामक्रोधादयो हिंसावाममार्गरता जनाः ।
लघुकाका महाकाका जाता कार्यसुसाधकाः ॥ १८ ॥
अविवेकयथवा मोहो लेखकोऽभूदनुत्तमः ।
क्रोधनो महिषो न्यायकर्ता लोकैरमन्यत ॥ १९ ॥
विचारेण विना नित्यमुपदेशं विना सताम् ।
इदं जातं महाश्चर्यं साधो ! श्रुत्वाऽवधार्यताम् ॥ २० ॥
इत्येवं सद्गुरुर्वाक्यं कबीरो हितसिद्धये ।
उवाच तेन भोः साधो ! विचारं कुरु कारय ॥ २१ ॥

आशा आदि गृह (देह) में मार्जारी (बिल्ली) रूप दासी हैं, सो सब अनर्थ के लिये बहुत दोषों को धारण करती हैं, मुक्ति के लिये नहीं ॥१७॥

छोटा काक और बड़ा काकरूप जो काम क्रोधादि वा हिंसा वाममार्ग के प्रेमी मनुष्य हैं, वे ही उक्त राजा के कार्यों के सुन्दर साधक हुए हैं ॥ १८ ॥ अविवेकी बैल तुल्य मनुष्य वा मोह श्रेष्ठ लेखक (पटवारी) हुआ है, क्रोधीरूप महिष (भैंसा) लोकों से न्याय कर्ता माना गया है ॥ १९ ॥ हे साधो ! सतपुरुषों के उपदेश विना तथा विचार विना, यह महा आश्चर्य नित्य जात (सिद्ध) है, इसे सुन कर निश्चय करो ॥ २० ॥ इस पूर्व रीति से सद्गुरु कबीर साहब ने हित की सिद्धि के लिये वचन कहा है, हे साधो ! उस वचन से विचार करो, करावो ॥ २१ ॥ योगवासिष्ठ प्र० ५ । ९३ । १-२ का वचन है कि, मनाग (थोड़ा) भी विचार से थोड़ा भी जिसने अपने मन का निग्रह (निरोध) किया, उसने

" मनागपि विचारेण चेतसः स्वस्य निग्रहः ।
मनागपि कृतो येन तेनाप्तं जन्मनः फलम् " ॥ २२ ॥
विचारकणिका यैषा हृदि स्फुरति पेलवा ।
एषैवाऽभ्यासयोगेन प्रयाति शतशाखताम् ॥ २३ ॥ २१ ॥

जन्म का फल पाया ॥ २२ ॥ विचार की कणिका (सूक्ष्मांश) पेलव (विरल) यदि यह प्रथम हृदय में होती है, तो वही अभ्यास योग से सैंकडों शाखा (विस्तार) युक्त हो जाती है ॥ २३ ॥

अक्षरार्थ —हे सन्तो ! अनधिकारियों के प्रति वर्णित सत्य बात भी बोले ते (कहने से) वे जगत् के प्राणी मारते हैं । इस से आग्रही अत्यन्त अविवेकी अश्रद्धालु के प्रति, यह उपदेश नहीं कहना चाहिये । और अधिकारियों के प्रति अनबोले ते (नहीं बोलने से) उनका कार्य कैसे बनेगा (सिद्ध होगा); क्योंकि बोलने विना शब्दों का कोई भी विचार नहीं करता है, न कर सकता है । और शब्द के विचारादि विना पूर्ण विवेकादि नहीं होते हैं, इससे अधिकारियों के प्रति अवश्य बोलना चाहिये कि जिससे उनका कार्य सिद्ध होय ।

गुरु के उपदेशादि विना बहुत अधिकारी भी समझते हैं कि संसारी जीवरूप पुत्र का पहले जन्म हुआ, और पीछे (उसके बाद) बाप (जगत् पिता तटस्थ ईश्वर) का जन्म हुआ । अजन्मा कोई ईश्वर नहीं है । वस्तुतः सर्वात्मा ईश्वर अजन्मा है, माया से उसकी अभिव्यक्ति मात्र पीछे होती है, इस तत्त्व को भी कोई उपदेश विना नहीं समझता है । और बाप पूत (ईश्वर जीव) की माया (शक्ति-बुद्धि-अविद्या) को भी लोक एक समझते हैं, तुल्य मानते हैं । परन्तु इस आश्चर्य को कौन विवेकी काछे (स्वीकार धारण) करे । यद्यपि प्रकृतिरूप माया एक है, परन्तु अवस्था भेद से जीव ईश्वर में भिन्न हो जाती है, इस आश्चर्य को उपदेशादि विना कोई समझ नहीं सकता है ।

शब्द के विचारादि विना दुन्दुर (मेंढकवा, उन्दुरु-मूषिक) तुल्य तुच्छ मनुष्य राजा (ज्ञानी) की टीका (तिलक-वेष) लेकर बैठता है, वा अहंकार राजा बन बैठा है। और विषहर (सर्पतुल्य) जिज्ञासु उसकी खवासी (सेवा) करता है। वा विषयों को हरनेवाली इन्द्रियां अहंकार की सेवा करती हैं। और विवेकादि रहित बापुरा (बावरा) श्वान (कुत्ता) तुल्य मन वा मन के वशवर्ती जीव, ढाकन (भीतर) विषय वासनादि को धारण किये हैं। कुकर्म करके भी छिपाये हैं, और दुर्मति आशा तृष्णादि बिल्ली देहरूप घर में दासी हुई हैं।

काग डुकाग (छोटे बड़े कौवा) तुल्य हिंसक वाममार्गी आदि, वा काम क्रोधादि कारकुन (कार्यकर्ता) आगे (अग्रगामी गुरु) हुए हैं और बैल तुल्य अविवेकी जड लोक वा मोह पटवारी (लेखक) हुए हैं और भैंसा के समान तमोगुणी क्रोधी न्याय (धर्म मर्यादा) का निरुआ (विचारादि) करते हैं, या न्याय करते हैं, या न्याय का निवारण (नाश) करते हैं। सदुपदेश विचारादि विना यह दुर्दशा है। इससे स्वयं श्रवण पूर्वक अधिकारियों को उपदेश दो इत्यादि ॥ २१ ॥

प्रथम शब्द में कहा गया है कि अनधिकारियों के प्रति सत्य बात कहने से भी वे लोक मारते हैं, इत्यादि। उसी अर्थ को इस शब्द में स्पष्ट करते हैं कि-

शब्द ॥ २२ ॥

सन्तो देखत जग बौराना।
सांच कहौं तो मारन धावै, झूठहिं जग पतियाना ॥

विचारेण विना साधो ! मोहमद्यस्य पानतः।
उन्मत्तं दृश्यते सर्वं जगत् पश्यतु तद्भवान् ॥ २४ ॥

हे साधो ! विचार विना मोह (अविद्या) रूप मद्य के पीने से सर्व जगत् (प्राणी) उन्मत्त दिखता है। उसे आप देखो ॥ २४ ॥

नेमी देखा धर्मी देखा, प्रात करहिं असनाना।
आतम मारि पषाणहिं पूजै, इन महँ कछू न ज्ञाना॥
बहुतक देखा पीर औलिया, पढहिं कितेब कुराना।
कै मुरीद तदबीर बतावैं, इन महँ ऊहे ज्ञाना॥

अहिंसादेः सुधर्मस्य सत्यस्योक्तावतो नराः।
ताडनायैव धावन्ति वितथे विश्वसन्ति च॥ २५॥
दृष्टा नियमवन्तोऽपि ये धर्मध्वजिनो नराः।
प्रातरुत्थाय ते स्नान्ति मन्यन्तेऽतिशुभं ततः॥ २६॥
तेऽपि मोहेन हत्वा चेत् प्राणिनं जीवितैषिणम्।
पूजयन्ति शिलामूर्तिं ज्ञानं तर्हि न किञ्चन॥ २७॥
गुरवो यवनानां ये दृष्टा ये साधवो मताः।
अध्येतारः कुराणस्य ग्रन्थानां सम्यगेव च॥ २८॥

उन्मत्तता से, मनुष्य, अहिंसा आदि सुन्दर धर्म के और सत्य के कहने पर मारने ही के लिये दौड़ता है, वितथ (झूठ) में विश्वास करता है॥ २५॥ और व्रत स्नान जपादिरूप नियमवाले, और धर्मध्वजी (लिङ्ग वृत्ति) वेष से जीविकावाले पाखण्डी जो मनुष्य हैं, सो देखे गये हैं कि, वे प्रातः (प्रभात) काल में ऊठ कर स्नान करते हैं, और तिसी से अतिशुभ (कल्याण) मानते हैं॥ २६॥ वे भी यदि मोह से जीने की इच्छावाले प्राणी को मारकर, पत्थर की मूर्ति की पूजा करते हैं, तो उनमें कुछ भी ज्ञान नहीं हैं॥ २७॥

कुराण और अन्य ग्रन्थ (किताबों) को पढनेवाले जो यवनों के गुरु (पीर) हैं, और जो साधु (औलिया) माने गये हैं, देखे गये हैं॥२८॥ वे भी शिष्य (मुरीद) बनाकर तैसा ही उपाय दिखाते (बताते) हैं कि

आसन मारि डिम्भ धरि बैठे, मनमहँ बहुत गुमाना।
पीतर पाथर पूजन लागे, तीरथ गर्व भुलाना॥
माला पेन्हे टोपी पेन्हे, छाप तिलक अनुमाना।
साखी शब्दे गावत भूले, आतम खबर न जाना॥

शिष्यान् विधाय ते तादृगुणायान् दर्शयन्ति वै।
यतस्तेषामपि ज्ञानं विरुद्धं प्रतिभाति हि॥ २९॥
विधाय विविधां हिंसां कारयन्ति विगर्हितम्।
जडाऽऽसक्ताश्च दृश्यन्ते ह्येतेऽपि कुविचारिणः॥ ३०॥
विधाय त्वासनं मूढा दम्भं धृत्वा सदासते।
वर्तते च महागर्वो हृदि तेषां सदैव हि॥ ३१॥
रीतिपाषाणयोर्मूर्तेः पूजायां ये रता नराः।
तीर्थाटनादिगर्वेण भ्रान्ता भ्राम्यन्ति ते सदा॥ ३२॥
केचिन्मालां तथोष्णीषं टोपिकेति सुनामकम्।
अर्पयन्ति गले मूर्ध्नि मुद्रां कुर्वन्ति चित्रकम्॥ ३३॥

जिससे उनका भी ज्ञान विरुद्ध ही प्रतीत होता है॥ २९॥ ये कुविचारी भी विविध हिंसा करके विगर्हित (अतिकुत्सित) कर्म कराते हैं। और जड में आसक्त दिखते हैं॥ ३०॥ और मूढ लोक आसन करके दम्भ को धारण करके सदा बैठते हैं, और उनके हृदय में सदा ही महागर्व रहता है॥ ३१॥ जो मनुष्य रीति (पित्तल) पाषाण की मूर्ति की पूजा में रत हैं, वे भी तीर्थाटनादि के गर्व से भ्रान्त (भ्रमयुक्त) होकर सदा भ्रमते हैं॥ ३२॥

कोई माला तथा टोपिका इस सुन्दर नामवाला उष्णीष (शिरोवेष्टन) गल (कण्ठ) और शिर में अर्पण करते हैं। और मुद्रा (छाप) चित्रक (तिलक) करते हैं॥ ३३॥ इस प्रकार सब करके तथा मन से बहुत

हिन्दु कहै मोहि राम पियारा, तुरुक कहै रहिमाना।
आपुस में दोउ लरि लरि मूये, मर्म काहु नहिं जाना॥
घर घर मन्त्र जो देत फिरत हैं, महिमा के अभिमाना।
गुरु सहित शिष्य सब बूड़े, अन्त काल पछताना॥

कृत्वा सर्वं विकल्प्यैवं मनसा बहुधा तथा।
प्रमाणायात्र गायन्ति शब्दांश्च साक्षिणं मुधा॥ ३४॥

गायन्तो नैव जानन्ति सर्वात्मानमजं हरिम्।
जातं जातं विपश्यन्ति भ्राम्यन्ति तेन तेन च॥ ३५॥

भ्रमेणैव पृथङ्‌ मत्वा स्वात्मानमीश्वरं तथा।
वदन्त्यार्या प्रियं रामं यवना रहिमाणकम्॥
मिथो युद्ध्वा म्रियन्ते न रहस्यं केऽपि मन्वते॥ ३६॥

रहस्यस्यापरिज्ञाते येभ्यो ये हि कुबुद्धयः।
स्वमहत्त्वाभिमानेन मन्त्रान् ददति वेश्मसु॥ ३७॥

प्रकार के विकल्प (भेद) करके, इसमें प्रमाण के लिये शब्दों को साक्षिरूप व्यर्थ ही गाते हैं॥ ३४॥ गाते हुए भी सर्वात्मा अज हरि को नहीं जानते हैं। उत्पन्न व्यक्त वस्तुओं को देखते हैं, और तिन व्यक्तियों से भ्रमते हैं॥ ३५॥ और भ्रम से ही अपनी आत्मा और ईश्वरात्मा को भिन्न मानकर, आर्य (हिन्दू) राम को अपना प्रिय कहते हैं; यवन रहिमान को प्रिय कहते हैं, और मिथो (परस्पर) युद्ध करके मरते हैं। रहस्य को कोई नहीं मानते हैं (गुप्त भेद एकता को नहीं समझते हैं)॥३६॥

रहस्य (गुप्त) वस्तु के परिज्ञान नहीं होते भी जो कुबुद्धि लोग अपनी महत्ता के अभिमान से घरों में जा २ कर, जिनको मन्त्रों का उपदेश देते

कहहिं कबीर सुनहु हो सन्तो, ई सब भरम भुलाना।
केतिक हटो हटा नहिं मान, सहजे सहज समाना ॥ २२ ॥

गत्वा गत्वा न सत्तत्त्वं किञ्चिदुपदिशन्ति चेत्।
गुरुभिस्तैर्हि शिष्यास्ते निमज्जन्ति भवार्णवे ॥ ३८ ॥
अन्तकाले च दूयन्ते लभन्ते विश्रमं नहि।
पश्चात्तापहताः क्वापि यान्ति कर्मानुसारतः ॥ ३९ ॥
भाषते सद्गुरुः साधो ! सादरं श्रूयतां त्वया।
भ्रान्ताश्चैते न मन्यन्ते सत्यं यद्वचनं हितम् ॥ ४० ॥
भ्रमाद्विस्मृत्य सत्तत्त्वं ते हि यान्ति कुवर्त्मसु।
स्वभावेनैव सिद्धेषु हिंसादम्भमुखेषु च ॥ ४१ ॥
निरोधं वारणं तेभ्यो नैव शृण्वन्ति चेत्तदा।
कियद्वै वारयामोऽत्र गच्छन्तु ते यथासुखम् ॥ ४२ ॥
अग्निहोत्राणि वेदाद्या दृश्यन्ते राक्षसेष्वपि।
दया शौचमहिंसा च सत्यं तेभ्यो निवर्तते ॥ ४३ ॥

हैं, और यदि कुछ सत्स्वरूप का उपदेश नहीं देते हैं, तो उन गुरुओं के सहित वे शिष्य भवसागर में डूबते हैं ॥ ३७-३८ ॥ और अन्तकाल में परितप्त होते हैं, आराम नहीं पाते हैं। पश्चात्ताप से पीडित होकर कहिं कर्मानुसार जाते हैं ॥ ३९ ॥ आदरपूर्वक सद्गुरु करते हैं- हे साधो ! तुम भी आदर सहित सुनो, ये भ्रान्त लोक सत्य हित जो वचन है उसे नहीं मानते हैं ॥ ४० ॥ भ्रम से ही सत्स्वरूप को भूलकर, स्वभाव से ही सिद्ध हिंसा दम्भादि कुमार्गों में वे लोक जाते, प्राप्त होते हैं ॥ ४१ ॥ यदि उन कुमार्गों से निरोध (निग्रह) वारण (प्रतिषेध) को वे लोक नहीं सुनते हैं, तो हम यहां कितना वारण करें। जैसे सुख हो वैसे वे जायँ ॥ ४२ ॥ अग्निहोत्र वेदाऽध्ययनादि राक्षसों में भी देखे जाते हैं, दया शौच अहिंसा सत्य उनमें नहीं रहते हैं ॥ ४३ ॥ और अहिंसा, सत्य,

अहिंसासत्यसन्तोषक्षमाऽलोभ शमै विना।
गच्छन्तोऽपि न संयान्ति संसाराब्धेः परं जनाः ॥ ४४ ॥

गुरूणां वचस्त्वं च सम्यक् कुरुष्व,
विचारं विना नैव किञ्चिद् भजस्व।
व्रज त्वं न कुत्रापि मूढप्रसङ्गे,
नयस्वाऽत्र पूते परे मानसं स्वम् ॥ ४५ ॥ २२॥

इति हनुमद्दासकृतायां शब्दसुधायामधिकायांदिचिन्तनं
नामाष्ठमस्तरङ्गः ॥ ८ ॥

संतोष, क्षमा, अलोभ, शम के विना कर्मादि मार्ग से जाता हुआ भी मनुष्य संसार समुद्र के पार नहीं जाता है ॥ ४४ ॥ तुम गुरु के वचन (आज्ञा) को अच्छी तरह पालन करो। विचार विना किसी को नहीं सेवो। मूढ के सङ्ग में तुम कहीं नहीं जावो। इस परम पवित्र आत्मा में अपने मन को प्राप्त करो ॥ ४५ ॥

अक्षरार्थ– हे सन्तो ! देखत (देखो) समझो, कि यह जगत् (प्राणी) बौराया है, या इसके व्यवहार देखने से मालूम होता है कि प्राणी बौराना है। इससे नहीं बोलो। और बौराने से ही सांच करता हूं तो मारने के लिये धावता (दौडता) है, और यह जगत् (प्राणी) झूठही पतिआता (मानता, विश्वास करता) है। और नेमी (स्नान व्रतादि नियमवाला) को और धर्मी (यज्ञपूजादि धर्मवाला) को देखा, कि प्रातःकाल में उठकर स्नान करता है। और उसके वाद आतम (सजीव देह) को मारकर, निर्जीव पाषाणादि की मूर्तियों की पूजा करता है। इससे मालूम होता है कि इन लोकों में धर्माधर्मादि का कुछ भी ज्ञान नहीं है, ये बौराये हैं। (यद्यपि मूर्तियों में मन्त्रादि से देवादि की भावना की जाती है, तथापि भावनासिद्ध देवादि के लिये, ईश्वररचित चेतनात्मा का घात करना

बौरापन ही है। भावनासिद्ध की पूजा भावना से भी हो सकती है, और पवित्र दयालु देव के लिये मांसहिंसादि उचित नहीं हो सकते। इत्यादि।

बहुत पीर (तुरुक के गुरु) औलिया (उनके साधु) को देखा कि, वे लोक किताब कुराणादि पढते हैं। और मुरीद (शिष्य) कै (करके) तदबीर (उपाय) बताते हैं। परन्तु इन लोकों में भी ऊहे (पूर्वोक्तहि) ज्ञान है। ये लोक भी जड परायण हैं, अहिंसादि धर्मज्ञान से रहित हैं। बहुत लोक आसन मारि (लगा) कर, और डिम्भ (दम्भ-पाखण्ड) को धारण करके बैठते हैं, और मन में भी बहुत गुमान (अभिमान) रखते हैं। अपने को पण्डित समझते हैं। परन्तु वे लोक भी पित्तल पत्थरादि की मूर्ति की पूजा में लगे रहते हैं, और तीर्थाटन के गर्वादि से आत्मविचारादि को भूले रहते हैं।

बहुत लोक माला टोपी पेन्हते हैं। और आनुमानिक (कल्पित मनमानिक) छाप लेते हैं। तथा तिलक करते हैं। और इन्ही से अपनी रक्षा हितादि का भी अनुमान (कल्पना) करते हैं। और साखी शब्द (प्रमाणरूप शब्द वा साक्षी और शब्द) को गाने में भूले रहते हैं। माला आदि से ही मुक्ति के गाने में लगे रहने से विचारादि को भूले रहते हैं, इससे आत्मा की खबर (उपदेश विचारादि) को इन लोकों ने नहीं जाना। (राम रहिमादि को एक नहीं समझा)॥ और आत्म-खबर (उपदेशादि) को नहीं जानने से हिन्दू कहता है कि, अमुक लोकवासी अमुक राम मेरा प्यारा है, अन्य नहीं। तुरुक कहता है कि, मुझे सप्तम आकाशवासी रहिमान (खुदा) प्यारा है, अन्य नहीं। और इस प्रकार भिन्न प्यारा मानकर, दोनों आपस में लर २ कर मरते हैं। और मरे। राम रहिम एक है, इत्यादि मर्म (भेद) को किसीने नहीं जाना। न विचारादि विना कोई सत्यात्मा का अनुभवी रागद्वेषादि रहित ज्ञानी हुआ।

धर्मादि के मर्म को जाने विना जो लोक घर २ में मन्त्र देते फिरते हैं, और ज्ञान विना जिन्हें महिमा (महत्त्व) का अभिमान रहता है। ऐसे गुरु सहित सब शिष्य भवसागर में बूडे, और बूडते हैं। और अन्त (मरण) काल में उन्हें पछताना पड़ता है। हे सन्तो ! सुनो, ऐसे लोक भ्रमसिद्ध संसार में भूले हैं। भ्रम के मारे सत्य वस्तु मार्ग को त्याग कर कुमार्ग में भटकते हैं। इन्हें कितनाहुं कुमार्ग से हटो (रोको) परन्तु ये लोक हटा (रोकना) नहीं मानते हैं। किन्तु सहजे (स्वभावसिद्ध हिंसादि) में सहज (स्वभाव) से ही समाते (प्रवृत्त होते) हैं। विचारादि नहीं करते हैं, इससे बावरे हैं। इन से कुछ कहना व्यर्थ है, इत्यादि ॥२२॥

ज्ञान विना मतभेद हिंसादि निरूपण प्रकरण ९

प्रथम अविवेकादि जन्य उपदेश के अनधिकार का वर्णन हुआ है, फिर अज्ञान प्रबल कामादि जन्य कुप्रवृत्ति आदि के वर्णन पूर्वक उनकी निवृत्ति के लिये कहते हैं कि—

शब्द ॥ २३ ॥

सन्तो राह दुनों हम दीठा।
हिन्दू तुरुक हटा नहिं मानै, स्वाद सबन को मीठा ॥
हिन्दू व्रत एकादशि साधै, दूध सिंघाड़ा सेती।
अन्न को त्यागे मन नहिं हटके, पारन करै सगौती ॥

भोःसाधोऽत्र मया दृष्टौ मार्गौ द्वावपि कल्पितौ।
आर्याणां यवनानां च तौ भवानपि पश्यतु ॥ १ ॥

हे साधो ! यहां हिन्दू और यवन के दोनों कल्पित मार्ग मुझ से देखे गयें है, उन्हें आप भी देखो ॥ १ ॥ कुमार्ग में प्राप्त ये लोक सतपुरुष के

तुरुक रोजा निमाज गुजारै, बिसमिल बाँग पुकारै।
इनको भिस्त कैसक होइ हैं, सांझहिं मुरगी मारै॥

कुमार्गेषु गता ह्येते सन्निरोधं न मन्वते।
उलङ्घ्यैव सुमर्यादां कामचाराद् व्रजन्ति च॥ २॥

सर्वेषां विषयाऽऽस्वादः प्रियो धर्मो न सद्गतिः।
पश्यन्तोऽतो न पश्यन्ति शृण्वन्ति न सुभाषितम्॥ ३॥

एकादशीव्रतं ह्यार्या दुग्धमूलफलैः शुभैः।
कुर्वन्ति 'व्रतयन्त्यन्नं मांसेन यन्ति 'पारणाम्॥ ४॥

रोजाव्रतं निमाजाख्यं पाठं च कुर्वते तथा।
तुरुष्का बिसमिल्लाहं वाचाऽऽकुर्वन्ति[3] सर्वदा॥ ५॥

अहो एषां कथं स्वर्गः सद्गतिर्वा भवेत् खलु।
दिवैतावद् व्रतं कृत्वा सायं घ्नन्ति तु कुक्कुटीम्॥ ६॥

निरोध को नहीं मानते हैं, और सुन्दर मर्यादा का उलंघन करके कामचार (इच्छा) से चलते हैं॥ २॥ सबको विषयों का आस्वादन ही प्रिय है। धर्म वा सद्गति नहीं प्रिय है। इससे देखते हुए भी ये लोक नहीं देखते हैं, सुवचन नहीं सुनते हैं॥ ३॥ हिन्दू लोक शुभ दूध मूल फल से एकादशी व्रत करते हैं। अन्न को त्यागते हैं, और मांस से पारणा प्राप्त करते हैं॥ ४॥ तुरुक लोक रोजा व्रत करते हैं, और निमाज नामक पाठ करते हैं। तथा सदा वचन से बिसमिल्ला को पुकारते हैं॥ ५॥ आश्चर्य है कि इनको स्वर्ग वा सद्गति कैसे होगी? दिन में इतना व्रत करके सांझ को मुर्गी को मारते हैं॥ ६॥

---

१ 'व्रतयन्ति-त्यजन्ति' २ 'पारणाम्-व्रतसमाप्तिम्,-यन्ति-प्राप्नुवन्ति'। ३ 'आकुर्वन्ति-आह्वयन्ति'।

हिन्दु कि दया मेहर तुरुकन की, दूनौं घट सो त्यागी ।
वै हलाल वै झटका मारै, आग दुनौं घर लागी ॥

आर्याणां हि दया धर्मस्तुरुष्काणां स मेहरः ।
उभयैः स्वशरीरेभ्यस्त्यक्तो धर्मः स उत्तमः ॥ ७ ॥
यवनाः शनकैर्घ्नन्ति द्रुतमेतैश्च हन्यते ।
तथा च पापतापाग्निरुभयत्र प्रवर्तते ॥ ८ ॥
आर्याणां यवनानां च मार्ग एको हि विद्यते ।
स्वर्गमोक्षप्रसिद्ध्यर्थो[१] दयाधर्मादिलक्षणः ॥ ९ ॥
सद्गुरुभिस्त्वयं मार्गः सम्यक् साधो ! प्रदर्शितः ।
श्रूयतां सावधानेन भवांस्तत्रैव गच्छतु ॥ १० ॥
दयाधर्मोऽस्ति चेच्चित्ते त्वहिंसा सर्वजन्तुषु ।
सर्वभूतप्रियश्चेत्त्वं सर्वत्र समदर्शनः ॥ ११ ॥

जो हिन्दुओं का दया धर्म है, वही तुरुकों का मेहर है; परन्तु दोनों ने उस उत्तम धर्म को अपने देहों से हटा दिया हैं ॥ ७ ॥ यवन धीरे से मारते है, हिन्दुओं से शीघ्र मारा जाता है, और तिस प्रकार से पाप दुःखरूप अग्नि दोनों जगह प्रवृत्त होती है ॥ ८ ॥ स्वर्ग मोक्ष की प्राप्ति अर्थ (प्रयोजन) वाला दया धर्मादि स्वरूप, हिन्दू और तुरुक के मार्ग एक ही है ॥ ९ ॥ ओर हे साधो ! सद्गुरु से यही मार्ग अच्छी तरह प्रदर्शित कराया (बताया) गया है । यह सावधानी से सुना जाय । और आप उसी मार्ग में चलो ॥ १० ॥ यदि चित्त में दया धर्म है, और सब प्राणी में अहिंसा है । यदि तुम सर्व भूत प्रिय हो, सर्वत्र समदृष्टि हो ॥ ११ ॥

१ ' सर्वभूतदयावन्तो विश्वास्याः सर्वजन्तुषु । त्यक्तहिंसासमाचारास्ते नराः स्वर्गगामिनः ' ॥ ब्रह्मपु० अ० ११६ । ' वीतरागा विमुच्यन्ते पुरुषाः कर्मबन्धनैः । मनसा कर्मणा वाचा ये हिंसन्ति न किञ्चन ' ॥

हिन्दू तुरुक की एकै राह है, सतगुरु इहे बताई।
कहहिं कबीर सुनहु हो सन्तो, राम न कहहु खुदाई ॥२३॥

सर्वत्र रामबुद्धिश्चेन्मा रामं वद माऽन्यकम्।
वर्तते सर्वथा श्रेयः प्रेयश्च तव सर्वतः ॥ १२ ॥
यद्वा मोहवतामेषां मार्गो ह्येकोऽस्ति कल्पितः।
नाममात्रेण भिन्नोऽपि दया नास्त्येव कुत्रचित् ॥ १३ ॥
इत्थं सद्गुरुभिः साधो! तेषां तत्त्वं प्रदर्शितम्।
तस्मान्नैवात्र तत्पक्षै रामो वाऽन्योऽभिधीयताम् ॥१४॥२३॥

यदि सर्वत्र राम बुद्धिवाला हो, तो मुख से न राम कहो, न अन्य कुछ कहो। तुमको सर्वत्र सर्वथा श्रेय (कल्याण) और प्रेय (सुख) है ॥ १२॥ अथवा मोहवाले इन दोनों का भी एक ही कल्पित (मिथ्या) मार्ग है। नाममात्र से भिन्न होते भी कल्पित मार्ग में कहीं दया नहीं है ॥ १३ ॥ हे साधो! इस प्रकार सद्गुरु ने उनका तत्त्व (स्वरूप) बताया है, तिससे यहां उनके पक्षों द्वारा तुम से राम या अन्य कुछ नहीं कहा जाय; किन्तु सद्विचारादि द्वारा सत्य को धारण किया जाय ॥ १४ ॥

अक्षरार्थ– हे सन्तो! हमने हिन्दू तुरुक दोनों के राह (मार्ग धर्म व्यवहार) को दीठा (देखा) तो दोनों कुमार्ग दीख पड़े; परन्तु दोनों उस कुमार्ग से हटा (निरोध-वारण) नहीं मानते हैं। क्योंकि इन्हें धर्मादि नहीं प्रिय हैं किन्तु विषय का स्वाद ही सबको मीठा (प्रिय) है। इसीसे जो हिन्दू एकादशी व्रत को दूध सिंघाड़ा आदि फल सेती (से) साधता (करता) है, सो उस दिन अन्न को त्यागता है; परन्तु अभक्ष्य से मन को सदा नहीं हटकता (रोकता) है। इसीले सगौती (मांस) से पारणा (व्रतपूर्ति) करता है॥ तैसे ही तुरक रोजा निमाज गुजारता (करता) है। और विसमिल (बिसमिल्ला) यह बांग (वचन) पुकारता

है। परन्तु इससे इनको भिस्त (स्वर्ग) कैसे होगा ? व्रत के दिन भी सांझ के समय ये मुरगी को मारते हैं। इससे ये भी पाप से मन को नहीं हटाते हैं।

हिन्दुओं की दया, और तुरुकों की मेहर (दया) ही मुख्य धर्म है, तिसको दोनों ने अपने २ घट (देह) से त्याग दिया है। इसीसे वह तुरुक हलाल करता (धीरे मारता) है। और वह हिन्दू झटका (शीघ्र) मारता है। परन्तु आग (अग्नि) दोनों घर में लगती है। दोनों प्राणी मरते हैं, मारने वाले दोनों पापी होते हैं। दया अहिंसा आदि दोनों के एक ही सत्य मार्ग हैं, और सद्गुरु ने सबके लिये इसी धर्म को बताया है। यदि सद्गुरु का कहना मानो, करो, तो चाहे राम कहो या खुदा न कहो, इसमें कोई भेद नहीं है। मोहजन्य भी दोनों का हिंसादि कुमार्ग भी एक ही है। सद्गुरु ने इस तत्त्व को समझाया है। उस कुमार्ग को त्यागने विना राम खुदा कहने से कुछ फल नहीं है, चाहे कुछ कहो, नरक ही फल है ॥ २३ ॥

प्रायः लोक अज्ञान से कुमार्ग में जाते हैं। और कोई जानकर भी प्रबल काम स्वादादि वश हिंसादि करते हैं, जिनका प्रथम वर्णन हुआ है। और जानकर कुकर्म करनेवाला को अहमक (शठ खल आदि) कहा जाता है, अज्ञ को नादान कहते हैं। इसीसे कहते है कि –

शब्द ॥ २४ ॥

भूला वे अहमक नादाना, तुम हरदम रामहि ना जाना ॥

अये शठास्तथा मूर्खाः क्रूराः पण्डितमानिनः !
भ्रान्ता यूयं न रामं यत् सर्वभूतेषु पश्यथ ॥ १५ ॥

अये (हे) शठ धूर्त) तथा मूर्ख (अज्ञ) क्रूर (घातुक) अपने को पण्डित मानने वालों तुम सब भ्रान्त हुए हो, जिससे सब प्राणी में राम को

बरबस आनि जु गाय पछारिन, गला काटि जिव आप लिया।
जियत जीव मुरदार करत है, ताको कहत हलाल किया॥
जाहि मांस को पाक कहत हौ, ताकी उतपति सुनु भाई।
रज बीरज से मांस उपानी, मांस नपाकी तुम खाई॥

सर्वात्मानं न रामं यदजस्रं मन्यते खलु।
भवन्तस्तेन कुर्वन्ति पापं परमगर्हितम्॥ १६॥
हठेनानीय शुद्धां गां निपात्य च बलाद् भुवि।
गलं छित्त्वा हि तत्प्राणान् भवन्तो नाशयन्ति हि॥ १७॥
अहो तं जीवतो देहं कृत्वा कुणपकच्चरम्।
मेध्यं कृतं भवन्तस्तं भाषन्ते मतिविभ्रमात्॥ १८॥
कथयन्ति भवन्तो यन्मांसं मेध्यं भ्रमात् खलु।
तस्योत्पत्तिर्यथा लोके स प्रकारो निशम्यताम्॥ १९॥
रजोरेतःसमायोगान्मांसं सर्वत्र जायते।
अतो नास्त्येव तत्पूतं यूयमत्थ च कुत्सिताः॥ २०॥

नहीं देखते हो॥ १५॥ जिससे सर्वाऽऽत्मा राम को अजस्र (निरन्तर-सतत) आप नहीं मानते हो, तिसीसे परम गर्हित (निन्दित) पाप करते हो॥ १६॥ हठ (बलात्कार) से शुद्ध गौ को लाकर, उसको बल से भूमि में गिराकर, गला काट कर, आप उसके प्राणों को नष्ट करते हो॥१७॥ आश्चर्य है कि जीवित प्राणी का उस देह को कुणप (शव-मुर्दा) रूप कच्चर (मलिन) करके, आप बुद्धिविभ्रम से उस मलिन को मेध्य (पवित्र) किया हुआ कहते हैं॥ १८॥

आप जिस मांस को भ्रम से पवित्र कहते हो, लोक में उस मांस की जिस प्रकार उत्पत्ति होती है, वह प्रकार सुनो॥ १९॥ रजवीर्य के सम्यक् सम्बन्ध से सर्वत्र मांस होता है, इससे वह पूत (पवित्र) नहीं

अपनी देखि कहत नहिं अहमक, कहत हमारे बडन किया।
उसकी खून तुम्हारी गरदन, जिन तुम को उपदेश दिया॥
गई सियाही आइ सफेदी, दिल सफेद अजहूं न हुआ।
रोजा निमाज बंग का कीजै, हुजरे भीतर पैठि मुआ॥

आत्मना दृश्यमानं यन्मलिनं तद् वदन्ति नो।
शठाः किन्तु वदन्त्येवमस्माकं पूर्वजैः कृतम्॥ २१॥
प्राणिघातजदोषाश्च पतिष्यन्ति गलेषु वै।
युष्माकमुपदेशेन येषां च क्रियते तथा॥ २२॥
अहो केशस्य कृष्णत्वं गतं पलितमागतम्।
तथापि हृदयं नैव मृष्टं युष्माकमञ्जसा॥ २३॥
निर्णिक्तं हृदयं चेन्न निमाजादिकवाङ्मयैः।
रोजातः किं फलं व्यर्थं म्रियन्ते हुजरागृहे॥ २४॥

है, तोभी तुम कुत्सित (अधम) लोक खाते हो॥ २०॥ अपनी आत्मा से प्रत्यक्ष देखा गया जो मलिन है, शठ लोक उसे नहीं कहते हैं, किन्तु इस प्रकार कहते हैं, कि इस प्रकार (हिंसा मांस भक्षणादि) हमारे पूर्वज किये हैं, इससे दोष नहीं है, इत्यादि॥ २१॥ परन्तु प्राणी के घात से जायमान दोष (पाप) तुम्हारे गलों में अवश्य प्राप्त होंगे, और जिनके उपदेश से तैसा किया जाता है, उनके गले पर भी पाप सवार होगा॥२२॥

आश्चर्य है कि केश का कालापन चला गया, पलित (सफेदी) आ गई, तोभी तुम्हारे हृदय अञ्जसा (तत्त्वतः) मृष्ट (शुद्ध) नहीं हुये॥ २३॥ यदि हृदय निर्णिक्त (शुद्ध) नहीं हुआ, तो निमाजादिक वाङ् (वचन) मय कर्मों से तथा रोजा से कौन फल है। हुजरा नामक घर में व्यर्थ ही मरते हो॥ २४॥ वेदों और पुराणसमूह को जो पण्डित पढ़ते हैं, और

पण्डित वेद पुराण पढ़त हैं, मोलना पढ़ै कोराना।
कहहिं कबीर दोउ नरक , जिन हरदम राम न जाना ॥२४॥

वेदान् पुराणसंघानान् पठन्ति पण्डिता हि ये।
कुराणं च पठन्त्यन्ये ये मुल्लानेति नामकाः ॥ २५ ॥
तेऽपि यावन्न सर्वत्र रामं पश्यन्ति सर्वदा।
हृदिस्थं सर्वभूतानां वीध्रं विग्रहवर्जितम् ॥ २६ ॥
पतन्ति नरके तावत्ते सर्वे नात्र संशयः।
हिंसादिमलयुक्तत्वाद्रागद्वेषादिसंभवात् ॥ २७ ॥
अशुचिर्निर्दयः क्रूरो गोघ्नो विश्वासघातकः।
बालघ्नश्च तथा चौरो यान्त्येते सर्वनारकान् ॥ २८ ॥
रामं ज्ञात्वा तु सर्वत्र पापं तरति दुर्गतिम्।
सद्गुरुः परमं प्राह वेदसिद्धान्तमुत्तमम् ॥ २९ ॥२४॥

अन्य जो मुल्लाना इस नाम वाले कुराण पढ़ते हैं ॥ २५ ॥ वे भी सब प्राणी के हृदय में स्थित, विमल स्वरूप, विग्रह (विरोध-युद्ध, देह, विभाग) रहित राम को जबतक सर्वत्र सदा नहीं देखते हैं ॥ २६ ॥ तबतक हिंसा आदि मल (पाप) युक्त होने से, तथा रागद्वेषादि के संभव से वे सब भी नरक में गिरते हैं, इसमें संशय नहीं है ॥ २७ ॥ अपवित्रात्मा, दयारहित, क्रूर (घातुक-द्रोही), गोघातक, विश्वासघातक, बालघातक, और चोर ये लोक सब नरकों में प्राप्त होते हैं ॥ २८ ॥ और सर्वत्र राम को जानकर, प्रथम पाप को तरते (त्यागते नष्ट करते) हैं, फिर दुर्गति (नरक जन्मादि) को तरते हैं, मुक्त होते हैं। सद्गुरु यह परम उत्तम वेदसिद्धान्त को कहते हैं ॥ २९ ॥

अक्षरार्थ -वे (रे) अहमक (दुर्जन शठ) और नादान (अज्ञ मूढ) तुम सत मार्ग धर्मादि को भूला है, तथा रे अहमक ! तूंने भूल कर नादान का काम किया है, इसीसे एकादशी रोजा आदि के दिनों में राम को तुम

लोकोंने जाना, परन्तु हरदम (हर एक श्वास में, सब प्राणी में) राम ही को नहीं जाना, सदा सर्वत्र वर्तमान सर्वात्मा राम को नहीं भजा। सर्वात्मा राम को सदा जानने विना बरवस (बल से) गाय को ले आकर पछारा (गिराया) और उसका गला काटकर, उसके जीव (प्राण) को आप (स्वयं) जानकर लिया (नष्ट किया)। और इस प्रकार जियता जीव (देह) को मुरदार (मुर्दा) अपवित्र करता है, और ताको (तिसको) कहता है कि हलाल (पवित्र) किया है, सो भारी भूल मूर्खता है। अर्थात् 'न पश्यति च जन्मान्धो कामान्धो नैव पश्यति। न पश्यति मदोन्मत्तो ह्यर्थी दोषं न पश्यति'॥ इस वचन के अनुसार जन्मान्ध कामान्ध उन्मत्त नहीं देखता है, और अर्थी (प्रबल इच्छावाला) पदार्थ के दोषों को नहीं देखता है, इससे अपवित्र को पवित्र मानता है।

रे भाई! जाहि (जिस) मांस को पाक (पवित्र) कहते हो, ताकी (उसकी) उत्पत्ति को सुनो और समझो। वह मांस। रज (स्त्रीपुष्प रूप खून) और वीर्य से उपानी (उत्पन्न होता) है। इससे वह नपाकी (पाक नहीं) हैं। तोभी तुमने मूर्खता से खाय लिया। या नपाकी (अपवित्रात्मा) तुमने उस महा अपवित्र को खाया। आश्चर्य है कि अहमक (मूर्ख शठ) लोक अपनी देखी हुई मांस की अपवित्रता, हिंसा की बात को नहीं कहते हैं। और कहते हैं कि हमारे बड़न (पिता गुरु आदि) मांसभक्षणादि किये हैं, इससे यह पवित्र है इत्यादि। परन्तु किसीके बड़े के करने से पाप कर्म पुण्य नहीं हो सकता)। इससे उस प्राणी का खून (हिंसा) तुम्हारी गरदन (गला शिर) पर अवश्य चढेगी, बदला देना होगा। और जिन्होंने तुमको हिंसा के लिये उपदेश दिया है, उनकी भी वही दशा होगी। उन्हें भी बहुत दिनों तक गला कटाना होगा। यद्यपि भगवान् मनु ने अनुमन्ता आदि आठ को पाप के भागी कहे हैं। तथापि घातक उपदेशक अधिक पाप के भागी होते हैं, यह तात्पर्य है, और अन्य का भी उपलक्षक दो का ग्रहण हैं।

बाल्यावस्था अज्ञान में बीतती है, युवा अवस्था में कामादि से चित्त मलिन रहता है। आश्चर्य यह है कि वृद्ध होने से बालों की सियाही (कालिमा) गई, सफेदी आ गई, परन्तु अजहूं (अब भी) लोकों का दिल (मन) सफेद (पवित्र) राम को जाने आदि विना नहीं हुआ। इससे हिंसादि नहीं त्यागे गये। और दिल के साफ होने विना रोज़ा क्या करते हो, निमाज क्या पढते हो, बांग देने से क्या होना है? दिल की सफाई विना ये सब व्यर्थ हैं। और दिल की सफाई विना व्यर्थ ही हुजरा (मसजीद की कोठरी) में पैठकर तुम मरे और मरते हो। क्योंकि अन्य की तो बात ही क्या है, जो पण्डित वेद पुराण पढ़ते हैं, जो मोलना (मोलवी) कुराण पढ़ते हैं। परन्तु हरदम (सदा सब प्राणी में, श्वास २ में) राम को नहीं जानते हैं, तो वे दोनों भी रागद्वेष हिंसादि करके नरक में पड़े और पडते हैं। 'अज्ञानोपहतो बाल्ये यौवने वनिताहतः। शेषे कुटुम्बचित्तार्त्तः किं करोतु नराधमः'॥ महोपनिषद ६। २३) बाल्य में अज्ञान से नष्ट, यौवन में स्त्री से नष्ट, अन्त में कुटुम्ब की चिन्ता से दुःखी नीच क्या करे॥ २४॥

सर्वात्मा राम के ज्ञान सत्सङ्ग विचार अहिंसादि धर्म शान्ति आदि विना, जो वेद पुराण कुराणादि को पढने मात्र से उपदेशक बनते हैं। उनसे कहते हैं कि–

शब्द ॥ २५ ॥

काजी तुम कौन किताब बखानी।
झंखत बकत रहहु निशिवासर, मति एको नहिं जानी॥

प्रसिद्धा ये तुरुष्केषु काजीनाम्ना हि पण्डिताः।
यूयं पठथ कान् ग्रन्थान् व्याख्या केषां वितायते॥ ३०॥

जो तुरुकों में काजी नाम से प्रसिद्ध पण्डित हैं, सो तुम कौन ग्रन्थों को पढते हो, किसकी व्याख्या विस्तृत करते हो॥ ३०॥ जिस शास्त्र से

शक्ति तु माने सुनत करत हौ, मैं न बदौंगा भाई।
जो खोदाय तव सुन्नत कर्ता, आपुहिं काटि न आई॥

पठितव्यं न तच्छास्त्रं येन शान्तिर्भवेन्नहि।
न द्रोहाद्विरतिर्नापि दया वा न यतो मतिः॥ ३१॥
शोचन्तः कथयन्तश्च भवन्तो निशिवासरे।
दृश्यन्ते न कदाचिच्च सन्मतिः कापि दृश्यते॥ ३२॥
भवन्तो नैव मत्या सत्तत्त्वं किमपि भावुकम्।
प्रपश्यन्ति ततो दीनास्तिष्ठन्ति मोहसंयुताः॥ ३३॥
मोहयुक्ते न दातव्यं कस्मैचिदुपदेशनम्।
अन्यथा ह्युभयो र्हानि र्महती जायते ध्रुवम्॥ ३४॥
असामर्थ्यं परिज्ञाय बालेष्वज्ञजनेषु च।
सुन्नतं यद्धि कुर्वन्ति ज्ञो नाहं स्वीकरोमि तत्॥ ३५॥
यदि चास्येश्वरः कर्ता भवद्भिः परिकल्प्यते।
किं न स स्वयमागत्य संछिन्नात्त ह्युपस्थकम्॥ ३६॥

शान्ति नहीं हो, न द्रोह से विरति (उपरति निवृत्ति) हो, न दया हो, वा जिससे मति (विशेष ज्ञान बुद्धि) भी नहीं हो, वह शास्त्र पढने योग्य नहीं है॥ ३१॥ आप दिनरात शोचते और कुछ कहते दीख पडते हैं। और कभी कोई भी सच्ची मति नहीं दिखती है, व्यवहार से नहीं जानी जाती है॥ ३२॥ आप बुद्धि से किसी भावुक (भद्र) सत् स्वरूप को नहीं देखते (जानते) हैं, तिसीसे मोह सहित दीन (दरिद्र भीत) रहते हैं॥ ३३॥ मोहयुक्त को किसी के प्रति उपदेश नहीं देना चाहिये। अन्यथा गुरु शिष्य दोनों की महती (बडी) हानि अवश्य होती है॥३४॥

बालक और अज्ञ लोकों में असामर्थ्य (अशक्ति) जानकर, जो आप सुन्नत करते हैं, ज्ञानी मैं उसका स्वीकार नहीं करता हूं॥ ३५॥ यदि इस सुन्नत का कर्ता ईश्वर ही आप से कल्पित (माना गया) हो, तो

सुनत कराय तुरुक जो कहिये, औरत को का कहिये।
अर्द्ध शरीरी नारि बखानै, ताते हिन्दू रहिये॥
घालि जनेऊ ब्राह्मण होना, मेहरि क्या पहिराया।
वै जन्म की शूद्री परोसै, तुम पांडे क्यों खाया॥

अथवा किं न गर्भस्थश्छिन्नोपस्थोऽभवज्जनः।
ईशकार्ये कथं यूयं सहायाः परिकल्पिताः॥ ३७॥
किञ्चैतस्मिन् कृते चेत्स्यात्सुन्नताख्ये हि कर्मणि।
तुरुष्कत्वं तदा नार्यः कथ्यन्ते कैर्हि नामकैः॥ ३८॥
अर्द्धं शरीरिणो नारी कथ्यते शास्त्रवित्तमैः।
अर्द्धाऽऽर्यत्वयुता यूयं तिष्ठत ह्यार्यजातयः॥ ३९॥
[1]धारणाद्यज्ञसूत्रस्य यद्ययं ब्राह्मणो भवेत्।
न स्त्रिया धार्यते विद्वंस्ततोऽत्र शूद्रता ध्रुवम्॥ ४०॥
जन्मना शूद्ररूपा सा यज्ञसूत्रविवर्जिता।
परिविष्टं तया चान्नं त्वं भुङ्क्षे पण्डितः कथम्॥ ४१॥

वह स्वयं आकर उपस्थ को क्यों नहीं काटता है॥ ३६॥ अथवा गर्भस्थ ही मनुष्य छिन्नेन्द्रिय क्यों नहीं हो गया। ईश्वर के कार्य में आप लोक सहायक कैसे सिद्ध हुए॥ ३७॥ और यदि इस सुन्नत नामक कर्म के करने ही पर तुरुकता होगी, तो तुरुकों की स्त्रियाँ किन नामों से कही जायगी॥ ३८॥ श्रेष्ठ विद्वानों से गृहस्थ देही का आधा अंग स्त्री कही जाती है। इससे आधा हिन्दूत्व युक्त तुम सब हिन्दू जाति ही रहो॥३९॥

हे विद्वन्! यदि यह मनुष्य यज्ञसूत्र (जनेऊ) का धारण से ब्राह्मण (द्विज) होवे, तो स्त्री उसका धारण नहीं करती है, तिससे इसमें शूद्रता

१ 'न जातिर्नापि संस्कारो गुणाः कल्याणहेतवः'॥ इतिहाससमुच्चयः॥ 'संस्कृतोऽपिदुराचारो नरकं याति मानवः'। भविष्यपु० अ० ४२॥

हिन्दू तुरुक कहाँ ते आया, किन यह राह चलाया।
दिल में खोजि देखु खोजादे, भिस्त कहाँ किन पाया॥
छाडु पसार राम भजु बौरे, जोर करतु है भारी।
कबिरन ओट राम की पकरी, अन्त चले पछ हारी॥ २५॥

आर्यांश्च यवनाश्चैव कुतो ह्यत्र समागताः।
एषां मार्गाश्च कैश्चित्राः कल्पितास्तद्विचिन्त्यताम्॥ ४२॥
मनस्येतद्विचार्यैवं सतां सङ्गे विमृग्यताम्।
एभिर्मार्गैश्च के स्वर्गानाप्नुवन् कुत्र वा कदा॥ ४३॥
विचिन्त्यैव नरा! मुग्धा! विस्तारं त्यजताखिलम्।
कल्पितं तुच्छफलदं रामं भजत शान्तिदम्॥ ४४॥
विष्णुभक्त्या[१] ह्यहिंसाद्यैर्यवनानां गतिर्भवेत्।
निवृत्त्या[२] पापकर्मभ्यो ब्राह्मणो ज्ञानमाप्नुयात्॥ ४५॥

निश्चित है॥ ४०॥ यज्ञोपवीत से रहित वह जन्म से शूद्ररूपा है, तो उससे परोसा हुआ अन्न तुम पण्डित होकर कैसे खाते हो॥ ४१॥ जन्म मात्र से आर्य और यवन इस संसार में कहां से आये (सिद्ध हुये) और इनके चित्र (आश्चर्ययुक्त) मार्ग किन से कल्पित हुए, सो विचारो॥ ४२॥ मन में यह इस प्रकार विचार कर, सन्तों के संग में खोजो कि इन मार्गों से कौन कहां वा कब स्वर्ग पाये॥ ४३॥

हे मुग्ध (अज्ञ) मनुष्यो! इस प्रकार विचार करके तुच्छ फलदायक कल्पित सब विस्तारों को त्यागकर शान्तिदायक राम को भजो॥ ४४॥ विष्णु भगवान् की भक्ति अहिंसा आदि से यवनों की सुगति होगी,

१ 'विष्णुभक्त्यग्निपूजा च ह्यहिंसा च तपो दमः। धर्माण्येतानि मुनिभिर्म्लेच्छानां स्मृतानि वै'॥ भविष्यपु०॥

२ 'निवृत्तः : पापकर्मभ्यो ब्राह्मणः स विधीयते'। भविष्यपु० अ० ४४॥

सर्वस्यापि विमुक्त्यर्थं हठेनापि मयोच्यते।
रामस्य शरणे गत्वाऽऽत्मानमुद्धरतात्मना ॥ ४६ ॥

यो न गच्छति रामस्य शरणं मलिनो नरः।
स स्वपक्षं विहायान्ते यत्र कुत्रापि गच्छति ॥ ४७ ॥

यद्वा येऽपि कविश्रेष्ठा मनुष्या वा बहुश्रुताः।
विस्तारमपरित्यज्य रामस्य शरणं गताः ॥ ४८ ॥

ते स्वलक्ष्यात्परिभ्रष्टा ह्यगमन् सर्वयोनिषु।
नैव त्यागं विना रामं लब्धवन्तः कुयोगिनः ॥ ४९ ॥

विस्तारान् वै ततस्त्यक्त्वा रामस्य शरणं व्रजेत्।
आसक्तो न भवेत् क्वापि लिङ्गग्रामे ह्यनर्थके ॥ ५० ॥

" लिङ्गे सत्यपि सर्वस्मिञ्ज्ञानमेवहि कारणम्।
निर्मोक्षायेह भूतानां लिङ्गग्रामो निरर्थकः "॥ ५१ ॥ २५ ॥

पापकर्मों से निवृत्त (रहित) होने से ब्राह्मण ज्ञान पावेगा ॥ ४५ ॥ सभी की विमुक्ति के लिये मैं हठ से भी कहता हूं कि राम के शरण में जाकर, अपनी आत्मा का आप से उद्धार (कल्याण) करो ॥ ४६ ॥ जो मलिन मनुष्य राम के शरण में नहीं जाता है, सो अन्त में अपना पक्ष (सहाय मित्र आग्रह) को त्यागकर जहां कहीं जाता है ॥ ४७ ॥ अथवा जो कविवर वा बहुत सुननेवाले मनुष्य विस्तार को न त्यागकर, राम के शरण में गये ॥ ४८ ॥ सो अपने लक्ष्य (ध्येय) से परिभ्रष्ट होकर, सब योनियों में प्राप्त हुए, त्याग विना कुयोगी लोक राम को नहीं पाये ॥ ४९ ॥ तिससे सब विस्तारों को त्याग कर राम के शरण में जाय। और अनर्थक लिङ्ग समूह में कहीं आसक्त नहीं होवे ॥ ५० ॥ शास्त्र का वचन है कि सब लिङ्ग (वेष) के रहने पर भी ज्ञान ही प्राणी के मोक्ष के लिये कारण है, लिङ्गसमूह निरर्थक है ॥ ५१ ॥

अक्षरार्थ– हे काजी (तुरुक पण्डित)! तुम कौन (किस) किताब का बखान (कथन अर्थ) कहते हो, कि जिसका व्याख्यान करने पर भी निशिवासर (रातदिन) झँखते (शोक करते) और बकते (निरर्थक बोलते) रहते हो, और एक भी सच्ची मति (ज्ञान) जिसके पढने से भी तुमने नहीं जानी। एकात्मा का ज्ञान जिससे नहीं हुआ, उसके पढने से क्या फल है।

एको मति को नहीं जानने से जो शक्ति (सामर्थ्य) का अनुमान (कल्पना) करके अज्ञ अल्पशक्ति की सुन्नत करते हो, हे भाई! मैं इसको नहीं बदूंगा (नहीं मानूंगा)। यदि कहो कि खुदा सुन्नत करता है, तो आपुहि (स्वयं) पेट से ही लिंग-खुलरी काटी हुई क्यों नहीं आई। या ते। खुदा आकर क्यों नहीं काटता है, अपने काम में तुमको क्यों सामिल करता है। यदि काटना ही था तो उसे बनाया ही क्यों। और इसका कोई फल नहीं है। जो (यदि) सुन्नत कराने से तुरुक होना फल कहो, तो सुन्नत रहित तुरुक की औरत (स्त्री) को क्या कहा जाय। यदि वह सुन्नत विनु हिन्दू रही तो गृहस्थ शरीरी (देही) का आधा अंग नारी को कहा जाता है। तिससे सम्पूर्ण को हिन्दू (सुन्नत रहित) ही रहना चाहिये, आधा को तुरुक होना व्यर्थ है।

ऐसे ही शमदमादि विना यदि जनेऊ (यज्ञोपवीत) को गले में घालने (पहरने, देने) से ही ब्राह्मण (द्विज) होना हो, तो मेहरि (स्त्री) को तुमने क्या पहिरांया है, कि जिससे वह ब्राह्मणी हो सके। और जनेऊ आदि संस्काररूप दूसरा जन्म विना, यदि वह जन्म की शूद्री रही तो उसका बनाया परोसा भोजन तुम पाण्डे (द्विज) होकर क्यों खायो, इससे यह सब कल्पित व्यवहार मात्र है, मोक्षमार्ग नहीं है। और वस्तुतः हिन्दू तुरुक कहां से आये (भिन्न कैसे सिद्ध हुए), इनकी उत्पत्ति के स्थान कर्मादि तो एक ही हैं। तुल्य ही हैं। फिर इनके दो राह (मार्ग) किन लोकोंने चलाया। इन बातों को सब अपने २ दिल (मन) में खोजो (विचारो)। और विचार से समझो कि यह सब खेल मन माया

रचित है। और यदि अपने विचार से नहीं समझ पड़े, तो सत्संङ्गादि द्वारा खोजा दो (ढूंढो) और समझो कि इन मार्गों से कहां किसने भिस्त (स्वर्ग) पाया। इस प्रकार खोजने से रागद्वेष हिंसादिमय कल्पित मार्ग, अज्ञान मनमायादि रचित दुःखद दीख पड़ेंगे, कि जिससे विवेकादि होगें।

हे बौरे ! पूर्व विचार से मनमायादि जन्य पसार (विस्तार) को छाडु (त्यागो)। और अहिंसादि पूर्वक सर्वात्मा राम को भजो, इसीसे स्वर्ग मोक्षादि की प्राप्ति होगी। अन्यथा नहीं हो सकती। इससे मैं भारी जोर करता हूं, बहुत आग्रह से कहता हूं। जिन लोकोंने मेरे कथनानुसार सर्वात्मा राम के ओट (शरण) को नहीं पकड़ा वे लोक अन्त में अपने पक्ष को हारकर चले, संसार जूआ में विजय नहीं पाये। अथवा जिन कबिरन (जीवों-कवियों) ने विस्तार हिंसादि को त्यागने विना तटस्थ राम के ओट पकड़ा (आश्रय लिया) वे लोक भी अपने पक्ष (सिद्धान्त) को गमा कर चले, इससे विस्तार को अवश्य त्यागना चाहिये, इत्यादि ॥२५॥

विस्तार को त्याग कर राम को भजने के लिये कहा है, सो सुनकर शंका हुई कि हिन्दू मुसलमानादि एक राम को कैसे भज सकते हैं, इनके उपास्य उपासनादि भिन्न २ हैं; तब साहब कहते हैं कि—

शब्द ॥ २६ ॥

भाइ रे दुइ जगदीश कहाँ ते आया, कहु कौने भरमाया।
अल्लह राम करीमा केशव, हरि हजरत नाम धराया॥

कार्यं न करणं यस्य विद्यते न समोऽधिकः।
सर्वभूतेषु गूढः स देव एकः सदीश्वरः ॥ ५२ ॥

जिसको कार्य (देह) कारण (इन्द्रिय) नहीं हैं, न जिसके कोई तुल्य वा अधिक है, सब प्राणी में छिपा हुआ वह एक देव सत्य ईश्वर

गहना एक कनक ते गहना, इन में भाव न दूजा।
कहन सुनन को दो करि थापे, इक निमाज इक पूजा॥

भो भ्रातर्जगदीशौ द्वौ कुतः सिद्धौ तथागतौ।
किमर्थौ भ्रामितः केन भवान् भिन्नौ हि मन्यते॥५३॥

स एकोऽल्लाहनामा च रामनामा निगद्यते।
करीमा केशवः सैव हरिर्हजरतस्तथा॥ ५४॥

एकस्मिन् कनके कामं मण्डनं जायते बहु।
वस्तुभेदो भवेन्नैव तथैवात्र विचिन्त्यताम्॥५५॥

व्यवहारप्रसिद्ध्यर्थं हाटकादौ विभिन्नताम्।
कल्पयन्ति यथा तद्वत्सर्वात्मजगदीश्वरे॥ ५६॥

मिथ्याभेदेन कुर्वन्ति निमाजं केऽपि मानवाः।
केचित्पूजां च कुर्वन्ति तत्त्वं जानन्ति केचन॥५७॥

है॥ ५२॥ हे भाई! दो जगदीश कहां से आया, तथा किस प्रयोजन के लिये दो सिद्ध हुआ, और किससे भ्रमाया हुआ आप भिन्न मानते हो॥ ५३॥ वह एकही अल्लाहनामवाला और रामनामवाला कहा जाता है। वही करीमा और केशव है, तथा हरि और हजरत है॥ ५४॥ एकही सुवर्ण में यथेष्ट बहुत भूषण होता है, परन्तु पदार्थ का भेद नहीं होता, तैसे ही ईश्वर में समझो॥ ५५॥ व्यवहार की सिद्धि के लिये हाटक (सुवर्ण) आदिरूप भूषणों में भेद की कल्पना जैसे करते हैं, तैसे ही सर्वात्मा जगदीश्वर में समझो॥ ५६॥ मिथ्या भेद से ही कोई मनुष्य निमाज करते हैं (पढते हैं) तो कोई पूजा करते है। कोइ भेद रहित तत्त्व (स्वरूप) को जानते हैं॥ ५७॥

वही महादेव वही मुहम्मद, ब्रह्मा आदम कहिये।
कोइ हिन्दू कोइ तुरुक कहावै, एक जिमीं पर रहिये॥
वेद किंतेब पढ़े वे कुतबा, वे मोलना वे पांडे।
बेगर बेगर नाम धरायो, एक मटिया के भांडे॥

एक एव ह्यवर्णो यो बहुधा शक्तियोगतः।
दृश्यते तत्र भेदो न सत्यो देवे कथञ्चन॥ ५८॥

महादेवो हि यो देवः स मुहम्मदनामकः।
ब्रह्मैवादमनामापि कथ्यते गुणभेदतः॥ ५९॥

हिन्दवः केऽपि कथ्यन्ते तुरुष्काश्च तथा परे।
कथ्यन्तां ते तथा कामं तिष्ठन्तु त्वेकभूमिषु॥ ६०॥

एकत्वे किञ्च देवस्य सर्वस्यात्मस्वरूपिणः।
हिन्द्वादिः कथ्यतां कोऽत्र सर्वैः स सेव्यतां प्रभुः॥ ६१॥

केचित्पठन्ति वेदादीन् कुराणादींस्तथाऽपरे।
मनीषिमोलनानाम्ना कथ्यन्ते च पृथक् पृथक्॥ ६२॥

जो एक अवर्ण (जाति गुणादि रहित) होते भी शक्ति (माया) के योग से बहुधा दीखता है, उस देव में सत्य भेद किसी प्रकार नहीं है॥ ५८॥ जो देव महादेव है, वही मुहम्मद नामक है। ब्रह्मा ही आदमनामा भी कहाते हैं। यह भेद भी गुणभेद से है॥ ५९॥ कोई हिन्दू कहाते हैं, अन्य तैसेही तुरुक कहाते हैं। वे यथेष्ट कहावें, परन्तु एक स्थानों (धर्मादि भूमिकाओं) में स्थिर होवें॥ ६०॥ और सब के आत्मस्वरूप देव के एक होने पर, वस्तुतः हिन्दू आदि भी कौन कहा जाय, वह प्रभु सब से सेवा जाय॥ ६१॥ कोई वेदादि पढते हैं। तथा अन्य कुराणादि पढ़ते हैं, और मनीषी (पण्डित) मोलना नाम से जुदा २ कहे जाते हैं॥६२॥

कहहिं कबिर ई दोनों भूले, रामहिं किनहुं न पाया।
वे खस्सी वे गाय कटावै, बादहिं जन्म गमाया ॥ २६ ॥

नामभिर्ये च कथ्यन्ते देहास्तान् खलु तत्त्ववित्।
मृदो भाण्डानि जानाति तथा नैते कुबुद्धयः ॥ ६३ ॥
देहाभिमानिनस्त्वेते ह्युभये भ्रान्तमानसाः।
आत्मानं जगतामीशं रामं केऽपि न चाऽविदन् ॥ ६४ ॥
अलाभेन च रामस्य बालिशा ह्यार्यमानिनः।
क्रूरा बस्तं विहिंसन्ति घातयन्ति तथा परैः ॥ ६५ ॥
यवनाश्च तथा क्रूरा निर्दया भिन्नदर्शिनः।
गवादेर्हिंसनं नित्यं कुर्वन्ति कारयन्ति च ॥ ६६ ॥
उभये मानुषं जन्म स्वर्गनिर्वाणसाधनम्।
मुधैव नाशयन्तीति कबीरो भाषते गुरुः ॥ ६७ ॥
हिंसया न भवेत्पूजा न धर्मो न परा गतिः।
नैव जीवनसाफल्यं ध्यानं भक्तिर्नयो नहि ॥ ६८ ॥

और नामों से जो देह कहे जाते हैं, तत्त्वज्ञानी उन देहों को मिट्टी के भाण्डा जानते हैं, परन्तु ये कुबुद्धि लोक तैसे नहीं जानते, देहों को ही आत्मा मानते हैं ॥ ६३ ॥

भ्रान्त मनवाले देहाभिमानी ये दोनों ही हैं। इससे जगत के आत्मा ईश्वर राम को कोई नहीं पाया ॥ ६४ ॥ और राम के नहीं मिलने से क्रूर (निर्दय) बालिश (अज्ञ) आर्यमानी लोक बस्त (छाग-बकरा) को मारते हैं, तथा दूसरों से मरवाते हैं ॥ ६५ ॥ तैसे ही क्रूर (कठिन) निर्दय, भेददर्शी यवन गौ आदि की हिंसा सदा करते कराते हैं ॥ ६६ ॥ दोनों स्वर्ग मोक्ष के साधन मानुष जन्म को व्यर्थ ही नष्ट करते हैं, यह गुरु कबीर साहब कहते हैं ॥ ६७ ॥ हिंसा से न पूजा होती है, न धर्म होता है, न परा (उत्तमा) गति होती है, न जीवन की सफलता वा ध्यान

शृण्वन्ति केऽपि नहि सद्गुरुसारशब्दं,
स्वादेन नष्टहृदया यवनास्तथाऽऽर्याः।
सर्वात्मराममजरं नहि ते भजन्ति,
हिंसामदादिकमलं न ततस्त्यजन्ति ॥ ६९ ॥

इति हनुमद्दासकृतायां शब्दसुधायां ज्ञानं विना भेदहिंसादिवर्णनं नाम नवमस्तरङ्गः ॥९॥

भक्ति होती है, न नय (नीति) है ॥ ६८ ॥ स्वाद से नष्ट बुद्धिवाले हिन्दू तुरुक कोई सद्गुरु के सार शब्द को नहीं सुनते हैं। और वे लोक अजर सर्वात्मा राम को नहीं भजते हैं, तिससे हिंसामदादि को अच्छी तरह नहीं त्यागते हैं ॥ ६९ ॥

अक्षरार्थ—हे भाइ ! एक जगत के उपास्य ज्ञेय जगदीश्वर दो कहां से आये, किस प्रमाण से सिद्ध हुए। सर्वज्ञ सर्वशक्ति युक्त एक ही ईश्वर उपास्य है ; यदि दो समझते हो, तो भ्रम में हो। कहो कि तुम्हे कौन भरमाया है, इस भ्रम को त्यागो। और समझो कि एक ही सर्वात्मा ईश्वर देश उपाधि आदि के भेद से अल्लाह राम करीमा केशव हरि हजरतादि अनेक कल्पित नाम धराया है, भिन्न नहीं हुआ है। जैसे एक कनक में अनेक गहना (भूषण) बनते हैं, परन्तु इन गहनाओं में सुवर्ण से दूजा (दूसरा) भाव (सत्ता पदार्थ) नहीं रहता है, या दूजा भाव (भेद) नहीं रहता है, तैसे ही एक जगदीश माया से नाना प्रकार का होता है, परन्तु सत्ता भेद नहीं होता है। केवल कहने सुनने (व्यवहार) के लिये दृष्टान्त दार्ष्टान्त में दो (भेद) करके स्थापित (निश्चय) किया जाता है। और उस कथन मात्र के भेद से ही कोई निमाज पढता है, तो कोई पूजा करता है।

वही जगदीश गुणभेद से महादेवादि कहाता है, तथा हिन्दू के महादेव, तुरुक के मुहम्मद है। हिन्दू के ब्रह्मा तुरुक के आदम हैं। इससे चाहे कोई हिन्दू कहावो कोई तुरुक कहावो, परन्तु सब एक

जिमीं (भूमिका) पर रहो (एकेश्वरवादी रागद्वेष रहित सत्यात्मनिष्ठ होवो । (भेद भ्रम को त्यागो) इत्यादि । इस स्थिति विना पण्डित लोक वेद पढते हैं, वे (तुरुक) कितेब (कुराणादि) को कुतवा (खुतवा–पढते) हैं । वे (तुरुक) खुतवा (पढने) वाले होकर मोलना कहाते हैं । और वे (हिन्दू) वेद पढकर पांडे (पण्डित) कहाते हैं । परन्तु आत्मज्ञान विना एक मिट्टी के भांडा (देह) के ही वेगर २ (जुदा २) नाम इन लोकोंने धराया है, और उसी के अभिमानी हुए हैं ।

और देहाभिमानी हिन्दू तुरुक दोनों भूले हैं, इससे किनहुं (किसी) ने सर्वात्मा राम को नहीं पाया । और राम को नहीं पाने से वे (हिन्दू) खस्सी (बकरा) काटता कटवाता है । और वह तुरुक गाय काटता कटवाता है । इससे दोनों अमूल्य उत्तम जन्म को बांद (व्यर्थ) ही गमाया और गमाता है ॥ २६ ॥

गृहाद्यासक्तिनिषेधभक्तिनिरूपण प्रकरण १०

गृहशरीरेन्द्रियादि में ममता, अहंकार, भूल (भ्रम), कार्याविद्या स्वरूप है, उनमें शरीराभिमानादि का प्रथम वर्णन हुआ है । अब गृहादि के अभिमानादि की निवृत्ति के लिये कहते हैं कि–

शब्द ॥ २७ ॥

भूला लोक कहै घर मेरा ।

जा घरवा महँ भूला डोलहु, सो घरवा नहिं तेरा ॥

देहेष्वात्माभिमानेन ये भ्रान्ता लौकिका जनाः ।
ते चास्माकं गृहाणीत्थं कथयन्ति स्मरन्ति च ॥ १ ॥

देहों में अभिमान से जो संसारी लोक भ्रान्त (भ्रमयुक्त) हैं, सो मेरा घर है, इस प्रकार कहते हैं, और स्मरण करते हैं ॥ १ ॥ सद्गुरु

हाथी घोड़ा बैल बाहनू, संग्रह कियहु घनेरा।
वस्ती महँ से दियो खदेरा, जंगल हियहु बसेरा॥
गांठी बांधि खरच नहिं पठयो, बहुरि न कीयो फेरा।
बीबी बाहर हरम महल में, बीच मियाँ को डेरा॥

सद्गुरुश्चाह तान् यूयं भ्रान्ता यत्र हि धावथ।
तानि सन्ति न युष्माकं दूयध्वे तत्र मोहतः॥ २॥
हस्त्यश्ववृषयानानां कृतवन्तोऽतिसंग्रहम्।
स विद्राव्यात्मनो ग्रामाद् वने वासमकल्पयत्॥ ३॥
तेनैव द्राविता यूयं वसथाऽत्र भयावहे।
भवारण्ये न यत्रास्ति सन्मार्गः सुलभः सदा॥ ४॥
द्रावयत्यथवा मृत्युर्यदाऽस्मान्नगरात्तदा।
भवत्येव वने वासः संग्रहादिर्न संभवेत्॥ ५॥
सुखार्थो नाऽत्र सद्धर्मशम्बलोऽपि सुसञ्चितः।
न ज्ञानं नापि सद्भक्तिर्हृदये धारितं त्वया॥ ६॥

उनको कहते हैं कि भ्रान्त होकर तुम जिन घरों में विचरते हो, वे घर तुम्हारे नहीं हैं, उनमें मोह से व्यर्थ दुःखी होते हो॥ २॥ हाथी घोड़ा बैल रथ का अतिसंग्रह, तुमने किया, सो संग्रह, आत्मस्वरूप ग्राम से भगाकर, संसारवन में तेरा वास सिद्ध किया॥ ३॥ उस संग्रह से ही भगाये हुए तुम इस भयावह (भयकारक) संसारवन में वसते हो, कि जहां सदा ही सत मार्ग सुलभ नहीं है॥ ४॥ अथवा जब मृत्यु इस नगर से भगाता है, तब उस वन में वास होता कि जहां संग्रहादि नहीं हो सकता॥ ५॥

तुमने सुखार्थक श्रेष्ठ धर्मरूप शम्बल (पाथेय-बाटखर्च) भी यहां सुसञ्चित नहीं किया, न ज्ञान न सद्भक्ति ही हृदय में स्थिर किया॥ ६॥

क्रममुक्तिप्रसिद्ध्यर्थं यल्लोकान्तरसाधनम् ।
युष्माभिर्न कृतं तच्च दानादि क्रियते न च ॥ ७ ॥
सर्वं संगृह्य बध्नन्ति भवन्तो न दिशन्ति चेत् ।
कथं सौख्यं कथं शौक्ल्यं हृदयेषु भवेत् सदा ॥ ८ ॥
यमानन्दं च विस्मृत्य वने वसथ दुर्गमे ।
परावृत्त्य न तच्चिन्तां कृतवन्तः कदाचन ॥ ९ ॥
यथा वै यवनः कश्चिद् बहिः कृत्वा कुलाङ्गनाः ।
कुलटाः स्थापयेद् गेहे तासां मध्ये वसेत् सदा ॥ १० ॥
बहिः कृत्वा तथा बुद्धिं सद्विचारादिसंयुताम् ।
अविद्यां लालसां तृष्णां कुर्वते हृदि दारुणाम् ॥ ११ ॥
तासां मध्ये च तिष्ठन्तिः भवन्तः स्वाविवेकतः ।
निमग्नास्तेन मोहाब्धौ स्वं रामं संस्मरन्ति न ॥ १२ ॥

क्रम से मुक्ति की प्राप्ति के लिये जो लोकान्तर के साधनरूप दानादि है, सो भी तुम सबने नहीं किया, और न अभी भी दानादि किये जाते हैं ॥ ७ ॥ और आप सब सब संग्रह करके बाँध रखते हैं, यदि देते नहीं हैं; तो सदा सुख कैसे हो, तथा हृदयों में शुक्लता (श्वेतता-शुद्धि) कैसे हो ॥ ८ ॥ और जिस आनन्दात्मा को भूलकर दुर्गम (कठिन) वन में बसते हो, इस वन से लौट कर उस आनन्दात्मा की चिन्ता (स्मरण) कभी नहीं किया ॥ ९ ॥ जैसे कोई यवन अपनी कुलाङ्गनाओं (घर की सुन्दर स्त्रियों) को घर से बाहर निकाल कर, घर में कुलटा (पुंश्चली) को स्थिर करे, और उनके बीच में सदा रहे ॥ १० ॥ तैसे ही सद्विचारादि सहित बुद्धि को बाहर करके आप अविद्या लालसा (अतितृष्णा) तृष्णा रूप दारुण (भयकारक) को हृदय में स्थिर करते हैं ॥ ११ ॥ और अपने अविवेक से आप उनके ही बीच में रहते हैं; तिससे मोहसमुद्र में निमग्न आप आत्माराम को नहीं याद (स्मरण) करते हैं ॥ १२ ॥

नव मन सूत अरुझ महिं सरुझे, जन्म जन्म अरुझेरा ।
कहहिं कबीर सुनहु हो सन्तो, यह पद करहु निवेरा ॥२७॥

तेनाऽत्र मानसाद्याश्च घ्राणाद्या ज्ञानहेतवः ।
न वाऽपि विषये सक्तास्तन्तुवच्च विमिश्रिताः ॥ १३ ॥
यद्वा ज्ञाता तथा ज्ञानं ज्ञेयं भोक्ता च भोग्यकम् ।
भोगः कर्ता क्रिया चैव करणं च जगत् खलु ॥ १४ ॥
तन्तवो नन्दमनकाः सन्त्येते मिश्रिता इव ।
आत्मना न विविच्यन्ते ह्यध्यासात्सर्वजन्मसु ॥ १५ ॥
सद्गुरुर्भाषते साधो ! श्रवणादि विधीयताम् ।
विवेकेनात्मनश्चास्य स्वाध्यासापनयं कुरु ॥ १६ ॥
अध्यासापनयात्साधो ! संसारो विनिवर्तते ।
क गृहादिसमारम्भः[१] क ममत्वविडम्बना ॥ १७ ॥ २७ ॥

उस आत्माराम का स्मरण नहीं करने से मन आदि चार अन्तःकरण, घ्राणादि बाह्यकरण, नवों ज्ञान के हेतु इन्द्रिय विषयों में आसक्त हुए हैं, तथा तन्तु के समान विमिश्रित (मिलित) अरुझे हैं ॥१३॥ अथवा ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय; भोक्ता, भोग्य, भोग; कर्ता, क्रिया, करण; ये नवधा जगत् हैं ॥ १४ ॥ ये ही नन्द (नव) मन तन्तु हैं, सो आत्मा के साथ मिश्रित तुल्य हैं । सब जन्म में अध्यास के कारण विविक्त (भिन्न) नहीं होते हैं ॥ १५ ॥ सद्गुरु कहते हैं कि हे साधो ! श्रवणादि करो, इस आत्मा के विवेक से अपने अध्यास का अपनय (निवृत्ति नाश) करो ॥ १६ ॥ अध्यास के नाश से हे साधो ! संसार निवृत्त हो जाता है, फिर कहां गृहादि का समारम्भ (सृष्टि) और कहां ममत्व की विडम्बना (विस्तार) हो सकते हैं ॥ १७ ॥

१ ' गृहारम्भो हि दुःखाय न सुखाय कथञ्चन । सर्पः परकृतं वेश्म प्रविश्य सुखमेधते ' ॥

अक्षरार्थ– जो लोक सर्वात्मा राम को भूले हैं, सो देहाभिमानी कहते हैं कि यह घर मेरा है। गुरु कहते हैं कि जा (जिस) घर में भूल (आसक्त हो) कर, व्यवहारों में डोल (भटक) रहे हो ।। सो घर वस्तुतः तेरा नहीं है, यह मिथ्या है। तुम सत्य असङ्ग हो। और हाथी घोड़ा बैल वाहन (रथादि) घनेरा (बहुत) पदार्थों का संग्रह (समाहार) किये हो, या बहुत संग्रह (प्राप्ति) किये हो। सो संग्रह संगृहीत पदार्थ ही तुमको सर्वात्मराम वस्ती (स्थान) से खदेड़ (भगा) दिये हैं कि संसार जंगल में तुम बसेड़ा (बास) किये हो। और देह से जब मृत्यु खदेड़ता है, तब देह का जंगल में वास होता है, तथा तुम भी संसार बन में बसते हो, हाथी आदि साथ नहीं जाते हैं, इससे ये सब भी तेरे नहीं है।

संग्रह ममता में लगे रहने से तुमने भक्ति ज्ञानादि बाट खरच (शम्बल) हृदय में गांठी नहीं बांधा (धारण नहीं किया), न क्रम से मुक्ति के लिये खरच पठाया (भेजा) अर्थात् निष्काम होकर सत्पात्र के प्रति दान नहीं किया, न योगोपासनादि किया। या जो पाया सो गांठि में बांधा, आगे खरच के लिये नहीं भेजा। और सांसारिक कामों से बहुरि (लौट) कर विस्मृत निजात्मदेवादि के तरफ तुमने कभी फेरा (खोज विचार) नहीं किया। और जैसे कोई मियां (मुसलमान) अपनी बीबी (स्त्री) को बाहर निकाल दे, और हरम (वेश्या) को महल (घर) में रखे, और उस वेश्या के बीच में डेरा (स्थिति) करे। तैसे तुमने बीबी (विद्या विज्ञान) को बाहर विषयों में लगाया, और हरम (अविद्या तृष्णादि) को महल (हृदय) में बसाये हो, और उन आशातृष्णादि में बसे हो। अथवा जब मृत्यु खदेड़ता है, तब कोई कुछ गांठी में नहीं बांध सकता है, न कहीं कुछ खरच के लिये भेज सकता है, न उस वस्तु की फेरा (देखभाल) फिर कर सकता है। इससे वह बीबी (द्वैतमय वस्तु)

तो बाहर जहां के तहां रह जाती है। परन्तु चित्त को हरनेवाली हरम (वासना) महल (मन बुद्धि) में रहती है, जहां जीव का भी डेरा है।

अविद्या आशा तृष्णादि के बीच मे रहने से चार अन्तःकरण, पांच ज्ञानेन्द्रिय रूप नौ मन सूत अरुझे हैं (विषयों में आसक्त हैं)। तथा असंगात्मा में अविवेक से सम्बन्धयुक्त भासते हैं, और इसीसे प्रमाता प्रमाण प्रमेयादि नवधा संसार भी आत्मा में भासते हैं। और जन्म २ में अरुझते ही जाते हैं। साहब का कहना है कि हे सन्तो! श्रवणादि करो, और यह पद (अपरोक्ष आत्मा) का विवेक करके सब अरुझ की निवृत्ति करो, वासनादि रहित मुक्त होवो।

विशेष बात यह है कि, यद्यपि (अष्टौ ग्रहा अष्टावतिग्रहाः। बृ० ३। २। १)। 'एकादशग्रहास्तद्वृत्तावन्तः स्युरतिग्रहाः। यद्यप्येते तथाप्यष्टौ प्रधाना इति कीर्तिताः'॥ आत्मपु०। १४२) इन वचनों के अनुसार, वायुसहित घ्राण (नासिका), वाक्, जिह्वा, नेत्र, श्रोत्र, मन, हाथ, त्वक्; ये आठ ग्रह हैं, और गन्धविशेष वायु, नाम (वक्तव्य विषय), रस, रूप, शब्द, काम, कर्म, स्पर्श; ये आठ अतिग्रह हैं। और वस्तुतः एग्यारह इन्द्रिय ग्रह हैं, उनके विषय अतिग्रह हैं। प्रधानता की दृष्टि से आठ कहे गये हैं। और ये ही बन्धन के हेतु हैं; इससे सूतरूप हैं, तो भी साहब ने जो नौ कहा है, उसका तात्पर्य है कि ('मुक्तबुद्धीन्द्रियो मुक्तो बद्धकर्मेन्द्रियोऽपि हि। बद्धबुद्धीन्द्रियो बद्धो मुक्तकर्मेन्द्रियोऽपि हि'॥ योगवा० ४। १५। ४२) इस वचन के अनुसार कर्मेन्द्रिय के बन्धन में रहते भी, ज्ञानेन्द्रिय की निर्बन्धता से मुक्ति ही रहती है, और कर्मेन्द्रिय के मुक्त रहते भी ज्ञानेन्द्रिय के बन्धन से बन्धन होता है, सो ज्ञानेन्द्रिय भी अन्तःकरण विना कुछ नहीं कर सकती; इससे अन्तःकरण सहित ज्ञानेन्द्रियां ही बन्धनकारक हैं, अन्य नहीं इत्यादि ॥ २७ ॥

अनात्मपरायण जिन अन्तःकरणादिकों* से बार २ जन्मादि होते हैं। जिन्हें समझाने के लिये उपदेश हुआ है, उन्हें हरिरूप पट बनाने के लिये (हरिपरायण हरि में लीन करने के लिये) कहते हैं कि–

शब्द ॥ २८ ॥

जोलहा बीनहु हो हरिनामा। जाको सुर नर मुनि धरु ध्याना ॥
ताना तनै के अहुंठा लीन्हो, चरखी चारो वेदा।

मानवीं सत्तनुं लब्ध्वा जिज्ञासां वाऽप्यनुत्तमाम्।
भो जीवा[1] उक्तसत्सूत्रैर्वयन्तां विमलं पटम् ॥ १८ ॥

हरिनाम्ना प्रसिद्धं तं यं ध्यायन्ति सुराऽसुराः।
मुनयोऽपि महात्मानो लभन्ते यं च केचन ॥ १९ ॥

पटस्यामुष्य वानार्थं लब्धं चेदं कलेवरम्।
मितं सार्द्धत्रिभिर्हस्तैरनाहार्यफलं हि यत् ॥ २० ॥

हे जीव ! मानुषी श्रेष्ठ देह वा श्रेष्ठ जिज्ञासा पाकर, उस अन्तःकरण इन्द्रियरूप सूत्रों (तन्तुओं) से विमल पट को बीनो ॥ १८ ॥ हरिनाम से प्रसिद्ध उस पट को बीनो, कि जिसका सुर असुर मुनि महात्मा भी ध्यान करते हैं, और जिसको कोई विरल पाते हैं ॥ १९ ॥ इसी पट को वान (बीनने सीवने) के लिये साढे तीन हाथ से मित (परिमित) यह देह मिला है, जो अनाहार्य (सत्य) फल का हेतु है ॥ २० ॥ सूत्र (तन्तु)

---

१ (नृपायां वैश्यसंसर्गादायोगव इति स्मृतः। तन्तुवाया भवन्त्येव वसुकांस्योपजीविनः ॥) इस स्मृति वर्णित जातिविशेष को लोक में जुलाहा कहते हैं, परन्तु यहां मानव तनुधारी जीव विशेष को जोलाहा प्रसंगानुसार कहा गया है।

सर खूंटी एक राम नरायण, पूरण प्रगटे भेदा (कामा)॥

सूत्रयन्त्राणि वै वेदाः कीलकस्तु शरस्तथा ।
एको नारायणो रामो बहुरूपेण सिद्धिदः ॥ २१ ॥

ततः सिद्ध्यन्ति वै कामाः तत्त्वमाविर्भवेत्ततः ।
तस्माच्च भेदयुक्तोऽयं संसारो व्यज्यतेऽध्रुवः ॥ २२ ॥

ताना तानने के बाद जुलाहा एक कठौत (काष्ठपात्र) में मांड रखकर उस तानी को उसमें सानता (मिलाता है । फिर लकड़े के दो गोड़ा दो तरफ लगाता है, और मांझा बीच में लगाता है । उस पर तानी को पसार कर, कूंचा से मांजता है । मांजते समय सूत के टूटने पर मून्हीं (गांठ) देता है । इससे कहते हैं कि—

भवसागर एक कठवत कीन्हा, तामें मांड़ी साना ।
मांड़ी के तन मांड़ि रह्यो है, मांड़ी बिरले जाना ॥

व्यक्तः स काष्ठपात्रं स्यात् पञ्चभूतप्रमेलनम् ।
कृतं यदात्मना तत्र मण्डं तद्धि समर्पितम् ॥ २३ ॥

भूतमण्डात्मको देहः संसारं व्याप्य तिष्ठति ।
तं विवेकेन जानन्ति विरला मानवा भुवि ॥ २४ ॥

का यन्त्र (चखी) रूप चारों वेद हैं, कील तथा शर आदि साधनरूप बहुतरूप से सिद्धि देनेवाला एक नारायण राम हैं ॥ २१ ॥ उसी राम से सब काम सिद्ध होते हैं । उसीसे तत्त्व प्रगट होता है । तिसी राम से अध्रुव (अशाश्वत्–चंचल) भेदयुक्त यह संसार प्रगट होता है ॥ २२ ॥

व्यक्त वह संसार ही कठौत होगा, पांच भूतों का जो आत्मा के साथ प्रमेलन (अध्यास) किया गया, सोई उसमें मांड़ समर्पित हुआ ॥२३॥ भूतरूप मांडस्वरूप यह देह संसार को व्याप्त करके स्थिर है । उस देह को विवेक से अनात्मारूप कोई विरला मनुष्य भूमि पर जानता है ॥२४॥

चान्द सूर्य दुइ गोड़ा कीन्हो, मध द्विप माँझा कीन्हा।
त्रिभुवन नाथ जु माँजन लागे, साम मून्हिया दीन्हा॥

चन्द्रसूर्यावुभौ नाड्यौ वाह्यौ वा चन्द्रसूर्यकौ।
गोडेति नामके पुष्टे ह्यधिष्ठाने कृते शुभे॥ २५॥
मध्यद्वीपोऽथ मध्यैषा नाड़ी माझेति नामकम्।
अधिष्ठानं कृतं येन धृतं सर्वं हि मध्यतः॥ २६॥
अस्यां भूततती जीवरूपेण प्राविशद्धरिः।
भुवनानां स नाथोऽपि तन्तूञ्छोधयते सदा।
समभावेन सम्बन्धान् ग्रन्थींश्च विदधाति ह॥ २७॥

मांजने से जो शुद्धि होती है, उसको पाई कहते हैं। उसके बाद बै भरना या बांधना होता है कि जिससे बिनते समय आधे २ सूत नीचे ऊपर होते हैं, और बीच से ढरकी निकलती है। इससे कहते हैं कि–

पाई कै जब भरनी लीन्हो, बै बान्धे को रामा।
बै भराय तिहुं लोकहिं बांध्यो, कोउ न रहत उवामा (ना)॥

शोधयित्वा यदा जीवो भरणाय प्रवर्तते।
पूर्णतायै पटस्यास्य तदा रामः स्वयं सदा॥ २८॥

चन्द्र सूर्य दोनों भीतर की नाड़ी वा बाहर के चन्द्रमा सूर्य गोड़ा इस नामवाले पुष्ट शुभ अधिष्ठान (आश्रय) किये गये हैं॥ २५॥ मध्यद्वीप (जम्बूद्वीप) अथवा मध्यवर्ती यह सुषुम्ना नाड़ी माझा इस नामवाला आश्रय किया गया है कि जिससे सब मध्य भाग से धृत (स्थिर) हैं॥ २६॥ इस भूतों के विस्तार में हरि जीवरूप से पैठा है। वह भुवनों का स्वामी भी भक्तों के तन्तुओं को सदा शोधता है। और समभाव से सम्बन्ध तथा ग्रन्थी को भी वही बनाता है॥ २७॥

शुद्धि करके जब जीव, उसका भरण (पोषण) के लिये, इस पट की पूर्णता के लिये प्रवृत्त होता है, तब स्वयं राम ही सदा, सर्वत्र उपकारक,

तीन लोक एक करिगह कीन्हा, डगमग कीन्हा ताना।
आदि पुरुष बेठावन बैठे, कबिरा ज्योति समाना ॥ २८ ॥

व्यूत्यर्थबन्धनाधारः सर्वत्रैवोपकारकः।
विवेकाय च सूत्राणां जायते साक्षिणस्तथा ॥ २९ ॥

व्यूत्यर्थे बन्धने जाते सन्मर्यादादिलक्षणे।
त्रयो लोका नियम्यन्ते तिर्यग्भिन्नो न कश्चन ॥ ३० ॥

संशुद्ध्यति सदा सर्वं बाह्यान्तःकरणं निजम्।
विवेकाय तदा राम आविर्भवति स स्वयम् ॥ ३१ ॥

चित्तं निर्विषयं यस्य हृदयं चाति शीतलम्।
तस्य मित्रं जगत् सर्वं मुक्तिः शुद्धा करस्थिता ॥ ३२ ॥

लोकत्रयं कृतं चैकं गृहं वयनसिद्धये।
तत्रत्यं सर्वविस्तारं चलाचलमलोकत ॥ ३३ ॥

व्यूति (वाणि-वान) बिनने के लिये बन्धन का आधार होते हैं, तथा सूत्र और साक्षी के विवेक के लिये भी होते हैं ॥ २८-२९ ॥ व्यूति (बिनने) के लिये बन्धन सत मर्यादा आदिरूप होने पर, तीनों लोक नियमित हो जाते हैं। उस पुरुष के लिये कोई तिर्यक् (वक्र गतिवाला) वा भिन्न नहीं होता है ॥ ३० ॥ जब बाहर भीतर की अपनी सब इन्द्रिय सम्यक् शुद्ध होती हैं, तब वह राम विवेक के लिये स्वयं प्रगट होता है ॥ ३१ ॥ जिसका चित्त निर्विषय (विषयासक्ति रहित) है, और हृदय स्थान अत्यन्त शीतल (क्रोधादि रहित) है, उसका सब जगत् मित्र है, और मुक्ति हाथ में स्थिर है ॥ ३२ ॥

हरिनामवाला के पट वयन (बुनाई) की सिद्धि के लिये तीनों लोक एक गृहरूप किया गया है। वहां के सब विस्तार को जो जीव चलाचल (चञ्चल) देखा ॥ ३३ ॥ वह जीव तीनों लोक को चालयित्वा (माया का

चालयित्वा तु जीवोऽसौ भूत्वा स्वादिस्वरूपवान्।
बोधस्याप्यस्य संहारे परानन्दे प्रवर्तते ॥ ३४ ॥
भूत्वा ज्योतिःस्वरूपोऽसौ विशत्यत्र समप्रभे।
उन्मज्जति ततो नैव तथा साधो समाचर ॥ ३५ ॥
" मा भव ग्राह्यभावात्मा ग्राहकात्मा च मा भव।
भावनामखिलां त्यक्त्वा यच्छिष्टं तन्मयो भव ॥ ३६ ॥
त्यज धर्ममधर्मं च सत्यानृते उभे त्यज।
सत्यानृते उभे त्यक्त्वा येन त्यजसि तत्यज " ॥३७॥२८॥

विलास-कार्य मात्र करके) मिथ्या समझ कर, अपना आदि स्वरूपवाला (आत्मनिष्ठ) होकर इस बोध का भी संहार (लय) रूप उत्तम आनन्द में प्रवृत्त होता है ॥ ३४ ॥ वह ज्योतिः स्वरूप हो कर समप्रकाश स्वरूप इस आत्मा में लीन होता है। और उससे फिर बाहर नहीं होता है, हे साधो ! तैसा तुम भी सम्यगाचरण करो ॥ ३५ ॥ किसी ग्राह्य (प्रमेय) रूप नहीं होवो, न ग्राहक (प्रमाता) रूप होवो, सब भावना को त्याग कर, त्यागके अयोग्य जो शेष स्वरूप है तन्मय होवो, यह योग वासिष्ठ का वचन है ॥ ३६ ॥ और धर्म तथा अधर्म को त्यागो (इनके अभिमानादि से रहित होवो) और लौकिक सत्य झूठ को विवेक बुद्धि से त्यागो, आत्मनिश्चय से बुद्धि को भी त्यागो ॥ ३७ ॥

अक्षरार्थ - हे जोलहा ! (मनुष्य, विवेकी जीव) ! हरिनामा (हरि-नामवाला) उस पट को उन सूतों से बीनो (मन आदि द्वारा उस हरि की प्राप्ति करो) कि जिस हरि के सुर नर मुनि ध्यान धरते (करते) हैं। उसी हरि की प्राप्ति के लिये तुम अहुंठा (साढे तीन) हाथ का यह देह लिये (धरे) हो, इससे विचारादि ताना तानो। और चार वेदरूप चरखी भी पाये है, इससे वेदादि द्वारा भी हरि के ही विचारादि करो। और ताना तानने में आधार रूप शर खूंटी आदि स्वरूप एक (अद्वैत) राम

नारायण ही हैं (विचारादि के विषय एक राम नारायण को समझो)। सब नरों के आश्रय उस एक राम से ही सब भेद पूर्ण (अच्छी तरह) प्रगट हुए हैं। सब कार्य उस राम नारायण से ही सिद्ध होता है। अथवा एक शुद्ध राम शर हैं, नारायण (ईश्वर) खूटी हैं, इनमें ताना तानने पर पूर्ण (व्यापकात्मा) का भेद (ज्ञान) प्रगट होता है। भेदा के स्थान में कामा पाठ प्राचीन है, तब अर्थ है कि राम नारायण शर खूंटी जानने से तेरा काम पूर्णरूप से प्रगट होगा, कि जिससे तुम पूर्णकाम निष्काम होकर मुक्त होगे।

हरिनामा पट बिनने में भवसागर एक कठौत किया गया है, उसमें पांचभूत रूप मांड़ी साना गया है। इन्द्रिय आत्मा के साथ मिलाया गया है। और मांड़ी (भूत) का देह संसार में मांड़ि (व्याप्त) हो रहा है। तिसको मांड़ी (भूत) रूप कोई विरला विवेकी जाना। और चन्द्र सूर्य लोक वा नाड़ी दो गोड़ा किये हैं, और मध्य (जम्बु) द्वीप वा सुषुम्ना नाड़ी माझा किया है। और इनके द्वारा त्रिभुवननाथ (जीव) उक्त सूत को मांजने में लगा है (ध्यान विचारादि से शुद्ध स्वरूप को समझने लगा है) और मन आदि को शुद्ध करने लगा है। और वृत्ति में भेद होने पर समता रूप मून्ही (गांठ) दिया है। और देता है। (मांझ द्वीप किय मांझा) यह प्राचीन पाठ है। त्रिभुवन नाथ पद के ब्रह्मा आदि भी अर्थ हो सकते हैं।

उन सूतों की पाई (शुद्धि) करके, शुद्धात्मा का विवेक करके, जब जीव भरनी (पूर्ण हरि पट की प्राप्ति) को लिया, सर्वत्र हरि को जान कर उसमें सबका लय चिन्तन के लिये तैयार हुआ, तब सर्वात्मा राम ही बै बांधने के लिये प्रगट हुए, सर्वाधाररूप से भासने लगे। और जब वै भर गया (विवेकादि पूर्ण हुआ) तब तीनों लोक नियति सूत्र से बंध गया, कोई भी उवाम (उवान–टेढ अनियमित) नहीं रहा, ज्ञानी के सब आत्मा हो गया, इससे कोई विरोधी नहीं रहा।

विवेकियों ने तीनों लोक को हरिनामा पट्ट बिनने के लिये एक ही करिगह (घर विशेष) किया (समझा) है। और संसार का विस्ताररूप ताना को डगमग (चलायमान) किया (समझा) है, और अचल हरिरूप पट का निश्चय किया है। सो उक्त साधनों से प्राप्त सर्वांदि पुरुष हरिरूप पट को बैठावने (सम्हालने) के लिये बैठा है, इससे वह कबीरा (विवेकी जीव) ज्योति तुल्य हो गया, तथा ज्योतियों के ज्योति में समा गया। अर्थात् जुलहा जैसे यन्त्र को चालू करके वस्त्र बनाकर, उसे समेटता है, तब सब कार्य से छुट्टी पाता है, तैसे ही हरि नामा पट को सिद्ध करके जीव कर्तव्य से मुक्त होता है। और यद्यपि स्मृति में तथा लोक में जाति विशेष को जोलहा कहते हैं, तथापि यहां उपदेश के प्रकरणादि से मानव तनुधारी जीव विशेष को ही जोलहा कहा गया है॥२८॥

पूर्ववर्णित रीति से सर्वात्मा हरि रूप पट की प्राप्ति विना अज्ञ जीवों की वासना अधीन सांसारिक गति का वर्णन करते हैं कि-

शब्द ॥ २९ ॥

रामुरा चली बिनावन माहो। घर छोड़े जात जोलाहो॥

जीवाख्योऽयं कुविन्दो वै यावद्रामं न विन्दते।
तावत्तेन विना ह्यस्य सत्सम्पत्तिं विना तथा॥ ३८॥
बुद्धिश्चलति संसारे वनेऽनित्ये भयावहे।
जीवो लब्धं गृहं त्यक्त्वा धावतेऽथ यतस्ततः॥ ३९॥

यह जीव नामक कुविन्द (जोलहा) जब तक राम को नहीं पाता है, तब तक उस राम के विना, तथा शमदमादि रूप सच्ची सम्पत्ति विना ही इस की बुद्धि अनित्य भयावह संसार वन में चलती है, और जीव भी प्राप्त घर को त्याग कर जहां तहां धावता (जाता) है॥ ३८-३९॥

गज नव गज दश गज उनइसकी, पुरिया एक तनाई।
सात सूत नव गांठ बहत्तर, पाट लागु अधिकाई॥
ता पट तूल न गज न अमाई, पैसन सेर अढाई।
ता महँ घटै बढै रतियो नहिं, करकच कर घरहाई॥

प्राणान्तःकरणैरङ्कैर्दशभिश्च तथेन्द्रियैः।
मानदण्डैर्मितं दीर्घं प्रातनोत्स पुनः पटम् ॥ ४० ॥
सप्तधातुमयान्यत्र सूत्राणि ग्रन्थयो नव।
नवद्वारस्वरूपा वा मुख्यनाडीमयाः खलु ॥ ४१ ॥
द्विसप्ततिश्च याः कोट्यो नाड्यो वाऽत्र ततोऽधिकाः।
लग्नास्ताश्च पटे चित्राः सुपाल्यादिस्वरूपतः ॥ ४२ ॥
अस्मिन् पटे च तूलो वा मानदण्डक एव वा।
विद्यतेऽमायिको नैव नैवाविशति लौकिकः ॥ ४३ ॥
अध्यास्ते शेटको नाऽत्र नाढको वा कथञ्चन।
पणतुल्यैर्महातुच्छैः कर्मभिर्लभ्यते महान् ॥ ४४ ॥

राम की प्राप्ति विना जो जीव देहरूप घर को त्याग कर गया सो फिर भी, पांच प्राण चार अन्तःकरणरूप अङ्क (नव) और इन्द्रियरूप दश मानदण्ड (गज) से मित (परिमित) दीर्घ पट का विस्तार किया ॥ ४० ॥ इस देहरूप पट में त्वक् मांस रुधिरादि रूप सात धातुमय सूत्र हैं। और नवद्वार रूप वा प्रधान नवनाडी मय ही नव ग्रन्थि (बन्धन) है ॥४१॥ और बहत्तर करोड़ वा उससे भी अधिक जो इसमें नाडी हैं, सोई इसमें विचित्र सुपालि (अंक) आदि स्वरूप से लगे हैं ॥ ४२ ॥

इस देह पट में धातु भूत रूप तूल प्राणादि रूप गज अमायिक (सत्य) नहीं हैं, न लौकिक तूलादि का इसमें प्रवेश है ॥ ४३ ॥ इसमें शेटक (सेर) वा आढक (अढैया) भी किसी प्रकार नहीं अध्यस्त होते (चढते) हैं। पैसा तुल्य महातुच्छ कर्मों से महान् देह पट मिलता है ॥ ४४ ॥

निति उटि बैठ खसम से बरबस, तामें लागु तिहाई।
भिंगी पुरिया काम न आवै, जोलहा चला रिसाई॥

प्राणाद्यैश्च समायुक्ते ह्रासो ह्यल्पो भवेन्नहि।
न वा वृद्धिस्ततो नित्यं तैर्युक्तो वर्तते चिरम्॥ ४५॥

किञ्चाऽत्र कच्चरं कर्म गुरुत्वं कुरुते सदा।
तापो हेत्यादिशब्दश्च जायतेऽतो निरन्तरम्॥ ४६॥

अपि तप्ता इमे लोका नित्यमुत्थाय रक्षकैः।
ईश्वरैः कुर्वते युद्धं स्थितिमुल्लङ्घ्य यान्ति च॥ ४७॥

संस्थां त्यक्त्वा कृते कार्ये कर्मणि क्वाप्यनुष्ठिते।
त्रिधाऽवस्था भवत्येव तत्र गुणविभेदतः॥ ४८॥

तत्फलं च सुखं दुःखं मोहं चानुभवञ्जनः।
न तृप्यति कदाप्यत्र वृद्धत्वं बाधते बलात्॥ ४९॥

प्राणादि सहित देह में ह्रास (न्यूनता) थोड़ा भी नहीं हो सकता, न उससे वृद्धि होती है, इससे उन प्राणादिकों से सहित ही चिर काल तक सदा रहता है॥ ४५॥ और कच्चर (मलिन) कर्म इसमें सदा गुरुत्व (बोझ) करता है, इसीसे ताप और हा हा इत्यादि शब्द निरन्तर होता है॥ ४६॥

सदा तापों से तप्त भी ये लोक सदा उठ कर, रक्षक ईश्वर से युद्ध करते हैं, और स्थिति (मर्यादा) का उल्लंघन (त्याग) करके जाते हैं॥ ४७॥ संस्था (मर्यादा) का त्याग करके कहिं कार्य करने पर, कोई कर्म करने पर भी, उसमें गुणभेद से तीन प्रकार की अवस्था होती है॥ ४८॥ और उसके फलरूप सुखदुःख मोह को भोगता हुआ प्राणी यहां किसी समय तृप्त नहीं होता है, तो भी बलात्कार से जरावस्था पीड़ित

कहहिं कबीर सुनहु हो सन्तो, जिन यह सृष्टि उपाई।
छाडु पसार राम भजु बौरे, भवसागर कठिनाई ॥ २९ ॥

वृद्धत्वाद्यैश्च संक्लिन्नं क्लिष्टं चेदं कलेवरम्।
कार्याऽक्षमं निरीक्ष्येव क्रुद्धो गच्छत्ययं ततः ॥ ५० ॥
भोः साधो ! श्रूयतामेतद्विचाराद्यैश्च बुध्यताम्।
यैर्विस्तारैः कृतं विश्वं तांस्त्यक्त्वा राममाश्रय ॥ ५१ ॥
भो मत्ता अस्य रामस्य सम्यगाश्रयणं विना।
भवाब्धावस्ति संक्लेशः पारश्चास्य न लभ्यते ॥ ५२ ॥
" यावतः कुरुते जन्तुः सम्बन्धान् मनसः प्रियान्।
तावन्तोऽस्य निखन्यन्ते हृदये शोकशङ्कवः " ॥ ५३ ॥
तस्मात्सर्वान्परित्यज्य सम्बन्धान् स्थितिमाश्रय।
विस्तारानखिलांस्त्यक्त्वा रामं लब्ध्वा सुखी भव ॥५४॥२९

करती है ॥ ४९ ॥ वृद्धत्वादि से सम्यक् क्लिन्न (आर्द्र) क्लिष्ट (दुःखी) इस देह को कार्य के लिये अयोग्य ही मानो जान कर, तब यह जीव क्रुद्ध होकर इससे चलता है ॥ ५० ॥

हे साधो ! इस वचनादि को सुनो, विचारादि से समझो, और जिन मन मायादि के विस्तारों से यह विश्व (भुवनादि) किया गया है, उन विस्तारों को त्याग कर राम का आश्रयण करो ॥५१॥ हे मतवाले लोको! इस राम के सम्यक् आश्रयण विना ही संसार सागर में अतिक्लेश है, और इसका पार भी नहीं मिलता है ॥ ५२ ॥ विष्णुपु० १७ । ६६ । वचन है, जन्तु (प्राणी) जितना ही मन के प्रिय सम्बन्ध करता है, उतना ही इसके हृदय में शोकरूप कील गड़ते हैं ॥ ५३ ॥ तिससे सब सम्बन्धों को त्यागकर स्थिति (धारणा) का आश्रयण करो । सब विस्तारों को त्याग कर, राम को पाकर सुखी होवो ॥ ५४ ॥

अक्षरार्थ– सर्वात्मा रामु (राम) रूप री (रै–धन) की प्राप्ति बिना तथा आत्माराम और शमादि सम्पत्ति विना जीव की बुद्धि वृत्ति वन माहो (संसार जंगल में) चली। तथा राम स्वरूप राजा की वृत्ति प्राप्त पट को त्याग कर, अन्य पट बिनांवने के लिये चली; तो उस बुद्धि के अनुसार जोलाहा (जीव) भी प्राप्त घर को छोड़ कर जाता है। और प्राणान्तः-करणरूप नौ गज, इन्द्रियरूप दश गज को मिलाकर उनइस गज की एक पुरिश्रा (थान) तनाई गई। जिसमें सात धातुरूप सात सूत लगते हैं, नव प्रधान नाडी वा नवद्वार नव गांठ हैं। और बहत्तर कोठरी का भी इसमें संबन्ध है, तथा अधिक पाट (किनारी) इसमें लगते हैं; अर्थात् बहत्तर करोड़, दश हजार, एक सौ, एक नाडी, इस देह पट में किनारी हैं।

उक्त रीति से सिद्ध देह पट में लौकिक तूल गज नहीं अमाते (पैठते) है। वा अमायिक (सत्य) तूल गज नहीं लगते हैं। तथा लौकिक सेर अढैया इसमें नहीं पैसते (पैठते) हैं। अथवा पैसों से ढाई सेर मिलता है, अर्थात् एक जन्म के कर्म का बहुत बार भोग के लिये देह मिलता है। क्योंकि मनुष्य जन्म के कर्म ही चौरासी लक्षयोनियों में भोगना होता है। और उस पट में रत्ति मात्र भी घटता बढता नहीं है, किन्तु कर्म वासनादि अनुसार उनइस गज के ही होता है। और करकच (असार मलिन) पाप कर्म इस देह में हाईं (हाय २) शोकादि प्रगट करते हैं। पाप से दुःख विलाप होता है। अथवा घरहाइ (घर में आसक्त कुबुद्धि जीव के कच (केश–मन) को कर (हाथ) में करती है, जिससे जीव दुःखी रहता है। घरहाई, के, गहराई, पाठान्तर का, गंभीरता तमोगुण अर्थ है, पाप से तमोगुण बढता है, बुद्धि मन्द होती है, इत्यादि।

कुकर्म से दुःख होने पर भी यह जीव नित (सदा) जब उठ कर बैठता है, तथा तामस पशु आदि योनियों से जब मनुष्य देह में आता है, तब खसम (स्वामी) से बरबस (जबरन–अन्याय) करता है। सदुपदेशादि को नहीं मानता है, मनमाना काम करता है। परन्तु उसमें भी

स्वाभाविक तिहाई लगते हैं, गुणभेद से सात्त्विकादि तीन प्रकार के कर्म होते हैं। तथा पुण्य रूप, पाप रूप, पुण्यपाप रूप, कर्म होते हैं। उनके फल सुख दुःख मोह होते हैं। तथा उस पट में जाग्रदादि तीन अवस्था प्राप्त होती हैं, तुरियाऽवस्था नहीं होती। फिर जब जरा रोगादि से यह देहरूप पुरिया (थान) भिंगती है (शिथिल होती है) तब भोग के लिये काम नहीं आती है, फिर जीवरूप जोलहा रिसाय (क्रुद्ध हो) कर चलता है। क्रोधी की नाईं देह को त्यागता है, एक हरि नाम पट के विना बार २ ऐसी दशा होती है, इत्यादि।

साहब का कहना है कि हे सन्तो ! श्रवणादि करो, और जिन मन के विस्तारों (कामादिकों) ने इस सृष्टि (देह) को उत्पन्न किया है, उन पसाराओं (विस्तारों) को छोड़ो (त्यागो), सब बरवस से रहित होवो, और सर्वात्मा राम को भजो। हे बौरे लोको ! पसारा बरबस का त्याग पूर्वक राम को भजने विना भवसागर में बहुत कठिनाई होती है, जैसे जहाज विना समुद्र में कठिनाई होती है ॥ २९ ॥

पूर्व प्रकरण में सर्वात्मा शुद्ध ब्रह्म को ही हरि रामादि शब्दों से कहा गया है। और उसीके भजन विचारादि के लिये उपदेश दिया गया है। परन्तु उस निर्गुण निष्प्रपञ्च सर्वात्मा का ज्ञानादि बहुत सन्तों के लिये भी कठिन है, उसके लिये तीव्र विरागादि की आवश्यकता है, इत्यादि आशय से कहते हैं कि—

शब्द ॥ ३० ॥

सन्त उ धारण चूनरी, ररा ममा के भाति हो ॥
बालमीक बन बोइया, चूनि लिया शुकदेव।

अतिशुद्धं पटं हित्वा रामं प्रावरणोत्तमम्।
साधवोऽपि पटं चित्रं परोक्षं धारयन्ति हि ॥ ५५ ॥

साधु लोक भी श्रेष्ठ आच्छादकों में भी उत्तम अतिशुद्ध निर्गुण राम रूप पट को त्यागकर, परोक्ष चित्र (त्रिगुणमय-सगुण) पट को ही धारण

कर्म बनौरा ह्वै रहा, सुत कातहिं जयदेव ॥
तीन लोक ताना तन्यो, ब्रह्मा विष्णु महेश ।
नाम लेत मुनि हारिया, सुरपति सकल नरेश ॥

यो न शुद्धो न रामो वा रामनाम्ना विभाति च ।
रामं यथा च तं भान्तं लोको रामेति मन्यते ॥ ५६ ॥
तच्चित्रपटसिद्ध्यर्थं वाल्मीकोऽसौ महानृषिः ।
बीजं तूलस्य गानेन गुणानामुप्तवानिव ॥ ५७ ॥
शुकदेवः कथां श्रुत्वा तत्तूलचयनं तथा ।
बीजानि यानि कर्माणि कृतवांश्च ततः पृथक् ॥ ५८ ॥
शुद्धतूलसमो योऽसौ गुणस्तस्यैव गानतः ।
सूत्राणीव कृतान्यासञ्जयदेवेन धीमता ॥ ५९ ॥
ब्रह्मविष्णुहराश्चैते गुणदेवा महेश्वराः ।
लोकत्रयेऽपि तन्वन्ति गुणगाथां निरन्तरम् ॥ ६० ॥

करते हैं ॥ ५५ ॥ जो पट न तो शुद्ध है, न निर्गुण राम है, और रामनाम से वह विभात (प्रतीत) होता है । राम के समान भासता हुआ उसीको लोक राम ऐसा मानता है ॥ ५६ ॥ उसी चित्र पट की सिद्धि के लिये, महान् वह वाल्मीक ऋषि ने सगुण राम के गुणों का गान से मानो तूल (कपास) के बीज बोया ॥ ५७ ॥ और शुकदेवजी ने कथा सुनकर, मानो पका हुआ तूल का चयन किया (कपास लोढ़ा) तथा साधारण जो कर्म हैं सो बीजरूप हैं उन्हें उस राम के गुणों से पृथक् कर दिया ॥ ५८ ॥ शुद्ध तूल के तुल्य जो सगुण राम के वह गुण है, उसी के गान से मानो बुद्धिमान् जयदेवजी ने सूत्र (तन्तु) के समान किये ॥ ५९ ॥

गुणों के अभिमानी देवरूप महेश्वर, ब्रह्मा विष्णु हर ये तीनों उस गुण की गाथा (कथा) को सदा तीनों लोक में फैलाते हैं ॥ ६० ॥

बिनु जिह्वे गुण गाइया बिनु बस्ती का गेह।
शूने घर का पाहुना, तासों लायो नेह॥
चार वेद काँड़ा किया, निराकार किय राछ।
बिनै कबीरा चूनरी, बै नहिं बांधि बाछ (रि)॥ ३०॥

विस्तरे गुणगाथानां नामानि मुनयः सदा।
जपन्तोऽतिपरिश्रान्ता देवेशाश्च नरेश्वराः॥ ६१॥
परिश्रान्ता बहिर्गानात्ततो जिह्वां विनैव ते।
प्रागायंस्तद्गुणांस्तद्वच्छून्ये गृहमकल्पयन्॥ ६२॥
शून्यगृहस्य ते भूत्वा प्राघुणाः स्नेहसंयुताः।
तत्र यान्ति तथाऽऽयान्ति लभन्ते न स्थितिं स्थिराम्॥६३॥
चतुर्वेदाञ्छरान् कृत्वा वेमराक्षादिकं तथा।
निराकारं विधायैते पटांश्चित्रान् वयन्ति वै॥ ६४॥
विवेकेन यतो जीवा व्यूत्यर्थं बन्धनं नहि।
कुर्वन्ति प्राणचित्तादेस्ततः शुद्धो न लभ्यते॥ ६५॥

गुणगाथा के विस्तर (फैलाव) होने पर, मुनि देवेश नरेश्वर लोक सदा नामों को जपते हुए परिश्रान्त हुए॥ ६१॥ मुखद्वारा बाहर के गान से जब वे लोक परिश्रान्त हुए (थक गये) तब जिह्वा के विना ही उन गुणों को गाये। और तैसे ही शून्य में गृह (लोकादि) की कल्पना किये॥६२॥ भजन का फल रूप से कल्पित उस शून्य गृह के स्नेह सहित प्राघुण (अतिथि पाहुन) हो कर, वे लोक वहां जाते हैं, और वहां से आते हैं, स्थिर स्थिति (स्थान) नहीं पाते हैं॥ ६३॥

चार वेद को सर बनाकर, तथा वेमराछादिक निराकार (ब्रह्म) को बनाकर ये लोक सदा चित्रपट ही बिनते हैं॥ ६४॥ जिससे जीव सब विवेक से शुद्ध पट को बिनने के लिये प्राण चित्तादि का बन्धन नहीं करते

" चिरमाराधितोऽप्येष परमप्रीतिमानपि ।
नाविचारवतो ज्ञानं दातुं शक्नोति माधवः ॥ ६६ ॥
सर्वस्यैव जनस्यास्य विष्णुरभ्यन्तरे स्थितः ।
तं परित्यज्य ये यान्ति बहिर्विष्णुं भ्रमन्ति ते ॥ ६७ ॥
तत्पूजनेन कष्टेन काले चित्तं विशुद्ध्यति ।
नित्याभ्यासविवेकाभ्यां चित्तमाशु प्रसीदति " ॥ ६८ ॥
गृहादिसंसक्तजनो न मुच्यते
विहाय तत्तेन भजस्व तं हरिम् ।
यदीयबोधेन विनाऽत्र जन्तवो
व्रजन्ति विश्वे दधते त्वसत्पटम् ॥ ६९ ॥ ३० ॥

इति हनुमद्दासकृतायां शब्दसुधायामासक्तिनिषेधभक्त्यादिवर्णनं
नाम दशमस्तरङ्गः ॥ १० ॥

हैं, तिसीसे शुद्ध पट नहीं मिलता है ॥६५॥ और योगवासिष्ठ प्र० ५।४३ का वचन है कि चिर काल तक आराधित, परम प्रीतिवाला भी यह माधव (विष्णु) अविचारी को ज्ञान नहीं दे सकते ॥ ६६ ॥ इस सब जन के अन्तर में विष्णु स्थिर है, उसको त्याग कर जो बाहर के विष्णु को जाते हैं सो भ्रमते हैं ॥ ६७ ॥ उस विष्णु के पूजनादि रूप कष्ट (तप) से कुछ काल में चित्त विशुद्ध होता है । और नित्य अभ्यास विवेक से शीघ्र शुद्ध होता है । ६८ ॥ गृहादि में आसक्त मनुष्य मुक्त नहीं होता, तिससे गृहादि को त्याग कर उस हरि को भजो, कि जिसका बोध के विना प्राणी इस संसार में जाते हैं, और असत्पट को धारण करते हैं ।

अक्षरार्थ–बहुत सन्तों ने भी अपरोक्ष विभु सर्वात्मा रूप पट को छोड़ कर, उसके ज्ञानादि के लिये साधन नहीं करके, उ (परोक्ष अनात्म रामरूप) चूनरी (त्रिगुण पट) को ही धारण किया, और करते हैं । जो

चूनरी ररा ममा (राम) के सदृश भाति (भासती) है। भाति के भाँति, पाठान्तर का अर्थ है कि निर्गुण राम के भाँति (तुल्य) सन्तों ने उसको धारण किया है। तथा सामान्य जीवों का उद्धार के लिये ररा ममा के समान चूनरी बनाया है। और उस चूनरी की सिद्धि के लिये वाल्मीक महर्षि ने वन (वंगा-कपास) बोया (रामायण रचा) जिसमें जन्मादि का वर्णन, कपास के जन्मादि हुए, भक्ति आदि वर्णन कपास लगा। उसको शुकदेव मुनि ने चून लिया (श्रवणादि से प्राप्त किया)। और भक्ति के विरोधी कर्म ही बनौरा (बीज) हो कर रहा. उसको सन्तों ने पृथक् किया। फिर जयदेव भक्त कवि ने उसे साफ करके सूत काता (सूक्ष्म बनाया), काव्यद्वारा रसमयी भक्ति का वर्णन किया।

ब्रह्मा विष्णु महेश ने उस सूत के तीनों लोक में ताना तान दिये, अर्थात् गुणभिमानी देवों ने गुणमयी भक्ति में सहायक हो कर, उसका सर्वत्र विस्तार किया कि जिससे सर्वत्र चित्रपट तुल्य सगुण तटस्थेश्वर की प्रसिद्धि हुई। तथा तीनों लोक के प्राणी ब्रह्मा विष्णु महेशरूप ताना किये। फिर नाम की चूनरी सिद्ध हुई। फिर मुनि इन्द्र सब राजा लोक उस ईश्वर को दूर समझ कर जोर २ से नाम जपने लगे, और नाम लेते (जपते २) हार गये। तब जिह्वा के विना मन से गुणों को गाने लगे (गुणमय ईश्वर का चिन्तन करने लगे) और बस्ती (ग्राम-नगर) के विना ही शून्य आकाश में गेह (घर-लोकादि) की मन से कल्पना किये। और उस कल्पित शून्य घर के पाहुन बन कर (वहां जाने का निश्चय करके) तासो (उसी गृहादि से) नेह (प्रेम-स्नेह) लाये (किये) और करते हैं; विभु सत्यात्मा से नहीं करते, इत्यादि।

पूर्व रीति से ताना तानने पर, सन्तों विद्वानों ने चार वेद को काँड़ा (सरादि) किया, अर्थात् वेदों का सगुण देवादि में ही तात्पर्य बताया। और निराकार ब्रह्म को राछ किया। (सगुण की प्राप्ति का साधनरूप

निराकार के ज्ञान को बताया) और इस प्रकार कबीरा (जीव) सदा चूनरी विनता है, परन्तु बाछ कर (विवेक करके) या वार कर बै (वय) नहीं बांधता है, इससे शुद्ध राम पट नहीं पाता है, सगुण को धारण करता है। अर्थात् सगुण में भी शुद्ध निर्गुण वर्तमान है, परन्तु विवेक विना उसमें मन नहीं लगता है। इससे बाछकर (विभाग करके) वय बांधने विना जैसे वस्त्र खराब होता है, तैसे विवेकादि विना भक्ति में भी भेदभावादि रह जाते हैं, इत्यादि ॥ ३० ॥

कुयोगी आदि वर्णन प्रकरण ११

सर्वात्मा राम की प्राप्ति आदि विना जैसे चित्रपट का धारण सन्तों ने भी किया. तैसे ही सर्वात्मा राम के ज्ञान पूर्ण वैराग्यादि विना कुयोगादि की भी सिद्धि हुई, इत्यादि आशय से कहते हैं कि—

शब्द ॥ ३१ ॥

ऐसो योगिया वैद करमी । जाके गमन अकाश न धरनी ॥
हाथ न वाके पांव न वाके, रूप न वाके रेखा ।
विना हाट हटवाई लावै, करै बयाई लेखा ॥

विचारादि विना कश्चिद् भवतीत्थं कुयोगवान् ।
कुवैद्यश्च तथा कश्चिद् गुरुत्वस्याभिमानवान् ॥ १ ॥
कुयोगवांश्च यस्तत्र तस्य वृत्तमिदं शृणु ।
आकाशपृथिवीभ्यां हि विना यस्य गतिः सदा ॥ २ ॥

विचारादि के विना कोई इसी प्रकार से कुयोगवाला होता है, तथा गुरुत्व के अभिमानवाला कोई कुवैद्य होता है ॥१॥ तिसमें जो कुयोगवाला है, उसका यह वृत्त (चरित्र) सुनो कि जिस ब्रह्मात्मा की आकाश पृथिवी

कर्म न वाके धर्म न वाके, योग न वाके युक्ती।
शींगी पात्र कछू नहि वाके, काहेक मांगै भुक्ती ॥

भोगरहित स्वरूप को समझाने के लिये कहते हैं कि—

तैं मुहि जाना मैं तुहि जाना, मैं तुहि माँह समाना।
उतपति प्रलय एक नहि होते, तब कहु कौनक ध्याना ॥

यस्य हस्तौ न पादौ स्तो रूपाकृती तथैव न।
हट्टाद्यैर्हि विना यश्च वाणिज्यं कुरुते सदा ॥ ३ ॥
यस्य कर्म न वा धर्मो योगो युक्तिर्न यस्य च।
शृङ्गवाद्यं न पात्रं च किञ्चिद् यस्य कदाचन ॥ ४ ॥
तत्स्वरूपो ह्ययं योगी भोगं प्रार्थयते कथम्।
भोगप्रार्थनया चास्य योगः संसारतो भवेत् ॥
तेन याति कुयोगित्वं लोकैश्च निन्द्यते मुहुः ॥ ५ ॥
यदा त्वया ह्यहं ज्ञातो गुरुणा त्वं मया तथा।
त्वय्याविशं यदा चाहं शुद्धविज्ञानरूपतः ॥ ६ ॥

विना ही सदा सर्वत्र गति (प्राप्ति) है ॥ २ ॥ जिसके हाथ पैर रूप आकृति भी नहीं हैं। और जो हाटादि विना ही सदा वाणिज्य (व्यापार) करता है ॥ ३ ॥ जिसके वस्तुतः कोई कर्म वा कर्म जन्य धर्म नहीं हैं, और योग तथा योग की युक्ति भी जिसके नहीं है, न जिसको शिंग के बाजा हैं, न कभी कोई पात्र हैं ॥ ४ ॥ उस ब्रह्म स्वरूप ही यह योगी भोग की प्रार्थना क्यों करता है, इसे ब्रह्म को ही समझना चाहिये, भोग की प्रार्थना से इसको संसार से संबन्ध होगा, और तिसी हेतु से कुयोगित्व को प्राप्त होता है, और लोकों से बार २ निन्दित होता है ॥ ५ ॥

जब तुम (शिष्य) से मैं (गुरु) ज्ञात (परिचित) हुआ, तथा गुरु रूप मुझ से तुम ज्ञात हुआ, और जब मैं शुद्ध विज्ञान रूप से तुम में पैठा ॥६॥

योगि एक आनि ठाढ़ कियो है, राम रहा भरपूरी।
औषध मूल कछू नहिं वाके, राम सजीवन मूरी॥

तदा समस्वरूपे वै नोत्पत्तिप्रलयौ न च।
विद्येते कश्चिदन्यो वा ध्यानं कस्य तदा भवेत्॥ ७॥

प्रकल्प्यैव कुयोगी च स्वात्मनोऽन्यं तु रामकम्।
तटस्थं स्थापितं लोके रामः पूर्णोऽत्र तिष्ठति॥ ८॥

यद्वा सुयोगवान् योगी ह्येकं रामं सदद्वयम्।
उपदेशेन सच्छिष्ये पूर्णं प्राकटयत् खलु॥ ९॥

मूलौषधिश्च यो रामो मृताऽऽजीवनकारकः।
कुयोगिनो न तद्बोधलेशस्याप्यत्र सम्भवः॥ १०॥

किन्तु कल्पितरामं तं मत्वा संजीवनं परम्।
संददाति कुयोग्यत्र रोगिभ्यो रोगशान्तये॥ ११॥

तब समस्वरूप में उत्पत्तिप्रलय नहीं हैं वा न अन्य कोई भेद है, तो ध्यान किसका होवे॥ ७॥ और कुयोगी ने तो अपनी आत्मा से अन्य तटस्थ राम की कल्पना करके ही लोक में स्थापित (प्रतिष्ठित) किया है, पूर्ण-(विभु) राम यहां स्थिर हैं ही॥ ८। अथवा सुन्दर योगवाला योगी, उपदेश से एक सत्य अद्वैत पूर्ण राम को श्रेष्ठ शिष्य में प्रगट किया है॥ ९॥ जो राम बार २ मरनेवाला को आजीवन (मुक्त) करनेवाला मूल औषधि रूप हैं, कुयोगियों को उस राम के बोध (ज्ञान) के लेश का भी सम्भव यहां नहीं है॥ १०॥ किन्तु उस कल्पित राम को ही उत्तम संजीवन (औषध) मान कर, जन्मादि रोग की शान्ति के लिये रोगियों को देते हैं॥ ११॥

शंका हुई कि यदि एक राम से भिन्न वस्तु मिथ्या है, तो योगी को भी ध्यानादि से अनेक वस्तु कैसे दिखती है, तब कहते हैं कि–

नटवत बाजा पेखन पेखै, बाजीगर की बाजी ।
कहहिं कबीर सुनहु हो सन्तो !, भै सो राज विराजी ॥३१॥

मिथ्याऽभ्यासादयं योगी नटवत् कल्पितं बहु ।
कौतुकं लोकते यद्धि शाम्बरं न तु तत्त्वतः ॥ १२ ॥
प्रातिहारिकशाम्बर्या मोहितोऽयं जनः सदा ।
स्वतन्त्रो राजतुल्योऽपि पारतन्त्र्येण मोदते ॥ १३ ॥
" असुखे सुखमारोप्य विषमेऽज्ञानतो नरः ।
करोति सकलं कर्म तत्फलं चावशोऽश्नुते ॥ १४ ॥
अहो मायाऽऽवृतो लोकः स्वात्मानन्दमहोदधिम् ।
विहाय विवशः क्षुद्रे रमते किं वदामि तम् " ॥ १५ ॥
सद्गुरुश्चाह भोः साधो ! श्रवणं सुविधीयताम् ।
स्वातन्त्र्येण परानन्दः सदा स्वेनानुभूयताम् ॥ १६ ॥३१॥

मिथ्या के ही अभ्यास (निरन्तर चिन्तन) से यह योगी भी बहुत कल्पित कौतुक (कुतूहल) को नट के समान लोकता (देखता) है, जो कौतुक शाम्बर (मायिक) है, तत्त्वतः (सत्य) नहीं है ॥ १२ ॥ प्रातिहारिक (मायाकारक) की शाम्बरी (माया) से सदा मोहित यह प्राणी, राजा तुल्य स्वतन्त्र होते भी परतन्त्रता से आनन्द होता है ॥ १३ ॥ सूतसं० शिवमा० अ० ८ । ४४-४५ के वचन हैं कि विषम (अनृजु) असुख में अज्ञान से सुख का आरोप (कल्पना) करके मनुष्य सब कर्म करता है । और परवश उसका फल भोगता है ॥ १४ ॥ आश्चर्य है कि माया से आवृत यह लोक, स्वात्मानन्द महान् समुद्र को त्याग कर, परवश तुच्छ में रमता है, उसको क्या कहा जाय ॥ १५ ॥ और सद्गुरु कहते हैं कि हे साधो ! अच्छी तरह श्रवण करो, स्वतन्त्रता से उत्तमानन्द को अपने से सदा अनुभव करो ॥ १६ ॥

अक्षरार्थ–यह जीव विवेकादि विना ऐसा (विचित्र) योगिया (कुयोगी) और वैदकर्मी (वैद्यक कर्मवाला कुवैद्य) हुआ है कि जिससे सब अयोग्य काम करता है, क्यों कि जाके (जिस सर्वात्मा राम के) आकाश पृथिवी में कहीं गमन नहीं होता है, अर्थात् जो विभु होने से गमन विना ही सर्वत्र है। इसीसे वाके (उसके) हाथ पैर रूप आकार कुछ नहीं है, तोभी जो अपनी माया शक्ति से हाट रूप स्थान विना ही सब हटवाई (संसार दुकान का व्यवहार) लाता (प्राप्त करता) है। और बयाई (खर्च–आमद) का लेखा (हिसाब) करता है। उसके न कोई कर्तव्य कर्म (क्रिया) है, न धर्म (अदृष्ट पुण्यादि) है, न कोई योग उसमें है, न युक्ति (उपाय) है। न शींगी आदि बाजे हैं, न कोई जलपात्रादि हैं। ऐसा सर्वात्मा राम किसी से भुक्ति (भोग) काहे को (क्यों) मांगेगा। अर्थात् कुयोगी लोक ऐसा राम का स्वरूप जाने विना राम को भी भोगेच्छु समझते हैं। और निरवयव विभु असंग पारमार्थिक आत्माराम को जानने बिना कुयोगी जीव भोगपरायण होते हैं, इसीसे योगिया हैं; भोगेच्छा को त्यागें तो योगी होवें। भोग मांगना योगी के लिये अयोग्य काम है, इत्यादि।

जब तैं (तुम–जीव) मुहि (मुझे–गुरु को) जाना, और मैं तुमको ज्ञान भक्ति के अधिकारी जाना, और फिर मैं उपदेशद्वारा ज्ञानरूप से तुम में समाया (पैठा) अथवा जानने पर जब तुझ मुझ में समान भाव हुआ, तब उत्पत्ति प्रलयादि एक भी सत्य नहीं प्रतीत होते हैं। किन्तु विभु एक सत्यात्मा का ज्ञान होने पर उत्पत्ति आदि मिथ्या मायामय प्रतीत होते हैं। तब कहो कि उस अवस्था में ध्यान किसका हो सकता है। अर्थात् उस अवस्था में आत्मा से भिन्न ध्येय भी नहीं रहता है। इससे भेद रहित योगी का सत्य स्वरूप है, परन्तु कुयोगियों ने एक कल्पित ध्येय को आनि (लाय) कर ठाढ़ (खड़ा, सिद्ध) किया है, और सच्चा राम तो सर्वत्र भरपूर (व्यापक) हो रहा है। और वाके (उस कुवैद्य रूप

गुरु के) पास में मूल (सत्य) औषध तो कुछ है नहीं, किन्तु कल्पित राम ही को सजीवन मूरि समझा हैं। और जो वास्तविक योगी हैं, सो एक (अद्वैत) राम को जिज्ञासु के प्रति ठाढ (प्रत्यक्ष) कराये हैं कि जो राम व्यापक हैं, और उस राम के पास कुछ औषध मूल नहीं है। किन्तु स्वयं सर्वात्मा राम सब के लिये सजीवन मूरि हैं कि जिस राम की प्राप्ति से जीव अजर अमर होता है।

नटवत (नटतुल्य) यह कुयोगी, शींगी आदि बाजा बजाकर, तथा अनहद ध्वनि का अनुभव करके, उस मिथ्या पेखन (तमासा) को पेखता (देखता) है कि जो पेखन बाजीगर (नट) की बाजी (खेल) के तुल्य मिथ्या मायामात्र है। साहब का कहना है कि हे सन्तो ! आत्मश्रवणादि करो, श्रवणादि विना मायाकृत बाजी में भूलने से सो (वह) योगिया गुरुआ, स्वयं स्वतन्त्र राजा (सर्वात्मा राम रूप) होते भी, मिथ्या परतन्त्र आनन्द में ही अज्ञान से विराजी (विशेष प्रसन्न) भया है। स्वयं राजा प्रजा बनता है, अपने सच्चिदानन्द स्वरूप को नहीं समझता है। और श्रवणादि करने वाला सो (योगी) राजा (ज्ञानी) और विशेष राजी (सुखी) भया है। अज्ञानी स्वतन्त्रता रूप राज्य से बिराजी (बेदखल) भया है, इत्यादि ॥ ३१ ॥

कुयोगी आदि के आश्चर्यजनक व्यवहारों का वर्णन करके, फिर भी जिज्ञासु मुमुक्षु से हेय (त्यागने योग्य) अविवेकियों के व्यवहारों का वर्णन करते हैं कि-

शब्द ॥ ३२ ॥

नल को ढाढस देखहु आई। कछु अकथ कथा है भाई ॥

कुयोगिनः कुवैद्यस्य नरस्य केऽपि साहसम्।
पश्यन्त्वत्र समागत्याऽकथनीया कथाऽस्य हि ॥ १७ ॥

कुयोगी कुवैद्य मनुष्य के साहस (अविवेक–धृष्टता–कठिन कर्म) को कोई भी सम्यक् आकर यहां देखो। इस साहस की कथा अकथनीय है ॥१७॥

सिंह शार्दूल एक हर जोतिन, सीकत बोइन धाना।
बन के भलुआ चाखुर फेरे, छागर भये किसाना ॥

अहंकारं महासिंहं स्वान्तशार्दूलमेव च।
एकस्मिन् काम्यकर्मादौ हले संवाहयत्यसौ ॥ १८ ॥
कश्चिज्जिज्ञासुसंमूढौ संप्रेरयति तत्र च।
विज्ञोऽहंकारचित्ते च ह्येकस्मिन्नात्मनि ध्रुवे ॥ १९ ॥
कुयोगी सिकताबीज हृदये वपति स्वकैः।
वासनादिस्वरूपं तत् फलं सत्यं यतो नहि ॥ २० ॥
विज्ञस्तु कुरुते सर्वं वासनादिविवर्जितम्।
जन्माङ्कुरसमुद्भूतिः पुनर्यस्माद् भवेन्नहि ॥ २१ ॥
वनवासिजना ऋक्षा घूर्णयन्ति च कोटिशम्।
स्वीकारलक्षणं यद्वा मनांसि विदुषां खलु ॥ २२ ॥
अज्ञशछागोऽत्र सम्पन्नः क्षेत्राजीवः सुखी सदा।
एतदेव महाश्चर्यं कश्चिज्जानाति पण्डितः ॥ २३ ॥

अहंकार रूप महासिंह, और स्वान्त (मन) रूप शार्दूल (व्याघ्र) को वह एक सकाम कर्मादि रूप हल में संवाहता (जोतता) है ॥ १८ ॥ और कोई जिज्ञासु और अतिमूढ को उस कर्मादि में ही संप्रेरता (लगाता) है। और विज्ञ (ज्ञानी) ध्रुव (निश्चित-अचल) एक आत्मा में मन आदि को लगाते हैं ॥ १९ ॥ कुयोगी बालु तुल्य बीज अपने हृदय में बोता है, वह बीज वासना कामादि स्वरूप है, कि जिससे सत्य फल नहीं होता है ॥ २० ॥ विज्ञ तो वासनादि से रहित ही सब कर्म करता है, कि जिससे फिर जन्म रूप अङ्कुर की उत्पत्ति नहीं होगी ॥ २१ ॥ वनवासी जन रूप ऋक्ष (भालु) कोटिश (हेंगा) घुमाते हैं, जो उन कर्मों का स्वीकार रूप है। अथवा विद्वानों के मन हेंगा घुमाते हैं ॥ २२ ॥ अज्ञ जीवरूप बकरा यहां क्षेत्राजीव (कृषक) सदा सुखाभिमानी संपन्न (सिद्ध) हुआ है। यही महा आश्चर्य है, कोई पण्डित ही इसको जानता है ॥ २३ ॥

छेरी बाघहिं व्याह होत है, मंगल गावै गाई।
बन के रोझ लै दायज दीन्हो, गोह लोकन्दे जाई॥
कागा कापर धोवन लागे, बकुला किरपहिं दांते।
मांछी मूड़ मुडावन लागे, हमहूं जाव बराते॥

अज्ञबुद्धेरजायाश्च व्याघ्रैर्विषयदैवतैः।
विवाहो जायते ज्ञस्य सुबुद्धेरात्मना तथा॥ २४॥
अज्ञोऽपि मङ्गलं तेन गायत्येव मनस्तथा।
वानप्रस्थं तु गवयं कन्यादेयं प्रदत्तवान्॥ २५॥
अज्ञस्तस्य गतिं स्वर्गे विज्ञश्चात्मन्यमन्यत।
अलसाश्चेन्द्रियाण्यत्र दास्यो गच्छन्ति गोधिकाः॥२६॥
काकवन् मलिना ये हि तेऽपि स्वर्गार्थमुद्यताः।
अभवन् स्नानमात्रेण बकवृत्तिः, कथादिभिः॥ २७॥
कामाद्या लोभतृष्णाद्याः काकाश्च बकपङ्क्तयः।
शे शुद्धयन्ति स्वयं तद्वत् कृपारूपा भवन्ति च॥ २८॥

अज्ञ की बुद्धि रूप अजा (छेरी) का विषय देवसमूह रूप व्याघ्र के साथ विवाह होता है, और ज्ञानी की सुबुद्धि का आत्मा के साथ विवाह होता है॥ २४॥ अज्ञानी उस विवाह से मंगल गाता (कहता) है, तथा मन उससे मंगल गाता है, और वानप्रस्थ रूप गवय को कन्या सम्बन्धी देय (दान) वर को दिया गया है॥ २५॥ अज्ञ उस वानप्रस्थ की स्वर्ग में गति माना है, विज्ञ आत्मा में माना है। और आलसी तथा इन्द्रिया रूप गोहाँ दासी जाते हैं॥ २६॥

काक तुल्य जो मलिन हैं, सो भी स्नान मात्र से स्वर्ग के लिये तैयार हुए हैं। तथा कथा आदि से बकवृत्ति स्वर्ग के लिये तैयार हैं॥ २७॥ और कामादि रूप काक, लोभ, तृष्णा (विषय पिपासा) आदि रूप

कहहिं कबीर सुनहु हो सन्तो, जो यह पद अर्थावै।
सोई पण्डित सोई ज्ञाता, सोई भक्त कहावै॥ ३२ ॥

वाममार्गिजना हीनास्ते सर्वे वनमक्षिकाः।
मुण्डनं कारयन्त्यस्माद्यास्यामोऽत्र वयं ध्रुवम्॥ २९ ॥

तां गतिं यान्ति वै लोका दानयज्ञजपादिभिः।
तां वयं वेषमात्रेण यास्याम इति मोहिताः॥ ३० ॥

विज्ञस्य ममतारूपा मक्षिका स्वशिरस्तथा।
अविद्यां नाशयित्वैव यात्यात्मवरसन्निधौ॥ ३१ ॥

सद्गुरुः प्राह भोः साधो! श्रूयतां पदमुत्तमम्।
अर्थं योऽस्य विजानाति स ज्ञाता पण्डितश्च सः॥३२॥

स एव कथ्यते भक्तो भवमुक्त्यधिकारवान्।
भवतेदं सुविज्ञेयं ह्याश्चर्यं विद्यते महत्॥ ३३ ॥

बकपंक्ति, ज्ञानी में स्वयं शुद्ध (निवृत्त) हो जाते हैं, तैसेही कृपारूप हो जाते हैं॥ २८ ॥ हीन वाममार्गी जन सब, वह वनमक्षिका हैं, सो सब मुण्डन करवाते हैं कि हम इसीसे इस स्वर्ग में अवश्य जायगें॥ २९ ॥ लोक सब दान यज्ञ जपादि कर्म से जिस गति को पाते हैं, हम उस गति को वेष मात्र से पायेगें, इस प्रकार ये मोहित हैं॥ ३० ॥ विज्ञ की ममता रूप मक्षिका अपनी अविद्या रूप शिर को नष्ट करके ही आत्मवर के पास में जाती है॥ ३१ ॥

सद्गुरु कहते हैं कि हे साधो! उत्तम पद को सुनो, जो इसके अर्थ को जानता है, सोई ज्ञाता और पण्डित है॥ ३२ ॥ वही संसार से मुक्ति के अधिकारवाला भक्त कहा जाता है, आप से यह अच्छी तरह

कुयोगिनो ये च कुदेशिका नरा निरञ्जमात्मानमखण्डविग्रहम् ।
विदन्ति नो ते बहु कुर्वतेऽनृतं सुदुष्करं सत्पुरुषैर्हि सर्वदा ॥३४॥१२

इति हनुमद्दासकृतायां शब्दसुधायां कुयोगिकुसम्बन्धादिवर्णनं नामैकादशस्तरङ्गः ॥ ११ ॥

समझने योग्य है, महा आश्चर्य रूप है ॥ ३३ ॥ जो कुयोगी और कुगुरु मनुष्य हैं, सो निरञ्ज अखण्ड स्वरूप आत्मा को नहीं जानते हैं और बहुत मिथ्या सत्पुरुषों से सदा अति दुष्कर कर्मादि करते हैं ॥ ३४ ॥

अक्षरार्थ– कुयोगी आदि नर के ढाढस (हिम्मत-साहस-धीरज) को कोई आकर देखो, हे भाई ! इसकी कथा भी कुछ अकथ है। क्योंकि इस मनुष्य ने सिंह शार्दूल (कठिन अहंकार चंचल मन) को एक सकाम कर्मादि हर में जोता (लगाया) है। और सत्य ज्ञान फलादि का अहेतु वासना कामादि रूप बालू को धाना (बीज) रूप से अपने हृदय में बोया है। और संसार वन के भलुआ (भालू तुल्य) अज्ञ लोक उसमें चाखुर (चौकी हेंगा) फेरते हैं। अर्थात् अज्ञ वनवासी तपस्वी भी उसी कर्मादि में सम्मति देते हैं। और छागर (बकरा तुल्य) अशक्त गृहस्थ किसान (कर्मकर्ता) भया है। इसी प्रकार अज्ञ गुरु. जिज्ञासु मूढ को ब्राह्मण क्षात्र को किसी एक कर्म में लगाते हैं। मिथ्या उपदेश रूप बालू के बीज बोते हैं। संसारी लोक उसीको सही करते हैं। तुच्छ बुद्धिवाला किसान (गुरु) होता है, यह ढाढस की बात है। और ज्ञानी लोक आत्मचिन्तन में मन आदि को लगाते हैं, वासना रहित व्यवहार करते हैं, प्रथम वन में भूला हुआ भी उनका चित्त पीछे इस बात को ही सही (सत्य) मानता है। और प्रथम छागर तुल्य भी ज्ञानी जीवात्मा स्वतन्त्र किसान (क्षेत्रज्ञ-नेता) होता है, यह ज्ञानी का ढाढस जिज्ञासु के लिये कर्तव्य है, अन्य नहीं।

अज्ञ की कुबुद्धि रूप छेरी. और विषय कुदेवादि बाघ का व्याह (संवन्ध) होता है। वह बुद्धि इनको ही सत्य सुखद समझती है। और उसी विवाह में गाई (गो तुल्य) जड़ लोक मंगल (कल्याण) गाते हैं। और वन के रोझ (गवय) तुल्य वनवासी को, मंगल गानेवाले, उस विवाह में दाथज (दहेज) देते हैं, अर्थात् गृहस्थ देवार्चन कर्मादि से जिस स्वर्गादि में प्राप्त होते हैं. उस स्वर्गादि के अधिकारी, वनवासी वनवास मात्र से माने जाते हैं। और गोहतुल्य आलसी लोक लोकनी (लौंड़ी--दासी) बन कर जा रहे हैं, कर्म धर्म विना भी स्वर्ग ही चाह रहे हैं। और अज्ञ गुरु इस विवाह में घटक (अगुआ) हैं। और विवेकी बुद्धि का सर्वात्मदेव से विवाह होता है, जिससे वह आत्मा में लीन होती है, इसीसे गाई हुई वेदादि रूप वाणी मंगल गाती है (मोक्ष कहती है)। और संसार वन के संचित कर्मादि कर्मेन्द्रियादि सब उस आत्मदेव के प्रति दायज दिये जाते हैं। और ह (प्रसिद्ध) गो (ज्ञानेन्द्रिय) स्वयं दासी की नाईं आत्मलीन होती हैं, मन बुद्धि के आत्मपरायण होने पर, ज्ञानेन्द्रिय स्वयं अन्तरमुख होती हैं, इत्यादि।

काकतुल्य मलिन मनुष्य भी कपड़ा (वस्त्र) धोवाने में लगे हैं, स्नानादि कर रहे हैं। और बकवृत्ति (बकध्यानी) लोक दांत किरपते हैं, दांत निकाल कर हंसते हैं। स्नानादि से स्वर्गादि की कथा करते हैं। मांखी तुल्य भक्ष्याभक्ष्यादि के अविवेकी मांथ मुड़ावने (साधु संन्यासी बनने) लगे हैं, कि हम भी इस बरात में जायगें। अर्थात् गृहस्थादि जहां कर्मोपासनादि से जायगें, वहां हम वेषमात्र से पहुंचेगें। इस आशय से मांथ मुड़ा रहे हैं। और ज्ञानी के तो इन्द्रियों के अन्तरमुख होने पर, काग का पर (पांख) तुल्य भी वासना आदि स्वयं धोवने (नष्ट होने) लगते हैं। वक तुल्य लोभादि भी दान ते कृपा का ही हेतु होते हैं। अर्थात् प्रथम लोभ से संगृहीत वस्तु का ज्ञान होने पर ज्ञानी लोक कृपा-

पूर्वक दान करते हैं। उदारता से दान करना उनका स्वभाव हो जाता है। ममतारूप मांखी अपना मूड़ (अविद्या) को मुडवाने (कटवाने) लगती है। और मांथ मुड़वा कर कहती है कि हे वर ! (श्रेष्ठ) आत्मदेव ! मैं तेरे शरण में ही जाऊंगी, अर्थात् अविद्यादि रहित ज्ञानी की ममता आत्मविषयक ही होती है।

साहब का कहना है कि हे सन्तो ! श्रवणादि करो, और समझो कि जो इस पद को अर्थाता है (अकथ व्यवहार करता है), इस शब्द में वर्णित ढाढस करता है। सोई संसार में पण्डित ज्ञाता भक्त कहाता है, यह भी अकथ कथा है। और ज्ञानी के व्यवहार को जो करता है, सो सच्चा पण्डितादि कहाने योग्य है, इत्यादि ॥ ३२ ॥

शरीरासक्ति से भक्ति ज्ञानादि की अप्राप्ति अपूर्णता प्रकरण १९

शब्द ॥ ३३ ॥

जो चरखा (हो) जरि जाय, बड़हिया ना मरै।
(मैं) कातौं सूत हजार, चरखुला जनि जरै ॥

कर्मतन्त्वर्थयन्त्रस्य दाहे देहस्य सत्यपि।
म्रियते नैव तक्षाऽसावीश्वरो मन एव वा ॥ १ ॥
अतो विदेहमोक्षस्य सम्भवो विद्यते नहि।
ततस्तिष्ठत्वयं देहः कर्मनामादितन्तवः ॥ २ ॥

कर्म रूप तन्तु के लिये यन्त्र (चरखा) रूप देह का (नाश) होने पर भी, ईश्वर वा मन रूप वह तक्षा (बढ़ही) नहीं मरता है ॥ १ ॥ इस कारण से विदेह मोक्ष का सम्भव नहीं है, तिससे यह देह स्थिर रहे, जिससे हजारों कर्म नामादि रूप तन्तु हम से सिद्ध होगें, जिससे मुझे

बाबा मोर व्याह करो, अच्छा 'वर हित काहु।
जब लगि अच्छा नहिं मिले, तब लगि आपुहि व्याहु॥
प्रथमहिं नगर पहूंचते, परि गौ शोक संताप।
एक अचम्भा देखिया, बिटिया व्याही बाप॥

सहस्रं सेधयिष्यन्ते यतः सौख्यं भवेन्मम।
कुयोग्येवं हि निश्चित्य कुवैद्यगुरुसन्निधौ॥ ३॥
याति तं च वदत्येवं विवाहं मे कुरु प्रभो!।
केनचिद्वरदेवेन हितेन सर्वथा पितः!॥ ४॥
यावन्न मिलति श्रेष्ठो वरो मे वरदायकः।
तावत्स्वयं वृणुष्वाथ हितमेव ततः कुरु॥ ५॥
अस्त्येतद्धि महाश्चर्यं संसारनगरेऽत्र यः।
प्राप्नुवन्नेव जीवः प्राङ्न्यमज्जच्छोकतापयोः॥ ६॥
यतते स न मोक्षाय पितरं ह्यूढवांस्तथा।
बुद्धावात्मत्वसंभ्रान्त्या तद्दुहितेव च स्थितः॥ ७॥

सुख होगा। कुयोगी प्राणी इस प्रकार निश्चय करके, कुवैद्य तुल्य गुरु के पास में जाता है, और उसको इस प्रकार कहता है कि हे प्रभो! हे पितः! सर्वथा हित किसी श्रेष्ठ देव के साथ मेरा विवाह करो॥ २-४॥ जब तक मुझे वरदाता श्रेष्ठ वर (स्वामी) नहीं मिलता है, तबतक स्वयं मेरा स्वीकार करो, और उस स्वीकार से हित ही करो॥ ५॥

यही महाश्चर्य है कि पहले इस संसार रूप नगर में प्राप्त होता हुआ ही जो जीव, शोक और ताप में निमग्न हुआ॥ ६॥ सो मोक्ष के लिये नहीं यतन करता है, तथा पिता (जन्मदाता) को विवाहा है, और बुद्धि में आत्मापन के भ्रम से उसकी पुत्री तुल्य स्थिर है॥ ७॥

समधी के घर लम्बधी, आवे बहु के भाय।
गोड़े चूल्हा देइ दे, चरखा दियो ढढाय॥
देव लोक मरि जाहिगें, एक न मरै बढाय।
या मन रञ्जन कारने, चरखा दियो दिढाय॥

यद्वा स्वयं पिता जीवो ह्यविद्याबुद्धिरूपिणीम्।
कन्यकां वरयामास सद्गुरुं न कदाचन॥ ८॥
कुगुरुश्च कुशिष्यस्य गृहे पण्डितमानिनः।
भ्रातरोऽप्यागमन् ह्यस्य कुविवाहस्य सिद्धये॥ ९॥
मिलित्वा चास्य सर्वेऽमी मनोबुद्धी सुपादकौ।
तापयुक्तार्थचुल्ल्यां वाऽदेदीयन्त कुकर्मणि॥ १०॥
तत्र दत्त्वाऽस्य पादौ च शरीरं ह्यत्यपीडयन्।
वर्द्धयन्तिस्म संतानं शरीरस्य कुवर्त्मना॥ ११॥
देवा लोका मरिष्यन्ति तक्षैको न मरिष्यति।
इत्येवं बोधयित्वा तं तन्मनोरञ्जनाय च॥ १२॥

अथवा स्वयं पिता रूप जीव, अविद्या बुद्धिरूप कन्या को वरा है। कभी सद्गुरु को नहीं वरा (स्वीकार किया) है॥ ८॥ पण्डित मानी कुशिष्य के घर में कुगुरु आये। और कुविवाह की सिद्धि के लिये इसके भ्राता बन्धु लोक आये॥ ९॥ सो सब मिलकर, इसके मन बुद्धि रूप सुन्दर पैर को, तापयुक्त अर्थरूप चूल्ही में वा कुकर्म (हिंसादि) में अतिशय अर्पित किये॥ १०॥ और उस चूल्ही में इसके पैर को देकर, इसके शरीर को भी अत्यन्त पीडित किये, और कुमार्ग से शरीर के संतान (प्रवाह) को बढा दिये॥ ११॥

अन्य देव और लोक सब मरेगें, एक तक्षा (कर्ता) नहीं मरेगा; इस प्रकार गुरु आदि उसे समझा कर और उसके मनोरञ्जन के लिये, तिसके

कहहिं कबीर सुनु सन्तो, चरखहिं लखै जो कोय।
जो यह चरखा लखि परै, आवागमन न होय ॥ ३३ ॥

देहयन्त्रस्य तस्यैवं दृढतां ते ह्यकारयन्।
न तु तस्मिन्नसारत्वं मिथ्यात्वं कृतवान् क्वचित् ॥ १३ ॥
सद्गुरुश्चाह भोः साधो ! श्रूयतां सुविचार्यताम्।
देहयन्त्रं निदानेन चाधिष्ठानेन संयुतम् ॥ १४ ॥
यो हि कश्चिद्विवेकेन बुध्यते तन्निरन्तरम्।
प्रत्यक्षं कुरुते सम्यङ् नैव जञ्जन्यते हि सः ॥ १५ ॥
" सम्यग्दर्शनसम्पन्नः कर्मभिर्न निबध्यते।
दर्शनेन विहीनस्तु संसारं प्रतिपद्यते ॥ १६ ॥
नदीकूलं यथा वृक्षो वृक्षं वा शकुनिर्यथा।
तथा त्यजन्निमं देहं कृच्छ्राद् ग्राहाद् विमुच्यते ॥१७॥३३॥

देह यन्त्र को ही वे लोक इस प्रकार दृढता कर दिये। कोई कहीं उस यन्त्र में असारता मिथ्यात्व नहीं किया (नहीं समझाया) ॥ १२-१३ ॥ और सद्गुरु कहते हैं कि हे साधो ! निदान और अधिष्ठान के सहित देहयन्त्र का श्रवण सुविचार करो ॥ १४ ॥ जो कोई निरन्तर विवेक से उस यन्त्र को सदा समझता है, सम्यक् प्रत्यक्ष करता है, सो बार २ नहीं जन्मता है ॥ १५ ॥ सम्यग् दर्शन (ज्ञान) से युक्त प्राणी कर्मों से नहीं बँधता है, दर्शन से रहित संसार में प्राप्त होता है ॥ १६ ॥ नदी के तट को जैसे वृक्ष समझने विना त्यागता है, वा जैसे वृक्ष को पक्षी समझ कर त्यागता है, तैसे इस देह को त्यागता हुआ प्राणी संसार के कष्ट रूप ग्राह से मुक्त होता है ॥ १७ ॥ दो वचन मनुस्मृ० ६।७४-७८। के है।

अक्षरार्थ – कुयोगी समझता है कि यदि देह रूप यह चरखा जर जायगी, तोभी बडही (ईश्वरादि) नहीं मरेगें, इससे फिर देह होगा, विदेह मोक्ष नहीं हो सकता है। इससे यही चरखुला (देह) नहीं जरे, नहीं नष्ट हो, चिरायुः बने, कि जिससे मैं कर्म नामादि हजारों सूत कातूं (करूं-जपूं), ऐसा निश्चय करके कुवैद्य रूप पिता के पास में जाकर विनय करता है कि हे बाबा ! काहु (किसी) अच्छा (सुन्दर पवित्र) हित वर (स्वामी देव) के साथ मेरा ब्याह (विवाह) करो (मन्त्रोपदेशादि से देवादि की प्राप्ति करावो)। और जब लगि (जबतक) अच्छा वर नहीं मिलता है, तबतक आपही मुझे ब्याहो (वरो); मेरा दास रूप से स्वीकार करो। और ज्ञानी उपदेश देते हैं कि ज्ञान विना देह छूटने से मुक्ति नहीं होती; क्योंकि देह चरखा के जरते पर भी ज्ञान विना बढ़ही नहीं मरता है, इससे देह के रहते ही हजारों वासनादि सूत (बन्धनों) को काटना चाहिये, और सद्गुरु से विनय करना चाहिये कि अच्छा (शुद्ध) हित (परम प्रिय) सर्वात्मा देव की प्राप्ति कराइये, इत्यादि। क्योंकि (गुरुमूलाः क्रियाः सर्वा भुक्तिमुक्तिफलप्रदाः। तस्मात्सेव्यो गुरुर्नित्यं मुक्त्यर्थं तु समाहितैः) भोगमोक्षफल देनेवाली सब क्रिया गुरुमूलक है। इससे एकाग्रता पूर्वक मुक्ति के लिये सदा गुरु सेव्य हैं।

आश्चर्य है कि जिस संसार रूप नगर, और देह रूप घर में, प्रथम पहुंचते ही इस जीव को शोक संताप पड़ गये (मिले) हैं, उससे मोक्ष के लिये यह कुछ नहीं करता है। और यह एक आश्चर्य दिखता है कि इसकी बुद्धिरूप विटिया (पुत्री) बाप (बार २ जन्मदाता) देवादि से विवाह किया है, परवशता जन्मादि को दुःखरूप देख कर भी इसकी बुद्धि उसीका स्वीकार करती है। या जीव रूप बाप कुबुद्धि विटिया से विवाह किया है, जिससे शोकादि के हेतु कुमार्ग में जाता है। और समधी (समबुद्धि वाला निजबुद्धि का विवाहेच्छु) शिष्य के घर में समधी

(गुरुआ रूप बेटावाले) और बहु के भाई (शिष्य के सम्बन्धी) आये। सो सब इस अज्ञ जीव के गोड़ (पैर) मन बुद्धि को दुःखद कर्मादि रूप तप्त चूल्हा में दे २ कर, चरखा (देह) को भी ढढाय (पीट) दिये, कष्ट क्रिया में लगाय दिये। काम वासनादि को ढढाय (बढाय) दिये। इत्यादि।

और उन लोकोंने निश्चय कराया कि अन्य देव लोकादि सब मर जायगें, परन्तु एक तेरा बडही नहीं मरेगा, और वह तुमको वढावेगा (उच्च पद देगा) अर्थात् सब अपने २ इष्ट से अन्य को विनश्वर बता कर, अपने इष्ट को अविनाशी सुखद निश्चय कराये। और इस जीव के मनोरञ्जन (प्रेम) के लिये चरखा (देह) को ही दृढ कराय दिये (देह में सत्यता आदि का निश्चय कराय दिये)। साहब का कहना है कि हे सन्तो! श्रवणादि करो। और समझो कि इस चरखा को भी कोई अच्छी तरह नहीं जानता है। यदि अधिष्ठान निदानादि सहित यह चरखा ही अच्छी तरह लख परे (समझ में आ जाय) तो फिर जीव का आवागमन (जन्ममरण) नहीं होय ॥ ३३ ॥

'सन्त उधारण चूनरी', इत्यादि शब्दों से, तटस्थेश्वरादि का वर्णन करके अब उन सब में मायामयता का वर्णन करते हुए, असङ्ग सर्वात्मा के ज्ञान के लिये विचारादि का उपदेश देते हैं कि—

शब्द ॥ ३४ ॥

बूझहु पण्डित करहु विचारा। पुरुषा है की नारी॥

पण्डिता भो विचारेण बुध्यतामेष सत्वरम्।
यं मन्यन्ते तटस्थं स पुरुषो वनिताऽथवा॥ १८॥

हे पण्डितों! आप सब विचार से यह शीघ्र समझें कि जिस तटस्थ वस्तु को आप ईश्वरादि मानते हैं, सो पुरुष (आत्मा) हैं; अथवा वनिता

ब्राह्मण के घर ब्रांह्मणि होती, योगीं के चेली।
कलमा पढ़ि पढ़ि तुरुकिनि होती, कलि में रही अकेली॥
वर नहिं वरै व्याह नहिं करई, पुत्र जनामनि हारी।
कारो मूड को एक न छाड़ै, अजहूं आदि कुमारी॥

एवमेव त्वयं देहो विवेकेन निभाल्यताम्।
तद्गतश्च निजात्माऽपि तत्त्वरूपेण दृश्यताम्॥ १९॥
देहं विचार्य जानीत मायाख्यवनितामयम्।
या ब्राह्मणगृहे जाता ब्राह्मणी भवति स्वयम्॥ २०॥
चेटी योगिगृहे सा च मन्त्राणां यवनस्य तु।
पाठेन यवनी जाता कलावेकाकिनी च सा॥ २१॥
वरं वृणोति नाऽसङ्गं विवाहं कुरुते न सा।
तथापि तत्प्रकाशाद्यैः पुत्रान् जनयते सदा॥ २२॥
कृष्णकेशं न कञ्चित्सा जहाति तामसं नरम्।
जहो साऽद्यापि चास्तेऽद्धा ह्यद्यैवाऽऽदिकुमारिका॥ २३॥

(माया) हैं॥ १८॥ इसी प्रकार इस देह को भी विवेक से निभालन (निरूपण-विचार) करें, और तद्गत (देही) निजात्मा को भी तत्त्व (सत्य परमात्म) स्वरूप से देखें॥ १९॥ देह को विचार कर, इसे माया नामक वनितामय समझे कि जो माया ब्राह्मण के घर में जन्म लेकर स्वयं ब्राह्मणी होती है॥ २०॥ वही योगी के घर में चेटी (चेरी-चेली) होती है, और यवन के मन्त्रों के पाठ से वही यवनी हुई है, कलि में अकेली हैं॥ २१॥

वह माया यद्यपि असङ्ग वर को नहीं वरती है, न उसके साथ विवाह करती है, तथापि उसीके सत्ताप्रकाश से पुत्र (कार्य) को सदा उत्पन्न करती है॥ २२॥ काले बालवाले तामस किसी मनुष्य को वह छोड़ती

मइके रहौं न जाउँ सासुरे, साईं संग न सोवौं।
कहैं कबीर मैं युग युग जीवौं, जाति पाति कुल खोवौं ॥३४॥

अस्या मातुः कुले विश्वे वत्स्यामः श्वाशुरे न च।
गुरोः कुले गमिष्यामो न च पत्या शयेमहि ॥ २४ ॥
मातुः कुले सुवासेन जीविष्यामो युगे युगे।
जातिपङ्क्तिकुलादीनि नाशयिष्यामहे तथा ॥ २५ ॥
वर्णयन्त्येवमाचार्याः कवयोऽपि बहुश्रुताः।
असङ्गं सत्पतिं नैव स्वीकुर्वन्ति न विज्ञताम् ॥ २६ ॥३४॥

नहीं है, किन्तु अपने वश में रखती है, और आश्चर्य है कि वह आद्या (सब के आदि) स्वरूप होते भी, अद्य (अभी) भी यह आदि कुमारिका (कुमारी) ही है ॥ २३ ॥ और इसी जगन्माता के कुलरूप विश्व में हम बसेंगे। गुरुकुल रूप श्वाशुर (सासुर) में नहीं जायगें, असङ्ग पति के साथ नहीं सोयेगें ॥ २४ ॥ मातृकुल में ही सुन्दर वास से देवादि रूप से युग २ (सदा) जीवेगें, तथा जाति आदि के अभिमानों को नष्ट करेगें ॥ २५ ॥ बहुश्रुत कवि और आचार्य भी इस प्रकार वर्णन करते हैं। और असङ्ग सत्य ईश्वर का स्वीकार नहीं करते हैं, न विज्ञता का स्वीकार करते हैं ॥ २६ ॥

अक्षरार्थ—हे सज्जनो ! ज्ञानी पण्डितों से इस बात को बूझो (पूछ कर समझो) या हे पण्डितों ! आप इस बात को बूझो (समझो) कि तटस्थ वस्तु देहादि, पुरुष (चेतनात्मा) है, कि नारी (माया) रूप है। और इसे जानने के लिये विचारादि करो। और समझो कि जो माया ब्राह्मण के घर में ब्राह्मणी होती (अपरविद्या नामरूपता को धारण करती) है। योगी के घर में चेली (दासी) होती है (सिद्धि आदि बनती है)। और कलमा (तुरुक का मन्त्र) पढ २ कर तुरुकिन होती है, कलमा

आदि सें तुरुक जाति को सिद्ध करती है, और कलियुग में जो अकेली रह गई है (कलि में जिसकी अति प्रधानता है) तथा कलह काल में जिस अज्ञानादि रूप माया की प्रधानता रहती है, कलियुग में जो तुरुकों के आचार व्यवहार को प्रबल करती है, इससे जो मानो अकेली रही है, उस माया रूप ही सब देहादि को विचारादि से समझो, और मिथ्या जानो, एक ब्रह्मात्मा को ही सत्य समझो। योगवासिष्ठादि में लिखा है कि (यदिदं दृश्यते किञ्चिज्जगत्स्थावरजङ्गमम्। सर्वं सर्वप्रकाराढ्यं कल्पान्ते तद्विनश्यति॥ अस्य भागविभागात्मा नाशोऽवश्यमवारितः। एवं स्थिते द्रव्यनाशे ब्रह्मणस्तन्मयत्वतः॥ नाऽनन्तत्वं न चास्तित्वं न चैव सम्भवत्यलम्। ईश्वरो न महाबुद्धे दूरे न च सुदुर्लभः॥ महाबोधमयैकात्मा स्वात्मैव परमेश्वरः। न चक्षुषा गृह्यते। मुण्ड० ३। १। १८) सब प्रकार से प्रवृद्ध जो कुछ यह स्थावर जंगम जगत दीखता है, सो सब कल्पान्त में नष्ट होता है। क्योंकि इसके अवयवों का विभाग रूप नाश अवारित अवश्य होना है। यदि ब्रह्म से यह जगत् वृक्षशाखा की नाईं अभिन्न हो तो द्रव्य का निश्चित नाश होने से द्रव्यमय ब्रह्मात्मा का भी नाश होगा। फिर ब्रह्म में अनन्तता अस्तिता नहीं होगी, ब्रह्म का ही अभाव होगा। इससे दृश्य द्रव्यादि रूप वह नहीं है। हे महाबुद्धे! राम! ईश्वर न दूर है, न दुर्लभ है; क्योंकि महाबोध (ज्ञान) मय एक स्वरूप स्वात्मा ही परमेश्वर है। सो चक्षु आदि इन्द्रियों से गृहीत नहीं होता है, इत्यादि।

यह जगत की प्रकृति (उपादान) माया, असंगात्मा वा अन्य किसी को वर नहीं वरती (स्वामी नहीं मानती) है। न विवाह (सत्य संबन्ध) करती है। तो भी सत्या के प्रकाशादि से मिथ्या पुत्रों (कार्यों) को जनामनिहारी (जन्मानेवाली वा प्रतीत करानेवाली) होती है। और कारो मूड़ (कृष्ण केशवाले) रागी तामसी किसी एक को भी पुत्रादि बनाने बिना स्वतन्त्र नहीं छोड़ती है। वा उनकी एको दुर्दशा करना बाकी नहीं रखती है। और अनादि होते भी वह अजहूं (अब भी) आदि

कुमारी है, आत्मसत्ता से पुत्र को उत्पन्न करने पर भी किसी अज्ञ के वश में नहीं हुई है। इसीसे बहुत कवि भी उसीको स्वतन्त्रकर्त्री मान कर, कहते हैं कि मइके (माया रूप माता के घर शरण) में रहेगें, सद्गुरु के शरण रूप सासुर में नहीं जायगें, न ब्रह्मात्मा असंग साईं (स्वामी) के संग में सोवेगें (मुक्त होगें); क्योंकि उसके संग में सोना तो मरना (नष्ट होना) है। और मइके में रहने पर युग २ तक जीते रहेगें, और जाति आदि के अभिमान बन्धनों को भी माया की भक्ति से ही नष्ट करके, मुक्त की नाईं सुखी स्वतन्त्र रहेगें, इत्यादि। (मै के रहे जाय नहिं ससुरे, साईं संग न सोवै। कहहिं कबिर वे युग युग जीवे, जाति पांति कुल खोवे) इस पाठान्तर का अर्थ है कि माया मैके (नैहर) अज्ञ का हृदय संसार में रहती है, ससुरा (सत्सङ्ग ज्ञानी के हृदयादि) में नहीं जा सकती, न असंग में संग करा सकती, इससे जाति आदि के अभिमान रहित ज्ञानी आत्मस्वरूप से सदा जीते हैं, माया से नष्ट नहीं होते, इत्यादि ॥ ३४ ॥

जो लोक कहते हैं कि मइके में रहेगें, सासुर नहीं जायगें, साईं के संग नहीं सोयेगें, उनका वह कथन अविवेक से ही है, क्योंकि पति के गृहस्थान को सासुर कहते हैं। और सर्वात्मस्वरूप सत्य पति व्यापक है, इत्यादि आशय से कहते हैं कि—

शब्द ॥ ३५ ॥

साईं के संग सासुर आई।
संग न सूती स्वाद न मानी, गौ यौवन स्वपने की नाईं ॥

ज्योतिरात्मा जगत्स्वामी हृदये वर्तते सदा।
सद्वैव तेन जीवात्मवामा विश्वे समागता ॥ २७ ॥

(योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः। बृ० ४। ३। ७ स वा एष महानज आत्माऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्म। बृ० ४। ४। २५)

जना चार मिलि लगन शोचायो, जना पांच मिलि मण्डप छाई।
सखी सहेलरी मंगल गावै, दुख सुख माथे हरदि चढाई ॥

अहो तथापि मोहेन तेनैक्यात्मस्वभावतः ।
प्रातिष्ठतास्य बुद्धिर्न न चैवाऽयं कदाचन ॥ २८ ॥

अतो नास्य सदा शुद्धं परमानन्दममन्यत ।
तत्स्वादेन विहीनस्य तारुण्यं स्वप्नवद्गतम् ॥ २९ ॥

मानुष्यं खलु तारुण्यं सत्पतेर्लब्धये क्षमम् ।
नष्टेऽस्मिन् स्वप्नतुल्येऽर्थे तत्प्राप्तिरतिदुर्लभा ॥ ३० ॥

पत्युः सत्यस्य चाप्राप्तौ त्वसत्यस्यैव लब्धये ।
शोधयन्ति स्म सल्लग्नं सर्वान्तःकरणानि वै ॥ ३१ ॥

इत्यादि श्रुति के अनुसार विज्ञानमय (बुद्धि उपाधिवाला) इन्द्रिय प्राण के साक्षी स्वरूप हृदय के ज्योतिःस्वरूप पुरुष, अजर अमरादि स्वरूप महान अज यह ब्रह्म ही जगत् का स्वामी है, सो सदा हृदय में रहता है और जीवस्वरूप वामा (स्त्री) उसके साथ ही संसार में आई है ॥ २७ ॥ तोभी इस जीव की बुद्धि मोह से, उस आत्मा के साथ एकता स्वरूप स्वभाव से नहीं स्थिर हुई, न यह जीव कभी स्थिर हुआ, सो आश्चर्य है ॥ २८ ॥ और इसी से इस आत्मा के सदा शुद्ध उत्तम आनन्द को जीव नहीं माना (नहीं समझा) और उस आनन्द के स्वाद (अनुभव) से रहित इस जीव का तारुण्य स्वप्न की नाई नष्ट हुआ ॥ २९ ॥ सत्य स्वामी के लाभ के लिये समर्थ मानुष्य ही तारुण्य है। स्वप्नतुल्य पदार्थ में ही इसके नष्ट होने पर, उस सत्य स्वामी की प्राप्ति अति दुर्लभ है ॥ ३० ॥

और सत्य पति की अप्राप्ति होने पर, फिर असत्य के ही लाभ (प्राप्ति) के लिये, सब अन्तःकरण श्रेष्ठ लगन शोचने लगे ॥ ३१ ॥

नाना रूप परी मन भाँवरि, गाँठि जोरि भाई पतिआई।
अर्घ देइ लै चली सुवासिनि, चौकहिं राँड़ भई संग साईं॥

साधयन्ति स्म भूतानि देहाख्यं मण्डपं दृढम्।
पञ्चापि दुःखदं स्थूलं महानर्थप्रवर्तकम्॥ ३२॥

विषयादौ समासक्ता ह्यवशाश्चातिचञ्चलाः।
इन्द्रियप्राणसख्यग्रास्त्वगायन् मङ्गलान्यतः॥ ३३॥

सुखदुःखहरिद्रास्ता अर्पयन्ति च मस्तके।
जीवस्यात्मनि सद्रूपेऽन्योन्याध्यासेन सर्वदा॥ ३४॥

यन्नाना मनसो रूपं तद्धि सप्तपदी स्मृता।
संभ्रान्तिलक्षणं तत्र ग्रन्थिबन्धस्त्वविद्यया॥ ३५॥

अन्योन्याध्यासरूपेण कामाशालक्षणेन वा।
ग्रन्थिबन्धेन जीवोऽयं बुद्धिर्वा विश्वसित्यलम्॥ ३६॥

और पांचों भूत, दुःखद, महानर्थ के प्रवर्तक, स्थूल देह नामक दृढ मण्डप साधने (बनाने) लगे ॥ ३२॥ विषयादि में अत्यन्त आसक्त, अवशीभूत, अतिचञ्चल, इन्द्रिय प्राण रूप सखी मुख्य, इसीसे मंगल गाने लगे ॥३३॥ और वे मुख्य सखी सब, जीव के आत्मारूप सत्स्वरूप मस्तक पर, अन्योन्याध्यास (परस्पर भ्रम) से सुख दुःख रूप हरदी का सदा अर्पण (प्राप्ति) करती हैं ॥ ३४॥

अत्यन्त भ्रम भ्रमण रूप जो मन के नाना रूप हैं, वही सप्तपदी (भाँवरी) रूप वैवाहिक कर्म कहा गया है। और तहां अविद्या से ग्रन्थि-बन्धन कर्म हुआ है॥ ३५॥ आत्मानात्मा के परस्पर अध्यास (भ्रम) रूप वा काम आशा आदि रूप ग्रन्थिबन्धन से यह जीव वा बुद्धि देव वा अन्य किसी भ्राता (भाई) का ही अलं (पूर्ण) विश्वास करती है।

भया विवाह चली बिनु दुल्लह, बाट जात समधी समुझाई ।
कहँ कबिर मैं गौने जैहौं, तरब कन्त ले तूर व जाई ॥ ३५ ॥

भ्रातरं देवमन्यं वा न चात्मानं प्रिय प्रभुम् ।
हितं सर्वस्य लोकस्य विधातारं च मायया ॥ ३७ ॥
सम्पन्ने कुविवाहे च सुवासिन्या समा जनाः ।
पत्ये 'ह्यर्घं समर्प्यैव गच्छन्ति स्म यतस्ततः ॥ ३८ ॥
विवाहे खलु जातेऽपि पत्यौ वेद्यां स्थितेऽपि च ।
विधवेव जनाः सर्वेऽभवंस्तन्नाशनिश्चयात् ॥ ३९ ॥
सत्पतौ हृदि वेद्यां च स्थित एवाऽबुधा जनाः ।
विज्ञानेन विना तस्य विश्वस्ता अभवंस्तथा ॥ ४० ॥
सम्पन्नेऽपि विवाहेऽतः सर्वे पत्युर्विनैव हि ।
गच्छन्ति गच्छतो मार्गे बोधयन्ति हि वञ्चकाः ॥ ४१ ॥

सब लोक का हित, माया से विधाता (कर्ता) और परम प्रिय प्रभु सर्वात्मा का विश्वास नहीं करता है ॥ ३६-३७ ॥ उक्त रीति से कुविवाह सिद्ध होने पर, सुवासिनी स्त्री के तुल्य मनुष्य पति रूप देवादि के लिये अक्षत पुष्पादि रूप अर्घ का समर्पण करके जहांतहां जाते हैं ॥ ३८ ॥ और विवाह के होने पर भी तथा कल्पित पति के वेदी पर स्थिर रहते भी, उसके नाश के निश्चय से सब जन विधवा के समान हो गये ॥ ३९ ॥ और सत्पति के भी हृदय वेदी पर स्थिर रहते ही उसके ज्ञान विना अज्ञ जन तैसे ही विश्वस्त (विधवा) हुए हैं ॥ ४० ॥

इससे विवाह के सिद्ध होने पर भी सब पति के विना ही जाते हैं, और मार्ग में जानेवालों को वञ्चक समझाते हैं ॥ ४१ ॥

१ साक्षतं सुमनोयुक्तमुदकं दधि संयुतम् । अर्घं, दधिमधुभ्यां च मधुपर्को विधीयते ॥ कात्यायनस्मृ० ॥

वयं सर्वेऽपि गन्तारो गुरवः स्वर्ग उत्तमे ।
तत्र तूर्णं पतिं लब्ध्वा भवतीर्णा भवेम ह ॥ ४२ ॥

जीवतो नैव मुक्तिः स्यात्कस्यचिद्धि कथञ्चन ।
इत्यादि दर्शयन्त्यज्ञा अहो मोहविडम्बना ॥ ४३ ॥

शरीरयन्त्रस्थितयेऽस्य लब्धये,
भजन्ति मूढाः कुगुरुं हरिं तथा ।
विभेददृष्ट्या विमलं हृदि स्थितं,
विदन्ति नो तं ननु मायया हताः ॥ ४४ ॥ ३५ ॥

इति हनुमद्दासकृतायां शब्दसुधायां शरीरासक्तस्येशभक्त्यापि निजात्मालाभादि वर्णनं नाम द्वादशस्तरङ्गः ॥ १२ ॥

हम गुरु लोक सब भी उत्तम स्वर्ग में जानेवाले हैं । वहां तूर्ण (शीघ्र) पति को पा कर संसार से मुक्त होगें ॥ ४२ ॥ किसी जीवित की मुक्ति किसी प्रकार भी नहीं हो सकती, इत्यादि अज्ञ लोक देखाते (समझाते) हैं । मोह की विडम्बना (विस्तार) आश्चर्यरूप है ॥ ४३ ॥ मूढ लोक शरीर यन्त्र की स्थिति और इसकी प्राप्ति के लिये कुगुरु तथा हरि को भेद दृष्टि से भजते हैं, माया से हत (नष्ट) हो कर, हृदय में स्थिर विमल उस हरि को नहीं जानते हैं ॥ ४४ ॥

अक्षरार्थ– इस जीव की बुद्धि रूप स्त्री, सर्वात्मा साईं (स्वामी) के साथ ही है, और सदा सासुर में आई है । परन्तु सद्गुरु आदि बिना परिचय के अभाव से, उसके साथ एक रूप से नहीं सूती (एकता का अनुभव नहीं कर सकी), न उसके परमानन्द स्वरूप का स्वाद ले सकी (परमानन्द का मनन अनुभव नहीं किया) । इससे मानवतनु में स्थिति रूप यौवन (विवेकादि के लिये समर्थावस्था) स्वप्न के समान मिथ्या भोग व्यवहारों में ही स्वप्नतुल्य शीघ्र बीत गया ।

सत्य पति की प्राप्ति नहीं होने पर, असत्य पति की प्राप्ति आदि के लिये चार जना (चारों अन्तःकरण) मिल कर लगन शोचाने (शोचने) लगे, संकल्प चिन्ता आदि करने लगे। और पांच जना (पांच भूत) मिल कर फिर शरीर रूप मंडप छाये (तैयार किये)। फिर इन्द्रियादि रूप सखी सहेली (जीव के संगी मित्र) मंगल गाने लगी (अनात्म संबन्ध से ही कल्याण बताने लगी)। और भोग काल में सुख दुःख रूप हरदी जीव रूप दुलहिन के माथ पर चढ़ा दिया, जीव की आत्मा में बुद्धिगत दुःखादि का आरोप करा दिया।

फिर जो मन के नाना (संकल्प विकल्प कामादि) रूप हुआ सोई भाँवरी परी। अर्थात् मन के अधीन भ्रमण ही भाँवरी विधि हुआ, तब यह जीव अध्यास कामादि रूप गांठि जोर कर (ग्रन्थिबन्धन करके) अपने भाई (भ्राता) देवादि में पतिपन को पतिआया (विश्वास किया)। बुद्धि ने भी अपने भाई मन को स्वामी मान लिया॥ तब सुबासिनी स्त्री तुल्य (प्रथम से देवादि के भक्त) वा वही जीव बुद्धिरूप सुवासिनी (चिरराटी) प्राप्तयौवना, उस पति के लिये अर्घ (अक्षत पुष्प दधि सहित जल) दे कर चली। परन्तु असंग सत पति के साथ रहते भी, उस असत पति के नाश वा अप्राप्ति से चौके में ही रांड़ (विधवा) हो गई, बुद्धि रांड़ के तुल्य रह गई।

यद्यपि विवाह भया (हुआ), गुरु लोक मन्त्र सुनाये। परन्तु चौके में ही रांड़ होने से जीव रूप दुलहिन, दुलहा (उस स्वामी की प्राप्ति) विना ही चली (दुःखपूर्वक लोक व्यवहार में लगी- मरणोन्मुख हुई), तब उस बाट (व्यवहारादि मार्ग) में जाते हुए जीव को समधी (विवाह कर्ता गुरु) समुझाये, और समझाते हैं, और वे कबिर (गुरु आचार्य) अपने शिष्यों से कहते हैं कि, मैं भी यहां से गौने (गमन करके-चलके) ही अपने पति के लोक में जाऊंगा, तब कन्त (स्वामी) के पास में जाकर

तूरव (तूर्ण-शीघ्र) तरब (तरूंगा-मुक्त होऊंगा)। यहां मुक्ति स्वामी की प्राप्ति नही होती। पति का देश दूर है; परन्तु भक्त शीघ्र पहुंचता है। तैसे ही तुम भी पहुंचोगे, इत्यादि। तूर बजाईं, इस पाठ का तुरही बजा कर अर्थ है। और वस्तुतः (तदेतदिति मन्यन्तेऽनिर्देश्यं परमं सुखम्। कठ० २।५।१४) उस सुख स्वरूप अनिर्देश्य परम तत्त्व को ज्ञानी लोक इस अपरोक्ष आत्मस्वरूप ही मानते (जानते) हैं। दूर अन्य नहीं, इत्यादि ॥ ३५ ॥

मनःकामादि प्रबलता प्रकरण १३

प्रथम कहा गया है कि सर्वात्मा विभु है, मन के नाना रूप भाँवरी है, इत्यादि; सो सुन कर शंका हुई कि यदि आत्मा अखण्ड विभु है तो, आवागमनादि किसके होते हैं, चञ्चलता क्यों प्रतीत होती है, लोकान्तरादि की इच्छा क्यों होती है ? तब कहते हैं कि-

शब्द ॥ ३६ ॥

(भाइ रे) गइया एक विरञ्चि दियो है, (गइया) भार अभारो भाई।
नौ नारी के पानि पियत है, तृषा तयो न बुझाई ॥

सृष्ट्वा प्रबलमेकैकं गां जीवेभ्यः प्रदत्तवान्।
विधाता स ह्यभारोऽपि महाभारोऽभवत्तदा ॥ १ ॥
नवद्वारस्थनाडीभिर्विषयापः पिबन् सदा।
तृप्तो न जायते जातु धावते सर्वतस्तथा ॥ २ ॥

विधाता ने प्रबल मन रूप गौ रचकर, जीवों के प्रति एक २ गौ दिया, सो भार (बोझ विशेष) रूप नहीं होते भी, महा भार रूप तब हो गया ॥ १ ॥ वह नौ द्वारों पर रहनेवाली नाड़ियों द्वारा विषय रूप जल को सदा पीता हुआ, कबही तृप्त नहीं होता है, तथा सर्वत्र धावता

कोठो बहत्तर औ लौ लायो, बज्र किवार लगाई।
खूंटा गाड़ि डोरि दृढ बांध्यो, तैंयो तोरि पराई॥
चारि वृक्ष छौ शाखा वाके, पत्र अठारह भाई।
एतिक लै गम किहिस गइया, गइया अति हरहाई॥

योगिनस्तृप्तये त्वस्य स्थित्यै चैव प्रयत्नतः।
द्विसप्ततिप्रकोष्ठेषु वर्तयन्ते स्म धारणाम्॥ ३॥
वज्राऽररसमं रुध्वा सर्वमिन्द्रियसम्पुटम्।
सुनिश्चित्य तथा ध्येयं तत्रैव सति कीलके॥ ४॥
मनोवृत्त्यात्मदाम्ना च तं बध्नन्ति समाहिताः।
अहो तथापि तच्छित्त्वा गच्छत्येव यतस्ततः॥ ५॥
वेदाख्यान् चतुरो वृक्षाण् षट् शाखाश्च तदङ्गकान्।
अष्टादशपुराणानि तत्पत्राण्यधिगम्य सः॥ ६॥
नैव तृप्तोऽतिचण्डोऽयं चपलो धावते मुहुः।
नवं नवं सदैवेच्छंस्तृणं भोग्यं तथोत्सवम्॥ ७॥

(दौड़ता) रहता है॥ २॥ फिर योगियों ने इसकी तृप्ति के लिये और स्थिति के लिये द्विसप्तति (बहत्तर) कोष्ठ (कोठरी) वायु के स्थानों में धारणा (चित्त का बन्धन) किया)॥ ३॥ और सब इन्द्रियों के सम्पुट (द्वार रूप समुद्गक) को वज्र का अरर (कपाट) तुल्य रोक कर, तथा ध्येय का निश्चय करके, उसी ध्येय रूप सत कील में मन की वृत्ति रूप रस्सी से उस मन रूप गौ को समाहित (एकाग्र-अङ्गीकृत) हो कर बांधते हैं। आश्चर्य है कि तोभी उस रस्सी को वह तोडकर जहांतहां जाती है॥ ४, ५॥

वेद नामक चार वृक्ष, उसके अङ्ग रूप छौ शाखा, अठारह पुराण रूप उसके पत्ते को वह प्राप्त करके भी तृप्त नहीं है, और अत्यन्त चण्ड

ई सातो औरो है सातो, नौ औ चौदह भाई।
एतिक गइया खाय बढायो, गइया तौ न अघाई॥
खुरता में राती है गइया, श्वेत सींग है भाई।
अवरण वरण कछू नहिं वाके, खाद्य अखाद्यहुं खाई॥

सप्तद्वीपसमुद्रादि धातुस्वरसमन्वितम्।
प्रत्यक्षं च परोक्षं च दृष्टं चैव श्रुतादिकम्॥ ८॥
व्याकरणानि खण्डांश्च नव विद्याश्चतुर्दश।
भुवनानि च सर्वाणि भोजयित्वा तृणानि सः॥ ९॥
अत्यन्तं वर्द्धितो व्यर्थं बुभुक्षां न जहाति चेत्।
सौहित्यं जायते नाऽस्य तृषोदन्यैव वर्तते॥ १०॥
रजसा गमने रक्तः सत्त्वं शृङ्गं तु शोभते।
वर्याऽवर्यप्रभेदोऽस्य विद्यते नहि कुत्रचित्॥ ११॥

(तीव्र–अति क्रोधी) चपल (चंचल–चोर) यह बार २ धावता है, और सदा ही भोग्य रूप और उत्सव (उद्भव–सुख) रूप नया नया तृण चाहता हुआ धावता है॥ ६, ७॥ सात धातु सात स्वर सहित सात द्वीप समुद्रादि रूप तृण खिला कर, तथा देखा हुआ प्रत्यक्ष, सुना हुआ आदि परोक्ष तृण खिला कर, और नौ व्याकरण रूप नौ खण्ड रूप, चौदह विद्या चौदह भुवन रूप; इन सब तृणों को खिला कर, वह व्यर्थ ही अत्यन्त बढाया गया। यदि बुभुक्षा (भोगेच्छा) को नहीं त्यागता है, और सौहित्य (तृप्ति) नहीं होती है। और तृषा (लिप्सा) उदन्या (पिपासा) ही रहती है॥ ८–१०॥

यह रजोगुण से गमन में रक्त (अनुरक्त) है, या गमन काल में रजोगुण से रक्त (लोहित) है, सत्त्वगुण रूप इसका शृंग शोभता है, वर्यावर्य (प्रधानाप्रधान) का प्रभेद इसको कहीं नहीं हैं॥ ११॥ वा

ब्रह्मा विष्णु खोजि नहिं पाये, शिव सनकादिक भाई।
सिद्ध अनन्त वहि खोज परे हैं, गइया किनहुं न पाई॥
कहहिं कबीर सुनहु हो सन्तो, जो यह पद अर्थावै।
जो यह पद को गाय विचारै, आगे ह्वै निर्वाहै॥ ३६॥

वर्णाऽवर्णप्रभेदो वा नास्त्येवास्य ततः सदा।
खाद्यं खादत्यखाद्यं च योनिकालादिभेदतः॥ १२॥
ब्रह्मा विष्णुर्महेशश्च सनकाद्या मुनीश्वराः।
अन्विष्यापि व्रजन्तं तं लब्धवन्तो न चाद्भुतम्॥ १३॥
अस्यैवाऽन्वेषणे सिद्धा अनन्ताः सन्ति तत्पराः।
लब्धवन्तो न केऽप्यस्य गतिं सत्वरगामिनः॥ १४॥
रक्तः श्वेतस्तथा कृष्णो भूत्वा धावति सर्वतः।
दुर्गमश्चास्य मार्गो वै केनचिन्नैव लभ्यते॥ १५॥
य आचक्षीत चास्यार्थं यः प्रगाय विचारयेत्।
स जनो ह्यग्रणीर्भूत्वा जनानन्यान् विमोचयेत्॥ १६॥

वर्णावर्ण (जाति कुजाति–गुणावगुण) का प्रभेद इसको नहीं है। तिससे योनि कालादि के भेद से खाद्य और अखाद्य भी सदा खाता है (भोगता है)॥ १२॥ ब्रह्मा विष्णु शिवजी और सनकादि आदि मुनीश्वर लोक भी चलता हुआ उस अद्भुत गौ को खोज कर भी नहीं पाये॥ १३॥ इसीकी खोज में अनन्त सिद्ध तत्पर हैं, परन्तु कोई भी सत्वरगामी इसकी गति कों नहीं पाये॥ १४॥ यह रक्त (लोहित), श्वेत, कृष्ण (काला) हो कर सर्वत्र धावता है, और इसका मार्ग दुर्गम है, इसीसे किसीको नहीं मिलता हैं॥ १५॥

जो मनुष्य इस पद के अर्थ को कहेगा, जो अच्छी तरह गा कर विचारेगा, सो जन अग्रणी (अग्रनेता) गुरु हो कर अन्य प्राणी को भी

सद्गुरुश्चाह भोः साधो ! श्रुत्वेदं सुविचार्यताम् ।
अर्थस्यावगमं कृत्वा प्रगायेदं विमुच्यताम् ॥ १७ ॥

" कृतस्फारविचारस्य मनोभोगादयोऽरयः ।
मनागपि न भिन्दन्ति शैलं मन्दानिला इव ॥ १८ ॥

विचारवैराग्यवता चेतसा गुणशालिना ।
देवं पश्यत्यथात्मानमेकरूपमनामयम् " ॥ १९ ॥ ३६ ॥

विमुक्त करेगा ॥ १६ ॥ और सद्गुरु कहते हैं कि हे साधो ! इसे सुन कर विचारो । इसके अर्थ को समझ कर (मनोमूलक सब व्यवहार को और असंग एक आत्मा को समझ कर) इसे अच्छी तरह गाय कर विमुक्त होवो ॥ १७ ॥ क्योंकि पूर्ण विचार करनेवाला के मन को भोगादि रूप शत्रु कुछ भी बाधा नही कर सकते हैं, जैसे मन्द वायु पर्वत का भेदन नहीं कर सकते ॥ १८ ॥ विचार वैराग्य वाला शमादि गुणयुक्त चित्त से, आत्मा और देव (ब्रह्म) को एक अनामय स्वरूप देखता है ॥ १९ ॥ ये दो श्लोक योगवासिष्ठ के हैं ।

अक्षरार्थ– रे भाई ! विरञ्चि (ईश्वर हिरण्यगर्भ रूप ब्रह्मा) ने सब जीवों को एक २ मन अन्तःकरण रूप गइया (गौ) अनादि से दिये हैं। ईश्वराधीन मन बुद्धि उपाधि अनादि हैं। हे भाई ! वह मन अभार (बोझ गुरुत्व रहित) होते भी महाभार रूप है । तथा ज्ञानी संतोषी के लिये हलका होते भी अज्ञ कामी के लिये भारी है । क्योंकि नवद्वार की नारी (नाड़ी) द्वारा सदा पानी (विषय) पीता (भोगता) है । तोभी उसकी तृषा (इच्छा पिपासा तृष्णा) कभी नहीं बुझाती (शान्त होती) है । इसकी शान्ति आदि के लिये योगियोंने द्वारों का निरोध रूप वज्र किमारा लगा कर; शरीर के अन्दर बहत्तर कोठा (कोठरी) आदि स्थानों में धारणा किया, और लौ (ध्यान) लगाया । और ध्येय रूप खूंटा गाड़

कर (निश्चय करके) प्रेम भक्ति रूप डोरी से उस गइया को दृढतापूर्वक बांधा, तोभी उस डोरी को तोड़ कर पराय (भाग) गया । यही गईया सब द्वन्द्व का कारण है, और संसार में सत्यता का ज्ञान वासनादि रहते, इसका निरोध होना कठिन है । और ज्ञानाभ्यासादि से वासनादि रहित होने पर सहज ही शान्त होता है, इत्यादि ।

हे भाई ! वेदरूप चार वृक्ष, उसके अंग शास्त्र रूप छौ शाखा, पुराण रूप अठारह पत्र, एतिक लैं (यहां तक) वह गइया, गम किहिस (अध्ययनादि किया), तोभी आत्मज्ञानादि बिना अत्यन्त हरहाई (हरही चञ्चल भोगेच्छु) रहा । ई सातो (यह सप्त धातुमय शरीर सात स्वरादि) तथा और (परोक्ष) सात द्वीप समुद्रादि, और नौ व्याकरण नौ खण्ड, तथा चौदह भुवन विद्यादि; इन सबको खाय (भोग समझ) कर यह गइया रूप मन बढा, और बढाया गया । हे भाई ! ज्ञानादि बिना गइया तोभी नहीं अघाई (नहीं तृप्त हुआ) ।

और तृप्त नहीं होने से ही यह खुरता (खुर से चलने) में राती (प्रीतिवाली) है । या खुरता (खुर रूपता–गमन रूपता) में राती (लाल–रजोगुणवाली) है । या ता (उस) गइया में खुर भाग (क्रिया रूप) राती (रक्त) है । और इसके सींग (अग्र प्रधानांश) श्वेत (सतोगुण) है और हे भाई ! इसके लिये अवरण वरण (अवेष्टन-वेष्टन, निरावरण–आवरण वा बुरा भला–अजाति जाति) कुछ नहीं है, अग्राह्य ग्राह्य का नियम नहीं है; इसीसे योनि आदि के भेद से खाद्य अखाद्य (भक्ष्याभक्ष्य) सब खाता है । और इसके भाग चलने पर ब्रह्मा आदि भी इसे खोज कर नहीं पाये, कि कितने पल में कहां जा पहुंचा । और शिवजी तथा सब भाई सनकादिक भी नहीं पाये । और अनन्त सिद्ध इसकी खोज में परे (लगे) हैं; परन्तु भागा हुआ मन रूप गइया के पाता किनहुं (कोई) पाये नहीं ।

साहब का कहना है कि हे सन्तो ! आत्मा के श्रवणादि करो, और इस अपरोक्ष आत्मा रूप पद (वस्तु) को समझो, और शब्द को समझो; क्योंकि आत्मज्ञान के लिये, जो कोई इस पद को अर्थावेगा, समझेगा कि सब प्रपञ्च मन माया के अधीन है, आत्मा एक निष्प्रपञ्च है। और जो इस पद को गा कर आत्मविचार करेगा, मन की गति को दुर्गमादि जान कर, उसे तृष्णादि रहित करेगा, वही आगे (अग्रगामी गुरू) हो कर दूसरे का भी निर्वाह (निर्वाण कुशल) करेगा, इत्यादि ॥ ३६ ॥

पूर्व कही रीति से काम वासनादि सहित मन कभी वश में नहीं होता है, इससे उसको वश में करने के साधन कुछ विवेक का वर्णन करते हैं कि—

शब्द ॥ ३७ ॥

कबिरा तेरो घर कन्दला में, या जग फिरत भुलाना ।
गुरु की कही करत नहिं कोई, अमहल महल दिवाना ॥

भो जीव ! ते गृहं शुद्धं हृद्गुहायां हि वर्तते ।
सर्वाधिष्ठानचिद्रूपं भ्रमाज्जगति घूर्णसे ॥ २० ॥
एते संसारिणः सर्वे गृहज्ञानं विनैव हि ।
विघूर्णन्तेऽत्र मोहेन लभन्ते न सुखं क्वचित् ॥ २१ ॥
गुरोर्वाक्यानुसारेण नानुतिष्ठन्ति केचन ।
अगृहे गृहबुद्ध्या तु प्रमत्तं दृश्यते जगत् ॥ २२ ॥

हे जीव ! सब के अधिष्ठान चेतन रूप तेरा शुद्ध गृह, हृदय गुफा में है। तुम भ्रम से जगत में भ्रमते हो ॥ २० ॥ ये सब संसारी लोक गृह का ज्ञान विना ही यहां मोह से भ्रमते हैं, और कहीं सुख नहीं पाते हैं ॥२१॥ गुरु के वाक्यानुसार से कोई अनुष्ठान (आचरण) नहीं करते हैं, और अगृह में ही गृहबुद्धि (ज्ञान) से जगत प्रमत्त दीखता है ॥ २२ ॥ सब

सकल ब्रह्म[1] महँ हंस कबीरा, कागन चोंच पसारा।
मनमथ[2] कर्म धरे सब देही, नाद बिन्द बिस्तारा॥
सकल कबीरा बोलै बानी, पानी में घर छाया।
अनन्त लूट होत घट भीतर, घट का मर्म न पाया॥

सर्वे विवेकिनो हंसा जीवा ब्रह्मणि सर्वदा।
वर्तन्ते तन्मयाश्चैव काका ये त्वविवेकिनः॥ २३॥

ते भोग्यादिकुमांसार्थं मनोबुद्धिपुटं सदा।
स्फारयन्ति न बोधार्थं दुर्बोधमलिनाशयाः॥ २४॥

अतस्ते मन्मथस्यैव क्रियां व्यावायलक्षणाम्।
कुर्वते येन नादस्य बिन्दोश्च विस्तृतिर्भवेत्॥
वंशद्वयात्मिका यद्वा नामरूपात्मिकाऽनृता॥ २५॥

सत्यशब्दं कदाचित्तु ते सर्वेऽपि वदन्ति हि।
अहो तथापि मोहेन संसाराब्धिजले गृहम्॥ २६॥

विवेकी हंस रूप जीव सदा ब्रह्म में स्थिर रहते हैं, और तन्मय रहते हैं। परन्तु जो अविवेकी दुर्बोध से मलिन आशय (आश्रय-भाव) वाले-काक तुल्य हैं, वे लोक मन बुद्धि रूप पुट (चोंच) को सदा भोग्यादि रूप कुमांस के लिये फैलाते हैं, बोध के लिये नहीं॥ २३-२४॥ इससे वे लोक व्यवाय (मैथुन) रूप मन्मथ (काम) की क्रिया ही करते हैं, कि जिससे नाद और बिन्दु का, विद्या और जन्म से होने वाले दो वंश रूप वा मिथ्या नाम रूप स्वरूप विस्तार होवे। २५॥

और वे कर्मी जीव सब भी कभी सत्य शब्द कहते हैं, तोभी मोह से अत्यन्त गंभीर संसार समुद्र के जल विषयादि में वे लोक घर करते हैं।

१ ब्रह्ममय। २ मनमत। ये पाठान्तर हैं॥

कामिनि रूपी सकल कबीरा, मृगा चरन्दे होई।
बड़ बड़ ज्ञानी मुनिवर थाके, पकरि सके नहिं कोई ॥

कुर्वन्ति तेऽतिगम्भीरे तद्रहस्यं विदन्ति नो।
अनन्तनिधिनाशो यः क्रियते कामतस्करैः ॥ २७ ॥

गुरवोऽपि महात्मान संदिशन्ति हितं सदा।
तथापि तेऽतिमालिन्याद्वर्तन्ते हि कुवर्त्मसु ॥ २८ ॥

कामाद्यैः कलिताश्चौरै र्हृद्रहस्यं विदन्ति न।
कामिन्याख्यमृगाश्चातश्चरन्ति शान्तिशस्यकम् ॥ २९ ॥

इन्द्रियाख्यमृगास्तद्वत्कामिन्यादिचराः खलु।
बहिर्मुखा हि धावन्ति भवन्त्यन्तर्मुखा न च ॥ ३० ॥

हृद्रहस्यज्ञभिन्ना ये महान्तो ज्ञानिनो मताः।
मुनयोऽपि महात्मानस्तेऽपि तेषां प्रमार्गणे ॥
श्रान्ता एवाऽभवन् सर्वे ग्रहीतुं तान्न चाशकन् ॥ ३१ ॥

और काम रूप चोरों से जो अनन्त निधि (ज्ञानानन्द) का नाश किया जाता है, उस हृदय के रहस्य (भेद) को नहीं जानते हैं, सो आश्चर्य है ॥ २६-२७ ॥ महात्मा गुरु लोक भी सदा हित का उपदेश देते हैं, तोभी वे लोक अतिमलिनता से कुमार्गों में रहते हैं ॥ २८ ॥ कामादि चोरों से कलित (वश किये गये) लोक हृदय के रहस्य को नहीं जानते हैं। इससे कामिनी नामक मृग शान्ति शस्य (खेती) को चरते हैं ॥ २९ ॥ तैसे ही कामिनी आदि में चरनेवाले इन्द्रिय नाम मृग भी बहिर्मुख होकर दोडते हैं, और अन्तर्मुख नहीं होते हैं ॥ ३० ॥ हृदय के रहस्य के ज्ञानी से भिन्न जो महान ज्ञानी, महानात्मा मुनि माने गये हैं, वे सब भी उन मृगों को भोगादि से वश में करने के लिये प्रमार्गण (अन्वेषण-खोज) में श्रान्त ही हुए, उन्हे पकड़ने में समर्थ नहीं हुए ॥ ३१ ॥

ब्रह्मा वरुण कुबेर पुरन्दर, पीपा औ प्रहलादा।
हिरणाकश नख उदर विदारे, तिनहुं क काल न राखा॥
गोरख ऐसो दत्त दिगम्बर, नामदेव जयदेव दासा।
इन की खबर कहत नहिं कोई, कहाँ कियो है बासा॥

श्रीब्रह्मा वरुणश्चैव कुबेरश्च पुरन्दरः।
पीपाप्रह्लादभक्तौ यौ हिरण्यकशिपस्य यः॥
उरसोऽपि नखैर्भेत्ता तान् कालो ह्यत्तवान् बली॥ ३२॥
गोरक्षो यो महायोगी दत्तात्रेयो दिगम्बरः।
नामदेवो महाभक्तो जयदेवः कवीश्वरः॥ ३३॥
एतेषामपि वृत्तान्त इदानीं नोच्यते जनैः
कैश्चित्कश्चिद्वसन्त्येते कथं कुत्रेति निश्चितः॥ ३४॥
एतेषामीदृशत्वेऽपि वाञ्छन्ति विषयान्नराः।
देवत्वं सिद्धिसम्पत्तीः प्रभुत्वं बलमेव च॥ ३५॥
हृद्रहस्यं न जानन्ति समिच्छन्ति न वेदितुम्।
अहो दौर्भाग्यमेतेषां किं कथं कथयाम्यहम्॥ ३६॥

ब्रह्माजी, वरूण, कुबेर, पुरन्दर (इन्द्र) देव, जो पीपा और प्रह्लाद भक्त, और जो हिरण्यकश्यप के उदर (पेट) को नखों से भेदन किये सो नृसिंह देव; इन सबको बली काल खा गया, रहने नहीं दिया॥३२॥ महायोगी गोरखजी, दिगम्बर दत्तात्रयजी, महाभक्त नामदेव, कवीश्वर जयदेव इनका भी निश्चित कोई वृत्तान्त (विशेष वार्ता) किसी मनुष्य से इस समय नहीं कहा जाता है कि ये कहां कैसे वसते हैं॥ ३३, ३४॥ इनके ऐसे होने पर भी मनुष्य विषय, देवत्व, सिद्धि, सम्पत्ति, प्रभुत्व, बल ही चाहते हैं। ३५॥ और हृदय के रहस्य को न जानते हैं, न जानने के लिये सम्यक् इच्छा करते हैं। आश्चर्य रूप इनके दुर्भाग्य है, मैं कैसे क्या कहूं॥ ३६॥

चौपड़ खेल होत घट भीतर, जन्म की पासा ढारा।
दम दम की कोइ खबर न जानै, करि न सकै निरुआरा॥
चारि दिशा महि मण्डल रच्यो है, रूम शाम बिच दिल्ली।
ता ऊपर कछु अजब तमासा, मारे है यम किल्ली॥

धूर्तेन मनसा तेन कैतवं कुतुकं गृहे।
देहस्याऽभ्यन्तरे नित्यमक्षैर्भवति जन्मभिः॥ ३७॥
कालः क्रीडति वा जन्मपाशकैर्हृद्गृहान्तरे।
श्वासोच्छ्वासस्य वृत्तान्तं तस्य वेत्ति न कश्चन॥३८॥
हृद्रहस्यज्ञभिन्नश्च गुरोर्वाक्यं विना नरः।
तस्य सम्यग् विवेकं न कर्तुं शक्तो न निर्वृतिम्॥ ३९॥
अन्तर्वच्च बहिः कालः क्रीडनस्य प्रसिद्धये।
चतुर्दिग्भिः सुसंयुक्तं कृतवान् भूमिमण्डलम्॥ ४०॥
रूमदेशोऽस्य पश्चार्द्धे पूर्वांशः शामसंज्ञकः।
मध्यस्था साऽतिविख्याता दिल्ली च परिवर्तते॥ ४१॥

तिस रहस्य के नहीं जानने से देह के अभ्यन्तर रूप गृह में धूर्त मन के साथ जन्म रूप अक्ष (पाशों) से जीव को सदा कैतव (जूआ) रूप कुतुक (कौतुक) होता है॥ ३७॥ अथवा हृदय गृह के अन्दर जन्म पाशों से काल क्रीड़ा करता है, उस काल वा कैतव के श्वासप्रश्वास के वृत्तान्त को कोई नहीं जानता है॥ ३८॥ हृदय रहस्य के ज्ञानी से भिन्न मनुष्य उसका सम्यक् विवेक करने के लिये शक्त (समर्थ) नहीं होता है, न निर्वृति (सुख) करने के लिये शक्त है॥ ३९।

अन्तर (भीतर) के समान बाहर भी क्रीडा की सिद्धि के लिये काल ने चार दिशा से सुयुक्त भूमिमण्डल को किया है॥ ४०॥ इस भारत भूमिमण्डल के रूम देश पश्चात् (पश्चिम) है, शाम (आशाम) संज्ञावाला पूर्वांश है, वह अतिविख्यात दिल्ली मध्यमें स्थिर है॥ ४१॥

सकल अवतार जाहि महि मण्डल, अनन्त खड़ा कर जोरे।
अदबुद अगम अगाह रच्यो है, ई सब शोभा तेरे॥

आश्चर्यं कौतुकं किञ्चिद्वर्तते यमकीलकम्।
यल्लग्नाश्चात्र भूपाला म्रियन्ते बहुधा भुवि॥ ४२॥
एवं कालेन चित्तेन देहाख्यं भूमिमण्डलम्।
चतुर्दिग्भिर्युतं नित्यं क्रियते क्रीडनाय हि॥ ४३॥
रूमदेशः शिरस्तत्र पादः शामेति कथ्यते।
दिल्ली च हृदयं यत्र कामाद्या यमकीलकम्॥ ४४॥
एवं स्त्रियाः स्तनौ पुंसो लिङ्गं च यमकीकलम्।
मेम्रियन्तेऽत्र संलक्ताः संशयोऽत्र न विद्यते॥ ४५॥
भूमण्डलस्य तस्यैवावतारा अपि लब्धये।
भूमिपालास्तथा सर्वे वन्दन्ते नित्यमीश्वरम्॥ ४६॥
तिष्ठन्ति ते साञ्जलयो विरमन्ति न केचन।
अहो एते न बुध्यन्ते शाश्वरं विश्वमण्डलम्॥ ४७॥

इस दिल्ली में आश्चर्य कौतुक रूप कुछ यमकीलक (बन्धन काष्ठ) है, कि जिसमें लग्न (बँधे हुए) राजा लोक इस भूमि में बहुत प्रकार से मरते हैं॥ ४२॥ इसी प्रकार काल और चित्त से देह नामक भूमिमण्डल (देश-समूह) चार दिशा से युक्त सदा क्रीड़ा के लिये किया जाता है॥ ४३॥ तिसमें रूमदेश शिर है, पाद (पैर) शाम इस शब्द से कहा जाता है, हृदय दिल्ली है कि जिसमें कामादि यमकील हैं॥ ४४॥ इसी प्रकार स्त्री के स्तन पुरुष का लिङ्ग यमकील है, इसमें अति आसक्त लोक बार बार मरते हैं, इसमें संशय नहीं है॥ ४५॥

उसी भूमण्डल के लाभ (प्राप्ति) के लिये सब अवतार, तथा सब राजा नित्य ईश्वर की वन्दना करते हैं॥ ४६॥ वे सब अञ्जलि (कर) जोरे रहते हैं; कोई उपराम नहीं होते हैं। आश्चर्य है कि ये

सकल कबीरा बोलै बीरा, अजहुं होहु हुसियारा।
कहहिं कबिर गुरु सिकली दर्पण, हरदम करहु पुकारा ॥३७॥

आश्चर्यमत्यगम्यं च गम्भीरं वर्तते तथा।
कार्यं भूमण्डलं तेन सर्वे वाञ्छन्ति सर्वदा ॥ ४८ ॥
विचारे च कृते जीव ! विभूतिस्ते प्रसिद्ध्यति।
भूमण्डलादिकं सर्वं शोभैव तव वर्तते ॥ ४९ ॥
किम्वा सर्वेऽवतारश्च ह्यनन्ता देवदानवाः।
भूमिस्था यं च वन्दन्ते तस्य ते सुषमा त्विदम् ॥ ५० ॥
वदन्त्येवं हि सर्वेऽपि वीराः स्वेन्द्रियशत्रुषु।
तच्छ्रुत्वा सततं जीव ! ह्यद्यापि स्ववधीयताम् ॥ ५१ ॥
मनोऽवधाय तच्छुद्धिकारकं दर्पणं यथा।
स्तुवीहि त्वं गुरुं भूयः पाहि मां सततं वद ॥ ५२ ॥

लोक विश्वमण्डल को शाम्बर (मायिक) नहीं समझते हैं ॥ ४७ ॥ भूमण्डल रूप कार्य, आश्चर्य स्वरूप, अति अगम्य और गंभीर है, तिससे सब सदा चाहते हैं ॥ ४८ ॥ हे जीव ! विचार करने पर सब भूमंडलादि तेरी विभूति (ऐश्वर्य) रूप प्रसिद्ध होता है। और तेरी शोभा ही रूप है ॥ ४९ ॥ अथवा सब अवतार अनन्त देव दानव, भूमिस्थ लोक जिसकी वन्दना करते हैं, तुम्हारे तिस स्वरूप की यह भूमण्डलादि सुषमा (परम शोभा) है ॥ ५० ॥

अपनी इन्द्रियों पर वीर सब महात्मा ऐसे ही कहते हैं, हे जीव ! सो सुन कर आज निरन्तर सावधानी करो ॥ ५१ ॥ मन को सावधान करके, जैसा दर्पण हो तैसा उसकी शुद्धि करनेवाले गुरु की तुम भूयः (बहुत) स्तुति करो, और सदा कहो कि हे प्रभो ! मेरी रक्षा करो ॥ ५२ ॥

एवं कृते त्वया साधो ! शोधिते चित्तदर्पणे।
संपश्यसि निजात्मानं कबीरो गुरुरब्रवीत् ॥ ५३ ॥

ब्रह्मदत्तो मनोगौरयं निर्मित-
श्चञ्चलश्चातिलुब्धः सदा धावते।
तिष्ठति स्वे गृहे नैव बोधं विना,
कामवेगेन जीवान् सदा बाधते ॥ ५४ ॥

आश्रयस्व सद्गुरुं कुरुष्व कामभञ्जनं,
पञ्चबाणबाणजालमाशु नाशयात्र च।
मोहमेहि नैव याहि सत्वरं निजालये,
मानसे निरुध्य कोपमात्मने हितं कुरु ॥ ५५ ॥ ३७ ॥

इति हनुमद्दासकृतायां शब्दसुधायां मनःकामादिप्राबल्यवर्णनं
नाम त्रयोदशस्तरङ्गः ॥ १३ ॥

हे साधो ! तुझे ऐसा करने, और चित्तदर्पण के शोधने पर, तुम निजात्मा को अच्छी तरह देखोगे, सो कबीर गुरु कहे हैं ।। ५३ ।। ब्रह्मा से दिया हुआ वह मनरूप गौ, चञ्चल अति लोभी निर्मित (रचित) है, इससे सदा धावता है । ज्ञान विना अपने घर में स्थिर नहीं रहता है, काम के वेग से जीवों को सदा पीडित करता है ।। ५४ ।। सद्गुरु का आश्रयण करो, इच्छा का नाश करो, पञ्चबाण (काम) के बाणसमूह को यहां शीघ्र नष्ट करो, मोह को नहीं प्राप्त होवो, मानस निजालये (घर) में शीघ्र जावो, क्रोध को रोक कर अपना हित करो ॥ ५५ ॥

अक्षरार्थ —हे कबिरा ! जीव ! तेरा घर (सुखरूप स्थान) हृदय कन्दला (गुफा) में है । जो सर्वाधार व्यक्त चिदात्मा स्वरूप है । परन्तु तुम विवेकादि विना, इस बाहर के जगत (विषयादि) में भूले फिरते हो । या तेरा घर तो हृदय में है, परन्तु यह जगत (संसारी लोक) बाहर भूला फिरता है । और मोहादि वश कोई गुरु की कही बात को नहीं

करता (मानता) है। गुरु के उपदेश के अनुसार सत्संग विचारादि नहीं करता है, इससे भमहल महल (मिथ्या घर) में सब दिवाना (उन्मत्त) मस्त हुआ है, मिथ्या लोक गृहादि में आसक्त हैं। और हे कबीरा ! (जीव !) सकल हंस (विवेकी) लोक तो ब्रह्म में ही रहते हैं। आत्मनिष्ठ होते हैं। ब्रह्मानन्द से सन्तुष्ट रहने से विषयादि नहीं चाहते हैं। परन्तु कागन (काकतुल्य अविवेकी) विषयादि मलिन पदार्थ के ही लिये चोंच तुल्य मन इन्द्रिय पसारते (फैलाते) हैं। (और वे ही सब देही केवल मनमथ (काम) के कर्म को धारण करते हैं। स्त्री आदि में आसक्त होते हैं कि जिससे नाद (शब्द) और बिन्दु के कार्यों का विस्तार होता है। अर्थात् कामी जीव, पुत्र पौत्रादि का विस्तार करते हैं, और कल्पित शब्दजाल माया को बढ़ाते हैं।

सकल कबीर (कवि आदि जीव) सत्य वाणी भी बोलते हैं। तोभी अविवेकी जीव, पानी (विषयादि संसारसमुद्र) में घर छाया है (आसक्त है)। इससे घट के भीतर अनन्त धन (ज्ञानानन्द) की लूट हो रही है। कामादि उसे नष्ट कर रहे हैं। परन्तु कामी जीव घट के मर्म (भेद) को नहीं पाया (नहीं जाना)। और हे कबीरा ! कामिनी रूप सकल (सब) मृग, ज्ञान ध्यान शान्ति आदि खेती को चरन्दे (चरने-नाशने वाले) हैं। और इन मृगों को पकड़ कर वश में करने के लिये यत्न करते २ बड़े २ ज्ञानी (पण्डित) मुनिवर (ऋषि) लोक हार (थाक) गये। परन्तु इन्हें कोई पकड़ नहीं सके। अर्थात् भोग से कोई तृप्त नहीं हुए, न स्त्री तृप्त हुई। इसी प्रकार भोगासक्त मन इन्द्रिय रूप मृग को भी कोई भोग से वश नहीं किया, इत्यादि।

भोग में आसक्त मनुष्य कर्मादि से अमर ब्रह्मादि लोक में जाकर, नित्यविषयानन्दादि चाहते हैं। और ब्रह्मा, वरुण, कुबेर, इन्द्र, पीपा, प्रह्लाद, हिरण्यकश्यप के उदर को नख से फारनेवाला नृसिंह भगवान्,

ये लोक बड़े २ देवादि हर एक कल्प में हुए; परन्तु तिन्हें भी काल सदा नहीं रहने दिया। गोरखजी ऐसा योगी, दत्त (दत्तात्रेय) ऐसा दिगम्बर (नग्न विरक्त), नामदेव जयदेव दास (भक्त) इनकी खबर भी कोई नहीं कहता है कि ये लोक कहां वास किये हैं (बसे हैं) अर्थात् कोई देही स्थिर नहीं रहा, न काल रहने दिया। इससे किसी प्रकार घट का मर्म जानना चाहिये, और आशा कामादि को त्यागना चाहिये।

कोई रहने नहीं पाता है, तोभी जीव आशा आसक्ति को नहीं छोडता है, इससे घट के मर्म को जानने विना कामी के साथ मन मायादि कृत चौपड़ (जूआ) खेल कामी के घट के भीतर होता है, और उसमें जन्म का ही पासा ढारा जाता है; इसमें जितनी ही बार जीव हारता है, मन माया के अधीन जितनी ही बार कुचिन्ता कुव्यवहारादि करता है, उतनी ही बार जन्म लेना पडता है। और वह पासा दम २ (श्वास २) में ढारा जाता है, जिसकी कोई खबर नहीं जानता है, इसीसे उसका निरुआर (निवारण) भी नहीं कर सकता है, इससे बाहर की आसक्ति आदि को त्यागना चाहिये। त्यागपूर्वक विचारादि से इसका निवारण हो सकता है।

भीतर देह में तो मन मायादि कृत चौपड़ होता ही है। बाहर भी चौपड़ के लिये ही चार दिशा से युक्त महिमण्डल (पृथिवी और देह) रचा गया है, कि जिस भारत पृथिवी में रूम देश पश्चिम, और शाम (आशाम) पूर्व है, और बीच में दिल्ली राजधानी है, और उसके ऊपर पश्चिम भाग में एक अजब तमासा है कि एक यमकिल्ली मारा (गाड़ा) है, एक स्तम्भ अभी वर्तमान है, और किंवदन्ती है कि भीम ने एक कील गाडा था। तथा राजधानी होने से उसके लिये राजा लोक लड कर मरते हैं, इससे मानो दिल्ली भूमि के ऊपर यमकिल्ली यन्त्र गाडी गई है। और देहरूप भूमण्डल के शिर रूम है, पैर शाम है, बीच में लिङ्ग के नीचे

कन्द है, सो दिल्ली है, उसके ऊपर लिंग यमकिल्ली है। जिससे जीव कामासक्त होकर बार २ मरता है, या दिल (मन) का स्थान हृदय दिल्ली है, मन का बुरा भाव यमकिल्ली है। स्त्रीदेह में स्तन यम-किल्ली है, इत्यादि।

यमकिल्ली महा अनर्थयुक्त होने पर भी सब अवतार, और जाहि (जिन्हें) महिमण्डल के राज्यादि मिला है, वे सब, और अन्य भी अनन्त लोक सुन्दर देह भूमि के ही लिये, कर जोडे खड़े हुए हैं। ईश्वर की स्तुति आदि कर रहे हैं। या सब अवतारादि जाहि (जिस) भूमण्डल के लिये अनन्त (ईश्वर) के प्रति कर जोर कर खडे हैं। क्योंकि यह संसार शरीरादि बहुत अदबुद (अद्भुत) ज्ञानेन्द्रियों से अगम्य, कर्मेन्द्रियों से अगाह (अथाह) स्वरूप माया से रचे गये हैं। इससे देख कर जीव भूल जाता है। परन्तु विचार करने पर यह सब तेरी शोभा (विभूति) स्वरूप सिद्ध होता है, तेरे स्वरूपाश्रित माया से मिथ्या शोभा के लिये रचा गया है, इत्यादि।

हे कबीरा (जीव!) इस प्रकार सकल (सब) वीर (ज्ञानी महात्मा) बोलते (कहते) हैं। तुम अजहुं (अब भी) हुसियार (सावधान) होवो। उनके उपदेश को मान कर कामादि को त्यागो। और गुरुरूप सिकली (चित्तशोधक दर्पणकार) को चित्तदर्पण की शुद्धि के लिये हरदम (सदा) पुकारो, अर्थात् तन मन वचन से भक्ति आदि करो, कि जिससे मन की शुद्धि होने से आत्मज्ञान हो। कामादि का अभाव मोक्ष हो; यह सद्गुरु कबीर का कथन है, इत्यादि॥ ३७॥

आत्मविस्मृति से मन आदि कृत शिकार वर्णन प्रकरण १४

यद्यपि सब संसार तेरी शोभा है, तथापि सावधान होने आदि विना जो बात होती है, सो सुनो कि–

शब्द ॥ ३८ ॥

कबिरा तेरो वन कन्दला में, मानु अहेरा खेलै।
बपु बारी आनन्द मीरगा, रूचि रूचि शर मेलै॥

हे जीव ! ते वने विश्वे कन्दरे हृदये तथा।
मनःकामादयो नित्यं मृगयां कुर्वते यथा॥ १॥
शरीरोपवने यश्च मृगः स्वानन्दलक्षणः।
तस्योपरि सुसंधाय शराञ्छोकादिलक्षणान्॥ २॥
अर्पयन्ति यतो नाऽसौ कदाचित्सूपलभ्यते।
योगिनोऽपि च तल्लब्ध्यै बाणान् सद्वृत्तिलक्षणान्॥
अर्पयन्ति पृथक् मत्वा खिद्यन्ते बहुधा ततः॥ ३॥

हे जीव ! तेरा वन रूप विश्व (भुवनादि) में, और हृदय रूप कन्दर (दरी–गुहा) में मनःकामादि सदा मृगया (आखेट–शिकार) करते के समान हैं॥ १॥ शरीर रूप उपवन (आराम–बाग) में जो आत्मानन्द स्वरूप मृग है, तिसके ऊपर शोकादि रूप शरों (बाणों) को सुसंधान (अच्छी तरह संघट्टन योजना) करके अर्पण करते हैं कि जिससे वह आनन्द कभी अच्छी तरह उपलब्ध (ज्ञात, प्राप्त) नहीं होता है, और योगी लोक भी उस आत्मानन्द को पृथक् मानकर, उसकी प्राप्ति के लिये सद्वृत्ति रूप बाणों का उसके ऊपर अर्पण करते (चलाते) हैं, तिससे

चेतत रावल पावन खेड़ा, सहजे मूलहिं बांधै।
ध्यान धनुष औ ज्ञान बान करि, योगेश्वर शर साधै॥

"दृशेश्छाया यदारूढा मुखच्छायेव दर्शने।
पश्यंस्तं प्रत्ययं योगी दृष्ट आत्मेति मन्यते"॥४॥
मानुष्यतनुरूपस्य पूतस्य नगरस्य यः।
राजा चेतति वै योगी मूलबन्धं करोति सः॥५॥
स्वभावेन च सद्ध्यानं धनुश्च ज्ञानबाणकम्।
योगेश्वरश्च भूत्वाऽसौ समाध्याख्यमहाशरम्॥
साधयते तटस्थेशे सिद्धीनां गर्द्धया मुहुः॥६॥
अयि! जिज्ञासवो! यूयं पदं जानीत पावनम्।
स्वात्मानं नगरं तत्र मूलबन्धो विधीयताम्॥७॥
सर्वस्यादिस्वरूपेऽस्मिञ्जगन्मूलं विलापय।
राजयोगाख्यसद्ध्यानं धनुश्चैव विधीयताम्॥८॥

बहुधा दुःखी होते हैं॥२-३॥ उपदेशसाहस्री का कथन है कि दर्शन (दर्पण) में मुख की छाया तुल्य, जिस प्रत्यय (अहंकार) में चेतनात्मा की छाया स्थिर है, उस प्रत्यय को ही देखता हुआ योगी, आत्मा को देखा ऐसा मानता है॥४॥

मनुष्यता युक्त देह रूप पवित्र नगर के राजा रूप जो योगी चेतता (साधनों को अच्छी तरह समझता) है, सो मूलबन्ध (मूल द्वार का बन्धन) करता है॥५॥ और वह योगों में ईश्वर (समर्थ) हो कर, स्वभाव (प्रकृति) से सिद्धियों की इच्छा से तटस्थ ईश्वर विषयक, श्रेष्ठ ध्यान रूप धनुष को और ज्ञानरूप बाण को तथा समाधि नामक महान् बाण को बार २ सिद्ध करता है॥६॥ अयि! (हे) जिज्ञासुओ! तुम सब आत्मस्वरूप पावन नगर रूप पद (स्थान-वस्तु) को जानो। और उसी में मूल बन्ध करो॥७॥ अर्थात् सब के आदि स्वरूप इस

षट चक्रहिं बेधि कमल बेध्यो, जाय उज्यारी कीन्हा।
काम क्रोध औ लोभ मोहहीं, हांकी सावज दीन्हा॥

परोक्षज्ञानबाणेन ह्यपरोक्षं सुलक्षणम्।
योगेश्वरशरं शीघ्रं साध्यतां तु विमुक्तये॥ ९॥
चक्राणि योगिनो विद्ध्वा षट् पद्मानि तथाऽष्ट च।
गत्वा स्वगगने तत्र ज्योतिः प्रकटयन्ति हि॥ १०॥
कामाद्याख्यान् मृगान् क्रूरांस्ततो विद्राव्य यत्नतः।
खेचरीमुद्रिकायुक्त्या कुर्वन्ति द्वाररोधनम्॥ ११॥
अहोरात्रप्रभेदो न कदाचिद्यत्र विद्यते।
तत्र ते दासजीवा हि योगिनः प्राप्नुवन्ति च॥ १२॥
सद्गुरोः सङ्गतिस्तावल्लोकसङ्गोऽपि नश्यति।
जिज्ञासुजनसङ्घस्तु बोधात्मैकशरेण हि॥ १३॥

आत्मा में अज्ञान रूप जगत के मूल कारण को विलय करो, और राजयोग नामक श्रेष्ठ ध्यान रूप ही धनुष करो॥ ८॥ और परोक्षात्मज्ञान रूप बाण से ही अपरोक्ष ज्ञान रूप सुलक्षण योगेश्वरों के शर को शीघ्रही विमुक्ति के लिये सिद्ध करो॥ ९॥

योगी लोक छौ चक्र तथा आठ कमलों को वेध कर, अपने गगन (ब्रह्माण्ड) में जाकर ज्योतिः (प्रकाश) को प्रगट करते हैं॥ १०॥ और क्रूर कामादि नामक मृगों को वहाँ से यत्न द्वारा भगा कर, खेचरी मुद्रा की युक्ति से गगन के द्वार को बन्द करते हैं॥ ११॥ जहाँ कभी दिनरात के विभेद नहीं है, तहां वे दास (भक्त) जीव योगी ही प्राप्त होते हैं॥ १२॥ सद्गुरु की संगति, तथा लोकसङ्ग भी तावत्काल के लिये नष्ट हो जाता है, सदा के लिये नहीं। जिज्ञासुजन का समूह तो

गगन मध्ये रोकिन द्वारा, जहां दिवस नहिं राती ।
दास कबीरा जाय पहुंचे, बिछुरे संग संघाती ॥३८॥

विद्ध्वैव सर्वचक्रादीनखण्डं ज्योतिरव्ययम् ।
आविर्भावयते नूनं कामादीन् द्रावयन् सदा ॥ १४ ॥
चिदात्मगगने स्थित्वा कामादिद्वाररोधनम् ।
कृतवान् यत्र न द्वन्द्वमहोरात्रादिलक्षणम् ॥ १५ ॥
सद्गुरोर्दासभूतोऽयं जीवो गत्वा परे पदे ।
स्थिरतां लब्धवान् यत्र सर्वसङ्गो न्यवर्तत ॥ १६ ॥
सङ्गिनः प्राणबुद्ध्याद्या वियुक्ताश्चाभवन् स्वयम् ।
हठान्नैव तु ते साध्या भवन्ति किल योगिभिः ॥ १७ ॥३८॥

ज्ञान रूप एक शर से ही सब चक्रादि का बेधन (बाध) करके ही, कामादि को सदा भगाता हुआ अखण्ड अव्यय ज्योति को अवश्य आविर्भूत (प्रगट-प्रत्यक्ष) करता है ॥ १३-१४ ॥ और चिदात्मा रूप गगन में स्थिर हो कर, कामादि के द्वार (मार्ग-हेतु) का रोधन (नाश) कर दिया, कि जिस गगन में दिनरातादि रूप द्वन्द्व (कलह मिथुन) नहीं हैं ॥ १५ ॥ सद्गुरु के दास (भक्त) स्वरूप यह जीव पर (उत्तम) पद (स्थान-वस्तु) में जाकर, स्थिरता को पाया, कि जहां सब सङ्ग स्वयं निवृत्त हो गये ॥ १६ ॥ प्राण बुद्धि आदि रूप सङ्गी भी स्वयं वियुक्त हो गये । योगियों से केवल हठ से तो ये साध्य (वशीभूत वा निवृत्त) नहीं होते हैं ॥ १७ ॥

अक्षरार्थ–हे कबीरा ! (हे जीव !) शोभारूप तेरो वन (संसार) में और कन्दला (कन्दरा-गुफा) रूप हृदय में मानु (मन) अहेर (शिकार) खेलता है, या मानु (मानो) कामादि अहेर खेलते हैं, अथवा योगी लोक अहेर खेलते हैं, उसे मानु (मानो-समझो) । और वपु (देह) रूप

बारी (बाग) में विषयानन्द वा योगानन्द की प्राप्ति के लिये, उसमें वर्तमान आत्मानन्द के ऊपर रूचि २ (संभाल २) कर वृत्ति आदि रूप शर (बाण) मेलते (डारते) हैं। कामादि आत्मानन्द को नष्ट करने के लिये शोकादि उत्पन्न करते हैं। योगी लोक प्रबल रुचि (इच्छा) से वृत्तिरूप बाण चलाते हैं।

इस मानव तनु रूप पावन (पवित्र) खेड़ा (ग्राम) के रावल (राजा-स्वामी) हे जीव ! चेतत (चेतो-सावधान होवो), सहजे (सहज समाधि) से मूल कारण अज्ञान कामादि को बांधो (वश में, नष्ट करो)। और ध्यान का धनुष, और उपासना परोक्ष ज्ञान का बाण करके अपरोक्ष ज्ञानादि रूप योगेश्वर शर को सिद्ध करो। और उससे अविद्या कामादि का सर्वथा अभाव करो इत्यादि उपदेश है। अथवा इस पावन खेड़ा के रावल जो योगी चेतता (जानता) है, कि मन कामादि अहेर खेल रहे हैं, सो प्रथम मूलबन्धादि करता है, फिर ईश्वर देवादि का ध्यान रूप धनुष, ज्ञान रूप बाण सिद्ध करके समाधि रूप योगेश्वर शर को सिद्ध करता है।

जिन लोकोंने आत्मापरोक्ष किया, उन्होंने एक ज्ञान बाण से छौ चक्र आठ कमलों को बेध दिया (यद्यपि योगी लोक चक्रों कमलों में भिन्न २ ध्येय ज्ञेय को प्रत्यक्ष करते हैं, तथापि आत्मज्ञानी सर्वत्र एकात्मा को ही देखता है)। और दशद्वार पर, ऊर्ध्व भूमिका में जाय कर, उसी आत्मा की उज्यारी (अनुभव) किया, और करता है। और उसी एक बाण से कामादि सावजों को अपने हृदय से हांकी (भगाय) दिया, और भगाता है। और, कामादि को भगा कर, आत्मनिष्ठ होकर, हृदयादि गगन में काम आदि की प्राप्ति के द्वारों (संकल्पादि) को रोक दिया (नष्ट कर दिया) और ऐसा गगन में वे लोक स्थिर हुए कि जहाँ दिन रात का भेद नहीं है, वा जहाँ दिवस (प्रकाश) है। परन्तु अविद्यादि अन्धकार नहीं है। और सद्‌गुरु के दास जीव जब गगन मण्डल में जाय कर पहुंचे,

तब उनके लौकिक संग संघाती सब सदा के लिये बिछुड़ गये, और वै विषयादि के संग, मन आदि सङ्गी से रहित असंग मुक्त हो गये। अथवा चेतनेवाले योगियो ने चक्रादि का क्रम से वेधन करके, दशम द्वार पर जाय कर, ज्योति को प्रगट किया। और कामादि को वहां से भगाकर द्वारोंद्वार को रोका, कि इस प्रकार अब कामादि यहां नहीं आयगें, न आनन्द मृग का अहेर करेगें। और द्वार रोकने पर दिनरात का भेद नहीं रहा। जो जीव जाय पहुंचा, उसके संग संघाती स्थिति काल तक बिछुड़ गये, परन्तु आत्मज्ञानादि विना नित्यासङ्गता नहीं हुई, इत्यादि।

विशेष बात-यह है कि सत्संग विचारादि से आत्मज्ञान होने पर, अनायास ही आनन्द की प्राप्ति आदि होते हैं। विचारादि को त्याग कर हठ से मन के निरोधादि करने पर क्षणिक सुख तात्कालिक कामादि के अभाव होने पर भी, अज्ञानादि से फिर पूर्व के सदृश कामादि प्रपञ्च उत्पन्न होते हैं। योगवासिष्ठ के वचन हैं कि "न शक्यते मनो जेतुं, विना युक्तिमनिन्दिताम्। अङ्कुशेन विना मत्तं, यथा दुष्टं मतङ्गजम्॥ १॥ अध्यात्मविद्याऽधिगमः साधुसङ्गम एव च। वासनानां परित्यागः प्राणस्पन्दनिरोधनम्॥ एतास्ता युक्तयः पुष्टाः सन्ति चित्तजये किल॥ २॥" अनिन्दित युक्ति विना मन नहीं जीता जा सकता। जैसे अंकुश विना दुष्ट मत्त हाथी वश में नहीं होता॥ १॥ अध्यात्मविद्या की प्राप्ति, साधु का संग, वासना का त्याग, और प्राणगति का निरोध; ये वह चित्तनिरोध में पुष्ट युक्ति हैं; इत्यादि॥ ३८॥

प्रथम कहा गया है कि जीव के साथ मन चौपड़ खेलता है, उसमें जन्म की पासा ढारता है, इससे जन्मादि रहित होने के लिये सावधान होवो इत्यादि। और उस मन को शिकारी कहा गया है, तहाँ शंका जिज्ञासा हुई कि, चौपड़ में जिसकी पासा पौ (कोष्ठ विशेष) में पड़ती है, उसका विजय होता है, इससे विजय के लिये कोष्ठ का ज्ञान होना चाहिये,

कि मन के चौपड़ में कौन पौ है, कि जहाँ चित्त रूप पासा को लेकर स्थिर करने से जीव विजय पाकर, जन्मरहित होता है, मन के फन्दे में नहीं पड़ता है; तब कहते हैं कि—

शब्द ॥ ३९ ॥

अपन पौ आपु ही बिसरेवो ।
जैसे श्वान काँच मन्दिर महँ, भरमत भूँकि मरेवो ॥

कालेन मनसा चैव निर्मिते कैतवे ग्लहे ।
जीवानां विजयायाऽत्र तत्पराजयसिद्धये ॥ १८ ॥
स्थानमात्मैव निर्बाधं चित्ताक्षनयनेन यत् ।
तत्स्थानं विस्मृतं जीवैस्तस्माज्जन्मादिसंसृतिः ॥ १९ ॥
काचैर्विनिर्मिते गेहे प्रविष्टः कुक्कुरो यथा ।
विलोक्य प्रतिमां स्वस्य तत्रामित्रादिबुद्धिभिः ॥ २० ॥
भषित्वा म्रियते भ्रान्त्वा म्रियन्ते जन्तवस्तथा ।
स्वात्मनः प्रतिबिम्बेषु भेदबुद्ध्या विलप्य वै ॥ २१ ॥

काल और मन से निर्मित कैतव (जूआ) और ग्लह (पण–दाव) में, चित्त रूप अक्ष (पासा) के नयन (प्राप्ति) से यहां जीवों का विजय, और उस काल मन के पराजय (हार) के लिये आत्मा ही जो निर्बाध (बाधा रहित–सत्य) स्थान है, सो जीव भूल गये हैं; तिसीसे जन्मादि संसार है ॥ १८–१९ ॥ जैसे काच से रचित घर में पैठा हुआ कुत्ता अपनी प्रतिमा (प्रति छाया) को देखकर, और उसमें अमित्र (शत्रु) आदि ज्ञान से भूंककर भ्रम कर मरता है। तैसे ही सब प्राणी अपनी आत्मा के प्रतिबिम्बों में भेदबुद्धि से विलापादि करके मरते हैं ॥ २०·२१ ॥

ज्यों केहरि वपु निरखि कूप जल, प्रतिमा देखि परेवो।
वैसे ही गज स्फटिक शिला महँ, दशननि आनि अरेवो॥
मरकट मूठि स्वाद नहिं बिहुरे, घर घर रटत फिरेवो।
कहहिं कबिर ललनी के सुगना, तुहि कवने पकरेवो॥३९॥

केसरी स्वप्रतिच्छायां कूपे सम्यग् विलोक्य ह।
सपत्नं स्वस्य तां मत्वा भ्रंशते युद्धदुर्मदः॥ २२॥
दन्ती स्फटिकपाषाणे प्रतिबिम्बं विलोक्य च।
तं च प्रत्यर्थिनं मत्वा दन्ताभ्यां युद्ध्यते यथा॥ २३॥
तथा संसाररन्ध्रेषु गोचरादिषु दुर्धियः।
प्रतिबिम्बं विलोक्यैव पतन्ति नरकेष्वपि॥ २४॥
रागद्वेषादिभिर्युक्ताः संग्रस्ता मत्सरादिभिः।
निष्फलं प्रतियुद्ध्यन्ते स्वकल्पितकलेवरैः॥ २५॥
मर्कटो वा यथा स्वादाद्बध्यते स्वयमेव हि।
जहाति मुष्टिबन्धं नो भ्राम्यत्यस्माद् गृहे गृहे॥ २६॥

केसरी (सिंह) अपनी प्रतिच्छाया (प्रतिबिम्ब) को कूप में अच्छी तरह देख कर, और उसे अपना सपत्न (शत्रू) मान कर, युद्ध के लिये दुष्ट मद (गर्व) वाला होकर कूप में गिर गया, यह कथा प्रसिद्ध है ॥ २२ ॥ दन्ती (हाथी) स्फटिक (स्वच्छ साफ) पाषाण (पहाड़ पत्थर) में अपने प्रतिबिम्ब को देख कर, और उसे प्रत्यर्थी (रिपु) मानकर, जैसे दांतों से युद्ध करता है ॥ २३ ॥ वैसे दुर्बुद्धि मनुष्य भी संसार के रन्ध्र (छिद्र-बिल) रूप लोक देहों में और गोचर (विषय) आदि में प्रतिबिम्ब को देख (जान) करके ही, रागद्वेषादि से युक्त, और मत्सरादि से ग्रस्त हो कर, अपने स्वरूप में कल्पित कलेवरों (देहों) के साथ परस्पर व्यर्थ युद्ध करते हैं, और नरकों में भी गिरते हैं ॥ २४-२५ ॥

अथवा जैसे मर्कट (वानर) स्वयम् ही स्वाद से बँधता है; क्योंकि

तथैव जन्तवः सर्वे विस्मृत्यानन्दचिद्घनम्।
स्वादुकामेन बध्यन्ते सर्वयोनौ भ्रमन्ति च ॥ २७ ॥
नालिकाऽऽसक्तकीरं वा त्वां वाऽऽसक्तं हि देहिनम्।
न कोऽप्यत्रैव बध्नाति स्वयं मोहेन बध्यते ॥ २८ ॥
लम्बते नालिकायां वै यथा कीरस्तथैव च।
गर्भे त्वं लम्बसे जीव ! सद्गुरुर्वक्ति तत्त्वतः ॥ २९ ॥
संसारे कान्तारे चित्तं चौरः कामाद्या व्याधाः,
कुर्वन्तोऽत्र क्रीडाचक्रं कुर्वन्त्याखेटं सर्वे।
छित्त्वाऽऽनन्दं चिन्ताचक्रे जीवान्नीत्वा भिन्दन्ति,
भ्रान्ता जीवाः श्वाद्यैस्तुल्या भ्रान्त्वा भ्रान्त्वा नश्यन्ति ॥३०॥३१॥

इति हनुमद्दासकृतायां शब्दसुधायां निजात्मविस्मृत्या मनोयोग्याद्याखेट-वर्णनं नाम चतुर्दशस्तरङ्गः ॥ १४ ॥

वह मुष्टि (मूठी) बन्धन को स्वयं नहीं त्यागता है; इसीसे बंधा कर घर २ में भ्रमता है ॥ २६ ॥ तैसेही सब प्राणी स्वादु (मधुर–मनोज्ञ) आदि के काम इच्छा से, आनन्द स्वरूप चिद्घन आत्मा को भूल कर बँधते हैं, और सब योनि में भ्रमते हैं ॥२७॥ वांस की नालिका में आसक्त कीर (शुक) को, वा यहां ही आसक्त तुम देही को, कौन यहां बांधता है। मोह से कीर स्वयं बँधता है ॥ २८ ॥ और कीर जैसे नालिका में स्वयं लम्बता (गिरता–लटकता बोलता) है, हे जीव ! तैसे ही तुम गर्भ में गिरते लटकते हो। सद्गुरु यथार्थ रूप से इस बात को कहते हैं ॥ २९ ॥ संसार रूप कान्तार (दुर्गम मार्ग-वा महारण्य) में चित्त चौर है, और कामादि व्याधा हैं। सो सब इस संसार में क्रीडा समूह को करते हुए आखेट (शिकार) करते हैं। और सत्यानन्द का छेदन करके, चिन्तारूप चक्र (आवर्त–वा चाक या अस्त्र) पर जीवों को प्राप्त करके इनका भेदन करते हैं। श्वानादि के तुल्य जीव भ्रम २ करके नष्ट होते हैं ॥ ३० ॥

अक्षरार्थ- इस मन मायादि कृत चौपड़ में अपना विजय, मन के पराजय के लिये अपना पौ रूप आपु (अपना स्वरूप) ही है। इससे चित्त को आत्मा में स्थिर करने से जीव विजय मुक्ति पाता है। परन्तु यह अपनी आत्मा को बिसरा (भूला) है। इसीसे जैसे कुत्ता कांच के मन्दिर में अपने प्रतिबिम्ब का दूसरा कुत्ता जान कर भरम भूंक कर मरता है, तैसे ही आत्मप्रतिबिम्बों में आत्मज्ञानादि रूप भ्रम से जीव भटक कर मरता है, मन को नहीं जीतता है इत्यादि।

और केहरि (सिंह) जैसे कूप के जल में, अपने वपु (देह) की प्रतिमा (प्रतिबिम्ब) को निरखि (देख) कर, उस कूप में गिर पडा। वैसे ही (सिंह तुल्य ही) गज (हाथी) स्फटिक सफेद (स्वच्छ) शिला (पत्थर) में अपनी छाया देख कर, दशनन (दांतों) से आकर अड़ गया (लडने लगा)। तैसे ही विषय लोकादि कूप में लोक गिरते हैं। कल्पित व्यक्तियों से व्यर्थ युद्धादि करते हैं। इस सब में आत्मविस्मरण ही कारण है।

और जैसे व्याधा से गाड़ा हुआ छोटा मुखवाले पात्र में वानर की मूठी फंस जाती है। और वह स्वादवश मूठी को नहीं बिहुरता (खोलता) है, मूठी के अन्न को नहीं त्यागता है। इससे परवश होकर घर २ में रटते (भटकते) फिरता है। तैसेही सब जीव स्वादवश योनियों में भटकते हैं, पौ नहीं पाते हैं। और साहब कहते हैं कि हे ललनी (वांस की नली) के सुगना (सूवा) ! तुम को कौन पकड़ा है। अर्थात् जैसे सूवा भ्रम से और स्वादवश ललनी में उलटा लटका रहता है। फिर व्याधा के वश में होकर दुःखी होता है। तैसे ही जीव सब अपने अज्ञानादि से, अपने स्वरूप को भूल कर गर्भ कालादि के वश में होते हैं ॥ ३९ ॥

विषय संप्रदायासक्ति और त्यागादि वर्णन

प्रकरण १५

प्रथम अपना पौ रूप अपने स्वरूप को भूलने से जन्मादि कहा गया है, और अपने स्वरूप के ज्ञान से कल्याण होता है। तहां अपने स्वरूप को जानने में भी यह भेद है कि (यस्याऽमतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः। केन २। ३) इस श्रुति आदि के अनुसार ब्रह्मात्मा जिसकी समझ में अमत (मति का अविषय-स्वयं प्रकाश) है, उसीको वह मत (ज्ञात) है। और जिसकी समझ में मत (बुद्धि का विषय) है, वह उसको नहीं जानता है। इससे मत (विषय) रूप से आत्मा को जानने भजनेवाला एक प्रकार का मतवाला है। इत्यादि आशय से कहते हैं कि-

शब्द ॥ ४० ॥

सन्तो मते मातु जन रंगी।
पियत पियाला प्रेम सुधारस, मतवाले सतसंगी ॥

विजयस्थानमात्माऽसौ मत्या अविषयत्वतः।
अमतो वै श्रुतौ प्रोक्तः स्वप्रकाशः सदव्ययः ॥ १ ॥

तथोपलभ्यते सद्भिर्यो वाचां विषयो न च।
अतद्व्यावृत्तिरूपेण तत्त्वभावप्रसादतः ॥ २ ॥

मन आदि के विजय के स्थान रूप वह आत्मा बुद्धि का अविषय होने से श्रुति में अमत स्वप्रकाश सत्य अव्यय ही कहा गया है ॥ १ ॥ अतद् (अनात्मा) की व्यावृत्ति (नेति नेति। बृ० ४। ५ इत्यादि रीति से निषेध) रूप से, और तत्त्व भाव (सत्य स्वरूप) के प्रसाद (अभिमुखता, प्रसन्नता) से, सत्पुरुषों से आत्मा तथा (अमत) उपलब्ध (ज्ञात-प्रत्यक्ष) होता है, जो कि वाणियों का भी विषय नहीं है ॥ २ ॥

अर्द्ध उर्द्ध भाठी रोपिन, लीन्ह कषा रस गारी।
मुन्द्यो मदन काटि कर्म कश्मल, संतत चुवत अगारी॥

येषां त्वत्र गुणौ रक्तं चित्तं ते रागिणो जनाः।
मतप्रेम्णा सदा मत्तास्तिष्ठन्ति त्वमते नहि॥ ३॥
मतसत्सङ्गिनो येऽपि ते तत्प्रेमसुधारसम्।
पीत्वा श्रोत्रपुटैः कामं मत्तास्तिष्ठन्ति सर्वदा॥ ४॥
अधोलोके तथोद्र्ध्वे च पिण्डे ब्रह्माण्डमूर्धनि।
स्नेहमद्यस्य ते भ्राष्ट्रं सङ्गं संस्थाप्य तेन च॥ ५॥
स्नावयित्वा कश्यरसं मतप्रेमात्मकं खलु।
आददुर्वा कषायं ते शुद्धं न मधुरं जनाः॥ ६॥
मदनश्छादितो यैश्च च्छिन्नानि कश्मलानि वै।
कल्मषाणि च कर्माणि तद्धृदि क्षरतीव सः॥ ७॥

और जिनका चित्त यहां गुणों से रक्त (रञ्जित) है, वे रागी लोक मत के प्रेम से ही सदा मत्त (मतवाले) रहते हैं। अमत में वे नहीं स्थिर होते हैं॥ ३॥ जो लोक मतप्रिय सत्सङ्गी हैं, सो उस मतविषयक प्रेमरूप सुधारस को श्रोत्रपुट (दोना) से यथेष्ट पीकर, सदा मत्त रहते हैं॥ ४॥

अधो (नीचे) के लोक में तथा ऊपर में पिण्ड (देह) में ब्रह्माण्ड के शिर में, वे लोक स्नेह (प्रेम) मद्य (सुरा) के संग रूप भ्राष्ट्र (भट्ठी) को सम्यक् स्थिर करके, और तिससे मत के प्रेमरूप कश्यरस (मद्यरस) वा कषाय रस को चूला करके ग्रहण किये, और वे लोक शुद्ध स्वरूप मधुर रस का ग्रहण नहीं किये॥ ५-६॥ जिनसे मदन (काम) छादित अपवारित हुआ, कश्मल (मोह) और कल्मष (पाप) कर्म नष्ट किये,

गोरख दत्त वसिष्ठ व्यास कपि, नारद शुक मुनि जोरी।
बैठे सभा शम्भु सनकादिक, तहँ फिरु अधर कटोरी॥
अम्बरीष बलि याज्ञ जनक जड़, शेष सहस मुख पाना।
कहँ लै वरणौ आदि अन्त लो, अहमल महल दिवाना॥

गोरक्षश्चैव दत्तश्च वसिष्ठो व्यास एव च।
हनुमान् नारदो विद्वान्शुकश्च मुनियुग्मकौ॥ ८॥
शंभुश्च भगवान् यत्र सभायां सनकादयः।
वर्तन्ते तत्र तत्प्रेमपात्रमोष्ठेषु घूर्णते॥ ९॥
गोरक्षाद्या हि यैर्मान्यास्तेषामधरवर्त्मसु।
वर्तते प्रेमपात्रं तत् मान्यांश्च मन्वते तथा॥ १०॥
अम्बरीषो बलिश्चैव याज्ञवल्क्यो विदेहकः।
जडोऽपि तद्रसं पीत्वा ह्यगमत्स्वर्गमूर्धनि॥ ११॥
मुखानां च सहस्रेण शेषः पिबति तद्रसम्।
आद्यन्तावधि संख्याय कियत् तत्कथ्यतां किल॥ १२॥

उनके हृदय में वह रस मानो चूता है॥ ७॥ गोरखजी, दत्तात्रेयजी, वसिष्ठजी, व्यासजी, हनुमानजी, नारदजी, शुकदेवजी आदि विद्वान्, मुनियुग्म (नर नारायण), भगवान् शिवजी, सनकादि मुनीश्वर जिस जिस सभा में रहते हैं वहां भी वह प्रेम का पात्र ओष्ठों पर घूमता हैं॥९॥ गोरखजी आदि जिनके मान्य हैं, उनके अधर मार्गों में भी वह प्रेम पात्र रहता है, तथा अपने मान्य को भी तैसा ही (मत के प्रेमी ही) मानते हैं॥ १०॥

अम्बरीष, बलि, याज्ञवल्क्य, विदेह (जनक), जड़ (भरत राजा का तीसरा अवतार); ये सब उस रस को पीकर स्वर्ग के शिर में गये॥११॥ मुखों के हजार से शेष उस रस को पीते हैं। सृष्टि के आदि से अन्त तक

ध्रुव प्रहलाद विभीषण माँते, माँती शिव की नारी।
निर्गुण ब्रह्म माँतु वृन्दावन, अजहूं लागु खुमारी॥
सुर नर मुनि यति पीर औलिया, जिनहिं पिया तिन जाना।
कहहिं कबिर गूंगे का शक्कर, क्यों कर कहैं दिवाना॥ ४०॥

अगृहे गृहबुद्ध्या हि मत्ताः सर्वेऽभवञ्जनाः।
ध्रुवः प्रह्लादभक्तश्च मत्तोऽभूच्च विभीषणः॥ १३॥
गौरी मत्ताऽभवत्सा च शिवस्य वल्लभा स्वयम्।
वृन्दावने च कृष्णोऽसौ स्वयं वै निर्गुणोऽपि सन्॥
मत्तोऽभवत् खलु ब्रह्म तस्मिंस्तत्रत्य मानवाः॥ १४॥
अहो तन्मत्ततायां वै तत्रांशोऽद्यापि विद्यते।
घूर्णन्ते येन लोकाश्च स्वयं स भगवांस्तथा॥ १५॥
देवैर्मुनिमनुष्यैश्च तुरुष्कगुरुसाधुभिः।
यैः पीतः स रसस्तैश्च ह्यनुभूतो न चान्यकैः॥ १६॥

वह (पानादि) कितना गिन कर ही कहा जाय॥ १२॥ अघर में घर के ज्ञान से प्रायः सब जन मत्त हुए। ध्रुव, प्रह्लाद भक्त और विभीषण मत्त हुए॥ १३॥ वह शिवजी की वल्लभा (प्यारी) स्वयं गौरी मत्ता हुईं। स्वयं निर्गुण होते भी वह ब्रह्म कृष्णजी वृन्दावन में मत्त हुए। वहां के मनुष्य उन में मत्त हुए॥ १४॥ आश्चर्य है कि उस मत्तता का अंश (कुछ भाग) वहां आज भी है कि जिससे लोक भ्रमते हैं। और (वृन्दावनं परित्यज्य पादमेकं न गच्छति। वृन्दावन को त्याग कर भगवान् एक कदम भी अन्यत्र नहीं जाते हैं, इस ब्रह्मवैवर्त पुराण के वचनानुसार स्वयं भगवान भी वहां ही घूमते हैं)॥ १५॥

जिन देव मुनि मनुष्य तुरुकों के गुरु साधु से वह रस पीया गया, उन्हें ही उसका अनुभव हुआ, अन्य को नहीं॥ १६॥

मूका यथा गुडं तेऽपि कथयन्तु कथं रसान्।
अतिमत्ता हि वर्तन्ते कबीरो भाषते गुरुः ॥ १७ ॥
अभ्युपगमवादेन जगादैतत्समं किल।
वसिष्ठशुकवैदेहप्रभृतीन् हि स्वयं यतः ॥
ज्ञानित्वेनोक्तवानत्र शास्त्रं वदति वै तथा ॥ १८ ॥
यद्वा मतरसस्यात्र प्राबल्यं प्रोक्तवान् गुरुः।
येनाऽमतरसज्ञोऽपि कदाचित्तत्र मज्जति ॥ १९ ॥ ४० ॥

मूक जैसे गुड को तैसे वे लोक रसों को कैसे कहें, जिससे अतिमत्त हैं। यह बात कबीर गुरु कहते हैं ॥ १७ ॥ यह सब अभ्युपगमवाद से कहा गया है, जिससे स्वयं इस ग्रन्थ में वसिष्ठादि को ज्ञानी रूप से कहा है। और इतिहास पुराणादि शास्त्र भी तैसा ही कहता है ॥ १८ ॥ अथवा यहां मत रस की प्रबलता को गुरु ने कहा है, कि जिससे अमत रस के ज्ञानी भी कभी तिसमें निमग्न होता है ॥ १९ ॥

अक्षरार्थ –हे सन्तो! रङ्गी (अनुरागी–गुणरञ्जित चित्तवाले) लोक। मते (मति के विषय तथा सम्प्रदाय) में माँते हैं। और सत्सङ्गी (अमत के विवेकी) भी मतविषयक प्रेम सुधा (अमृत) रस का प्याला पीते हैं, और उसीसे मतवाले रहते हैं। इससे अपना पौ को प्रायः भूले रहते हैं; जो कि अमत स्वरूप है। अथवा रंगी लोक मत में मांते हैं, और मत के प्रेम सुधारस का पियाला पीते हैं, और सत्सङ्गी अमत के आनन्द से मतवाले (संसार को भूले) रहते हैं, इत्यादि।

और रङ्गी लोकों ने उस रस को चुलाने के लिये, नीचे ऊपर के लोक में मूलाधारादि पिण्ड ब्रह्मरन्ध्र ब्रह्माण्ड में भाठी (भट्ठी) रोपा (किया) है। ध्येय ध्यानादि का स्थान निश्चय किया है। और उस द्वारा मत प्रेम सुखादि रूप कषाय रस को गार (चुला) कर लिया है। और उसीको सुधारस समझा है। और पापकर्म रूप कश्मल (मोह) को काट (त्याग)

कर जिन्हों ने मदन (काम) को मुन्दा हैं, उसके मार्ग को रोका है। उनके हृदय रूप आगार (घर) में वह रस सतत (निरन्तर) चूता है। अन्यत्र की तो बात ही क्या है। गोरखजी योगी, दत्तात्रेयजी विरक्त, वसिष्ठजी ज्ञानी, व्यासजी विद्वान्, हनुमानजी भक्त, नारदजी देवर्षि, शुकदेवजी परमहंस, नर नारायणजी जोरी (दो) मुनी, शिवजी सर्वज्ञ, और सनकादि आदि मुनि जिस सभा में बैठते हैं, वा जिस मत में मान्य हैं, तहां भी उस मत (साक्ष्य) प्रेम सुधारस की कटोरी ही लोकों के अधरों (ओष्ठों) पर फिरती है। उसीकी चर्चा होती है। अथवा विवेकी सत्संगियों ने ब्रह्मानन्द की प्राप्ति के लिये, सर्वत्र सत्संगादि रूप भाठी स्थापित किया है। और कषैला रस को गार (त्याग) कर अमृत रस को लिया है, मदन को मुन्दा है। सब कर्म कश्मल (मोह) को काटा है, इससे वह अमृत रस सदा आगे (प्रत्यक्ष) चूता है। वे लोक जिस सभा में बैठते हैं वहां अधड़ (अशरीरी–सार रस) की कटोरी फिरती है, इत्यादि।

अम्बरीष, बलि, याज्ञवल्क्य (इस नामार्थ में नामार्द्ध का प्रयोग उच्चारण है), जनक, जड़ (भरत का अवतार); ये सब उस रस का पान किये, और शेषजी हजार मुख से पान (गुणवर्णन) करते हैं। और अमहल (कल्पित लोकादि) महल (घर) में जो आदि से अन्त तक दिवाना रहनेवाले हुए वा होंगें, हैं; उन सबका विशेष रूप से कहाँ लै (तक) वर्णन किया जाय। प्रायः सब ऐसे ही होते हैं। यह वर्णन साम्प्रदायिक दृष्टि के अभ्युपगमवाद से है। और ज्ञानी लोक संसार महल से रहित आत्ममहल में मस्त रहते हैं। ध्रुवादि उसी रससे मांते। शिवजी की नारी माँती। और वृन्दावन के लोक (कृषिर्भूवाचकः शब्दो णश्चानन्दवाचकः। तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते॥) इस पुराण के अनुसार सत्ता आनन्द की एकता रूप कृष्णात्मक निर्गुण ब्रह्म के प्रेम सुधारस से माँते, या निर्गुण ब्रह्म माने गये, निर्गुण ब्रह्म के उपदेशक

कृष्णदेव वृन्दावन में माँते, जिसकी खुमारी (नशा) अजहूं (अब) भी लगी है, इत्यादि ।

उस प्रेम प्याला को जिन देव मनुष्य मुनि संन्यासी पीर औलिया लोकों ने पिया उन लोकों ने ही उसके रस को जाना । गूंगा की शक्कर की नाईं, उस आनन्द को ये लोक किसीसे क्योंकर (कैसे) कहैं । ये तो उससें दिवाना (मस्त) हैं । अर्थात् एक अमत आत्मा ही वाणी अशुद्ध मन का अविषय है । मत वस्तु में वाणी की अविषयता मस्ती से ही है। और यह सब वर्णन तटस्थेश्वर वादी के मत के अभ्युपगम (स्वीकार) दृष्टि से है, और मत वस्तु सम्प्रदाय की प्रबलता देखाने में तात्पर्य है ॥ ४० ॥

प्रथम मत में माँते हुवे का वर्णन हुआ है, उस माँतने में नयन रसिकता दृष्ट श्रुत वस्तु में मोह आसक्ति कारण है; इससे मोहनिन्द को त्यागने के लिये कहते हैं कि—

शब्द ॥ ४१ ॥

भाइ रे नयन रसिक जो जागै ।
पारब्रह्म अविगति अविनाशी, कैसहुं के मन लागै ॥

मतप्रेमरसज्ञा ये ते नेत्ररसकामुकाः ।
इन्द्रियानन्दसंसक्ता मोहेनात्र स्वपन्ति हि ॥ २१ ॥
विवेकेन यदा ते तु जागृयू रसिका जनाः ।
अदृश्येऽपि तदाऽऽग्राह्ये चिद्घने चाविनाशिनि ॥ २२ ॥

जो मत विषयक प्रेम रस के ज्ञानी होते हैं, सो नेत्र (इन्द्रिय) रस के कामुक (इच्छुक) भी होते हैं; इससे इन्द्रिय रस में आसक्त होकर मोह से यहां सोते हैं ॥ २१ ॥ वे रसिक लोक जब जागें, तो अदृश्य अग्राह्य चेतन घन परब्रह्म में किसी प्रकार उनका मन भी सदा लग्न

अमली लोग खुमारी तृष्णा, कतहुं संतोष न पावै।
काम क्रोध दोनों मतवाले, माया भरि भरि आवै॥
ब्रह्म कलाल चढाइन भाठी, लै इन्द्री रस चावै।
संगहिं पोंचक ज्ञान पुकारै, चतुरा है सो पावै॥

परस्मिन् ब्रह्मणि ह्येषां मनो लग्नं भवेत् सदा।
कथञ्चिन्नात्र संदेहो मोहसत्त्वे न तद्भवेत्॥ २३॥
अहो व्यसनिनो लोका मादकद्रव्यसेवनात्।
मदमत्ता हि वर्तन्ते तृष्णासंघूर्णिसंयुताः॥ २४॥
तृष्णाभिः संयुताः क्वापि न तुष्यन्ति नराधमाः।
कामक्रोधयुताश्चातस्ताभ्यां मत्ता भवन्ति हि॥ २५॥
कामादिविवशेष्वेषु माया मोहस्वरूपिणी।
आविष्टाऽस्ति महाऽऽवेशाऽशेषाऽनर्थविधायिनी॥२६॥
प्रविष्टायां च मायायां गृहे स्वान्तेऽस्य देहिनः।
इन्द्रियानन्दलोभेन जीवो ब्रह्मात्मकोऽपि सन्॥ २७॥

(संयुक्त) होवे, इसमें संदेह नहीं है; परन्तु मोह के रहते वह नहीं होगा॥ २२-२३॥ आश्चर्य है कि लोक व्यसनी हैं। मादक द्रव्य के सेवन से मदमत्त और मोह रूप संघूर्णि (घूमरी) से संयुक्त हैं॥ २४॥ तृष्णा सहित अधम मनुष्य कहीं तुष्ट नहीं होते हैं, इससे काम क्रोध से युक्त रहते हैं, और उस काम क्रोध से मतवाले रहते हैं॥ २५॥ कामादि के विवश इन लोकों में सब अनर्थ को सिद्ध करनेवाली मोहस्वरूपवाली महा आवेश (प्रवेश) वाली माया आविष्ट है॥ २६॥

इस देही के मन रूप घर में माया के पैठने पर, ब्रह्मरूप होता हुआ भी यह जीव, इन्द्रिय सम्बन्धी आनन्द के लोभ से मततत्त्व (स्वरूप) को

उक्त संतोषादि की प्राप्ति, और कामादि के त्याग के लिये उपदेश देते हैं कि–

संकट शोच पोंच यह कलि महँ, बहुतक व्याधि शरीरा।
जहाँ धीर गम्भीर अतिनिश्चल, तहँ उटि मिलहु कबीरा ॥४१

सङ्गभ्राष्ट्रे मतं तत्त्वं स्वेनैवात्राऽध्यरोहयत्।
तेन संसारचक्रेऽयं शश्वद् भ्राम्यति चक्रवत् ॥ २८ ॥
अहो यैश्च सहैवास्ते कामतृष्णादिलक्षणः।
विवर्णैस्तेऽपि बोधस्य वार्तां तु कथयन्ति हि ॥ २९ ॥
कथया लभ्यते तैर्नो ज्ञानं न शान्तिरुत्तमा।
नो सद्धर्मः कुतः सौख्यं कुतो वा स्यात्परा गतिः ॥३०॥
विवेकिनस्तु ये धीरा वीराः स्वेन्द्रियशत्रुषु।
जितक्रोधा वितृष्णाश्च संतुष्टाः कुशला नराः ॥ ३१ ॥
विमोहा विगतद्रोहा विमदाः सङ्गवर्जिताः।
आप्नुवन्ति हि ते सर्वे सौख्यं शान्तिं परं पदम् ॥३२॥
कलौ ह्यस्मिन् महत्कष्टमापत्तिर्वर्तते सदा।
शोकश्च बाधते नीचः शरीरे व्याधयस्तथा ॥ ३३ ॥

सङ्ग रूप भट्ठी पर यहां आप से ही आरोपित किया (चढाया) तिससे यह संसार चक्र में सदा चक्र तुल्य भ्रमता है ॥ २७-२८ ॥ आश्चर्य है कि जिनके साथ ही में काम तृष्णादि रूप विवर्ण (नीच) है, वे भी बोध (ज्ञान) की बात कहते ही हैं ॥ २९ ॥ परन्तु उस कथा (बात) से वे लोक ज्ञान उत्तम शान्ति सत् धर्म नहीं पाते हैं। सुख किससे हो, वा सद्गति किससे होवे ॥ ३० ॥ विवेकी, धीर, अपने इन्द्रियों पर वीर, क्रोध को जीतनेवाले, तृष्णा रहित, सन्तुष्ट, चतुर, मोह रहित, विगत (नष्ट) द्रोहवाले, मद रहित, सङ्ग वर्जित जो मनुष्य हैं, सो सुख शान्ति परम पद सब पाते हैं ॥ ३१-३२ ॥

इस कलि में महाकष्ट (अतिदुःख) आपत्ति (विपत्ति) सदा रहता है।

अतो जीवाऽत्र सङ्गं वै त्यक्त्वैव सर्वथा त्वया।
मोहनिद्रां परित्यज्य तूत्थाय तत्र गम्यताम् ॥ ३४ ॥
यत्र धीरोऽतिगम्भीरो निश्चलो वर्तते गुरुः।
मिलित्वा तेन सर्वं त्वं संप्राप्य कुशली भव ॥ ३५ ॥
यावद्गुरोर्न संप्राप्तिस्तत्त्वज्ञानं न विद्यते।
कामोऽस्ति हृदये यावत्तावत्ते कुशलं कुतः ॥ ३६ ॥
"यस्तु कामान् परित्यज्य त्यक्तकर्मा जितेन्द्रियः।
आतिष्ठेत मुनिर्मौनं स लोके सिद्धिमाप्नुयात् ॥" ॥३७॥४१

नीच शोक पीडित करता है। तथा शरीर में व्याधि (रोग) होते हैं ॥३३॥ इससे हे जीव! तुम यहां सङ्ग को सर्वथा त्याग करके ही, तथा मोह निद्रा को त्याग कर, और उठ कर, तहां जावो कि जहां धीर अति गम्भीर निश्चल गुरु हैं। और उनसे मिल कर, तुम सब सुखादि को सम्यक् पाकर कुशली (कुशलवान्) मुक्त होवो, या प्रथम के अकुशल (अनिपुण) भी अब निपुण शिक्षित होवो ॥३४-३५॥ जबतक गुरु की प्राप्ति नहीं है, तत्त्वज्ञान नहीं है; जबतक हृदय में काम है, तबतक तुमको कुशल (कल्याण) कहां से, किससे है ॥ ३६ ॥ जो मुनि कामों को त्याग कर, कर्म का त्यागी जितेन्द्रिय होकर मौन का स्वीकार करेगा, सो लोक में सिद्धि पावेगा ॥ ३७ ॥

अक्षरार्थ– रे नयन रसिक (ऐन्द्रियक सुख प्रेमी) भाइ! यदि तुम जागै (मोह त्यागै) या जिज्ञासु से कहते हैं कि रे भाइ! नयन रसिक भी यदि जागै, तो उसका मन भी अविगति (अग्राह्य) अविनाशी पारब्रह्म (निर्गुण आत्मा) में कैसहु के (किसी प्रकार) लग जाय। और शान्ति होय; क्योंकि पहले के रसिक भी मोहादि रहित होकर परब्रह्म में स्थिर हुए हैं। परन्तु मत रूप अमल के अत्यन्त प्रेमी अमली (व्यसनी)

लोकों में तृष्णा रूप खुमारी (नशा की गरमी) लगी रहती है। इससे वह अमली कतहुं (कहीं) संतोष नहीं पाता है। और संतोष बिना काम क्रोध इन दोनों से मतवाला रहता है। और कामादि युक्त अमली पर माया भूतपिशाची भी भरि २ (अच्छी तरह) आती है, कपट ममता आदि रूप से प्राप्त होती है।

माया के आवेश से युक्त ब्रह्मस्वरूप जीव कलाल ने इन्द्रिय रस (भोग) की चाव (इच्छा) लेकर के ही पूर्वोक्त अध ऊर्ध्व भाठी चढ़ाया है, अर्थात् भोग की इच्छा से ही प्रायः लोक सगुण प्रेम भक्ति भी करते हैं। इससे जिनके संग ही में कामादि पोंचक (नीचता नीच वस्तु) हैं, वे भी मिथ्या ही ज्ञान की बात पुकारते (कहते) हैं। इससे इनका मन पारब्रह्म में नहीं लगता है, न ब्रह्म शान्ति आदि की प्राप्ति होती है। किन्तु कामादि से रहित जो चतुर (विवेकी) होता है, सोई परब्रह्म शान्ति आदि को पाता है।

हे कबीरा (जीव !) इस कलियुग तथा कलह युक्त संसार में बहुत प्रकार के संकट (अति कष्ट-संकीर्णता), शोच (शोक-चिन्ता), पोंच (नीच पाप कामादि) और शरीर में अनेक व्याधि होते हैं। इससे कामादि को त्याग कर तहां उठ कर जाओ, कि जहां धीर (धैर्य संतोषादि युक्त) गम्भीर (विभु ब्रह्मनिष्ठ) अतिनिश्चल (अतिशान्त) सद्गुरु सन्त हों। और वहां जाकर विधि भक्ति पूर्वक उनसे मिलो, कि जिससे कष्ट (दुःख) आदि रहित मुक्त होगे, अन्यथा नहीं हो सकते हो ॥ ४१ ॥

प्रथम धीर गंभीर सद्गुरु से मिलने के लिये कहा गया है, अब उनसे मिलने के बाद के कर्तव्यादि का उपदेश देते हैं कि—

शब्द ॥ ४२ ॥

कोइ राम रसिक रस पीवहु गे । पीवहु गे सुख जीवहु गे ॥
फल अलंकृत बीज न बोकला, सुख पक्षी रस खाई ।
चुवै न बुन्द अंग नहिं भींजै, दास भँवर (सत्र) संग लाई ॥

ये रामरसिका भूत्वा पिबेयुर्विमलं रसम् ।
ब्रह्मानन्दात्मकं केऽपि जीवेयुस्ते सदा सुखम् ॥ ३८ ॥
रामस्य श्रवणाभ्यासान्मननाच्च निरन्तरम् ।
ध्यानाभ्यासरसेनायं रामं दृष्ट्वैव तत्त्वतः ॥ ३९ ॥
जीवन्मुक्तो भवेत्तावद्विदेहः सन्न जायते ।
इदमेव हि कैवल्यं कथ्यते चरमं फलम् ॥ ४० ॥
अलंकृतं फलं चैतद्रम्यं सर्वजनप्रियम् ।
बीजवल्कलहीनं च रसपूर्णं समन्ततः । ४१ ॥
ज्ञानवैराग्यपक्षाभ्यां युक्ता ये पक्षिवज्जनाः ।
ते रामरसिकाश्चैतत्सुखं खादन्ति सत् फलम् ॥ ४२ ॥

जो कोई भी सर्वात्मा राम के रसिक (प्रेमी) होकर, ब्रह्मानन्द स्वरूप विमल रस को पीवेगें सो सदा सुखपूर्वक जीवेंगे ॥ ३८ ॥ राम के श्रवण के अभ्यास, निरन्तर मनन और ध्यान के अभ्यास में प्रेम से यह जीव राम को तत्त्व (सत्य) स्वरूप से देख (जान) कर के ही प्रथम जीवन्मुक्त होगा, फिर यह विदेह होकर जन्म नहीं लेता है। यही कैवल्य चरम (अन्तिम) फल कहा जाता है ॥ ३९-४० ॥ यह फल अलंकृत (भूषित), रम्य (रमणीय), सब जन के प्रिय, बीज (कारण), वल्कल (कार्य) से रहित, समन्ततः (सर्वतः) रस (आनन्द) पूर्ण है ॥ ४१ ॥ जो जन ज्ञान वैराग्य रूप पक्ष (सहाय मित्र) सहित पक्षितुल्य है, वे ही राम रसिक इस सुखरूप

निगम रसाल चार फल लागा, ता महँ तीन समाई।
एक दूरि चाहै सब कोई, यत्न यत्न काहु पाई॥

निरंशत्वान्न चास्यात्र बिन्दुपातोऽपि संभवेत्।
नापि क्लेदो भवेदङ्गे दुःखसङ्गादिवर्जनात्॥ ४३॥
निर्गुणाक्षयरूपत्वाद्रागह्रासादिवर्जनात्।
शुद्धत्वाद् गुरवो नित्यं शिष्याख्यभ्रमरैः सह॥
ब्रह्मानन्दं पिबन्त्येतं लब्धं वेदतरोः फलात्॥ ४४॥
निगमात्मरसालेषु चतुर्वर्गात्मकं शुभम्।
फलं लग्नं त्रिवर्गोऽत्र मायिकत्वेन संयुतः॥ ४५॥
विनश्वरस्तुरीयश्च तस्माद् दूरतरं शिवम्।
अविनाश्यतिशुद्धश्च ह्यनन्तापारविग्रहम्॥ ४६॥
तदिच्छन्ति जनाः सर्वे चेतनैकसुखात्मकम्।
लब्धवन्तश्च केचित्तद् यत्नवन्तो विचक्षणाः॥ ४७॥

सत् फल को खाते (पाते) हैं॥ ४२॥ इसके निरंश होने से इसके बिन्दु (कण) का पात (पतन) नहीं हो सकता; और दुःख संगादि के अभाव से इसके अङ्ग (देह) में क्लेद (आर्द्रता) नहीं होगा॥ ४३॥ और इसके शुद्ध होने से वेदवृक्ष के फल से प्राप्त इस ब्रह्मानन्द रस को गुरु लोक शिष्य नामक भ्रमरों के साथ ही नित्य (सदा) पीते हैं॥४४॥

निगम (वेद) रूप रसाल (आम्रवृक्ष) में चतुर्वर्ग (अर्थ धर्म काम मोक्ष) स्वरूप शुभ फल लग्न (लगे) हैं। इसमें त्रिवर्ग (अर्थ धर्म काम) मायिकत्व (मिथ्यात्व) से संयुक्त बिनश्वर हैं। तुरीय (चौथा) शिव (कल्याण) रूप फल तिस त्रिवर्ग से अतिदूर अविनाशी अतिशुद्ध अनन्त अपार स्वरूपवाला है॥ ४५–४६॥ उस चेतन एक सुखस्वरूप फल की इच्छा सब जन करते हैं, परन्तु कोई यत्नवाले विचक्षण (विद्वान्) ही नित्य (सदा) कामादि के त्यागने से शम ध्यान में परायण (तत्पर) हो

गये वसन्त ग्रीषम ऋतु आई, बहुरि न तरुतर आवै।
कहहिं कबीर स्वामी सुखसागर, राम मगन ह्वै पावै ॥४२॥

कामादेर्वर्जनान्नित्यं रामध्यानपरायणाः।
विचारिणो महाप्राज्ञाः क्षमाशीलास्तपस्विनः ॥ ४८ ॥
" संसारनिर्वेददशामुपेत्य
सत्सङ्गमं शास्त्रमुपेत्य तेन।
शास्त्रार्थभावेन निरस्य भोगान्
वैतृष्ण्यदार्ढ्यात्परमार्थमेति " ॥ ४९ ॥
विवेकिनो येऽत्र विरागिणो जना-
स्तेषांहि दृष्ट्या भवलोककाननात्।
गतो वसन्तो हि तपः समागत-
स्ततो न चाऽऽयान्ति हि देहपादपे ॥ ५० ॥
स्वामी सदानन्दसमुद्रविग्रहे
रामाख्यशुद्धात्मनि लीनमानसः।
जीवंस्तमाप्नोति न चात्र संशयः
श्रीमान् कबीरः कमनीयमाहतम् ॥ ५१ ॥ ४२ ॥

इति हनुमद्दासकृतायां शब्दसुधायां मतविषयासक्तेस्तत्त्यागेन च मुक्ते र्वर्णनं नाम पञ्चदशस्तरङ्गः॥ १५ ॥

कर, वे विचारी महाप्राज्ञ (महापण्डित) क्षमाशील तपस्वी ही उसे पाये ॥४७-४८॥ योगवासिष्ठ का वचन है कि-संसार से निर्वेद (वैराग्य) दशा को पाकर, और उस वैराग्य से सत्सङ्ग शास्त्र को पाकर, फिर शास्त्रार्थ की भावना से भोगों को त्याग कर, वितृष्णता की दृढता से परमार्थ को पाता है ॥ ४९ ॥ जो यहां विवेकी विरागी जन हैं, उनकी दृष्टि से संसार लोक रूप कानन (वन) से वसन्त ऋतु चला गया। तप (उष्ण) आ गया, तिससे देह पादप (वृक्ष) में नहीं आते हैं ॥ ५०॥

सत्य आनन्द समुद्र स्वरूप रामनामवाला शुद्धात्मा में लीन मनवाला स्वामी (समर्थ ज्ञानी) जीते ही रहते उस राम को पाता है, इसमें संशय नहीं है। श्रीमान् कबीर साहब उसी ज्ञानी को कमनीय (सुन्दर) कहते हैं ॥ ५१ ॥

अक्षरार्थ– जो कोई सद्गुरु से मिल कर, राम रसिक होकर, ब्रह्मानन्द रस को पीवोगे (श्रवणादि पूर्वक प्रत्यक्ष करोगे) तो नित्यसुख रूप सदा जीवोगे (जीवन्मुक्ति पूर्वक विदेह मुक्त होंगे, । जो मुक्ति रूप फल अलंकृत (सुन्दर विभूषित, वा पूर्ण तृप्तिकारक) है, जिसमें मायिकता आदि रूप बीज बोकला नहीं है, जिसकी प्राप्ति से वासनादि बीज, शोकादि देहादि बोकला (छिलका) का अभाव होता है, इससे अखण्ड सुखरूप रहता है। और उस सुखरूप फल को विरागादि पक्षवाले खाते (भोगते) हैं। या सुखस्वरूप सद्गुरु पक्षी रामरस का अनुभव करते है। अखण्ड होने से इसका बुन्द नहीं चूता है, न अङ्ग भींजता हैं, इससे यह सब उपाधि आदि रहित अभय स्वरूप है। और अक्षय नित्य पवित्र होने से, सब दास रूप भँवरों को साथ लेकर सद्गुरु इसका पान करते हैं। अथवा सुखस्वरूप गुरु विवेक विराग पक्षवाले शिष्य उस रस (फल) को खाते हैं। परन्तु अनात्मा के दास भँवरा, अनात्मा को साथ में लिये रहते हैं, इससे उनके मुख (मन) में उस रस का एक बुन्द भी नहीं चूता है, न हृदयादि अंग भींजता (कोमल होता) है, इससे शान्ति नहीं पाते हैं।

यद्यपि निगम रसाल में अर्थादि चारों फल लगे (निरूपित) हैं, तथापि ता महँ (उन में) तीन अर्थादि समाई (विनश्वर-मायिकता सहित) हैं। एक मोक्ष इन तीनों से माया से दूर है, इसीसे अलंकृत है। उसे सब चाहते हैं, परन्तु बहुत यत्न से काहु (विरला) पाता है। जो उसे पाया, उसके लिये संसार से वसन्त गया, और उसमें ग्रीषम आ गई, इससे ज्ञानाग्नि द्वारा संसार वन जर गया, इससे उसकी वासना रहित वह ज्ञानी

बहुरि (फिर) कभी संसार वन के लोक देहादि तरु (वृक्ष) तरे (पास में) नहीं आता है, किन्तु वह स्वामी (राजा रानी) राम में मगन होकर सुख सागर को पाता है। अथवा मनुष्यता रूप वसन्त के चले जाने पर, जिन्हें जन्मान्तर रूप ग्रीषम प्राप्त हुई है, वे लोक फिर निगमरूप फलप्रद तरुतर नहीं आते हैं। किन्तु स्वामी (समर्थ) मनुष्य ही वेदादि द्वारा राम में मगन होता है, इत्यादि। योगवासिष्ठ के वचन हैं कि (हृदयात्संपरित्यज्य सर्वमेव महामतिः। यस्तिष्ठति गतव्यग्रः स मुक्तः परमेश्वरः॥)। जो महा बुद्धिवाला सबको हृदय से त्याग कर व्यग्रता रहित स्थिर होता है, वही मुक्त और परमेश्वर है॥ ४२॥

मोह का त्याग और उसका अधिकारी प्र० १६

शब्द ॥ ४३ ॥

सन्तो ! जागत नीन्द न कीजै।
काल न खाय कल्प नहिं व्यापै, देह जरा नहिं छीजै॥

साधो ! जागृहि मा स्वाप्सीर्मोहनिद्रां परित्यज।
प्रबुद्धो वा न रागाद्यैः प्रमादैरज्ञतां श्रय॥ १॥
एवं कृते न कालस्त्वां खादिष्यति कदाचन।
न व्याप्स्यति च कल्पोऽपि न देहो न जरांक्षयौ॥ २॥

हे साधो ! जागो, सोवो नहीं, मोह निद्रा को त्यागो। वा प्रबुद्ध होकर (जाग कर) रागादि रूप प्रमाद अज्ञता को नहीं सेवो॥ १॥ ऐसा करने पर तुम को कभी काल नहीं खायेगा, कल्प नहीं व्यापेगा,

उलटी गंग समुद्रहिं शोखै, शशि औ सूरहिं ग्रासै।
नव ग्रह मारि रोगिया बैठे, जल महँ बिम्ब प्रकाशै॥

विषयाश्चतुराश्चौराः कामाद्या अरयो दृढाः।
विषयादींस्ततस्त्यक्त्वा भवितव्यं सुधीमता॥ ३॥

छेद्या त्वया महातृष्णा मदमात्सर्यवर्जनम्।
सेवनं साधुविदुषां कर्तव्यं सत्यभाषणम्॥ ४॥

दयां सर्वेषु भूतेषु रागद्वेषविवर्जनम्।
क्षमासंतोषसद्धैर्यविवेकादिबलं श्रय॥ ५॥

प्रबुद्धो हि मनोवृत्तिं गङ्गां संसारसिन्धुतः।
परावर्त्य समुद्रं तं संशोषयति मूलतः॥ ६॥

अध्यात्ममधिदैवं च सूर्यचन्द्रौ स्मृतौ हि यौ।
योगयुक्त्या ग्रसत्येतौ बाधेन बाधितावुभौ॥ ७॥

तयोर्ग्रासेन संशुद्धः सर्वदा शान्तमानसः।
गमनागमने हित्वा प्रतिष्ठां लभते पराम्॥ ८॥

देह नहीं होगा, न जरा और क्षय (नाश) होगा॥ २॥ विषय चतुर चोर हैं, कामादि दृढ (बली) शत्रु हैं, तिससे विषयादि को त्याग कर, सुबुद्धिमान होना चाहिये।॥ ३॥ तुझे महातृष्णा का छेदन (नाश) करना चाहिये, मदमात्सर्य का त्याग, साधु विद्वान का सेवन, सत्य भाषण कर्तव्य हैं॥ ४॥ सब भूत में दया, रागद्वेष का त्याग, क्षमा संतोष सात्त्विक धैर्य विवेकादि रूप बल को सेवो, यही प्रमाद का त्याग है॥ ५॥

प्रबुद्ध (विवेकी) पुरुष मन की वृत्ति रूप गंगा को संसार समुद्र से लौटा कर, उस समुद्र को मूल से सूखा देता है॥ ६॥ और अध्यात्म अधिदैव जो सूर्य चन्द्रमा कहे गये हैं, बाध (मिथ्या बुद्धि) से बाधित इन दोनों को योग की युक्ति से ग्रसता है॥ ७॥ उन दोनों के ग्रास से

बिनु चरणन को दहुं दिशि धावै, बिनु लोचन जग सूझै।
शशा उलटि सिंह को ग्रासै, ई अचरज को बूझै॥

पूर्वं रुग्णोपि पश्चात्स जित्वा कामादिरुक्करान्।
अध्यात्मादिग्रहान् सर्वान् राजते विगतज्वरः॥ ९॥
मुकुरे च मनोरूपे प्रतिबिम्बसमर्पकम्।
जलवद्विमले तस्मिन् बिम्बं पश्यति निर्मलम्॥ १०॥
विभुं बिम्बं समालोक्य भूत्वा तद्गतमानसः।
तदात्मना स पादैर्हि विना सर्वत्र धावति॥ ११॥
स्वयं ज्योतिः स्वरूपेण चक्षुरादि विनैव च।
जगत् पश्यति शुद्धात्मा बुद्धात्मा केवलोऽपि सन्॥१२॥
मोहेन शशकः पूर्वं स्वल्पशक्तिश्च यो जनः।
अज्ञानादिमहासिंहं परावृत्य ग्रसत्यहो॥ १३॥

सम्यक् शुद्ध सदा शान्त मनवाला होकर गमनागमन को त्याग कर उत्तम स्थिति को पाता है॥ ८॥ पहले रोगी भी वह पुरुष पीछे कामादि रूप रोग को करनेवाले अध्यात्मादि सब ग्रहों को जीत कर ज्वर रहित होकर बिराजता है॥ ९॥ मन रूप मुकुर (दर्पण) में प्रतिबिम्ब के समर्पक (दाता-साधक) निर्मल बिम्ब (आत्मा) को जल तुल्य विमल उसी मन में देखता है॥ १०॥

विभु विम्ब को अच्छी तरह जान कर, तद्गत मनवाला वह जीव पैरों के विना ही उस आत्मारूप से सर्वत्र धावता है॥ ११॥ शुद्ध मनवाला बुद्ध (सर्वज्ञ) स्वरूप, केवल (एक) होते भी आंखादि विना ही स्वयं ज्योतिःस्वरूप से जगत को देखता है॥ १२॥ जो मनुष्य प्रथम मोह से स्वल्प शक्तिवाला था, वही लौट कर अज्ञानादि महासिंह को ग्रसता है,

औन्धे घड़ा नहीं जल बूड़ै, सूधे सो जल भरिया।
जिहि कारण नल भिन्न करु, गुरु परसादे तरिया॥

मनसो हि निरोधेन बाह्याद्यज्जायते बलम्।
महानन्दप्रदं चित्रं को जानीयादपण्डितः॥ १४॥
अज्ञानावृतसद्बोधः सत्संङ्गादिपराङ्मुखः।
नो जानाति सदात्मानं नापि योगबलं शुभम्॥ १५॥
घटश्चाधोमुखो नैव निमज्जति यथा जले।
किन्त्वजिह्ममुखो भूत्वा पूर्णो भवति सज्जलैः॥ १६॥
तथा न विषयासक्तः कुतर्कादियुतो नरः।
निमज्जति सदा शुद्धे ब्रह्मानन्दे कदाचन॥ १७॥
किन्तु सत्स्वार्जवेनैव ज्ञानपूर्णो भवेद्यतः।
उपदेशो विशेदत्र सतां सर्वैः सुलक्षणे॥ १८॥
यैश्चाज्ञानादिदुर्दोषैर्भिन्नं भिन्नं प्रपश्यति।
तान् स तरति शुद्धात्मा सद्गुरोः सुप्रसादतः॥ १९॥

सो आश्चर्य है॥ १३॥ मन को बाहर से रोकने से जो महा आनन्द देनेवाला विचित्र बल होता है, उसको अपण्डित कौन जानेगा॥ १४॥ अज्ञान से आवृत सत्य बोधवाला, सत्सङ्गादि से विमुख प्राणी सत्यात्मा को नहीं जानता है, न शुभ योग के बल को जानता है॥ १५॥

जैसे नीचे मुखवाला घड़ा जल में नहीं निमग्न होता (डूबता) है, किन्तु अजिह्म (सीधा) मुखवाला होकर श्रेष्ठ जलों से पूर्ण होता है॥ १६॥ तैसे ही विषयों में आसक्त कुतर्कादि सहित मनुष्य कभी सदा शुद्ध ब्रह्मानन्द में निमग्न नहीं होता है॥ १७॥ किन्तु सत्पुरुषादि में आर्जव (नम्रता) से ही ज्ञान से पूर्ण होगा, जिससे इस सुन्दर लक्षणवाले में सत्पुरुषों के सब उपदेश पैठेगा॥ १८॥ जिन अज्ञानादि दुष्ट दोषों से सब को भिन्न २ सत्य देखता है, उन दोषों को वह शुद्धात्मा सद्गुरु के

पैठि गुफा महँ सब जग देखै, बाहर कछु नहिं सूझै ।
उलटा बाण पारथिहिं लागै, शूर होय सो बूझै ॥

दोषांस्तीर्त्वा सदाऽभिन्नमेकमव्ययमीक्षते ।
अविभक्तं सदा ज्ञात्वा शान्तिमत्राधिगच्छति ॥ २० ॥
तीर्णः संसारसिन्धोः स हृद्गुहायां प्रविश्य च ।
तत्र स्थितो जगत् सर्वं मनोमायाविकल्पितम् ॥ २१ ॥
आत्मन्येव प्रपश्यन् वै बाह्यं किञ्चिन्न पश्यति ।
दृश्यमानमसत् ज्ञात्वा बहिर्याति न पश्यति ॥ २२ ॥
यथा परावृतो बाणो धानुष्के रक्षके लगेत् ।
तथा परावृता वृत्तिर्लगति स्वात्मनि ध्रुवम् ॥ २३ ॥
एतज्जानाति विक्रान्तो विचारादिपरोऽथवा ।
निरुद्धवृत्तिगङ्गेयं संसाराब्धिं यथोषयेत् ॥ २४ ॥

सुन्दर प्रसाद (प्रसन्नता) से तर जाता है ॥ १९ ॥ दोषों को तर कर, सदा अभिन्न विभाग रहित एक अव्यय (विष्णु-व्यय रहित) सत् अविनाशी को देखता (जानता) है, और सदा अविभक्त को जान कर यहाँ शान्ति पाता है ॥ २० ॥

और संसार समुद्र से तरा हुआ वह हृदय गुफा में पैठ कर, वहां स्थिर होकर सब जगत को मन माया से विकल्पित (साधित भेदित) देखता है, और आत्मा ही में सबको देखता हुआ बाहर कुछ नहीं देखता है, तथा दृश्यमान को असत् जान कर बाहर नहीं जाता है, न बाहर देखता है ॥ २१-२२ ॥ जैसे परावृत (उलटा हुआ) बाण धानुष्क (धनुर्धर) रक्षक में ही लगे, तैसे बाहर से परावृत मन की वृत्ति आत्मा ही में लगती है ॥ २३ ॥ इस तत्त्व को विक्रान्त (शूर) अथवा विचारादि-परायण विवेकी जानता है । और यह बाहर से निरुद्धा (रोकी गई)

गायन कहै कबहुं नहिं गावै, अनबोला नित गावै।
नटवंत बाजा पेखनि पेखै, अनहद हेत बढावै॥

तत्प्रकारं विजानाति शूरः स्वेन्द्रियशत्रुषु।
मनःकामादिवर्गेषु नान्यः कश्चिदतद्विधः॥ २५॥
वृत्तिरोधं विना यस्तु स्वात्मानं गायकं गुरुम्।
ब्रूते नाऽसौ कदाचिद्धि सत्तत्त्वं गातुमर्हति॥ २६॥
वृत्तिरोधयुतो यस्तु ज्ञानवाञ्छुभलक्षणः।
अवक्ताऽपि स सत्तत्त्वं गायत्येव निरन्तरम्॥ २७॥
नटो हि कल्पितं स्वेन यथाऽतत्त्वेन पश्यति।
वाद्यभेदांश्च जानाति कौतुकं चैव शाम्बरम्॥ २८॥
तथैव ज्ञानवाञ्छब्दमर्थं पश्यंश्च शाम्बरम्।
निःसीमे वर्द्धयन् प्रेम तत्रैव रमते सदा॥ २९॥

वृत्तिरूप गंगा, जैसे संसार समुद्र को सूखा सके, उस प्रकार को अपने इन्द्रिय शत्रु मन कामादि वर्ग (समूह) पर शूर ही विशेष जानता है, अतद्विध (उससे भिन्न प्रकारवाला) अन्य कोई नहीं जानता है॥२४-२५॥

जो कोई वृत्ति के निरोध विना ही अपने को गायक (वक्ता) गुरु कहता है वह कभी सत्स्वरूप को गाने योग्य नहीं है॥ २६॥ वृत्ति के निरोध सहित जो शुभ लक्षणवाला ज्ञानी है, सो अवक्ता होते भी सत्तत्त्व को सदा गाता ही है॥ २७॥ नट जैसे अपने से कल्पित को अतत्त्व (मिथ्या) रूप से देखता है, और बाजा के भेद को शाम्बर (मायिक) कौतुक (खेल) को जानता है॥ २८॥ तैसे ही ज्ञानी शब्द अर्थ को शाम्बर (मायिक) देखता हुआ, निःसीम (विभु) आत्मा में प्रेम को बढाता हुआ, उसी में सदा रमता है॥ २९॥

कथनी वन्दनि निज कै जोहै, ई संत्र अकथ कहानी।
धरती उलटि अकाश हिं बेधै, ई पुरुषन की बानी।

" अविद्योत्थपुमर्थेभ्यो विमुखीभूतमानसः।
आत्मतत्त्वविजिज्ञासुस्तद्व्यावृत्तो भवेन्नरः " ॥ ३० ॥
सर्वेभ्योऽतिप्रिये स्वस्मिन्नानन्दात्मनि सर्वदा।
रममाणो हि तस्यैव कथनं वन्दनं तथा ॥ ३१ ॥
अन्वेषते सदा ज्ञानी दृश्यं जानाति मायिकम्।
अनिर्वाच्यमसत्तुच्छमनिर्वाच्यकथात्मकम् ॥ ३२ ॥
अथवोक्तकथा सर्वा ज्ञेयाऽवाच्यस्य बोधिका।
शोधिका पापपुञ्जस्य परश्रेयःप्रवर्तिका ॥ ३३ ॥
आत्मनि प्रेमवाञ्ज्ञानी पृथिव्यादि विलापयन्।
चिदाकाशे लयं कुर्यात्सर्वस्यैव सदद्वये ॥ ३४ ॥

बृहदारण्यक वार्तिक का १।६।४ का वचन है कि अविद्या से जन्य पुमर्थ (स्वर्गादि) से विमुख स्वरूप मनवाला, और उस स्वर्गादि के साधनों से भी व्यावृत्त (निवृत्त) मनुष्य ही आत्मतत्त्व का विशिष्ट जिज्ञासु भी होता है ॥ ३० ॥

सब से अतिप्रिय आनन्द स्वरूप आत्मा में सदा रमता हुआ ज्ञानी तिस आत्मा के कथन तथा वन्दन को सदा खोजता है, और दृश्य को मायिक अनिर्वचनीय असत् तुच्छ अनिर्वाच्य कथारूप जानता है ॥३१-३२॥ अथवा पूर्वोक्त कथा सब अवाच्य आत्मा का बोधक, पापपुञ्ज का शोधक, पर (उत्तम) श्रेयः का प्रवर्तक (साधक) समझना चाहिये ॥ ३३ ॥ आत्मा में प्रेमवाला ज्ञानी पृथिवी आदि का विलय करता हुआ, सबका सत्य अद्वय चिदाकाश में ही लय कर सकता है ॥ ३४ ॥ यह विद्वानों का

बिना पियालै अमरित अचवै, नदी नीर भरि राखै।
कहहिं कबिर सो युगयुग जीवै, राम सुधारस चाखै ॥ ४३॥

स्वभावो विदुषामेष वचनं चात्र विद्यते।
ईश्वराणां च वेदानां प्रमाणं सर्वथैव तत् ॥ ३५॥

आधारादिविहीनं यत्त्वमृतं तत् पिबन्ति ते।
संसाराब्धेश्च यत्तोयं विषयाद्यात्मकं किल ॥ ३६॥

तल्लोकादिनदीष्वेव पूरयित्वेव बोधिनः।
स्थापयन्ति न तत् क्वापि मन्यन्ते तु निजात्मनि ॥ ३७॥

इत्थं त्यक्त्वा जगन्नीरं यो नरो नित्यचिद्घनम्।
आत्मरामामृतं पेयात्स जीवेद्धि युगंयुगम् ॥॥ ३८॥

कबीरः सद्गुरुः प्राह कुर्वन्तु मानवास्तथा।
विषयादीन् [1]परित्यज्य रमन्तां रामवर्त्मनि ॥ ३९॥

स्वभाव है। इस अर्थ में ईश्वर और वेदों का वचन है, वह सर्वथा प्रमाण ही है ॥ ३५॥

. ते (वे) बोधी (ज्ञानी) लोक, आधारादि रहित जो अमृत है, उसीको पीते हैं, संसार समुद्र का जो विषयादि रूप ही तोय (जल) है, उसको लोकादि नदियों में भरे की नाईं स्थिर करते हैं। और अपने आत्मा में उसे कहीं नहीं मानते हैं ॥ ३६–३७॥ जो मनुष्य जगत के नीर (विषय) को इस प्रकार त्याग कर, नित्य चिद्घन आत्मराम अमृत को पीवेगा, सो युग २ जीवेगा ॥ ३८॥ सद्गुरु कबीर साहब कहते हैं कि मनुष्य तैसे ही करें। विषयादि को त्याग कर, राम के मार्ग में

---

१ 'नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः। नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्' ॥ कठ० १।२।२३॥

कामक्रोधादिकं त्यक्त्वा ह्यात्मानं भावयन्तु वै ।
आत्मज्ञानं विना यस्मात् पच्यन्ते नरकादिषु ॥ ४० ॥ ४३ ॥

रमें ॥ ३९ ॥ काम क्रोधादि को त्याग कर, आत्मा ही की भावना करें, जिससे आत्मज्ञान विना प्राणी नरकादि में पकते हैं ॥ ४० ॥

अक्षरार्थ– फिर भी उपदेश देते हैं कि हे सन्तो ! जागत (जागो), नयन रसिकता मोह को त्यागो । और फिर मोह निद्रा नहीं करो, मोह को हाने बढने नहीं दो । कठश्रुति भी कहती है कि (उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत । १ । ३ । १४) अविद्या को त्यागो, ज्ञानाभिमुख होवो, अज्ञाननिन्द को त्यागो, वर गुरु को प्राप्त करके ब्रह्मात्मा को समझो। अथवा जागते (जानते) रहते भी प्रमादादि रूप नीन्द नहीं करो। क्योंकि जागनेवाला प्रमादादि रहित को काल मृत्यु नहीं खाता (वश करता) है, न कल्प (प्रलय–विधि) व्यापता है, वह महाप्रलयादि में भी स्थिर रहता है, न उसे फिर देह होता है, न जरावस्था होती है, न वह छीजता (नष्ट होता) है । इसलिये जाग्रत कालिक संसार में सत्यतादि बुद्धि रूप निद्रा को भी त्यागो ।

मोह निन्द कों त्यागनेवाला वृत्ति रूप गंगा को संसार से उलट कर संसार समुद्र को सूखाता है, इससे डूबने के भय से रहित रहता है । और शशी सूर (वाम दक्षिण नाडी) को ग्रासता है । अर्थात् सुष्मणा में जैसे योगी शान्त समाधिस्थ होता है, तैसे ज्ञानी सदा समाधिस्थ शान्त रहता है । अथवा अज्ञानी कर्मादि वश चन्द्रादि लोकों में जाते हैं। ज्ञानी उन्हें मिथ्या समझता है, इससे दक्षिणोत्तर मार्ग के गमनागमन से रहित होता है । और अज्ञान काल में ताप रूप रोग से नव ग्रह से पीडित भी रोगिया जीव, ज्ञान काल में बाहर के नव ग्रहों को, तथा ज्ञानेन्द्रिय अन्तःकरण रूप भीतर के नव ग्रहों को मारि (बाध-वशी) करके बैठता है, नवविध संसार से रहित स्थिर होता है, और पवित्र मन रूप जल में

प्रतिबिम्ब से भिन्न सत्यात्मा स्वरूप बिम्ब को प्रकाशता (समझता) है। या जागने के लिये योगी लोक श्वास गंगा को उलट कर, समुद्र (दोष) को सूखाते हैं। शशी सूर्य को रोक कर, सुष्मणा में समाधिस्थ होते हैं, नवद्वारों को रोक कर ज्योतिर्दर्शन करते हैं, इत्यादि।

(आसीनो दूरं व्रजति। कठ० १।२।२०) इत्यादि के अनुसार, ज्ञानी चरणों के विना दहुं (दशों) दिशा में धावता है। अपने स्वरूप को व्यापक समझता है। और साक्षी स्वरूप से, ज्ञान विज्ञान दृष्टि से, बाहर के नेत्र विना ही उसको सब जगत सूझता है। और प्रथम शशा तुल्य भी फिर संसार से उलट कर, सिंह तुल्य काम कालादि को ग्रासता है, लीन करता है। उसकी मनोवृत्ति संसार से उलट कर अविद्या अहंकारादि सिंहों को नष्ट करती है। परन्तु यह अवस्था आश्चर्य स्वरूप है, इसको बूझता (समझता) कौन है। योगी भी सिद्धि से चरण विना दशो दिशा में धावता है, ध्यान से आंख विना देखता है। श्वास को उलट कर, काल को ग्रासता है, इत्यादि।

औन्धा घड़ा में जल नहीं पैठने से वह जल में नहीं बूड़ता है, सूधे (सीधे) होने से उसमें जल भरता है, तब उसके बाहर भीतर जल हो जाता है। तैसे ही सत्संगादि से विमुख में सदुपदेश ज्ञानादि नहीं पैठते हैं, किन्तु विवेकी सज्जन में पैठते हैं, जिससे पूर्वोक्त सुखसागर में वह डूबता है। फिर जिस अज्ञानादि कारण से मनुष्य भिन्न भिन्न जीवेश्वरादि को करते (समझते) हैं, रागद्वेषादि करते हैं, उन कारणों के सहित संसार सागर को वह गुरुप्रसाद (कृपा) से तर जाता है। अथवा औन्धा घड़ा तुल्य शून्य संसार के तरफ पीठ करके, सत्यात्मा सद्गुरु आदि के तरफ मुख (मन) करनेवाला संसार में नहीं डूबता है। और संसार के तरफ मुख करने से वासनादि से पूर्ण होकर डूबता है। इससे औन्धा घड़ा तुल्य जीव गुरुप्रसाद से भेदभाव के कारणों को तरता (त्यागता) है, इत्यादि।

अज्ञानादि के तरने पर, ज्ञानी हृदय गुफा में पैठ कर, सब जगत को आत्मा में कल्पित देखता है, उसे आत्मा से बाहर (भिन्न) कुछ नहीं सूझता है, सत्य स्वरूप आत्मा ही में सब कल्पित दीखता है। क्योंकि जैसा उलटा हुआ बाण पारथि (रक्षक धनुषधारी) को लगता है, तैसे उलटी वृत्ति साक्षी आत्मा में लगती है, सो वृत्ति गंगा संसार समुद्र को सूखा कर आत्ममय जगत को देखती है। इससे बाहर कुछ नहीं सूझता है, परन्तु इस तत्त्व को शूर होय सोई बूझता है। अथवा योगी लोक हृदय गुफा में पैठकर सब जगत को देखते हैं, तो उन्हें बहार कुछ नहीं दीखता है, भीतर ही संसार दीखता है, तथा अन्तर्दर्शन की अपेक्षा बाह्य दर्शन तुच्छ प्रतीत होता है। और उलटा प्राण रूप बाण, मन वा काल रूप पारथि को लगता है। इस बात को शूर योगी होय सो जानता है। अर्थात् उलटा हुआ प्राण से मन काल का नाश योगी मानते हैं।

उक्त भेद को जानने, मन आदि को जीतने विना जो अपने को गायन (गायक गुरु) कहता है, सो कभी सत्य को नहीं गाता है, और अनबोला (ज्ञानमौनी) नित (सदा) सत्य को गाता है। अथवा अज्ञ लोक ज्ञानी को भी गायक कहते हैं, परन्तु ज्ञानी शब्द को कभी नहीं गाता है। आत्मा को वाक् रहित जानता है। और अज्ञ प्राणी अनबोल (वाङ्मूक) होते भी सदा गाता है। और ज्ञानी लोक नट तुल्य बाजा (शब्द) पेखन (खेल रूप जगत) को पेखते (जानते) हैं। अर्थात् नट जैसे अपने बाजा तमासा के मर्म को जानता है, खेल को मिथ्या समझता है, तैसे ज्ञानी भी शब्द के मर्म को जान कर दृश्य को मिथ्या समझता है, दर्शक के समान सत्य नहीं समझता, न आसक्त होता है। और अनहद (विभु आत्मा में ही हेत (प्रेम) बढाता है। अथवा गायन (उपदेशक) ज्ञानी जिस शब्द अर्थ को गाते हैं। योगी उसे कभी नहीं गाते, किन्तु अनबोल (अनहद) शब्द को सदा गाते हैं। नट की तरह बाजा बजा कर तमासा देखते हैं। और अनहद से ही हेतु (कारण) को बढाते हैं, इत्यादि।

विभु निजात्मप्रेमी, निजकै (निजात्मा की ही) कथनी बन्दनी को जोहते हैं, सब कथा स्तुति को आत्मविषयक जानते हैं, सब शब्द किसी उपाधिवाले आत्मा को ही कहता है, यह उनका निश्चय है। और उनकी दृष्टि में ई (यह) सब (अनात्मा) अकथ (माया) की कहानी (कथा-वाचारम्भण मात्र) है। अथवा यह सब उपदेश अकथ (अवाच्य) आत्मा की कथा रूप है। और विचारवान् ज्ञानी धरती (भूमि) आदि को उलट कर चिदाकाश में बेधते (लय चिन्तन करते) हैं, आत्मभिन्न इनकी सत्ता नही समझते हैं। यह उन महापुरुषों की बानी (स्वभाव वा कथन) है। और अनहद शब्द में प्रेमादिवाले प्राय: अपनी कथनी बन्दनी (नाम यश) खोजते हैं। परन्तु ये नामादि सब अकथ कहानी (मायामात्र) है, तोभी लोक नामादि के लिये धरती को उलट कर आकाश में बेधते हैं, मूलाधारादि को बेध कर ब्रह्माण्ड में जाते हैं, यह उनका स्वभाव है, इत्यादि।

ज्ञानी लोक भेद का अभाव करके विना प्याला के अमृत (मोक्ष आनन्द) को अँचवते (पीते) हैं। आधारादि रहित मोक्ष सुख का अनुभव करते हैं। विषयादि नीर को संसार नदी में भर कर रख देते हैं, उसके संगादि नहीं करते हैं। तथा जनहित के लिये बोध नीर को हृदय नदी में भर कर रखते हैं। साहब का कहना है कि सो ज्ञानी युग २ जीते जागते हैं कि जो विषयादि को त्याग कर, एक राम सुधारस को चाखते (पीते जानते) हैं। क्योंकि देहाभिमानादि से ही बार २ मरण होता है, इत्यादि। और योगी लोक अधोमुख कूप का अमृत प्याला विना पीते हैं, आत्मानन्दादि को संसार में छोड़ देते हैं। यद्यपि उसे अमर होने के लिये पीतें हैं, तथापि मरते ही हैं; क्योंकि राम सुधारस पीनेही वाला सदा जीता है, अन्य नहीं, इत्यादि ॥ ४३ ॥

प्रथम मोहादि के त्याग और राम सुधारस के पान के लिये उपदेश हुआ है, और अर्थादि को मायिक मिथ्या कह कर, उत्तम मोक्ष का वर्णन किया गया है। अब इस उपदेश के अधिकारी की दुर्लभता के आशय से कहते हैं कि—

शब्द ॥ ४४ ॥

(मैं) कासे कहुं को सुने को पतिआई।
फुलवक छुअत भँवर मरि जाई॥
गगन मण्डल महँ फुल एक फूला।
तर भौ डार उपर भौ भूला॥

कस्मै तत् कथ्यतां तत्त्वं कः शृणोति सुभाषितम्।
श्रुत्वा को विश्वसित्यत्र विषयासक्तमानवः॥ ४१॥
लोककायादिपुष्पेषु गोचरस्वादतत्परः।
आसक्तो भ्रमरो जीवो म्रियते तन्निषेधतः॥ ४२॥
आकाशमण्डले चैकं पुष्पं प्रकृतिभूमिषु।
फुल्लं विश्वात्मकं यस्य ह्यूर्ध्वं मूलमधः शिरः॥ ४३॥
कृष्यते नैव तत्क्षेत्रं नोप्यते तत्र बीजकम्।
सिच्यते नात्र किञ्चिच्च वृक्षः शाखा भवेन्नहि॥ ४४॥

किसके प्रति यह तत्त्व वचन कहा जाय, सुभाषित सुनता कौन है? कौन विषयासक्त मनुष्य, सुन कर भी इसमें विश्वास करता है॥ ४१॥ लोक शरीरादि रूप पुष्पों में आसक्त, गोचर (विषय) के स्वाद में तत्पर जीवरूप भँवरा, उस लोक विषयादि के निषेध से मरता (दुःखी) होता है॥ ४२॥ आकाश मण्डल (देश) में, प्रकृतिरूप भूमि में विश्वरूप एक पुष्प फुल्ल (विकसित) है, जिसका मूल ऊपर और शिर नीचे है॥ ४३॥ उस क्षेत्र (खेत) को जोता नहीं जाता है, न उसमें बीज बोया

जोतिय न बोइये सिंचिय न सोई।
डार पात बिनु फुल एक होई॥
फुल भल फुलल मालिन भल गांथल।
फूल विनशि गौ भँवर निराशल॥

शाखां पत्रं विनैवात्र पुष्पं पुष्यति सर्वदा।
एकं विश्वात्मकं नानागन्धस्वादसमन्वितम्॥ ४५॥
पुष्पं विकसितं पुष्टं कायपुत्रादिलक्षणम्।
मायामलिनबुद्धिश्च कामादिसूत्रकैर्दृढम्॥ ४६॥
अध्यासैर्ग्रन्थिबन्धैश्च तज्जीवात्मन्ययोजयत्।
कालात्तस्य विनाशेन हताशो भ्रमरोऽभवत्॥ ०७॥
अहो तथापि शास्त्रज्ञा ये वै पण्डितमानिनः।
तेऽस्य लोभेन तिष्ठन्ति किमत्र कथ्यतां कथम्॥ ४८॥
त्वं साधो! शृणु लोभं तं त्यक्त्वैवात्माऽवधार्यताम्।
मोहं मार्जय शीघ्रं च सद्गुरुः प्राह मुक्तये॥ ४९॥

जाता है, न उसमें कुछ सींचा जाता है, और वृक्ष शाखा भी उसमें नहीं हो सकता॥ ४४॥ शाखा पत्र विना ही इस प्रकृति में नाना गन्ध स्वादयुक्त एक विश्वरूप पुष्प सदा पुष्ट होता है॥ ४५॥

जो देह पुत्रादि रूप विकसित पुष्ट पुष्प है, उसका माया और मलिन बुद्धि ने कामादि सूत्रों से और अध्यास (भ्रम) रूप ग्रन्थिबन्धनों से जीवात्मा में दृढ (प्रगाढ) योजना (सम्बन्ध) किया है। और काल से उस पुष्प का नाश होने से भँवरा (जीव) हताश हुआ है॥ ४६–४७॥ आश्चर्य है कि तोभी जो अपने को पण्डित माननेवाले शास्त्रज्ञ हैं, वे भी उसीके लोभ से यहां रहते हैं, तो यहां कैसे क्या कहा जाय॥ ४८॥ हे साधो! तुम श्रवणादि करो, और मोह को शीघ्र नष्ट करो, उस

कहहिं कबीर सुनहु सन्तो भाई।
पण्डित जन फुल रहल लोभाई ॥ ४४ ॥

सदात्मा ध्यातव्यः प्रबलरिपुयुक्तेऽत्र विश्वे,
कथं कस्मै सत्योऽप्यमलसुखहेतुः सुशब्दः।
भवेद् वाच्यो लोका विषयरसिका लब्धवर्णा,
तिरस्काराच्चेषां त इह मृतकल्पा भवन्ति ॥ ५० ॥ ४४ ॥

इति हनुमद्दासकृतायां शब्दसुधायां मोहनिद्रात्यागतदधिकारादिदौर्लभ्य-वर्णनं नाम षोडशस्तरङ्गः ॥ १६ ॥

लोभ को त्याग कर ही आत्मा का विवेक निश्चय करो। यह बात सद्गुरु मुक्ति के लिये कहते हैं ॥ ४९ ॥ प्रबल कामादि रिपुयुक्त इस संसार में उससे रक्षा के लिले सत्यात्मा का ध्यान करने योग्य है, अमल सुख का हेतु रूप सत्य भी यह सुन्दर शब्द किसके प्रति कैसे वाच्य हो (कहा जाय), लब्धवर्ण (सुवर्ण गुण स्तुति आदि को प्राप्त किये) लोक विषय रसिक हैं, इससे उन सुवर्ण विषयादि के तिरस्कारपूर्वक आत्मोपदेशादि से वे लोक यहां मृततुल्य हो जाते है ॥ ५० ॥

अक्षरार्थ– मोह त्यागादि के लिये मैं कासे (किससे) कहूं, कहने पर भी कौन सुनता है, सुनने पर भी कौन पतिआता (विश्वास करता) है। सब जीव रूप भँवरा संसार देहादि फूलों में ही आसक्त हैं, और ऐसे आसक्त हैं कि उन फूलों को छुवते (मिथ्यादि कहते) ही वे मर जाते हैं (बदहोश व्यग्र होते हैं); अथवा जैसे भँवरा केतकी के फूल को छूने से मरता है, तैसे जीव विषयादि के सम्बन्ध से बार २ मरते हैं, परन्तु सुनना नहीं चाहते, तो किससे कहा जाय। और निराधार गगन मण्डल में संसार शरीरादि फूल भली भांति से फूले हैं, जिनके लोकान्तर हाथ पैरादि डार तरे (नीचे) हुए हैं। और परम सूक्ष्म ईश्वर ब्रह्मलोक

शिर आदि रूप मूल (जड़) ऊपर हुए हैं। और उन फूलों के खेतरूप प्रकृति माया मन आदि जोते बोये सींचे नहीं जाते हैं, तोभी उनमें डार पातादि विना ही ये फूल होते हैं। तथा निरवयव आत्मा में भी भासते हैं (ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थ सनातनः। कठ० २.६.१) ऊपर मूल और नीचे शाखावाला यह सनातन अश्वत्थ (संसार) है।

डार पात विना होने पर भी देहादि रूप फूल भल (अच्छी तरह) फूला है, और मालिन (माया में आसक्त जीव वा माया) ने इस फूल को भली भाँति से गांथा (संग्रह-ममता किया कराया) है। माया दुर्बुद्धि ने कामाध्यासादि से गांथ कर जीव को पहिराया है। परन्तु इस फूल के विनश्वर होने से जब २ यह विनष्ट हुआ और होता है, तब २ भँवरा (आसक्त जीव) निराशल (हताश-दुःखी) हुआ और होता है। साहब कहते हैं कि हे सन्तो ! भाई ! सुनो, पण्डित जन भी इस फूल में लोभाय रहते हैं, तो अन्य के लोभ की कथा ही क्या है, और किससे क्या कहें, इत्यादि ॥ ४४ ॥

—•—

अलौकिकात्मवैराग्यविषयकशंकासमाधान प्र० १७

मोह कामादि के त्याग के लिये उपदेश को सुन कर शंका हुई कि मोक्ष फल के लिये मोहादि के त्याग की कोई जरूरत नहीं है; क्योंकि मोहादि के रहते भी जैसे साधनों से अर्थादि प्राप्त होते हैं, तैसे ही मोहादि के रहते भी साधन विशेष से मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है, इत्यादि। तब मोक्ष में अर्थादि से विलक्षणता अलौकिकता आदि के आशय से कहते हैं कि—

शब्द ॥ ४५ ॥

(भाइरे) अद्‌बुद रूप अनूप कथा है, कहुं तो को पतिआई।
जहँ जहँ देखो तहँ तहँ सोई, सब घट रहल समाई॥

अलौकिकमतुल्यं यत्कथाऽप्येतस्य तादृशी।
मोहादीनां विना त्यागं विश्वस्यात्तत्र को नरः॥१॥

यस्मिन् कस्मिंश्च संयुक्तो भूत ऐश्वर्य एव वा।
तत्त्वं स्मरति नैवायं गुरुवाक्यं न मन्यते॥२॥

"अहं ममेति यावत्स्यादज्ञानमस्य बन्धनम्।
कुतो निःसरणं तावद्देहकारागृहाद् भवेत्"॥३॥

देहकारागृहान्मुक्तैर्विरलैः सुविवेकिभिः।
दृश्यते यत्र यत्रैव तत्रैव दृश्यते तु सत्॥४॥

तत्तत्त्वं सर्वदेहेषु प्रविष्टं वर्तते तथा।
देहाद्बहिरधश्चोर्ध्वं सर्वतो व्याप्य तिष्ठति॥५॥

जो फल वस्तु अलौकिक, और किसी के अतुल्य है, इसकी कथा भी वैसी ही है। मोहादि के त्याग विना तिसमें विश्वास भी कौन मनुष्य करेगा॥ १ ॥ जिस किसी भूत (प्राणी) वा ऐश्वर्य में संयुक्त (आसक्त) यह मनुष्य तत्व वस्तु का स्मरण नहीं करता है, न गुरुवाक्य को मानता है॥ २ ॥ अहं मम इस प्रकार का अज्ञान जब तक इसको बन्धन रूप रहेगा, तब तक देह रूप कारागृह (जेल) से निकलना कैसे होगा, यह आत्मपु० ४। ६६९ वचन है॥ ३ ॥ देह कारागृह से मुक्त विरक्त विवेकी से जहाँ २ कुछ देखा जाता है, तहां २ सत् वस्तु ही दीखता है॥ ४ ॥ वह सत्तत्व सब देहों में पैठा है, तथा देह से बाहर नीचे ऊपर सर्वत्र व्यापक होकर

लक्षि विनु सुख दरिद्र विनु दुःख, निन्द विना सुख सोवै ।
यश बिनु ज्योति रूप बिनु आशिक, रतन विहूना रोवै ॥
भ्रम विनु गञ्जन मान बिनु निरखन, रूप विना बहुरूपा ।
थिति बिनु सुरति रहस बिनु आनन्द, ऐसो चरित अनूपा ॥

यथाग्निर्भुवनेष्वेकः प्रविष्टो बहुरूपवान् ।
भवत्येकस्तथैवात्मा वर्ततेऽन्तर्बहिः सदा ॥ ६ ॥
तत्र लक्ष्मं विना सौख्यं दुःखं दारिद्र्यमन्तरा ।
मायया कल्पितं नैव वस्तुतो विद्यतेऽखिलम् ॥ ७ ॥
तमोनिद्रां विनैवाऽयं सुखं शेते सदा शिवः ।
यशो विना सदा ज्योतिरासक्ती रूपमन्तरा ॥ ८ ॥
विद्यते सर्वदा देवे हीन्द्रियाणां च देहिनाम् ।
स्वरूपज्योतिषो लाभे मुक्तिर्भवति सर्वथा ॥ ९ ॥
सज्जनैर्लभ्यते रत्नं क्लेशापहमिदं शुभम् ।
असन्तस्तद्विना शश्वद्रुदन्ति विलपन्ति च ॥१०॥

स्थिर है ॥ ५ ॥ जैसे भुवनों में पैठी हुई एक ही अग्नि बहुत रूपवाली होती है, तैसे ही एक आत्मा भीतर वाहर सदा है ॥ ६ ॥

उस आत्मा में लक्षादि द्रव्य लक्ष्मी के विना ही स्वरूपसुख है, दरिद्रता के विना माया से कल्पित अखिल (सब) दुःख है । वस्तुतः दुःख नहीं है ॥ ७ ॥ तमोगुण रूप निद्रा विना ही यह शिव स्वरूपात्मा सदा सुख से सोता है, यश के विना इसकी ज्योतिः (प्रकाश ख्याति) है, रूप के विना इस देव में इन्द्रिय और प्राणी की सदा आसक्ति (अतिप्रीति-तत्परता) है । इसी स्वरूप ज्योति की सर्वथा प्राप्ति से मुक्ति होती है ॥ ८-९ ॥ क्लेशादि के नाशक इस शुभ ज्योतिःस्वरूप रत्न को सज्जन पाते हैं, और असज्जन उसके विना सदा रोते और विलाप करते हैं ॥१०॥

कहहिं कबीर जगत हरि मानिक, देखहुं चित अनुमानी ।
परिहरि लाख लोग कुटुम तजि, भजि रहु सारंगपानी ॥ ४५॥

अहो भ्रमं विनैवात्र रोदनादिविपद्गणः ।
प्रमाणैश्च विना तद्वत् सर्वेषां दर्शनादिकम् ॥११॥
एवं रूपैर्विनैवाऽयं बहुरूपः प्रदृश्यते ।
मायया न तु तत्त्वेन नन्वेतद् विदुषां मतम् ॥१२॥
स्थितिं विनैव तेनाऽत्र सर्वस्य स्मरणं भवेत् ।
विज्ञानमनुबोधश्च स्वरूपेणैव केवलम् ॥१३॥
रहस्येन विना चैवमानन्दो वर्तते सदा ।
एतद्धि चरितं तस्य वर्ततेऽनुपमं खलु ॥१४॥
हरिरात्मा मणिश्चायं संसारे सर्वतः सदा ।
वर्तते तं हि चित्ते स्वे विचाराद्यैः प्रपश्य वै ॥१५॥
लक्षं लोकान् कुटुम्बांश्च त्यक्त्वा तं सद्धरिं भज ।
विशुद्धः सैव पानीयं तृष्णातापादिनाशकः ॥१६॥

आश्चर्य है कि भ्रम के विना ही इसमें रोदनादि रूप विपद् के समूह भासता है, तैसे प्रमाणों के विना सबके देखना आदि प्रतीत होता है ॥११॥ इसी प्रकार यह रूपों के विना माया से बहुत रूपवाला दीखता है, स्वरूप से नहीं । यह विद्वानों का निश्चित मत है ॥ १२ ॥ स्थिति (धारणा) विना ही उससे ही यहां सबका स्मरण हो सकता है, और विशेष ज्ञान अनुबोध (अभिव्यक्ति, प्रत्यभिज्ञा) केवल स्वरूप से होता है ॥ १३ ॥ ऐसे ही रहस्य (मर्यादा विचारादि) विना आत्मा में सदा आनन्द रहता है । यह सब उसका चरित्र उपमा रहित ही है ॥ १४ ॥

आत्मा रूप यह हरि संसार में सदा मणि (स्वयं प्रकाश) है । उसको अपने चित्त में विचारादि से अच्छी तरह देखो (समझो) ॥ १५ ॥ लक्षादि द्रव्य लोक कुटुम्ब को त्याग कर, उस सत्य हरि को भजो । तृष्णा

शार्ङ्गपाणिं हरिं यद्वा भजस्व स्वान्तशुद्धये।
निष्कामो गतरागः सन् चित्ते स्थैर्यं ततो भवेत् ॥१७॥
भक्त्या तत्त्वे परिज्ञाते मोहजालं नशिष्यति।
तृष्णाऽऽशादिविमुक्तस्त्वं पुनर्द्वन्द्वं न चैष्यसि ॥१८॥
"सर्वसङ्गपरित्यागः सर्वद्वन्द्वसहिष्णुता।
सर्वद्वन्द्वसमत्वं च मोक्षस्य विधिरुच्यते" ॥१९॥४५॥

तापादि के नाशक विशुद्ध सेवित वह हरि ही पानीय (पीने योग्य-जल) है ॥ १६ ॥ अथवा निष्काम रागरहित होकर, अन्तःकरण की शुद्धि के लिये शार्ङ्गपाणि (विष्णु भगवान्) को भजो, तिससे चित्त में स्थिरता होगी ॥ १७ ॥ भक्ति से तत्त्व (स्वरूप) के परिज्ञात (अपरोक्ष) होने पर, मोह समुदाय नष्ट होगा, और तृष्णा आशा आदि से मुक्त (रहित) तुम फिर द्वन्द्व को नहीं प्राप्त होगे ॥ १८ ॥ सब सङ्ग का परित्याग, सब द्वन्द्व की सहनशीलता और सब द्वन्द्व में समता मोक्ष का विधि (क्रम–प्रकार) कहा गया है ॥ १९ ॥

अक्षरार्थ –रे भाई ! अद्‌बुद (आश्चर्य) स्वरूप आत्मा की कथा उपमा रहित है। आश्चर्य स्वरूप मायोपाधि से आत्मा में भी आश्चर्य रूपता है। और मोहादि अर्थादि के अनुकूल है, और आत्मप्राप्ति रूप मोक्ष के प्रतिकूल हैं। इससे इसे कहूं भी तो उक्त फूलों में आसक्त कौन विश्वास करता है। और मैं तो जहां २ देखता हूं तहां २ सोई आत्मा सत्य दीखता है, जो एक होते भी सब घट में समाया है, और अनन्त स्वरूप दीखता है।

और वह आत्मा लक्षी बिनु (लक्षपति होने विना, वा लक्ष्मी विना) सुखस्वरूप है, और दरिद्र होने विना, दरिद्रता जन्य दुःखवाला भासता है, और तामस निन्द विना सुख से सोया भासता है। अथवा आत्मोपदेश में विश्वासादि विना लक्षपति भी सुख विना शोचते हैं, और विश्वासादि से दरिद्र भी दुःख बिनु (रहित) होकर निन्द के विना सुख से सोता

(समाधिस्थ होता) है। और यश (कीर्ति) के विना उसकी ज्योति (प्रकाश, प्रसिद्धि) है। रूप के विना भी सब उसके आशिक (प्रेमी) हैं, सब उसमें आसक्त हैं। और किसी रत्न का उसमें सम्बन्ध नहीं है, परन्तु रत्न विहूना (विना) रोता हुआ भासता है। अथवा उसका यश किसी ज्योति का विषय नहीं है, न उसके सत्य स्वरूप में कोई आशिक होता है, इससे उस रतन से विहून (रहित) सब जीव रोता है, इत्यादि।

लक्षादि विना सुखादि भासने पर भी आत्मा में भ्रम नहीं है, और भ्रम विना गञ्जन (विपत) भासता है, तथा भ्रम का गंजन (नाश) भासता है, और मान (प्रत्यक्षादि प्रमाण) विना उसका निरखन (देखना) है। तथा रूप (वर्ण आकार) विना वह बहुत रूप हुआ है॥ और किसी में स्थिति (एकाग्रता) विना वह सबकी सुरति (स्मरण ज्ञान) करता है, वा अहं रूप से उसकी सुरति सबको होती है। और रहस (एकान्त) वा रहस्य विना उसका आनन्द स्वरूप है। ऐसा उसका अनुपम चरित (स्वभाव) है। या गञ्जन रूप कार्य रहित भ्रम है, इत्यादि।

साहब का कहना है कि हरि रूप मानिक (माणिक रत्न) यद्यपि जगत में व्यापक है तथापि अपने चित्त में ही अनुमान (विचारादि) करके देखो। वहाँ ही प्रत्यक्ष होगा। या अपने चित्त में विचार कर जगत में व्यापक देखो (समझो)। और लक्षादि द्रव्य लोक कुटुम्बादि को परिहरि (त्याग) कर, सारंगपानी (अभयकारक राम शुद्ध पानीतुल्य निर्मलात्मा) को भजते रहो। या शार्ङ्गपाणि को भजो। अथवा सारङ्ग (चातक) जैसे अन्य जल को त्याग कर स्वाती के जल को भजता है, तैसे लाखादि को त्यागकर सर्वात्मा राम को भजो। (परिहरि लाख लोभ कुटुम तजि, भजहुन सारंगपानी) इस पाठान्तर पक्ष में अर्थ है कि हरिमानिक (हरि को माननेवाला) सब जगत है, जाननेवाला नहीं है। तुम अपने चित्त में विचारादि से देखो, और लाख लोभादि को त्याग कर ही भजो न, इत्यादि॥ ४५॥

लाख लोकादि के त्याग का पूर्व वर्णित उपदेश को सुन कर, तात्पर्य ज्ञान रहित, तीर्थादि में मरणादि से मुक्ति माननेवाले देवभक्त, तथा धनादि से सुखादि समझनेवाले किसी मन्द वैराग्यवालों का कथन है कि, आप लोक लाख लोकादि को त्यागने के लिये उपदेश देते हैं, सो ठीक नहीं है; क्योंकि—

शब्द ॥ ४६ ॥

अब हम भयली बाहर जल मीना । पूर्व जन्म तप का मद कीना ॥
तहिया अछलौं (मैं) मन बैरागी । तजलुं लोग कुटुम राम लागी ॥

[1]मन्दवैराग्यवान् कश्चित्त्यक्त्वा बाह्यगृहादिकम् ।
स्वान्ते रागादिभिस्तप्तः प्राहेदं सद्गुरुं प्रति ॥२०॥
भवद्भिर्लोकलक्षादित्यागायैवोपदिश्यते ॥
अहं च त्यागतो जातो जलोद्धृतकुमत्स्यवत् ॥२१॥
अहं पूर्वभवे किञ्चित्तपः कामादिखण्डनम् ।
तपसो वा मदं कश्चित्कृतवानस्म्यसंशयम् ॥२२॥

कोई मन्द वैराग्यवाला बाहर के घर आदि को त्याग कर मन में रागादि से तप्त (दुःखी) होकर, सद्गुरु के प्रति यह वचन कहता है कि आप लोग लोक लक्षादि के त्याग के ही लिये उपदेश करते हैं। और मैं तो त्याग से जल से निकाली हुई तुच्छ मछली तुल्य हुआ हूं ॥२०-२१॥ मैं पूर्व भव (जन्म) में कामादि का खण्डन (नाशक) कोई तप किया था, वा तप का कोई मद (गर्व) किया हूं, यह निश्चित बात है ॥ २२ ॥

१ 'अर्धप्राप्तविवेकस्य न प्राप्तस्यामलं पदम् । चेतसस्त्यजतो भोगान् परितापो भृशं भवेत् ॥ परिप्राप्तविवेकस्य त्यक्तसंसारसंस्थितेः । चेतसस्त्यजतो रूपमानन्दो हि विवर्द्धते ' ॥ योगवासिष्ठ प्र० ३ ९९।२३-२७ ॥

तेजलौं काशी मति भइ भोरी । प्राणनाथ कहु का गति मोरी ॥
हमहिं कुसेवक कि तुंहईं आना । दुइ महँ दोष काहि भगवाना ॥
हम चलि ऐलि तोहारे शरणा । कतहुं न देखौं हरि के चरणा ॥
हम चलि ऐलि तोहारे पासा । दास कबिर भल कैल निराशा ॥४६॥

तदानीं त्वहमासं वै मनसा रागवर्जितः ।
यतोऽद्य त्यक्तवाँल्लोककुटुम्बान् रामहेतवे ॥२३॥
त्यागवासनया यद्वा कर्माख्यतपसा ह्यहम् ।
त्यक्त्वा सर्वं तपाम्यद्य राममपि न लब्धवान् ॥२४॥
नूनं भ्रान्ता हि मे बुद्धिः काशी त्यक्ता यतो मया ।
अन्यथा तावता मुक्तिः सिद्धा त्यागेन किं मम ॥२५॥
प्राणनाथ ! गुरो ! त्वद्य का गतिर्मे भविष्यति ।
कथ्यतां सा न जानामि किञ्चिद्रामकृपां विना ॥२६॥
अहं कुसेवको यद्वा भवानेवागुरुस्तथा ।
पृथग्जनोऽनभिज्ञश्च द्वयो रागोऽत्र कस्य भोः ॥२७॥

और उस समय मैं मन से रागरहित था, जिससे आज राम के लिये लोक कुटुम्ब को त्यागा हूं ॥ २३ ॥ त्याग की वासना से वा कर्म नामक तप से ही मैं सबको त्याग कर, आज तपता (दुःखी होता) हूं, और राम को भी नहीं पाया ॥ २४ ॥

मेरी बुद्धि ही अवश्य भ्रान्त थी, जिससे मैंने पूर्व जन्म में काशी को त्यागा था, अन्यथा (यदि नही त्यागता) तो उसीसे मुक्ति सिद्ध थी। आज के त्याग से मुझे क्या फल है ॥ २५ ॥ हे प्राणनाथ ! हे गुरो ! आज मेरी क्या गति होगी, सो कहिये । मैं तो राम की कृपा विना कुछ नहीं जानता हूं ॥ २६ ॥ मैं कुसेवक हूं, अथवा आप ही गुरु से भिन्न हो, तथा पृथग् जन (पामर) अनभिज्ञ (अकुशल) हो । भोः हम दोनों में

अहं ते शरणे यातो नो पश्यामि हरेः पदम् ।
कुत्रापि भवतो मन्तुस्ततोऽत्र ज्ञायते मया ॥२८॥
आयातः शरणेऽहं ते त्वं न दर्शयसे हरिम् ।
अतो भक्तं हि जीवं मां हताशं कृतवानलम् ॥२९॥

यहां आगस् (अपराध) किसका है ॥ २७ ॥ मैं तेरे शरण में यात (प्राप्त) हूं, और कहीं भी हरि के चरण को नहीं देखता हूं, तिससे यहां आप ही का मन्तु (अपराध) मेरी समझ में आता है ॥ २८ ॥ मैं आपके शरण में आया हूं, और आप हरि को नहीं देखाते हो; इससे भक्त जीव मुझ को अलं (खूब) हताश किये हो ॥ २९ ॥

अक्षरार्थ- अब (धन कुटुम्बादि को त्यागने पर, वा उनके अभाव काल में) हम लोक, जल से बाहर की मछली तुल्य हुए हैं । कल्पना से मालूम होता है कि पूर्व जन्म में तप करके उसका मद (गर्व) हमने किया था । और तहिया (पूर्वजन्म में) हम मन वैरागी (वैराग्य की इच्छा वासना युक्त मनवाले) अछलों (थे) कि जिससे राम लागी (राम की प्राप्ति के लिये) हमने लोक कुटुम्बादि त्यागा है । तहाँ तप का फल भक्ति मिली है, और गर्व वासना का फल त्याग दुःख प्राप्त हुए हैं ।

और हमारी मति (बुद्धि) भोरी (भूल युक्त) भइ (हुई) थी, कि जिससे हमने काशी को तेजलों (त्याग दिया); नहीं तो काशी में मरण मात्र से मुक्त हुए होते । हे प्राणनाथ ! (त्याग बतानेवाला गुरुः) अब कहो कि मेरी कौन गति होगी, या कौन गति (आश्रय) है ॥ क्या हम ही कुसेवक हैं, कि तुम ही सद्गुरु से आना (अन्य) हो, हे भगवन् ! हम आप दोनों में किसका दोष है, कि जिससे यह मेरी बुरी दशा है। राम की प्राप्ति नहीं हुई है। वस्तुतः इसका कारण मेरा दोष नहीं है, हम तो सबको त्याग कर तोहारे (गुरु के) शरण में चले आये हैं, तौ भी कतहुं (कहीं) हरि के चरणों को नहीं देखते हैं ॥ और हमने तो हरि का

दर्शन के लिए तुम्हारे पास में चले आये, परन्तु हे कबीर ! (गुरो !) आपने इस दास (भक्त) को भली भाँति निराश (हताश) किया है। अर्थात् त्याग को समझानेवाले कवियों ने व्यर्थ ही भक्तों को भ्रमाया है ॥ ४६ ॥

इसका उत्तर है कि–

शब्द ॥ ४७ ॥

लोगा तूही मति के भोरा।
ज्यों पांनी पानी में मिलि गौ, त्यों धुरि मिले कबीरा ॥
जो मैं थीको सचा व्यास, तोहर मरण हे मगहर पास ॥

भो लोका यूयमेवात्र भ्रान्तबुद्धियुताः सदा।
स्थाऽतो रामं पृथक् वित्थ मोहं त्यजथ नो भिदाम् ॥३०॥
यथा नीरं मिलेन्नीरे तेनैकत्वं समाप्नुयात्।
तथा देहाभिमानाद्यैर्जीवा धूलिषु संगताः ॥३१॥
एतद्धि वचनं श्रुत्वा भाषन्ते त्वभिमानिनः।
वयं चेत्सत्यवक्तारस्तदा ते मरणं भवेत् ॥
पार्श्वे मगहरस्यैव यत्र मुक्तिर्न लभ्यते ॥३२॥

हे लोगों ! तुम ही इस विषय में सदा भ्रान्त बुद्धियुक्त हो, इसीसे राम को पृथक् समझते हो। मोह और भेद को नहीं त्यागते हो ॥ ३० ॥ जैसे एक जल दूसरे जल में मिले, और उसके साथ अति एकता को प्राप्त होय, तैसे हे जीव ! देहाभिमानादि से धूलियों में संगत (प्राप्त) हुए हो ॥ ३१ ॥ इसी वचन को सुन कर अभिमानी लोग कहते हैं कि, यदि हम सत्यवक्ता हैं, तो तेरा मरण मगहर के ही पास में होगा, कि जहां

मगहर मरै सो गदहा होवै। भल परतीति राम से खोवै ॥
मगहर मरै मरण नहिं पावै। अन्ते मरै तो राम लजावै ॥

मृतो मगहरे चायं नरो भवति गर्दभः।
सुकर्म रामभक्तिं च सर्वं स्वं नाशयत्यलम् ॥३३॥
यद्वा सद्गुरुरेवाह सत्यवक्ताऽस्म्यहं यदि।
तदा ते भवतान्मृत्युः पार्श्वे मगहरस्य वै ॥३४॥
त्वं तथापि विमुक्तः स्या मृतो यत्र खरो भवेत्।
विमूढो यस्य रामे नो विश्वासो वर्तते दृढः ॥३५॥
मृतो मगहरे जन्तुर्भूयो मरणवर्जितम्।
प्राप्नोति मरणं नैव काश्यादौ मरणाद्धि तत् ॥३६॥
काश्यादौ हि मृतो रामं कृत्वैवातिनिरुत्तरम्।
ह्रेपयित्वा ततो मोक्षं लभते नाऽत्र संशयः ॥३७॥
अथवा सद्गुरुः प्राह मृतो मगहरे यदि।
ज्ञानी स मरणं भूयः प्राप्नुयान्न कथञ्चन ॥३८॥

मरने से मुक्ति नहीं मिलती है ॥ ३२ ॥ मगहर में मरा हुआ यह मनुष्य गदहा होता है, और अपना सुकर्म राम भक्ति सबको अत्यन्त नष्ट करता है ॥ ३३ ॥ अथवा सद्गुरु ही कहते हैं कि यदि मैं सत्यवक्ता हूं, तो तेरा मगहर के पास में ही मृत्यु हो ॥ ३४ ॥ तोभी तूं मुक्त होगा, जहां मरा हुआ विमूढ गदहा होता है, कि जिसको राम में दृढ विश्वास नहीं है ॥ ३५ ॥

मगहर में मरा हुआ प्राणी, भूयः (बहुत) मरण से रहित मरण (मुक्ति) नहीं पाता है; क्योंकि वह मरण काशी आदि में ही होता है ॥ ३६ ॥ काशी आदि में मरा हुआ, राम को अति निरुत्तर करके, लजा के ही, उनसे मोक्ष पाता है, इस में संशय नहीं है ॥ ३७ ॥ अथवा सद्गुरु कहते हैं कि यदि ज्ञानी मगहर में मृत (मरा) है, तो वह भूयः मरण

क्या काशी क्या मगहर ओरा। जो पै हृदय राम बसु मोरा॥
जो काशी तन तजहिं कबीरा। तो कहु रामहिं कौन निहोरा॥४७॥

ज्ञानं लब्ध्वाऽपि यः कश्चित् काश्यादौ मरणं श्रयेत्।
स रामं कुरुते ह्यूनं ज्ञानं च लज्जितं तथा॥३९॥
यदि मे हृदये रामो वसत्येव निरन्तरम्।
काश्या मगहरेणाऽत्र किं वा मे ह्यधिकं भवेत्॥४०॥
काश्यादौ मरणाज्जन्तोर्यदि मोक्षो भवेद् ध्रुवम्।
तदा किमिति रामस्य विनयं कुरुते जनः॥४१॥४७॥

किसी प्रकार नहीं पावेगा॥३८॥ जो कोई ज्ञान का लाभ करके भी मोक्ष के लिये काशी आदि में मरण का सेवन करता है, सो राम को ऊन (हीन न्यून) करता है, तथा ज्ञान को लज्जित करता है॥३९॥ यदि मेरे हृदय में राम निरन्तर बसते हैं, तो काशी वा मगहर से मुझे क्या अधिक होगा॥४०॥ यदि काशी में मरण से ही जन्तु को अवश्य मोक्ष होवे, तो मनुष्य किस हेतु से राम का विनय करता है॥४१॥

अक्षरार्थ- हे लोग! सद्गुरु के उपदेशादि ठीक ही हैं; तुम ही मति के भोरा (भ्रान्त बुद्धिवाले) हो, जिससे कर चरणादि रहित सर्वात्मा राम को नहीं समझते हो। और जैसे पानी पानी में मिल गया हो, तैसे हे कबीरा (जीव)! तुम धूरि (धूलि) में देहाभिमान से मिले हो। ईश्वर गुरु में मिथ्या दोष लगाते हो। यदि सच्चा त्याग करो, तो जल से बाहर की मछली की तरह कभी नहीं हो सको। क्योंकि जैसे पानी में पानी मिल गया हो, तैसे सच्चा त्यागी संसार चक्र की धूरा (अधिष्ठान-आधार) ब्रह्मात्मा में मिलता है॥ और जो मैं सच्चा व्यास (वक्ता-उपदेशक) थीकों (हूं) और तुम सच्चा शिष्य त्यागी हो, तो तेरा मरण मगहर के पास होय, तो इससे क्या? तुम सदा मुक्त ही हो। क्योंकि मगहर में मरा हुआ सोई

प्राणी गदहा आदि होता है, कि जो सर्वात्मा राम से (राम के ज्ञानादि से) भली प्रतीति (मुक्ति का विश्वास) को खोता (गमाता) है। ज्ञानी भक्त मगहर में मर कर भी मुक्त ही होता है। अथवा (काश्यां मरणान्मुक्तिः मगहरे खरगतिः) इन बातों में विश्वासवाले कहते हैं कि यदि मैं सच्चा व्यास हूं, तो तेरा मगहर के पास मरण हो; क्योंकि तुम देव तीर्थादि से मुक्ति नहीं मानते हो। और मगहर में मरता है सो गदहा होता है, राम से भलाई की प्रतीति को खोता है।

राम को जाननेवाला गुरुभक्त मगहर में मरने पर भी फिर मरण नहीं पाता है, मुक्त होता है। और गुरु आदि से राम को जान कर भी यदि अन्ते (काशी आदि में) मोक्ष के लिये मरता है, तो वह राम को और ज्ञान को लज्जित करता है, ज्ञान भक्ति की महिमा को नहीं जानता है। क्योंकि यदि मेरे हृदय में राम बसते हैं (राम का ज्ञान प्रेम मन में है) तो काशी से क्या फल है। और मगहर के ओरा (पास–तरफ) से क्या हानि है। और यदि ज्ञानी भक्त कबीरा (जीव) भी मुक्ति के लिये काशी में देह त्यागे, और उसीसे मुक्त होय, तो कहो कि उस मुक्ति के लिये राम की कौन निहोरा (बिनती) है। या उसके लिये कौन राम की निहोरा करेगा। वह भक्ति कौन हैं कि जिसके रहते भी काशी में मरने से मुक्ति हो। अर्थात् श्रवणादि ज्ञान भक्ति आदि के देश कालादि प्रयोजक (साधक) हैं। मोक्ष के लिये विराग उपरति भक्तिपूर्वक ज्ञान ही पूर्ण हेतु है। अथवा पण्डितमानी कहते हैं कि मगहर में मरता है सो मरण (मोक्ष) नहीं पाता है। अन्ते (काशी आदि में) मरता है, सो दुष्कर्मी आदि होते हुए भी राम को लज्जित करके राम से मोक्ष लेता है। क्योंकि शिवजी को रामजी ने वर दिया है कि जो काशी में मरेगा, उसे मैं मुक्त करूंगा, इत्यादि। आगे का कथन साहब का ही है।

विशेष विवरण –जिस मगहर में मरने से गदहा होना प्रसिद्ध है, सो काशी से तीन कोश पर गंगा के दक्षिण है, और कबीर साहब ने जहाँ

शरीर त्यागा है, सो मगहर गोरखपुर से पश्चिम १० कोश पर अमी नदी के पश्चिम तट पर है। और साहब ने इन दो शब्दों से भावी शरीर त्याग के स्थान को बताते हुए, ज्ञाननिष्ठा को दर्शाते हुए, भाविज्ञता का सूचन करते हुए, भक्ति में विश्वास कराते हुए, जिज्ञासुओं के प्रति उपदेश दिया है कि, किसी देश में मरने मात्र से न मुक्ति होती है, न बन्धन होता है; किन्तु मोह आसक्ति कामादि का त्याग, शमादि अहिंसादि का ग्रहण, गुरुशरणागति, श्रवणादि ज्ञानादि से मुक्ति होती है। और अज्ञान मोह हिंसादि से बन्धन होता है, इससे अज्ञानादि की निवृत्ति के लिये उपाय करना चाहिये। लिखा है कि (अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः। भ० गी० ५।१५।। ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति। भ० गी० ४।३९।। अल्पं रूपं बन्धनं प्रत्यगात्मा बद्धोऽनेन स्वच्छचैतन्य-मूर्तिः। स्वात्माऽज्ञानं कारणं बन्धनेऽस्य स्यात्मज्ञानात्तन्निवृत्तिश्च मुक्तिः। संक्षेपशारीरक) अज्ञान से ज्ञान के आवृत्त होने से प्राणी मोहित होते हैं। ज्ञान पाकर परम शान्ति शीघ्र पाता है। अल्प रूप बन्धन है, उससे स्वच्छ चैतन्यमूर्ति प्रत्यगात्मा बद्ध है, इसके बन्धन में निजात्मा का अज्ञान ही कारण है, स्वात्मज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति मुक्ति है ।।४७।।

अपारब्रह्मविचारादि प्रकरण १८

प्रथम मोहादि के त्याग के लिये उपदेश दिया गया है, फिर भी त्याग का वर्णन करते हुए मायिक वस्तु से भिन्न शुद्धात्मा के विचारादि के लिये उपदेश देते हैं कि-

शब्द ॥ ४८ ॥

अवधू ! छाड़हु मन विस्तारा ।
सो पद गहहु जाहि ते सदगति, पार ब्रह्म ते न्यारा ॥
नाहिं महादेव नाहिं मुहम्मद, हरि हजरत कछु नाहीं ।
आदम ब्रह्मा नहिं तब होते, नहीं धूप औ छाही ॥

अवधूक ! त्वया साधो ! विस्तारो मानसोऽनृतः ।
त्यज्यतां गृह्यतां तद्धि पदं स्यात्सद्गतिर्यतः ॥ १ ॥
ग्रहणाद्यस्य सज्ज्ञानादवश्यं सद्गतिर्भवेत् ।
पारवद् ब्रह्मभिन्नं तत् सदपारं हि विद्यते ॥ २ ॥
संसाराम्बुनिधेः पारं यद्धा यद् ब्रह्म विद्यते ।
तद्भिन्नो मनसः सर्वो विस्तारः परिगीयते ॥ ३ ॥
महादेवो न तद् ब्रह्म मुहम्मदोऽपि नैव च ।
हरिर्हजरतो नैव कोऽपि तत्र हि विद्यते ॥ ४ ॥
ज्ञाने सति स्वरूपे ते नादमो न विधिः स्फुरेत् ।
आतपो नैव नो छाया किञ्चित्तत्रोपयुज्यते ॥ ५ ॥

हे अवधूक (वधूरहित) साधो ! तुम मानस मिथ्या विस्तार को त्यागो, और उसी पद (वस्तु) को गहो कि जिससे सद्गति (कल्याण) हो ॥ १ ॥ जिसके ग्रहण सत्य ज्ञान से अवश्य सद्गति होगी, वह पारवाला (प्रान्त समाप्तिवाला) ब्रह्म से भिन्न सत्य अपार है ॥ २ ॥ अथवा संसार समुद्र के पार रूप जो ब्रह्म है, उससे भिन्न सब मन का विस्तार कहा जाता है ॥ ३ ॥ वह अपार ब्रह्म महादेव रूप नहीं है, मुहम्मदरूप भी नहीं है, हरि हजरत भी कोई उसमें नहीं हैं ॥ ४ ॥ आत्मज्ञान होने पर, तेरे स्वरूप में आदम और विधि (ब्रह्मा) भी सत्य नहीं भासेंगे, न आतप वा छाया वा अन्य कुछ उसमें उपयोगी (सफल) है ॥ ५ ॥

असिया सै पैगम्बर नाहीं, सहस्र अठासी मूनी ।
चन्द्र सूर्य तारागण नाहीं, मच्छ कच्छ नहिं दूनी ॥
वेद कितेब स्मृति नहिं संयम, नहीं यवन पर स्याही ।
बंग निमाज कलिमा नहिं होते, रामो नाहिं खुदाही ॥
आदि अन्त मन मध्य न होते, आतस पवन न पानी ।
लख चौरासी जीव जन्तु नहिं, साखी शब्द न बानी ॥

यवनानां न चाचार्यास्तत्राशीतिशतानि हि ।
अष्टाशीतिसहस्राणि मुनयो न पृथग्जनाः ॥ ६ ॥
चन्द्रसूर्यौ न तत्रास्तस्तारकाणां गणो न च ।
मत्स्यो न कच्छपो नैव द्वैतं दृश्यं न दृश्यते ॥ ७ ॥
वेदा ग्रन्थाश्च नैवाऽत्र स्मृतयो नैव संयमाः ।
यवना नो ततोऽन्ये वा नैवातिमलिनाः प्रजाः ॥ ८ ॥
वाचाऽऽह्वानं व्रतं नैव मन्त्राश्च विविधा नहि ।
रामचन्द्रः खुदाख्यो न तटात्मा तत्र वा भवेत् ॥ ९ ॥
आदिरन्तो मनो मध्यो विद्यतेऽत्र न वा भिदा ।
नाग्निर्न पवनो नान्यः कश्चिद् भूतमयो हि सः ॥१०॥

'८०' अस्सी सौ यवनों के आचार्य, अठासी हजार मुनि भी उसमें नहीं हैं, न पृथग्जन (मूर्ख) हैं ॥ ६ ॥ न वहां चन्द्रमा सूर्य हैं, और न तारागण हैं, न मत्स्यावतार है, न कच्छपावतार है, न द्वैत दृश्य दीखता है ॥ ७ ॥ इसमें वेद ग्रन्थ भी सत्य नहीं है, स्मृति (धर्मशास्त्र) और संयम (धारणा ध्यान समाधि) भी नहीं हैं। न यवन हैं, न उनसे अन्य हैं, न अति मलिन प्रजा हैं ॥ ८ ॥ वाक से आह्वान (पुकारना) व्रत नहीं है, न अनेक प्रकार के मन्त्र हैं। न रामचन्द्र वा खुदा नामवाला तटस्थ ईश्वर तिस स्वरूप वा तिसमें हो सकते हैं ॥ ९ ॥

और इस आत्मस्वरूप में आदि, अन्त, मन, मध्य, वा भिदा (भेद)

कहहिं कबीर सुनहु हो सन्तो, आगे करहु विचारा ।
पूरण ब्रह्म कहाँ ते प्रगटे, किरतम किन उपचारा ॥४८॥

सर्वयोनिषु ये जीवा भवन्ति क्षुद्रजन्तवः ।
तदात्मा नैव देवोऽसौ साक्षिशब्दौ न वाङ्मयौ ॥११॥
अवधूक ! त्वया साधो ! श्रवणं सुविधीयताम् ।
एभ्योऽहि परतत्त्वस्य विचारः क्रियतां मुहुः ॥१२॥
पूर्णं यदि परं ब्रह्म तत्प्रत्यक्षं कुतो भवेत् ।
साक्षात्तल्लभ्यते कैर्वा साधनैश्च कुतो गुरोः ॥१३॥
यद्वा हिरण्यगर्भाद्याः पूर्णत्वे नैव सम्मताः ।
आविर्भूताः कुतस्तद्वद् ब्रह्माण्डानि सहस्रशः ॥१४॥
कार्याणां सन्त्युपायाः के कैः सेव्यानि च तानि वै ।
केन तानि निवर्तन्ते भोः साधो ! चिन्त्यतां मुहुः ॥१५॥
इत्येवं सुविचारेण ज्ञानं लब्ध्वा ह्यनुत्तमम् ।
भवान् मुक्तो भवेद् बन्धात् सद्गुरुर्भाषते ततः ॥१६॥

नहीं है, न अग्नि है, न वायु है, न अन्य किसी भूतमय वह है ॥ १० ॥ सब योनियों में जीव है, जो क्षुद्र जन्तु हैं, वह देव तदात्मा (तत्स्वरूप) नहीं है, वाङ्मय साक्षी शब्द भी वह नही है ॥ ११ ॥ हे अवधूक ! (विरक्त !) साधो ! अच्छी तरह श्रवण करो, और इन सब से परतत्त्व (स्वरूप) का बार २ विचार करो ॥ १२ ॥ पूर्ण (विभु) जो परब्रह्म है, वह किस साधन से प्रत्यक्ष होगा, किन साधनों से वा किस गुरु से वह साक्षात मिलता है ॥ १३ ॥ अथवा पूर्णरूप से माने गये हिरण्यगर्भादि, किससे प्रगट हुए हैं, तैसे ही हजारों ब्रह्माण्ड किससे प्रगट हुए हैं ॥१४॥ कार्यों के उपाय कौन हैं, और वे कार्य किससे सेव्य हैं, किससे वे निवृत्त होते हैं । हे साधो ! इस अर्थ को बार २ विचारो ॥ १५ ॥ इस पूर्व वर्णित तत्त्वों के इस प्रकार के सुविचार से श्रेष्ठ ज्ञान को पाकर आप बन्धन से

आत्मानमेव विज्ञाय मनोविस्तारलक्षणान् ।
नानुध्यायाद् बहूनर्थांस्त्यजेत्सर्वान् विचक्षणः ॥१७॥
सर्वात्मभावाय योगो विरागः कार्यः सदैवेति चोक्तौ तु कश्चित् ।
मन्दो विरक्तो ब्रवीत्यत्र तन्नो कृत्वा स्वकर्णे विचारो विधेयः ॥१८॥

इति ह० शब्दसुधायां मनोविस्तारत्यागापारब्रह्मविचारवर्णनं
नामाष्टादशस्तरङ्गः ॥ १८ ॥

मुक्त होगे, तिससे सद्गुरु कहते हैं ॥ १६ ॥ आत्मा को ही समझ कर, मन के विस्तार रूप बहुत अर्थों का चिन्तन नहीं करे, किन्तु विचक्षण (विद्वान्) इन सबको त्यागे ॥ १७ ॥ सर्वात्मभाव (मुक्ति) के लिए योग विराग सदा ही कर्तव्य है, ऐसा कहने पर, कोई मन्द विरल जो कुछ कहता है, सो अपने कान में नही करके (धरके) विचार कर्तव्य है ॥ १८ ॥

अक्षरार्थ- हे अवधू ! (माया वधू के त्यागी–विरक्त ! मन के विस्तार (द्रव्य कुटुम्बादि) को छोड़ो (त्यागो)। उनके अभिमानासक्ति रहित होवो। और सो पद (उस वस्तु) को गहो (जानो भजो) कि जिससे सद्गति (मुक्ति) हो। और तो वस्तु सर्वात्माराम, पारब्रह्म (प्रकृति देवादि) अन्तवाली वस्तु से न्यारा (भिन्न) अगम अपार है। वह अपार ब्रह्म महादेव, मुहम्मद, हरि, हजरत, विशेष नामवाला नहीं है। न अन्य कुछ विशेष नाम रूपवाला है। और आदम ब्रह्मा भी तब (तेरा) सत्य पद नहीं हैं, न धूप छाया आदि सत्य पद हैं। अथवा तब (सत्य पद के गहने पर) आदम ब्रह्मा आदि सत्य नहीं रहते हैं। तथा जब महादेवादि नहीं थे, न आदमादि हो सकते थे, तब भी रहनेवाले अपार पद को गहो, कि जिससे सब भेद रहित मुक्त होगे।

असिया सै (अस्सी सौ) पैगम्बर (यवनों के आचार्य), अठासी हजार मुनि, चन्द्रमा सूर्य तारागण; ये सब भी अपार ब्रह्म रूप वा उसमें नहीं

हैं, न मत्स्य कच्छप दूनी (दोनों) अवतार हैं। या दूनी (दुनियाँ द्वैत) नहीं है। वेद, किताब, स्मृति, संयम; ये सब भी नहीं हैं, न इनकी वहां प्रवृत्ति सत्ता है। न यवन (मुसलमानादि) जाति है, न उससे पर (श्रेष्ठ वा भिन्न) अहिंसक जाति है, न उससे भी स्याही (मलिन) पशु आदि जाति है। न बंग (बाँग), निमाज, कलिमा (कलमा मन्त्र) है। न दशरथ सुतादि रूप राम वहां हैं। न असमानवासी खुदा हैं, उसी पद को गहो, वह सर्वात्मा है, विशेष रूप नहीं है, वह पैगम्बरादि के पहले भी था, उसीके स्मरणादि विचारादि करो।

आदि (आरम्भ—उत्पत्ति), अन्त (समाप्ति—नाश), मन (संकल्पादि), मध्य (बीच पालन), आतस (अग्नि तेज), पवन, पानी; ये सब उसमें नहीं होते हैं। चौरासी लाख योनि के जीव, और जन्तु (तुच्छ प्राणी) भी उसमें नहीं हैं। साखी (प्रमाण) रूप शब्द, और वाणी (वाक) की भी उसमें प्रवृत्ति नहीं होती हैं। न ये सब उसमें प्रथम रहे। साहब कहते हैं कि हे अवधू! श्रवणादि करो, और आगे (ब्रह्मा हिरण्यगर्भ ब्रह्माण्ड) कहाँ से प्रगट हुआ है। या प्रकृति किसकी सत्ता पाकर अनन्त रूप से प्रगट हुई है। और किरतम (कार्य) को किन (किस) ने उपचारा (उत्पन्न—प्रसिद्ध किया) है। तथा पूरण ब्रह्म (सत्यात्मा) कहाँ ते (किन साधनों या सद्गुरुओं से) प्रगट (प्रत्यक्ष) होता है, इत्यादि विचारो, तो सत्य पद को पा सकोगे ॥ ४८ ॥

सच्ची भक्ति और उसका फलनिरूपण प्र० १९

प्रथम कहा गया है कि मोह को त्यागो, और सो पद गहो कि जिससे सद्गति हो। तहाँ जिज्ञासा हुई कि, उस पद को गहने में साधन कौन है, तब कहते हैं कि—

शब्द ॥ ४९ ॥

सन्तो ! भक्ति सतगुरु आनी ।
नारी एक पुरुष दुइ जाया, बूझहु पण्डित ज्ञानी ॥
पाहन फोरि गंग एक निकली, चहुं दिशि पानी पानी ।
ता पानी दुइ पर्वत बूड़े, दरिया लहर समानी ॥

विचारादियुना सत्या भक्तिः सद्गुरुभिर्जने ।
आनीता जगतामेव हिताय कार्यसाधिनी ॥ १ ॥
[1]भक्तिरूपा च नार्येका ह्युभावजनयत् सुतौ ।
ज्ञानवैराग्यनामानौ पुरुषौ शर्मदौ शुभौ ॥ २ ॥
ज्ञायते सा बुधात् सम्यग् लभ्येते तौ च मोक्षदौ ।
अतश्चोपास्य विद्वांसं तां च तौ च लभस्व भोः ॥ ३ ॥
गुरुरूपान्मनोरूपान्महतो वै शिलोच्चयात् ।
विभिद्य भक्तिगङ्गा तं निर्गता जगतीतले ॥ ४ ॥

विचारादि सहित, सच्ची, कार्य को सिद्ध करनेवाली, भक्ति, जगत् प्राणी का ही हित के लिये, सद्गुरुओं से मनुष्य में लाई गई है ॥ १ ॥ भक्ति रूप एक नारी ने ही ज्ञान वैराग्य नामवाले शुभ सुखद पुरुष (पुरुषार्थी समर्थ) दो पुत्र को पैदा किया ॥ २ ॥ वह भक्ति बुध (ज्ञानी) से समझी जाती है । और मोक्षप्रद वे ज्ञान विराग भी बुध से मिलते हैं । इससे विद्वान की उपासना कर के उस भक्ति और ज्ञान विराग को प्राप्त करो हो ॥ ३ ॥ गुरुरूप और मनरूप महान शिलोच्चय

१ 'परोक्षतया ज्ञाते प्रयुक्तो भक्तियोगो वैराग्यपूर्वकमपरोक्षज्ञानं जनयति, भक्तियोगोऽनुरागप्रेमादिशब्देनाप्यभिधीयते, श्रद्धया कृतं श्रवणादिकं भक्तिसंज्ञां लभते नान्यथेति दिक्' ।

उड़ि माँखी तरुवर को लागी, बोलै एकै बानी ।
वहि माँखी को माँखा नाहीं, गर्भ रहा बिनु पानी ॥

नारी सकल पुरुष वहि खायो, ताते रही अकेला ।
कहहिं कबिर जो अबकी समुझै, सोई गुरु हम चेला ॥४९॥

ततः शान्तिस्वरूपं च सुखज्ञानादिलक्षणम् ।
पानीयं सर्वतो व्याप्तं चतुर्दिक्षु समन्ततः ॥ ५ ॥

द्वन्द्वद्वैतात्मकं तेन निमग्नं पर्वतद्वयम् ।
संसाराख्यनदी दीर्घाऽऽविष्टा बोधतरङ्गके ॥ ६ ॥

उड्डीय मक्षिका बुद्धिः संसाराद् द्वन्द्वदुःखतः ।
ब्रह्मण्येव तरौ लग्ना वाणीमेकां च भाषते ॥ ७ ॥

तदा तस्याः पतिर्नान्यो ह्यनात्मा विद्यते क्वचित् ।
अनादिः साक्षिसद्‌गर्भस्तिष्ठत्यस्यां जलं विना ॥ ८ ॥

(पर्वत) से, उस पर्वत का भेदन करके भक्तिरूप गंगा जगतीतल (भूतल) में निर्गत हुई (आई) है ॥ ४ ॥ तिससे शान्तिस्वरूप और सुख ज्ञानादि स्वरूप पानी चारों दिशा में सर्वत्र सब ओर से व्याप्त है ॥ ५ ॥ तिससे द्वन्द्व और द्वैत रूप दो पर्वत निमग्न (डूबे) हैं, और दीर्घ संसार नामक नदी बोध तरङ्ग में प्रविष्ट हुई है ॥ ६ ॥

और बुद्धि रूप मक्षिका, संसार से द्वन्द्व दुःख से उड़ कर, ब्रह्मरूप तरु में ही लगी, और एक वाणी बोलती है ॥ ७ ॥ उस समय उस बुद्धि का अनात्मा रूप अन्य पति भी कहीं नहीं रहता है । और जल (कारण-बिन्दु) के विना इस बुद्धि में अनादि साक्षी स्वरूप सत्य गर्भ स्थिर रहता है (साक्षी का निश्चय रहता है) ॥ ८ ॥ इससे भक्ति नामक एक स्त्री

अतो भक्त्याख्यनार्यैका ह्यनात्माखिलपूरुषान्।
जग्ध्वा ज्ञानादिपुत्राभ्यां[1] तिष्ठत्येका सुखावहा ॥ ९ ॥
यो जनो मानवे देहे कृत्वा भक्तिमनुत्तमाम्।
जानात्यत्रैव सत्तत्त्वं स गुरुः शिष्यता मयि ॥ १० ॥ ४९ ॥

अनात्मा रूप सब पुरुषों को खाय कर, ज्ञान विराग पुत्र के साथ अकेली सुख देनेवाली रहती है ॥ ९ ॥ जो जन मानव देह में सब से उत्तम भक्ति करके यहाँ ही सत्स्वरूप को जानता है, वह गुरु है, और उससे भिन्न मुझ (मनुष्य) में शिष्यता है ॥ १० ॥

अक्षरार्थ—हे सन्तो ! उस पद की प्राप्ति के लिये सद्गुरु ने विचारादि रूप भक्ति को संसार में आनी (लाई) है। और वह भक्ति रूप एक नारी ने ज्ञान विराग रूप दो पुरुष (समर्थ पुत्र को जाया (जन्माया) और जन्माती है, सो ज्ञानी पण्डितों से बूझो (पूछो—समझो। या हे सन्तो ! प्रथम सद्गुरु की भक्ति को अपने दिल में आनि (लाय) कर, जो एक माया रूप नारी, जीव ईश्वर दो पुरुष की जाया (स्त्री) है, वा दोनों को जन्माया है, उसे ज्ञानी गुरु से समझो। तथा भक्ति से पण्डित ज्ञानी बनकर, एक नारी, एक पुरुष दो, उससे जायमान को

१ 'अहं भक्तिरिति ख्याता, इमौ मे तनयौ मतौ। ज्ञानवैराग्यनामानौ कालयोगेन जर्जरौ' ॥ इति भागवतमाहात्म्ये ॥ 'ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः' ॥ मुण्डक० ३।१।८। विवेकज्ञानप्रसादेन शुद्धान्तःकरणो ध्यायमानस्तं पश्यते (लभते) निजात्मत्वेन साक्षात्करोत्यन्याद्दग्-लाभाऽसम्भवात् ॥ 'श्रद्धावांल्लभते ज्ञानम्'। भ. गी. ४।२९ इति श्रद्धाया ज्ञान-हेतुत्वम् ॥ 'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते'। इत्यादौ तु विवेकपरोक्ष-ज्ञानवतो ज्ञानवाञ्छब्देन ग्रहणं बोध्यम्। बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् सन्निति वा भावः ॥

समझो तो अमर पद पावोगे। और सद्गुरु मन रूप पाहन (पापहन्ता वा पहाड़) को फोड़कर, भक्ति शान्तिरूप एक गंगा निकली है। जिससे सब दिशा में पुण्यादि मय पानी हो गया है और होता है। और ता (उसी) पानी से जन्म मरणादि रूप दो २ पहाड़ बूड़े (नष्ट हुए) हैं और संसार नदी समुद्र ज्ञानादि लहर (तरंग) में समाई (लीन हुई) है। (संसारगत ज्ञानादि से जन्मादि संसार निवृत्त बाधित हुआ है)। अथवा कूटस्थात्मा पर्वत से माया का विस्तार रूप गंगा निकली है, जिससे विषयादि पानी सर्वत्र फैला है, उससे जीव साक्षी ब्रह्मात्मा दरिया देहादि लहर में प्रविष्ट है, इत्यादि ॥

अज्ञान से संसार में भटकनेवाली बुद्धि रूप माँखी ज्ञान काल में संसार से उड़कर ब्रह्मात्मा रूप वृक्ष वर में लगी, एक अद्वैत की वाणी बोलने लगी, भेद का अभाव होने से उसका भिन्न माँखा (पति) नहीं रहा, तोभी साक्षी स्वरूप गर्भ पानी (वीर्य-कारण) बिना रहा (निश्चित हुआ)। इस प्रकार भक्ति रूप नारी ने ज्ञानादि द्वारा कामादि रूप अनात्म-रूप सब पुरुषों को खाया (नष्ट किया); तिससे वह अकेली सुखदा रही, और आत्मा अकेला निर्भय रहा। साहब का कहना है कि जो अबकी (इस देह में) भक्ति पूर्वक समझता (ज्ञान पाता) है, सो गुरु है और उससे अन्य हम (विवेकी अधिकारी लोक) चेले (शिष्य) हैं। अथवा देहाभिमानी अज्ञ की बुद्धि, आत्मा से उड़कर संसार तरुवर में लगी है, उसी की एक वाणी बोलती है। इससे गुरु सत्यात्मा पति से रहित है, और सत्योपदेश रूप पानी विना, मिथ्याभिमान रूप गर्भ को धारण किया है। इससे माया रूप एक नारी ने अभिमानी सब पुरुषों को खाई है, और अकेली आदि कुमारी रही है। और अभिमानी को खाती है, इससे विवेकी अभिमान रहित अकेला रहता है, इत्यादि ॥ ४९ ॥

प्रथम कहा गया है कि सद्गुरु ने भक्ति लाई है। तहाँ गुरुभक्ति, देवभक्ति, पितृभक्ति, मातृभक्ति, आत्मभक्ति, परमात्मभक्ति आदि भक्ति के

अनेक भेद हैं; क्योंकि प्रेम सेवा विशेषादि को भक्ति कहते हैं, और हरि शब्द भी वानर सिंह इन्द्र सूर्यादि कैक अर्थ का वाचक है; इससे सद्‌गति के हेतु रूप सर्वात्मा राम हरि की भक्ति (चिन्तन विचारादि) को समझाने के आशय से कहते हैं कि—

शब्द ॥ ५० ॥

आव विआव मुझे हरि (को) नामा। और सकल तजु कौने कामा॥
कहँ तब आदम कहँ तब हौवा। कहँ तब पीर पैगम्बर हूवा॥

भोः साधो ! यदि मुक्तिं त्वमिच्छेः सौख्यं सदातनम्।
हरिभक्तिं कुरुष्वैवमानीतां गुरुभिस्तदा ॥ ११ ॥
सौख्ये दुःखे प्रतिष्ठायामप्रतिष्ठासमागमे।
हरेर्नाम हरिश्चैव सर्वात्मा मे परा गतिः ॥ १२ ॥
स सेव्यो मे प्रभुर्देव आत्मा ब्रह्म सनातनः।
निश्चित्येति जहीह्यन्यत्सर्वं तेन हि किं तव ॥ १३ ॥
उक्ते हि निश्चये जाते त्वादमः कुत्र विद्यते।
कुत्र हव्यवती देवी तयोर्भक्तिः कुतोऽथवा ॥ १४ ॥

हे साधो ! यदि तुम मुक्ति नित्य सुख चाहते हो, तो सद्‌गुरु से लाई हुई भक्ति इस प्रकार करो ॥ ११ ॥ सुख दुःख प्रतिष्ठा में, अप्रतिष्ठा की प्राप्ति में; हरि के नाम और सर्वात्मा हरि ही हमारी उत्तम गति (आश्रय) हैं ॥ १२ ॥ अनादि देव आत्मा ब्रह्म वही प्रभु मेरा सेव्य है, ऐसा निश्चय करके अन्य सब को त्यागो; उससे तुमको क्या फल है ॥ १३ ॥ उस निश्चय के होने पर फिर आदम कहाँ रहते हैं, हव्यवती (उनकी स्त्री) कहाँ रहती है, वा उन दोनों की भिन्न भक्ति कहाँ रहती है ॥ १४ ॥ और

कहँ तब जिमी कहाँ असमाना। कहँ तब वेद कितेब कुराना॥
जिन दुनियाँ महँ रचि मसजीद। झूठा रोजा झूठा ईद॥
साँचा एक अलह को नामा। जाको नय नय करहु सलामा॥

गुरवो यवनानां च तदाचार्याः क्व सन्ति च।
तेषां भक्तिर्गता कुत्र तद्वार्ताऽपि न विद्यते॥ १५॥
द्यावाभूमी च कुत्र स्तो वेदा ग्रन्थाः कुराणकाः।
कुत्र सन्ति न सत्यास्ते दृश्यन्ते क्वापि सज्जनैः॥ १६॥
यैर्ह्यत्र रचितं चित्रं मश्जीदाख्यं सुमन्दिरम्।
तैर्मिथ्यैव च रोजाख्यमीदाख्यं कल्पितं व्रतम्॥ १७॥
अल्लाहाख्यस्य चैकस्य नाम सत्यं तु विद्यते।
विनम्य यस्य युष्माभिरभिवादो विधीयते॥ १८॥
तस्य भक्तिं विनाऽहिंसाविचारादिसमन्विताम्।
स्वर्गः कुतः समायातः कुत्र कस्य च वा कदा॥ १९॥
असमीक्ष्य रहस्यं च यूयं कस्याऽऽज्ञया किल।
कृपाण्या विनिपातं वै कुरुथ प्राणवत्स्वपि॥ २०॥

यवनों के गुरु वा आचार्य कहाँ हैं, उनकी भक्ति कहाँ गई, उसकी बात भी नहीं रही॥ १५॥ स्वर्ग भूमि कहाँ है, वेद ग्रन्थ कुरान कहाँ हैं। वे कहीं भी सज्जनों से सत्य नहीं देखे जाते हैं॥ १६॥

और जिन लोकों से विचित्र मश्जीद नामक सुन्दर मन्दिर यहाँ रचा गया है, उनसे मिथ्या ही रोजा नामक और ईद नामक व्रत कल्पित हुआ है॥ १७॥ और अल्लाह नामक एक का ही नाम सत्य है, कि जिसका अभिवादन (स्तुति) आप विनम्र होकर करते हैं॥ १८॥ अहिंसा विचारादि युक्त उसकी भक्ति विना, किससे कब कहाँ किसको स्वर्ग मिला॥ १९॥ और आप लोक रहस्य को न देख विचार कर, किसकी

कहु दहुं भिस्त कहाँ ते आया । किसकें कहे तुम छूरि चलाया ॥
करता किरतम बाजी लाया । हिन्दु तुरूक की राह चलाया ॥
कहँ तब दिवस कहाँ तब राती । कहँ तब किरतम की उतपाती ॥
नहिं वाकि जाति नहि वाकि पाती । कहहिं कबिर वाकु दिवस
न राती ॥५०॥

कर्तारो हि स्वयं यूयं कार्यं वै शाम्बरीमयम् ।
प्राप्य त्यजथ सद्भक्तिं कल्पयन्तः कुमार्गकौ ॥ २१ ॥
आर्याणां च तुरुष्काणां हिंसाद्वेषादिसंयुतौ ।
अहोरात्रादिभेदेन बहूत्पातसमन्वितौ ॥ २२ ॥
यदा सद्भक्तिरायाति तदा घस्रनिशाभिदा ।
कुतः स्यात्कुत एवाऽत्र कार्योत्पातोऽपि संस्फुरेत् ॥२३॥
सद्भक्तानां न जातेर्वा पङ्क्तेर्वा विद्यते भिदा ।
अहोरात्रप्रभेदो नो ह्यखण्डा भक्तिरद्भुता ॥ २४ ॥
विद्यते ह्यत्र तां भक्तिं साधो ! शृणु समाहितः ।
तया ज्ञानं परं लब्ध्वा बन्धान्मुक्तो भविष्यसि ॥ २५ ॥

आज्ञा से प्राणियों पर कृपाणी का विनिपातन करते हैं (चलाते हैं) ॥२०॥
आप लोक स्वयं कर्ता स्वरूप हैं । परन्तु मायामय कार्य को पाकर, हिंसा द्वेषादि सहित दिन रातादि के भेद से बहुत उत्पात युक्त आर्य और तुरुक के कुमार्गों की कल्पना करते हुए आप सद्भक्ति को त्यागते हो ॥ २१–२२ ॥

जब सच्ची भक्ति आती है, तब दिन रात का भेद किस से हो सकता है, और कार्यरूप उत्पात (विकार) भी यहाँ किससे प्रतीत हो सकता है ॥ २३ ॥ सद्भक्तों को जाति वा पङ्क्ति का भेद नहीं है, न दिन रात का भेद है। अखण्ड भक्ति अद्भुत ही है। हे साधो ! यहाँ उस भक्ति को समाहित (एकाग्र) होकर सुनो, उससे उत्तम ज्ञान पाकर, बन्ध से मुक्त

विज्ञानवैराग्ययोर्हेतुभूता स्वान्ते सदा भाविता पापहन्त्री।
भक्तिर्गुरोर्वाक्यजा सर्वलोके भेदं विधूयातिसौख्यं तु दत्ते ॥२६॥
विद्युद्वच्चञ्चलं तस्मादासाद्येदं कलेवरम्।
भक्तिज्ञानविचाराद्यैरात्मानं रक्ष भद्र! हे ॥ २७ ॥५०॥

इति हनुमद्दासकृतायां शब्दासुधायां सद्भक्तितत्फलवर्णनं नामैकोनविंशतितमस्तरङ्गः ॥ १९ ॥

होगे ॥२४-२५॥ ज्ञान वैराग्य के हेतु रूप, मन में सदा भावित (प्राप्त) होने पर पाप को नष्ट करनेवाली, गुरु वाक्यजन्या भक्ति, सब लोक में भेद को नष्ट करके, अति सुख देती है ॥२६॥ तिससे हे भद्र! विद्युत तुल्य चञ्चल इस देह को पाकर, भक्ति ज्ञान विचारादि से अपनी रक्षा करो ॥२७॥

अक्षरार्थ–हे मनुष्यों! आब (इज्जत–मर्यादा–प्रतिष्ठा) काल में, बिआब (इज्जतादि रहित–दुःखादि) काल में मुझे हरिनामा (हरि नामवाला वा हरि के नाम) से ही काम जरूरत है, ऐसा निश्चय रूप दृढ भक्ति को धारण करके, और (अन्य) सब को त्याग दो; उन से तुझे कौन काम है। और इस निश्चय रूप सच्ची भक्ति होने पर, आदम वा उनकी स्त्री हौवा (हव्यवती) वा अन्य पीर पैगम्बर, कहाँ भिन्न सेव्यादि रह जाते हैं और जिमी (भूमि), असमान (चतुर्थादि सप्तम तक आकाश–स्वर्गादि) कहाँ सत्य रहते हैं। और वेद कुरान पुराणादि भी सत्य फलप्रद नहीं भासते हैं, वा इनकी भिन्न भक्ति कहाँ रहती है। अर्थात् इनकी जरूरत नहीं रहती है, न ये सत्य भासते हैं। किन्तु सर्वत्र सदा हरि ही सत्य दीखने लगते हैं, इत्यादि।

जिन लोकों ने दुनियाँ (संसार) में मसजीद की रचना सिद्ध किया, वे भी पहले कहाँ रहें। उन्होंने मिथ्या ही मसजीद रोजा ईद की कल्पना की है। सर्वात्मा एक अल्लाह को सत्य जानो, उसके नाम को सच्ची भक्ति समझो कि जिसको नय २ (झुक २) कर सलाम (प्रणाम)

करते हो। कहो तो कि दया अहिंसादि युक्त उस अल्लाह की भक्ति बिना, हिंसादिमय रोजा आदि से भिस्त (स्वर्ग) कहाँ से किसको आया (मिला)। और तुम किसकी आज्ञा से अनपराधी प्राणी पर छूरी चलाते हो, अर्थात् स्वादादि वश आज्ञा बिना छूरी चलाते हो, और मिथ्या ही आज्ञा की कल्पना करते हो। तुम स्वयं कर्ता होकर, किरतम (कल्पित-कार्य) रूप बाजी (दाव-माया) को लाया (प्राप्त किया) है। मिथ्या ही हिन्दू तुरुक के भिन्न २ मार्गों को चलाया है। सच्ची भक्ति सच्चा धर्म सब मनुष्य के लिये एक है, उसमें जातिभेद से भेद नहीं है, इत्यादि।

जातिभेद से भिन्न कल्पित भक्तियों में दिन रात के भेद से भेद माना जाता है; परन्तु जब सद्भक्ति की प्राप्ति होती है, तब दिवस कहाँ, और रात कहाँ। अर्थात् दिनादि के भेद से भक्ति में भेद कहाँ और किरतम (कल्पित कार्य) की उतपाती (उत्पत्ति वा द्वन्द्व, उपद्रव) कहाँ हो सकते हैं। हिंसा कलह शरीरादि का अभाव हो जाता है। उस सच्चे भक्त में जाति पङ्क्ति आदि के भेद अभिमानादि नहीं रहते हैं, न दिन रात का भेद रहता है। तथा सदा ज्ञानमय दिवस रहता है। अज्ञान रूप रात्रि नहीं रहती है, इससे सच्चा भक्त, अभिमान रागद्वेषादि रहित होकर, अखण्ड भक्ति से अमर पद सद्गति को प्राप्त करता है इत्यादि ॥५०॥

दया आदि बिना अन्य कर्म निष्फलता प्र० २०

जो प्राणी विवेकादि बिना अपने को देहेन्द्रियादि के समूहरूप समझ कर, विभूति शक्ति विशेषयुक्त दूसरे समूह को ही ईश्वरादि मान कर, उन की भक्ति करते हैं। उक्त सच्ची भक्ति नहीं करते हैं, न अहिंसादि रूप सत्धर्म को धारण करते हैं, उनके प्रति विवेकादि के लिये कहते हैं कि—

॥ शब्द ५१ ॥

अल्लह राम जीवो ! तेरि नाई । जन के मेहर होहु तुम साईं ॥

भो जीव ! यं तटस्थं त्वं भजसे हीशबुद्धितः ।
सदेहं संघसंयुक्तः स त्वयाऽस्ति समः प्रभुः ॥ १ ॥
भिन्नोऽल्लाहस्तथा रामः सादृश्यं ते जहाति न ।
स्वामी विचारदृष्ट्या त्वं जनस्य स्त्री भवस्यहो ॥ २ ॥
अथवा शास्त्रदृष्ट्या ते अल्लाहो राम इत्यपि ।
आख्या वै विद्यते तस्मात् कुरु स्वामी दयां जने ॥ ३ ॥
जनेभ्यश्च दयां कृत्वा स्वामित्वं सफलं कुरु ।
वामात्वं नहि कस्यापि कदापि त्वं समाश्रय ॥ ४ ॥
अल्लाह्रामनाम्नो वा भवानंशो प्रियो यथा ।
तथांशाः सन्ति जीवा हि सर्वे तस्य महाप्रभोः ॥ ५ ॥
इति मत्वा दयावांस्त्वं सर्वोपरि सदा भव ।
सद्भक्तिः कथिता ह्येषा तद्विधौ स्वामितास्ति ते ॥ ६ ॥

हे जीव ! जिस तटस्थ (भिन्न) सदेह (देह सहित) को ही ईश्वर बुद्धि से भजते हो, वह संघ संयुक्त प्रभु तेरे तुल्य ही है ॥ १ ॥ भिन्न अल्लाह तथा राम तेरी तुल्यता को नहीं त्यागता है, और विचार दृष्टि से सर्वात्मा स्वरूप तुम स्वयं स्वामी हो, परन्तु आश्चर्य कि किसी जनविशेष की स्त्री तुम होते हो ॥ २ ॥ अथवा शास्त्र दृष्टि से तेरा अल्लाह राम यह भी आख्या (नाम) है, तिससे स्वामी स्वरूप तुम जन विषयक दया करो ॥ ३ ॥ और जनों के प्रति दया करके स्वामिता को सफल करो, और किसी के वामात्व (स्त्रीत्व) को कभी तुम नहीं ग्रहण करो ॥ ४ ॥ या जैसे आप अल्लाह राम नामवाले का अंश प्यारा हो, तैसे ही उस प्रभु के सब जीव अंश हैं ॥ ५ ॥ इस बात को मान कर तुम सबके ऊपर सदा दयावान् होवो, यह सच्ची भक्ति कही गई है। उस भक्ति के

क्या मुंडी भूमी शिर नाये, क्या जल देह नहाये।
खून करहु मिसकीन कहावहु, अवगुण रहहु छिपाये॥

साधुत्वं प्राप्यते भक्त्या स्वामित्वं चैव सत्तमम्।
नानया तु विना किञ्चित् प्राप्यते सत्फलं क्वचित्॥ ७॥
मुण्डनाच्छिरसो भूमौ नयनात्स्नानतो जलैः।
किं फलं स्यान्न यावद्धि दयौदार्यादिसज्जलैः॥
हृदयं क्षाल्यते सम्यक् तावदन्यन्निरर्थकम्॥ ८॥
अहो दयां विना हिंसा त्वयाऽत्र क्रियतेऽबुध!।
तथापि दीनदासादिर्मस्करी वाऽभिधीयते॥ ९॥
सद्भक्तादिसुवेषेण संछाद्यावगुणान् स्वकान्।
पूज्यसे ह्यत्र लोकैस्त्वं तन्न साधुकरं तव॥ १०॥
दयां विना हि किं स्यात्त ऊज्जूनाम्नाऽपि कर्मणा।
जपेन स्नानतो वापि नमस्कारेण मस्जिदे॥ ११॥

विधि (विधान) में तुम्हे स्वामिता है॥ ६॥ भक्ति से साधुता मिलती है, और श्रेष्ठ स्वामित्व मिलता है। इसके विना कोई भी सच्चा फल कहीं नहीं मिलता है॥ ७॥

शिर को मुड़ाने से, उसे भूमि में ले जाने से, जलों से नहाने से क्या फल होगा। जबतक उदारता आदि रूप सत्य जल से हृदय अच्छी तरह नहीं धोया जाता तबतक अन्य सब निरर्थक है॥ ८॥ हे अबुध! (अज्ञ!) दया विना तुम यहाँ हिंसा करते हो, और तो भी दीन (भीत–गरीब) दास (भक्त) आदि, और मस्करी (भिक्षु-संन्यासी साधु) कहाते हो, सो आश्चर्य है॥ ९॥ श्रेष्ठ भक्तादि के सुन्दर वेष से अपने अवगुणों को ढांप कर, यहां तुम लोकों से पूज्य होते हो, सो तेरे लिये साधुकर (शोभनकारक) नहीं है॥ १०॥ दया के विना तेरे ऊज्जू नामक कर्म, जप स्नान से या मसजीद में जाकर किसी के नमस्कार से तुझे

क्या ऊज्जू जप मज्जन कीये, क्या मसजिद शिर नाये।
हृदया कपट निमाज गुजारहु, क्या हज मक्का जाये॥
हिन्दु एकादशि करै चौविशो, रोजा मुसलमाना।
ग्यारह मास कहो किन टारे, एके मांह न आना॥

हृदयं चेन्न संशुद्धं कपटं वर्ततेऽत्र चेत्।
किं निमाजैर्व्रतेन स्यात्पाठेन वा भवेत् किमु॥ १२॥
मक्कां गत्वा भवेत् किं वा तीर्थाटनविधानतः।
यावन्न हृदयं शुद्धं तावत्सर्वं निरर्थकम्॥ १३॥
दयां भक्तिमनादृत्य व्रतान्येकादशीषु ये।
चतुर्विंशतिमार्या वा कुर्वते यवनास्तथा॥ १४॥
रोजाव्रतं न सद्धर्मं दयाऽहिंसादिलक्षणम्।
नित्यं ते कुर्वते येन स्वर्गो मोक्षश्च लभ्यते॥ १५॥
कुर्वन्तो मासमात्रं ते व्रतान्येवं हरिं जनाः।
सेवन्ते तद्दिनान्याहुर्हरेर्नान्यदिनानि तु॥ १६॥

क्या फल होगा॥ ११॥ यदि हृदय अच्छी तरह शुद्ध नहीं हुआ। यदि इसमें कपट है, तो निमाजों से, व्रत से वा पाठ से क्या होगा॥ १२॥ वा मक्का जाकर तीर्थान के विधि से क्या होगा, जब तक हृदय शुद्ध नही है, तब तक सब निरर्थक है॥ १३॥

जो आर्य लोक दया और सत्य भक्ति का अनादर करके एकादशी तिथियों में चौविस व्रत करते हैं, तथा यवन लोक रोजा व्रत करते हैं, और वे लोक दया अहिंसादि रूप सत्य धर्म सदा नहीं करते हैं कि जिससे स्वर्ग और मोक्ष मिलता है॥ १४-१५॥ वे लोक एक मास भर इस प्रकार व्रत करते हुए हरि को सेवते (भजते) हैं। और उन एकादशी रोजा के दिनों को ही हरि (ईश्वर) के दिन कहते हैं, अन्य दिनों को

जो खुदाय मसजीद वसत है, और मुलुक किहि केरा।
तीरथ मूरति राम निवासी, दुइ महँ किनहुं न हेरा॥

अहो बाला न पश्यन्ति कस्यान्ये सन्ति वासराः।
एकादश हि मासांश्च योगक्षेमौ करोति कः॥ १७॥
कथयन्तु भवन्तोऽत्र चिन्तयित्वाऽर्थमुत्तमम्।
एकादशापि मासान् को यापयत्यन्य ईश्वरात्॥ १८॥
सदाऽसौ प्रभुरासेव्यः स एव सर्वकृत्सदा।
व्यापको न क्वचिद्देशे सर्वज्ञो वर्ततेऽन्यवत्॥ १९॥
मस्जिदेऽस्ति परात्मा चेदन्यदेशोऽस्ति कस्य वै।
तीर्थे मूर्तौ च रामश्चेदन्यत्र रमते हि कः॥ २०॥
हरिमेकत्र मन्वाना आर्या वा यवनाः खलु।
पश्यन्ति नोभये तत्त्वं नान्ये केऽपि पृथग्धियः॥ २१॥

नहीं कहते॥ १६॥ आश्चर्य है कि ये बाल (मूर्ख बालक) यह नहीं देखते कि अन्यदिन किसके हैं। और ग्यारह मास ईश्वर विना संसार का योग क्षेम कोन करता है॥ १७॥ आप सब उत्तम अर्थ का यहां विचार करके कहो कि ईश्वर से अन्य कौन ग्यारह मास को योगक्षेम द्वारा वीताता है॥ १८॥ वही प्रभु सदा अच्छी तरह सेव्य है, वही सदा सब करनेवाला है। व्यापक सर्वज्ञ ईश्वर किसी एक देश में अन्य के समान नहीं रहता है॥ १९॥

यदि परमात्मा मसजीद में ही है, तो अन्य देश किस का है, और तीर्थ मूर्ति में ही राम है, तो अन्यत्र कौन रमता है॥२०॥ हरि (परमात्मा) को एक जगह माननेवाले हिन्दू यवन दोनों वा अन्य पृथक् (नाना) बुद्धिवाले कोई तत्त्व (सत्य स्वरूप) को नहीं देखते हैं॥२१॥ पूर्व दिशा में हरि के वास हिन्दू मानते हैं, और यवन अल्लाह

पूरब दीशा हरि के बासा, पश्चिम अलह मुकामा।
दिल महँ खोज दिलहिं में खोजो, यहैं करीमा रामा॥

शंका हुई कि हिन्दू यवनादि क्या करें, वेद किताबादि में ही झूठी बात है कि जिसमें विश्वास से सब भटक जाते हैं, और हिंसादि करते हैं इत्यादि। तब कहते हैं कि–

वेद कितेब कहो किम झूठा, झूठा जो न विचारै।
सब घट एक एक करि लेखै, भी दूजा कहि मारै॥
जहँ लगि जग महँ रूप उपानो, सो सब रूप तुम्हारा।
कबिर पोंगरा अलह रामका, सो गुरू पीर हमारा॥५१॥

हरेर्वासं हि पूर्वस्यां मन्यन्ते दिशि चार्यकाः।
प्रतीच्यां यवनाश्चैवमल्लाहमपि मन्वते॥ २२॥
भोः साधो! हृदये स्वस्य रामश्च केशवो हरिः।
अन्विष्यतां विचाराद्यैरत्रापि वर्तते प्रभुः॥ २३॥
हरेश्च मन्दिरं विद्धि सर्वस्य हृदयं परम्।
तन्न कम्पय कुत्रापि त्रिधा तं पूजयाऽत्र च॥ २४॥
वेदान् ग्रन्थान् कथं केऽपि मिथ्यात्वेन वदन्तु वै।
स एवासत्यभाषी यो विचारं कुरुते नहि॥ २५॥

को पश्चिम में मानते हैं॥२२॥ परन्तु हे साधो! अपने हृदय में ही राम केशव हरि को विचारादि से खोजो। वह प्रभु यहाँ भी रहता है॥२३॥ सब के हृदय को हरि का उत्तम मन्दिर जानो। उस मन्दिर को कहीं नहीं कँपावो (दुखावो)। यहां ही उस हरि को मन वचन कर्म से त्रिधा पूजो॥२४॥

कोई भी वेदों ग्रन्थों को मिथ्या रूप से कैसे कहे, वही असत्यभाषी

सर्वयोनिषु देहेषु ह्येकं ज्ञात्वापि वेदतः।
विचारेण विना भेदमीक्षन्ते मूढबुद्धयः ॥ २६ ॥
भेदं दृष्ट्वा तु मोहेन लोलुपो मानवः कुधीः।
मुधा मारयते जन्तून् भ्रंशते नरके ततः ॥ २७ ॥
जायन्ते जन्तवो येऽत्र त्रिषु लोकेषु केचन।
ते सर्वे त्वत्स्वरूपा वै दृश्यन्तां ज्ञानचक्षुषा ॥ २८ ॥
आत्मौपम्येन सर्वत्र सुखं दुःखं च दृश्यताम्।
दयामैत्र्यादिभावेन चित्तं स्वं परिशोध्यताम् ॥ २९ ॥
रामरूपो हि यो बुद्धः शुद्धो रागादिवर्जितः।
सैवं मेऽस्ति गुरुः स्वामी सर्वथा पूज्य एव मे ॥३०॥५१॥

(झूठा) है, जो विचार नहीं करता है ॥ २५ ॥ वेदादि से सबयोनि देह में एक परमात्मा को जान कर भी मूढबुद्धिवाले विचार विना भेद देखते हैं ॥ २६ ॥ और मोह से भेद को देखकर लोलुप (अतिलोभी) कुबुद्धि मनुष्य व्यर्थ जन्तुओं को मारते हैं, तिससे नरक में गिरते हैं ॥ २७ ॥ यहाँ तीनों लोक में जो कोई जन्तु जन्मते हैं, वे सब तेरे स्वरूप हैं, ज्ञान नेत्र से वे देखे जा सकते हैं ॥ २८ ॥ अपनी आत्मा की उपमा के भाव से सर्वत्र सुख और दुःख देखो, और दया मित्रता आदि की भावना से चित्त को खूब शुद्ध करो ॥२९॥ रागादि रहित शुद्ध जो बुद्ध (ज्ञानी) हैं वे ही मेरा गुरु स्वामी और सर्वथा मेरा पूज्य ही है ॥३०॥

अक्षरार्थ– हे जीवो ! तटस्थ अल्लाह राम तेरि नाईं (तेरे समान) है। या विचार दृष्टि से तेरी आत्मा का ही अल्लह राम नाईं (नाम) है। इससे तु साईं (स्वामी) समर्थ हो, जनों के ऊपर मेहर (दयावान) होवो। या स्वामी होते भी अज्ञानवश किसी जन के मेहर (मेहरी–स्त्री) होते हो। या हे साईं (फकीरों !) तेरे ही समान सब जीव अल्लह राम के अंश प्यारा हैं, इससे इनको अल्लाह राम जान कर दयावान् होवो, इत्यादि ॥

यदि दया सच्ची भक्ति नहीं हुई, तो मुंडी (मुण्डित) होने से, मुण्डित शिर को भूमि में नाय (झुकाने) से क्या हो सकता है, तथा जल से देह को नहाये (धोने) से क्या फल है। आश्चर्य है कि अनपराधी गरीब का ख़ून करते हो, और मिसकिन (दीन दास) आदि कहाते हो, और हिंसा आदि अवगुणों को भक्तादि के वेषों से छिपाये रहते हो। और ऊज़ू (हाथ पैर धोना, मुख को साफ करना) मन्त्र का जप, मज्जन (देह की शुद्धि) से भी दयादि विना क्या सच्चा फल है। तथा मसजीद के तरफ शिर नँवाने से क्या है। और हिंसा क्रूरता आदि के कारण रूप कपट के हृदय में रहते यदि निमाज गुजारते (करते) हो, और मक्का में जाकर हज्ज (पवित्र वस्त्र धारणपूर्वक काबा की परिक्रमा बलिदानादि तीर्थाटन विधि) करते हो, तो इन सब से भी दया निश्छलता आदि विना क्या हो सकता है।

हिन्दू एकादशी तिथि को भगवान के दिन जान कर साल (वर्ष) में चौबीस एकादशी व्रत करते हैं। मुसलमान रोजा के दिनों को खुदा के दिन मानकर रोजा करते हैं, तहां साहब कहते हैं कि ग्यारह मास किसने टारा (रक्षा आदि करके विताया), किनके प्रताप से ग्यारह मास योग क्षेम हुए सो कहो, और समझो। तेरी समझ के अनुसार एक माह (मास) ईश्वर का हुआ, और आन (अन्य) मास ईश्वर के नहीं हुए। और ऐसा होना उचित नहीं है। तिससे सब दिन मास को ईश्वर का समझ कर सदा सच्ची भक्ति करना उचित है।

मुसलमान मसजीद को खुदा का घर मानते हैं, हिन्दू तीर्थ की मूर्ति आदि में रामादि को मानते हैं, और दोनों मसजीदादि के लिये, परमात्मा के घर मूर्ति रूप प्राणी को नष्ट करते हैं; इससे कहते हैं कि यदि खुदाय मसजीद में बसते हैं, वह उनका घर है। और तीर्थ तथा मूर्ति में राम बसते हैं, तो और (अन्य) मुलुक (देश-संसार) क़िसका है, सब देशादि का प्रेरक पालक स्वामी दूसरा कौन है। इस बात को अज्ञ हिन्दू

यवन दोनों में से किनहु (किसीने) नहीं हेरी (खोजा विचारा) या नहीं देखा। और हिन्दू पूर्व क्षीरसागरादि को हरि का वास मानते हैं, तुरुक पश्चिम मक्का आदि में अल्लाह का मुकाम (स्थान) मानते हैं। साहब कहते हैं कि सच्चा करीमा (दयालु-ईश्वर) और राम (विभु परमात्मा) को अपने २ दिल (हृदय अन्तःकरण) में ही खोजो, सब प्राणी के दिल में उसे समझो, वह यहाँ ही है, या उसके मिलने का खोज (मार्ग) दिल में ही है, इससे दिल ही में उसे ढूंढो, यहाँ ही मिलेगा; यदि दिल को साफ दयादि युक्त रखोगे। अन्यथा कहीं नहीं मिल सकता, इत्यादि।

वेद किताब को किम (कैसे) झूठ कहा जाय। झूठा वह है, जो विचार नहीं करता है। और विचार विना एक आत्मा अहिंसादि सत्य धर्म को नहीं समझता है। और विचार विना ही, जो सब घटों में एक राम को एक करके वेदादि से जानता है, सो भी दूजा (भिन्न) कह कर मारता है। तथा सब घट एक २ जीव को अपने समान जानता है, तोभी दूसरे प्रकार के कह कर मारता है। साहब का कहना है कि जहँ लगि (जहाँ तक) संसार में रूप (मनुष्यादि आकार) उपानो (उत्पन्न हुए) हैं; वे सब तेरे ही रूप हैं (सब में तेरी आत्मा है), सब में एकसा सुख-दुःखादि है। ऐसा समझ विचार कर दया आदि करो। और जो अल्लाह राम के पोंगरा (साक्षात् अंश पौगण्ड समर्थ स्वरूप) ज्ञानी महात्मा हैं, सो हमारे गुरु पीर हैं, इत्यादि।

इस शब्द में, जन के मेहर, का, जिन पर मेहर-जन पर मेहर। अत्रगुण रहहु, का, गुण ही रहहु। कहो किम, का, कहो किन; ये पाठान्तर हैं। वेदादि को किन हेतुओं से मिथ्या कहा जाय। वा किन लोकों ने वेदादि को झूठा कहा है। कोई सत्पुरुष वेदादि को सर्वथा झूठा नहीं कहा है; किन्तु विचार रहित झूठा है, विचारवान एक आत्मा को एकसा

सर्वत्र देखता है, और भी (भय) दूजा (द्वैत) रूप कही गई वस्तु को मारता (चित्त से हटाता) है, द्वैत भाव को भय रूप जान कर उसे नष्ट करता है, इत्यादि अन्तिम पाठ भेद पक्ष में अर्थ है। अन्य का स्पष्ट अर्थ है ॥ ५१ ॥

प्रथम सब घटवासी राम के विचारादि रूप सच्ची भक्ति का वर्णन हुआ है, और अहिंसा दया आदि विना अन्य कर्मों को निरर्थक कहा गया है। तहां यदि अज्ञान असामर्थ्यादि से सच्ची भक्ति आदि नहीं हो सके तो मनुष्य अल्प दोष का भागी होता है, और जान कर भी प्रमाद करनेवाला महान दोषी नरकगामी होता है, इत्यादि आशय से कहते हैं कि—

शब्द ॥ ५२ ॥

रामहिं गावै औ (रहिं) समुझावैं। हरि जानै बिनु विकल फिरै ॥
जा मुख वेद गायत्री उचरे, जाके बचन संसार तरै।
जाके पाँव जगत उठि लागे, सो ब्राह्मण जिव बद्ध करै ॥

यो गायति तटस्थं तं रामं बोधयते परम्।
हरेर्ज्ञानं विना सोऽपि घूर्णते विकलो भवे ॥ ३१ ॥
ज्ञानहीनस्य यस्याऽत्र मुखाच्च श्रूयते श्रुतिः।
यः श्रावयति गायत्रीमुच्चार्य विधिवज्जनान् ॥ ३२ ॥

जो तिस (प्रसिद्ध) तटस्थ (भिन्न) राम (ईश्वर) को स्वयं गाता है, राम की शक्ति आदि का वर्णन करता है, और पर (अन्य) को भी समझाता है, सो भी सर्वात्मा हरि के ज्ञान विना विकल (व्याकुल–शुभ रहित) होकर संसार में घूमता है ॥ ३१ ॥ सर्वात्मा के ज्ञान रहित जिसके मुख से यहां वेद सुनते हैं, जो विधिवत् उच्चारण करके मनुष्यों को गायत्री मन्त्र सुनाता है ॥ ३२ ॥ और बहुत

अपने ऊँच नीच घर भोजन, घीन करम हठि उदर भरै ।
ग्रहण अमावस ढुकि ढुकि माँगे, कर दीपक लिय कूप परै ॥

मुक्तिं यद्वचनाच्चैव मन्यन्ते बहुमानवाः ।
सम्पत्तिं चैव संसिद्धिं सर्वत्रैव च सर्वदा ॥ ३३ ॥
उत्थाय यस्य पादौ च स्पृशन्ति स्वान्तशुद्धये ।
अहो स ब्राह्मणो जीवान् हिनस्ति ज्ञानमन्तरा ॥ ३४ ॥
जीवघातं महत् पापं यः करोति विमूढधीः ।
तं मूढो मानवः पूज्यं ब्राह्मणं मन्यते मुधा ॥ ३५ ॥
स्वयं च श्रेष्ठमानी सन् नीचानां पापिनां गृहे ।
भुङ्क्ते मोहात्कदन्नं स मांसादि स्वगृहे तथा ॥ ३६ ॥
कर्मणा गर्हितेनाथ साहसेन हठेन च ।
उदरं भरते चाऽयमुदरंभर्यपि द्विजः ॥ ३७ ॥
राहुस्पर्शेऽप्यमायां च प्रविश्याविश्य सर्वतः ।
प्रतिग्रहं स गृह्णाति सदा सद्भिर्विगर्हितम् ॥ ३८ ॥

मनुष्य जिसके वचन से ही पापादि से मुक्ति मानते हैं, और सम्पत्ति भी मानते हैं, तथा सर्वत्र सदा ही सम्यक् सिद्धि मानते हैं ॥ ३३ ॥ और मन की शुद्धि के लिये, उठ कर जिसके पैर छूते हैं। आश्चर्य है कि सो ब्राह्मण भी ज्ञान विना जीवों की हिंसा करता है ॥ ३४ ॥ जो विमूढ बुद्धिवाला जीवघात रूप भारी पाप करता है, मूढ मनुष्य उसको पूज्य ब्राह्मण व्यर्थ मानता है ॥ ३५ ॥

और स्वयं श्रेष्ठता का अभिमानी होकर, नीच पापियों के घर में कुत्सित अन्न वह मोह से खाता है, तथा अपने घर में मांसादि खाता है ॥ ३६ ॥ गर्हित (निन्दित) कर्म और साहस (दुष्कर कर्मादि) हठ से उदरपोषी द्विज भी उदर भरता है ॥ ३७ ॥ राहु स्पर्श (ग्रहण) काल में और अमा (अमावस्या) में सर्वत्र प्रवेश आवेश करके सत्पुरुषों से विगर्हित (निन्दित) प्रतिग्रह का भी वह सदा ग्रहण करता है ॥ ३८ ॥

एकादशि व्रतक मर्म न जानै, भूत व्रत हठि हृदये धरै ।
तजि कपूर गाँठी विष बाँधै, ज्ञान गमाये मुग्ध फिरै ॥

शास्त्रदीपं करे धृत्वा भवकूपे स दुर्मतिः ।
पतत्येव नचात्मानं त्रायते स कुतो जनान् ॥ ३९ ॥

एकादशीव्रतस्यायं रहस्यं बुध्यते नहि ।
अहिंसादिमयं शुद्धं दयादान्त्यादिसंयुतम् ॥ ४० ॥

भूतव्रतं सदाऽशुद्धं धत्तेऽयं हृदये हठात् ।
अतस्त्यक्त्वैव कर्पूरं बध्नातीव विषं पटे ॥ ४१ ॥

अतो विस्मृत्य सत्तत्त्वं हित्वा ज्ञानसुरत्नकम् ।
भ्राम्यत्येव भवे मुग्धः क्षुब्धः क्षुब्धे यथार्णवे ॥ ४२ ॥

मोहाद् बडिशमांसं हि जग्ध्वा मत्स्यो विनश्यति ।
यथा तथाऽयमज्ञोऽपि मृत्योर्मृत्युमुपैति हि ॥ ४३ ॥

वह दुर्बुद्धि शास्त्ररूप दीप को हाथ में धर कर भी भवकूप में स्वयं गिरता ही है, अपनी आत्मा की रक्षा नहीं करता है; अन्य जनों की रक्षा वह किससे करेगा ॥ ३९ ॥

अहिंसादिमय दया दान्ति (दम) आदि संयुक्त शुद्ध एकादशी व्रत के रहस्य (मर्म) को यह नहीं समझता है ॥ ४० ॥ सदा अशुद्ध भूतव्रत (प्रेतव्रत) को यह हठ से हृदय में धरता है; इससे मानो कपूर को त्याग कर, विष को पट में बांधता के समान है ॥ ४१ ॥ इसीसे सत्स्वरूप को भूलकर, ज्ञानरूप सुरत्न को त्याग कर, क्षुब्ध (चञ्चल) अर्णव (समुद्र) तुल्य भव (संसार) में क्षुब्ध वह मुग्ध (अविवेकी) भ्रमता ही है ॥ ४२ ॥ मछली मोह से बडिश के मांस को खाकर जैसे नष्ट होती है, तैसे ही यह अज्ञ भी मृत्यु से मृत्यु को पाता ही है ॥ ४३ ॥

छीजै साहु चोर प्रतिपालै, सन्त जना से कूट करै ।
कहहिं कबिर जिह्वा के लम्पट, यहि विधि ब्राह्मण नरक परै ॥५२॥

नश्यन्ति श्रेष्ठिनस्तेषां रक्षां मूढः करोति न ।
चौरान् पालयते यत्तः सद्भ्यः कूटं करोति च ॥ ४४ ॥
जिह्वाया वशगो विप्रो लम्पटो विधिनाऽमुना ।
भ्रंशते नरकेऽवश्यं त्राता कोऽपि भवेन्नहि ॥ ४५ ॥
हेयोपादेयतत्त्वज्ञास्त्यक्तान्यायपथागमाः ।
जितेन्द्रियमनोवाचः सदाचारपरायणाः ॥ ४६ ॥
नियमस्थाः क्रियाशुद्धाः समाधिस्था हतक्रुधः ।
असङ्गा विमदाः शान्ताः सर्वप्राणिहितैषिणः ॥ ४७ ॥
निर्ममा निरहंकारा दानशूरा दयापराः ।
उत्तरन्ति भवाब्धिं ते ब्रह्मनिष्ठा विमत्सराः ॥ ४८ ॥

इति हनुमदासकृतायां शब्दसुधायां दयादिविनाऽन्यकर्मनैष्फल्यादिवर्णनं नाम विंशतितमस्तरङ्गः ॥ २० ॥

शेठ साहु नष्ट होते हैं, उनकी रक्षा मूढ नहीं करता है, यत्त (सावधान) होकर चोरों को पालता है । सत्पुरुषों के प्रति कूट (माया दम्भादि) करता है ॥ ४४ ॥ जिह्वा का वशगामी, लम्पट (अजितेन्द्रिय) विप्र इस विधि (प्रकार) नरक में अवश्य गिरता है, उसका कोई रक्षक नहीं होगा ॥ ४५ ॥ भविष्य पुराण १ । ४४ में कुछ भेद सहित आगे के वचन हैं कि, त्याग ग्रहण के योग्य तत्त्व को जाननेवाले, अन्याय मार्ग के आगमके त्यागी, इन्द्रिय मन वाक् को जीतनेवाले, सदाचार में तत्पर, शौचादि नियम में स्थिर, क्रिया से शुद्ध, समाधिस्थ, क्रोध रहित, असङ्ग, मदरहित, शान्त, सब प्राणी के हितैषी, ममता अहंकार रहित, दान में शूर, दया परायण, ब्रह्मनिष्ठ, मत्सर रहित जो होते हैं, सो विप्र भवाब्धि तरते हैं ॥ ४६, ४७, ४८ ॥

अक्षरार्थ– जो तीर्थ मूर्ति आदि मात्र वासी राम को गाता है, अन्य को समझाता है; सो सर्वात्मा पापजन्मादि हर्ता सुखशान्ति दाता हरि गुरु को जानने विना विकल (व्याकुल) हुआ फिरता है, अर्थात् जैसे मुण्डितादि होने से ज्ञानादि विना कुछ नहीं होता, तैसेही राम के गाने समझाने जाति आदि से भी ज्ञानादि विना कल्याण नहीं होता है। और जिसके मुख से वेद गायत्री आदि पवित्र वचनों का उच्चारण होता है, जिसके वचन से संसार तरता है (तरने की आशा करता है); इसीसे सब लोक उठकर जिसके पाँव लगते (प्रणाम करते) हैं। आश्चर्य है कि सो ब्राह्मण हरि के ज्ञान विना जीवों का वध करता है।

और अपने ऊँचपन का अभिमान रख कर भी नीचों के घर में, या नीच वस्तु मांसादि का अपने घर में भोजन करता है। तथा घीन (घृणित-निन्दित) कर्मों से, हठादि से पेट भरता है। और ग्रहणादि के दानों को निषिद्धादि जान कर भी, ग्रहण अमावस्या आदि कालों में गृहतीर्थादि में ढुक २ (घुस २) कर दान मांगता है; इससे मानो शास्त्र-दीप को हाथ में लिये रहने पर भी कुकर्म नरकादि कूप में गिरता है, राम को और दूसरे को समझाना, गाना भी जारी रखता है, सो आश्चर्य है।

वह हिंसक पवित्र एकादशी व्रत का मर्म (अहिंसादिमय भेद) को नहीं जानता है। अहिंसा दया आत्मेश्वर चिन्तन में प्रवृत्ति, धीरे २ इन्द्रियों के निरोधादि में उसके तात्पर्य को नहीं समझता है। किन्तु अशुद्ध भूतप्रेतादि के व्रतों को हठपूर्वक हृदय में धरता है, तथा पांचभूत-मय देह के पोषणादि रूप व्रत को धारण करता है; इससे सात्विक कर्मादि रूप कपूर को त्याग कर, राजस तामस कर्म विषयादि रूप विष को ही गांठी (हृदय) में बाँधता है। इसीसे ज्ञान (विवेक) को गमाय कर मुग्ध (मूर्ख-अविवेकी) हुआ फिरता है।

साहु (सज्जन-शेठ) छीजता (नष्ट होता) है, तो उसकी रक्षा वह

ज्ञान रहित मुग्ध नहीं करता है। और चोरों का प्रतिपालन करता है। और सन्त जनों से कूट (माया-मसखरी) करता है। इससे इस प्रकार वह जिह्वा का लम्पट (स्वादादि परायण) नरक में पड़ता है। प्रसंग से ब्राह्मण का नाम लिया गया है। इस प्रकार के आचरण वाले सब नरकगामी होते हैं। सद्भक्ति जिह्वा आदि की वशिता से तरते हैं, यह भाव है ॥५२॥

—•—
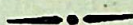
विचारादि विना हिंसादम्भादि प्रकरण २१

हरि के ज्ञान तथा सत्पुरुषासत्पुरुष शुद्धाशुद्ध के विवेकादि विना, जो कोई सदाचारी सत्पुरुष में भी किसी जातिविशेष की दृष्टि से छूत मानते हैं। और सदाचारादि रहित असत् अशुद्ध पुरुष को भी जाति-विशेषादि मात्र से पवित्र मानते हैं; सच्चे शौचादि को नहीं समझते, न अहिंसक वैष्णवादि की पवित्रता को जानते हैं, न दिव्यात्मा आदि को पहचानते हैं। इससे निष्फल छूतादि के अधिक प्रपञ्च में पड़कर स्वयं दुःखी होते हैं। और अन्य को दुःखी करते हैं; उन से कुछ कहते हुये, पूर्व शब्द वर्णित(छीजै साहु) इत्यादि को ही स्पष्ट करते हैं कि—

॥ शब्द ५३ ॥

पाँड़े बूझि पियहु तुम पानी ।
जा मटिया के घर महँ बैठे, ता महँ सृष्टि समानी ॥

पण्डिता ! भोः सुपृच्छ्यैव भवद्भिः पीयते जलम् ।
अशौचाऽऽशङ्कया तस्मादपि हिंसाविवर्जितात् ॥ १ ॥

हे पण्डितों ! आप लोक अशौच (अशुद्धि) की शंका (संदेह) से, उस प्रसिद्ध अहिंसक से भी शंका से उसकी जाति पूछ करके ही जल

छपन कोटि जहँ यादव भींजे, मुनि जन सहस अठासी ।
परग परग पैगम्बर गाड़े, सो सब सरि भौ माटी ।
ता मटिया के भाँड़े पाँड़े, बूझि पियहु तुम पानी ॥
मच्छ कच्छ घरियार बियाने, रुधिर नीर जल भरिया ।
नदिया नीर नरक बहि आई, पशु मानुष सब सरिया ॥

यत्कार्ये स्थीयते गेहे तत्राविष्टं जगत् खलु ।
विनष्टा यादवा यत्र षट्पञ्चाश कोटयः ॥ २ ॥
अष्टाशीतिसहस्राणि मुनयः संगता यतः ।
निखाता यवना यत्र पैगम्बरपदाङ्किताः ॥ ३ ॥
मृद्भावं सर्वमापन्नं शरीरं गतजीविनाम् ।
तन्मृदा क्रियते भाण्डं पृष्ट्वा तत्पीयते जलम् ॥ ४ ॥
मत्स्याद्याः कच्छपा यत्र ह्यण्डं रुधिरसंयुतम् ।
सुवते तज्जलं लोकैर्ध्रियते स्वात्मशुद्धये ॥ ५ ॥
पशवो मानवा यत्र मृत्वा सृत्वा मिलन्ति वै ।
तस्या नद्या जलं नूनं नरकः स्यन्दते त्वधः ॥ ६ ॥

पीते हो ॥ १ ॥ और जिस माटी के कार्यरूप घर में आप रहते हो उस मिट्टी में ही सब जगत आविष्ट (प्रविष्ट) है । छप्पन कोटि यादव (यदुवंशी) जिस भूमि में विनष्ट हुए ॥ २ ॥ अठासी हजार मुनि जिस में संगत हुए (मर कर मिले)। पैगम्बर पद (शब्द) से अङ्कित (भूषित) यवन जहां गाड़े गये ॥ ३ ॥ विनष्ट जीवन (आयुः) वालों का सब शरीर माटी रूपता को प्राप्त हुआ है । और उसी मिट्टी से भाण्ड (घटादि) पात्र किया जाता है, और उसी के उस जल को पूछ कर पीते हो ॥ ४ ॥

जिस जल में मछली आदि और कछुआ रुधिर सहित अण्डा पैदा करते हैं । उस जल को लोक आत्मशुद्धि के लिये धारण करते हैं ॥ ५ ॥ पशु मनुष्य मर कर जाकर जिसमें मिलते हैं, उस नदी का जल नरक

हाड़ झरी झरि गूद गली गलि, दूध कहाँ से आया ।
सो लै पांड़े जेवन बैठे, मटियहिं छूत लगाया ॥
वेद कितेब छाड़ि दहु पाँड़े, ई सब मन के भरमा ।
कहहिं कबीर सुनहु हो पाँड़े, ई सब तोहरे करमा ॥५३॥

अस्थ्नां च संधितो गत्वा मांसानां संधितः स्रवत् ।
दुग्धमायाति तत् कस्माद् भवद्भिश्चिन्त्यते नहि ॥ ७ ॥
तज्जलं चैव तद्दुग्धं गृहीत्वा पण्डिता अपि ।
भोजनाय प्रवर्तन्ते मृत्सु दोषं च मन्वते ॥ ८ ॥
वेदान् ग्रन्थानधीत्यापि भवन्तो भ्रान्तिसंयुताः ।
वर्तन्तेऽतो विसृज्यन्तां वेदा ग्रन्था ह्यनर्थकाः ॥ ९ ॥
मनोभिः कल्पिताश्चैते भवतां भ्रान्तिसंयुताः ।
व्यवहारा न ते वेदैः सम्मताः सत्यसम्विदैः ॥१०॥
यद्वा वेदैश्च सद्ग्रन्थैर्धर्ममालोच्य तत्त्वतः ।
मनसो भ्रान्तिवर्गोऽयं युष्माभिस्त्यज्यतां ध्रुवम् ॥११॥

ही रूप है, और नीचे बहता है ॥ ६ ॥ हाडों के संधि से जाकर मांसों के संधि से चूता हुआ वह दूध कहां से आता है, सो आप से नहीं विचारा समझा जाता है ॥ ७ ॥ उस जल और उस दूध को ग्रहण करके पण्डित लोक भी भोजन के लिये प्रवृत्त होते हैं; परन्तु मिट्टियों में दोष मानते हैं ॥ ८ ॥

आप वेदों, ग्रन्थों को पढ़ कर भी भ्रान्ति युक्त हैं। इससें आपके लिये अनर्थक वेद ग्रन्थ को आप त्याग दें ॥ ९ ॥ भ्रान्ति सहित वे व्यवहार आप की मनोवृत्तियों से कल्पित हैं, सत्य को सम्यक् जानने (प्रकाशने) वाले वेदों के सम्मतियुक्त ये व्यवहार नहीं हैं ॥१०॥ अथवा वेदों, सद्ग्रन्थों द्वारा धर्म को सत्य स्वरूप से जान कर, मन के यह भ्रान्ति समूह आप

उक्तवान् सद्गुरुश्चाऽयं श्रूयतां पण्डितैर्हितम् ।
युष्माकं वर्तते कर्म सर्वमत्यद्भुतं कलौ ॥१२॥
"दोषलेशमनादृत्य नित्यं सेवेत सज्जनम् ।
इति नो मन्यते लोकैर्भवद्भिर्नैव नैव च ॥१३॥५३॥

अवश्य त्याग दें ॥ ११ ॥ सद्गुरु ने हित कहा है, यह पण्डितों से सुना जाय । क्योंकि इस श्रवणादि विना कलियुग में आपका सब कर्म अति अद्भुत (आश्चर्य) स्वरूप है ॥ १२ ॥ और श्रवणादि के अभाव से ही जाति आदि के दोषलेश का अनादर करके सदा सज्जन को सेवना चाहिये । यह योगवासिष्ठ निर्वाण प्रकरण उत्तरार्द्ध ९८ । २० । का वचन लोक से नहीं माना जाता है, और आप लोकों से भी अतिशय नहीं माना जाता है ॥१३॥

अक्षरार्थ–हे पांडे (पण्डितो)! ब्राह्मणो! आप अहिंसक वैष्णवादि से भी जाति बूझ (पूछ) कर पानी पीते हो, और जिस मिट्टी के घर में बैठे हो, उसी में सृष्टि समाई है। उसी में छप्पन कोटि यदुवंशी भींजे (मर कर मिले) और अठासी हजार मुनि भींज गये । परग २ (पग २ पर, या परलोकगामी सब) पैगम्बर, इसीमें गाडे गये, सो सब मरकर माटी हो गये । हे पांडे ! उसी मिट्टी के भाँड़े (घटादि पात्र) बनाये जाते हैं, और उन घडों से भर कर पानी पीते हो, तो फिर क्या बूझ कर पानी पीते हो । उचित है कि जिस हरि को जाने विना जीव बिकल फिरता है, किसी ज्ञानी से बूझ कर उस हरि रूप पानी को पीवो । जिस देह के अभिमान में बैठे (भूले) हो, इसमें तो सब सृष्टि भूली है । जिसमें यादवादि मिल गये, उसीके कार्यरूप सब के भांड़ा देह है । बूझ कर निर्मलात्मा पानी पीवो, देहाभिमानादि छोड़ो, इत्यादि ।

और जिस नदी में मछली कछुआ घरियार आदि बिआते हैं, जिससे उनके पेट के रुधिर विकृत नीर नदी के जल में भरते (मिलते) हैं, उन जलों को लोक शुद्ध मान कर भरते हैं । परन्तु वह नदी का नीर मानो नरक रूप ही बह कर आया है; क्यों कि उसमें पशु मनुष्यादि के शरीर

भी सड़ते हैं। यद्यपि जल पवित्र है; परन्तु संग से उसमें मलिनता होती है, और उससे भी लोक व्यवहार करते हैं। और पवित्रात्मा से भी पूछ कर पानी पीते हैं। और हाडों के झरणाओं (द्वारों) से, तथा गुदा (मांस) के गलियों (नालियों) से जो दूध प्राप्त होता है। सो भी कहां (किस शुद्ध स्थान) से आता है। आश्चर्य है कि उस नदी के पानी और दूध को लेकर पण्डित लोक जेमने (भोजन करने) बैठ जाते हैं। मिट्टी में अहिंसक पुरुषादि के सम्बन्धादि से मिथ्या छूत लगाते हैं। भाव है कि अपवित्राचारादियुक्त पुरुष के अपवित्र मलादियुक्त हाथों से छूने पर छूत होना उचित है। इस बात की सूचना (अपने ऊंच नीच घर भोजन) इत्यादि कथनों से की गई है। परन्तु केवल कल्पित जाति आदि के कारण छूत अछूत मानना अविवेक मूलक है। यदि हाड चाम सम्बधी कल्पित जाति के सम्बध से छूत हो तो पृथिवी जल दूधादि उत्तरोत्तर अत्यन्त अपवित्र सिद्ध होंगे, जिनसे कोई बच नहीं सकता; इससे मिथ्या दम्भ पाखण्ड त्यागना ही उचित है।

वेदादि के पढ़ने से भी यदि यह मन की भ्रान्ति नहीं नष्ट होती है, तो वेद कितेब (ग्रन्थ) को छोड़ दो। सत्सङ्गादि करो या भ्रान्तिजनक वेद किताब को छोड़ दो। ऐसे वेद किताब भी मन के भ्रम जन्य ही हैं। साहब का कहना है कि हे पण्डितों! सुनो, भ्रान्तिजनक वेदादि वा व्यवहार, तेरे ही कर्म (किये) हैं, ये अनादि वा ईश्वर रचित नहीं हैं ॥ ५३॥

शब्द ॥ ५४ ॥

पण्डित अचरज एक बड़ होई।
एक मरि मुये अन्न नहिं खाई, एक मरि सिझे रसोई ॥

पण्डिता! भो महाश्चर्यं भवत्येकं भवत्कृतम्।
यदेकस्य मृतौ नान्नं खाद्यतेऽन्यमृतौ शवम् ॥ १४ ॥

हे पण्डितों! आपका किया एक भारी आश्चर्य कर्म होता है, कि जिससे एक घर के मनुष्य के मरने पर आपसे अन्न भी नहीं खाया

करि सनान देवन की पूजा, नव गुण काँध जनेऊ।
हाँड़ी हाड़ हाड़ थारी मुख, भल षट कर्म बनेऊ॥
धर्म कथै जहँ जीव बधै तहँ, अकरम करि मोर भाई।
जो तुम्हरे को ब्राह्मण कहिये, काको कहिय कसाई॥

पचन्ते भोजनायैव भवन्तो यवना यथा।
अविवेको महानेष महानर्थकरस्तथा॥ १५॥
स्नानं कृत्वा च देवानां पूजां कृत्वा यथाविधि।
नवभिश्च गुणैर्युक्तं कण्ठे धृत्वोपवीतकम्॥ १६॥
स्थाल्यां भोजनपात्रेऽथ मुखे चैवार्पयन्त्यहो।
भवन्तोऽप्यस्थिमांसं च षट्कर्माणि भवन्ति किम्॥१७॥
"स्नानं संध्या जपो होमो देवताऽतिथिपूजनम्।
वैश्वदेवश्च कर्माणि षडेतानि विदुर्बुधाः"॥ १८॥
धर्मो हि कथ्यते यत्र तत्र जीवोऽपि वध्यते।
विकर्म क्रियते भ्रातर्नोभयत्र सुखं ततः॥ १९॥

जाता है। और एक बकरादि के मारने से मरने पर उसके शब को ही आप यवनों के समान भोजन के ही लिये पकाते हैं; यह महा अविवेक है, तथा महा अनर्थकारक है ॥१४-१५॥ स्नान करके देवों की पूजा विधि के अनुसार करके नव गुणों से युक्त उपवीत (जनेउ) को कण्ठ में धरके आश्चर्य है कि स्थाली (हाँड़ी), भोजन पात्र (थारी), मुख में भी हाड़ मांस डारते हैं, क्या ये ही आपके षट्कर्म होते हैं॥ १६, १७॥ शास्त्र के तो वचन हैं कि, स्नान, संध्या, जप, होम, देवता अतिथि की पूजा, वैश्वदेव; ये छै कर्म विद्वान लोक जानते हैं॥ १८॥

इन लोकों से जहाँ धर्म की बात कही जाती है, वहाँ जीव बधे (मारे) जाते हैं, हे भाई! यह विकर्म (विरुद्ध कर्म) किया जाता है, तिससे

कहहिं कबीर सुनहु हो सन्तो, भरम भूलि दुनिआई ।
अपरम पार पार पुरुषोत्तम, या गति विरले पाई ॥५४॥

जीवघाती[1] भवानेवं यदि विप्रोऽभिधीयते ।
कर्मणा केन कश्चात्र मांसिक इति कथ्यताम् ॥ २० ॥
अभिधत्ते गुरुर्यत्तच्छृण्वन्तु सज्जना नराः ।
भ्रान्तं सर्वं जगद्ध्येवं वर्तते कुत्सिते पथि ॥ २१ ॥
अतोऽपारं सुखाकारं सत्यं चैतन्यविग्रहम् ।
अपरोक्षं परं मोक्षं विन्दन्ते केचिदुत्तमाः ॥२२॥ ५४ ॥

उभयत्र (लोक परलोक में) सुख नहीं है ॥१९॥ इस प्रकार जीवघात (हिंसा) करनेवाले आप यदि विप्र (ब्राह्मण) कहे जायँ, तो किस कर्म से कौन यहाँ मांसिक (कसाई) कहा जाय ॥२०॥ गुरु जो बचन कहते हैं, सज्जन मनुष्य उसको सुनें । श्रवणादि बिना भ्रान्त (भ्रमयुक्त) सब जगत् इसी प्रकार अन्य भी निन्दित मार्ग में वर्तमान है ॥२१॥ इससे अपार, सुखस्वरूप, सत्य चैतन्यस्वरूप प्रत्यक्ष उत्तम मोक्ष को कोई उत्तम पुरुष ही पाते हैं, अन्य नहीं ॥२२॥

अक्षरार्थ-और भी अविवेकमय व्यवहार बताते हैं कि, मिट्टी आदि में मिथ्या छूत लगानेवाले हे पण्डितो ! यह एक भारी आश्चर्य है कि, एक मनुष्य के मुये (मरने पर) उस मरि (मुर्दा) के रहते लोक अन्न नहीं खाते हैं, और एक पशु आदि की मरि (शव) की रसोई सिझाते (पकाते) हैं । और उसे भोजन करनेवाले भी दूसरों से छूत मानते हैं, और अनपकारी के वध मांसभक्षण से छूत (पाप) नहीं समझते, इत्यादि । और स्नान संध्या आदि रूप वा अध्ययन, अध्यापन, यजन, याजन, दान,

१ 'वेदवादमधीयानाः प्राणिघाताभिशंसिनः । पुष्णन्ति कपटैरर्थान् वेदविक्रयिणोऽधमाः । भविष्यपु० अ० ८८।२८॥

प्रतिग्रहरूप विहित षट्कर्म के स्थान में यदि १ स्नान, २ देवपूजा, ३ नवगुण यज्ञोपवीत का काँधे पर धारण, ४ हाँड़ी में हाड़, ५ थाली में हाड़; और ६ मुख में हाड़ मांस के अर्पण रूप कर्म करते हो, तो अच्छी-तरह षट्कर्म सिद्ध होते हैं। अर्थात् सात्विकता आदि के कारण विहित शुभ प्रतिग्रहादि जो आपकी शुभ जीविका थी उसे नष्ट करके जिह्वा स्वादादिवश अपने षट्कर्मों को भी नष्ट कर लिये हैं और अन्य में छूतारोप भर रह गया है।

और हे भाई! धर्म की जहाँ कथा करते हो, तहाँ जीवघात करते हो, या (तत्र यागादिरेव धर्मः) इस मीमांसावचन के अनुसार जिस यागादि में धर्म का व्यवहार करते हो वहाँ हिंसा करते हो, सो भारी अकरम (निन्दित कर्म पाप) करते हो। इस अवस्था में भी यदि तुम्हें ब्राह्मण कहा जाय तो कसाई किसको कहा जाय। अर्थात् मनुस्मृति में आठ घातक कहे गये हैं, वे ही कसाई हैं, और जो ब्राह्मण आदि भी मांस बेचना छोड़ कर अन्य सर्व कर्म प्रायः करते हैं, इससे कसाई हैं। साहब का कहना है कि इन ब्राह्मणों के समान सब संसार भ्रम में पड़कर सच्ची भक्ति आत्माराम को भूला है; और अधर्म को धर्म मान रहा है। इस भ्रम से पार (रहित) कोई विरला पुरुषोत्तम (श्रेष्ठ-पुरुष) अपरंपार (विभु) या गति (अपरोक्षात्मगति) पाता है। या अपरंपार (वारपार रहित) संसार से पार (भिन्न) स्वरूप पुरुषोत्तम ही इस रहस्य को पाता (समझता है, और हिंसा कुविचारादि को त्यागता) है ॥५४॥

पूर्व शब्द में मनुष्य के मरने से उपवासादि और पशु के मांस का भक्षण को अविवेक जन्य व्यवहारादि रूपता के वर्णन को सुनकर किसी मन्दबुद्धि की शंका उपस्थित हुई कि मनुष्य के शव मांसादि अपवित्र होते हैं, पशु के पवित्र होते हैं, और पशुओं का खेती के समान पालनादि किया जाता है, इससे उनका मांस खाया है, उसे

खेती के अन्न के तुल्य समझा जाता है, और उनकी अधिक उत्पत्ति होती है, इससे मालूम होता है कि मांसभक्षण के लिये ही उनकी सृष्टि ईश्वर ने किया है, और सिर्फ स्वार्थ के लिये हिंसा से पाप होता है, देवादि के लिये की गई हिंसा से पाप नहीं होता है, और जो कुछ होता है, सो भी ईश्वर के नाम भक्ति आदि से नष्ट हो जाता है, इत्यादि। तब कहते हैं कि—

शब्द ॥ ५५ ॥

जस मांस नलकि तस मांस पशुकि, रुधिर रुधिर एक सारा जी।
पशु के मांस भखे सब कोई, नल हीं भखै सियारा जी॥
ब्रह्म कुलाल मेदिनी भइया, उपजि बिनशि कित गइया जी।

यथा मांसं नराणां वै तथैव पशुपक्षिणाम्।
रुधिराणां समत्वं च प्रत्यक्षं परिदृश्यते ॥ २३ ॥
तथापि पशुमांसानि सर्वे खादन्ति [1]मानवाः।
शृगाला मर्त्यमांसानि खादन्ति किमु चिन्त्यताम् ॥ २४ ॥
[2]ब्रह्मणः कुम्भकाराद्धि जायन्ते जन्तवो भुवि।
कियन्तस्तत्र नश्यन्ति भूत्वा भूत्वा स्वकर्मभिः ॥ २५ ॥

जैसा मनुष्यों का मांस रजोवीर्यमय अपवित्र है, तैसा ही पशुपक्षी का मांस भी है, और रुधिरो में भी तुल्यता प्रत्यक्ष ही दिखती है ॥ २३ ॥ तो भी पशुओं का मांस सब मनुष्य खाते हैं, तो मनुष्यों के मांसों को सियार क्यो खाते हैं, सो विचारो ॥ २४ ॥ ब्रह्मा रूप कुम्भकार (कुलाल) से भूमि में सब प्राणी होते हैं, तिस में कितने किसी के मारने आदि बिना ही अपने २ कर्मों से ही जन्म २ कर नष्ट होते (मरते) हैं ॥ २५ ॥

१ 'यक्षरक्षःपिशाचान्नं मद्यं मांसं सुरासवम्।' मनुः अ० ११।९६ ॥

२ 'तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः। गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजाऽवयः।' शुक्लयजुः ३१। ८ ॥

मांस मछरिया तो पै खइये, जो खेतन में बोइया जी ॥
माँटी को करि देवा देवी, जीव काटि के देइया जी ।
जो तेरा है साँचा देवा, खेत चरत किन लेइया जी ॥

क्षेत्रे शाल्यादिवच्चेते शक्यन्ते वप्तुमञ्जसा ।
तदा पललमत्स्याद्या अत्तुं शक्या न चान्यथा ॥ २६ ॥

मृत्पिण्डादौ हि देवादीन् कल्पयित्वाऽत्र येऽबुधाः ।
ददते प्राणिनो हत्वा तेभ्यस्तत्प्रीतिसिद्धये ॥ २७ ॥

ते देवा यदि सन्त्यद्धा मांसस्वादनतत्पराः ।
भक्तक्षेत्रे चरन्तं ते पशुं नादन्ति किं तदा ॥ २८ ॥

सद्गुरुर्भाषते साधो ! श्रूयतां सुविचार्यताम् ।
रामनामा परो देवो ध्यानेनाश्रीयतां सदा ॥ २९ ॥

अन्यथा यत्कृतं किञ्चित्स्वदनं प्राणिहिंसया ।
तत्सर्वं प्रतिदातव्यं भवेन्नास्त्यत्र संशयः ॥ ३० ॥

वे प्राणी यदि खेत में धानादि के समान अञ्जसा (तत्त्वतः) बोने के योग्य हो सकें, तभी मांस मछली आदि अन्न के समान खाने के योग्य हो सकते हैं, अन्यथा नहीं हो सकते ॥ २६ ॥

जो अबुध (अज्ञ) लोक यहाँ मिट्टी के पिण्डादि में देव देवी की कल्पना करके उनकी प्रसन्नता के लिये प्राणियों को मार कर उनको देते हैं ॥२७॥ मांस के स्वाद में तत्पर वे देव यदि सत्य हैं, तो भक्त के खेत में चरता हुआ पशु को वे देव उस समय क्यों नहीं खाते हैं ॥२८॥ हे साधो ! सद्गुरु जो कहते हैं, उसे सुनो और अच्छी तरह विचारो, और रामनामवाले उत्तम सर्वात्मा देव का सदा आश्रयण करो ॥२९॥ अन्यथा प्राणी की हिंसा से जो कुछ स्वाद किया हो; वह सब बदला

कहहिं कबीर सुनहु हो सन्तो, राम नाम नित लेइया जी ।
जो कछु कियो जिह्वाके स्वारथ, बदल पराया देइया जी ॥५५॥

" नाऽभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि ।
अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम् ॥ ३१ ॥
मां स भक्षयिताऽमुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यहम् ।
एतन्मांसस्य मांसत्वं महात्मा मनुरब्रवीत् ॥ ३२ ॥
समुत्पत्तिं च मांसस्य वधबन्धौ च देहिनाम् ।
प्रसमीक्ष्य निवर्तेत सर्वमांसस्य भक्षणात् ॥ ३३ ॥
धर्माधर्मफलं प्रेत्य लभते भूतसाक्षिकम् ।
अतिरिच्येत यो यत्रतत्कर्ता लभते फलम् ॥ ३४ ॥
तस्माद् दानेन तपसा कर्मणा च फलं शुभम् ।
वर्द्धयेदशुभं कृत्वा यथा स्यादतिरेकवान् " ॥ ३५ ॥

देना होगा, इसमें संशय नहीं है ॥३०॥ सौ करोड़ कल्प वीतने पर भी भोगे विना कर्म नष्ट नहीं होता। किया हुआ शुभाशुभ कर्म अज्ञ को अवश्य भोगना होता है। ब्रह्मवैवर्तपु० कृ० अ० ८५।२६ ॥३१॥ जिसके मांस को मैं यहाँ खाता हूं, सो परलोक में मुझे खानेवाला है। यही मांस में मांसता है, सो महात्मा मनु ने कहा है ॥३२॥ मांस की समुत्पत्ति और प्राणी के वध बन्धन को समझ कर, सब मांस के भक्षण से रहित होय। मनु० अ० ५.५५-४९ ॥३३॥ जिसमें भूत साक्षी हैं, ऐसा धर्माधर्म का फल मरने पर प्राणी पाता है, और जब धर्म वा अधर्म जो अधिक होता है, उसीका फल कर्ता उस समय भोगता है ॥३४॥ तिससे यदि किसी प्रकार अशुभ कर्म हो जाय, तो अशुभ करके भी दान तप आदि कर्म से शुभ को बढावे, कि जिससे पापकर्म की अपेक्षा अधिक शुभवाला हो जाय। म० भा० शा: अ० ३५।४०-४१ ॥३५॥

दयाद्यस्ति भक्तेः सदैवोत्तमाङ्गं,
त्वहिंसा तदीयं भवेद्धृत्स्वरूपम्।
सतां सङ्गमादीनि चान्यानि सन्ति,
लसन्त्यात्महार्दात्मिका सैवमेव ॥ ३६ ॥

प्रतीको विशुद्धोऽथ मांसाद्यसङ्गः,
सदा भावशुद्धिः क्रिया कल्कहीना।
विचारादि चास्याः सुपुत्रादिलाभे,
सहायी भवेत् सर्वदा कार्यकारी ॥ ३७ ॥ ५५ ॥

इति ह० शब्दसुधायां विचारादिविनाविज्ञविपरीताचारवर्णनं
नामैकविंशतितमस्तरङ्गः ॥२१॥

दया आदि भक्ति के सदा ही उत्तमाङ्ग (शिर) हैं। और अहिंसा उसका हृदयस्वरूप होता है । सत्पुरुषों के सङ्गादि उसके अन्य अङ्ग हैं। और हार्द (प्रेम) स्वरूपा वह भक्ति इसी प्रकार लसन्ती (क्रीडा करती) स्थिर होती है ॥ ३६ ॥ विशुद्ध प्रतीक (शरीरावयव) होना, और मांसादि का असम्बन्ध होना, सदा भाव (स्वभाव तात्पर्य) की शुद्धि और कल्क (दम्भ-पाप) रहित क्रिया, तथा विचारादि; ये सब इस भक्ति के ज्ञान विरागादि रूप पुत्रादि के मिलने में सहाय रूप होते हैं, सदा सत्कार्य कारक होते हैं ॥ ३७ ॥

अक्षरार्थ—जैसा मनुष्य का मांस है, तैसा पशु का है, और रुधिर २ भी एक सारा (एक समान) हैं। या सारा (सब) रुधिर २ भी एक हैं। तो भी इस विवेक विना ही बहुत लोक पशु के मांस खाते हैं, और मनुष्य के गीदड़ादि खाते हैं, वस्तुतः पशु आदि के मांस भी सियारादि के हीं भक्ष्य हैं। और हे भाई ! ब्रह्म (ईश्वर) रूप कुलाल (कुम्भकार) से मेदिनी (भूमि) पर कित (कितने) मनुष्य पशु आदि उपज (जन्म) कर स्वयं विनष्ट हो गये हैं। या जैसे ब्रह्म से भूमि भइया (हुई है) तैसे ही कितने प्राणी स्वयं ईश्वर से उत्पन्न नष्ट हुए हैं। उनकी सृष्टि का

अधिकार जैसे मनुष्यों को नहीं है, तैसे नाशं का भी अधिकार नहीं है। और पशुओं के मांस और मछली को तबही मनुष्य खा सकता है, कि यदि खेत में अन्न की नाईं इन्हें बोय सकता हो, और अन्न समान मांस मछली को उपजा सकता हो, अन्यथा नहीं। (तौ पै, का जो पै पाठान्तर है।)

मिट्टी से देव देवी की मूर्ति बना कर, जीवघात करके, उसके प्रति देते हो, तो भी अधिकार से विरुद्ध करते हो। और यदि तेरा देव सत्य है, और वह मांस खाता है, तो तेरे खेतों में चरते हुए पशुओं को पकड़ कर क्यों नहीं खा लेता है। वह तो तेरा रक्षक और समर्थ है। साहब का कहना है कि हे सज्जनो! सदा सर्वात्मा राम को भजो, उसका नाम लो, कल्पित देवादि को त्यागो। नहीं तो जिह्वा स्वादादि वश जो कुछ हिंसादि किये हो, सो सब पराय (दूसरे) के बदला अवश्य देना होगा, इत्यादि ॥५५॥

कलि के ब्राह्मण प्रकरण २२

पूर्ववर्णित अर्थों को सुनकर शंका हुई कि यदि हिंसक कसाई हैं, तो बहुत हिंसक भी लोक में पूज्यादि क्यों समझे जाते हैं, इत्यादि। तब कहते हैं कि—

शब्द ॥ ५६ ॥

सन्तो! पाँड़े निपु कसाई।
बकरा मार भैंसा पर धावै, दिल महँ दर्द न आई॥

भोः साधो! स कुविप्रोऽस्ति निपुणः कौटिकः कलौ।
यो हि हत्वा महाजांश्च धावते महिषोपरि ॥ १ ॥

हे साधो! वह कुविप्र कलियुग में निपुण (चतुर) कौटिक (कसाई) है, जो महान अजाओं को मार कर, महिष के ऊपर भी धावा करता

करि सनान तिलक देइ बैठे, विधि से देवि पूजाई ।
आतम राम पलक महँ विनशे, रुधिरक नदी बहाई ॥
अति पुनीत ऊंचे कुल कहिये, सभा माँह अधिकाई ।
इन ते दीक्षा सब कोइ माँगे, हंसि आवे मोहि भाई ॥

प्राणिनां हनने येषां दया पीडा न वा हृदि ।
वैतंसिका हि ते नूनं क्रूराः सत्यं वदामि ते ॥ २ ॥

स्नात्वा विशेषकं कृत्वा तिष्ठन्ति ह्यासनोपरि ।
विधिनैव च पूजां ते देव्याः कुर्वन्ति जन्तुभिः ॥ ३ ॥

जीवात्मानः क्षणेनात्र तेन नश्यन्ति चासृजः ।
स्यन्दयन्ति नदीं विप्रा मूढाः प्राणिविहिंसकाः ॥ ४ ॥

कथ्यन्ते त्वतिपूतास्ते कुलश्रेष्ठा महाजनाः ।
सभायां पूजनीयाश्च सभ्या मान्या धनप्रदाः ॥ ५ ॥

एभ्यो दीक्षां च सर्वेऽमी कांक्षन्ते मोक्षकांक्षिणः ।
दृष्ट्वा तच्चाद्भुतं हासो भ्रातरायाति मेऽनृतम् ॥ ६ ॥

है ॥ १ ॥ प्राणी के हनन करने में जिनके हृदय में दया वा पीड़ा नहीं है, वे क्रूर अवश्य वैतंसिक (कसाई) हैं। तुझे मैं सत्य कहता हूं ॥ २ ॥ स्नान करके, विशेषक (तिलक) करके, वे क्रूर आसन पर बैठते हैं, और प्राणियों के द्वारा देवी की पूजाविधि से ही करते हैं ॥ ३ ॥ तिससे यहाँ जीवात्मा क्षण मात्र से नष्ट होते हैं, और मूढ प्राणिविहिंसक विप्र असृक् (रुधिर) की नदी बहाते हैं ॥ ४ ॥ तो भी वे अतिपूत (पवित्र) श्रेष्ठ कुलवाला, महाजन, सभा में पूजा योग्य, सभ्य (कुलीन–सज्जन), मान्य, धनप्रद कहे जाते हैं ॥ ५ ॥ और ये सब मोक्ष चाहनेवाले इनसे दीक्षा चाहते हैं। सो अद्भुत झूठ को देख कर, हे भाई ! मुझे हंसी आती है ॥ ६ ॥

पाप कटन कहँ कथा सुनावहि, कर्म करावहिं नीचे।
हम तो दोउ परस्पर देखा, यम लाये है खीचे (धोखे) ॥
गाय बधे तेहि तुरुक कहिये, इन ते क्या वे छोटे।
कहहिं कबीर सुनहु हो सन्तो, कलिमहँ ब्राह्मण खोंटे ॥५६॥

श्रावयन्ति कथां ये हि पापापगमहेतवे।
हिंसादिनिन्दितं कर्म कुर्वते कारयन्ति ते ॥ ७ ॥
अहो तांश्चोभयान् दृष्ट्वा कर्तृंश्च कारकान्नरान्।
उभयेषां च कर्माणि मिथः संचिन्तयामि चेत् ॥ ८ ॥
संपश्यामि तदा चैतद् यमो ह्याकृष्य दुर्बुधान्।
कृतवान् स्ववशे तेन तथा व्यवहरन्ति ते ॥ ९ ॥
ये गा घ्नन्ति तुरुष्कास्ते कथ्यन्ते यदि मानवैः।
तेभ्यः किं लघवस्ते ये महिषादिविघातकाः ॥ १० ॥
सद्गुरुश्चाह भोः साधो ! श्रूयतां तत् सुनिश्चितम्।
कलौ हि ब्राह्मणा जाता ईदृशाः पापनिश्चयाः ॥ ११ ॥ ५६ ॥

इति हनुमद्दासकृतायां शब्दसुधायां कलिकालिकब्राह्मणवर्णनं नाम द्वाविंशतितमस्तरङ्गः ॥२२॥

जो पाप की निवृत्ति के लिये कथा सुनाते हैं, सो हिंसादि निन्दित कर्म करते कराते हैं ॥ ७ ॥ आश्चर्य रूप उन करने और कराने वालों दोनों को देख कर, और उन दोनों के कर्मों को यदि मिथः (परस्पर) सम्यक् विचारता हूं ॥ ८ ॥ तो यह रहस्य अच्छी तरह समझता हूं कि यमराज दुष्ट बुधों (पण्डितों) को खींच कर अपने वश में किया है, तिससे वे वैसा व्यवहार करते हैं ॥ ९ ॥ जो गौओं को मारते हैं, सो यदि मनुष्यों से तुरुक कहे जाते हैं, तो जो महिषादि के हिंसक हैं, सो क्या तिन तुरुकों से लघु (छोटे) हैं ॥ १० ॥ हे साधो ! जो सुनिश्चित वचन सद्गुरु कहते हैं, वह सुनना चाहिये, कि कलियुग में ही ऐसे पापनिश्चय वाले कुछ ब्राह्मण हो गये हैं ॥ ११ ॥

अक्षरार्थ–हे सन्तो ! हिंसक पण्डित आदि चतुर कसाई हैं, कि जिससे लोक सब पूज्यादि समझते हैं, दम्भादि से अपने अवगुणों को ये लोक छिपाते हैं। और कसाई होने ही से बकरा को मार कर भैंसे पर भी धावा करते हैं। और इनके दिल (मन हृदय) में दर्द (पीड़ा, दया) नहीं आती है। स्नान करके तिलक देकर (लगाकर) बैठते हैं, विधि (कल्पित रीति) से कल्पित देवी आदि की पूजा करते कराते हैं। इस प्रकार कुछ दम्भादि करके प्राणी का घात करते हैं, जिससे आतमराम (जीवात्मा) पल मात्र में नष्ट होता (मरता) है; और ये हिंसक लोक रुधिर की नदी बहाते हैं। आश्चर्य है कि ऐसे लोक भी अतिपुनीत (पवित्र) और ऊँचे (श्रेष्ठ) कुल कहे जाते हैं, और सभा में भी इन की अधिकाई (श्रेष्ठता) मानी जाती है, अधिकार मिलता है। और इन से ही सब कोई दीक्षा (गुरुमन्त्र, उपदेशादि) मांगता है। साहब कहते हैं कि हे भाई ! इस विचित्र घटना को देख कर मुझे हंसी आती है, कि लोक कुत्ते का पूंछ पकड़ कर संसारसागर से पार होना चाहते हैं।

और ये दम्भी क्रूर लोक पाप कटने (नष्ट होने) के लिये पुराणादि की कथा सुनाते हैं और हिंसादि रूप नीच कर्म कराते हैं। तहां साहब कहते हैं कि हमने तो इनके, दोउ को (कथनों और व्यवहारों को, या करने कराने वालों को) परस्पर (एक २ को दूसरे २ के साथ) मिलाकर देखा (विचारा समझा) तो मालूम (प्रतीत) हुआ कि इन्हें यम खींच लाया है, धोखे में डाला है। तथा अविवेकी हिन्दू तुरुक को भी परस्पर विचार कर देखा तो ये दोनों काल के वश में प्रतीत होते हैं। और ये लोक स्वयं यमरूप होकर बकरे आदि को खींचते हुए दीखते हैं। और हिंसक जो यवन गाय को बधता (मारता) है, उसको तुरुक कहते हैं। परन्तु इन (हिंसक तुरुकों) से वे (बकरा आदि के हिंसक) क्या छोटे हैं। अर्थात् ये हिंसक सब बराबर हैं। परन्तु साहब कहते हैं कि हे सन्तो ! सुनो, ऐसे खोटे लोक कलि में ही ब्राह्मणादि श्रेष्ठ समझे जाते हैं। प्रथम के ब्राह्मणादि पूज्य पुरुष अहिंसक थे ॥ ५६ ॥

भ्रमभूत से पीड़ा मरणादि प्रकरण २३

दम्भजन्य पाप कर्मों का पूर्व शब्द से वर्णन करके भ्रमादिजन्य कर्म का वर्णन उसकी निवृत्ति के लिये करते हैं कि—

शब्द ॥ ५७ ॥

यह भ्रम भूत सकल जग खाया। जिन जिन पूजा तिन जहँडाया ॥
अण्ड न पिण्ड प्राण नहिं देहा। काटि काटि जिव कौतुक येहा ॥
बकरी मुरगी दीन्हो छेवा। आगिल जन्म उन अवसर लेवा ॥

भ्रमसिद्धः पिशाचोऽयं भूतनामा जगज्जनान्।
सर्वान् खादितवान् मूढान् हिंसादम्भादिसंयुतान् ॥ १ ॥
पूजयन्ति स्म ये ये तं तान् सर्वांश्च निपीड्य सः।
नरकं नयतेऽवश्यं विषमं मोहसंकुलम् ॥ २ ॥
यस्य नैवाण्डजो देहो विद्यते न जरायुजः।
अदनार्हो न वा प्राणो लिङ्गदेहसमन्वितः ॥ ३ ॥
तदर्थं प्राणिनां हिंसां विधायैव कुबुद्धयः।
कुर्वते कौतुकं चित्रं चरित्रं लोमहर्षणम् ॥ ४ ॥
येषां छगलकानां वा कुक्कटानां विहिंसनम्।
क्रियते तेऽप्यवश्यं तान् हिंस्येयुर्भाविजन्मसु ॥ ५ ॥

भ्रम से सिद्ध पिशाच (पिशित-मांसभोजी) यह भूत नामवाला, हिंसादम्भादिसहित मूढ सब जगत के मनुष्यों को खा गया है ॥ १ ॥ और जो जो उसको पूजे वा पूजते हैं, उन सबको वह अति पीडित करके मोह से संकुल (व्याप्त) विषम (कठिन) नरक में अवश्य प्राप्त कराता है ॥ २ ॥ जिस भूत का अण्डज देह नहीं है, न पिण्डज जरायुज है, न लिङ्गदेह से युक्त भोजन के योग्य प्राण हैं ॥३॥ कुबुद्धि लोक उस भूत के लिये प्राणियों की हिंसा करके, रोमाञ्चकारक विचित्र कौतुक चरित्र करते हैं ॥ ४ ॥ जिन छगलक (अजा अज), कुक्कुट (कुक्कुटी कुक्कुट) का विहिंसन

कहहिं कबीर सुनहु नर लोई । भूतवक पुजले भूतवे होई ॥५७॥

सद्गुरुश्चाह लोका वै शृण्वन्तु शास्त्रसम्मतम् ।
भूतानां पूजका भूता भवन्ति नात्र संशयः ॥ ६ ॥
तं यथोपासते लोका भवन्त्येते तथैव हि ।
यान्ति भूतानि भूतेज्याः श्रुतिस्मृत्योर्वचः स्फुटम् ॥ ७ ॥
वसिष्ठो भगवानाह यद्रामाय तदीदृशम् ।
श्रोतव्यं श्रूयतां लोकास्ततः किञ्चिन्निगद्यते ॥ ८ ॥
" पिशाचाः केचिदाकाशसदृशाः सूक्ष्मदेहकाः ।
हस्तपादादिसंयुक्ताः पश्यन्ति स्वमिवाकृतिम् ॥ ९ ॥
घ्नन्त्यदन्ति पिबन्त्याशु लघुसत्त्ववलं जनम् ।
बलं सत्त्वमथो जीवान् हिंसन्त्याक्रम्य चित्तकम् ॥ १० ॥

इनसे किया जाता है, वे भी भावी जन्मों में अवश्य इन्हें मारेंगे ॥ ५ ॥
शास्त्र सम्मत वचन सद्गुरु कहते हैं, लोक उसे सुने कि भूतों के पूजक भूत होते हैं, इसमें संशय नहीं है ॥ ६ ॥ श्रुति कहती है कि तिस परब्रह्म को जिस २ प्रकार से भजता है, भजनेवाला यह लोक वैसा ही होता है । भगवद्गीता का वचन है कि भूत जिसके पूज्य हैं, सो भूतों को प्राप्त होते हैं । ये श्रुति स्मृति के कथन स्पष्ट हैं ॥ ७ ॥ भगवान् वसिष्ठ जो रामजी के लिये वचन कहे हैं, सो भी ऐसा ही है । हे लोको ! वह सुनने लायक आरसे सुना जायें, उसमें से कुछ कहा जाता है ॥ ८ ॥ योगवासिष्ठ प्रकरण ६।२। स० ९४। कोई पिशाच (भूत) आकाशतुल्य सूक्ष्म देहवाले हस्तपादादिसहित रहते हैं, और मनुष्यतुल्य अपनी आकृति को देखते हैं ॥ ९ ॥ लघु सत्त्ववाले मनुष्यों के विपरीत कर्माशय होने पर, उन्हे शीघ्र मारते हैं, उनके मांस खाते हैं, रुधिरादि पीते हैं; परन्तु उनके चित्त पर आक्रमण करके ही बल सत्त्व जीव की हिंसा

आकाशसदृशाः केचित् केचिन्नीहारसन्निभाः।
केचित्स्वप्ननराकाराः साकारा अपि खात्मकाः ॥ ११ ॥
केचिदभ्रदलप्रख्याः केचित्पवनदेहकाः।
केचिद् भ्रमात्मका एव सर्वे बुद्धिमनोमयाः ॥ १२ ॥
शीतातपादिविहितं सुखं दुःखं विदन्ति च।
पातुमत्तुमवष्टब्धुमीहितुं शक्नुवन्ति नो ॥ १३ ॥
इच्छाद्वेषभयक्रोधलोभमोहसमन्विताः।
मन्त्रौषधितपोदानधैर्यधर्मवशीकृताः ॥ १४ ॥

करते हैं ॥ १० ॥ कोई आकाशतुल्य, कोई नीहार (तुषार-हिम) तुल्य, कोई स्वप्न मनुष्य तुल्य होते हैं, और साकार होने पर भी अपनी शक्ति से आकाशतुल्य हो जाते हैं ॥ ११ ॥ कोई मेघदल (खण्ड) तुल्य, कोई पवन देहवाले होते हैं, कोई भ्रमरूप ही होते हैं, अर्थात् जिस पर आवेश करना होता है, उसके भ्रमानुसार उनका देह होता है. और वस्तुतः सब भूत बुद्धि और मनोमय हैं। भ्रान्त पुरुष के मन बुद्धि से सिद्ध हैं, या अपने मन बुद्धि से संकल्पानुसार देह धरते हैं ॥ १२ ॥ और ये भी शीतातपादि जन्य सुखदुःख भोगते हैं, यथेष्ट अन्न पानी खा पी नहीं सकते, न कुछ ले सकते, न जा सकते है ॥ १३ ॥ और इच्छाद्वेषादि युक्त रहते हैं, मन्त्रौषधादि से वश में होते हैं, इत्यादि ॥ १४ ॥

अक्षरार्थ-यह (लोकप्रसिद्ध) भ्रम भूत (मन बुद्धि की भावना निश्चय से सिद्ध प्रेत विशेष) हीन देव, सब जगत को खा गया (मूढ मनुष्यों को नष्ट किया)। और जिन २ लोकों ने उस को पूजा। तिन २ को वह जहडाया (अति पीडित किया)। उस भूत को अण्ड पिण्ड (अण्डज पिण्डज) देह नहीं हैं। न खान पान के योग्य प्राण है। न भूखादि के योग्य सूक्ष्म देह है। तो भी भूत पूजक अज्ञानी जीव, उस भूत के लिये प्राणियों को काट २ कर यह अजब कौतुक करते हैं। परन्तु

जिन बकरी मुरगी आदि के ऊपर इन लोकों ने छेव दिया है (अस्त्र चलाया है) वे भी अगले जन्मों में अवसर पर बदला लेंगे।

हे नर लोई (मनुष्य लोको!) सुनो, भूत को पूजने से पूजने वाला भूत ही हो जाता है, इससे इसकी पूजा, उसके लिये हिंसा आदि को त्यागो।

विशेष बात है, कि व्याकरण के अनुसार अतीत को भूत कहते हैं। शास्त्र परिभाषा से पृथ्वी आदि तत्त्व को भूत कहते हैं (भवन्तीति भूतानि)। जन्मे सो प्राणी भूत कहाता है; परन्तु लोक प्रसिद्धि, अमरकोश १।६। (अष्ट विकल्पो दैवः पैशाचो राक्षसः पैत्रः) इत्यादि और योगवासिष्ठादि के अनुसार से एक हीन पापमय देववर्ग का भूत नाम है, उसीका यहां भूत शब्द से ग्रहण है, और उसको भ्रम रूप कहने का तात्पर्य योगवासिष्ठ से ही स्पष्ट हो गया है ॥ ५७ ॥

पूर्व कही रीति से जब मनुष्य भूतादि को पूज कर, हिंसादि करके, भूतादि रूप दुःखी होते हैं, तब उन्हें देखकर महात्माओं को भी कष्ट होता है, करुणा होती है। तहां कहते हैं कि—

शब्द ॥ ५८ ॥

का कहँ रोवौं गै बहुतेरे। बहुतक मुये फिरे नहिं फेरे॥
जब हम रोया तब न सँभारा। गर्भवास की बात विचारा॥

कं कं रोदिमि बहवो गर्भाग्निषु गताः शठाः।
हठेनैव मृताश्चैते कुमार्गेषु रताः सदा॥ १५॥
निवृत्ता न ततश्चैते शतशोऽपि निवारिताः।
आवृता मोहजालेन कालेनेव वशीकृताः॥ १६॥

किस २ को मन में धर करके रोऊँ, बहुत शठ हठ से ही सदा कुमार्ग में रत हुए। और गर्भाग्नि में गये॥ १५॥ मोह जाल से आवृत (ढंके) हुए, काल से वशी किये की नाईं ये लोक सैकड़ो बार निवारित होने

अब तैं रोया क्या तै पाया। किहि कारण तैं मोंहि रुलाया ॥
कहहिं कबीर सुनहु नर लोंई। काल के वशी परै मति कोई ॥५८

यदा वयं तदर्थं तु प्रारोदिमस्तदा न ते।
सावधानेन मनसा ह्यकुर्वन् स्वात्मने हितम् ॥ १७ ॥

किन्तु येन भवेद् गर्भे वासो नरक एव वा।
तदेव कर्म तद्वाक्यं तैः शश्वदवलोकितम् ॥ १८ ॥

गर्भादौ नरके प्राप्य यूयं रुदिथ चाद्य चेत्।
किं फलं प्राप्यते तेन स्वस्मान् रोदयथाऽत्र किम् ॥१९॥

भो लोका नैव रोदित्वा लभध्वे फलमण्वपि।
मा रोदयथ च व्यर्थं रोदनश्रावणादितः ॥ २० ॥

भाविदुःखनिवृत्त्यर्थमुपायश्चिन्त्यतां मुहुः।
सांप्रतं सह्यतां चैतत् क्षणात्तन्नश्यति ध्रुवम् ॥ २१ ॥

(रोकने) पर भी तिन कुमार्गों से नहीं निवृत्त हुए ॥ १६ ॥ जब हम लोक उनके लिये बहुत रोये (कहे) उस समय वे लोक सावधान मन से अपनी आत्मा के लिये हित नहीं किये ॥ १७ ॥ किन्तु जिस कर्म वा वचन से गर्भ में वा नरक में ही वास होय, उसी कर्म और उसी वाक्य (वचन) को उन्हों ने सदा अवलोकन (दर्शन) आदि किया ॥ १८ ॥ तुम सब गर्भादि में वा नरक में प्राप्त होकर यदि आज रोते हो, तो उससे क्या फल मिलता है, और हम लोकों को भी यहां क्यों रुलाते हो ॥१९॥ हे लोकों ! अब रोकर अणु मात्र फल भी नहीं पावोगे, और रोदन सुनाने आदि से अन्य को व्यर्थ ही नहीं रुलावो। २० ॥ भावी दुःख की निवृत्ति के लिये उपाय बार २ शोचो, और सांप्रत (वर्तमान) यह दुःख धैर्यादि से सहो, क्षण मात्र के बाद में यह अवश्य नष्ट होगा ॥ २१ ॥ और

सद्गुरुश्चाह भो लोकाः ! श्रवणं सुविधीयताम् ।
कालस्य न वशे कैश्च गम्यतां स्वाविवेकतः ॥ २२ ॥
कालाधीनमतिप्रायो लोकाः सन्ति कुबुद्धयः ।
कोपि सत्पुरुषो लोके कालात्परमतिर्भवेत् ॥ २३ ॥५८॥

सद्गुरु कहते हैं कि हे लोकों, आप अच्छी तरह श्रवण करो, और अपने अविवेक से कोई काल के वश में नहीं जावो ॥ २२ ॥ काल के अधीन बुद्धिवाले प्रायः (बहुत) लोक कुबुद्धि हैं । लोक में कोई सत्पुरुष ही काल (मृत्यु) से पर मतिवाला होता है ॥ २३ ॥

अक्षरार्थ-भ्रमभूत काल कुकर्मादि के फन्दों में पड़कर बहुतरे (बहुत) लोक गये (दुःखसागर में पड़े, नष्ट हुए) । का कहँ (किस २ को) रोवों (शोचों), किस २ के लिये चिन्ता करुणा करें । क्यों कि जो बहुतक (बहुत लोक) कुमार्गादि में प्राप्त होकर मुये (नष्ट हुये) वे लोक प्रथम कुमार्ग भूतभ्रमादि से फेरने पर भी नहीं फिरे । और जब हम (ज्ञानी उपदेशकों) ने रोया (इनके हित के लिये चिन्ता किया, कहा) । तब जिन लोकों ने नहीं सँभारा, उलटा जिन बात व्यवहारादि से गर्भ नरकादि होते हैं, उन्हीं बातों को विचारा, तो उन के लिये अब क्या रोया जाय । या जब हम लोकों ने दया से उपदेश दिया, तब इन लोकों ने गत गर्भवास की बात और विचारों को नहीं सँभारा (याद होश नहीं किया); इससे अनर्थकारक कर्मादि करने लगे । फिर अब (दुःख में) तुम रोते हो, तो इससे तुमने क्या प्राप्त किया । और अपने दुःखादि से मुझे भी तुम क्यों रुलाया । तथा तेरे लिये मेरा प्रथम का परिश्रम व्यर्थ हुआ, सो तुमने क्यों किया । इससे साहब का कहना है कि हे नर लोको ! अब भी श्रवणादि करो, महात्माओं के उपदेशों को सफल करो । और अतीत वर्तमान की चिन्तादि को त्याग कर सो काम करो कि जिससे आगे अब कोई भी काल के वश में नहीं पड़ो, रोनेसे क्या होगा ॥ ५८ ॥

बहुत लोक जीवन की इच्छा से तथा देव भाव अमर भावादि की इच्छा से कर्मोपासना करते हैं, और ब्रह्मा आदि को ही सत्य अविनाशी समझ कर उनकी प्राप्ति से कल्याण समझते हैं, इससे सर्वत्र दृढ वैराग्य के लिये काल की वशता से रहित होने के साधन रूप एक सत्यात्मा के ज्ञानाभिमुख करने के लिये विवेकी सज्जनों से वा शास्त्रज्ञ पण्डितों से कहते हैं कि—

शब्द ॥ ५९ ॥

को न मुवा कहु पण्डित जाना। सो समझाय कहहु मोहि स्याना॥
मूये ब्रह्मा विष्णु महेशा। पारवती सुत मुये गणेशा॥

अमरान् ये बहून् केऽपि मन्यन्ते पण्डिता अपि।
तानाहाऽत्र विवेकाय सद्गुरुः कामुकान् हितम्॥ २४॥
पण्डिता भो मृतः को न कथ्यतां स सुनिश्चितः।
जनेभ्यश्च मदर्थं च सुसम्बोध्य स उच्यताम्॥ २५॥
अथ च ज्ञायतामेतद्वाक्यं मम सुनिश्चितम्।
कथ्यते वेदसिद्धान्तो निश्चितश्च महात्मभिः॥ २६॥
ब्रह्मा मृतो मृतो विष्णुर्महेशश्च दिगम्बरः।
पार्वत्याः स सुतो देवो गणेशश्च मृतः सुधीः॥ २७॥

जो कोई पण्डित भी बहुत को ही वास्तविक अमर मानते हैं, उन कामुकों (कामियों) के प्रति यहाँ ही विवेक के लिये सद्गुरु हित वचन कहते हैं कि हे पण्डितों! को नहीं मरा है, सो निश्चित अमर कहो, और वह अमर मनुष्यों के लिये और मेरे लिये अच्छी तरह समझा कर कहो॥ २४, २५॥ और उसके बाद यह मेरा सुनिश्चित वाक्य समझो। महात्माओं से निश्चित वेद का सिद्धान्त कहा जाता है॥ २६॥ ब्रह्मा, विष्णु, दिगम्बर, महेश, पार्वती का पुत्र सुधी (पण्डित) वह गणेश देव,

मूये चन्द मूये रवि केता (शेषा) । मुये हनुमत जिन बाँधल सेता ॥
मूये कृष्ण मुये करतारा । एक न मुवा जो सिरजनिहारा ॥
कहहिं कबीर मुवा नहि सोई । जाके आवागमन न होई ॥५९॥

मृतःसूर्यश्च चन्द्रश्च कल्पे कल्पे सहस्रशः ।
हनुमानपि सद्भक्तो मृतो यः सेतुकारकः ॥ २८ ॥
अनन्तोऽपि मृतः शेषो देवाश्च दानवादयः ।
सर्वे मृता मरिष्यन्ति देहवानमरो नहि ॥ २९ ॥
कृष्णो मृतो मृताः सर्वे कर्तारः कर्मजन्मनाम् ।
प्रजानां पतयो दक्षप्रमुखा लोककारका ॥ ३० ॥
तेषामपि च यः स्रष्टा ह्येको देवो निरञ्जनः ।
स एव न मृतो नैव कदाचिच्च मरिष्यति ॥ ३१ ॥
सद्गुरुश्चाह सैवैको न मृतो यस्य न क्वचित् ।
गमनागमने जातु भवतोऽत्र कथञ्चन ॥ ३२ ॥

भ्रमात्मकैरिह किल भूतनामकैर्ग्रहैर्जना मृतिवशतामुपागताः ।
अहं च काः कियदनुरोदिमि प्रजाः पितामहो हरिरपि
मृत्युभागिह ॥३३॥

सूर्य, चन्द्र, सद्भक्त सेतुकारक जो हनुमान; ये सब कल्प २ में हजारों मरे हैं ॥ २७-२८ ॥ अनन्त नामवाले शेष भी मर गये, और देव दानवादि सब मरे हैं, तथा मरेगें, देहवाला अमर नहीं है ॥ २९ ॥

भगवान् कृष्ण मरे, कर्म जन्म के कर्ता सब मरे, लोक कारक दक्षादि प्रजापति मरे ॥ ३० ॥ उन सबको भी जो सिरजनेवाला एक निरञ्जन देव है, वही न कभी मरा न मरेगा ॥ ३१ ॥ सद्गुरु कहते हैं कि वही एक नहीं मरा कि जिसके कभी कहीं किसी प्रकार यहाँ गमनागमन (कोई क्रिया) नहीं होते हैं ॥ ३२ ॥ इस लोक में भ्रमस्वरूप भूतनामवाले ग्रह से बहुत लोक मृत्यु की वशता को प्राप्त हुए हैं । और मैं किस प्रजा को लक्ष्य करके कितना रोऊं । यहाँ तो पितामह (ब्रह्मा) और हरि भी

कुमार्गगत्या मरणं तु भीतिदं मृतांश्च तत्राहमतोऽनुचिन्तये ।
विचारवन्तो ननु ये विवेकिनः समाधिवन्तो नहि यान्ति शोच्यताम् ॥ ३४ ॥

इति हनुमद्दासकृतायां शब्दसुधायां भ्रमभूतादिजन्यपीडादिवर्णनं नाम त्रयोविंशतितमस्तरङ्गः ॥२३॥

मृत्यु के भागी हैं ॥ ३३ ॥ परन्तु कुमार्ग गति (चाल) से मरण भयदायक है, इससे उस कुमार्ग में मरे हुओं को मैं शोचता हूं। और जो विवेकी अवश्य विचारवान हैं या समाधिवाले हैं, वे लोक शोचनीयता को नहीं प्राप्त होते हैं, वे सदा सुखी मुक्त रहते हैं ॥ ३४ ॥

अक्षरार्थ—अमर होने के लिये ब्रह्मलोकादि की इच्छावाले हे पण्डितजनो! कौन नहीं मुवा सो कहो, और हे स्यान लोकों! सो भी शास्त्रयुक्ति से मुझे समझा कर कहो। अर्थात् देवों में आपेक्षिक अमरत्व समझो, और उनसे भिन्न सत्य अमर पद समझो, इत्यादि। और समझो कि अनन्त कल्प के अनन्त ब्रह्मा आदि मर गये। और कितने चन्द्रमा सूर्य सेतु बाँधने वाले हनुमानादि भी मर गये। सब देही कर्म अधिकारादि के अन्त होने पर अवश्य देह त्यागते हैं जाना के जना, स्याना, सना, पाठान्तर है। केता के, केतु भी अर्थ हो सकता है, और उसके स्थान में (शेषा) प्राचीन पाठ है ॥

कितने कृष्ण मुये और कर्ता (विराट् प्रजापति मरीचि दक्षादि) मरे। परन्तु एक वही सर्वात्मा विभु हरि नही मरा, कि जो अपनी सत्ता प्रकाश माया शक्ति से सबको सिरजनेवाला अचल अनादि है। साहब का कहना है कि केवल वही कभी नहीं मरा कि जिसके आवागमन (जन्ममरण विकार क्रिया) नहीं होते हैं। और उसे जाननेवाले भी तद्रूप होकर जन्मादि रहित होते हैं; इससे ब्रह्मनिष्ठ होना चाहिये और भ्रम भूतादि को त्यागना चाहिये ॥ ५९ ॥

देह सरोवर के त्यागग्रहणादि प्र० २४

उक्त आवागमन से रहित होने के लिये मुख्य स्थानरूप मानव शरीर ही है; इससे विवेकादि के शीघ्रता से सम्पादनादि के लिये अन्य की आशा आसक्ति आदि को त्यागने के लिये कहते हैं कि—

शब्द ॥ ६० ॥

हंसा प्यारे सरवर तेजे जाय ।
जिहि सरवर बिच मोतिया चुँगत होते, बहुविधि केलि कराय॥

जीवात्मानः प्रिया हंसा देवदेहगता अपि ।
देहं सरोवरं त्यक्त्वा संयान्त्येव यतस्ततः ॥ १ ॥

तान् प्रत्याह गुरुर्हंसा ! यत्र यूयं सुखात्मकम् ।
ज्ञानं वा मौक्तिकं शश्वत् पदार्थान् वा पृथग्विधान् ॥ २

चितवन्तः क्रियां क्रीडां ह्यकुर्वैथ पृथग्विधाम् ।
संत्यक्त्वा तत्सरो याथ यदा यूयं तदैव हि ॥
शुष्यत्यदो न संदेहो भवत्येव भयावहम् ॥ ३ ॥

देव देह में प्राप्त भी जीवात्मारूप प्रिय हंस (आत्मा) देह रूप सरोवर को त्याग कर जहाँ तहाँ जाते ही हैं ॥ १ ॥ उनके प्रति गुरु कहते हैं कि हे हंसा ! तुम सब जिस मानव देह में सुखरूप वा ज्ञानरूप या पृथग्विध (नानारूप) पदार्थरूप मोती को चुँगे हो (पाये हो, पाते हो) और बहुविध क्रिया क्रीडा किये हो, उस सर (ताल) को जबही तुम सब सम्यक् त्यागकर कहीं जाते हो, तो वह सूख जाता है, इसमें संशय नहीं है, और वह त्यागने पर भयकारक होता है ॥ २–३ ॥

सूखे ताल पुरइन जल छाड़ेवो, कमल गेल कुम्हिलाय।
कहहिं कबीर जो अब[1] के बिछुड़े, बहुरि मिलहु कब आय ॥६०॥

पद्मपत्रसमं नेत्रं जलं त्यजति मानसम्।
सर्वं लौलिकभोग्यं च त्वङ् मांसं त्यजति ध्रुवम् ॥ ४ ॥
कमलानि च सर्वाणि कुण्ठनानि हतानि च।
जायन्ते नैव राजन्ते वृद्धत्वेऽपि समागते ॥ ५ ॥
सरसोऽस्माद्वियुक्ताश्च नैव जाने कदा पुनः।
मेलिष्यन्ति भवन्तोऽत्र स्वर्गमोक्षप्रदे शुभे ॥ ६ ॥
अतो ह्यद्यैव तत्कार्यं येन भूयो भवेन्नहि।
नरके विनिपातो वा गमनागमने उभे ॥ ७ ॥
" अद्यैव कुरु यच्छ्रेयो वृद्धः सन् किं करिष्यसि।
स्वगात्राण्यपि भाराय भवन्ति हि विपर्यये ॥ ८ ॥

वृद्धावस्था के भी अच्छी तरह आने पर पद्मपत्रतुल्य नेत्र जल त्यागता है, सब लौकिक भोग्य को मन त्यागता है, मांस को त्वक् अवश्य त्यागता है। शरीर के सब कमल कुण्ठित नष्ट हो जाते हैं, शोभते नहीं है ॥ ४–५ ॥ इस देह सर से वियुक्त होकर फिर कब भोग मोक्षप्रद शुभ इसमें आप मिलोगे यह नहीं जानता हूं ॥ ६ ॥ इससे आजही वह साधन करने योग्य है कि जिससे भूयः (पुनः बहुत) नरक में विनिपात (प्राप्ति) नहीं होय, और गमनागमन दोनों न होय ॥ ७ ॥ योगवासिष्ठ प्र० ६।२ १६२।२० । का कथन है कि, जो अपना श्रेय (कल्याण) है सो अब ही करो, वृद्ध होने पर क्या करोगे; क्योंकि वृद्धता रूप विपर्यय (व्यत्यय) होने पर अपने गात्र (अङ्ग) भी भार के लिये हो जाते हैं ॥८॥

1 अबकी के। पा०।

नरदेहस्य पातात्प्राक् स्वं बोद्धुं शक्नुयान्न यः ।
जन्मान्तरेषु तद्बोधः प्रायेणात्यन्तदुर्लभः ॥ ९ ॥
दैवं पुरुषकारश्च कालश्च पुरुषोत्तमाः ।
त्रयमेतन्मनुष्यस्य पिण्डितं स्यात्फलावहम् ॥१०॥
तस्मात्सदैव कर्तव्यं सधर्मं पौरुषं नरैः ।
विपत्तावपि यस्येह परलोके ध्रुवं फलम् ॥११॥६०॥

अनुभूतिप्रकाश० अ० ११९८ का वचन है कि, जो मनुष्य इस नर देह के नाश से प्रथम आत्मा को समझने के लिये समर्थ नहीं होता है, उसको जन्मान्तर में वह बोध होना प्रायः अत्यन्त दुर्लभ है ॥ ९ ॥ मत्स्य पु० अ० २२१:८–१० । का वचन है. कि, हे श्रेष्ठ पुरुष ! प्रारब्ध, पुरुषार्थ और काल; ये तीनों मिलकर मनुष्य को फल देते हैं ॥ १० ॥ तिससे सदा श्रेष्ठ धर्मों के सहित सत्संग विचारादि पुरुषार्थ मनुष्यों को करना चाहिये, कि जिसके यहाँ विपत्ति (फलाप्राप्ति) होने पर भी परलोक में अवश्य फल होता है ॥ ११ ॥

अक्षरार्थ–हे प्यारे हंस ! (मानव तनु धारी जीव !) इस देह रूप सरोवर को त्यागे जाते हो । जिहि (जिस) सरवर (सरोवर) बिच (में) तुम विविध ज्ञान सुखादि रूप मोती चुँगते हते (रह्यो) और बहुत प्रकार के केलि (खेल क्रीड़ा किया कराया । वह ताल (सरोवर , अब सूख चला, नीरस हुआ । पुरइन (कमलपत्र) तुल्य नेत्र जल को छोड़ दिया, मन विषयभोग में असमर्थ हुआ, हृदयादि कमल कुम्हिला गये । साहब का कहना है कि न मालूम कि अबकी बार का इससे वियोग के बाद फिर कब इस प्रकार के श्रेष्ठ ताल में आय कर, सद्गुरु आदि से मिलकर, आवागमनादि रहित पद को प्राप्त करोगे । इससे अबही प्राप्त करो, और काल के वश में नहीं पड़ो, तो अति उत्तम है ॥ ६० ॥

भ्रमभूतादि से रहित होने आदि के लिये उपदेश देकर, अब स्त्री आदि विषयक स्नेह आसक्ति आदि को त्यागने के लिये उपदेश देते हैं कि—

शब्द ॥ ६१ ॥

हो दारी कीलै (देऊँ तोहि) गारी। तुम समुझु सुपन्थ विचारी ॥
घरहुं के नाह जो अपना। तिनहूं से भेंट न स्वपना ॥

सक्ता दारेषु भो मूढा! गालिं स्वीकुर्वते किमु।
दारासक्तिस्वरूपां वै [1]सर्वानर्थविधायिनीम् ॥ १२ ॥
कं दोषं वा पुरस्कृत्य गालिस्तुभ्यं प्रदीयताम्।
सर्वदोषतमात्मेयं दारासक्तिर्निगद्यते ॥ १३ ॥
तां त्यक्त्वाऽतो विचारेण सुमार्गो ज्ञायतां त्वया।
येन सत्यं परं तत्त्वमात्माऽत्र लभ्यते ध्रुवम् ॥ १४ ॥
विचारादि विना नैव देहगेहस्य सत्पतिः।
स्वप्नेऽपि लभ्यते साक्षात्स्वस्यातिनिकटेऽपि सन् ॥ १५ ॥

स्त्रियों में आसक्त हे मूढ लोकों! सब अनर्थ को करनेवाली दारा (स्त्री) में आसक्ति रूप गालि (कुशब्द) को क्यों स्वीकार करते हो ॥१२॥ अथवा किस दोष को सन्मुख आगे करके तुम्हें कुमार्ग से रोकने के लिये गालि दिया जाय (परुष कहा जाय)। सब दोषों से अति भारी दोष रूप यह दारासक्ति ही कही जाती है, सो तुम से स्वयं स्वीकृत है ॥ १३ ॥ इससे उसे त्याग कर तुम विचार से सुमार्ग समझो, कि जिससे सत्य पर (केवल) तत्त्व (स्वरूप) आत्मा यहाँ अवश्य प्राप्त होता है ॥ १४ ॥ विचारादि के विना, देहरूप घर का सच्चा पति, अपने अत्यन्त पास में रहता

१ "दारग्रहोऽतिदुःखाय केवलं न सुखाय च। तपःस्वर्गभक्तिमुक्तिकर्मणां व्यवधायकः।" ब्रह्मवैवर्तपु० २३।२०॥ "यद्वन्नारी दुःखकरी कामिनः पुरुषस्य हि। नार्या अपि च कामिन्याः पुमान् दुःखकरस्तथा।" आत्मपु० १।४३६॥

ब्राह्मण क्षत्री औ बानी । तिनहूं कहलो नहिं मानी ॥
योगी औ जंगम जेते । सब आपु गहे हैं तेते ॥
कहहिं कबीर एक योगी । सब भरमि भरमि भौ भोगी ॥६१॥

वारयाम्यतिशब्देन नरानेवं स्त्रियं समाम् ।
त्यज लोकरतिं कान्तः स्वप्ने नैवाप्स्यते ह्ययम् ॥ १६ ॥
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्या मन्यन्ते स्म न तद्यदा ।
मन्यते हि तदा कोऽन्यो हितं सत्योपदेशनम् ॥ १७ ॥
योगिनो जङ्गमा ये च तेऽपि तं तं स्वकल्पितम् ।
गृह्णन्ति स्म न चात्मानमासक्ता ह्यभिमानिनः ॥ १८ ॥
यो ज्ञानादियुतो योगी विचारादिपरायणः ।
सैवैको योगिवर्योऽन्ये भ्रान्त्वा भ्रान्त्वा कुभोगिनः ॥ १९ ॥
भवन्ति वेषकामादौ सक्ता न सद्गुरोः पदे ।
नात्मान्वेषणसद्भक्तौ सुयुक्तास्ते कदाचन ॥ २० ॥६१॥

हुआ भी स्वप्न में भी नहीं मिलता हैं ॥ १५ ॥ अति उत्तम शब्द (उपदेश) से इस प्रकार मनुष्यों को कुमार्ग से वारण करता हूं, और सब स्त्रियों को वारण करता हूं, कि लोक रति (प्रीति) को त्यागो । लोक रति रहते यह आत्मारूप कान्त (पति) स्वप्न में भी नहीं मिलेगा । और जिस लौकिक कान्त में प्रेम किये हो सो भी फिर कभी स्वप्न में भी नहीं मिलेगा ॥१६॥

उस हित सत्य उपदेश को जब ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य भी नहीं मानते हैं, तो अन्य कौन मानेगा ॥ १७ ॥ किसी अनात्मा में आसक्त अभिमानी जो योगी और जंगम (वेष विशेषधारी) हैं, वे स्वकल्पित तौन २ पदार्थ का ग्रहण करते हैं, आत्मा का ग्रहण नहीं करते ॥ १८ ॥ ज्ञानादि से युक्त विचारादि में तत्पर जो योगी है, सोई एक योगियों में श्रेष्ठ है, अन्य सब भ्रम २ कर कुभोगी होते हैं ॥ १९ ॥ इससे वेष कामादि में आसक्त होते हैं, सद्गुरु के पद में नहीं आसक्त होते, न वे लोक कभी आत्मा के अन्वेषण रूप सच्ची भक्ति में आसक्त होते हैं ॥ २० ॥

अक्षरार्थ-हे दारी (माया स्त्री रूप दारा में आसक्त या व्यभिचारीः) लोकों! तुम स्वयं गारी (गाली) की लै (क्यों लेते हो) अर्थात् स्त्री में आसक्ति कुविचार से अनादर यमयातना धिक्कार गाली आदि क्यों सहते हो। या तुम्हें क्या लगा कर गाली दिया जाय, तुम सब अनर्थ नीचता को स्वयं स्वीकार किये हो; इससे कोई निन्दित बात है नहीं, जो तुम्हारे लिये गाली हो। तुम अब भी तो विचार कर सुमार्ग को समझो, और इसे कुमार्ग समझ कर त्यागो। सत्सङ्ग विचारादि बिना, इस दारीपन से, अपने घर (देह हृदय) के वासी जो नाह (नाथ-स्वामी) सर्वात्मा राम हैं, उनसे भी तुम्हें स्वप्न में भी भेंट (उनका दर्शन) नहीं हुआ है न होगा। या मुमुक्षु स्त्रियों को समझना चाहिये कि जो आज घर के ही स्वामी हैं, उनसे फिर स्वप्न में भी भेंट नहीं होगा; इससे कामासक्ति को त्याग कर इसी जन्म में मिलनेवाले आत्माराम की प्राप्ति के लिये स्त्रियों को भी सुपन्थ विचार कर देखना चाहिये।

आश्चर्य है कि इस वर्णित कहल-सदुपदेश को श्रेष्ठ कहानेवाले ब्राह्मण क्षत्रिय बानी (वैश्य बनिआँ) लोकों ने भी नहीं माना। परन्तु जिस जाति आदि में ये लोक आसक्त हैं, वे भी फिर स्वप्न में भी नहीं मिलेगें। और जेते (जितने) योगी जंगमादि (मतवादी) हैं, सब ते ते (वे सब भी) आपु (स्वयं) माया अभिमानादि को गहे हैं। जो फिर कभी मिलनेवाले नहीं हैं; इससे सत उपदेशादि को नहीं मानते हैं। इससे साहब का कहना है कि, एक सुपन्थ के विचारी, अविनाशी अचल आत्माराम के ज्ञानी विरक्त ही वस्तुतः योगी हैं, और अन्य सब लोक भ्रम २ कर भोगी हुए हैं। अर्थात् घर के स्वामी को जाननेवाला आत्मनिष्ठ योगी कोई विरल होता है, अन्य त्रिगुण के भोगी होते हैं॥ ६१॥

पूर्व शब्द में स्त्री आदिकों में आसक्ति से भ्रमण का वर्णन हुआ है। अब उस आसक्ति में भ्रमण की हेतुता को समझाते हैं कि—

शब्द ॥ ६२ ॥

भँवर उड़े बक बैठे आई । रैनि गये दिवसो चलि जाई ॥
हल हल काँपे बाला जीवा । नहिं जानो का करि हैं पीवा ॥

भ्रमरः सुरसग्राही सुजनो भाव उज्ज्वलः ।
उड्डीय ह्यगमत् क्वापि भोगासक्तस्य पार्श्वतः ॥ २१ ॥
बकवृत्तिः समायातो निकटे तस्य वा हृदि ।
मानुष्यं निष्फलं तेन कुलगोत्रादिकं तथा ॥ २२ ॥
कृष्णत्वं ह्यगमत् केशाच्छ्वेतताऽत्र समागता ।
हृदयं नाऽभवच्छुद्धमहो भाग्यविपर्ययः ॥ २३ ॥
पश्वादिभावरूपा सा गता रात्रिः कथञ्चन ।
लब्धं सम्यङ् मनुष्यत्वं दिवसो यात्यहो मुधा ॥ २४ ॥
पुनरस्मिन् गते त्वज्ञः पराधीनो निरन्तरम् ।
मोहेन कम्पते जीवः शीवं क्वापि न पश्यति ॥ २५ ॥

भोग में आसक्त प्राणी के पास से सुन्दर रस (गुण प्रेमादि) को ग्रहण करनेवाला सुजनरूप भ्रमर ऊड (उठ) कर कहीं चले गये । और हृदय से उज्ज्वल (विकासी विशद) भाव (तात्पर्य) उड़ गया ॥२१॥ बकतुल्य वृत्तिवाला कुजन उसके पास में आ गया, तथा हृदय में बकतुल्य वृत्ति (प्रवृत्ति-स्वभाव) हो गई; तिससे मनुष्यता तथा कुलगोत्रादि निष्फल हो गये ॥ २२ ॥ केश से कृष्णता (कालापन) गई, इसमें श्वेतता आ गई, तो भी हृदय यदि शुद्ध नहीं हुआ, तो आश्चर्य स्वरूप भाग्य का विपर्यय (व्यत्यय) है ॥ २३ ॥ पशु आदि भावरूप वह रात्रि (अन्धकार मय समय) किसी प्रकार गई । और अच्छी तरह प्राप्त मनुष्यता रूप दिन भी व्यर्थ ही जाता है, सो भी आश्चर्य है ॥ २४ ॥ और इस दिन के जाने पर फिर अज्ञ जीव पराधीन हो कर निरन्तर (सदा) मोह से कांपता है। शिव (कल्याण परात्मा) को कहीं नहीं देखता है॥२५॥ डर कर अति

काँचे बासन टिकै न पानी। उड़ि गौ हंस काया कुम्हिलानी ॥
काग उड़ावत भुजा पिरानी। कहहिं कबिर यह कथा सिरानी ॥६२॥

भीतोऽतिकम्पमानश्च मन्यते मानसे स्वके।
न जाने मे पतिर्दैवः किं करिष्यति चात्यये ॥ २६ ॥
एवं चिन्तयमानोऽपि जीवो हंसः कलेवरे।
न तिष्ठति चिरं ह्यामे यथा कुम्भे जलं नहि ॥ २७ ॥
उड्डीय च गते हंसे क्षणाद्देहो विशुष्यति।
भक्षणायास्य काकाद्या उन्मुखाश्च भवन्ति हि ॥ २८ ॥
तेषां च वारणाच्छश्वद् यदि बाहुर्विपीड्यते।
तथापि देहवार्तापि कालेन प्रविणश्यति ॥ २९ ॥
भोगी कुबुद्धिकाकं वा नैव वारयितुं क्षमः।
मनोऽस्य पीड्यते तेन मुधा देहोपि नश्यति ॥ ३० ॥
सद्गुरुर्भाषते तस्मात् त्यज्यतां भोगलालसा।
आलस्यं संपरित्यज्य ह्यासक्तिं च मदं त्यज ॥३१॥६२॥

काँपता हुआ अपने मन में समझता है कि न मालूम कि अत्यय (मरण) होने पर मेरा स्वामी देव क्या करेगा ॥ २६ ॥

इस प्रकार चिन्ता करता हुआ भी जीव रूप हंस देह में देर तक नहीं रहता है। जैसे आम (कांच) घड़ा में जल नहीं रहता ॥ २७ ॥ हंस (जीव) के उड कर जाने पर, क्षण में देह विशुष्क हो जाता है, और इसे खाने के लिये काकादि उन्मुख हो जाते हैं ॥ २८ ॥ उनके सदा निवारण से यदि बाहु को पीडित भी किया जाय तो भी काल से देह की वार्ता भी नष्ट हो जाती है ॥ २९ ॥ या भोगी जीव कुबुद्धि रूप काक के निवारण में क्षम (समर्थ) नहीं होता है; इससे इसका मन पीडित किया जाता है, व्यर्थ ही देह भी नष्ट होता है ॥ ३० ॥ सद्गुरु कहते हैं कि तिससे भोग की लालसा (विशेष इच्छा) त्यागी जाय, और आलस्य को अच्छी तरह त्याग कर, आसक्ति और मद को त्यागो ॥३१॥

अक्षरार्थ–भोगियों के हृदय से शुभ रसादि ग्राहक विवेकादि भँवर उड गये, पाससे विवेकी सज्जन चल गये; बकवृत्ति (कुबुद्धि) आ गये। तथा बाल की कृष्णता गई, पलित (सफेदी) पहुंचा, तो भी भोगासक्ति नहीं नष्ट हुई। और पशु आदिपन रात्रि के जाने पर प्राप्त मनुष्यता रूप दिन व्यर्थ जाता है। इससे बाला (अज्ञ परवश) जीव हल २ (थर २) काँपता है, और चिन्ता करता है, कि नहीं जानता हूं कि मेरा पिवा (स्वामी) मेरी कौन दशा करेगा, इत्यादि।

फिर जैसे कांचे वासन (घड़ा) आदि में पानी नहीं टिकता, तैसे शरीर में प्राण के नहीं टिकने (ठहरने) से जब हंस (जीव) इसमें से उड़ (चल) गया, तब यह काया (देह) कुम्हिला (सूख) गया। फिर यदि इसकी रक्षा के लिये काकादि को उडाते २ भुजा को पीडित किया जाय, तो भी कुछ देर में इस देह की कथा सिरा, ओरा (निपट) ही गई। तथा भोगी कुबुद्धि रूप काक को उडाते में थक गये, और कुबुद्धि नष्ट नहीं हुई। इस देह की कथा सिराय गई (समाप्त हो गई); इसलिये सब से प्रथम भोगासक्ति को त्यागना चाहिये, यह सद्गुरु का उपदेश है ॥६२॥

आसक्ति कुबुद्धिवाला कुसम्बन्ध रूप योग (संयोग) वाला योगिया (हीनयोगी) जीव के मरण के बाद की दशा का वर्णन, शीघ्र त्यागादि के लिये करते हैं कि—

शब्द ॥ ६३ ॥

योगिया फिरि गौ नगर मँझारी। जाय समान पाँच जहँ नारी॥

संसारैः सह संयोगाद्येऽत्र संयोगिनो जनाः।
ते हि भ्रान्त्वा पुनः प्राप्ता लोकादौ नगरेऽभवन् ॥ ३२ ॥

संसार के साथ संयोग से जो यहाँ संयोगी जन हैं, सो सब भ्रम कर, फिर लोकादि रूप नगर में प्राप्त हुए ॥३२॥ और वे लोक जहाँ गये,

गौ देशान्तर कोइ न बतावै। योगिया गुफा बहुरि नहिं आवै॥
जरि गौ कन्था ध्वजा गौ टूटी। भजि गयो दण्ड खपर गौ फूटी॥

ते च यत्रागमंस्तत्र पञ्च नार्यो गताः सह।
प्राणा इन्द्रियरूपा वा त्वविद्याद्याविशद् गृहे॥ ३३॥
गता देशान्तरे यत्र केऽपि तान्नोपशिक्षितुम्।
शक्नुवन्ति न तेऽप्यत्राऽऽयान्ति त्यक्तगुहागृहे॥ ३४॥
असङ्गो ज्ञानवान् योगी चरित्वा वाऽत्र भूतले।
प्राप्तोऽभून्नगरे यत्र नारीणां समता भवेत्॥ ३५॥
निर्विशेषे गतो देशे निर्देष्टुं शक्यते नहि।
नागच्छति पुनः सोऽत्र संसारे च गुहागृहे॥ ३६॥
अत्रानागमनाच्चैव देहत्वङ्मासरूपिणी।
दग्धा कन्था ध्वजा छिन्ना बाहुबालस्वरूपिणी॥ ३७॥
भग्नोऽयं मेरुदण्डोऽभूत्कपालः खर्परस्तथा।
विदीर्णोऽभून्न किञ्चिद्धि शश्वदस्यावतिष्ठते॥३८॥

वहाँ प्राण वा इन्द्रिय रूप पांच स्त्री भी साथ गईं, और अविद्यादि भी साथ ही घर में पैठी॥ ३३॥ तिस देशान्तर में गये, कि जहाँ कोई भी उन्हें शीघ्र शिखाने पढाने में समर्थ नहीं हो सकते। वे भी त्यागे हुए गुहा रूप गृह (हृदय) में यहाँ नहीं आते हैं॥३४॥ अथवा ज्ञानवाला असङ्ग योगी, इस भूतल में विचर कर वहाँ प्राप्त हुआ कि जहाँ नारियों की समता होवे (इन्द्रियादि भोग वासना रहित शान्त होय)॥ ३५॥ निर्विशेष ब्रह्म देश में गया, जो देश निर्देश (कथन) के लिये भी योग्य नहीं है, और वह फिर इस संसार और गुहागृह में नही आता है।. ३६॥

इस त्यागा हुआ देह में फिर नहीं आने से देह त्वक् मांस रूप कन्था जल गई, बाहु बालरूप ध्वजा कट टूट गई॥ ३७॥ यह मेरुदण्ड (पीठ की हड्डी) भग्न हो गया (टूट गया) तथा शिर के कपाल रूप खप्पर विदीर्ण हो गया (फूट गया); क्योंकि इस देह का कोई अवयवादि सदा

कहहिं कबीर ई कलि है खोंटी। जो रहे करवा (सो) निकलै टोंटी ॥६३॥

कायः कलिरयं प्रोक्तः कालश्चाज्ञजनस्तथा।
स हीनो नश्वरः पापस्तापहेतुस्तमस्विषु ॥३९॥
यश्चात्र वर्तते भावो यच्च कर्म शुभाशुभम्।
तन्निष्क्रामति जीवेन सह द्वारैर्मृतौ किल ॥४०॥
बुद्धौ गुहायां सदसद्भिर्भिन्नं ब्रह्मास्ति सत्यं परमद्वितीयम्।
तदात्मना योत्र ऽवसेद् गुहायां पुनर्न तस्याङ्ग ! गुहाप्रवेशः ॥४१॥
ग्रन्थीन् स हित्वा च विलूय कश्मलं
छित्वाऽखिलं कर्मजदोषपुञ्जकम्।
अत्रैव तिष्ठन्निखिलं कलेवरं
कामं च हित्वा नहि याति कुत्रचित् ॥४२॥६३॥

इति हनुमद्दासकृतायां शब्दसुधायां देहसरोवरत्यागादिवर्णनं नाम चतुर्विंशतितमस्तरङ्गः ॥ २४ ॥

नहीं रहता है ॥ ३८ ॥ यह काय (देह) कलि कहा गया है, तथा यह काल (युग) भी कलि है, तथा अज्ञजन कलिरूप हैं। वह हीन (निन्दित) नश्वर पाप (क्रूर-पापी) कलि तमस्वी (तमोगुणी) में तापों का हेतु है ॥ ३९ ॥ जो इस देह में भाव रहता है, जो शुभाशुभ कर्मजन्य धर्माधर्म रहता है, सोई मरण काल में जीव के साथ द्वारों से निकलता है। उसी के अनुसार फिर संसार होता है ॥ ४० ॥ और बुद्धिरूप गुहा में व्यावहारिक सदसद् (भावाभाव) से अत्यन्त भिन्न अत्यन्त अद्वैत सत्य ब्रह्म है। तिस रूप से जो इस गुहा में वसेगा, हे अङ्ग ! उसको फिर गुहा में प्रवेश (जन्म) नहीं होगा ॥ ४१ ॥ वह कामाध्यासादि ग्रन्थियों को त्याग कर, कश्मल (मोह) को नष्ट करके, कर्मजन्य सब दोष के पुञ्ज (राशि) को काट कर, और यहाँ ही स्थिर रहते सब देह और काम को त्याग कर, कहीं नहीं जाता है ॥ ४२ ॥

अक्षरार्थ—मानव तनु की कथा बीतने पर भी योगिया (संयोगी-भोगी) जीव, फिरि (फिर भी) दूसरे नगर (लोक-देह) में गया। और वह जहाँ गया, वहाँ ही अन्तःकरण सहित पांच ज्ञानेन्द्रिय रूप, या अविद्यादि सहित पांच प्राण रूप नारी भी जाकर समाई। या वासना द्वारा जहाँ स्त्रियाँ गई, वहाँ योगिया भी गया, और ऐसा दुर्गम देशान्तर में गया कि जहाँ इसको कोई कुछ बता (समझा) नहीं सकता, न कोई कह सकता कि कहाँ गया। और वह योगिया भी फिर बहुर (लौट) कर शीघ्र मानव देह रूप गुफा में नहीं आता है, कि जहाँ कुछ समझ सके, इत्यादि। अथवा भोगी की तो दुर्दशा होती है, प्रथम जो एक योगी कहा गया है, उसको क्या मिलता है, ऐसी जिज्ञासा होनेपर कहते हैं कि, वह योगी इस नगर में फिर (विचर) कर वहाँ गया कि जहाँ समाधि काल में पांच नारी समान (एक) स्वरूप हो जाती हैं। और वह ऐसा देशान्तर है कि उसे विशेष रूप से कोई बता नहीं सकता, और उसमें गया हुआ योगी फिर देह गुफा में कभी नहीं आता है, इत्यादि।

और योगिया के जाने पर देह त्वचा रूप कन्था जर गई, बाल भुजा रूप ध्वजा टूट गई। मेरुदण्ड भज (टूट) गया। शिर रूप खप्पर फूट गया। यह कलि (देह–समय) खोंट (तुच्छ हीन) है। जो इस करवा (देह) के अन्दर भावकर्मादि रहते हैं, सोई टोंटी (किसी द्वार) से जीव के साथ निकलते हैं। इससे शुभ का सम्पादन करना चाहिये, मुक्ति के लिये कर्मवासनादि को नष्ट करना चाहिये, इत्यादि। और ज्ञानी योगी की मोहाविद्यादि रूप कन्था जर गई। लोक, सुमेरु आदि उसकी दृष्टि में मिथ्या हो गये। देह में कुछ रहा नहीं कि जो निकले, इत्यादि ॥ ६३ ॥
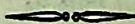
सद्गुरुमें विश्वास विना मोहादि निरूपण प्र० २९

प्रथम आसक्ति और उससे जन्य संसारभ्रमण को बताकर, अब गुरुविमुखता से संसार में भ्रमण का वर्णन पूर्वक गुरुसम्मुखता से मोक्ष का वर्णन करते हैं कि—

शब्द ॥ ६४ ॥

नल को नहिं परतीति हमारी।
झूठन बणिज कियो झूठा सो, पूंजि सबन मिलि हारी॥
षट दरशन पाखण्ड चलायो, तिरदेवा अधिकारी।

मनुष्याणां न विश्वासः सद्गुरौ मयि वर्तते।
मिलन्त्यनृतिनोऽसत्यैस्तैश्च व्यवहरन्ति ते॥ १॥
अतश्च वृद्धिमूलं ते सुखमूलं च सर्वशः।
हारयन्ति हि कामाद्यैः कितवैश्चैव तस्करैः॥ २॥
षड्दर्शनिगणाश्चैव योग्याद्या मतवादिनः।
प्रावर्तयन्त पाषण्डांस्त्रिदेवाश्चाधिकारिणः॥ ३॥
अभवन् गुणरूपास्ते राजानश्च त एव हि।
तद्देशवासिनस्तेषामुपासनपरा नराः॥ ४॥

मनुष्यों का विश्वास मुझ (आत्मस्वरूप) सद्गुरु में नहीं है। अनृती (झूठ बोलनेवाले) असत्यों (सत्य रहितों) से मिलते हैं, और वे लोक उनके साथ ही व्यवहार करते हैं॥ १॥ इससे वे लोक सब वृद्धि के मूल को और सुख के मूल को कामादि रूप कितव (वञ्चक-द्यूतकृत्) और तस्कर (चौर) से हरवाते (नष्ट कराते) हैं॥ २॥ योगी आदि रूप मतवादी, जो छौ दर्शनी (धर्मवालों) के गण (संघात) हैं, सो सब पाखण्डों को प्रवृत्त (सिद्ध) किये हैं, फैलाये हैं। और गुण स्वरूप जो त्रिदेव हैं, सो अधिकारी (नेता) हुए हैं। और वे त्रिदेव ही राजा हैं।

राजा देश बड़ो परपञ्ची, रैयत रहत उजारी ॥
इत ते ऊत ऊत ते इत रहु, यम की सांटि समारी ।
ज्यों कपि डोरि बाँधु बाजीगर, अपनी खुसी परारी ॥
इहे पेंड़ उतपति परलय की, विषया सबै विकारी ।

प्रपञ्चनिरताः सन्तः परेषां वञ्चने रताः ।
जिज्ञासुप्रमुखाः सर्वाः प्रजाश्च पीडयन्ति ते ॥ ५ ॥
तैश्च संपीडितास्तद्वद् द्राविताश्चाखिलाः प्रजाः ।
द्रवन्ति विविधांल्लोकान् भयभीता मुहुर्मुहुः ॥ ६ ॥
इतो यान्ति जना ह्यूर्ध्वं पुनर्यान्ति त्वधस्ततः ।
याताऽऽयाते प्रकुर्वन्तो भवन्ति विह्वलाः सदा ॥ ७ ॥
यत्र यान्ति च तत्रैव यमदण्डोऽपि विद्यते ।
उद्गूर्णास्ताडितास्तेन व्यथन्ते विवशा भृशम् ॥ ८ ॥
यथा कपिर्हि पृथुकैश्चणकैर्बध्यते स्वयम् ।
मर्कटोल्लासकः क्रूरः पुनर्बध्नाति तं गुणैः ॥ ९ ॥

उनकी उपासना में परायण मनुष्य उनके देशवासी हैं ॥ ३-४ ॥ वे लोक प्रपञ्च (विस्तार-प्रतारण) में निरत (प्रवृत्त-आसक्त) होते हुए तथा दूसरे की वञ्चना में रत (प्रेमी) होते हुए जिज्ञासु आदि सब प्रजा को पीडित करते हैं ॥ ५ ॥ उनसे सम्यक् पीडित तद्वत् भगाई गई सब प्रजा भयभीत होकर विविध लोकों में बार २ जाती है ॥ ६ ॥

प्राणी यहां से ऊपर (स्वर्गादि) में जाते हैं, फिर तहां से नीचे जाते हैं, और गमनागमन सदा करते हुए विह्वल होते हैं ॥ ७ ॥ और जहां जाते हैं, वहां ही उद्यत यमदण्ड भी रहता है, तिससे ताडित विवश (अवश्यात्मा) होकर अत्यन्त व्यथित (भयभीत, चंचल) होते हैं ॥ ८ ॥ जैसे वानर पृथुक (चिवरा) चणक (चणा) से स्वयं बँध जाता है। फिर क्रूर मर्कटोल्लासक (कलन्दर) उसको रस्सी से बाँधता है ॥ ९ ॥

जैसे श्वान अपावन राजी, त्य लागी संसारी ॥
कहहिं कबिर यह अदबुद ज्ञाना, (को) मानै बात हमारी ।
अजहूं लेउँ छोडाय काल सो, जो करु सुरति सम्हारी ॥६४॥

तथा स्वयं हि कामेन लोभेन विषयैर्हृताः ।
पतन्ति नरके सर्वे जन्तवो मोहयन्त्रिताः ॥ १० ॥
विषया वा इमे सर्वे विकारा मनसोऽखिलाः ।
कामाद्या एव जन्मादेर्मूलं कारणमुच्यते ॥११॥
श्वा यथा मलिने रक्तः प्रसन्नोऽपावनाद् भवेत् ।
तथा संसारिणो हीने संलग्नाः कामतोऽशुचौ ॥१२॥
विवेकजमिदं ज्ञानमद्भुतं मन्यते यदि ।
निरुध्य स्वमनो नित्यं स्वात्मनि स्थाप्यते तथा ॥१३॥
तदा त्वद्याप्यहं कालान्मोचयामि जनं समम् ।
[1]प्राह सद्गुरुरित्थं तत् सत्यं सत्यं न संशयः ॥१४॥६४॥

तैसे ही काम लोभ विषयों से हरे गये मोह से बँधे प्राणी सब नरक में गिरते हैं ॥ १० ॥ विषय वा मन के कामादि सब विकार ही जन्मादि का मूल कारण कहा जाता है ॥ ११ ॥ मलिन वस्तु में रक्त (अनुरक्त) कुत्ता जैसे अपावन से ही प्रसन्न होय, तैसे संसारी काम से हीन (निन्दित) अशुचि में संलग्न (संबद्ध) होते हैं ॥ १२ ॥

विवेकजन्य इस अद्भुत ज्ञान को यदि मनुष्य माने, और अपने मन को विषयादि से रोक कर, सदा अपनी आत्मा में यदि उसको स्थिर किया जाय तो आज भी मैं (सद्गुरु) उस सब प्राणी को काल से मुक्त करूं; इस प्रकार सद्गुरु कहते हैं, सो वचन सत्य ही सत्य है, इसमें संशय नहीं है ॥ १३-१४ ॥

१ 'स पण्डितः स च ज्ञानी स क्षेमी च पुण्यवान् । गुरोर्वचस्करो यो हि क्षेमं तस्य पदे पदे ॥ ' ब्रह्मवैवर्तपु० ब्र० २३ । ७ ॥

अक्षरार्थ :-हमारी (सद्गुरु की) प्रतीति (विश्वास-अनुभव) नलों (मनुष्यों) को नहीं है। इससे झूठे लोक झूठों से वणिज (व्यवहार, गुरु शिष्यादि संबन्ध) किये हैं। इससे सब लोक पूँजी (मूलतत्त्व) को हार गये, आत्मप्राप्ति नहीं किये, मनुष्यता को व्यर्थ गमाये। पूंजी हार कर योगी जंगमादि षट्दर्शनी पाखण्ड (वेषादि) चलाये। और त्रिदेव (गुणमय तीन देव) अधिकारी (फलादि के स्वामी) हुए। तथा पाखण्ड परायण दर्शनी त्रिदेव की प्राप्ति के अधिकारी हुए। तुरीय पद से वंचित रहे, और रहते हैं। इन्हें मोक्षदाता प्रभु नहीं मिले। क्योंकि राजा देश (त्रिगुण का देश) बड़ो परपञ्ची (बहुत कपट युक्त) है। वे लोक रैयत (स्ववश प्रजा) को उजाडते (भगाते) रहते हैं। अर्थात् कामी पाखण्डी देवमाया के वश में होकर स्थिर पद नहीं पाते हैं।

और उजाडने (भगाने) से सब प्राणी इतते (इस लोक देह से) ऊत (परलोक परदेह में) प्राप्त होकर, फिर ऊत ते इत (वहाँ से यहाँ) प्राप्त होकर थोड़ी देर रहते हैं। और सर्वत्र यम की साटि (कोरा कैंत) इनके लिये समारी (तैयार) रहती है। और जैसे बानर अपनी खुशी (इच्छा) से लोभ मोह वश बन्धन में पड़ता है, तो फिर उसे बझानेवाला बाजीगर डोरी से बांधता है। तैसे हीं स्वयं कामादि से बँधा कर जीव सब यमादि के वश में होते हैं। क्योंकि ये विषय और कामादि सब विकार ही उत्पत्ति प्रलय (जन्म मरण) के पेंड़ (जड़-मूल) हैं। तोभी जैसे श्वान अपावन से राजी (खुशी) रहता है, तैसे संसारी भी विषयादि में लगे (फंसे) रहते हैं, इत्यादि।

यह विवेक उपदेश रूप ज्ञान अद्भुत है। यदि जीव हमारी (सद्गुरु की) बात को माने, और सम्हार (झूठ कुसंग कामादि को त्याग) कर सुरति (मन को स्थिर विचारादि) करें, तो अजहूं (अब ही भी) इसे काल के फन्द से छोड़ा लूं, मुक्त कर दूं ॥ ६४ ॥

सम्हारने के लिये उपदेश देकर, सम्हारने बिना जो दशा होती है, उसका वर्णन करते हैं कि—

शब्द ॥ ६५ ॥

हरि ठग ठगत सकल जग डोला। गमन करत मोसे मुखहुं न बोला॥
बालापन के मीत हमारे। हमहिं तेजि कहाँ चलेहुं सकारे॥

हरेर्हि वञ्चकास्ते हि वञ्चयन्तोऽखिलं जगत्।
क्रामन्ति सर्वसंसारे धावन्ते वञ्चितास्तथा॥१५॥
गच्छन्तस्ते च कामेन कुमार्गेण कुवस्तुषु।
मां गुरुं नैव पृच्छन्ति सुमुखैर्वै कदाचन॥१६॥
तीव्ररागादिहीनत्वाद् बाल्ये मित्राणि ये मम।
यूयं ते कुत्र मां त्यक्त्वा स्वीकर्तुं याथ बन्धनम्॥१७॥
मायामात्रमसत्तुच्छं सेवितुं किं हि सत्वरम्।
याथ कल्ये त्वपृष्ट्वा मां सद्गुरुं सुखदं हितम्॥१८॥
आत्मनो व्यतिरिक्तं हि प्राप्यते येन केनचित्।
विद्यया कर्मणा वापि दुर्लभं नैव तत्स्मृतम्॥१९॥

हरि रूप धन के वञ्चक जो हैं, सो सब जग को ठगते हुए, सब संसार में पैदल विचरते हैं। तथा उनसे वञ्चित होकर (ठगाकर) अन्य लोक सब संसार में विचरते हैं॥ १५॥ और वे वञ्चित लोक काम से कुमार्ग द्वारा कुवस्तुओं में जाते हुए, मुझ गुरु को भी कभी प्रसन्न मुखों से कुछ नहीं पूछते हैं॥ १६॥ जो तुम सब तीव्र (दृढ) रागादि रहित होने से बाल्यावस्था में मेरे मित्र थे, सो तुम मुझे त्याग कर, बन्धन का स्वीकार करने के लिये कहाँ जाते हो॥ १७॥ सुखदाता हित मुझ सद्गुरु को नहीं पूछ कर, किस माया मात्र असत् तुच्छ (आनन्दादि शून्य) को सेवने के लिये कल्य (प्रभात) काल में ही सत्वर (शीघ्र) जाते हो॥ १८॥ आत्मा से व्यतिरिक्त (भिन्न) वस्तु जिस किसी उपाय

तुमहिं पुरुष वे नारि तुम्हारी। तुम्हरि चाल पाहनहुं ते भारी॥
माटिक देह पवन के शरीरा। हरि ठग ठग से डरहिं कबीरा॥६५॥

युष्माकं पुरुषो ह्यात्मा सा नारी या हि सेव्यते।
अश्मनोऽपि जडत्वं च युष्मासु वर्तते यतः॥२०॥
तां सेवध्वेऽजडं मत्वा वर्तध्वे तद्वशे ततः।
स्वे स्वरूपे परिज्ञाते नैवं स्याद्वै कदाचन॥२१॥
आत्मा यद्वा तवैवास्ते भार्यायामपि सर्वदा।
जडबुद्धित्वान्न तं मत्वा देहेऽशुद्धे हि सज्जसे॥२२॥
मृण्मयेऽशुभदेहेऽस्मिन् प्राणप्रायशरीरके।
आसक्तत्वात् सदा यूयं बिभीथ वञ्चकाद्धरेः॥२३॥
आत्मनोऽज्ञानतो बन्धभयभेदभ्रमादिकम्।
ज्ञाने स्यादक्षया शान्तिरभयो मोदते सुधीः॥२४॥

विद्या वा कर्म से मिलता है, वह दुर्लभ नहीं कहा गया है; आत्मा ही दुर्लभ है ॥ १९ ॥

तुम सब के आत्मा ही पुरुष है, और जो अनात्मा तुम से सेवा जाता है, सो नारी (माया) है। तुम सब में पत्थर से भी अधिक जडता वर्तमान हैं, कि जिससे उस माया को अजड़ (चेतन) मान कर सेवते हो, तिससे उसके वश में वर्तते (रहते) हो। अपने स्वरूप के परिज्ञात (प्रत्यक्ष) होने पर, इस प्रकार कभी नहीं होगा ॥ २०-२१ ॥ अथवा तेरी भार्या (स्त्री) में भी सदा तेरी ही आत्मा है। जड बुद्धिवाला होने से, उस आत्मा को नहीं मान कर, अशुद्ध देह में आसक्त होते हो ॥२२॥ मिट्टीमय इस अशुभ देह में प्राणप्राय (प्राणबहुल) सूक्ष्म शरीर में सदा आसक्त होने से, तुम सब सदा हरि के ठग से डरते हो ॥२३॥ आत्मा के अज्ञान से ही बन्धनभय, भेदभाव, भ्रमादि होते हैं। ज्ञान

"आत्मानं यो यथा वेद सम्यग् वा यदि वाऽन्यथा ।
यथा दर्शनमेवाऽसौ फलमाप्नोति पूरुषः" ॥२५॥ ६५

होने पर अक्षय शान्ति होगी। सुधी (ज्ञानी) अभय होकर आनन्द करता है ॥ २५ ॥

अक्षरार्थ –हरिठग (आत्मविमुख करनेवाले वञ्चक गुरु आदि) जगत के प्राणी को ठगते हुए स्वयं सब संसार में डोलते (भ्रमते) हैं, तथा उन ठगों के द्वारा ठगा जाने से सब संसारी डोल रहे हैं (संसार चक्र में पड़े हैं, चञ्चल हैं), और वञ्चक तथा कामादि के वश होकर कुमार्गादि में गमन करता हुआ यह संसारी, उस समय मुझ (सद्गुरु) से मुख से बोला भी नहीं, न बोलता है; तो भी सद्गुरु का कहना है कि, उत्कट रागादि का अभाव रहने के कारण तुम बालापन के हमारे मित्र हो, तोभी इस समय मुझे त्याग कर सकारे (सवेरे) कहाँ चले हो, अर्थात् सद्गुरुद्वारा सत्यात्मा की प्राप्ति युवावस्था में नहीं करके, मिथ्या लोक विषयादि की इच्छा से व्यर्थ भटकते हो । या कहाँ किसको सकारे (स्वीकार करने) चले हो, इत्यादि ।

तुमही (तेरी आत्मा ही) सब पुरों देहों में सोने विराजने वाला पुरुष है (स्वतन्त्र है) और जिनसे मिलने चले हो, वे सब परतन्त्र होने से तुम्हारी नारी (मायामय) हैं । परन्तु इस विवेक विना तुम्हारी चाल (व्यवहार) पाहन (पत्थर) से भारी (अधिक जडतायुक्त) हो गया है, जिससे अपने को नहीं समझ कर दूर २ दूसरे को खोजते हो । उन नारियों में भी तुम ही सत्य पुरुष हो । और उपचय (वृद्धि) आदि युक्त माटी के स्थूल देह, और प्राण रूप पवनादि के सूक्ष्म शरीर रूप अपने को समझने से हरि को ठगने वालें ठगों (वञ्चक पुरुष मायादि) से कबीरा (जीव) सब डरते हैं, तथा हरि ठग के वश में होने से मरणादि से भी डरते हैं, और डर कर जहाँ तहाँ जाते हैं ॥६५॥

शब्द ॥ ६६ ॥

हरि ठग जगत ठगौरी लाई। हरिक वियोगे कस जियहु (रे) भाई ॥
(को) काको पुरुष कवन (का) की नारी। अकथ कथा यमदृष्टि पसारी ॥

हरेर्हि तस्करैर्धूर्तैर्वञ्चकत्वमनर्थदम् ।
आनीतमत्र संसारे तस्माद्विरहिणो हरेः ॥२६॥
सर्वेऽभवन्निमे जीवा विह्वला ज्ञानवर्जिताः ।
स्त्रीपुत्रादिपराः शोकमोहरोदनपीडिताः ॥२७॥
तानाह सद्गुरुर्यूयं हरेर्विरहिणः सदा ।
जीवथ भ्रातरः केन प्रकारेणात्र संसृतौ ॥२८॥
आत्मैवास्त्यजरो नित्यो विकारादिविवर्जितः ।
तज्ज्ञाने वर्तते जन्तुर्नित्यचैतन्यमूर्तिना ॥२९॥
कः कस्याः पुरुषः का च नारी कस्यात्र विद्यते ।
कथा ह्यकथनीयेयं यमदृष्टिः प्रसारिता ॥३०॥

हरि रूप धन के तस्कर धूर्तों से इस संसार में अनर्थदायक वञ्चकत्व (वञ्चक का व्यवहार) लाया गया है, तिससे ये सब जीव हरि के विरही (वियोगवाले) ज्ञानरहित विह्वल हुए हैं। स्त्रीपुत्रादिक ही इनकी दृष्टि में उत्तम वस्तु है, और शोक मोह रोदन से पीडित हैं ॥ २६-२७ ॥ उन को सद्‌गुरु कहते हैं कि, हे भाई ! सदा हरि के विरही (अभाववाले) तुम इस संसार में किस प्रकार से जीते हो ॥ २८ ॥ विकारादि रहित आत्मा ही अजर नित्य है (जरा रहित ध्रुव शाश्वत है)। उसका ज्ञान होने पर प्राणी नित्य चैतन्यमूर्ति (प्रतिमा-स्वरूप) से वर्तता (रहता) है ॥ २९ ॥ यहाँ किसका कौन पुरुष (पति-आत्मा-मनुष्य) है। किसकी कौन नारी (स्त्री) है। यह स्त्रीपुरुष की कथा अकथनीया यमदृष्टि प्रसारित (फैलाई हुई) है। यह मृत्यु का हेतु है ॥ ३० ॥ बृहदारण्यक वार्तिक ६।१।६७। का वचन है कि, चित्त के संमोहमात्ररूप इस संसार

(को) काको पुत्र कवन (का)को बापा। को रे मरै को सहै संतापा ॥

"चित्तसंमोहमात्रेऽत्र लोकोऽयं परिखिद्यते।
दिङ्मोहाकुलविज्ञानो नष्टमार्ग इवाध्वगः" ॥३१॥
कः कस्य वल्लभः पुत्रः पिता वा विद्यतेऽत्र कः।
म्रियते कश्च संतापैरुपवासं करोति कः ॥ ३२ ॥
मोहमूलमिदं सर्वमात्मा चाऽस्त्यजरोऽमरः।
न पिता नापि पुत्रोऽयं स्त्रीपुंसादिभिदाऽत्र न ॥ ३३ ॥
" न बन्धुरस्ति युष्माकं भवन्तो नैव कस्यचित्।
संगताः पथि चैते हि दाराबन्धुसुहृज्जनाः ॥ ३४ ॥
एकः प्रसूयते जन्तुरेक एव प्रलीयते।
भुङ्क्ते हि सुकृतं चैक एक एव च दुष्कृतम् ॥ ३५ ॥
एवं व्यवस्थिते लोके कः कस्य स्वजनो जनः।
को वा परजनः कस्य मोह एव च केवलम् ॥ ३६ ॥

में, दिग्भ्रम से नष्ट ज्ञानवाला मार्ग से भ्रष्ट पथिक तुल्य, ये लोक खेद सहते है ॥ ३१ ॥

कौन किसका वल्लभ (प्रिय) पुत्र है, वा यहाँ कौन पिता है, कौन मरता है, और संताप (सम्यक् ज्वर-दुःख) से कौन उपवास करता है ॥ ३२ ॥ यह सब जगत इसका व्यवहार सबन्धादि मोह (अज्ञान भ्रम) मूलक है; आत्मा अजर है, यह आत्मा पिता वा पुत्र रूप नहीं है, न इसमें स्त्रीपुरुषादि भेद है ॥ ३३ ॥ इतिहाससमुच्चय में लिखा है कि, तुम्हारा बन्धु नहीं है, न आप किसीके हो, स्त्री बन्धु मित्र जन; ये सब संसार मार्ग में मिल गये हैं ॥ ३४ ॥ प्राणी एकाकी जन्मता है, एक ही प्रलीन होता (मरता) है, एक ही सुकृत (पुण्य-सुख) भोगता है और एक ही दुष्कृत (पाप-दुःख) भोगता है, ॥ ३५ ॥ इस प्रकार व्यवस्थित (नियत) लोक में कौन

ठगि ठगि मूल सवन को लीन्हा । राम ठगौरी काहु न चीन्हा ॥
कहहिं कबिर ठग सों मनमाना । गई ठगौरी जब ठग पहिचाना ॥६६॥

न माता न पिता कश्चित्कस्यचिच्चोपपद्यते ।
दानमध्ययनं जन्तुः स्वकर्मफलमश्नुते " ॥ ३७ ॥
तैर्वञ्चयित्वा हि वञ्चकैरखिलाञ्जनान् ।
मूलं चापहृतं तेषां तद्विदन्ति न केचन ॥ ३८ ॥
अज्ञानाद्वञ्चनायाश्च स्वात्मरामस्य मानवाः ।
दधते वञ्चकैर्योगं मनसो नैव साधुभिः ॥ ३९ ॥
यदैव वञ्चकत्वं च वञ्चकानां विबुध्यते ।
तदा गच्छति तद्धौर्त्यं सद्गुरुश्चेति भाषते ॥ ४० ॥
प्रीतिर्न येषां गुरोः पादपद्मे मूढैर्हठाद्ये वसन्तीह लोके ।
तैर्वञ्चितास्ते भ्रमन्त्येव तावज्ज्ञानेन सम्यग् विमुक्ता भवन्ति ॥४१॥

जन किसका स्वजन है, किसका कौन परजन (भिन्न मनुष्य) हैं । यह स्व पर भाव केवल मोह है । ३६॥ कोई किसीके न माता बन सकती है, न पिता बन सकता है । दान अध्ययन भी जीव अपने कर्म के फल रूप ही पाता है ।। ३७ ॥

उन वञ्चकों ने सब जनों को अतिशय ठग कर उनके मूल धन (आत्मज्ञानादि) को अपहरण किया, कोई नहीं जानते हैं ॥३८॥ अपनी आत्माराम की वञ्चना को न जानने से मनुष्य वञ्चकों के ही साथ मन का योग (संबन्ध) धारण करते हैं, साधुओं के साथ नहीं करते ॥ ३९ ॥ और जब वञ्चकों की वञ्चकता अच्छी तरह समझी जाती है, तब उनकी धूर्तता चली जाती है । यह बात सद्गुरु कहते हैं ॥ ४० ॥ जिनकी प्रीति गुरु के पदकमल में नहीं है, और जो हठ से लोक में मूढों के साथ बसते हैं, वे लोक उन मूढों से वञ्चित होकर तावत् (अवश्य) भ्रमते है, सम्यक् ज्ञान से विमुक्त होते हैं ॥ ४१ ॥

ज्ञानं गुरूणां वचोभिः सुलभ्यं तस्माद्विहायैव सङ्गो हि तेषाम् ।
प्रीतिः सदा साधुवाक्ये विधेया,
सेव्यं सदा पादपद्मं गुरूणाम् ॥ ४२ ॥ ६६ ॥

इति हनुमद्दासकृतायां शब्दसुधायां सद्गुरौ विश्वासं विनाऽन्यत्र विश्वासादिवर्णनं नाम पञ्चविंशतितमस्तरङ्गः ॥ २५ ॥

गुरुओं के वचनों से सुन्दर लाभ योग्य ज्ञान है, तिससे उन मूढों के सङ्ग को छोड करके ही सदा साधु (गुरु) वाक्य में प्रीति करनी चाहिये, और सदा गुरुओं के पादपद्म सेवना चाहिये ॥ ४२ ॥

अक्षरार्थ-और भी कहते हैं कि, हरि ठगों (वञ्चक गुरु मन मायादि कों) ने संसार में ठगौरी (ठग का व्यवहार) लाई है, कि जिससे सब हरि के वियोगी हुए हैं, हरि की प्राप्ति नहीं होती है । करुणाऽऽकर गुरु कहते हैं कि, रे भाई ! हरि (सर्वात्मा राम) का वियोग (अज्ञान-अप्राप्ति) रहते तुम कैसे जीते हो । यह जीवन कठिन दुःखरूप है, तथा ज्ञान विना काल से नहीं बच सकते हो । ज्ञान से अजर अमर आत्मरूप से जी सकते हो; और हरि की प्राप्ति विना ठग के वश में होकर, जिस स्त्री पुत्रादि में फंसे हो, ममता किये हो; तहाँ कौन किसका पुरुष है, और कौन किसकी स्त्री है । अर्थात् हरि विना कोई किसीका रक्षक पुरुष नहीं है, न कोई किसीको सुख देनेवाली स्त्री है। यह तो अकथ (माया) की कथा रूप, और पसारी हुई यमदृष्टि रूप है। स्त्रीपुरुष तोरमोरादि भाव, बार २ जन्म मरण के हेतु रूप हैं, मायामय हैं, सत्य नहीं है ।

कौन किसका पुत्र है, कौन किसका बाप (पिता) है; कौन मरता है, कौन संताप (शोकादि) करता है, वा उपवास करता है; ये सब मिथ्या माया मोह मात्र, और यमदृष्टि रूप है। क्यों कि (मम भार्याऽस्ति पुत्रश्च विभवो मे पुमांस्तथा । बान्धवः सुहृदश्चैवं वदन्तं बाधते यमः ॥) इतिहाससं० ।

उन वञ्चकों ने ठग २ कर सब के मूल धन (पूंजी ज्ञानादि) ले लिया (नष्ट किया)। और विवेकादि विना सर्वात्मा राम की ठगौरी (वञ्चना) को काहु (किसी) ने चीन्हा नही। उलटा उन ठगों से ही सब का मन माना (प्रेम विश्वास किया)। इससे सब सदा ठगाते रहे। परन्तु जो कोई ठग को पहचाना, उससे ठगौरी दूर हो गई; क्योंकि (विज्ञाय सेवितश्चौरो मैत्रीमेति न चोरताम्) पञ्चदशी ॥ ६६ ॥

हरिजन का व्यवहार और आत्मावलम्बन प्र० २६

पूर्व प्रकरणों में विषयासक्त वञ्चक वञ्चनादि का वर्णन करके, अब उपदेशप्रधान प्रकरण का आरम्भ करते हुए, प्रथम हरिगुरु भक्त विवेकी के स्वरूप व्यवहार, उसके फल का वर्णन करते हैं कि—

शब्द ॥ ६७ ॥

हरिजन हंस दशा लिये डोलै। निर्मल नाम चूनि चुनि बोलै ॥

हरेर्भक्ता हि ये तज्ज्ञा धृत्वा हंसदशां हि ते।
विचरन्ति च भाषन्ते विविच्य विमलं पदम् ॥ १ ॥
" त्यक्त्वा पुत्रादिकं सर्वं योगमार्गव्यवस्थितः।
इन्द्रियाणि मनश्चैव कर्षन् हंसोऽभिधीयते " ॥ २ ॥

जो तज्ज्ञ (ब्रह्मज्ञानी) सर्वात्मा राम हरि के भक्त हैं, सो हंस की दशा (अवस्था) को धर कर विचरते हैं, और विवेक करके विमल पद बोलते हैं ॥ १ ॥ पुत्रादि सबको त्याग कर, योगमार्ग में व्यवस्थित (नियमित) इन्द्रिय मन को रोकने वाले हंस कहाते हैं ॥ २ ॥ मोक्ष

मुक्ताहल लिये चोंच लभावै । मौन रहै कि हरि यश गावै ॥
मान सरोवर तट के बासी । राम चरण चित अन्त उदासी ॥

मोक्षाख्यायै सुमुक्तायै ते मनो दधते सदा ।
मौनास्तिष्ठन्ति यद्वा ते गायन्त्येव हरेर्यशः ॥ ३ ॥
तटस्थस्य हरेर्भक्ता यद्वा सत्त्वदशायुताः ।
विचरन्तीह संसारे ह्याहु रामादिकं पदम् ॥ ४ ॥
मुक्त्यै चतुर्विधायै ते दधते स्वं मनस्तथा ।
मौनास्तिष्ठन्ति यद्वा ते गायन्ति हरिकीर्तिकाम् ॥ ५ ॥
सत्सङ्गादौ कथायां च पुण्ये मनःसरस्तटे ।
विज्ञा वसन्ति रामात्मदैशिकेन्द्रपदे रताः ॥ ६ ॥
रामे यच्चरणं तत्र चित्तमेषां प्रतिष्ठते ।
अतः सदैव ते शुद्धाः सद्रामे विचरन्ति हि ॥ ७ ॥
चित्तं स्वं दधते तत्र विरक्ता वीतमत्सराः ।
उदासीनाश्च तिष्ठन्ति स्वान्ते विगतकल्मषाः ॥ ८ ॥

नामक सुन्दर मुक्तामणि के लिये वे लोक सदा मन का धारण (निरोध) करते हैं, और मौन होकर स्थिर होते हैं । अथवा हरि के यश को ही गाते हैं ॥ ३ ॥ अथवा सत्त्व (सात्विक) अवस्था युक्त तटस्थ हरि के भक्त इस संसार में विचरते हैं, और राम कृष्णादि निर्मल पद ही कहते हैं ॥ ४ ॥ तथा वे लोक चार प्रकार की मुक्ति के लिये अपने मन का धारण करते हैं, और मौन रहते हैं, या हरि की कीर्ति को गाते हैं ॥ ५ ॥

रामस्वरूप देशिकेन्द्र (श्रेष्ठ गुरु) के पद में रत (प्रवृत्त) विज्ञ लोक, सत्सङ्गादि और कथा रूप, पुण्य (पवित्र) मनःसरोवर के तट में बसते हैं ॥ ६ ॥ और आत्माराम में जो चरण (गति) तिसमें उनका मन प्रतिष्ठित होता है, इससे वे शुद्ध लोक सदा सत्य राम में ही विचरते हैं ॥७॥ और विरक्त मत्सर रहित होकर, अपने चित्त को उस राम में धरते हैं ।

काग कुबुधि निकट नहिं आवै । प्रतिदिन हंसा दर्शन पावै ॥
क्षीरनीरका करै निवेरा । कहहिं कबीर सोइ जन मेरा ॥६७॥

मानस्याश्च कथाया वा वसन्ति निकटेऽन्यके ।
चरणे रामचन्द्रस्य चित्तानि दधते सदा ॥ ९ ॥

स्वान्ते तिष्ठन्त्युदासीना अन्यस्मात्कर्मणस्तथा ।
राजसात्तामसाच्चैव सात्त्विके निरताः सदा ॥ १० ॥

कुबुद्धिजनकाकाश्च नाऽऽयान्ति विज्ञसन्निधौ ।
हंसानां दर्शनं नित्यं प्राप्यते तैः स्वभावतः ॥ ११ ॥

क्षीरनीरवदात्मादेर्विवेकं कुरुते हि यः ।
सैव प्रोक्तो जनोऽस्माकमित्येवं भाषते गुरुः ॥ १२ ॥

हंसाश्च दर्शनं नित्यं प्राप्नुवन्ति स्वभावतः ।
आत्मनः परदेवस्य कुबुद्धिस्तत्र याति नो ॥ १३ ॥

और मन में पाप रहित उदासीन (निरपेक्ष–रागद्वेष रहित) स्थिर रहते हैं । या उद् नामवाला ब्रह्म में आसीन (ब्रह्मनिष्ठ) रहते हैं ॥ ८ ॥ अथवा अन्य (सगुण हरि के भक्त) मानसी हरिकथा के निकट रहते हैं, और सदा रामचंद्रजी के चरणों में चित्तों को धरते हैं ॥ ९ ॥ अन्य कर्म तथा राजस तामस मनुष्य से उदासीन होकर मन में स्थिर रहते हैं, और सात्त्विक कर्मादि में सदा निरत (प्रवृत्त) रहते हैं ॥ १० ॥

कुबुद्धि जन रूप काक ज्ञानी के पास में नहीं आते हैं, और हंसों (विवेकियों) का दर्शन वे लोक स्वभाव से ही नित्य (सदा) पाते हैं ॥ ११ ॥ जो कोई क्षीर नीर के समान आत्मा आदि का विवेक करता है, वही हमारा (सद्गुरु का) जन कहा गया हे । यह इस प्रकार सद्गुरु कहते हैं ॥ १२ ॥ हंस लोक सदा स्वभाव से ही आत्मा रूप उत्तम देव के दर्शन पाते हैं । कुबुद्धि प्राणी वहां नहीं जाता है ॥ १३ ॥ अथवा

कुबुद्धयोऽथवा काका राजसास्तामसा नराः।
अवैष्णवा न यान्त्येते सन्निधौ वैष्णवस्य हि ॥ १४ ॥
वैष्णवाः शुद्धवेषा ये तेषां तु दर्शनं खलु।
नित्यं कुर्वन्ति ते भक्ता नान्येषामपि सत्कृतिम् ॥ १५ ॥
गुरुभक्ताश्च ये तज्ज्ञास्ते ह्यात्मानात्मनोः सदा।
विवेकादि प्रकुर्वन्ति कबीरो भाषते गुरुः ॥ १६ ॥ ६७ ॥

अवैष्णव राजस तामस मनुष्य ही कुबुद्धि काक हैं। ये लोक वैष्णव के पास में नहीं आते हैं ॥ १४ ॥ जो शुद्ध वेषवाले वैष्णव हैं, उन्ही का दर्शन भी सदा वे वैष्णव भक्ति भी करते हैं; अन्य का सत्कार भी नहीं करते ॥ १५ ॥ गुरु के भक्त जो विवेकी हैं, सो सदा आत्मानात्म के विवेक विचारादि करते हैं। अन्य के आदरानादर में नहीं पड़ते; यह कबीर गुरु कहते हैं ॥ १६ ॥

अक्षरार्थ–ठग को पहचान कर ठगौरी से मुक्त हुए हरिजन (सर्वात्मा हरि गुरु के भक्त लोक) हंसदशा (विवेकादिमय शुद्धावस्था धारणा) को लेकर डोलते (विचरते) हैं। और निर्मल (शुद्ध) नामों को, या निर्मलात्मा के नामों को चून २ कर बोलते हैं। और मोक्ष विज्ञानादि रूप मुक्ताहल (मणि–मोती) के लिये चोंच (मन) को लभाते (नमाते ; हैं, और मौन रहते हैं, या हरि के यश को ही गाते हैं। इसी प्रकार सात्विक देवरूप हरि के भक्त भी सात्विक दशा लेकर विचरते हैं, निर्मल राम कृष्ण गोविन्दादि शब्दों को बोलते हैं। और उसीसे सालोक्यादि मुक्ति चाहते हैं, इत्यादि।

विवेकी हरिजन हंस सत्संग पुण्य कथादि रूप मानसरोवर के तट के वासी होते हैं, और गुरु रूप राम के चरणों में चित्त रखते हैं। अन्तःकरण से उदासीन (विरक्त) रहते हैं। और सगुण राम के भक्त राम के चरण में चित्त रखते हैं; इत्यादि।

कुबुद्धि (दुष्ट बुद्धिवाले वा कुत्सित ज्ञानवाले) उन हंसदशावालों के पास में वा उनके मानस में नहीं आते हैं; इससे वे हंस लोक प्रतिदिन हरि का ही दर्शन पाते हैं, या हरिजन लोक हंसों का दर्शन पाते हैं। साहब का कहना है कि, जो लोक क्षीर नीर की नाईं आत्मा-अनात्मा, सत्य-मिथ्या का विवेक करते हैं, वे ही जन मेरा (गुरुभक्त) हैं। विवेक द्वारा अनात्माऽसत्यपापादि को त्यागनेवाला ही गुरु का शिष्य सम्बन्धी हैं। और इसी विवेक के विना जीव विकल हुए फिरते हैं, और इसीसे परमशान्ति पाते हैं इत्यादि ॥ ६७ ॥

जीव के कल्याण में सद्गुरु सत्पुरुषादि सहायक होते हैं, परन्तु वे भी सत्कर्मी पुरुषार्थी विवेकी के ही सहायक होते हैं; इससे अपने कल्याण में अपना पुरुषार्थ विवेक विचारादि में तत्परता ही मुख्य साधन है। इस आशय से कहते हैं कि—

शब्द ॥ ६८ ॥

आपन आश कीजै बहुतेरा। काहु न मर्म पावल हरि केरा ॥

महाऽऽशां पौरुषस्यैव कुर्वतां हृदि सज्जनाः।
तत्त्वं न विन्दते कोऽपि हरेः स्वपौरुषं विना ॥ १७ ॥
पौरुषाणामभावेन विचारादिशमात्मनाम्।
न केऽपि वञ्चकास्तत्त्वं हरेः विन्दन्ति तत्त्वतः ॥ १८ ॥
पौरुषेण विना नैव वेदिष्यन्ति जना हितम्।
कर्तव्यं पौरुषं तस्मात्सुविचारादिलक्षणम् ॥ १९ ॥

सज्जन लोक पौरुष (पुरुष के कर्म यत्न) की ही महती (बड़ी) आशा अपने हृदये में कल्याण के लिये करें। क्योंकि कोई हरि के तत्त्व (स्वरूप) को अपने पौरुष विना नहीं पाता है ॥ १७ ॥ विचारादि और शमस्वरूप पौरुष के अभाव से कोई वञ्चक हरि के तत्त्व (स्वरूप) को तत्त्वतः (यथार्थ रूप से) नहीं पाते हैं ॥१८॥ पौरुष के विना मनुष्य

इन्द्रिय कहाँ करै विश्रामा । सो कहँ गय जो कहते रामा ॥

" चिरमाराधितोऽप्येष परमप्रीतिमानपि ।
नाऽविचारवतो ज्ञानं दातुं शक्नोति माधवः ॥ २० ॥
मुख्य पुरुषयत्नोत्थो विचारः स्वात्मशुद्धये ।
गौणो वरादिको हेतुर्मुख्यहेतुपरो भव ॥ २१ ॥
वरमाप्नोति यो वाऽपि विष्णोरमिततेजसः ।
तेन स्वस्यैव तत्प्राप्तं फलमभ्यासशाखिनः ॥ २२ ॥ "
पौरुषेण विना केषामिन्द्रियाणि कदा पुनः ।
विश्रामयन्ति कुतः कुत्र तच्च जानीत सज्जनाः ॥ २३ ॥
पौरुषादि विना रामनाममात्रपरा नराः ।
गताः कुत्र च किं लब्धं तैरित्थं चिन्त्यतां मुहुः ॥ २४ ॥
कुशला योगिनो येऽत्र तेऽपि मृत्वाऽगमन् कुतः ।
आत्मज्ञानं विना तज्ज्ञा इत्यपि प्रविचार्यताम् ॥ २५ ॥

अपने हित को नहीं जान सकेंगे, तिससे विचारादि रूप पौरुष कर्तव्य है ॥ १९ ॥ योगवासिष्ठ प्र० ५ । ४३ । १०–११–३४ । के वचन हैं कि चिरकाल तक सेवित परम प्रीतिवाला भी यह माधव (विष्णु) विचार रहित को ज्ञान देने के लिये समर्थ नहीं हैं ॥ २० ॥ स्वात्मशुद्धि के लिये पुरुष के यत्न से जन्य विचार मुख्य हेतु है और वरादि गौण हेतु है। तुम मुख्य (प्रधान) हेतु पर होवो ।। २१ ॥ जो पुरुष अमित तेजवाले विष्णु से वर पाता है, उसने भी अपने अभ्यास (कर्म) रूप शाखी (वृक्ष) का ही वह फल पाया है ॥ २२ ॥

पौरुष के विना किनकी इन्द्रियां, कब और किस हेतु से कहाँ विश्राम करती हैं हे सज्जनो ! सो तुम सब समझो ॥ २३॥ सत्कर्म विवेक विचारादि रूप पौरुषादि के विना राम आदि नाम मात्र परायण मनुष्य कहां गये, और उन्होंने क्या पाया । इस प्रकार बार २ विचारो ॥ २४ ॥ और हे तज्ज्ञ ! (विवेकियों !) यहाँ जो चतुर योगी लोक हैं, वे भी

सो कहँ गय जो हते सयाना । होय मृतक वहि पदहि़ समाना ॥
रामानन्द रामरस माँते । कहहिं कबिर हम कहिकहि थाके ॥६८॥

सर्वे मृत्वा गताश्चैते स्वेनैव कल्पिते पदे ।
परोक्षे नैव चाध्यक्षे स्वात्मरूपे परेश्वरे ॥ २६ ॥
स्वपौरुषं विना यद्वा लभ्यते न हरिर्हि यः ।
तत्रैवेन्द्रियविश्रान्तिर्लभ्यः स रामजापिभिः ॥ २७ ॥
ज्ञानयोगेन लभ्यः स ततो यान्त्यत्र ते बुधाः ।
जीवन्तो वै मृतिं प्राप्य ह्यभिमानविधूननात् ॥ २८ ॥
तटस्थरामरसिकास्तथापि बहुसज्जनाः ।
प्रमत्तास्तद्रसेनैव भोगकामा भवन्ति च ॥ २९ ॥
" [१]कामं कामयमानानां यदि कामः प्रसिद्ध्यति ।
ततोऽपि परमं कामं भूयो विन्दन्ति ते पुनः ॥ ३० ॥

आत्मज्ञान के विना मर कर कहाँ गये । इस अर्थ को भी अच्छी तरह विचारो ॥ २५ ॥ और ये सब मर कर अपने ही से कल्पित परोक्ष पद (वस्तु स्थान) में गये, और स्वात्मरूप पर ईश्वर प्रत्यक्ष वस्तु स्थान में नहीं गये ॥ २६ ॥ अथवा अपने पौरुष विना जो हरि नहीं मिलते हैं, उसी हरि में इन्द्रियों की विश्रान्ति (विश्राम) होती है, और वह हरि राम को जपने वालों से प्राप्ति के योग्य है ॥ २७ ॥ और हरि ज्ञान योग से लभ्य (प्राप्ति योग्य) हैं, तिससे वे ज्ञानी अभिमान के विधूनन (नाश) से जीते जी मरण को पाकर इस हरि में प्राप्त होते हैं ॥ २८ ॥

तो भी तटस्थ राम के प्रेमी बहुत सज्जन, उस राम के रस (राग-प्रेम) से प्रमत्त होकर भोग की इच्छावाले भी होते हैं ॥२९॥ और काम (काम्य वस्तु) की इच्छा करनेवालों का काम (इच्छा) पूर्ण होता है । तो उससे

१ पद्मपु० सृष्टिखं० १९ । ५७–५८ ॥

कामानभिलषन् मोहान्नश्वरं सुखमेधते।
श्येनालयतरुच्छायां व्रजन्निव कपिञ्जलः" ॥ ३१ ॥
लालयित्वा विमोक्षाय सदा सद्गुरुरश्रमत्।
न शृण्वन्ति जना नैव पौरुषं स्वं प्रकुर्वते ॥ ३२ ॥
ब्रह्मानन्दात्मके शुद्धे रामानन्देऽन्यसज्जनः।
निमग्ना ज्ञानिनस्तन्न शृण्वन्त्यन्येऽविवेकिनः ॥ ३३ ॥
पौनःपुन्येन तच्चोक्त्वा सदा सद्गुरुरश्रमत्।
न मन्यन्ते नरास्तद्धि परं तत्त्वं सुनिश्चितम् ॥ ३४ ॥६८॥

भी बड़ा काम वे लोक फिर प्राप्त करते हैं, उससे भी बड़ी वस्तु चाहते हैं ॥ ३० ॥ मोह से काम्य विषयों की अभिलाषा (इच्छा) करनेवाला नश्वर सुख पाता है। श्येन का आश्रय गृह वृक्ष की छाया में जाता हुवा कपिञ्जल (पक्षी) वत् विमुक्ति के लिये सदा बार २ कह कर सद्गुरु थक गये; परन्तु प्राणी न सुनते हैं, न अपना पौरूष करते हैं ॥ ३१-३२ ॥ अन्य सज्जन ज्ञानी लोक ब्रह्मानन्दरूप शुद्ध रामानंद में निमग्न हुए। पर अविवेकी अन्य लोक इस वचन को नहीं सुनते हैं ॥ ३३ ॥ तिस वचन को पुनः २ रूप से सदा कह कर सद्गुरु थक गये। मनुष्य उस सुनिश्चित पर (उत्तम) तत्त्व (स्वरूप) को नहीं मानते हैं ॥ ३४ ॥

अक्षरार्थ- अपने सत्कर्म विचारादि रूप यत्न पौरुष की बहुतेरा (भारी अधिक) आशा, अपनी सद्गति के लिये करो। इस पौरुष के विना किसीने हरि का मर्म (भेद) नहीं पाया, कि सत्य हरि कौन है, क्या उसमें शक्ति है, वह क्या करता है, इत्यादि। और उस हरि के ज्ञानादि रहित की आशा को सर्वथा त्यागो, सद्गुरु आदि की आशा करो, तोभी अपनी आशा अधिक करो। निजात्मानुभव से ही कल्याण समझो, इत्यादि।

विचारादि पौरुष हरि के ज्ञान के विना भी किनकी इन्द्रियाँ कहां विश्राम करती (उपरत होती) हैं। और जो केवल रामादि नाम मात्र कहते हैं, सो

कहां गये, और जो सयान (चतुर योगी) हते (थे) सो कहां गये। इत्यादि विचार कर समझो कि, अन्य की आशा करनेवाले, मृतक हो २, वही अन्य पद में समाये लीन हुए, अपरोक्ष निजस्वरूप को नहीं पाये। अथवा अपना पौरुष से समझो कि, सुपुप्ति में इन्द्रिय जहाँ विश्राम पाती है, चतुर्थ भूमिकावाले ज्ञानी जिस वस्तु राम को शिष्यों के प्रति कहते हैं, अन्त में जिसमें प्राप्त होते हैं। पञ्चमादि अवस्थावाले ज्ञानी भी जीवते ही मृतक होकर उसी पद में जीवते ही अपना पौरुष से समा गये और समाते हैं; इससे पौरूष करो, इत्यादि।

साहब का कहना है कि, हम लोक कह २ कर थक गये; परन्तु परोक्ष राम से (ईश्वर देवादि से) आनन्द माननेवाले रामानन्द लोक उसी तटस्थ राम के रस (प्रेम) में मॉंते रहते हैं, हमारी बात नहीं सुनते हैं। तथा ज्ञानी सर्वात्मा राम के आनन्द में मग्न मस्त रहते हैं। इसके लिये पौरुष का उपदेश देकर थक गये; कोई नहीं सुनता, इत्यादि ॥ ६८ ॥

बहुत मनुष्य समझते हैं कि, विष्णु आदि देव, उनकी भक्ति बिना मुक्ति आदि में विघ्न बाधा उपस्थित करते हैं। यमराज प्राणी को वश में करते हैं; परन्तु भक्ति से सब वश में हो जाते हैं। उनकी भक्ति बिना ज्ञान वैराग्यादि से भी मुक्ति नहीं होती, इत्यादि। तहां साहब कहते हैं कि—

शब्द ॥ ६९ ॥

ऐसे हरि से जगत लरतु है। पन्नग कतहुं गरुड़ धरतु है ॥

तटस्थहरिणा सार्द्धमित्थं संसारिणः सदा।
युद्ध्यन्ते हि यथा सर्पो युद्ध्येताऽत्र गरुत्मता ॥ ३५ ॥

तटस्थ हरि आदि देव के साथ संसारी लोक इस प्रकार यहां सदा युद्ध करते हैं कि, जैसे सर्प गरुत्मान (गरुड) के साथ यहां युद्ध करे

मूस विलाई कैसन हेतू। जम्बुक करै केहरि सो खेतू॥

कृत्वाऽपि बहुयत्नं च नैव तं स्ववशे किल।
कर्तुं शक्नोति वै मूढो रूढः संसारवर्त्मसु॥ ३६॥
विवेकादि विना कोऽत्र धर्तुं शक्नोति माधवम्।
स्ववशे पन्नगः कुत्र वैनतेयं धरेत्स्वयम्॥ ३७॥
" [१]विचारोपशमाभ्यां हि न विना साध्यते हरिः।
विचारोपशमाभ्यां च मुक्तस्याब्जकरेण किम्"॥ ३८॥
विवेकबलयुक्तस्य त्वकामस्य मनस्विनः।
हरिः स्वयं वशो भूत्वा वर्तते भूतभावनः॥ ३९॥
मूषिकस्य विडालेन कीदृशी प्रियता तथा।
जम्बुको वा कथं सिंहैः सह युद्धं करिष्यति॥ ४०॥

॥ ३५॥ संसार के मार्गों में स्थिर मूढ प्राणी बहुत यत्न करके भी उस हरि को अपने वश में करने के लिये समर्थ नहीं है ॥ ३६॥ विवेकादि के विना कौन यहाँ माधव (लक्ष्मीपति) को वश में धर सकता है। स्वयं पन्नग (सर्प) कहां वैनतेय (गरुड) को धरेगा ॥ ३७ ॥ विचार और उपशम (निवृत्ति) विना हरि साध्य प्रसन्न नहीं होते, और विचार उपशम से मुक्त को अब्जकर (हरि) से कुछ जरूरत नहीं रहता है ॥ ३८ ॥ विवेक रूप बल से युक्त काम रहित मनस्वी के स्वयं वश में होकर भूतभावन (प्राणिवर्धक) हरि रहते हैं ॥ ३९॥

मूस को विडाल के साथ कैसी प्रियता (प्रेम) हो सकती है, वा वैसेही जम्बुक सिंहों के साथ युद्ध किस प्रकार कर सकता है ॥ ४०॥

१ योगवासिष्ठ प्र० ५। ४३। २३। 'न चैतदिष्टं देवानां मर्त्यैरुपरिवर्तनम्, तस्मान्मुमुक्षुर्देवादीन् सम्यगाराध्य यत्नतः। उन्मुक्तबन्धनस्तैः सन्नापित्सेज्ज्ञानमात्मनः' ॥ बृ० वार्तिकम्। १। ४। १५८१।

अचरज एक देखल संसारा । स्वनहा खेदु कुञ्जर असवारा ॥
कहहिं कबिर सुनु सन्तो भाई । इहे सन्धि काहु बिरले पाई ॥६९॥

" [1]हविर्भुजां हि देवानामप्रियं मर्त्यवेदनम् ।
मर्त्यास्तत्त्वं न जानन्ति विघ्नैर्दैवकृतैर्हताः " ॥ ४१ ॥

देवाद्यैः प्रियतां सर्वे वाञ्छन्ति मूढमानसाः ।
कालादीनपि जेतुं च विवेकादि विनैव हि ॥ ४२ ॥

महदाश्चर्यमेतद्यत्स्वर्गपृष्ठे स्थितं हरिम् ।
मनुष्याः स्ववशे कर्तुं चेष्टन्ते बहुधा तथा ॥ ४३ ॥

सद्गुरुश्चाह शृण्वन्तु सर्वे ये सज्जना हितम् ।
इदं केऽपि रहस्यं वै विन्दन्ते पुरुषोत्तमाः ॥ ४४ ॥

मनुष्यों से प्राप्त हविषान्न के भोक्ता देवों के लिये मनुष्य का ज्ञान अप्रिय है । इससे देवकृत विघ्नों से हत मनुष्य तत्त्व को नहीं जानते हैं ॥ ४१ ॥ सब मूढ मनवाले देवादि के साथ प्रेम चाहते हैं, और विवेकादि के विना ही काल को भी जीतना चाहते हैं । ४२ ॥ तथा महान आश्चर्य यह है कि स्वर्ग के ऊपर स्थिर हरि को स्ववश में करने के लिये मनुष्य बहुत

---

१ अनुभूतिप्रकाश प्र० ११ । १३ । ' तस्मादेषां तन्न प्रियं यदेतन्मनुष्या विदुः ' । बृ० १ । ४ । १० । इसी श्रुति का व्याख्यान रूप यह श्लोक है । और देवकृत विघ्न कर्मानुसार ही होते हैं । इससे देव का दोष नही है, इत्यादि वार्तिक में स्पष्ट है । और (' तद्विपक्षस्तु यो बालो बलादेव मुमुक्षति । स्वर्गादेरपि विभ्रष्टो नरकं स नियच्छति ' ॥ बृ० १ । ४ । १५८३) इससे सिद्ध होता है कि अपना पुरुषार्थ करना चाहिये, परन्तु किसी देवादि के विरोधी नहीं होना चाहिये ।

सर्वे देवा वशे तस्य यस्य कामो न विद्यते ।
काम एव यतः सर्वान् कुरुतेऽवशगान् सदा ॥ ४५ ॥

इति हनुमद्दासकृतायां शब्दसुधायां हरिजनव्यवहारात्मावलम्बनवर्णनं नाम षड्विंशतितमस्तरङ्गः ॥ २६ ॥

प्रकार की चेष्टा करते हैं ॥ ४३ ॥ और सद्गुरु हित कहते हैं, जो सब सज्जन हैं सो सुनें । इस रहस्य को कोई पुरुषोत्तम ही पाते हैं ॥ ४४ ॥

अक्षरार्थ-विवेक विचारादि विना जो संसारी लोक हरि आदि देव को स्ववश करने के लिये मन्त्रादि शस्त्रों से युद्ध करते हैं, सो इस प्रकार लडते (युद्ध करते) हैं कि जैसे कतहुं (कहिं) पन्नग (सर्प) गरुड को धरने के लिये उद्यम करता हो ।

अल्पज्ञ मनुष्य रूप मूषा का हेतु (प्रेम-प्रयोजन-सुसाधन) मायावी देवादिरूप विलाई से कैसन (किस प्रकार का, कैसे) हो सकता है । आश्चर्य है कि जम्बुक तुल्य प्राणी सिंह तुल्य कालदेवादि से खेत (युद्ध) करता है, वश करना चाहता है । और यह भी आश्चर्य संसार में दिखता है कि श्वान तुल्य मनुष्य कुञ्जर (हाथी) का सवार तुल्य स्वर्गस्थ देवादि कालादि को खदेड़ना (भगाना) चाहता है। और इस सन्धि (मर्म-भेद) को भी कोई विरला समझता है । इसी प्रकार आत्मज्ञानी रूप हरि सद्गुरु से जगत के प्राणी लडते हैं, कि जो उनका उपदेश नहीं मानते हैं, न आत्मावलम्बन करते हैं; परन्तु पन्नग के समान वे लोक सत्यात्मा ज्ञानी रूप गरुड को पा नहीं सकते; न उनकी बुद्धि से इनकी बुद्धि का मेल हो सकता; न ये अज्ञ उनसे युद्ध कर सकते; क्योंकि ये भूमिस्थ श्वान तुल्य हैं । ज्ञानी ज्ञानादि कुञ्जर पर सवार हैं, इत्यादि ॥ ६९ ॥

वर्तमान संसार की दशा प्रकरण २७.

उपदेशादि से भी संसार में सन्धि आदि के ज्ञान की दुर्लभता को बताते हुए सन्धि ज्ञानादि विना जो दशा होती है, उसको बताते हैं कि—

शब्द ॥ ७० ॥

को अस करै नगर कोतवलिया। मांस फैलाय गीध रखवरिया॥
मूस भौ नाव मंजार कनहरिया। सो दादुल सर्प पहरुआ॥

ईदृशे नगरे कोऽत्र यामिकत्वं करोतु वै।
यत्र मांसं सुविस्तीर्णं गृध्रोऽस्ति रक्षकस्तथा॥ १॥
मांसानि विषयाः सन्ति गृध्रास्तद्भोगलोलुपाः।
रक्षकत्वेन सर्वैर्हि सम्मता विषयात्मकाः॥ २॥
मूषको यत्र नाव्योऽस्ति मार्जारोऽस्ति च नाविकः।
तत्रापि यामिकत्वं हि वर्तते चातिदुर्लभम्॥ ३॥
आखुर्ज्ञेयः स शिष्यो यो निरर्थकक्रियापरः।
गृहासक्तोऽपि संसारसिन्धुं तरितुमिच्छति॥ ४॥
स्वार्थसाधनको यश्च मांसाशी लुब्धकस्तथा।
वैडालव्रतिकः कामी त्वाखुभुक् स गुरुः शठः॥ ५॥

ऐसा नगर में यहाँ यामिकत्व (पहारेदार, कोतवालपन) कौन करे, कि जहाँ मांस खूब विस्तृत (पसारा) है, और गीध रक्षक है॥ १॥ यहाँ विषय मांस हैं, और उनका भोग के लोलुप (अति लोभी) गृध्र (गीध) हैं, सो विषयात्मक (विषयासक्त) सब से रक्षक रूप माने गये हैं॥ २॥ मूस जहाँ नाव्य (नौका से पार जानेवाला) है, बिलाव नाविक (केवट) है, वहाँ भी यामिकत्व अति दुर्लभ है॥ ३॥ निरर्थक क्रिया को उत्तम माननेवाला, गृहासक्त होते भी संसारसमुद्र से तरने की इच्छा करनेवाला जो शिष्य है, उसको आखु (मूस) जानना चाहिये॥ ४॥ और जो गुरु

बैल बियाय गाय भौ बाँझा। बछवहि दूहै तिन तिन साँझा॥
निति उठि सिंह सियार से जूझै। कबिरक पद जन बिरला बूझै॥७०॥

अहो शेते च मण्डूकः सर्पस्तद्रक्षको मतः।
तत्रत्य यामिकत्वं च वर्तते बहु दुष्करम्॥६॥
सवासनोऽल्पशक्तिश्च मण्डूक इह कथ्यते।
प्रेताद्याः सन्ति सर्पाश्च रक्षकत्वेन सम्मताः॥७॥
सूते वै वृषभो वत्सं वन्ध्या गावोऽभवंस्तथा।
वत्सास्तिसृषु दुह्यन्ते सन्ध्यासु मानवैः सदा॥८॥
अज्ञो वै वृषभो ज्ञेयो वर्द्धते स निरन्तरम्।
सत्यो वाण्यश्च या गावो याश्च विद्यात्मिकाः शुभाः।
ताः सर्वा वन्ध्यतां याताः सत्यं न सुवते फलम्॥९॥
अतः सर्वे विदन्त्येते मायाकार्यानृतं नराः।
फलं तस्माच्च वाञ्छन्ति ते सदैवामृतात्मकम्॥१०॥

स्वार्थसाधक मांसभोजी लुब्धक (व्याध तुल्य लोभी) बैडालव्रतिक (कपटी) कामी शठ हो सो यहाँ आखुभुक् (मञ्जार) हैं॥५॥ आश्चर्य है कि, मण्डूक सोता है, और सांप उसका रक्षक माना गया है। तत्रत्य (वहाँ के) यामिकत्व भी बहुत दुष्कर हैं॥६॥ वासना सहित अल्पशक्तिवाला मनुष्य यहाँ मण्डूक कहा गया है, और प्रेत भूतादि सर्प हैं, सो रक्षक रूप माने गये हैं॥७॥

बैल वत्स को पैदा करता है, तथा गौयें वन्ध्या हो गई हैं, और सदा तीनों सन्ध्या में मनुष्यों से बछड़े दूहे जाते हैं॥८॥ अज्ञ वृषभ (बैल) ज्ञेय (जानने योग्य) है, सो सदा बढता है, जो शुभ विद्यारूप सत्य वाणी हैं सो गौयें हैं, सो सब वन्ध्यापन को प्राप्त हुई हैं, सत्य फल को नहीं पैदा करती हैं॥९॥ इससे ये सब मनुष्य माया के कार्य मिथ्या वस्तु को जानते हैं, और वे इसीसे अमृत रूप फल सदा ही चाहते हैं॥१०॥

अहो सिंहसमोऽप्येष मानवो मोहसंकुलः ।
जम्बुकैर्युध्यते सार्द्धं प्रेताद्यैर्विजिगीषया ॥११॥
विवेकादि विना नैव सद्गुरोरुपदेशनम् ।
केऽपि जानन्ति तज्ज्ञास्तु जानन्ति ह्यनपायिनम् ॥१२॥

आश्चर्य है कि सिंह तुल्य भी यह मनुष्य मोह से व्याप्त होकर, प्रेतादि के साथ युद्ध करता है, उसके विजय (वशीकरण) की इच्छा से ॥ ११ ॥ विवेकादि विना सद्गुरु के उपदेश को कोई नहीं समझते हैं। विवेकी ही अनपायी (अविनाशी) को समझते हैं ॥ १२ ॥

अक्षरार्थ–मोहनिन्द से सोये मनुष्यों को जगाना, गुरु रूप कोतवाल का काम है; परन्तु ऐसा विचित्र नगर (संसार) में कौन कोतवाली कर सकता है (गुरु बन सकता है) कि, जहाँ अन्यायोपार्जित धनादि विषय मांस फैलाये गये हैं, और लोभी विषयी मनुष्य देव मन आदि जहाँ रक्षक पूज्यादि बने हैं, विषयासक्त मन का विश्वास किये हैं। निरर्थक व्यवहारादि करनेवाले चूहा तुल्य जहाँ नाव (नाव्य) उपदेश नौका से तरनेवाला शिष्य हैं, मञ्जार तुल्य कनहार (पार उतारनेवाला गुरु) हैं। कुवासना युक्त मनुष्य रूप दादुर जहाँ सोये (देवादि के भरोसे निश्चिन्त) हैं। कुदेव काल अहंकारादिक सर्प जहाँ पहारेदार हैं, तहाँ कौन विवेकी कोतवाली करे।

बैल (जड़ मनुष्य, दुष्ट मन) विआता (बढता) है। सकाम कर्मादि देह को बढाते हैं। और गाय (सत्य वाणी बुद्धि) वन्ध्या हुई है; ज्ञान विराग पुत्र को नहीं पैदा करती है। इससे बछवा (मायिक वस्तु) को ही लोक तीन २ संध्या में दूहते (ध्याते–जानते–भोगते) हैं। और सिंह (विवेकादि में समर्थ मनुष्य) सदा सियार तुल्य (कुदेवादि) से युद्ध करता है, आत्मविचारादि नहीं करके उन्हें प्रसन्न वश करना चाहता है। इससे सद्गुरु के पद को कोई विरला बूझता है। फिर सबको कौन जगा सकता है ॥ ७० ॥

सद्गुरु के पद को पहचानने विना (' अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति । नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥ ' भ० गी० ४। ४०) इस वचन के अनुसार, आत्मज्ञान रहित गुरु आदि में श्रद्धा रहित नास्तिक तथा संशय युक्त मनवाले नष्ट होते हैं। तिनमें भी संशयात्मा अत्यन्त नष्ट होते हैं; क्योंकि उन्हें न यही लोक है न परलोक है, न कहीं सुख है। क्योंकि सर्वत्र उन्हें संशय ही है, इत्यादि आशय से कहते हैं कि—

शब्द ॥ ७१ ॥

हंसा संशय छूरी कुहिया । गैया पिवै बछरुअहिं दुहिया ॥
घर घर सावज करै अहेरा, पारथ ओटा लेई ।
पानी माँह तलफ गौ भूँभुरि, धूरि हिलोरा देई ॥

भो हंसाः ! संशयोऽज्ञानं कर्तरी घातुका मता ।
विद्या गावं पिबत्येष वत्सं दोग्धि सुखं हितम् ॥१३॥
संशयाक्रान्तबुद्धिर्वा स्वानन्दक्षीरसंयुतः ।
जीवो गौर्मोहतः कार्ये सुखं मत्वा हि दोग्धि तत् ॥१४॥
दुग्धं पिबति तस्यैव विषयानन्दलक्षणम् ।
आत्मानन्दं न वेत्त्येष संशयेन पराहतः ॥१५॥
इन्द्रियाद्याः शरव्या ये बाधनार्हाः सदैव हि ।
आखेटं कुर्वते शश्वजीवानां संशयात्तु ते ॥१६॥

हे विवेकियों ! संशय और अज्ञान घातुक (हिंसक-क्रूर) कर्तरी (कृपाणी-छूरी) मानी गई है । यह संशय विद्यारूप गौ को पी जाता है (नष्ट करता है), हित सुख दूध को वत्स से दूहता है (मिथ्या कल्पना करता है) ॥ १३ ॥ अथवा संशय युक्त बुद्धिवाला जीव आत्मानन्द दूध से युक्त गौ है, सो मोह से कार्य में सुख मान कर उसे दूहता (भोगता) है ॥ १४ ॥ उसीका विषयानन्द रूप दूध पीता है, संशय से पराहत (विनष्ट) यह आत्मानन्द को नहीं समझता है ॥ १५ ॥ जो इन्द्रियादि शरव्य

धरती बरषै बादल भींजै, भीठ भया पौंराऊ ।
हंस उड़ाने ताल सुखाने, चहले बेधा पाऊँ ॥

भीताश्च प्राणिनः सर्वे स्वेन्द्रियादेः सुरक्षकाः ।
स्वात्मत्राणस्य सिद्ध्यर्थं देवादीनाश्रयन्ति हि ॥१७॥
नित्यानन्दजले तीव्रतापपापादि भासते ।
विरसो विषयो दत्ते त्वानन्दस्य परंपराम् ॥१८॥
अहो भूमिष्ठकर्माद्यैस्तृप्यन्ति सर्वदेवताः ।
स्वर्गादौ तत्र मर्त्यानामानन्दो भासतेऽधिकः ॥१९॥
वर्षत्येषा ततो भूः स मेघः क्लिद्यति तेन तु ।
महोन्नतप्रदेशोऽपि नावा तार्योऽभवत्तथा ॥२०॥
संशयस्य विकाशोऽयं बोधानां यो विपर्ययः ।
तेन हंसे समुत्क्रान्ते शुष्के देहसरोवरे ॥२१॥

(ज्ञानादि शर से वेध्य चाञ्चल्य कामादिवाले) हैं, सदा ही बाधन (नाशन मिथ्या समझने योग्य) हैं। वे भी संशय से सदा जीवों के आखेट (शिकार) करते हैं ॥ १६ ॥ अपने इन्द्रियादि के सुन्दर रक्षक भी सब प्राणी उनसे डर कर, अपनी आत्मा की रक्षा की सिद्धि के लिये देवादि का शरण लेते हैं ॥ १७ ॥ नित्यानन्द रूप जल (आत्मा) में तीव्र ताप पापादि दीप्त होते हैं और आनन्द रहित विषय आनन्द की परंपरा (प्रवाहों) को देते हैं। यह सब अज्ञान संशय का प्रभाव है ॥ १८ ॥

आश्चर्य है कि भूमि निवासी के कर्मादि से स्वर्गादि में सब देव तृप्त होते हैं, और मनुष्यों को वहाँ अधिक आनन्द भासता है ॥ १९ ॥ तिसी से यह भूमि वर्षती है, और मेघ (स्वर्ग) उससे आर्द्र होता है, और वह महा उन्नत (ऊंचा) प्रदेश भी आनन्द जल के मारे नौका से तरने योग्य हुआ है ॥ २० ॥ ज्ञानों का जो यह विपर्यय है, सो संशय का ही विकाश (प्रकाश) है, और तिसी से इस देह से हंस (जीव) के निकलने पर,

जब लगि कर डोले पगु चलये, तब लगि आश न कीजै ।
कहहिं कबिर जो चलत नदी से, तासु वचन का लीजै ॥७१॥

गार्भनारकजम्बाले पादोऽस्य सज्जते मनः ।
पुनः पुनर्न यावत्स स्वात्मानं लभते ध्रुवम् ॥२२॥

" योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः ।
स्थाणुमन्येऽनुसंयान्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् " ॥२३॥

आशापाशनिबद्धश्च कर्मलोभातियन्त्रितः ।
धूर्ताद्यैर्मोहितश्चैव सज्जते कर्मकर्दमे ॥२४॥

भो हंस तव हस्तौ च पादौ यावत् क्रियाक्षमौ ।
शरीरे स्वस्थताद्याश्च तावदाशां जहीहि वै ॥२५॥

आशां त्यक्त्वा विचारादिपौरुषेण च संशयान् ।
उन्मूल्यैव समूलं त्वमात्मकामः सुखी भव ॥२६॥

देह सरोवर के सूखने पर, भी गर्भ सम्बन्धी नरक रूप जम्बाल (कर्दम पंक) में इस जीव का मनरूप पैर बार २ अवश्य फंस जाता है; जब तक वह अपनी आत्मा को नहीं पाता है ॥ २१-२२ ॥ आत्मप्राप्ति विना अन्य (कोई) शरीर धारण के लिये योनि में प्राप्त होते हैं। कोई स्थाणु (स्थावर) भाव को पाते हैं। सो भी कर्म और श्रुत (ज्ञानोपासनादि) के अनुसार पाते हैं। यह कठ० २।५।७ का वचन है ॥ २३ ॥ आशारूप पाश से सुबद्ध और कर्म लोभादि से अत्यन्त यन्त्रित (परवश) धूर्तादि से मोहित जीव कुकर्म रूप कर्दम में भी फंसते हैं ॥ २४ ॥

हे हंस! तेरे हाथ और पैर जब तक क्रिया में क्षम (समर्थ-शक्त) हैं, शरीर में स्वस्थता (आरोग्य) आदि हैं, तब तक आशा को अवश्य त्यागो ॥ २५ ॥ आशा को त्याग कर श्रवण विचारादि रूप पौरुष से संशयों को मूल सहित नष्ट करके आत्मकाम (आत्मा से अन्य की इच्छा रहित)

नदीवत् स्पन्दमानस्य चलस्य परिणामिनः ।
देवादेर्विश्ववर्गस्य बोधकं वचनं च यत् ॥२७॥
तन्नैव गृह्यतां हंस! किं तेन स्यात्प्रयोजनम् ।
चलचित्तस्य पुंसोऽपि वचनं नैव गृह्यताम् ॥२८॥
श्रोतव्यं हि सतां वाक्यं येन बाधो भवेद् ध्रुवम् ।
अचलस्यात्मतत्त्वस्य यस्मान्न भवसंक्रमः ॥२९॥
" यस्यैव खलु संपर्कात्प्रबोधानन्दसंभवः ।
गुरुं तमेव वृणुयान्नापरं मतिमान्नरः ॥३०॥
असंशयवतां मुक्तिर्न संशयवतां क्वचित् ।
तस्मात्संशयभेत्तारं गुरुं सम्यक् श्रयेन्नरः " ॥३१॥
विपर्ययज्ञानकुसंशयैर्जना
विभिन्नचित्ता नहि जातु सत् पदम् ।
सुखं च विन्दन्ति परत्र ना क्वचि
न्मुधैव धावन्ति तु सर्वतः सदा ॥३२॥

तुम सुखी हो ॥ २६ ॥ नदी की नाईं बहता हुआ, चञ्चल, परिणामी जो देवादि, वा विश्व (भुवनादि संसार) का वर्ग (समूह विशेष) उनके बोधक जो वचन; हे हंस! उस वचन का ग्रहण (श्रवणादि) नहीं करो; उससे क्या प्रयोजन (फल) होगा। इसी प्रकार चञ्चल चित्तवाले पुरुष के वचन का भी ग्रहण नहीं करो ॥ २७–२८ ॥ सत्पुरुषों के वाक्य (वचन) सुनना चाहिये, कि जिससे अचल आत्मस्वरूप का अवश्य बोध होय, और जिस बोध से भवसंक्रम (संसारदुर्ग में गति) नहीं हो ॥२९॥ जिस महापुरुष के संबन्ध से उक्त ज्ञान आनन्द का संभव हो, बुद्धिमान् मनुष्य उन्हीको गुरु स्वीकार करे, अन्य को नहीं ॥ ३० ॥ आत्मज्ञान से असंशयों (सर्व संशय रहितों) की सर्वत्र मुक्ति है, संशयवालो की कहीं नहीं; तिससे संशयों को नष्ट करनेवाले गुरु को मनुष्य सम्यक् सेवे ॥३१॥ विपर्यय (उलटा मिथ्या) ज्ञान और दुष्ट संशयों से विभिन्न (भेदयुक्त)

गुरून् समाश्रित्य तु ये बुधाः स्वयं
विवेकतो हंसदशामुपेत्य च ।
समूलमाच्छिद्य हि संशयादिकं
तिष्ठन्ति तेऽनन्तसुखस्य भागिनः ॥३३॥७१॥

इति हनुमद्दासकृतायां शब्दसुधायां वर्तमानसंसारदशाहंससंबोधनं नाम सप्तविंशतितमस्तरङ्गः ॥२७॥

चित्तवाले मनुष्य कभी परलोक में वा कहीं सतपद (स्थान वस्तु) और सुख नहीं पाते हैं, और व्यर्थ ही सदा सर्वत्र धावते हैं । ३२ ।। जो बुध (विवेकी) गुरुओं का सम्यक् आश्रयण करके और स्वयं विवेक से हंसदशा को प्राप्त करके, संशयादि को मूल सहित नष्ट करके स्थिर होते हैं, सो अनन्त सुख के भागी होते हैं ॥ ३३ ॥

अक्षरार्थ –हे हंसा ! (जीव वा विवेकी !) संशय कुहिया (घातक) छूरी है इसीसे मन माया रूप गाय विद्यादि को पीती है (नष्ट करती है)। उससे आनन्द नहीं होने देती है । आनन्द स्वरूप जीवात्मा रूप गाय मायिक कार्य रूप बछरू को दूह कर सुख रूप दूध पीता है (भोगता है) । घर २ (सब देह) में सावज (इन्द्रियाँ मन संशयादि) पारथ (उनके रक्षक जीव) का अहेर (शिकार) करते हैं और वह पारथ देवादि की ओट (शरण) लेता है । और पानी माँह (आत्मा में) भूँभुरि (राख में छिपी हुई तीव्र अग्नि तुल्य ताप पापादि) तलफ गौ (बढ गया है) और तप्त धूरि (धूलि तुल्य विषय) हिलोरा (आनन्द के तरंग) देती है।

और धरती (भूमिवासी) वरसती है (कर्म करते हैं), उससे बादल (मेघ) भींजता है (स्वर्गीय देव तृप्त होते हैं) तथा स्थूल देह के दुःखादि से आत्मा दुःखादि वाला होता है, और भीठ (उच्च भूमि स्वर्गादि) पौंराऊ (अगाधानन्द जलयुक्त) भया (भासता) है। इससे वासनादि युक्त हंस (जीव)के उड़ने (प्राण त्यागने) पर ताल (शरीर) तो सुखाने (सूख गया);

परन्तु वासनादि से गर्भ नरकादि चहले (कादों–दलदल) में उस अविवेकी के पाँव (मन) बेधा (फंस गया)। इससे संशयादि दुःखद छूरी हैं।

जब लगि (जबतक) कर (हाथ) डोलता (समर्थ) है, पगु (पैर) चलने में समर्थ है, अन्य इन्द्रियों में भी विकलता असामर्थ्यादि नहीं हैं; तब तक किसी की आशा नहीं करो; किन्तु अपना पुरुषार्थ विचारादि करो। इसी लिये साधन मिले हैं। और साहब का कहना है कि जो नदी के समान चलायमान है, उस वस्तु के बोधक वचन, वा वैसा चञ्चल का कहा वचन को कया लेते (धारण करते) हो। अचल तत्त्व के बोधक किसी अचल पुरुष के वचनों को सुनो। अथवा जबतक करादि समर्थ हैं, तभी तक, आसन (आत्मस्थिति) कर लो। जो चलते फिरते दशा में न दीसे, नहीं दीख पड़े, उस परोक्ष मोक्ष लोकादि की बात कया लेते हो, इत्यादि ॥ ७१ ॥

निराकार के ज्ञान विना साकारासक्ति प्र० २८

पूर्व शब्द में संशयादि को अनर्थ का हेतु कहा गया है। उसके प्रसङ्ग से संशय विशेष की निवृत्ति के लिये निरवयव आत्मा का उपदेश देते हैं। तहाँ तैत्तिरीय श्रुति में अन्नमयादि कोशों में पक्षीरूपता की कल्पना करके आनन्दमय में पक्षीरूपता की कल्पना की गई है कि ('तस्य प्रियमेव शिरः, मोदो दक्षिणः पक्षः, प्रमोद उत्तरः पक्षः, आनन्द आत्मा ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा'। २।५) इष्ट विषय के दर्शन, प्राप्ति, भोग जन्य सुख को प्रिय, मोद, प्रमोद, क्रम से कहते हैं। तहाँ आनन्दमय के प्रिय शिर है, मोद दक्षिण पांख है, प्रमोद उत्तर पांख है, और सब सुखों में अनुगत आनन्द उसका आत्मा है। ब्रह्मस्थिति का हेतु पुच्छरूप है। और ऋग्वेद अ० ८ वर्ग १० म० ४ अ० ५।२५। का मन्त्र है कि ('चत्वारि शृङ्गा त्रयोऽस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य। त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महादेवो

मर्त्यांनाविवेश') व्याकरण महाभाष्य और वेद भाष्य के अनुसार संक्षिप्त अर्थ है कि, शब्द ब्रह्म वा यज्ञपुरुष एक वृषभ है। उसके नाम, उपसर्ग, अख्यात, निपात; ये चार शब्द, वा चार वेद चार सींग हैं, तीन काल वा तीन सवन पाद हैं, नित्य अनित्य शब्द वा ब्रह्मौदन प्रवर्ग दो शिर हैं। सात विभक्तियाँ वा सात छन्द हाथ हैं, हृदय कण्ठ शिर में वा तीन अग्नि में वह वृषभ बँधा है। और वैयाकरण लोक शब्द ब्रह्म को ही अन्तर्यामी चेतन ब्रह्म इत्यादि भी कहते हैं, सो कैयट विवरणादि ग्रन्थों में प्रसिद्ध है। कोई अन्तर्यामी ब्राह्मणादि से ब्रह्मात्मा में सत्य शरीरीपन मानते हैं, इत्यादि। सो सुनकर जिज्ञासु को चेतनात्मा में सावयवता आदि का संशय होता है। तिस संशय की निवृत्ति के लिये, तथा पूर्वकथित हंसादि पद जन्य संशय की निवृत्ति के लिये कहते हैं कि—

शब्द ॥ ७२ ॥

सावज न होय भाई सावज न होये। वाके मांसु भखै सब कोई॥

युक्तः प्रियशिरस्त्वाद्यैः शृङ्गाद्यैः संयुतस्तथा।
लक्ष्यो न वर्तते भ्रातर्यद्बोधान्मुक्तिरीप्सिता॥ १॥

कल्पितोऽसद्वुपायात्मा ह्युपेयो निर्गुणः परः।
अखण्डो नित्यबोधश्च शुद्धः सत्यो निरञ्जनः॥ २॥

हे भाई! जिसके ज्ञान से मुक्ति ईप्सित (प्राप्त करने की इच्छा का विषय) है, वह तत्त्वमस्यादि वाक्यों से लक्ष्य (लक्षणा वृत्ति से ज्ञेय) ब्रह्मात्मा प्रियशिरस्त्वादि से वा उक्त सींगादि से युक्त नहीं है ॥ १॥ वह शिर आदि वाला और शृङ्गादि वाला पदार्थ कल्पित ज्ञान के उपाय (साधन) रूप है। उपेय (उपाय से प्राप्य) निर्गुण आत्मा पर (उससे भिन्न) है, सो अखण्ड नित्य ज्ञानस्वरूप शुद्ध सत्य निरञ्जन (माया रहित) है ॥ २॥

सावज एक सकल संसारा, अविगति वाकी बाता ।
पेट फाँरि जो देखिय भाई, नाहिं कलेज न आँता ॥

अहो तथाऽप्यबोधेन सर्वे सांशस्य वस्तुनः ।
मांसं विषयजं सौख्यं भुञ्जते न स्वयंभुवः ॥ ३ ॥
विवेके विषयानन्दोऽस्यैवांशः प्रसिद्ध्यति ।
भुञ्जते तं च सर्वेऽपि मन्यन्ते विषयैः कृतम् ॥ ४ ॥
लब्धव्यो लक्ष्य एको यो ह्यखण्डो वर्तते सदा ।
संसारे निखिलेऽप्यत्र तस्य वार्ताऽपि दुर्गमा ॥ ५ ॥
विवेकेन यदि त्वत्र दृश्यते केन धीमता ।
तदा यकृच्च वाऽऽन्त्राणि दृश्यन्तेऽत्र कदाचन ॥ ६ ॥
शरीरस्यैव ते भागा आत्मनो नैव केचन ।
निरंशो निर्गुणश्चातः स्वात्मा चैतन्यरूपवान् ॥ ७ ॥

आश्चर्य है कि तो भी सब कोई अज्ञान से सांश (सावयव) वस्तु के विषयजन्य सुखरूप मांस भोगते हैं, स्वयंभू (परमात्मा) के आनन्द को नहीं भोगते ॥ ३ ॥ विवेक होनेपर विषयानन्द भी इस परमात्मा के ही अंश तुल्य सिद्ध होता है, और उसीको लोक भोगते हैं; परन्तु विषयों से जन्य उसको सब मानते हैं ॥ ४ ॥

प्राप्त करने योग्य गुरु वेदवाक्य से लक्षणा द्वारा ज्ञेय जो सदा अखण्ड एक आत्मा है । इस सब संसार में ही उसकी बात भी दुर्गम (कठिनता से प्राप्ति योग्य) है ॥ ५ ॥ यदि किसी बुद्धिमान से यहाँ विवेक दृष्टि से आत्मा देखा जाता है, तो इस आत्मा में यकृत् (कलेजा), अन्त्र (आंत) कभी नहीं दीखते हैं ॥ ६ ॥ वे यकृत् आदि शरीर के ही भाग (अंश) हैं, आत्मा के कोई अंश नहीं हैं। इससे चैतन्य स्वरूपवाला आत्मा निर्गुण निरंश ही है ॥ ७ ॥

ऐसी वाकी मांसु रे भाई, पल पल मांसु बिकाई ।
हाड़ गोड़ नहिं घूर पत्रारे, आगि धुआँ नहिं खाई ॥
शीर सींग कछुवो नहिं वाको, पूंछ कहाँ वह पावै ।
सब पण्डित मिलि धन्धे परिया, कबिर बनौरी गावै ॥७२॥

आनन्दात्माऽस्य यन्मांसं तच्च प्रतिपलं मुहुः ।
कर्मभिर्गृह्यते जीवैरद्भुतं तद्विभाति च ॥ ८ ॥
निरंशत्वान्न तस्यास्थि पादो वा विद्यते पृथक् ।
प्रक्षेपोऽवकरे नातो विद्यते विषये स्वयम् ॥ ९ ॥
असङ्गत्वान्न तद्दाहो वह्निना न च धूमकैः ।
सङ्गोऽपि विद्यते क्वापि निर्विशेषः स विद्यते ॥ १० ॥
शिरः शृङ्गं न यस्यास्ति नान्यदङ्गं च किञ्चन ।
स लभेत कुतः पुच्छमिति वेदविदां मतम् ॥ ११ ॥
ये तु वेदानभिज्ञास्ते यद्यपि प्राज्ञमानिनः ।
मिलित्वा मोहतः सर्वे व्यवहारपरायणाः ॥ १२ ॥

उस निर्गुण के आनन्द स्वरूप जो मांस है, वही जीवों से कर्मों द्वारा प्रतिपल (क्षण) में गृहीत होता है, और वही अद्भुत प्रतीत होता है ॥ ८ ॥ निरंश होने से उसके हाड़ वा पैर भी पृथक् नहीं हैं; इसी से विषय रूप अवकर (संकर–कचरा) में स्वयं उनका प्रक्षेप नहीं होता है, कल्पना भले ही हो ॥ ९ ॥ असङ्ग होने से उसका अग्नि से दाह नहीं होता, न धूमों से कहीं संग है वह निर्विशेष ही है ॥१०॥ जिसके शिर सींग नहीं हैं, न अन्य कलेजादि कोई ध्रुवाङ्ग हैं, वह अध्रुवाङ्ग पुच्छ कहाँ से पावेगा । यह वेदवेत्ता सद्गुरुओं का मत है ॥११॥ जो वेद के अनभिज्ञ हैं, वे यद्यपि अपने को पण्डित मानते हैं, तो भी वे सब मिलकर मोह से

कवयोऽपि त्वतत्त्वज्ञा गायन्ति कल्पितं सदा।
सनातनं न तं देवं महाश्चर्यमिदं खलु ॥ १३ ॥ ७२ ॥

व्यवहार (विवाद) परायण हैं ॥१२॥ अतत्त्वज्ञ कवि भी सदा कल्पित को ही गाते हैं। सनातन उस देव को नहीं गाते, यही महाश्चर्य है ॥१३॥

अक्षरार्थ-हे भाई! जिसके संशयादि से संसारदुःख होता है, और ज्ञानःसे मोक्ष होता है, वह शिर सिंग पूंछ आदि वाला सावज रूप नहीं होता है, न सावजरूप है, और उसी निरवयव का मांस आनन्द को (एष ह्येवानन्दयाति। तैत्तिरीय० २। ७) इत्यादि वचन के अनुसार सब कोई भखते (भोगते) हैं, किसी विषयादि द्वारा अनुभव करते हैं।

वह एक अखण्ड सावज (लक्ष्य-प्राप्य) सब संसार में व्यापक है, उसकी बात भी अविगति (अगम्य-अथाह) है। यदि पेट को फारि (हृदय में विवेक कर) के देखा जाय, तो उसमें कलेजा आंतादि कुछ नहीं प्रतीत होते हैं; क्योंकि ये सब देह के अवयव हैं, आत्मा के नहीं।

वाकी (उस आत्मा के) ऐसा अद्भुत आनन्द रूप मांस है कि पल पल में बिकता है, शुद्धान्तःकरण से सदा गृहीत होता है, कर्मादि द्वारा सदा जीव उसे प्राप्त करते हैं; तो भी अक्षय एक रस रहता है। और लौकिक सावज के हाड़ गोड़ (पैर) घूर (कूड़ाखाना) में पवारे (डाले) जाते हैं; परन्तु इस सावज के हाड़ गोंड़ घूर में नहीं पवारे (फेंके) जाते हैं; क्योंकि इस में हाड़ादि तुल्य निरसांश कुछ है ही नहीं। और असंग होनेसे इसको अग्नि और धूमादि कोई खा नहीं सकता है, किसी प्रकार इसका नाश विकार नहीं होता है। और वाके (उसके) लौकिक वा शास्त्र-कल्पित शिर सिंगादि कुछ (कोई) अवयव नहीं हैं, तो ध्रुव अवयवों से रहित वह अध्रुव अवयव पूंछ कहां पा सकता है। अर्थात् कल्पित पूंछादि वाला ब्रह्मात्मा नहीं है; किन्तु उसे समझने के लिये उपाय रूप है; तो भी अविवेकी पुस्तकपाठी पण्डित सब भी शिर सिंगादिवाला की ही भक्ति

आदिरूप धन्धे (व्यापारों) में लगे पड़े हैं। और कवि लोक भी उसी बनौरी (बनावटी कल्पित) को सत्यादि रूप से गाते हैं। या कबीर साहब उसे कल्पित कहते हैं (बनरा, दुलहा को कहते हैं)। इससे बनरा का गीत को भी बनौरी कह सकते हैं ॥७२॥

जिसका निरवयव सावजरूप से प्रथम वर्णन हुआ है, वही सर्वात्मा जीवों का सत्य स्वरूप है। उसीके विचार ज्ञानादि से जीवों का कल्याण होता है; परन्तु यह जीव उसके विचारादि नहीं करके कवियों से वर्णित सावयव सावज (लक्ष्य) में, मन लगाता है। इससे संसारी बना रहता है, और सर्वात्मा में मन लगानेवाला मुक्त होता है। इत्यादि आशय से कहते हैं कि—

शब्द ॥ ७३ ॥

देखहु लोगा हरिकि सगाई। माय धरि पूत धिया संग जाई॥

भो लोकाः ! श्रीहरेः सङ्गो दृश्यतामद्भुतो महान् ॥
जगतो जननीं मायां धृत्वा स धावति धिया ॥ १४ ॥
स्वयं पूतोऽपि मायाया धारणात् पुत्रतां व्रजन् ।
असङ्गोऽपि ससङ्गः सन् बुद्धया गच्छति सर्वदा ॥ १५ ॥
सच्छिक्षया समृद्धया च चिदानन्देन सङ्गतः ।
मायिनोऽपि गृहे शुद्धे बुद्धया विशति निर्भयम् ॥ १६ ॥

हे लोकों ! श्रीहरि के अद्भुत महान् (बड़ा) सम्बन्ध को देखो। वह जगत की जननी (माता) अविद्या रूप माया को उपाधि रूप से धर कर, और धी (बुद्धि) के साथ धावता है। १४ ॥ स्वयं स्वरूप से पूत (पवित्र) होते भी माया (अविद्या) का धारण से मलिन पुत्रता (जीवता) को प्राप्त होता हुआ, असङ्ग भी ससङ्ग तुल्य होता हुआ बुद्धि के साथ सदा गमन करता है ॥ १५ ॥ सत शिक्षा और ज्ञान धन की समृद्धि (पूर्णता) से चिदानन्द से सङ्गत हो (मिल) कर, मायी ईश्वर देवादि के

सासु ननद मिलि अचल चलाई। मदरियाके घर बिटिया जाई ॥
मैं बहनोइ राम मोर सारा। हमहिं बाप हरि पुत्र हमारा ॥

असच्छिक्षादिभिः सैव कूटस्थेऽपि क्रियां मुधा।
कल्पयित्वा धिया याति देवादीनां गृहे भवे ॥ १७ ॥

अहं स्यन्दनशीलोऽत्र रामस्वसृपतिः प्रियः।
बुद्धेर्जीवात्मना चैवमृष्यशृङ्गात्मना तथा ॥ १८ ॥

श्यालो मे रामनामा स सारः संसारतारणः।
तस्य चाहं पिता जीवः पुत्रो मे जायते हरिः ॥ १९ ॥

इत्येवं बहुधा कल्पान् कल्पयन् मायया हरिः।
भ्राम्यत्यत्रैव संसारे जीवभूतः सनातनः ॥ २० ॥

भी घर (अधिष्ठान) स्वरूप शुद्ध ब्रह्म में बुद्धि बल से निर्भय पैठ जाता है ॥ १६ ॥ वही असत् शिक्षा सङ्गादि से कूटस्थ (निर्विकार-अचल) आत्मा में भी व्यर्थ क्रिया की कल्पना करके देवादि के घर रूप संसार बुद्धि के साथ जाता है ॥ १७ ॥ और मैं इस संसार समुद्र में स्यन्दन (वहन) शील (स्वभाव) वाला हूं, राम की बहन के पति हूं, राम के प्रिय हूं; क्योंकि राम की बुद्धि तत्त्व बहन है, उसका मैं जीव रूप से पति हूं, और इसी प्रकार ऋष्यशृङ्ग ऋषि रूप से सगुण राम की बहन के पति जीव है ॥ १८ ॥ और वह रामनामवाला मेरा (जीव का) श्याला है, तथा संसार से तारनेवाला सार (सत्य अविनाशी स्वामी) है, दशरथादि रूप मैं जीव उस राम के पिता हूं, और वह हरि मेरा पुत्र होता है ॥१९॥ जीव रूप सनातन अनादि यह हरि, इस पूर्व वर्णित रूप से ऐसे ही बहुत प्रकार के कल्प (विधि-क्रम) की कल्पना को माया से करता हुआ, इस संसार ही में भ्रमता है ॥ २० ॥

कहहिं कबीर ई हरि के बूता। राम रमै ते कुकुरिक पूता ॥७३॥

हरेरियं हि माया या दृश्यते व्यक्तरूपतः।
पितापुत्रादिकं सर्वं गात्रं मायामयं जगत् ॥ २१ ॥
इति बुद्ध्वा विशुद्धे यो रामे वै रमते सदा।
स पूतो जगतां मूलं ब्रह्मभूतो हि जायते ॥ २२ ॥
विश्वोऽयं तन्तुसंघोऽस्ति तस्य मूलं निरञ्जनः।
रममाणस्तदात्मैव तत्रास्ते बुद्धिसंयुतः ॥ २३ ॥
" माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद । "
इत्येवं भगवद्वाक्यं विद्यते भारते स्फुटम् ॥ २४ ॥
मायया मोहितो देवः सर्वकृच्चेति संश्रुतः।
तस्मात्सर्वं विचित्रं तज्जातं विश्वं सुनिश्चितम् ॥ २५ ॥
परमात्माऽद्वयानन्दपूर्णः पूर्वं स्वमायया।
स्वयमेव जगद्भूत्वा प्राविशज्जीवरूपतः ॥ २६ ॥

जो कुछ यह व्यक्त रूप से दीखता है, सो हरि की माया है, पिता-पुत्रादिरूप सब गात्र (शरीर) भी मायामय जगत है ॥ २१ ॥ इस प्रकार समझकर, जो विशुद्ध आत्मा राम में ही सदा रमता है, वह जगत का मूल ब्रह्मस्वरूप पूत (पवित्र) ही हो जाता है ॥ २२ ॥ कारण सूक्ष्म स्थूल शरीर सहित यह सब विश्वनामवाला जीव मानो तन्तु का समूह रूप है, उसका मूल (अधिष्ठान-आधार) निरञ्जन (निर्गुण राम) है। बुद्धि ज्ञान सहित उस में रमता हुआ विश्वनामा जीव तत्स्वरूप ही है ॥ २३ ॥ हे नारद ! जो मुझे देख रहे हो, यह मुझ से माया रची गई है, यह इस प्रकार का भगवान् का वाक्य महाभारत में स्फुट है ॥ २४ ॥ माया से मोहित (मायोपाधि में प्रतिबिम्बित) होकर परमात्मा सब करता है, सो कैवल्य श्रुति में श्रुत है, तिस सब विचित्र कार्य विश्व (सर्व भुवनादि संसार) उसी से जात (उत्पन्न) है, यह सुनिश्चित बात है ॥ २५ ॥ पञ्च-दशी के वचन हैं कि सृष्टि से प्रथम परमात्मा अद्वैत आनन्दरूप पूर्ण था,

अनेकजन्मभजनात्स्वविचारं चिकीर्षति ।
विचारेण विनष्टायां मायायां शिष्यते स्वयम् ॥ २७ ॥

सो अपनी माया से जगत रूप होकर, उस में जीवरूप से पैठ गया ॥२६॥ फिर अनेक जन्म में भजन (निष्काम कर्मोपासना) से, अपना विचार करना चाहता है, और विचार से अविद्या माया के नष्ट होने पर स्वयं पूर्ण रूप रहता है ॥ २७ ॥

अक्षरार्थ–हे लोकों! हरि (जीवात्मा) की कल्पित सगाई (सम्बन्ध) को देखो (समझो)। यह माय (जगन्माता-माया) को धर कर, स्वयं पूत (पवित्र) होते भी धिया (बुद्धि-पुत्री) के संग से जाता (जन्मता, क्रिया करता) है, या माया (मोह कपटादि) का धारण करके पूत (पुत्र) बनता है, और बुद्धि के साथ गमन करता है। और मिथ्या उपदेश, मायी गुरु, माया, अविद्या आदि रूप सासु ननद से मिलकर, यह कुबुद्धि रूप विटिया (पुत्री) अचल (अक्रिय) को भी चला कर (उस में क्रिया सिद्ध कर के) मदरिया (मायावी) देवादि के घर (स्वर्गादि) में जाती है, (अदल चलाई-बैठी जाई)। इस पाठान्तर पक्ष में अदल का हुकुम-अधिकार अर्थ है। और बुद्धि की ऐसी स्थिति होने से जीव समझता है कि मैं संसार में बहनेवाला हूं, मुझ से अत्यन्त भिन्न राम मेरा सार (सत्य स्वामी) हैं, तथा ऋष्यशृङ्गादि रूप से मैं (जीव) बहनोई हूं, और राम मोर (ऋष्य-शृङ्ग जीव का) सार (श्याला) हैं। और दशरथादि रूप हम ही (जीव ही) बाप हैं, और हरि हमारा (दशरथादि जीव का) पुत्र हैं। या पुन्नामक नरक से रक्षा करनेवाला हरि ही हैं, इससे पुत्र है, सज्जन भक्त उन्हे संसार में प्रगट करनेवाला हैं; इससे बाप हैं, इत्यादि।

साहब का कहना है कि, जिस व्यक्त हरि को लोक जीव के पुत्र सारादि कहते हैं, सो और यह सब संसार सत्य सर्वात्मा हरि के बूता (शक्ति वा स्वांग) मात्र हैं, ऐसा समझकर सर्वात्मा राम में जो रमते हैं,

सो संसारशरीरादि रूप कुकुरी (सूत समुदाय) के पूता (पवित्र आधार पुत्ती) ही हो जाते हैं। (अभयं वै ब्रह्माभयं हि वै ब्रह्म भवति य एवं वेद। बृ० ।४।४।२५) ॥ ७३ ॥

सत्य राम के स्वरूप को जानने बिना, उक्त हरि के बूतों में ही राम हरि आदि बुद्धिवालों की समझ कथन का वर्णन करते हैं कि —

शब्द ॥ ७४ ॥

हरि मोर पिय मैं राम कि बहुरिया। राम बड़ा मैं तनकी लहुरिया ॥

हरिर्मेऽस्ति धवोऽहं च तस्यैव वनिता सती।
इत्येवं रमते लोकः स्वात्मानं मन्यते नहि ॥ २८ ॥
रामोऽस्ति च महांस्तस्मादहं सूक्ष्मो लघुस्तथा।
शरीरेणापि खर्वोऽहं तस्य वर्ष्म त्विदं जगत् ॥ २९ ॥
तन्तुयन्त्रं हरिर्मे स शुद्धा कार्पासिकाऽस्म्यहम्।
तदाश्रितो हि सूक्ष्मात्मा तन्निष्ठश्च भवाम्यहम् ॥ ३० ॥
प्रकल्प्यैवमयं जीवो धृत्वा नाम हरेस्तथा।
स्वात्मानं सूत्रभावेन सम्पादयति सर्वदा ॥ ३१ ॥

हरि मेरा धव (भर्ता) है, मैं उनकी ही सती वनिता (स्त्री) हूं, इस रीति से लोग हरि में रमते हैं। अपनी आत्मारूप नहीं मानते हैं ॥२८॥ राम महान् (विभु या बड़ा) हैं और उन से मैं सूक्ष्म (अणु) रूप तथा लघु (छोटा) हूं, शरीर से भी मैं खर्व (नीच ह्रस्व) हूं। और उनका वर्ष्म (शरीर) तो यह सब जगत है ॥२९॥ वह हरि मेरा तन्तुयन्त्र (चरखा) हैं, मैं शुद्ध कार्पासिका (कपास की पियुनी) हूं। उस के आश्रित रह कर मैं सूक्ष्मस्वरूप उन में निष्ठावाला होता हूं ॥३०॥ यह जीव इस प्रकार की कल्पना करके तथा हरि के नाम का धारण करके अपनी आत्मा को सूत्ररूप से सदा सिद्ध करता हैं ॥ ३१ ॥

हरि मोर रहट मैं रतन पिउरिया। हरि के नाम लै कातिन बहुरिया ॥
छौ मास ताग बरष दिन कुकुरी। लोग बोलैं भल कातिन बपुरी ॥
कहहिं कबीर सूत भल काता। हरि रहटा नहिं मुक्तिक दाता ॥७४॥

षण्मासैश्च भवत्यस्य तन्तुतुल्याऽल्पभावना।
अब्देन तन्तुसंघोऽसौ भावनैव विवल्गति ॥ ३२ ॥

एवं कृते च लोका हि प्रशंसन्ति तमञ्जसा।
अहो जीवेन बुद्धेन कृतं कार्यं सुसङ्गतम् ॥ ३३ ॥

सद्गुरुश्चाह सूत्रं तद् विद्यते भावलक्षणम्।
वरं यद्यपि लोके न तथापि मोक्षलक्षणम् ॥ ३४ ॥

सूत्रयन्त्रसमो यद्वा सोऽरघट्टसमो हरिः।
तटस्थो भ्रामको लोके सर्वात्मा मुक्तिदः सदा ॥३५॥

यद्भक्त्या भवनिस्तीर्णो भाति भासा भवेशवत्।
भज तं निर्मलं राममात्मानं मुक्तलक्षणम् ॥ ३६ ॥

छौ मास में इसकी तन्तु तुल्य अल्प भावना (भक्ति) होती है, और एक वर्ष में तन्तुसंघ (समूह) रूप वह भावना ही विस्तृत होती है ॥३२॥ इस प्रकार करने पर उसकी प्रशंसा लोक अञ्जसा (सत्य रूप से) करते हैं, कहते हैं कि इस बुद्ध (पण्डित) जीव ने सुसङ्गत कार्य किया है ॥३३॥

सद्गुरु साहब कहते हैं कि भावना रूप वह सूत यद्यपि लोक में अन्य पदार्थ भावनादि से वर (श्रेष्ठ) है, उस का फल रूप सिद्धि अच्छी है, तथापि वह मोक्ष स्वरूप नहीं है ॥३४॥ वह तटस्थ हरि भी चरखा तुल्य वा रहट तुल्य हैं, इससे लोक में भ्रमानेवाले हैं, सर्वात्मा हरि सर्वदा मुक्तिदाता हैं ॥३५॥ इसलिये जिस सर्वात्मा हरि की भक्ति (विचारादि पूर्वक ज्ञानादि) से संसार तर कर, भवेश (जगदीश) तुल्य

षड्विकारैर्विहीनं कं विकाराणां प्रवर्तकम् ।
सत्तया स्वप्रकाशेन रामं वन्दस्व कामदम् ॥ ३७ ॥
यद्भासा भास्यते सर्वं यद्भक्त्या पूज्यते तथा ।
युज्यते मुक्तयेऽवश्यं तं रामं सर्वदा भज ॥ ३८ ॥
येन वास्यं जगत् कृत्स्नं यज्ज्ञानान्मुच्यते स्वयम् ।
तं वन्दस्व निजात्मानं राममानन्दचिद्घनम् ॥ ३९ ॥
ईश्वराणां महेशं तं देवानां देवमुत्तमम् ।
जीवानां जीवभूतं च प्राणप्राणमहं भजे ॥ ४० ॥
यः सूर्ये पुरुषो यश्च वन्हौ चक्षुषि वर्तते ।
अलिप्तः सर्वभृत् साक्षी पावनं तमहं भजे ॥ ४१ ॥
मायामात्रं जगद्यस्माद्रज्जुसर्पवदद्वयात् ।
निर्विकारं निराकारं निरीहं तं सदाश्रये ॥ ४२ ॥

ज्ञान दीप्ति से प्रकाशता है, मुक्त स्वरूप निर्मल उस आत्मा राम को भजो ॥३६॥ स्वयं जन्मादि छौ विकार से रहित होते भी अपनी सत्ता और प्रकाश से विकारों के साधक काम के नाशक सुखस्वरूप राम की वन्दना करो ॥३७॥ जिन के प्रकाश से सब वस्तु प्रकाशता है, जिन की भक्ति से पूज्य होता है, तथा अवश्य मुक्ति के लिये युक्त योग्य होता है, उस राम को सदा भजो ॥३८॥ जिस विभु से सब जगत् वास्य (आच्छादनीय) है, जिसके ज्ञान से स्वयं मुक्त होता है; अन्य की जरूरत नहीं होती, आनन्द चैतन्यघन उस निजात्मा राम की वन्दना करो ॥३९॥ ईश्वरों के महान ईश्वर, देवताओं में उत्तम देव, जीवों के जीव (आत्मा प्राण) स्वरूप, प्राणों के प्राण को मैं भजता हूं ॥४०॥ जो सूर्य में उसका प्रकाशक पुरुष है, अग्नि और चक्षु में जो रहता है, अलिप्त होते सबका धारक साक्षी जो है, तिस पावन को मैं भजता हूं ॥४१॥ जिस अद्वय से रस्सी के सांप तुल्य मायास्वरूप जगत होता है, निर्विकार निराकार अक्रिय उस मुक्तिदाता को मैं सदा सेवता हूं ॥४२॥

अक्षरार्थ-जीव समझता कहता है कि हरि मेरा पिया (प्रिय-पति) हैं, मैं उस राम की बहुरिया (घर की स्त्री) हूं। वह राम बड़ा हैं, और मैं तन (शरीर) की लहरी (छोटी) हूं। उनका ही शरीर के एक छोटा अंश हूं। चिद्चित् सब संसार उनका शरीर है, इत्यादि। और हरि मेरा रहटा (चरखा) हैं, मैं रत्न तुल्य दीप्त पिउरी (पियुनी) हूं, इस प्रकार समझ कर बहुरिया (स्त्री तुल्य) जीव हरि के नामों को लेकर अपने आत्मा को सूत कातता है, बहुत छोटा से छोटा समझता है, अपनी सत्ता को मेट कर तटस्थ हरिमय भावना करता है। जिसमें (षड्भिर्मासैर्वरिष्ठं त्वं वरमेकं प्रयच्छसि। सम्वत्सरेण सिद्धिं तु यथाकामं प्रयच्छसि॥ हरिवंशः पर्व. २।३।३०)। योगमाया के प्रति भगवान् की इस उक्ति के अनुसार छौ मास में एक श्रेष्ठ वर रूप तागा (तन्तु) होता है, और वर्ष दिन में यथाकाम सिद्धिरूप कुकुरी (सूतसमुदाय पोला) होता है, और लोक भी बोलते (कहते) हैं कि इस बपुरी ने अच्छा सूत काती है, अच्छी सिद्धि पाई है, इत्यादि।

लोक तो बोलते ही हैं; साहब का भी कहना है कि, बाह्य प्रवृत्ति अन्य क्रियाओं की अपेक्षा यह भला सुत काता गया है (अच्छी सिद्धि मिली है) परन्तु यह तटस्थ हरि संसार कूप में भ्रमण का हेतु रहटा रूप हैं। मुक्ति के दाता नहीं हैं, या सूत के कारण चरखा रूप हैं। मुक्ति पट के साक्षात्कारण नहीं हैं, अर्थात् यह सिद्धि मायिक है, सब बूतों से पर सत्यात्मज्ञानादि से अमायिक सिद्धि आशा आदि रहित विरक्त को मिलती है, इत्यादि ॥७४॥

उक्त तटस्थ हरि आदि के रहटा रूप होने से आत्मज्ञानादि विना उनके द्वारा होनेवाला जीवों के संसारदुःख का वर्णन करते हैं कि —

शब्द ॥ ७५ ॥

नर हरि लागि दव विकार कोइ, मिल न बुझावनहारा।

मैं जानौं तोही सो व्यापे, जरत सकल संसारा॥
पानी माँह अग्नि को अंकुर, मिल न बुझावै पानी।

भो नर! त्वयि लग्नोऽयं विकारात्मा हरिर्महान्।
दावानलो न तस्यात्र प्राप्यते कोऽपि वारकः॥ ४३॥
त्वयीवायं च संव्याप्य वर्तते भुवने ततः।
दह्यते सर्वविश्वोऽयं सहदेवनरासुरः॥ ४४॥
नर! त्वं वा हरिः साक्षात् त्वय्यग्निस्त्विन्धनं विना।
संलग्नोस्ति विकारात्मा विना ज्ञानं न नश्यति॥ ४५॥
जानाम्यहं त्वया विश्वं व्याप्तमस्ति चिदात्मना।
तज्ज्ञानेन विनैवैते दह्यन्ते देहिनः सदा॥ ४६॥
अहो आत्ममहानन्दे विकारात्माग्निकारणम्।
जायते ह्यङ्कुरस्तीव्रो दुःखयोनिर्मनोमुखः॥ ४७॥

हे मनुष्य! यह माया के विकार रूप हरि (देहादि रूप हरि) तुम में महान दावानल लगा है, अर्थात् अपने या अन्य के देहादि में आत्मसत्य हरिबुद्धि से ही तुम में जन्मादि दुःख हैं, और उसका वारण करने वाला भी यहाँ कोई नहीं मिलता है ॥४३॥ तेरे समान यह अग्नि सब भुवन में सम्यक् व्यापक होकर वर्तमान है, तिससे यह सब विश्व-नामा (स्थूल देह के अभिमानी) देव मनुष्य असुर सहित जीव जलता है।४४॥ अथवा हे नर! तुम साक्षात् हरि हो, (तेरा आत्मा ही निर्विकार हरि है), तौ भी तुम में इन्धन बिना ही जन्मादि कामादि विकार स्वरूप अग्नि लगी है, सो ज्ञान बिना नष्ट नहीं होती ।४५॥ मैं जानता हूं कि, चिदात्मा रूप तुम से संसार व्याप्त है, तुम व्यापक हो, और उसी के ज्ञान बिना ही देहाभिमानी सदा जलते हैं ।४६॥

आश्चर्य है कि आत्मारूप महा आनन्द में विकार स्वरूप अग्नि का कारण, दुःखों का योनि (कारण) मन आदि, तीव्र (दृढ), अंकुर (संसार

एक न जरै जरै नव नारी, युक्ति काहु नहिं जानी ॥
सहर जरै पहरू सुख सोवै, कहै कुशल घर मेरा ।

अद्भुतं चेदमन्यच्चदात्मा तस्मिन् वसन्नपि ।
न सम्मिलति तेनाथ न संशमयते च तम् ॥ ४८ ॥
किञ्च सैव न चैकोऽत्र दग्धो भवति वह्निना ।
नव नार्यस्तु दह्यन्ते प्राणाद्याश्च मनोमुखाः ४९ ॥
सद्युक्तिं नैव जानन्ति केऽपि मूढतमा नराः ।
अतो नात्र विवेकेन रक्षन्ति स्वं सदव्ययम् ॥ ५० ॥
आत्मतोये हि तापानामङ्कुरो वास्ति भाति च ।
स नैव प्राप्यते मूढैर्येन शाम्यति स क्षणात् ॥ ५१ ॥
अन्यदाहेऽप्यदाहोऽयं विना युक्तिं न कैश्चन ।
ज्ञायते तत्त्वतस्तेन नव नार्यो ज्वलन्ति हि ॥ ५२ ॥
नगरस्यास्य दाहेऽपि साक्षिरूपोऽस्य रक्षकः ।
न नश्यति सुखं शेते तज्ज्ञो ब्रूतेऽत्र मङ्गलम् ॥ ५३ ॥

वृक्ष के नवीनोद्गम) होता है ॥४७॥ और यह अन्य आश्चर्य है कि आत्मा उस अग्नि आदि में बसता हुआ भी जो उससे नहीं मिलता है, और न उस को शान्त करता है ॥४८॥ और वह एक आत्मा ही यहाँ उस अग्नि से दग्ध नहीं होता है, प्राण अपानादि और मन बुद्धि आदि नौ नारी तो उससे दग्ध होती हैं ॥४९॥ अत्यन्त मूढ कोई मनुष्य सच्ची युक्ति को नहीं जानते हैं, इसी से सदव्यय स्वरूप आत्मा की रक्षा यहां विवेक से नहीं करते हैं ॥५०॥ वा आत्मस्वरूप जल में तापों के अंकुर है, भासता है, वह बोध मूढों को नहीं मिलता, कि जिससे वह अंकुर क्षणभर में शान्त होता है ॥५१॥ अन्य के दाह होने पर, भी इस अदाह (दाहाभाव) को युक्ति विना किसी से यथार्थ रूप से नहीं समझा जाता, तिससे नव नारी ज्वलित (दग्ध) होती हैं ॥५२॥

इस देह संसार नगर के दाह होने पर भी साक्षी स्वरूप इसका रक्षक

पुरिया जरै बस्तु निज उबरै, विकल राम रंग तेरा॥
कुब्जा पुरुष गले एक लागा, पूजि न मन की साधा।
करत विचार जन्म गौ खिसई, या तन रहल असाधा॥

नगरे दह्यमाने वा यथा कश्चिद्धि यामिकः।
स्वप्यात्सुखं वदेच्चैवं कुशलं मे गृहे सदा॥ ५४॥
तथा तापैः सदा व्याप्ते विश्वे कुगुरवः खलु।
शेरते च वदन्त्येवं क्षेममस्मद् गृहे दिवि॥ ५५॥
तापेऽत्र वर्तमानेऽपि देहात्मपुटकं सदा।
दंदह्यते न सद्वस्तु ह्याधिव्याधिरसायनम्॥ ५६॥
अतप्योऽस्ति सदात्मेति निश्चितं विदुषां मतम्।
तथापि रामरूपस्ते भाति विकलवद् हृदि॥ ५७॥
त्रिगुणः पुरुषः कुब्जो गले त्वेकोऽलगत्तव।
मनोरथो न तस्मात्ते पूर्णोऽभवद्विनात्मना॥ ५८॥

नहीं नष्ट होता है, वह सुख से सोता है, उस के ज्ञानी इस आत्मा में मङ्गल (कल्याण) कहते हैं॥ ५३॥ अथवा जैसे कोई यामिक (कोतवाल-पहरू) नगर के जलते रहने पर भी कोई को जगावे नहीं, किन्तु सुखपूर्वक सोवे, और इस प्रकार कहे कि मेरे घर में सदा कुशल है॥ ५४॥ तैसे ही तापों से सदा विश्वनामक जीव संसार के सदा व्याप्त होते भी कुगुरु लोक सुख से सोते हैं, और इस प्रकार कहते हैं कि मेरे घर स्वर्ग में सदा क्षेम ही है॥ ५५॥ और वस्तुतः संसार में ताप रहने पर भी देहरूप पुटक (पुरिया) ही सदा अतिशय बार २ दग्ध होता है, सब आधिव्याधि के रसायन (औषध) रूप सद्वस्तु नहीं दग्ध होती है॥ ५६॥ सत्य आत्मा अतप्य (ताप के अयोग्य) है, यह विद्वानों का निश्चित मत है, तो भी अज्ञानदशा में तेरा रामस्वरूप विकलतुल्य हृदय में भासता है॥ ५७॥ त्रिगुण स्वरूप कुब्ज (कुब्बर) एक पुरुष तेरे गले में लगा है (मन में

जानि बूझि जे कपट करत है, तेहि अस मन्द न कोई।
कहहिं कबिर सब नारि राम की, मो ते और न होई ॥७५॥

तस्यैव च विचारेण कथाभिश्च बहून्यगुः।
जन्मानि नैव साध्योऽभूद्देहोऽयं नैव मानसम् ॥ ५९ ॥

इत्थं ज्ञात्वापि ये मूढा वर्तन्ते कपटादिभिः।
मायिके त्रिगुणे मोहाद्रागद्वेषादिसंकुले ॥ ६० ॥

न शुद्धे सच्चिदानन्दे पापतापादिवर्जिते।
[1]तत्तुल्यो नैव मन्दोऽन्यो यो न जानाति किञ्चन ॥ ६१ ॥

अज्ञा विज्ञास्तु सर्वेऽमी स्वात्मज्ञानं विना नराः।
नार्यो यस्य भवन्त्यत्र स मत्तोऽन्यो न विद्यते ॥ ६२ ॥

सत्यादि निश्चित हुआ है), तिससे सत्य अकुब्ज आत्मा के विना तेरा मनोरथ पूर्ण नहीं हुआ (तुम काम रहित तृप्त नहीं हुआ) ॥ ५८ ॥ उस कुब्ज के ही विचार और कथाओं से तेरे बहुत जन्म बीत गये, परन्तु यह देह साध्य (वश में निवृत्त) नहीं हुआ, न मन वश में हुआ ॥ ५९ ॥

इस प्रकार जानकर भी जो मूढ रागद्वेषादि से व्याप्त मायिक त्रिगुण वस्तु में कपटादि सहित मोह से प्रवृत होते रहते हैं ॥६०॥ और पाप तापादि से रहित शुद्ध सच्चिदानंद में नहीं रहते हैं। उनके समान मन्द (मूढ–अभाग) अन्य नहीं है, जो कि कुछ नहीं जानता है ॥६१॥ अपनी आत्मा के ज्ञान बिना ये सब अज्ञ और विज्ञ भी जिसकी यहां नारी (वशवर्ती) होते हैं, सो मुझ से अन्य नहीं है ॥६२॥ क्योंकि मेरा ही

---

१ 'जानता तु कृतं पापं गुरु सर्वं भवत्युत। अज्ञानात्स्वल्पको दोषः प्रायश्चित्तं विधीयते' ॥ म० भा० शा० ३५। ४५ ॥

ममैवात्मा विशुद्धः सन् स्वामी त्रिगुणरक्षकः।
देवदेवो हरिर्धाता तस्मादन्यो न कश्चन ॥ ६३ ॥

निरङ्गं सदा सङ्गहीनं हरिं न विजानन्ति यावज्जनास्तावदत्र।
ससङ्गे च मायादिभङ्गे रमन्ते रमन्तेऽथ विज्ञा निजानन्दकन्दे॥
॥६४-७५॥

इति ह० शब्दसु० निराकारहरेर्ज्ञानं विना साकारासत्त्यादिवर्णनं
नामाष्टाविंशतितमस्तरंगः ॥२८॥

आत्मा विशुद्ध होता हुआ त्रिगुण का रक्षक स्वामी है, और वही देवों का देव हरि धाता है, उससे अन्य कोई सत्य नहीं है ॥६३॥ मनुष्य जब तक यहाँ अङ्गरहित असङ्ग हरि को नहीं जानते हैं. तबतक सङ्गसहित माया आदि भङ्ग (तरङ्ग भेद कुटिलता) में रमते हैं, और विज्ञ लोक निजानन्द कन्द (मूल) में रमते हैं ॥६४॥

अक्षरार्थ-हे नर ! तुम में विकार (कार्य) रूप हरि (हरणशील माया) दावाग्नि लगी है, या हे नर ! तुम हरि स्वरूप हो, परन्तु विवेकादि बिना तुम में कामादि विकार रूप दावाग्नि लगी है, या हे नर हरि ! (नरश्रेष्ठ) संसार में विकार रूप दव लगी है, और उसे बुझाने (शान्त करनेवाला) कोई नहीं मिलता है (नरहरि लागी दव विकार बिनु इन्धन, मिले न बुझावनिहारा)। यह पाठभेद है। भाव है कि, संकल्पादि जन्य कामादि बिना इन्धन के अग्नि हैं, संकल्पादि के त्याग बिना उन्हे शान्त करनेवाला कोई नहीं है, इत्यादि। और मैं जानता हूं कि तेरे ही समान यह अग्नि संसार में व्याप्त है, इससे देवादि सब जल रहे हैं, या तेरा स्वरूप से सब व्याप्त है,

२ 'स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति'। मुण्ड. ३।२।९॥ 'सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः' 'भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः' ॥ भा० स्क० ११।२।४५॥ 'अहमेव परो विष्णुर्मयि सर्वमिदं जगत्। इति यः सततं पश्येत्तं विद्यादुत्तमोत्तमम्'॥ नारदीयपु० १५।५०॥

परन्तु उसके ज्ञानादि विना सब संसार जल रहा है। (स एनमविदितो न भुनक्ति। बृह. १ ४।१५) वह अज्ञातात्मा इसका पालन रक्षा नहीं करता।

आश्चर्य है कि आनन्दघन पानी में तापादि अग्नि के अंकुर मन कर्म वासनादि उत्पन्न होते हैं. जिससे अग्नि होती है, और वह पानी असङ्ग होने से उस अंकुर अग्नि से नहीं मिलता है, न उन्हे ज्ञान विना बुझाता (नष्ट करता) है, किन्तु असंग साक्षी रहता है। इससे एक वह पानी ही नहीं जलता है, किन्तु नव नारी (प्राण अन्तःकरण) भूख पियास शोकादि से जलते हैं, और आत्मा में भ्रम से ही तापादि प्रतीत होते हैं, उस भ्रम की निवृत्ति के लिये कोई अविवेकी युक्ति नहीं जानता है।

युक्ति के जाने विना संसार लहर ताप से जलता है, कुगुरु पहरू उसी लहर में सुख से सोता है, और कहता है कि, मेरे घर (स्वर्गादि) में सदा कुशल (क्षेम कल्याण) है। साहब का कहना है कि यद्यपि तापों से देहादिरूप पुरिया (वेष्टन-पुर) ही जलते हैं, निजस्वरूप वस्तु उबरता (बचता) ही है, तथापि तेरा रामस्वरूप रंग (आनन्दाकार) विकल (अप्राप्त शून्य) की नाई भासता है। और युक्ति जानने पर भी ज्ञानाग्नि से संसार जलता है, ज्ञानी सुख से सोते हैं, कल्याण बताते हैं, शरीर के नष्ट होने पर निजस्वरूप रहता है, इत्यादि। इस विवेकादि के अभाव से एक कुब्जा (टेंढा) त्रिगुण पुरुष तेरे गले में लिपट गया है, उसे स्वामी मान लिये हो, इससे मन के साध्य (काम्य) पूर्ण नहीं हुआ है, उसी के विचार करते में और किस्सा (कथा) में जन्म (आयु) गया, जिससे यह देह असाध्य (अवश) रह गया। या आत्मविचार करत (करो), जन्म खिसक गया, इत्यादि, या खिस (क्रोध) में जन्म गया।

जो लोक गुरु शास्त्रादि से गुणागुणादि को जान बूझ (पूछ) कर भी कपट और हिंसादि करते हैं, उनके समान मन्द (अभागा कुबुद्धि) कोई नहीं हैं, और ज्ञान विना सब जिस राम की नारी तुल्य हैं, सो राम मेरी आत्मा से और (भिन्न) नहीं होता है ॥७५॥

लोभकृत जन्मादि और आशात्यागवर्णन प्र० २९

प्रथम कहा गया है कि, मनुष्यों को विकाररूप दवाग्नि लगी है। तहाँ इन विकाररूप अग्नियों के लगने में प्रायः अज्ञानादि जन्य लोभ आशा तृष्णा असावधानता विचाराभाव ही हेतु हैं। इससे इनका त्याग ज्ञानोपार्जन के लिये कहते हैं कि—

शब्द ॥ ७६ ॥

सुभागे किहि कारण लोभ लागे, रतन जन्म गौ खोये।
पूर्व जन्म कर्म भूमि कारण, बीज काहेक बोये॥

भो भोः सौभाग्यवँल्लोभः कस्माल्लगति ते हृदि।
किं साध्यं तेऽस्ति लोभेन तद्धि शीघ्रं विचिन्त्यताम् ॥१॥
अनेनैव तु लोभेन रत्नभूतमिदं शुभम्।
जन्म ते विफलं जातं नष्टो देहः कुवर्त्मसु ॥ २ ॥
मतिमन्दान् हि लोभोऽयं बाधते न विवेकिनम्।
सौभाग्यसंश्रिते ह्येष कस्मात्स्याद्रत्ननाशकः ॥ ३ ॥
पूर्वजन्मनि तत्कर्म भूमौ जन्मकरं हि यत्।
बीजभूतं कुतश्चोप्तं तत्त्वया ज्ञायतां सुधीः ॥ ४ ॥

हे सुभगता (सुन्दरता दैवी सम्पत्ति सुकर्म) वाले! तेरे हृदय में लोभ किस हेतु से लगता है। तुझे लोभ से क्या साध्य (सिद्ध करना) है, सो शीघ्र विचारो ॥ १ ॥ और समझो कि इस लोभ से ही तेरा यह रत्नतुल्य शुभ जन्म निष्फल हो गया, देह कुमार्ग में नष्ट हुआ ॥ २ ॥ मतिमन्दों (मूढ़ बुद्धिवालों) को ही यह लोभ दुःख देता है, विवेकी को नहीं। सौभाग्य से युक्त में रत्ननाशक यह लोभ किससे हो सकता है ॥ ३ ॥ हे सुधीः! तुम्हें यह समझना चाहिये कि जो कर्म भूमि में जन्मदेनेवाला बीजस्वरूप है, वह कर्म पूर्वजन्म में तुमने किस कारण से बोया

बुन्द से जिन पिण्ड साजेवो, अग्निहुं कुण्ड रहाया।
दशहुं मास माता गर्भहिं, बहुरि लागली माया॥
बालहूं ते वृद्ध हूआ पुनि, होनि रहा सो हूआ।
जब यम ऐहैं बांधि चलै हैं, नयन भरि भरि रोया॥

लोभमूलमदः कर्म लोभोऽविद्यानिदानकः।
कर्ममूलो ह्ययं देहः सर्वानर्थो यतो भवेत्॥ ५॥
तस्माल्लोभं निराकृत्य समूलं स्वात्मबोधतः।
सर्वानर्थविमुक्तः सन्नात्मनात्मनि तुष्यताम्॥ ६॥
लोभमूलं हि तत्कर्म कृत्वेदं ते कलेवरम्।
गृहं वीर्येण तत्राथावासयद्गर्भवह्निषु॥ ७॥
स्थित्वाऽपि दशमासांस्त्वं स्वमातुरुदरे बहिः।
आयातोऽसि पुनर्माया संलग्ना ह्यभवत्त्वयि॥ ८॥
बालाद्यातोऽसि वृद्धत्वं भवितव्यमभूत्तथा।
आयास्यति यदा कालो बध्वा नेष्यति वै तदा॥ ९॥

कि जिससे यह जन्म हुआ॥ ४॥ समझो कि वह कर्म लोभमूलक ही होता, और लोभ अविद्यारूप निदान (मूल कारण) वाला है। कर्ममूलक यह देह है, कि जिससे सब अनर्थ होय॥ ५॥ तिससे स्वात्मज्ञान से मूल सहित लोभ का निराकरण (निषेध-नाश) करके सब अनर्थ से रहित होकर, अपनी आत्मा से ही अपने में संतुष्ट होवो॥ ६॥

लोभमूलक वह पूर्व का कर्म ही पिता के वीर्य से तेरा यह कलेवर (देह) बनाकर उस देह में और गर्भ के अग्नियों में तुम्हें बसाया है॥७॥ तुम अपनी माता के उदर में दश मास रह कर ही बाहर आये हो, और फिर भी तुम में माया लोभादि रूप से लग गई॥८॥ बालक रूप से वृद्धता को भी प्राप्त हुआ, तथा भवितव्य (होना) था सो हुआ। अब जब काल आवेगा, तो अवश्य बांधकर कर्मानुसार लोकादि में ले जायगा॥९॥

जीवन की जनि आशा राखहु, काल घेरे हैं श्वांसा ।
बाजी है संसार कबीरा, चित चेति ढारहु पासा ॥७६॥

तदा त्वं मोहवेगेन दुःखवेगेन पीडितः ।
नेत्रयोरस्रमापूर्य विह्वलो रोरुदिष्यसि ॥ १० ॥
अतश्च जीवितस्याशां हृदि नैव निधीयताम् ।
कालः श्वासं निरुध्यैव सदाऽत्रैव वितिष्ठते ॥ ११ ॥
अमूल्योऽवसरः प्राप्तः संसारे मानवे क्षितौ ।
मायाद्यूते मनोऽक्षो हि सावधानेन नीयताम् ॥ १२ ॥
" लोभः प्रतिष्ठा पापस्य प्रसूतिर्लोभ एव च ।
द्वेषक्रोधादिहेतुश्च स त्वया त्यज्यतां द्रुतम् " ॥ १३ ॥
" लोभमूलो महामोहो माया लोभात् प्रवर्तते ।
मानश्च मत्सरो दम्भस्तस्माल्लोभं परित्यजेत् ॥ १४ ॥
तेनाधीतं श्रुतं तेन तेन सर्वमनुष्ठितम् ।
येनाशां पृष्ठतः कृत्वा निर्लोभत्वं समाश्रितम् ॥ १५ ॥ "

उस अन्तकाल में तुम मोह के और दुःख के वेग (प्रवाह) से पीडित विह्वल होकर, आंखों में लोर भर कर बार २ अतिशय रोवोगे ॥१०॥

इससे जीवितपन (प्राणधारण) की आशा को भी हृदय में नहीं धरो, काल श्वास को रोक कर यहां ही वर्तमान है ॥११॥ मानव संसार (देह) क्षिति (भूमि) में अमूल्य अवसर मिला है, माया संबंधी व्यवहारादि द्यूत (जूआ) में मन रूप अक्ष (पाशा) को सावधानी से प्राप्त करो ॥१२॥ लोभ पाप का आश्रय-मूर्ति-सीमा है, और प्रसूति (उत्पत्ति) है। और द्वेष क्रोधादि का हेतु है, उसे शीघ्र त्यागो ॥१३॥ लोभ मूलक ही महामोह होता है, लोभ से ही माया (कपटादि) प्रवृत्त होती है। अभिमान मत्सर दम्भ सब लोभ से होते हैं, तिससे लोभ को त्यागो ॥१४॥ उसी पुरुष ने पढ़ा सुना सब सुकर्मादि किया, कि जिसने आशा को पीछे करके निर्लोभता का ग्रहण किया ॥१५॥ विद्वान् पुरुष, परार्थक सब-

परार्थसर्वेह वशेन्द्रियः स्यादसुप्रियैस्तृप्तमनाश्च तस्मात् ।
न चेन्द्रियाजुष्टपरो बुधःस्याद्यथा न वित्तेर्विगमस्तथा स्यात् ॥१६॥
अयत्नलब्धैः परितुष्टचित्तो धनेष्वलुब्धो हतरागरोषः ।
विनिद्रबुद्धिः कृतसर्वशुद्धिः स्वालोकमात्राद्विमलं करोति ॥१७॥
स्वतन्त्रचारी न परानुरागी, देहादिसङ्घे च सदा विरागी ।
असङ्गशुद्धात्मपदे सुरागी भवेत्सदा वायुवदङ्ग ! गन्ता ॥१८॥
स्वच्छः प्रकृत्या मदमानहीनः स्निग्धस्वभावोऽपि सदैव शुद्धः ।
कामादिदोषैर्नहि धर्षितश्चेन्न लिप्यतेऽसावपि पावयेच्च ॥१९॥
मुखेऽस्य चानन्दकलाऽऽविरास्ते स्वानन्दमत्युत्कटमुद्गिरन् सः ।
आच्छिद्य दुःखाज्जनमानसं वै स्वानन्दमग्नं सहसा करोति ॥२०॥७६

इति ह० शब्दसुधायां लोभकृतजन्मादेराशात्यागस्य च वर्णनं नामैकोनत्रिंशत्तमस्तरङ्गः ॥२९॥

चेष्टावाला वशीभूत इन्द्रियवाला होय, और प्राण के प्रिय भोजनादि से तृप्त मनवाला होय, तिसीसे इन्द्रियों से सेवित इन्द्रियों के प्रिय पर न होवे और जिस प्रकार विवेक विज्ञान का नाश नहीं होय, तिस प्रकार रहे ॥१६॥ विना विशेष यत्न के मिले वस्तुओं से परितुष्ट चित्तवाला. धनों में अलुब्ध (तृष्णारहित) राग रोष रहित, मोह निद्रा रहित बुद्धिवाला, सब प्रकार की शुद्धियुक्त पुरुष अपना आलोकन (दर्शन) मात्र से विमल करता है ॥१७॥ स्वतन्त्र विचरनेवाला, अनात्मप्रेम रहित, देहादि संघात में सदा विरागवाला, असङ्ग शुद्धात्मवस्तु में सुन्दर रागवाला; हे अङ्ग ! वह वायु के समान सदा असङ्ग गमन कर्ता होता है ॥१८॥ प्रकृति (स्वभाव) से स्वच्छ, मद (अतिहर्ष गर्व) मान (अभिमान) से रहित, स्निग्ध (वत्सल) स्वभाव होते भी सदा शुद्ध, कामादि दोषों से यदि धर्षित (पराजित) नहीं रहता है, तो वह कहीं लिप्त नहीं होता है, और अन्य को पवित्र करता है ॥१९॥ इस पुरुष के मुख में भी आनन्द की कला (अंश) प्रगट रहती है, और वह अति उत्कट स्वानन्द का उद्गार (कथन) करता हुआ, मनुष्य के मन को दुःख से रहित करके, सहसा (शीघ्र-अचानक में) स्वानन्द में मग्न करता है ॥२०॥

अक्षरार्थ–हे सुभागो (सुन्दर भाग दैव कर्म वाले) लोगो किस कारण (प्रयोजन) के लिये लोभवश विषयादि में लगे हो, या लोभ तुम में क्यों लिपटा है, यह तो कुभागों में चाहिये, इसे हटावो। इस लोभ ने रत्न तुल्य जन्म को खोया (नष्ट किया) है, या ज्ञानादि रत्न और जन्म को खोया है, या ज्ञान रत्न का जन्म को खोया (नहीं होने दिया) है। और इस जन्म के पूर्व जन्म में भी भूमि में जन्म के कारण वीज रूप कर्म या कर्म के बीज वासनादि को तुमने काहे को (क्यों) बोया, इस बात को शोचो, अर्थात् लोभ अज्ञानादि से ही कर्म काम वासनादि बीजों को बोया, जिससे तुझे कुछ लाभ नहीं हुआ है, गर्भादि में दुःख ही हुआ है, इससे अब भी लोभादि को त्यागो।

जिन लोभादि जन्य कर्मादि बीजों ने, पिता के वीर्य रूप बिन्दु से पिण्ड (देह) को साजा (सिद्ध किया) और अग्निकुंड (गर्भादि) में भी रहाया (राखा)॥ आश्चर्य है कि दश मास तक माता के गर्भ में महा कष्ट से रहना हुआ, तो भी बहुरि (फिर भी) माया लग गई है, कि जिससे दुःख भूल गया, और लोभादि लग गये, लोक बालक से वृद्ध हुए अवश्य होनी रहा सो भी हुआ, फिर जब यम राजा आयेगें, तब बांध कर चलायेगें, तब लोभियों को नेत्रों में आँसु भर २ कर रोना होगा।

इससे सद्गुरु का कहना है कि यदि कालादि से बाँचना चाहो, तो लोभादि का त्यागपूर्वक जीवन की भी आशा जनि (नहीं) रखो, यह नहीं समझो कि अभी जीना है, फिर कुछ करूंगा इत्यादि; क्योंकि काल श्वांस को घेर कर बैठा है, जीवन श्वास को गिन रहा है, और इस मानव तनु का संसार श्रेष्ठ बाजी (दाव मोका) रूप है, इस में अपने चित्त से चेत (सावधान हो) कर पाला ढारो (विचारादि करो) अर्थात् सावधानी से मन को आत्मनिष्ठ करो, त्रिगुण माया को जीतो, कि जिससे मोक्षश्री मिले ॥७६॥

लोभ आशा से संसारवर्णन प्रकरण ३०

शब्द ७७।

(बाबू) ऐसो है संसार तिहारो, ईहै कलि व्यवहारो।
को अब अनुख सहै निशिदिन को, नांही रहनि हमारो॥
स्मृति सोहाय सब कोइ जानैं, हृदया तत्त्व न बूझै।
निर्जिव आगे सर्जिव थापे, लोचन कछू न सूझै॥

भो भ्रातस्तव बन्धोऽयमीदृशो लोभमूलकः।
कलेश्च व्यवहारोऽयं प्रत्यक्षः परिदृश्यते॥ १॥
इदानीं सहतां कोऽत्र कलहं काममूलकम्।
दुःखं रात्रिंदिवस्याथ त्वपराधं निरन्तरम्॥ २॥
रहस्यं मे नचात्रास्ति धारणा मे न विद्यते।
कुतश्चात्र मया स्थेयं विषमे दुःखसंकटे॥ ३॥
स्वस्वमनोऽनुकूलान्तु स्मृतिं सर्वे विदन्ति हि।
हृत्तत्त्वं नैव जानन्ति चरन्ति विषमे ततः॥ ४॥
निर्जीवस्याग्रतो मोहात्सजीवं स्थापयन्त्यथ।
हिंसन्ति नैव नेत्रैस्ते किञ्चित्पश्यन्ति मानवाः॥ ५॥

हे भाई! लोभमूलक तेरा बन्ध (बन्धन-संसार) ईदृश (लोभादि जन्य) हैं, और कलियुग का यह व्यवहार (स्थिति-धनादि का व्यापार) लोभमूलक प्रत्यक्ष ही ऐसा दीखता है॥ १॥ इस विवेक काल में यहाँ कौन काममूलक कलह को, और निरन्तर रातदिन के अपराध और दुःख को सहे॥ २॥ इस संसार में मेरा रहस्य (गुप्त ज्ञान) नहीं है, न मेरी धारणा है, तो किस हेतु से, दुःखों से संकट (संकीर्ण-सम्यक् बाधायुक्त) विषम (अनृजु) इस में मुझे रहना हो॥ ३॥ अपने २ मन के अनुकूल स्मृति शास्त्र को सब जानते हैं, हृदय के तत्त्व को नहीं जानते, तिससे विषम व्यवहारादि में विचरते हैं॥ ४॥ मोह से निर्जीव के आगे सजीव

तजि अमृत विष काहेक अँचवै, गाँठी बांधे खोटा।
चोरन दीन्हो पाट सिंहासन, साधुन से भौ ओटा॥

अहो त्यक्त्वाऽमृतं चैते ह्यहिंसाज्ञानलक्षणम्।
किं पिबन्ति विषं तीव्रं पापाज्ञानादिलक्षणम्॥ ६॥
तत्त्वं त्यक्त्वा त्वसत्तुच्छं गृह्णन्ति हृदये कथम्।
कामलोभवशादेतत् सर्वं जानीत सज्जनाः॥ ७॥
कामलोभपरा नित्यं निद्राऽऽलस्यपरास्तथा।
विषयेच्छापरा मोहाद् भवन्ति श्रेयसश्च्युताः॥ ८॥
धर्मध्वंसी ह्ययं लोभः क्रोधः परमदारुणः।
अज्ञानं त्वन्धतामिस्रो नरको नात्र संशयः॥ ९॥
अज्ञानादियुताश्चैते तस्करेभ्यः सुपुष्कलम्।
पटं ददति सत्क्षौमं सिंहासनं तु पीठकम्॥ १०॥

को स्थिर करते (अर्पते) हैं, और हिंसा करते हैं, वे मनुष्य आंखों से कुछ नहीं देखते हैं॥ ५॥

आश्चर्य है कि ये अज्ञ लोभी लोक अहिंसा ज्ञानादि स्वरूप अमृत को त्याग कर, पाप अज्ञानादि रूप तीव्र (अतिशय) विष को क्यों पीते हैं॥ ६॥ तत्त्व (सत्य निज स्वरूप) को त्याग कर, असत् (मिथ्या) तुच्छ (आनन्दादि शून्य) को हृदय में किस प्रकार ग्रहण करते हैं, हे सज्जनों! काम लोभादि के वशता से ही इन सब विपरीताचारों को जानो॥ ७॥ मोह से काम लोभ को और निद्रा आलस्य को उत्तम मानने वाले, विषयेच्छा को श्रेष्ठ समझने वाले, अपना श्रेयः (कल्याण) से च्युत होते (गिरते) हैं॥ ८॥ यह लोभ ही धर्म को नष्ट करनेवाला है, क्रोध परम दारुण (भयंकर) है, और अज्ञान तो अन्धतामिस्र नाम वाला नरक है इस में संशय नहीं॥ ९॥ अज्ञानादि सहित ये लोक चोरों को सुपुष्कल (सुपूर्ण) सत (श्रेष्ठ) क्षौम (दुकूल) पट वस्त्र देते हैं, और सिंहासन (नृपासन)

कहहिं कबिर झूठहिं मिलि झूठा, ठगहिं ठग व्यवहारा।
तीनि लोक भरिपूरि रह्यो है, नाहीं है पतियारा ॥७७॥

"ये धर्मादपेतेभ्यः प्रयच्छन्त्यल्पबुद्धयः।
शतं वर्षाणि ते प्रेत्य पुरीषं भुञ्जते जनाः ॥ ११ ॥
तथाप्येते जना मूढाः सुसत्कुर्वन्ति दुर्जनान्"।
साधुभ्यश्च निलीयन्ते द्वेषं वा कुर्वते हि तैः ॥ १२ ॥
मिथ्याप्रलापिनो मिथ्याप्रलापेष्वेव तत्परैः।
संमिलन्ति च धूर्ता वै धूर्तैर्व्यवहरन्ति हि ॥ १३ ॥
संमेलो व्यवहारश्च तादृगेव जगत्त्रये।
परिपूर्णो न सत्यस्य कोपि विश्वसिता नरः ॥ १४ ॥
"ईश्वरानुग्रहादिभ्यः पुंसां सत्तत्त्ववासना।
महाभयपरित्राणा द्वित्राणामेव जायते" ॥ १५ ॥

रूप पीठ (आसन) देते हैं ॥१०॥ म० भा० शा० २६।२९। का कथन है कि, जो अल्पबुद्धि लोक धर्म रहित को दानादि देते हैं, सो मर कर सौ वर्ष तक मल का भोजन करते हैं ॥११॥ तो भी ये मूढ लोक दुर्जनों का सुन्दर सत्कार करते हैं, और साधुओं से छिपते हैं, वा उनके साथ द्वेष करते हैं ॥१२॥

मिथ्या (असत्य) प्रलाप (अनर्थक वचन) वाले, मिथ्या प्रलाप में ही तत्पर पुरुषों के साथ अच्छी तरह मिलते हैं, धूर्त (वञ्चक) धूर्तों के साथ व्यवहार (वार्ता विक्रयादि) करते हैं ॥१३॥ तैसा ही संमेलन और व्यवहार तीनों लोक में परिपूर्ण है, सत्य का विश्वास करनेवाला कोई मनुष्य लोक में नहीं है ॥१४॥ ईश्वर के अनुग्रह (कृपा हितचिन्तन) आदि से सत् स्वरूप वासना महाभय से रक्षा करनेवाली, दो तीन पुरुषों (अल्प प्राणी) को होती है ॥१५॥ जो सत्य वासना से युक्त हैं, सो तीन

ये च सद्वासनायुक्तास्ते हि लोकत्रयाद्बहिः ।
तिष्ठन्ति नात्र गण्यन्ते संसृतौ वै कदाचन ॥ १६ ॥
ये हि सर्वाञ्जगद्भावान्नन्वविद्यामयान् विदुः ।
कथं तेषु त आत्मज्ञा निमज्जेयुः कदाचन ॥ १७ ॥
परिपूर्णः परात्मा वा त्रिषु लोकेषु सर्वदा ।
न तं केऽपि विजानन्ति धूर्ताश्चानृतिनो जनाः ॥ १८ ॥

इति ह० शब्द० लोभमूलकसंसारवर्णनं नाम त्रिंशत्तमस्तरंगः ॥ ३० ॥

लोक से बाहर आत्मनिष्ठ हैं, वे कभी इस संसार में नहीं गिने जाते हैं ॥१६॥ जो आत्मज्ञानी जगत् के सब पदार्थ को अविद्यामय जानते हैं, सो उन में कभी कैसे निमग्न होगें ॥१७॥ अथवा परमात्मा तीनों लोक में सदा परिपूर्ण है, परन्तु धूर्त और झूठा कोई मनुष्य उसको नहीं जानते हैं ॥१८॥

अक्षरार्थ–हे बाबू ! (प्यारे मनुष्यों !) तेरा यह संसार (जन्म-मरणादि) ऐसो (लोभादि जन्य और बाजी रूप) है। और कलि का व्यवहार भी ईहे (ऐसा ही) है, प्रत्यक्ष अनर्थ रूप है। अब (इस विवेक दशा में) निशिदिन (रातदिन) का अनुख (अनख-असह्य विरोध विग्रह) को कौन सहे। इस में हमारी रहनी (धारणा) नहीं रह सकती, न इस में हमारी रहनी है। सोहाय (अपने मन के माफिक) स्मृति (धर्म-शास्त्र विचारादि) को सब कोई जानते मानते हैं। और हृदय में वर्तमान तत्त्व (आत्मा) को नहीं समझते हैं, न हृदय से कोई सत्य धर्मादि के तत्त्व को समझते हैं। इससे निर्जीव मूर्ति आदि के आगे सजीव प्राणी को थापते (अर्पण करते) हैं, इन्हें नेत्र से भी कुछ नहीं सूझता है। सर्वथा अन्धे हैं।

न मालूम ये अमृत (आत्मा धर्मादि) को त्याग कर, विषय अधर्मादि

विष को क्यों अँचवते (पीते) हैं, और हिंसा कामादि खोंट (तुच्छ) को क्यों गांठि (हृदय) में बांधते (धरते) हैं। इन लोकों ने चोरों को पाट (पट्ट वस्त्र) सिंहासन (भद्रासन) दिया है, और साधुओं से इन्हें ओट (पड़दा-भेद) भया है। या उपदेश देते हैं कि अमृत छोड़ कर विष क्यों पीते हो इत्यादि।

साहब का कहना है कि झूठे लोक झूठों से मिलते हैं, ठगों के साथ ठग व्यवहार करते हैं। और ऐसा ही मेल व्यवहार तीनों लोक में भरपूर (परिपूर्ण) व्याप्त कलिकाल में हो रहा है, इससे सत्य का विश्वास करने वाला कहीं नहीं है, न जन्मादि संसार छूटता है ॥७७॥

त्रिगुणपरहरिभक्ति आदि प्र० ३१

प्रथम कहा गया है कि जिस राम के अधीन सब संसार है, सो राम मुझ से अन्य नहीं होता, मेरी आत्मा है, सब की आत्मा है, अमृत है इत्यादि, सो सुन कर विशेष रूप से उस राम को जानने के लिये जिज्ञासा होने पर कहते हैं कि—

शब्द ॥ ७८ ॥

राम गुण न्यारो न्यारो न्यारो।
अबुझा लोग कहाँ लगि बूझै, बूझनिहार विचारो॥

गुणेभ्यः पर एवासौ रामः सत्यः सनातनः।
अनन्तो नित्यतृप्तश्च परमानन्दविग्रहः ॥ १ ॥

सत्य (सत्) सनातन (नित्य स्थिर) अनन्त, नित्य (सदा) तृप्त परमानन्दस्वरूप वह राम गुणों से भिन्न ही है ॥ १ ॥ अथवा सगुण

केते रामचन्द्र तपसी से, जिन यह जग भरमाया।
केते कान्ह भये मुरलीधर, तिन भी अन्त न पाया॥

यद्वा सगुणरामस्य गुणाः सर्वे विलक्षणाः।
संसारिजनसंघेभ्यस्त्रिलोक्यास्ते ह्यनन्तकाः॥ २॥

विवेकविकला लोका वेदिष्यन्ति कियद्गुणम्।
कियन्तं वाऽगुणं विद्युस्तज्ज्ञाः केऽपि विदन्तु तम्॥ ३॥

अनन्तोऽस्य गुणस्तद्वदनन्तो ह्यगुणः स्वयम्।
देशकालादिभिश्चास्य नान्तः सर्वात्मता यतः॥ ४॥

अतश्च प्रतिकल्पं ये रामचन्द्राः पृथक् पृथक्।
अभवंस्तापसैस्तुल्याः परे यद्वा तपस्विनः॥ ५॥

ये चाभ्रमञ्जगत्यां वै तत्त्वज्ञानादिसिद्धये।
यत्राऽमुह्यंश्च लोका वा रामबुद्ध्या निरन्तरम्॥ ६॥

राम (ईश्वर) के सब गुण, संसारी जन समूहों से और तीन लोक का समूह से विलक्षण है, अर्थात् इनके गुणों से विलक्षण अनन्त ही वे गुण हैं॥ २॥ विवेक से रहित लोक राम के कितने गुण को जानेगें, वा निर्गुण स्वरूप को कितना समझेगें, कोई विवेकी उसे बिचारादि से समझे॥ ३॥ इस राम के अनन्त गुण हैं, तैसे ही यह निर्गुण भी स्वयम् (सर्वात्मना आप) अनन्त स्वरूप है, और जिससे सर्वात्मता है, इसीसे देश काल वस्तु से इसका अन्त नहीं है॥४॥ और इसीसे हर एक कल्प में जो पृथक् २ तपस्वियों के तुल्य रामचन्द्र हुए वा अन्य तपस्वी हुए॥ ५॥ और जो जगती (भूमि भुवन) में तत्त्वज्ञानादि की सिद्धि के लिये भ्रमण किये, वा जिनमें निर्गुण राम बुद्धि से लोक निरन्तर मोह को प्राप्त हुए॥ ६॥ वंशी से शोभित जो कितने

केते मछ कछ बाह स्वरूपी, बावन नाम धराया ।
केते बौध भये निकलंकी, तिन भी अन्त न पाया ॥
केते सिद्ध साधक संन्यासी, जित बनवास बसाया ।
केते मुनि जन गोरख कहिये, तिन भी अन्त न पाया ॥

अभवंश्च कियन्तो ये कृष्णा वंशीविभूषिताः ।
नोऽविदंस्तेऽपि तन्नूनं रामस्यान्तं गुणस्य वा ॥ ७ ॥
कियन्तो येऽभवन् मत्स्याः कच्छपाश्चाभवंस्तथा ।
वराहा वामनाश्चैव ह्यवतारा जगत् त्रये ॥ ८ ॥
कियन्तो बुद्धनामानः कल्किनाम्ना विभूषिताः ।
अभवन्नाविदुस्तेऽन्तं गुणस्य वा परात्मनः ॥ ९ ॥
कियन्तो येऽभवंल्लोके सिद्धाश्च साधका नराः ।
संन्यासिनो वनस्था ये मुनिसंघास्तपस्विनः ॥१०॥
गोरक्षाद्याश्च ये सिद्धा योगमार्गप्रवर्तकाः ।
तस्यान्तं नैव ते जग्मुर्नैव देवा न दानवाः ॥११॥

कृष्ण हुए, तेऽपि व (रामचन्द्र और कृष्णचन्द्र भी) राम के वा राम का गुण के उस अन्त को अवश्य नहीं पाये ॥ ७ ॥

कितने जो मत्स्यावतार, तथा कच्छपावतार, वराहावतार, वामनावतार, पञ्चभूतात्मक तीनों लोक में हुए ॥ ८ ॥ कितने बुद्धनामवाले, कल्किनाम से विभूषित हुए, वे सब उत्तमात्मा के वा उसका गुण के अन्त को नहीं जाने ॥ ९ ॥ लोक में जो कितने सिद्ध साधक मनुष्य हुए, जो संन्यासी वनस्थ (वानप्रस्थ) मुनि के समूह तपस्वी हुए ॥ १० ॥ जो गोरखादि योगमार्ग के प्रवर्तक (साधक) सिद्ध हुए वे भी उसके अन्त नहीं जाने, न देव जाने, न दानव जाने ॥ ११ ॥

जाकी गति ब्रह्मा नहिं जानी, शिव सनकादिक हारे।
ताकी गति नल कैसे पैहैं, कहहिं कबीर पुकारे ॥७८॥

यस्यान्तं नाविदद् ब्रह्मा[1] मर्यादां वा कथञ्चन।
शिवोऽपि सनकादिश्चान्विष्य तं व्यथते स्म वै ॥ १२ ॥
यद्गतिं नैव ते विद्युस्तद्गतिं च नराः कथम्।
वेदिष्यन्तीति वदति कबीरो गुरुरादरात् ॥ १३ ॥
त्रिषु धामसु यद्भोग्यं भोक्ता भोगश्च यद्भवेत्।
तेभ्यो विलक्षणः साक्षी स रामोऽनन्तचिद्वपुः ॥ १४ ॥
स सर्वात्मा परं ब्रह्म विश्वस्यायतनं महत्।
सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरश्चैव ज्ञायते स हरिर्बुधैः ॥ १५ ॥
सर्वद्वन्द्वनिवृत्तिः स्यान्मोहो मारो मदः क्षरेत्।
यस्यानुभूतिमात्रेण भक्त्या तमहमाश्रये ॥ १६ ॥ ७८ ॥

जिसके अन्त को वा मर्यादा (संस्था) को ब्रह्मा किसी प्रकार नहीं पाये, शिव और सनकादि भी तिस अन्तादि को खोज कर व्यथित हुए ॥१२॥ और जिसकी गति (क्रिया आश्रयादि) को वे लोक नहीं जान सके उसकी गति को मनुष्य कैसे जानेगें, यह बात कबीर गुरु आदर से कहते हैं ॥१३॥ जाग्रदादि तीनों धाम (स्थान) में जो भोक्ता भोग्य भोग होता है, उनसे विलक्षण अनन्त चित्स्वरूप साक्षी वह राम हैं ॥ १४ ॥ वह राम ही सब की आत्मा परब्रह्म सबका महान आश्रय सूक्ष्म से अतिसूक्ष्म हरि है, वह बुधों (ज्ञानियों) से जाना जाता है ॥ १५ ॥ जिसके पूर्ण अनुभव मात्र से सब द्वन्द्वकी निवृत्ति होगी, मोह काम मद सम्यक् चले जायगें, भक्ति से मैं उसी राम का आश्रयण करता हूं ॥१६॥

१ श्रीमद्भा० स्क० ३ । ६ । ३६ नाहं न यूयं यद्दतां गतिं विदुः ॥ अ० ७ । ४ नान्तं विदाम्यहममो मुनयोऽग्रजास्ते ॥ इति श्रीब्रह्मणो देवर्षिनारदं प्रत्युक्तिः द्रष्टव्या ॥

अक्षरार्थ–सर्वात्मा अनन्त राम तीन गुण से अत्यन्त न्यारा (भिन्न) है, तथा मायी सगुण राम (ईश्वर) के गुण (सर्वज्ञ सर्वकर्तृत्वादि) जीव के गुणों से न्यारा (विलक्षण) हैं, अनन्त हैं। इस तत्त्व को अबुझा (अविवेकी) लोक कहाँ तक बूझ (समझ) सकते हैं। बूझनिहार (विवेकी) इसे विचारो और समझो। या बूझनिहार (ज्ञानी) से श्रवण करके विचारो। तपसी से (तपस्वी तुल्य) केते (कितने) रामचन्द्र हुए, जिन्होने इस संसार में लोकरक्षा आदि के लिये भ्रमण किया, या अपने चरित्रों से लोक को भरमाया (चकित किया)। मुरलीधारी कितने कान्हा (कृष्ण) हुए, तिन्हों ने भी सर्वात्मा राम का वा राम के गुणों का अन्त नहीं पाया, क्योंकि ये अनन्त हैं।

केते (कितने) मछ (मत्स्य) आदि स्वरूप अवतार, और वामन नाम धरानेवाले, बौध (बुद्ध) निकलंकी (कल्कि) हुए, तिनने भी रामगुण के अन्त नहीं पाया (नहीं जाना)। कितने सिद्धादि, और जिन्हों ने वन में वास (स्थिति) बसाया (क्रिया कराया) मुनि लोक और गोरख कहे गये, वे भी अन्त नहीं पाये; क्योंकि राम और राम के गुण स्वभाव शक्ति आदि अनन्त हैं।

जिस राम की गति (गुणादि के अन्त रहस्य मार्ग) को ब्रह्मा नहीं जान सके, और शिव सनकादिक उसकी गति को खोज कर हार गये, उसकी गति को मनुष्य कैसे जान सकता है, इसलिये अन्तादि के खोज को और लोभादि को त्याग कर, सच्चिदानन्दस्वरूप राम को विचारादि से जानना भजना चाहिये, सगुण के गुण को अनन्त जानना उचित है ॥ ७८ ॥

यद्यपि राम के गुणों का अन्त नहीं है तथापि जीवों को अन्त खोजने की आदत्त (स्वभाव) पड़ी है, उसकी निवृत्ति, काम लोभादि की आदतों की निवृत्ति आत्माराम हरि का भजन विचारादि से सहज में हो सकती है, इत्यादि आशय से कहते हैं कि—

शब्द ॥ ७९ ॥

ना हरि भजै न आदत छूटी।
शब्दहिं समुझि सुधारत नाहीं, अँधरे भये हियहुं की फूटी॥

गुणेभ्यो हि परं यावद्धरिं न भजते नरः।
मुच्यते न स्वभावोऽयं वासनारक्तरञ्जिनः॥ १७॥
लोभाशादिमयः पापो ह्यभ्यस्तो जन्मकोटिभिः।
तावत्कस्यापि लोके हि कथञ्चिदपि देहिनः॥ १८॥
अहो तथापि लोकाश्च सारशब्दं विविच्य वै।
तेन स्वात्मविवेकेन हरेर्भक्त्या च सर्वदा॥ १९॥
स्वभावं न विमुञ्चन्ते स्वस्य शुद्धिं न कुर्वते।
हरेरन्तादिसंमार्गाद्विरमन्ति तथैव नो॥ २०॥
अन्धास्ते ह्यभवंस्तेषां हृच्चक्षुर्व्यनशत् किल।
अतो नैवेह पश्यन्ति स्वात्मनोऽपि हिताहिते॥ २१॥

मनुष्य जबतक गुणों से भिन्न हरि को नहीं भजता है, तबतक लोक में किसी देहधारी के वासनाराग से रञ्जित (रंगा हुआ) अनन्त जन्म के अभ्यस्त लोभाऽऽशादिमय पाप (क्रूर) यह स्वभाव किसी प्रकार नहीं छूटता है ॥ १७-१८ ॥ आश्चर्य है कि तो भी लोक (जन सब) सार (सत्य) शब्द का विवेक करके, और उस सार शब्द से अपनी आत्मा के विवेक और हरि की भक्ति द्वारा स्वभाव को नहीं त्यागते हैं, न अपनी शुद्धि करते हैं, तथा हरि के अन्तादि का विमार्ग (खोज) से भी रहित नहीं होते हैं ॥ १९-२० ॥ इससे वे अन्धे ही हुए हैं, उनके

पानी माँह पषाणक रेखा, ठोकत उठे भुभूका।
सहस घड़ा नित ही जल ढारै, फिरि सूखे का सूखा॥
जलेऽर्पिता यथा वज्ररेखापि न स्थिरा भवेत्।
तथैव न ह्यभक्तानां हृदि तिष्ठति वाक् सताम्॥ २२॥
यथैव वा जले तिष्ठेत् पाषाणस्य सदाकृतिः।
पङ्क्ति र्वा तस्य शुष्कत्वादभिघाताज्ज्वलत्यलम्॥२३॥
तथा साधुजने तिष्ठेल्लोभयुक्तो नरो यदि।
शब्दादीनां स सम्बन्धात् क्रोधाज्ज्वलति वन्हिवत्॥२४॥
सहस्रघटपानीयस्यार्पणेऽपि यथा शिला।
सदा शुष्का भवत्येवं मूर्खों ज्ञानोपदेशतः॥ २५॥
" पूर्वापरसमाधानक्षमबुद्धावनिन्दिते।
पृष्टं प्राज्ञेन " संप्रोक्तं भक्ते फलति नान्यथा॥ २६॥

हृदय के नेत्र भी नष्ट हो गया है; इससे अपनी आत्मा के हिताहित को भी नहीं देखते हैं॥ २१॥

जैसे जल में अर्पित (स्थापित) वज्र (हीरा) आदि की रेखा (लेख) भी स्थिर नहीं हो सकती, तैसे ही हरि गुरु भक्ति रहित के हृदय में सत पुरुष की वाक नहीं स्थिर होती॥२२॥ अथवा पत्थर की आकृति (आकार) वा उसकी पङ्क्ति सदा जल में ही रहे तौ भी उसे सूखा रहने से जैसे अभिघात (ठोकने) से वह खूब ज्वलित होता है॥२३॥ तैसे ही लोभयुक्त मनुष्य यदि सदा साधुजन में रहे, तौ भी वह शब्दादि के सम्बन्ध से ही क्रोध से अग्नि तुल्य ज्वलित होता है॥२४॥ हजारों घडा पानी के ढारने पर भी जैसे पत्थर सदा सूखा ही रहता है, इसी प्रकार बहुत उपदेश से भी मूर्ख रहता है॥२५॥ उपदेश का पूर्वापर के समाधान (धारण) में क्षम (समर्थ) बुद्धिवाला अनिन्दित भक्त में ही पूछा हुआ सम्यक् ज्ञानी के कहा हुआ वचन सफल होता है, अन्यथा

शीतहिं शीतहिं शीत अंग भौ, सैन बाढि अधिकाई।
जो सन्निपात रोगियन मारै, सो साधुन सिधि पाई॥

पानीयस्थशिलास्थो वा यथा वन्हि र्न नश्यति।
रामभक्तहृदिस्थं हि तथा ज्ञानं न नश्यति॥ २७॥
स तिष्ठतु गृहे यद्वा विपदः सन्तु तस्य वै।
पृष्ट उच्चरति ज्ञानं मोहं नैव विरक्तधीः॥२८॥

पलितं ह्युत्तमाङ्गेऽभूच्छैत्यमङ्गेषु सर्वतः।
इङ्गितं कुर्वते मूढास्तथाप्यत्र त्रिदोषतः॥२९॥
बहुव्यापारसक्तत्वात्सदा तद्वासनायुताः।
वृद्धत्वे मृत्युकालेऽपि तच्चेष्टां बहु कुर्वते॥३०॥
भवरोगयुता ये च विचारादिसुयुक्तितः।
विरागादि सुसंसेव्य हन्यू रागादिकं गदम्॥३१॥
त एव साधवो मुक्ता धन्याः सिद्धाः सुलक्षणाः।
कामक्रोधादिभिर्हीना गुणबन्धाद्विनिर्गताः॥३२॥

नहीं॥२६॥ अथवा पानी में रहने वाला पत्थर में स्थिर अग्नि जैसे नष्ट नहीं होती, तैसे राम भक्त के हृदय में स्थिर ज्ञान नहीं नष्ट होता है॥२७। वह राम भक्त गृह में रहे या उसको विपत्तियाँ प्राप्त होयँ, परन्तु वह विरक्त बुद्धिवाला ज्ञान का उच्चारण करता है, मोह का नहीं॥२८॥

उत्तमाङ्ग (शिर) में पलित (शुक्लता) हो गया, अङ्गों में अति शीत सर्वत्र हो गया, तो भी राग द्वेष मोह रूप त्रिदोष से मूढ लोक यहाँ इङ्गित (अभिप्राय के अनुसार चेष्टा) करते हैं॥२९॥ सदा बहुत व्यापार में आसक्त रहने से, उसकी वासना सहित मूढ वृद्धता मृत्यु काल में उसीकी चेष्टा बहुत करते हैं॥३०॥ और संसार रोग से युक्त जो कोई विचारादि सुन्दर युक्ति से विरागादि को सुन्दर रीति से अच्छी तरह से सेव कर, रागादि रोग का नाश करें॥३१॥ वे ही काम क्रोधादि से

अनहद कहत कहत जग विनशे, अनहद सृष्टि समानी।
निकट पयाना यमपुर धावै, बोलै एकै बानी॥

हित्वा ये त्रिगुणं रामे रमन्ते निर्गुणेऽव्यये।
वृद्धत्वे मृतिकालेऽपि निर्विकारा भवन्ति ते॥३३॥
निःसीमं ब्रह्म गायन्तोऽप्यन्ये संसारिणो जनाः।
विवेकेन विना नष्टा भ्रमन्तोऽन्वेषणे रताः॥३४॥
सर्वात्मत्वेन सर्गेऽत्र सर्वतो वर्त्तते विभुः।
बहिरन्तश्च भूतानां प्रविष्टः सङ्गवर्जितः॥३५॥
तल्लब्धयेऽतिनिकटे हृदये सर्वदेहिभिः।
विधातव्या गतिः पुण्या नान्यत्र यमसद्मनि॥३६॥
हा तथापि त्विमे लोका धावन्तेऽन्यत्र सर्वदा।
यमस्य नगरेऽभद्रे भाषन्ते च परं विभुम्॥३७॥
भाषणेन भवेत् किं हि यावज्ज्ञानं न लभ्यते।
तस्माज्ज्ञानं सुसंपाद्यं सविरागं सुनिर्मलम्॥३८॥

रहित, गुणबन्धन से मुक्त, सुन्दर लक्षण वाले साधु संसार से मुक्त धन्य (पुण्यवान्) सिद्ध हैं॥३२॥ जो त्रिगुण को त्याग कर, निर्गुण अव्यय राम में रमते हैं, वे वृद्धता मरणकाल में भी निर्विकार रहते हैं॥३३। विवेक बिना भ्रमते हुए, किसी के अन्वेषण (खोज) में रत (प्रवृत्त), निःसीम (विभु) ब्रह्म को गाते हुए भी, अन्य संसारी लोक नष्ट हुए॥३४॥ विभु संग रहित परमात्मा सर्वात्मता से इस सर्ग (सृष्टि) में बाहर भीतर पैठ कर सर्वत्र वर्तमान है॥३५॥ उसकी प्राप्ति के लिये सब देही को अति निकट अपने २ हृदय में हीं पवित्र गमन करने लायक है, यम के घर रूप अन्य स्थान में नहीं॥३६॥ खेद की बात है कि तौभी ये सब लोक, अभद्र (अमङ्गल) यम के नगर रूप अन्य स्थानादि में ही सदा धावते (जाते) हैं, और परं (केवल) विभु का भाषण (कथन) करते हैं॥३७॥ जब तक ज्ञान नहीं पाया जाय, तब तक भाषण से क्या होगा, तिससे

सतगुरु मिले बहुत सुख लहिया, सतगुरु शब्द सुधारै ।
कहहिं कबिर सो सदा सुखारी, जो यह पदहिं विचारै ॥७९॥

पुण्यपुञ्जेन चेत् कश्चित् प्राप्नुयाद् गुरुसङ्गतौ ।
लभ्यते तेन सत् सौख्यमनन्तं नाऽत्र संशयः ॥३९॥
मिलेद्धि सद्गुरुर्यस्य तस्य भाग्यं परं मतम् ।
जीवन्मुक्तो विमुक्तः स मोदते सर्वदैव हि ॥४०॥
गुरवः शोधयन्तीह शब्दांस्तेषां च शब्दकाः ।
साधयन्तीह कार्याणि चित्तं संशोधयन्ति च ॥४१॥
सद्गुरोः सारशब्दं यो हृदये धरति ध्रुवम् ।
भाजनं स महार्थानां जायते मुक्तिभाजनम् ॥४२॥
सद्गुरुश्चाह स प्राज्ञः सुखी स्यात् सर्वदैव हि ।
चिन्तयेत पदं यो वा इदमात्मानमेव च ॥४३॥

विराग सहित अत्यन्त निर्मल ज्ञान अच्छी तरह संपादन (प्राप्त) करने योग्य है ॥३८॥

पुण्य के पुञ्ज से यदि कोई सद्गुरु की संगति में प्राप्त हो जाय, तो वह अनन्त सच्चा सुख पाता है, इसमें संशय नहीं ॥३९॥ जिसको सद्गुरु स्वयं मिल जायँ उसीका भाग्य (अदृष्ट) परं (केवल-सम्पूर्ण) मत है (माना गया है), वह जीवन्मुक्त और विदेहमुक्त होकर सदा आनन्द रहता है ॥४०॥ गुरु लोक शब्दों को शोधते हैं, और उनके शब्द यहां कार्यों को सिद्ध करते हैं, चित्त को शुद्ध करते हैं ॥४१॥ सद्गुरु के सार शब्द को जो हृदय में धरता है, सो अवश्य महान अर्थों का भाजन (पात्र) और मुक्ति का पात्र होता है ॥४२॥ और सद्गुरु कहते हैं कि वह प्राज्ञ (बुद्धिमान्) सदा ही सुखी होगा, कि जो इस पद (शब्द) को और आत्मा को विचारे शोचेगा ॥४३॥ गरुडपु० अ० ४९।८९। का वचन है

"मुक्तिदा गुरुवागेका विद्याः सर्वा विडम्बकाः।
काष्ठभारसहस्रेषु ह्येकं संजीवकं परम्॥४४॥"

गुणेभ्यो विविक्तं हरिं संभजन्तो गुरौ भक्तियुक्तास्तरन्तीह दुःखम्।
परानन्दमग्ना भवन्तीह लोके विशोका वसन्ति विमूढास्तपन्ति॥४५।७९॥

इति ह० शब्द सुधायां गुणेभ्यः परस्य हरेर्ज्ञानाज्ञानाभ्यां शान्तितापयोर्वर्णनं नामैकत्रिंशत्तमस्तरङ्गः ॥३१॥

कि, गुरु की एक वाक मुक्ति देनेवाली है, अन्य विद्या विडम्बक (दुःखद) हैं, हजार भार काठ में भी एक केवल संजीवनदाता है, संजीवन नामा है सोई श्रेष्ठ है ॥४४॥ गुणों से असंग विवेचित हरि को सम्यक् भजते हुए, गुरु में भक्तियुक्त प्राणी यहाँ दुःख को तरते हैं, और परमानन्द में मग्न होते हैं। इस लोक में भी शोक रहित बसते हैं। विमूढ तपते है ॥४५॥

अक्षरार्थ–अनन्त विलक्षण गुणवाला वा निर्गुण हरि को यह जीव न भजता है, न इसकी आदत (लोभादि का स्वभाव) छूटती है, वा छूटी है। सत्य शब्दों को समझ कर, यह अपने को नही सुधारता है, इससे अन्धा तुल्य हुआ है, हृदयके भी विवेकादि आँखे फूटी हैं, प्राप्त नहीं होती हैं। या ना (मनुष्य) विकारात्मक अन्तवाला हरि को भजता है, परन्तु उससे अविद्यामय आदत नहीं छूटी है, इत्यादि।

और पानी में पषाण की रेखा (लेखा-लकीर) की नाईं सुधार रहित अभक्त के प्रति सत्योपदेशादि निष्फल होते हैं, या पानी में वर्तमान पत्थर की पंक्ति तुल्य सत्संगादि में भी इनका हृदय सूखा ही रहता है, इससे शब्द की चोट से ठोकते ही क्रोधादिरूप भभूका (दीप्ताग्नि) इनके हृदय से उठती है। हजारों घड़ा जल ढारने पर भी पत्थर की नाईं, बहुत उपदेश देने पर भी, अभक्तादि क्रूर रहते हैं, आनन्द नहीं पाते हैं इत्यादि। और ब्रह्मनिष्ठ पूर्ण ज्ञानी भक्त के ज्ञानाग्नि किसी व्यवहार दुःखादि अवस्था में भी लुप्त नहीं होती, न रागादि होते हैं इत्यादि भाव है।

और अत्यन्त वृद्धता वा मरणकाल में शीत से शीत सब अङ्ग हो गये, तोभी अभक्त अज्ञ के हृदयादि में सैन (धनादि के इसारा) ही अधिक बढ गई, उस समय भी विवेकादि हृदय में नहीं आये, इससे सन्निपाती रोगी के समान इसारा करता है और जो रोगियन (प्रथम से गुणकृत रोग युक्त) भी भक्ति विवेकादि द्वारा इस त्रिगुण त्रिदोषरूप सन्निपात को मारते (नष्ट करते) हैं, वे ही साधु (सज्जन) लोक सिद्धि (मुक्ति) पाते हैं।

काम क्रोध लोभादि रूप सन्निपात को नष्ट करने बिना जगत के प्राणी अनहद (विभु) कहते २ भी नष्ट हुए, और वह अनहद सृष्टि (संसार देह) में ही समाया है, तथा उसी में सृष्टि समाई (स्थिर) है। वह सब के आत्मा है, इससे उसकी प्राप्ति ज्ञान के लिये अति निकट (पास) अपने हृदय सद्गुरु के शरण में ही पयाना (यात्रा) की आवश्यकता है, परन्तु ये लोक निकट में नहीं जाकर यमपुर में जहाँ तहाँ धावते हैं, और एक बाणी मात्र मुख से बोलते हैं। अथवा अनहद शब्द को कहते २ शून्य में नष्ट होता है, तौभी सृष्टि (संसारी) अनहद में प्रवृत्त है ॥ और पयान (मृत्यु) पास में आया तौभी एक अनहद शब्द के फेर में रहता है।

यदि इन जीवों के सुकर्म से इन्हें सद्गुरु मिल जावें, तो इन्हें बहुत सुख का लाभ होय, क्योंकि सद्गुरु इनके सब चाल शब्दों को भी सुधार देते हैं, तथा सद्गुरु के शब्द भक्तों के मन आदि को भी सुधारता है। इससे साहब का कहना है कि वह पुरुष सदा सुखी रहेगा कि जो इस मेरे उपदेश रूप पद को सद्गुरु आदि द्वारा विचारेगा, तथा अपरोक्ष इस आत्मतत्त्व को विचारेगा इत्यादि ॥७९॥

राम में रमण विना दण्डादि वर्णन प्र० ३२

पूर्व शब्द में हरि भजनादि विना अनादि अविद्यादिमय स्वभाव वासनादि की निवृत्ति के अभावादि का वर्णन हुआ है, सो सुन जान कर भी लौकिक व्यापारादि में आसक्त होनेवाले भजन से विमुख लोगों से कहते हैं कि—

शब्द ॥ ८० ॥

राम न रमसि कवन दण्ड लागा । मरि जैवे का करबे अभागा।
कोइ तपसी कोइ मुण्डित केशा । पाखण्ड भरम मन्त्र उपदेशा॥

रामनाम्नि परे तत्त्वे हरौ यूयं चिदात्मनि ।
नो रमध्वे बुधा ! यत्तत् कस्य दण्डस्य शङ्कया ॥ १ ॥
अत्रैव [1]रमणान्नैव पुनर्दण्डो भविष्यति ।
तापादिलक्षणो यद्वा यमदण्डोऽतिदुःसहः ॥ २ ॥
नाऽत्र हानिर्भवेत् काचिदृणं नैव च दृश्यते ।
अतो रमध्वं रामेऽत्र मृतौ किं साध्यतेऽल्पकाः ॥ ३ ॥

हे बुधो ! (विवेकियो !) चित्स्वरूप रामनामवाला उत्तम तत्त्व (स्वरूप) हरि में जो नहीं रमते हो, सो किस दण्ड (दमन वा यम) की शंका से ॥ १ ॥ इस राम ही में रमण से फिर तापादिरूप, या अति दुःसह यमदण्डरूप दण्ड नहीं होगा ॥ २ ॥ इस राम रमण में कोई हानि नहीं होगी, देवपितृ आदि के ऋण भी नहीं दीख पड़ेंगे । इससे इसी जन्म में यहाँ ही राम में रमो (मन लगावो); हे अल्पक ! (क्षुल्लक !) लोगों, मरने पर क्या सिद्ध करोगे ॥ ३ ॥ दुष्ट भग (ऐश्वर्य ज्ञानादि)

---

१ सर्वमात्मानं पश्यति नैनं पाप्मा तरति, सर्वं पाप्मानं तरति नैनं पाप्मा तपति सर्वं पाप्मानं तपति । बृहदा. ४ । ४ । २३ ।

विद्या वेद पढ़ि करै हंकारा । अन्त काल मुख फाँकै छारा ॥
दुखित सुखित ह्वै कुटुम जेमावै । मरण काल एकसर दुख पावै ॥

रमन्ते दुर्भगा विश्वे ह्यल्पभागाश्च दुर्धियः ।
मृतौ मोक्षं समिच्छन्ति प्रतीक्षन्ते कलेवरम् ॥ ४ ॥
" मोक्षः शीतलचित्तत्वं बन्धः सन्तप्तचित्तता ।
एतस्मिन्नपि नार्थित्वमहो लोकस्य मूढता " ॥ ५ ॥
केचित्तपस्विनो भूत्वा मुण्डिताश्च तथाऽपरे ।
प्रवर्तयन्ति पाषण्डान् मन्त्रांश्च भ्रान्तिकल्पितान् ॥ ६ ॥
विद्या वेदान् पठित्वा ये गर्वं कुर्वन्ति दाम्भिकाः ।
अन्तकाले हि सर्वे ते सुदुःखं भुञ्जतेऽवशाः ॥ ७ ॥
" स्वस्ववर्णाश्रमाचारनिरताः सर्वमानवाः ।
न जानन्ति परं धर्मं वृथा नश्यन्ति दाम्भिकाः " ॥ ८ ॥

वाले, अल्प भाग्यवाले, दुष्ट बुद्धिवाले, विश्व (भुवनादि संसार) में रमते हैं, मरने पर मोक्ष चाहते हैं, और देह की प्रतीक्षा (चिन्ता) में रहते हैं ॥ ४ ॥ योगवासिष्ठ प्र० ६ । २ । ९५ । २९ । का वचन है कि, कामादि के अभाव आत्मज्ञान से शीतलचित्तता ही मोक्ष है, और संतप्तचित्तता बन्धन है, और इसे भी लोक नहीं चाहते, लोक की मूढता आश्चर्यरूप है ॥ ५ ॥ कोई तपस्वी होकर तथा अन्य लोक मुण्डित (संन्यासी आदि) हो कर भी भ्रम से कल्पित मन्त्र और पाखण्डों को ही प्रवृत्त (प्रचार सिद्ध) करते कराते हैं ॥ ६ ॥

जो दम्भ करनेवाले विद्या वेद को पढ़ कर गर्व करते हैं, वे सब अन्त (मरण) काल में अवश (अस्वतन्त्र) होकर परवश अति दुःख भोगते हैं ॥ ७ ॥ गरुडपु० ४९ । ५८ । का कथन है कि, दम्भकारी सब मनुष्य अपने २ वर्णाश्रम के आचार में निरत (प्रवृत्त) भी रहते हैं, परन्तु उत्तम धर्म (मोक्षोपाय) को नहीं जानते हैं, इससे व्यर्थ नष्ट होते हैं ॥८॥

अहंकारफलं तीव्रं भुञ्जाना मानसैः सदा ।
लभन्ते न क्वचिच्छर्म दुर्मुखाश्चातिमत्सराः ॥ ९ ॥
न वेदाऽध्ययनान्मुक्तिर्न शास्त्रपठनादपि ।
ज्ञानादेव हि कैवल्यं सर्वगर्वविनाशकात् ॥ १० ॥
स्वकुटुम्बेषु सक्तत्वात्सुखदुःखे विषह्य ये ।
वित्तं चोपार्ज्य रक्षन्ति भोजयन्ति कुटुम्बकान् ॥ ११ ॥
मृत्युकालेऽसहायास्ते लभन्ते दुःखमुल्बणम् ।
एकाकिनो न संदेहः श्रीरामे रमणं विना ॥ १२ ॥
" पुत्रदारकुटुम्बेषु सक्ताः सीदन्ति जन्तवः ।
सरःपङ्कार्णवे मग्ना जीर्णा वनगजा इव " ॥ १३ ॥
शुभाशुभं समादाय पुमानन्यत्र गच्छति ।
अन्यत्र वाऽस्य गच्छन्ति सुहृत्स्वजनबान्धवाः ॥ १४ ॥

मानस वृत्तियों से तीव्र (दृढ) अहंकार के फल को भोगते हुए, दुर्मुख-(मुखर-अप्रियवादी) अतिमत्सरी लोक कहीं सुख नहीं पाते हैं ॥ ९ ॥ गरुडपु० में ही लिखा है कि, वेदाध्ययन वा शास्त्र पढने से मुक्ति नहीं होती, किन्तु सब गर्व के नाशक ज्ञान से ही कैवल्य (मोक्ष) होता है ॥१०॥ जो लोक अपने कुटुम्बों में आसक्त होने से सुख दुःख सह कर धन का उपार्जन करके कुटुम्बों की रक्षा करते हैं, उन्हें भोजन कराते हैं ॥११॥ वे भी श्रीराम में रमण बिना सहाय (अनुचर) रहित होकर एकाकी (एकल) ही मृत्युकाल में उल्बण (प्रव्यक्त) दुःख सहते हैं, इसमें संशय नहीं ॥ १२ ॥ नारदीयपु० अ० ६ । ६५ । का कथन है कि, पुत्र स्त्री कुटुम्ब में आसक्त जन्तु, सर के गंभीर पंक में धँसे, हुए वन के वृद्ध हाथी के समान नष्ट दुःखी होते हैं ॥ १३ ॥ इतिहाससमुच्चय० अ० १८ । ६२ । का कथन है कि, शुभाऽशुभ कर्म वासना को लेकर पुरुष अन्यत्र जाता है, और उसके सुहृत् स्वजन बन्धु कहीं अन्यत्र जाते हैं । कोई किसीके सहायक साथ नहीं होता ॥ १४ ॥

कहहिं कबीर ई कलि है खोंटी। जो रह करवा स निकलै टोंटी ॥८०॥

रामाद्विमुखताद्यात्मा पाखण्डगर्वलक्षणः।
अयं कलिर्महाहीनो दुःखमूलं विडम्बकः ॥ १५ ॥

यच्चात्र वर्तते देहभाण्डे भावादि कर्म च।
तद्धि गच्छति जीवेन सह द्वारेण केनचित् ॥ १६ ॥

लभते तेन दण्डान् स भोगांश्च वाऽतिदुःखदान्।
रामभक्त्या तु सर्वं तन्नेति सद्गुरुराह तत् ॥ १७ ॥

"नामुत्र च सहायार्थं पिता माताऽपि तिष्ठतः।
न पुत्रदारा न ज्ञातिर्धर्मस्तिष्ठति केवलम् ॥ १८ ॥

यमो वैवस्वतस्तस्य निर्यातयति दुष्कृतम्।
हृदिस्थः कर्मसाक्षी च क्षेत्रज्ञो यस्य तुष्यति ॥ १९ ॥

राम से विमुखता आदि स्वरूप पाखण्ड गर्व स्वरूप यह कलि महाहीन (निन्दित) दुःखों का मूल और विडम्बक (वञ्चक) है ॥१५॥ और इस देह रूप भाण्ड (पात्र) में जो भावादि वा कर्म रहता है, वही अन्त काल में जीव के साथ किसी द्वार से जाता है, निकलता हैं ॥१६॥ उससे वह जीव दण्डों को वा अति दुःखद भोगों को पाता है, और रामभक्ति से दण्ड दुःखदायी भोग उन सब को नहीं पाता है, इसीसे सद्गुरु तिस वचन को कहते हैं ॥ १७ ॥ मनुः ४ । २३९ परलोक में सहायता के लिये पिता माता भी नहीं स्थिर रहते हैं, न पुत्र दारा जाति सहायक होते हैं, किन्तु केवल सत्य धर्म ही रक्षा करता है ॥ १८ ॥ म० भा० आदिप० अ० ७४ । ३१-३२ । विवस्वान् (सूर्य) के पुत्र यम, उस पुरुष के पाप को निर्यातयति (निवृत्त करता है) कि जिसके हृदय में वर्तमान और कर्मसाक्षी रूप क्षेत्रज्ञ संतुष्ठ होता है ॥ १९ ॥ और

न तु तुष्यति यस्यैष पुरुषस्य दुरात्मनः ।
तं यमः पापकर्माणं वियातयति दुष्कृतम्" ॥ २० ॥८०॥

जिस दुरात्मा पुरुष के यह क्षेत्रज्ञ नहीं तुष्ट होता है, तिस पापकारी के पाप का यम वियातन करता है (विशेष पीडा भोगाकर उस पाप को नष्ट करता है ॥ २० ॥

अक्षरार्थ–सर्वात्मा अपरोक्षानन्द रूप राम में नहीं रमते हो, भला इस रमण में तुझे क्या दण्ड लगता है। रे अभागा ! मर जायगा तब क्या करेगा, जो भक्ति विचारादि करना हो, सो अब ही कर ले। आश्चर्य है कि कोई तपस्वी बनते हैं, कोई केश मुड़ाते हैं, परन्तु राम में नहीं रमते हैं, किन्तु पाखण्डरूप वेष और भ्रममय मन्त्रों के उपदेश करते हैं।

जो लोक ज्योतिषादि विद्या और वेद को पढ कर, आत्मज्ञान, राम रमणादि बिना अहंकार करते हैं, सो भी अन्तकाल मे मुख से छार (धूली-राख) फांकते हैं (मुख से अभिमान की बातों का फल महादुःख भोगते हैं)। जो लोक मरण पर्यन्त दुःखी सुखी होकर, किसी प्रकार द्रव्यादि कमा कर कुटुम्बों को जिमाते हैं, वे भी राम में रमण बिना अन्त में अकेला (एकसर) ही दुःख पाते हैं। कोई कुटुम्बादि रक्षा नहीं करता।

साहब का कहना है कि, यह कलियुग खोट (हीन) काल है, इससे कोई राम में नहीं रमता है, न मुक्त होता है, किन्तु जो इस करवा (मृत्पात्र तुल्य) देह में शुभाशुभादि उपार्जित कर्मादि रहते हैं, सोई किसी टोंटी (द्वार) होकर जीव के साथ अन्तकाल में निकलते हैं, फिर उनके अनुसार शरीर भोगादि प्राप्त होते हैं ॥ ८० ॥

शब्द ॥ ८१ ॥

हरि बिनु भरम बिगुरचे गन्दा ।
जहँ जहँ गये अपन पौ खोये, तेहि फन्दे बहु फन्दा ॥
योगी कहै योग है नीको, द्वितीया और न भाई ।
लुञ्चित मुण्डित मौन जटाधर, तिनहुं कहा सिधि पाई ॥

हरेर्भक्तिं विना विश्वे हीना भ्रान्तिर्विवर्धते ।
तथा सर्वा विपत्तिश्च गत्यागत्यादि सर्वशः ॥ २१ ॥

यत्र यत्रागमच्चायं भ्रान्तः कर्मनियन्त्रितः ।
चित्तस्याक्षस्य तत्रैव स्वानायात्मा विलोपितः ॥ २२ ॥

स्वात्मत्यागात्मपाशेन पाशा जाता ह्यनन्तशः ।
द्वन्द्वादिलक्षणास्तैश्च बद्धास्तिष्ठन्ति जन्तवः ॥ २३ ॥

योगिनो द्वन्द्वबद्धाश्च प्रशंसन्ति स्वयोगकम् ।
योगः श्रेष्ठो द्वितीयो न रामभक्त्यादिकोऽपि हि ॥ २४ ॥

सुखद, दुःखदः उदासीन, भेद से भ्रान्ति तीन प्रकार की होती है। तहाँ हरिगुरु की भक्ति विना संसार में हीन (दुःखद) भ्रान्ति विस्तृत होती है, फिर उससे विपत्ति गमनागमनादि सब होते हैं ॥ २१ ॥ कर्माधीन यह भ्रान्त जहाँ २ गया, वहाँ ही अपना चित्त रूप अक्ष (पाशा) का सुन्दर आनयन (प्रापण) का स्थान रूप स्वानाय आत्मा को विलोपित (नष्ट लुप्त) किया ॥२२॥ फिर अपनी आत्मा का त्याग (अज्ञान) आदि रूप पाश (बन्धन) से ही द्वन्द्वादि स्वरूप अनन्त पाश हुए, जिनसे प्राणी बद्ध है ॥२३॥ द्वन्द्वों से बद्ध योगी अपना तुच्छ योग की प्रशंसा करते हैं। कहते हैं कि, आसन मुद्रादि योग श्रेष्ठ है, राम भक्त्यादि भी दूसरा कोई पदार्थ नहीं श्रेष्ठ है ॥२४॥ जिनके मस्तक (शिर) लुञ्चित (अपनीत-उत्पा-

ज्ञानी गुणी शूर कवि दाता, ई जो कहहिं बड़ हम ही ।
जहँ से उपजे तहईं समाने, छूटि गेल सब तब ही ॥
बायें दहिने तेजि बिकारा, निज के हरि पद गहिया ।
कहहिं कबिर गुंगे गुड़ खायो, पूछे सो का कहिया ॥८१॥

लुञ्चितो मस्तको येषां मुण्डितो वर्ततेऽथवा ।
ते मौना जटिलाश्चैव सिद्धिं विन्दन्ति कुत्र वै ॥ २५ ॥
भक्तिं विना न कुत्रापि सत्या सिद्धिर्हि विद्यते ।
आत्मज्ञानविरागाभ्यां विना नैव च देहिनाम् ॥ २६ ॥
पण्डिता गुणिनः शूरा दातारः कवयस्तथा ।
वदन्ति स्वं स्वमात्मानं श्रेष्ठं रामं विनैव चेत् ॥ २७ ॥
यतो जाता हि गर्भादेस्तत्रैव प्रविशन्ति ते ।
यदा तदैव नश्यन्ति सर्वे गर्वादिविभ्रमाः ॥ २८ ॥
सव्ये च दक्षिणे ये तु हित्वा द्वन्द्वानि युक्तितः ।
यतस्ततो विकारांश्च त्यक्त्वा सर्वात्मकं हरिम् ॥ २९ ॥

टित बालयुक्त) है अथवा मुण्डित है, वे लोक और मौन (मूक) जटिल (जटाधारी) भी भक्ति बिना कहाँ सिद्धि पाते हैं ॥२५॥ भक्ति बिना देही की सत्य सिद्धि कहीं नहीं है। आत्मज्ञान विराग के बिना भी सिद्धि नही हैं ॥२६॥

शास्त्रज्ञ रूप ज्ञानी, कला नृत्य वाद्यादि गुणज्ञ, शूर, दानी, तथा कवि लोक भी यदि सर्वात्म राम को जाने बिना ही अपनी २ व्यष्टि देह सहित आत्मा को श्रेष्ठ कहते हैं ॥२७॥ तो वे लोक जिस गर्भादि से जन्मे हैं, उसी में जब फिर पैठते हैं, तभी उनके सब गर्वादि रूप विभ्रम (संशय विपर्यय) नष्ट होते हैं ॥२८॥ और जो लोक सव्य दक्षिण (वामे-दहिने) शुभाशुभ अनात्म पदार्थों में ही सब द्वन्द्वों को युक्ति से त्याग कर, और विकारों को भी जहाँ तहाँ (देह मन आदि में) त्याग कर, और सर्वात्मा

सद्वस्तुत्वेन गृह्णन्ति स्वात्मत्वेन च सर्वदा।
तैर्मूकैर्गुडवज्ज्ञातं प्रश्नेऽपि कथ्यतां किमु॥ ३०॥
प्रशंसन्ति न ते कञ्चिद्विनिन्दन्ति तथैव न।
स्वात्मत्वेनैव जानन्ति सर्वं सद्गुरुरब्रवीत्॥ ३१॥

हरि को सत् वस्तु रूप से, स्वात्मरूप से सदा ग्रहण (अनुभव) करते हैं, मूक से ज्ञात गुडतुल्य उनसे ज्ञात वस्तु भी उनसे क्या श्रेष्ठादि कहा जाय ॥ २९–३० ॥ वे ज्ञानी आत्मदृष्टि से किसी की प्रशंसा नहीं करते हैं। तैसे ही निन्दा भी नहीं करते हैं, किन्तु सबको अपने आत्मस्वरूप से ही देखते जानते हैं। सोई तत्त्व सद्गुरु ने कहा है ॥३१॥

अक्षरार्थ–फिर भी कहते हैं कि सर्वात्म हरि की, भक्ति अनुभूति प्राप्ति बिना संसार में गन्दा (दुष्ट) भ्रम विगुरचा (फैला) है, या हरि (सद्गुरु आदि) विना गन्दा विगुरचा (विहृत) प्राप्त होती है। और उस भ्रम कर्म के वशी जीव जहाँ २ गया, वहाँ २ अपना पौ (दाव-मोक्षस्थान) रूप अपना स्वरूप को आप ही खोया। फिर उस आत्मत्याग रूप गन्दा फन्दा (बन्धन) से बहुत फन्दे प्राप्त हुए। आत्मज्ञान बिना योगी कहते हैं कि, योग ही नीका (श्रेष्ठ) है, दूसरी हरिभक्ति आदि कोई श्रेष्ठ नहीं है। इसी प्रकार लुञ्चित (जैनी) मुण्डित (संन्यासी-यवन), मौन (वाङ्मौनी-बुद्धसंन्यासी), जटाधारी (वैरागी वानप्रस्थादि) अपने २ वेषादि की बडाई करते हैं, परन्तु हरि में रमणादि बिना उन्होंने भी कहाँ सत्य सिद्धि पाई। हरि प्राप्ति आदि रहित सिद्धि मिथ्या दुःखद है।

यद्यपि (ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति। भ० गी० ४। ३९) इत्यादि शास्त्र के अनुसार ज्ञान होने पर शीघ्र शान्ति होने से, अशान्ति का हेतु अभिमानादि ज्ञानी में नहीं हो सकते, तथापि सत्यात्मा के ज्ञानी से अन्य ज्ञानी का यहाँ ग्रहण है, और उसी अभिप्राय से भर्तृहरि ने भी लिखा है, कि (ज्ञानं सतां मानमदादिनाशनम्

केषाञ्चिदेतन्मदमानकारम् । स्थानं विविक्तं यमिनां विमुक्तये, कामातुराणामतिकामकारणम् ॥) शास्त्रादि का ज्ञान सत पुरुषों के मानमदादि के नाशक हैं, अन्य किसी के मदमान के कारण हैं । जैसे, एकान्त स्थान संयमी का मुक्ति के लिये है, कामातुर का काम वृद्धि के कारण है । इससे आत्मज्ञानादि रहित लोक अभिमान से कहते हैं कि, हम बड़े हैं; परन्तु फिर गर्भादि में जाने पर अभिमान चले जाते हैं, इससे प्रथम ही उसे त्यागना उचित है कि, जिससे गर्भादि में नहीं जाना हो इत्यादि भाव है । इसीसे कहते हैं, कि जिन लोकों ने बायें दहिने (शुभ अशुभ) दोनों विकारों को, और वाम दक्षिण मार्ग, उत्तरायन दक्षिणायन मार्ग की वासनादि को त्याग कर, निजके (निजस्वरूप से) हरिपद (हरि वस्तु स्थान) को गहा (जाना) है। वे लोक पूछने से भी क्या कहेगें, गुंगा गुड खाया तो भी क्या कहेगा, या वे लोक क्या पूछें और क्या कहें (प्रत्यस्तमितभेदं यत्सत्तामात्रमगोचरम् । वचसामात्मसंवेद्यं तज्ज्ञानं ब्रह्मसंज्ञितम् । अग्निपु० अ० ३७९ । ३० भेद रहित वाणी का अविषय स्वानुभवगम्य सत्तामात्र ज्ञान ही ब्रह्मनामवाला है । इसी प्रकार प्रथम योगी आदि पद से भी (अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम् । याज्ञवल्क्यस्मृ० १ । ८) इत्यादि वचन में वर्णित आत्मज्ञान के हेतु परमधर्मरूप योग से अन्य योगादिवालों का ग्रहण है ॥ ८१ ॥

प्रथम शब्द में मिथ्या अभिमान से गर्भादि संसार का वर्णन हुआ है, उसके प्रसङ्ग से और भी मिथ्या अभिमानों को दर्शाय कर, उनका त्याग पूर्वक राम में रमणादि के लिये उपदेश करते हैं कि—

शब्द ॥ ८२ ॥

ऐसो भरम बिगुरचन भारी ।
वेद कितेब दीन औ दोजख, को पुरुषा को नारी ॥

इत्थंभूता महाभ्रान्तिर्जाता विश्वविमोहिनी ।
हरेर्ज्ञानं विना प्रौढा लोके शोककरी सदा ॥ ३२ ॥
विस्तृता त्रिषु लोकेषु बाधते सर्वदेहिनः ।
भक्तिज्ञाने विना नैव जातु क्वापि निवर्तते ॥ ३३ ॥
वेदान् ग्रन्थांश्च धर्मांश्च स्वर्गं नरकमेव च ।
सर्वं व्याप्यैव तिष्ठन्ती देहात्मज्ञानकारिणी ॥ ३४ ॥
कोऽस्त्यत्र पुरुषो लोके नारी का च निगद्यते ।
भ्रान्तिः स्त्रीपुंमयो भावस्त्वात्मा रामः सनातनः ॥३५॥
" मायाभिः प्रत्यगज्ञानैर्यदि वाऽनृतबुद्धिभिः ।
गम्यते पुरुरूपोऽज्ञैरेकोऽपि जलसूर्यवत् " ॥ ३६ ॥

हरि के ज्ञान विना विश्व को मोहनेवाली सदा शोक करनेवाली इस प्रकार के स्वभाव वाली भ्रान्ति (भ्रम) लोक में प्राप्त हुई और प्रौढ बढी है कि, तीनों लोक में विस्तृत हो कर देहियों को पीडित करती हैं, और भक्ति ज्ञान के विना कभी कहीं भी निवृत्त नहीं होती है ॥३२-३३॥ वेद ग्रन्थ धर्म स्वर्ग नरक सब को व्याप्त करके स्थिर होती हुई, सर्वत्र देह में आत्मज्ञान कराने के स्वभाव वाली हैं ॥३४॥ (न स्त्री न पुमानेषः । श्वेता. ५।१०) इत्यादि वचनों के अनुसार कौन जीवात्मा इस लोक में पुरुष है, और नारी (स्त्री) कौन कही जाती है, स्त्रीपुरुषमय भाव (सत्ता स्वभावादि) भ्रम स्वरूप (मिथ्या) है । और अपनी आत्मा स्वरूप राम ही सनातन (नित्य-सत्य) है ॥३५॥ बृहदारण्यक वार्तिक. २।५।१२७) का वचन है, कि माया शक्तियों से प्रत्यगात्मा के अज्ञान संशयादि से या मिथ्या ज्ञान से एक भी आत्मा जलगत सूर्य प्रतिबिम्ब की नाईं अज्ञानियों से पुरुरूप (बहुरूप) समझा जाता है ॥३६॥

माटी के घट साज बनाया, नादे बिन्द समाना।
घट बिनशे क्या नाम धरहु गे, 'अहमक खोज भुलाना॥
एकै त्वचा हाड़ मल मूत्रा, एक रुधिर एक गूदा।
एक बुन्द ते सृष्टि रच्यो है, को ब्राह्मण को शूद्रा॥

देहरूपो घटः सर्वो जीवभोगस्य साधनम्।
मृदा वै रचितो हीनो रजोवीर्यमयः कृतः॥ ३७॥
वीर्यकार्यं हि तद्देहं शब्देषु प्राविशत्ततः।
कथ्यते बहुभिः शब्दैर्नैव चात्मा कथञ्चन॥ ३८॥
अतो देहघटे नष्टे किंनाम्ना कथ्यते शिवः।
कथं वा क्रियते किञ्च नामास्य ध्रियते जनैः॥ ३९॥
भो अज्ञास्तद्धि जानीत विस्मृतं स्वं परं पदम्।
नामादिरहितं सत्यं किं मुधा परिधावथ॥ ४०॥
शरीरेषु त्वगेकैव समा चास्थि तथैव च।
मलं मूत्रमसृङ्मांसं सदृशं दृश्यते किल॥ ४१॥

जीवों का भोग के साधन रूप सब देह रूप घट, मिट्टी से रचा गया है, और रजोवीर्यमय हीन (निन्दित) किया गया है ॥३७॥ वीर्य का कार्य वह देह अपने वाचक स्त्रीपुरुषादि शब्द में वाच्यार्थ रूप से पैठा है, तिससे वही बहुत शब्दों से कहा जाता है, और आत्मा किसी प्रकार भी वस्तुतः स्त्रीपुरुषादि नहीं कहा जाता ॥३८॥ इससे देह रूप घट के नष्ट होने पर शिव (कल्याण) स्वरूप आत्मा किस नाम से कहा जाता है, वा मनुष्यों से किस प्रकार इसका कौन नाम किया वा धरा जाता है ॥३९॥ हे अज्ञ लोगों, भूला हुवा उसी नामादि रहित सत्य अपना परम पद को तुम सब जानो, क्यों वृथा सर्वत्र धावते हो ॥४०॥ शरीरों में भी त्वक् वस्तु एक है और सम तुल्य है, उसी प्रकार

रज गुण ब्रह्मा तमगुण शंकर, सत्त्वगुणी हरि सोई ।
कहहिं कबीर राम रमि रहिये, हिन्दू तुरुक न कोई ॥८२॥

तुल्यबीजकृते विश्वे ब्रह्म शूद्रो भवेद्धि कः ।
मिथ्यैवायं विकल्पोऽस्ति त्वात्मा रामोऽजरोऽमरः ॥४२॥

रजो ब्रह्मा तमः शम्भुः सात्विको हरिरुच्यते ।
आत्मा तत्तद्गुणैर्योगात्तत्तच्छब्देन कथ्यते ॥ ४३ ॥

विवेकेन गुणान् हित्वा त्यक्त्वा देहान् समन्ततः ।
रमध्वं सततं रामे यो नाऽऽर्यो यवनो नहि ॥ ४४ ॥

यो न कश्चिच्च सर्वश्च रमध्वं तत्र वै बुधाः ! ।
कबीरः सद्गुरुः प्राह भ्रान्तिचक्रनिवृत्तये ॥ ४५ ॥

का अस्थि (हाड) है, मल मूत्र असृक् (रुधिर) मांस भी सदृश ही दीखता है ॥४१॥ तुल्य बीज से कृत विश्व (स्थूल देह का समूह) में, या स्थूलाभिमानी सब में कौन सत्य ब्राह्मण और शूद्र होगा, यह विकल्प (भेद) मिथ्या ही है, और आत्मा राम ही अजर अमर (सत्य) है ॥४२॥

रजोगुण प्रधानोपाधि वाला ब्रह्मा है, तमोगुण वाला शिवजी है, हरि (विष्णु भगवान्) सात्विक कहाता हैं, और आत्मा ही तीन २ गुणों के सम्बन्ध (अध्यास) से ब्रह्मा आदि शब्दों से कहा जाता है ॥४३॥ विवेक से गुणों को त्याग कर, देहों को समन्ततः (परितः) सर्व तरफ से त्याग कर, सतत (संतत-निरन्तर) राम में रमो, जो राम आर्य वा यवन नहीं है ॥४४॥ जो स्वरूप से किसी विशेष रूप नहीं है, और माया सत्ता से सर्व स्वरूप है, हे बुध ! उसी में रमो, भ्रान्ति चक्र (समूह) की निवृत्ति के लिये, यह वचन सद्गुरु कबीर साहब कहते हैं ॥४५॥

गुणातीतमेकं ह्यखण्डं निरीक्ष्य
रमध्वं स्वरामे भजध्वं न गर्वम् ।
न दण्डाः पतिष्यन्ति चैवं कदाचिद्
भविष्यन्ति ते त्वन्यथा संप्रवृत्ताः ॥ ४६ ॥८२॥

इति हनु० शब्द० श्रीरामे रमणं विना दण्डभ्रमादिवर्णनं नाम द्वात्रिंशत्तमस्तरङ्गः ॥३२॥

गुणों से रहित अखण्ड एक राम को जान कर, उस अपने आत्मा राम में रमो, गर्व को नहीं भजो; इस प्रकार कभी दण्ड नहीं प्राप्त होंगे, अन्यथा वे प्रवृत्त होंगे ॥४६॥

अक्षरार्थ–ऐसा भरम का भारी विगुरचन (विस्तार-वृद्धि) है, कि वह भ्रम वेद किताब दीन (धर्म) और दोजख (नरक) आदि सब ही स्थानों में फैल रहा है। रागद्वेष मोहादि सर्वत्र सर्व विषयक वर्तमान है। और कौन पुरुष है, कौन नारी है। नारी पुरुषादिपन की प्रतीति भी भ्रम का ही विस्तार रूप है। वेदादि की अनादिता सादिता प्रमाणता अप्रमाणता आदि का परस्पर विवाद भ्रमजन्य हैं, और आत्मा में स्त्री आदि भाव भ्रमजन्य हैं।

और जीवों के कर्मादि के अधीन माटी के यह घट (देह) रूप साज (भोग का साधन) बनाया गया है, और नाद (वाचक शब्द) में बिन्दु (वीर्य) का कार्य रूप यह देह ही समाया है (वाच्यार्थ रूप से पैठा है)। स्त्रीपुरुषादि शब्दों से देह ही कहा जाता है। फिर इस देह रूप घट के बिनशने पर, जीवात्मा के कौन नाम धरोगे ? हे अहमक (अज्ञ) लोगों ! इसी वस्तु को खोजो कि, जिसके स्त्रीपुरुषादि नाम नहीं हैं; वही भूला है। और आत्मा में स्त्रीपुरुषादि भेद नहीं होते भी शरीर में है, परन्तु ब्राह्मणत्वादि, हिन्दुत्वादि भेद तो शरीर में भी नहीं है, क्योंकि सब शरीर में एक प्रकार के ही त्वचा, हाड, मल, मूत्रादि होते

हैं, तथा रुधिर, गुदा (मांस) एक प्रकार के रहते हैं, और सृष्टि एक प्रकार की बिन्दु से रची गई है, तो इस में वस्तुतः ब्राह्मणादि और शूद्र कौन है ? यह सब भ्रम का ही विस्तार है। (संसाररात्रिदुःस्वप्ने शून्ये देहमये भ्रमे। सर्वमेवापवित्रं तद् दृष्टं संसृतिकारणम् ॥ महोपनिषद् ६।२२)।

सर्वात्मा हरि हि रजोगुण उपाधि से ब्रह्मा, तमोगुण से शंकर कहाता है, और सोई सत्त्वगुणी हो कर हरि होता है, इससे ये नामादि भेद गुणों में हैं, सर्वात्मा में नहीं, इसलिये उपाधियों को त्याग कर, सर्वात्मा राम में रम रहो, तो हिन्दू तुरुकादि कोई भेद नहीं रहेगा, भेद रहित आत्मा भासेगा, मनुष्यादि में भी गुणकृत ही भेद हैं; आत्मकृत नहीं ॥ ८२ ॥

त्रिगुणोपासकादिकृतप्रपञ्चादिवर्णन प्र० ३२

उक्त त्रिगुण से पर आत्मतत्त्व की प्राप्ति के लिये उपदेश देते हैं कि—

शब्द ॥ ८३ ॥

हंसा हो चित चेतु सबेरा, इन परपञ्च कयल बहु तेरा।
परवण्ड रूप रचो इन तिरगुण, तेहि पाखण्ड भूला संसारा ॥

भो विवेकव्रता ! जीवाः ! सावधानेन चेतसा।
आत्मैव ज्ञायतां शीघ्रं गुणसङ्घो विसृज्यताम् ॥ १ ॥

हे विवेकव्रत ! (विचार का नियमवाले !) जीव ! सावधान (एकाग्र) चित्त से आत्मा को ही शीघ्र समझो, और गुणसमूह को त्यागो ॥ १ ॥

घर के खसम बधिक वै राजा, परजा का दहुं करै बिचारा ॥

"न कश्चिदपि जानाति किं कस्य श्वो भविष्यति ।
तस्माच्छ्वः करणीयानि कुर्यादद्यैव बुद्धिमान्" ॥ २ ॥
ज्ञानत्यागौ विनैवैते कृतवन्तो गुणा बहून् ।
प्रपञ्चान् मोहजालाख्यांस्तैश्च संभ्रमणादिकम् ॥ ३ ॥
मिथ्यापाषण्डरूपाणि रचितानि गुणैरिह ।
तेषु संसारिणो भ्रान्ता लभन्ते न स्थितिं क्वचित् ॥ ४ ॥
त्रिगुणोपासकाश्चैवं प्रपञ्चनिरता हि ये ।
तै रचितैस्तु पाषण्डै र्भ्राम्यते खल्विदं जगत् ॥ ५ ॥
अहो ब्रह्माण्डरूपस्य देहस्यापि गृहस्य च ।
स्वामिनो रक्षकाश्चैते राजानः सर्वसम्मताः ॥ ६ ॥
ते परस्परवैषम्यात्पाषण्डरचनादितः ।
वधिकत्वं यदापन्नाः प्रजाः कुर्वन्तु किं तदा ॥ ७ ॥

कोई नहीं जानता कि, कल्ह किसको क्या होगा, तिससे बुद्धिमान् कल्ह के कामों को आज ही करे। यह, इतिहाससमुच्च, १७।३४ का वचन है ॥ २ ॥ ये गुण सब ज्ञान और त्याग के विना ही मोहजाल नामक बहुत प्रपञ्च (भ्रमविस्तार) किये हैं, और उनसे भ्रमणादि होता है ॥ ३ ॥ गुणों से जो मिथ्या पाषण्डरूप वेष वस्तु यहां रचे गये हैं, उन में भ्रान्त संसारी कहीं स्थिति नहीं पाते हैं ॥ ४ ॥ इसी प्रकार जो त्रिगुण के उपासक प्रपञ्च (भ्रम विस्तार) में निरत (आसक्त) हैं, उनसे रचित पाषण्ड (वेषादि) से यह जगत अवश्यभ्रमता है ॥ ५ ॥ आश्चर्य है कि, ब्रह्माण्ड रूप गृह के और देह घर के भी ये गुण रक्षक स्वामी राजा सब से माने गये हैं ॥ ६ ॥ वे गुण परस्पर की विषमता से पाखण्ड की रचना आदि से जब बधिकता (वध-मारण कर्ता रूपता) को प्राप्त हुए, तो प्रजा क्या करे ॥ ७ ॥

भक्ति न जानै भक्त कहावै, तेजि अमृत विष कैलन सारा।
आगे बड़े ऐसही भूले, तिनहुं न मानल कहल हमारा ॥
कहल हमार गांठि बांधि हो, निशि बासर रहि हो हुसियारा।
ये कलि गुरू बड़े परपञ्ची, डारी ठगौरी सब जग मारा ॥

गुणासक्ता न सद्भक्तिं जानन्ति ह्यमृतप्रदाम्।
कथ्यन्ते तेऽपि भक्ताश्च पूज्यन्ते मनुजैर्भृशम् ॥ ८॥
सर्वैरत्रामृतं त्यक्त्वा सच्चिदानन्दलक्षणम्।
सारं मत्वा विषं विश्वं गृहीतमुल्वणं हि तत् ॥ ९ ॥
प्राक्तना ये महान्तस्तेऽप्येवं विभ्रान्तिसंयुताः।
अभवन्नैव येऽस्माकं मन्यन्तेस्मोपदेशनम् ॥ १० ॥
अस्माकमुपदेशं भो हंसाः संगृह्य मानसे।
विस्मर्तव्यो न कुत्रापि प्रेमबन्धेन रक्ष्यताम् ॥ ११ ॥
सावधानैः सदा भाव्यं रात्रौ च दिवसे तथा।
विचाराद्यैर्गुणोच्छेदो विधातव्यः प्रयत्नतः ॥ १२ ॥

त्रिगुण में आसक्त लोक (स्वस्वरूपानुसंधानं भक्तिरित्यभिधीयते। विवेकचूडामणि, ३२) इत्यादि वचनों में वर्णित आत्मस्वरूप के चिन्तनादिरूप मोक्ष देनेवाली सच्ची भक्ति को नहीं जानते हैं, और वे भी भक्त कहे जाते हैं, तथा मनुष्यों से अतिशय पूजे जाते हैं ॥ ८ ॥ और सब लोकों ने सच्चिदानन्दस्वरूप अमृत को त्यागकर, यहाँ विश्वस्वरूप उल्वण (स्पष्ट) विष को ही सार (सत्य सुखद) मान कर, उसका ग्रहण किये हैं ॥ ९ ॥ पूर्वकाल के जो महान् लोक हुए, वे भी इसी प्रकार भ्रान्ति सहित हुए, कि जो हमारे (सद्गुरुओं) के उपदेशों को नहीं स्वीकार किये ॥ १० ॥ हे हंस ! हमारे उपदेश को मन में संग्रह करके उसे कहीं नहीं भूलना, प्रेमबन्धन से उसे रक्षित रखना ॥ ११ ॥ रात्रि और दिनमें सदा सावधान (सचेत) रहना, और विचारादि से प्रयत्नपूर्वक गुणों का नाश

वेद कितेब द्वौ फन्द पसारा, तेहि फन्द पर आपु विचारा।
कहहिं कबिर तेहि हंस! न विसरो, जामें मिले छुडावनहारा ॥८३॥

वञ्चका गुरवो ये हि कलिकालस्य सम्मताः।
प्रपञ्चनिरतैस्तैर्हि कपटैर्मारितं जगत् ॥ १३ ॥
कपटानां प्रबन्धेन मोहजालं वितत्य ते।
आत्मसिन्धोः पृथक् कृत्वा जीवान् हिंसन्ति मत्स्यकान् ॥१४॥
वेदादींश्च कुराणादीन् द्विधा पाशान् वितत्य ते।
तेष्वेव तु गुरुं हित्वा विचारांश्चक्रिरे सदा ॥ १५ ॥
जीवानां बन्धनार्थं वा स्वकीयभुक्तिसिद्धये।
वञ्चकाश्चिन्तयन्त्येते शान्त्यै मुक्त्यै न कर्हिचित् ॥१६॥
सद्गुरुश्चाह भो जीवा! विस्मर्तव्यो न स क्वचित्।
सद्गुरुर्वा विचारादिर्यत्र मुक्तिप्रदो मिलेत् ॥ १७ ॥
आत्मबोधश्च सद्धर्मो ह्यमानित्वमुखो यतः।
लभ्येत स सदा ध्येयो मोक्षकामैर्विचक्षणैः ॥ १८ ॥

करना ॥ १२ ॥ जो वञ्चक कलिकाल के गुरु माने गये हैं, प्रपञ्चपरायण उन लोकों से कपटों द्वारा जगत मारा गया है ॥ १३ ॥ वे लोक कपटों की रचना से मोहरूप जाल का विस्तार करके, उस द्वारा जीवरूप मत्स्यों को आत्मसमुद्र से पृथक् करके हिंसा करते हैं ॥ १४ ॥

वे प्रपञ्ची लोक वेदादि और कुराणादि रूप दो प्रकार के पाशों (बन्धन जाल) को फैला कर सद्गुरु को त्याग कर सदा उन्ही में विचार किये ॥१५॥ अब भी ये वञ्चक जीवों का बन्धन के लिये वा अपना भोग की सिद्धि के लिये ही वेदादि का चिन्तन करते हैं, शान्ति मुक्ति के लिये कभी नहीं करते ॥१६॥ और सद्गुरु तो कहते हैं कि, हे हंस! वह सद्गुरु वा विचारादि कहीं भूलने योग्य नहीं है, कि जिसमें मुक्तिदाता बोध मिले ॥१७॥ मोक्ष की इच्छावाले पण्डितों को जहाँ जिससे आत्मबोध सत्

" सच्छास्त्रेभ्यः सतां सङ्गात्सद्गुरोश्च स्वतस्तथा।
ज्ञेयोऽन्तःप्रकृतेरन्य=आत्मा सञ्च्य मुमुक्षुभिः ॥ १९ ॥
आत्मानं वै दृढं ज्ञात्वा सङ्गं सर्वं ततस्त्यजेत्।
अद्वैतसिद्धौ यततामन्यसङ्गो ह्यरिः स्फुटम् " ॥२०॥८३॥

धर्म अमानितादि मिले, वह उनका सदा ध्येय (ध्यान के विषय) होता है ॥१८॥ सत् शास्त्र, सतपुरुष का संग, सद्गुरु का उपदेश, और अपने विचारादि से त्रिगुण प्रकृति आदि से अन्य आत्मा मुमुक्षु को सदा जानने योग्य हैं ॥१९॥ आत्मा को निश्चय जान कर, तब सब संग को त्याग दे, क्योंकि अद्वैतात्मा की प्राप्ति में यत्नवालों का अन्य का सङ्ग अरि है, यह स्फुट (प्रगट) है ॥२०॥८३।

अक्षरार्थ–हे हंसा! (विवेकी जीव!) अपने चित्त में (मन में) सवेरा (शीघ्र) चेतो (आत्मज्ञान की प्राप्ति करो) या चित (चेतनात्मा) को चेतो (समझो), चेतने विना ही इन (तीन गुणों) ने बहुतेरा (बहुत) प्रपञ्च (मोहादि का विस्तार) किया हैं, या तेरा (तेरे स्वरूप में) बहुत संसार रचा है, तथा त्रिगुणोपासकों ने तुझे बहुत प्रपञ्च में फंसाया है। और इन त्रिगुणों (त्रिगुणोपासकों) ने पाखण्ड रूपों (मिथ्या वेषों) को रचा है, तिसी पाखण्ड में यह संसार (संसारी) भूला है (आसक्त सत्यादि बुद्धिवाला) है। ब्रह्माण्ड और देह रूप घर के खसम (स्वामी) राजा रूप वे त्रिगुण उनके उपासक ही यदि वधिक है, तो उन राजाओं के आगे वेचारी (गरीब) प्रजा (अविवेकी प्राणी) क्या कर सकती है, या क्या विचार करे। वह तो इसके फन्दे में पड़ती ही है, तुम सावधानी से बचो।

(स्थायी भावो भगवति यश्चिदानन्दलक्षणे। स्वतः प्रकाशते चित्ते स भक्तिरिति कथ्यते॥) भक्तिरसायन के इस वचन के अनुसार सच्चिदानन्द स्वरूप भगवान् में स्थिर तात्पर्यरूप भक्ति को त्रिगुणवशवर्ती प्रजा नहीं जानती है, परन्तु भक्त कहाती है, और सत्यात्मस्वरूप अमृत को त्यागकर

गुणविषयादि रूप विष को सार (सत्य) किया (समझा) है। आगे के बड़े लोक भी इसी प्रकार भूल गये, कि उन्होंने भी हमारा (सद्‌गुरु का) कहा नहीं माना (आत्मविचारादि नहीं किया)। हे सज्जनो ! तुम हमार (सद्‌गुरु का) कहल (उपदेश) को गाँठि में बांधि हो (हृदय में रखना) और रातदिन हुसियार (सावधान) रहना, विचारादि के बल से त्रिगुण के फन्दों से बचना ॥ क्योंकि इस कलियुग के गुरु भी भारी प्रपञ्ची हैं, ये लोक ठगौरी (कपट) को डारि (रच) कर, मिथ्या व्यवहार फैला कर सब जगत को मारा (नष्ट किया) है।

कलि के वञ्चक गुरुओं ने जीवों को विश्वास दिलाने के लिये वेद कुराण रूप दो पाश फैलाया है। और उस पर भी सद्‌गुरु बिना अपना मनमाना अर्थ आप ही विचारा है, गुरु द्वारा अर्थों को नहीं समझा है। इससे साहब का कहना है कि, हे हंसा ! तिस सद्‌गुरु को कभी नहीं विसरो (भूलो) कि जिस सद्‌गुरु में त्रिगुण बन्ध से छोडाने वाले अनुभवादि मिलें (सद्‌गुरु सद्विचारादि का सदा ध्यान रखो) ॥८३॥

शब्द ॥ ८४ ॥

सन्त महन्तो सुमिरहु सोई, काल फाँस ते बाँचा होई ॥

तं हि सत्पुरुषं तं च महान्तं स्मर सज्जन !।
जीवन्मुक्तो भवेद्योऽत्र कालपाशात्परः सदा ॥ २१ ॥

हे सज्जन ! उस सत्पुरुष और उस महान का स्मरण करो कि, जो यहाँ जीवन्मुक्त हो, कालपाश से सदा पर हो ॥२१॥ और सब सत्पुरुष

दत्तात्रेय मर्म नहिं जाना, मिथ्या साधि भुलाना।
सलिला मथिके घृत को काढिन, ताहि समाधि समाना॥

किञ्च सत्पुरुषाः सर्वे महान्तो ये मुमुक्षवः।
ते स्मरन्तु हि तं रामं यो न कालैर्निबध्यते॥ २२॥
सद्भक्तिसुविचाराद्यैर्विना रामो न लभ्यते।
हठाद्यैः कर्मणा युक्त्या भक्त्या त्रिगुणयाऽथवा॥ २३॥
अतो मिथ्याविचाराद्यैर्दत्तात्रेयो महामुनिः।
भ्रान्तोऽभवन्न सत्तत्त्वरहस्यं लब्धवान् हि तैः॥ २४॥
गुणात्मसलिलं ध्यानैर्मथित्वा स प्रयत्नतः।
कल्पितानन्दरूपं हि घृतं चोद्धृतवांस्ततः॥ २५॥
तत्रैव च समाध्यर्थं हृद्गुहायां विवेश सः।
यावन्न स्वात्मरामस्य विज्ञानं लब्धवान् प्रभुः॥ २६॥
ज्ञानं लब्ध्वा हि देवो वा दत्तात्रेयः परे शिवे।
रामे कृत्वा समाधिं वै तत्रैव प्रविवेश ह॥ २७॥

और जो महान् मुमुक्षु हैं, वे भी उस राम का स्मरण करें कि, जो राम कालों के अधीन बन्धन में नहीं होता है ॥२२॥ सद्भक्ति विचारादि के विना, हठादि से वा कर्म से या किसी युक्ति (तर्क) से अथवा त्रिगुण वाली भक्ति से राम नहीं मिलता है ॥२३॥ इसीसे दत्तात्रेय महामुनि भी मिथ्या (त्रिगुण) के विचारादि से प्रथम भ्रान्त ही हुए, उनसे सत्तत्त्व के भेद (विवेक ज्ञान) उन्हों ने नहीं पाया ॥२४॥ वह मुनि गुण स्वरूप जल को प्रयत्न से ध्यान से मथ कर, कल्पित आनन्दरूप घी को उससे निकाला ॥२५॥ उसी गुण आनन्द में समाधि के लिये वह प्रभु (समर्थ मुनि) हृदय रूप गुफा में प्रवेश किया, जब तक स्वात्मा राम का विज्ञान नहीं पाया ॥२६॥ वा ज्ञान पा कर देव दत्तात्रेय ने पर शिव स्वरूप राम में समाधि करके उस राम ही में प्रविष्ट हो गये ॥२७॥

गोरख पवन राखि नहिं जाना, योग युक्ति अनुमाना।
ऋद्धि सिद्धि संयम बहुतेरी, पार ब्रह्म नहिं जाना ॥
वसिष्ठ श्रेष्ठ विद्या अधिकारी, रामैसो शिष साखा।
जाहि राम को करता कहिये, तिनहुं क काल न राखा ॥

गोरक्षः पवनं रुद्ध्वा रामात्मानं न लब्धवान्।
प्रत्यक्षं किन्तु योगस्य युक्त्यैवानुमिमाय सः ॥ २८ ॥
संयमै ऋद्धयो जाताः सिद्धयश्च पृथग्विधाः।
परं ब्रह्म न तैः सोऽपि लब्धवाञ् ज्ञानमन्तरा ॥ २९ ॥
वसिष्ठोऽसौ महाश्रेष्ठो ब्रह्मविद्याऽधिकारवान्।
यस्य रामोऽपि शिष्योऽभूत् सखा चात्यन्तवल्लभः ॥३०॥
यं च रामं जनाः प्राहुः कर्तारमीश्वरं हरिम्।
तं [1]कालोऽस्थापयन्नात्र वसिष्ठं देहिनं तथा ॥ ३१ ॥

गोरखजी ने प्राण निरोध करके भी सद्गुरु विना राम स्वरूप आत्मा को प्रत्यक्ष नहीं पाया, किन्तु योग की युक्ति से वे भी अनुमान किये ॥२८॥ धारणा ध्यान समाधि रूप संयमों से ऋद्धियाँ हुईं, नाना प्रकार की सिद्धियाँ हुईं, परन्तु ज्ञान (विवेकादि) विना वे भी उन संयमों से पर ब्रह्म को नहीं पाये ॥२९॥ ब्रह्मविद्या के अधिकार (नेतृत्व आचार्यत्व) वाला महाश्रेष्ठ वह वसिष्ठजी हुए, जिनके रामजी भी शिष्य और अत्यन्त प्रिय सखा (मित्र सहाय) हुए ॥३०॥ जिस राम को लोक कर्ता ईश्वर और हरि कहते हैं, उस देह सहित राम को तथा वसिष्ठजी को काल यहाँ नहीं स्थिर रखा ॥३१॥ इससे त्रिगुण देह को छोड करके ही उन

१ रामं दाशरथिं चैव मृतं सृंजय ! शुश्रुम। यं प्रजा अन्वमोदन्त पिता पुत्रानिवौरसान् ॥ म. भा. द्रोणप. अ. ५९।१। शान्तिप. अ. २९ ॥

हिन्दू कहै हमे लै जारब, तुरुक कहै मोर पीर।
दोनों आय दीन महँ झगड़हिं, देखहिं हंस कबीर ॥८४॥

अतो देहं विसृज्यैव त्रिगुणं तत्परं प्रभुम्।
कालपाशविनिर्मुक्तं भज देवं हरिं सदा ॥ ३२ ॥
"कालः[1] पचति भूतानि सर्वाण्येवात्मनाऽऽत्मनि।
यस्मिंस्तु पच्यते कालस्तं न वेदेह कश्चन" ॥ ३३ ॥
देहात्मधिषणा ह्यार्या मृतं दृष्ट्वा कलेवरम्।
वदन्ति तद् गृहीत्वा वै दाहो मेऽस्य गुरोर्हितः ॥ ३४ ॥
तुरुष्काश्च वदन्त्येवं वर्ततेऽयं गुरुर्हि नः।
अतो भूमौ निखातव्यो खनित्वाऽतो गतिर्भवेत् ॥३५॥

गुणों से पर कालपाशरहित प्रभु देव हरि को सदा भजो ॥३२॥ म. भा. शा. अ. २३९।३५। काल भूत (प्राणी वस्तु) को पकाता है, अपने में लीन नष्ट करता है, और वह काल जिस में लीन होता है, उसको यहाँ कोई नहीं जानता है (विरल जानता है) वही जानने योग्य है ॥३३॥

देह में आत्मबुद्धि वाले हिन्दू मृतक अपने पिता गुरु के देह को देख कर, उसका ग्रहण करके कहते हैं, कि मेरे इस गुरु का दाह ही हित (परलोक में धारक) होगा ॥३४॥ तुरुक लोक मृत शरीर को देख कर इस प्रकार कहते हैं, कि यह हमारा गुरु हैं, इससे भूमि को खोद कर, भूमि में निखातव्य (गाडने योग्य) है, इसीसे इन की सुगति होगी ॥३५॥ इस प्रकार समझ कर दाह और गाडना रूप धर्म के लिये

१ म. भा. शा. अ. २३९।३५॥ केदारखं. अ. १। एक एव त्रिलोकात्मा रूपादिगुणवर्जितः। रूपं तस्य न जानन्ति ब्रह्मादित्रिदिवौकसः॥ अहमेको महादेवि! किञ्चिज्जानामि तं विभुम्॥ अरुन्धतीं प्रति वसिष्ठोक्तिरियम्। एतादृशवाक्यान्यभ्युपगम्यात्रोक्तवान्॥

युद्ध्यन्तीत्थं हि धर्मार्थमुभये प्राप्य दुर्बुधाः।
सद्विवेकिजनस्तत्त्वं कबीरो वाऽत्र पश्यति ॥ ३६ ॥
अनेनैव गुरुर्नैजं वृत्तान्तमप्यसूचयत्।
स्वशिष्याणां सुबोधार्थं देहबुद्धिनिवृत्तितः ॥ ३७ ॥
निखिलभुवनकोशेष्वात्मरूपेण सन्तं,
त्रिगुणपरमनन्तं राममादर्शयन्तम्।
जनिमृतिकरमार्गात्सर्वमावारयन्तं,
निजमनसि लसन्तं संभजेऽहं तुरीयम् ॥ ३८ ॥

इति ह० शब्द० त्रिगुणप्रपञ्चवर्णनं नाम त्रयस्त्रिंशत्तमस्तरंगः ॥ ३३ ॥

भी दोनों दुर्बुध (अविवेकी) लोक परस्पर मिल कर लड़ते हैं, और सत्यात्मा के विवेकी जन वा सद्गुरु कबीर तत्त्व (सत्य स्वरूप) को देखते (जानते) हैं, इससे जाडने गाडने में उदासीन रहते हैं ॥३६॥ इसी कथन से सद्गुरु ने देह में आत्मबुद्धि की निवृत्ति से अपने शिष्यों का सुबोध के लिये अपना भावी वृत्तान्त को भी सूचन किया है ॥३७॥ सम्पूर्ण भुवन रूप कोश (पात्र पदार्थ समूह) में वर्तमान त्रिगुण पर, अनन्त राम का दर्शन कराते हुए, जन्ममरण का हेतु मार्ग से सब को रोकते हुए, अपने मन में संबंधयुक्त तुरीय (स्वरूप) गुरु को मैं भजता हूं ॥३८॥

अक्षरार्थ–फिर भी उपदेश देते हैं कि, जिससे सद्गुरु से ही त्रिगुण बन्धन छूटता है, इससे हे हंसा ! उन सन्त महन्तों को सुमिरो (याद रखो), जो सन्त महन्त काल फांस (मोहादि) से बँचे हों। या हे सन्त महन्तो ! सोई तत्त्व को सुमिरो (भजो) कि जो अविनाशी हो। अविनाशी का भजन, या काल फांस रहित सन्त महन्त के विना दत्ता-त्रेयजी ने भी सत्य का मर्म (भेद) नहीं जाना, किन्तु मिथ्या वस्तु

(गुण) को साध कर (योग युक्ति से पा कर) उसीमें भूले (आसक्त) रहे । मानो पानी मथ कर कल्पित घी को काढिन (प्राप्त किये) और ताहि (उसीके) समाधि में समाये (लगे) रहे । या प्रथम सलिल मथ कर घी काढिन, परन्तु उससे तृप्ति नहीं हुई । तब उस काल फांस रहित के समाधि में प्रवृत्त हुए और तृप्ति पाये ।

गोरखजीने पवन रखने (प्राण निरोध करने) मात्र से सद्गुरु विचारादि विना काल फांस रहित तत्त्व को प्रत्यक्ष नहीं जाना, किन्तु योग और युक्ति से अनुमान मात्र किया । और योग संयमादि से ऋद्धि सिद्धि की प्राप्ति बहुत हुई, परन्तु त्रिगुण से पार (रहित) ब्रह्म को गुरु आदि विना नहीं जाना । वसिष्ठजी अति श्रेष्ठ ब्रह्मविद्या के अधिकारी (आचार्य) हुए, जिनके भगवान् रामचन्द्र ऐसे महापुरुष शिष्य और साखा (सहायक मित्र) हुए । और जिस रामचन्द्र को लोक कर्ता (ईश्वर) कहते हैं, उस देही राम को और वसिष्ठ को भी काल इस मर्त्य लोक में सदा नहीं राखा (नहीं रहने दिया)। इसलिये गुणमय देह से रहित ही को कालपाश रहित समझो ।

देह रहित को समझने विना मृत गुरुजन के देह को लेकर, हिन्दू कहता है कि इसे जारूंगा, तब इनकी सुगति होगी । तुरुक कहता है कि ये मेरे पीर (गुरु) हैं, इन्हे गाडूंगा । इस प्रकार दोनों आकर दीन (धर्म) में आत्मविवेकादि विना झगडते हैं, और हंस (विवेकी) कबीर साक्षी रूप से देखते हैं । जारने गाडने के झगडों से उदासीन रहते हैं । आत्मज्ञान अहिंसा सत्यादि से सद्गति मानते हैं इत्यादि ।।८४।।

मनको चिन्हने बिना रागादि वर्णन प्रकरण ३४

शब्द ॥ ८९ ॥

ता मन को चिह्नहु रे भाई । तन छूटे मन कहाँ समाई ॥
सनक सनन्दन जयदेव नामा । भक्ति हेतु मन उनहुं न जाना ॥

भ्रातरस्तन्मनो वित्त किं मुधा परिधावथ ।
शरीरापगमे चैतत् कुत्राविशति वित्त तत् ॥ १ ॥
यावन्न ज्ञायते चैतत्तावद् भेदं प्रकल्प्य तत् ।
प्रपञ्चं कुरुते सर्वं विभ्रमं भक्तिमेव वा ॥ २ ॥
मतिं कारयते भिन्नां भक्तिं चैव क्रियां तथा ।
साधिष्ठानं च तज्ज्ञातं भेदानां कुरुते ऽलयम् ॥ ३ ॥
सनको हि महायोगी तादृशश्च सनन्दनः ।
जयदेवश्च नामाख्यो भक्तिहेतुं न वेद तत् ॥ ४ ॥

हे भाइयों ! उस मन को समझो कि जिसके अधीन सुगति कुगति होती है, क्यों वृथा सर्वत्र दौडते हो, और शरीर छूटने पर यह मन कहाँ पैठता है सो समझो ॥ १ ॥ जबतक यह मन अच्छी तरह नहीं जाना जाता है, तब तक वह मन ही भेद की कल्पना करके, सब प्रपञ्च (वञ्चना विस्तार) करता है, वा विभ्रम (शोभा संशय भ्रम) या भक्ति ही करता हैं ॥ २ ॥ भेदयुक्त बुद्धि, और भक्ति तथा क्रिया मन ही करवाता है, अधिष्ठान सहित जब वह मन समझ में आता है, तब वह मन ही भेदों का लय भी करता है ॥ ३ ॥ परन्तु महायोगी सनक और वैसाही सनन्दन, और जयदेव, नामा नामवाला भक्त भी भक्ति का हेतु उस

---

१ चित्तमेव हि संसारो रागादिक्लेशदूषितम् । तदेव तद्विनिर्मुक्तं भवान्त इति कथ्यते ॥ योगवा० प्र० ३ । ८४ । ३० ॥ मनो हि जगतां कर्तृ मनो हि पुरुषः परः । मनः कृतं कृतं लोके न शरीरकृतं कृतम् ॥ योगवा० प्र० ३।८९।१॥

अम्बरीष प्रह्लाद सुदामा । भक्त सहित मन उनहुं न जाना ॥
भरथरि गोरख गोपीचन्दा । ता मन मिलि मिलि कियो अनन्दा ॥
जा मन के कोइ जान न भेवा । ता मन मगन भये शुकदेवा ॥

अम्बरीषो हि राजर्षिः प्रह्लादो ध्यानतत्परः ।
सुदामा विप्रवर्यश्च सर्वे भक्तोत्तमाः स्मृताः ॥ ५ ॥
तत्तथापि न ते विद्युः स्वान्तं भक्तेर्हि साधनम् ।
यावत्तावदमी सर्वे भेदेनैवाचरन् भुवि ॥ ६ ॥
भर्तृहरिश्च गोरक्षो गोपीचन्दश्च योगवित् ।
मनसा तेन संमिल्य परानन्दमवाप्तवान् ॥ ७ ॥
यस्य च मनसस्तत्त्वं वेत्ति कोपि न मानवः ।
तस्य वै मनसो मार्गे शुकदेवो नचागमत् ॥ ८ ॥
किम्वा ज्ञात्वा मनस्तस्य साक्षिरूपे चिदात्मनि ।
मग्नोऽभवन्महायोगी शुकदेवो विवेकवान् ॥ ९ ॥

मन को नहीं समझा, अर्थात् बडे २ भक्त भी भक्ति काल में भक्ति को आत्मा का धर्म समझते हैं, परन्तु यह मन ही का धर्म है ॥ ४ ॥ राजर्षि अम्बरीष, ध्यान में तत्पर प्रह्लाद, विप्रश्रेष्ठ सुदामा ये सब भक्तों में उत्तम कहे गये हैं ॥ ५ ॥ तो भी वे लोक भक्ति काल में जबतक मन को भक्ति का साधनरूप नहीं जाने, तबतक भूमि में ये सब भेद भाव से ही विचरे ॥ ६ ॥ योग को जाननेवाले भर्तृहरि गोरख गोपीचन्द भी इसी मन से सम्यक् मिलकर परम आनन्द पाये, अर्थात् योगानन्द में भी मन ही साधन है ॥ ७ ॥

जिस मन के स्वरूप को कोई मनुष्य नहीं जानता है, उस मन के मार्ग में शुकदेवजी नहीं गये ॥ ८ ॥ अथवा मन को जान कर उसके साक्षीस्वरूप चेतनात्मा में विवेकी महायोगी शुकदेवजी मग्न हुए ॥ ९ ॥

शिव सनकादिक नारद शेखा । तन भीतर मन उनहुं न पेखा ॥
एकल निरञ्जन सकल शरीरा । ता महँ भ्रमि भ्रमि रहल कबीरा ॥८५॥

शिवोऽपि सनकाद्याश्च नारदः शेष एव च ।
स्वशरीरे स्थितं स्वान्तं दृष्टवानञ्जसा नहि ॥१०॥
अतस्तत्केवलं स्वान्तं वर्तते वै निरञ्जनम् ।
सर्वदेहेषु तिष्ठत्तद् ब्रह्माऽपि कथ्यते जनैः ॥११॥
भ्रान्त्वा भ्रान्त्वाऽज्ञजीवाश्च तत्र तिष्ठन्ति सर्वदा ।
लभन्ते न गतिं शुद्धामतस्तज्ज्ञायतां मनः ॥१२॥
"ज्ञमनोनाशमभ्येति मनोऽज्ञस्य तु शृङ्खला ।"
आत्मानं च मनस्तस्माद् वित्त भोः पुरुषोत्तमाः ! ॥१३॥
"तामसै र्वासना जालै र्व्याप्तं यज्जन्मकारणम् ।
विद्यमानं मनो विद्धि तद्दुःखायैव केवलम् ॥१४॥

शिवजी, सनकादि, नारद, शेष भी अपने देह में स्थिर मन को अञ्जसा (झटिति या तत्त्वतः) नहीं देखा ॥ १० ॥ इससे वह केवल मन ही निरञ्जन है (अतिबली ईश्वर है) सब देह में रहता हुआ वह समष्टि मन ही मनुष्यों से ब्रह्मा भी कहा जाता है ॥ ११ ॥ उस मन में ही आत्मबुद्धि से भ्रम २ कर अज्ञ जीव सब उसी मन के प्रपञ्च में सदा रहते हैं, शुद्ध गति (मुक्ति) नहीं पाते हैं। इससे उस मन को समझो ॥ १२ ॥ योगवासिष्ठ प्र० ४ । ३५ । १८ का कथन है कि ज्ञानी का मन नाशको प्राप्त होता है, अज्ञ का मन ही शृङ्खला (बेड़ी) है। इससे हे पुरुषोत्तम ! तुम आत्मा और मन को समझो ॥ १३ ॥ प्र० ५ । ९० । ६–१९ तामस वासना समूहों से प्राप्त जन्म के कारण रूप जो मन, उसको विद्यमान जानो, वह केवल दुःख के ही लिये है ॥ १४ ॥

> व्याप्तं वासनया यत्स्याद् भूयो जननमुक्तया।
> जीवन्मुक्तमनस्तच्च सत्त्वमित्यभिधीयते ॥१५॥
> त्यक्तावने विटपिनो भूयः पत्राणि नो यथा।
> निर्वासनस्य जीवस्य पुनर्जन्मादि नो तथा" ॥१६॥

गुणैस्तेषां भक्तैरिह बहुविधाः कारिताः स्वीकृताद्याः,
लसन्ति व्यापारा अकृतधिषणे भ्रान्ति वैपुल्यसिद्धौ।
समर्थास्तस्मात्स्वेऽविकृतहृदये सर्वदा चिन्तनीयम्,
मनः स्वात्मा शुद्धोऽस्ति विजनभुवि भ्रान्तिबाधादिसिद्ध्यै ॥१७॥८५॥

फिर जन्म की हेतुता से रहित शुभ वासना से प्राप्त जो जीवन्मुक्त का मन वही सत्त्व इस नाम से कहा जाता है ॥ १५ ॥ प्र० ५। ४८। ५५ जैसे भूमि के सम्बन्ध से रहित वृक्ष के फिर पत्ते नहीं होते, तैसे वासना रहित जीव के फिर जन्मादि नहीं होते ॥ १६ ॥ गुण और उनके भक्तों से कराये गये, और स्वीकृतादि बहुत प्रकारवाले व्यापार (क्रिया) संसार में वर्तमान शोभित हैं कि जो अविवेकी में भ्रान्ति की विपुलता (अधिकता) को सिद्ध करने में समर्थ हैं। तिससे अत्यन्त एकान्त भूमि में जाकर अपने अविकृत हृदय में भ्रान्ति की निवृत्ति आदि की सिद्धि लिये सदा मन चिन्तन योग्य है, और शुद्ध स्वात्मा चिन्तनार्ह है ॥१७॥

अक्षरार्थ–फिर भी उपदेश देते हैं कि हे भाई! सुगति कुगति जिस मन के अधीन है, उस मन को चिन्हो, झगड़ते क्यों हो, और समझो कि शरीर छूटने पर कौन मन कहाँ समाता है, इसको पहचान कर इसे वश में करने से, जब आत्मज्ञान पूर्ण वैराग्यादि से यह मन वासना कामादि रहित होता है, तो जीते ही में मुक्ति होती है, फिर वह जीवन्मुक्त ही विदेहमुक्त है, यह निश्चय जानो और जीवन् मुक्त का मन प्रारब्ध पर्यन्त रहता है, फिर लीन होता है, अन्य के मन कर्म वासनादि के अनुसार लोक योनि आदि में प्राप्त होता है, इस अर्थ को समझने बिना झगड़ा

व्यर्थ है। भेद भाववाली भक्ति का हेतु भी मन ही है परन्तु सनक, सनन्दन, जयदेव, नामा (नामदेव) इन लोकों ने भी भक्ति का हेतु मन को नहीं जाना, किन्तु भक्ति काल में अपनी आत्मा को भक्ति का हेतु समझा। अन्य भक्तों के सहित अम्बरीष, प्रह्लाद, और सुदामा भी भक्ति का हेतु मन को नहीं जाना, इससे आत्मा में भेद भाव सहित भक्ति में लगे रहे। इससे मन को सर्वथा चिन्हना महा कठिन है। भर्तृहरि, गोरख, गोपीचन्द ने भी उस मन के ही कार्य ऋद्धिसिद्धि से मिलकर आनन्द किया, या योगबल से मन को पहचान कर आनन्द किया।

जिस मन के भेद को कोई नहीं जानता है, उस मन के मग (मार्ग) में शुकदेव कभी नहीं गये, या मन के अन्दर निजात्मा में मग्न हुए। शिव, सनकादिक, नारद, शेष, भी अपने २ अधिकार तक मन को अपने तन के भीतर नहीं देखा, किन्तु अधिकारों में फंसा देखा, और जबतक देह के भीतर नहीं देखा, तबतक वह एकल (अकेला) मन ही निरञ्जन (समर्थ ईश्वर) होकर सब देह में वर्तमान रहा, और उसीमें भ्रम २ कर कबीरा (जीव:) सब रहल और रहता है। समष्टि व्यष्टि मन के प्रपञ्च में उसे पहचाने विना आसक्त रहता है, इससे मन को पहचानना चाहिये। विशेष भाव यह है कि, मन से उपलक्षित आत्मा को अज्ञेय स्वयं प्रकाश जानो, इसीसे शिव सनकादि भी उसे घटादि के सदृश नहीं जाना इत्यादि। और जीवन्मुक्त की विलक्षण दशा, मनोनाशादि की दुर्लभता में भी शब्द का तात्पर्य है। इसी आशय से (वसिष्ठश्चन्द्रमाः शुक्रो देवाचार्यःपितामहः। तपोवृद्धा वयोवृद्धास्तेऽपि स्त्रीभिर्विमोहिताः॥ अग्निपु० ३७२। ११। जयन्ति मुनयः केचित्पञ्चबाणं कथञ्चन। तदीयं तनयं क्रोधं शक्ता जेतुं न तेऽपि हि॥ आत्मपु० ४। १३९। उत्पद्यते यतः सर्वं येनैतत्पाल्यते जगत्। यस्मिंश्च लीयते तद्धि येन सर्वमिदं ततम्॥ विष्णुना तच्च न ज्ञातं ब्रह्मणा न च तत्तथा। कुमाराद्यैश्च न ज्ञातं न ज्ञातं नारदेन वै। शुकेन व्यासपुत्रेण व्यासेन च मुनीश्वरैः। तत्पूर्वैश्चाखिलैर्देवैः वेदैः शास्त्रैस्तथा नहि॥ शिवपु० उ० ४ रुद्रसं० अ० ४१। ८-९-१०) इत्यादि वचन भी हैं॥ ८५॥

झगरा एक बढो राजा राम । जो निरुवारे सो निर्वान ॥
ब्रह्म बड़ा कि जहाँ से आया । वेद बड़ा कि जिन उपजाया ॥

मनोज्ञानं विना लोके संशयाद्यात्मकं महत् ।
युद्धं संवर्तते तच्च वर्द्धतेऽहर्दिवं प्रभो ! ॥ १८ ॥
यश्चैनद्बाधते विद्वान् विज्ञानबलवान् सुखम् ।
भवबन्धाद्विमुक्तः स निर्द्वन्द्वो वर्तते सदा ॥ १९ ॥
ब्राह्मणत्वमुत ब्रह्मा श्रेष्ठो ज्ञेयोऽथवा यतः ।
आगतं तच्च ब्रह्मा च स श्रेष्ठो जगतां प्रभुः ॥ २० ॥
वेदाः श्रेष्ठा यतो वा ते जाताः श्रेष्ठः स कथ्यताम् ।
मनो ज्येष्ठं यतो वा तन्मन्यते स परः शिवः ॥ २१ ॥
तटस्थोऽसौ परो रामो यद्वा ज्ञाताऽस्य विद्यते ।
जलाद्यात्मकतीर्थं वा तीर्थभक्ताः सचेतनाः ॥ २२ ॥

हे प्रभो ! (समर्थ सज्जनो !) मन का ज्ञान के बिना लोक में संशयादिरूप महान युद्ध सम्यक् वर्तमान है, और वह अहर्दिव (दिनदिन) बढ़ता है ॥ १८ ॥ जो विज्ञानरूप बलवाला विद्वान् इसको बाधता (नष्ट करता) है, सो भवबन्धन से विमुक्त निर्द्वन्द्व होकर, सदा सुख पूर्वक रहता है ॥ १९ ॥ ब्राह्मणत्व जाति ब्रह्मा भी श्रेष्ठ ज्ञेय पदार्थ हैं, अथवा जिससे वह ब्राह्मण ब्रह्मा भी आये हैं, सो जगत् का प्रभु श्रेष्ठ है ॥ २० ॥ वेद श्रेष्ठ हैं, वा जिससे वे उत्पन्न हुए हैं, सो श्रेष्ठ कहा जाय, मन बड़ा है, वा जिससे वह मन भी समझा जाता है, सो शिवरूप आत्मा पर (उत्तम) है ॥ २१ ॥ तटस्थ वह लोक विशेषवासी राम (देव ईश्वर) बड़ा है, अथवा इनका भी ज्ञाता (प्रकाशक) विभु आत्मा बड़ा उत्तम है, जलादि-रूप तीर्थ उत्तम है, वा तीर्थ के भक्त सचेतन उत्तम हैं ॥ २२ ॥ इस पूर्व

ई मन बड़ा किं जेहि मन मान। राम बड़ा कि रामहिं जान॥
भ्रमि भ्रमि कबिरा फिरे उदास। तीरथ बड़ा कि तीर्थक दास॥८६॥

इत्येवं संशयाक्रान्ता भ्रान्ताः सर्वे जनाः खलु।
ग्रामं ग्राममुदासीना विचरन्ति यतस्ततः॥ २३॥
मनो निगृह्य विज्ञानात्संशयान्नाशयेत्तु यः।
सर्वद्वन्द्वविनिर्मुक्तः स लभेत स्थितिं स्थिराम्॥ २४॥
इदं ब्रह्म त्विदं क्षत्रं देवा लोका इदं हि सत्।
वेदाश्च[1] सर्वभूतानि स्वात्मैवास्ति निरञ्जनः॥ २५॥
सर्वभावपदातीतं सर्वभावात्मकं च वा।
यः पश्यति सदात्मानं द्वन्द्वमुक्तो भवत्यसौ॥ २६॥८६॥

इति ह० शब्दसुधायां मनोज्ञानं विना रागविरोधादि वर्णनं नाम चतुस्त्रिंशत्तमस्तरङ्गः॥ ३४॥

वर्णित प्रकारवाले संशयों से युक्त भ्रान्त सबही मनुष्य भटक २ कर उदासीन (उपेक्षायुक्त) जहाँ तहाँ विचरते हैं, अपना कुछ कर्तव्य नहीं समझ पाते हैं॥ २३॥ मन का निग्रह करके विज्ञान से जो संशयों को नष्ट करेगा, वह तो सब द्वन्द्वों से रहित होकर स्थिर स्थिति को पायेगा॥ २४॥ यह सत् ब्रह्म ही ब्रह्म (ब्राह्मणत्वादि) क्षत्र (क्षत्रिय) देव लोकादि स्वरूप है, निरञ्जन अपनी आत्मा ही वेद और सब भूतस्वरूप है, सर्वत्र ब्रह्मात्मा की ही सत्ता है॥ २५॥ इससे जो कोई सब भाव (पदार्थ) और पद (शब्द) से अतीत (रहित) वा सर्व पदार्थ स्वरूप सदा आत्मा को देखता (जानता) है, वही, संशयादि द्वन्दों से मुक्त होता है॥ २६॥

---

१ इदं ब्रह्मेदं क्षत्रमिमे लोका इमे देवा इमे वेदा इमानि भूतानीदं सर्वं यदयमात्मा। बृ० ४।५।७॥

अक्षरार्थ-हे राजा राम ! (राम स्वरूप स्वयं प्रकाश जीव !) एक प्रकार के झगड़ा (संशयादि जन्य कलह) संसार में बहुत बढ गया है, या राजा (स्वयं प्रकाश) राम विषयक संशय विपर्ययरूप झगड़ा बढा है, जो कोई विवेकादि से इसको निरुआरेगा (निवृत्त करेगा) सोई निर्वाण (मुक्त) होगा। झगड़ा है कि ब्रह्म (ब्राह्मणत्व जाति ब्रह्मा) बड़ा है, कि यह ब्रह्म जहाँ से आया, सो चेतन सर्वात्मा बड़ा है। वेद बड़ा है कि जिन्होंने वेदादि को उत्पन्न किया, वे बड़े हैं। यह मन बड़ा है कि जिसकी सत्ता आदि से यह वस्तु को मानता है, या जिसको जानता है सो बड़ा है। तटस्थ राम बड़ा है कि जो राम को जानता (प्रकाशता) है, सो आत्मा बड़ा है, इत्यादि संशयजन्य झगड़ा बढा है, जिसे सुन जानकर कबिरा (जीव) सब उदास हुए फिरते हैं। यह भी नहीं समझते हैं, कि [१]जलादिमय तीर्थ बड़ा है कि तीर्थों के दास जीवात्मा बड़ा है, इत्यादि, परन्तु जो इन संशयों को नष्ट करता है, सोई मुक्त निश्चल होता है। उत्तर कल्प सत्य है ॥ ८६ ॥

अविकारिभगवत्स्वरूप वर्णन प्र० ३५

पूर्व शब्द में अज्ञान जन्य संशय विप्रतिपत्तिरूप झगड़ा का वर्णन हुआ है, तथा उससे भी प्रथम मन का प्रपञ्च कहा गया है, उस झगडा और प्रपञ्च की निवृत्ति के लिये उपदेश देते हुए, दूर की आशा आदि की निवृत्ति के लिये कहते हैं कि—

---

१ निपानागमयोस्तीर्थमृषिजुष्टे जले गुरौ। अमरकोश० ३। ३। ८६॥

शब्द ॥ ८७ ॥

चातक कहाँ पुकारै दूरी। सो जल जगत रहा भरि पूरी।
जेहि जल नाद बिन्द का भेदा। षट् कर्म सहित उपानो वेदा॥

नराश्चातकवत् कस्माद् दूरस्थं जलवद्धरिम्।
आह्वयध्वेऽन्तिकस्थं न तं जानीथ कदाचन॥ १॥
यस्य लाभाद् भवेत्तृप्तिरक्षया न पुनर्भवः।
तज्जलं हि जगत्यस्मिन् पूर्णं सर्वत्र वर्तते॥ २॥
" य इमं मध्वदं वेद आत्मानं जीवमन्तिकात्।
ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते॥ ३॥ "
अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपञ्चकम्।
आद्यं त्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम्॥ ४॥

हे मनुष्यों! किस हेतु से दूरस्थ जल तुल्य दूरस्थ हरि को चातक की नाईं पुकारते हो, और पास में स्थिर उस हरि को तुम कभी नहीं जानते हो॥ १॥ जिस जल (हरि) के मिलने से अक्षय (अविनाशिनी) तृप्ति होगी, फिर भव (जन्म) नहीं होगा, वह जल (जीवन तृप्ति कारक) वस्तु) इस जगत में सर्वत्र पूर्ण है॥ २॥ कठोपनिषद्, २। १। ५ का कथन है कि, उपाधिद्वारा कर्मफल रूप मधु को भोगनेवाला समीपवर्ती इस जीवात्मा को ही जो भूतभावी सब के नियन्ता ईश्वर रूप जानता है, वह भय के हेतु द्वैत ज्ञान के अभाव से फिर अपनी रक्षा के लिये इच्छा नहीं करता है॥ ३॥ और अस्ति (है), भाति (प्रकाशता है), प्रिय (प्यारा सुखरूप) है, इसका यह नाम है, इसका यह रूप है, ये पांच अंश (भाग) संसार में सब वस्तु में वर्तमान हैं, तिन में आदि के तीन अंश सर्वत्र एक ब्रह्मस्वरूप है, उसके बादवाले दो अंश जगत् का स्वरूप है। यह वाक्यसुधा २०। वचन है॥ ४॥ इससे जिस ब्रह्मरूप जल में

जेहि जल जीव शीव का वासा। सो जल धरणि अमर परकाशा॥
जेहि जल उपजल सकल शरीरा। सो जल भेद न जानु कवीरा॥८७

यस्मिञ्जले हि नादानां बीजानां जायते भिदा।
षट्कर्मसहिता वेदा यस्मिन्नेव च जज्ञिरे॥५॥

यस्मिञ्जले च जीवानामीश्वराणां स्थितिः सदा।
तज्जलं पृथिवीलोके देवलोके प्रकाशते॥६॥

अमृतं वा जलं यद्धि पृथिव्यामस्ति सज्जनाः!।
तज्जानीत ततः सर्वैद्वन्द्वानि न भवन्ति हि॥७॥

यदज्ञाने जले यस्मिन् देहा जाता हि सर्वशः।
तद्रहस्यं न जानन्ति जीवास्तस्माद् भ्रमन्ति हि॥८॥

" आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यवस्थितम्।
आत्मा हि जनयत्येषां कर्मयोगं शरीरिणाम्॥९॥

ही नाद (नादजन्य शब्दरूप नाम) का भेद (विस्तार) होता है, तथा बीज (प्रकृति महत्तत्त्वाहंकार पञ्चतन्मात्रा वीर्यादि) रूप कारणों के भेद (कार्यरूप) होता है, और जिसमें अध्ययनादि षट्कर्म सहित वेद उत्पन्न हुए हैं॥५॥

जिस जल (ब्रह्म) में जीव और ईश्वर की सदा स्थिति है, वह जल पृथिवी लोक और देव लोक में प्रकाशता है॥६॥ अथवा जो अमृत (अविनाशी) जल पृथिवी में हैं; हे सज्जनो! उसको जानो, कि जिससे सब द्वन्द्व नहीं होगें॥७॥ जिसके अज्ञान रहने पर जिस जलमें सब देह उत्पन्न हुए हैं, जीव उसके भेद को नहीं जानते हैं, तिसी से भ्रमते हैं॥८॥ मनुः १२। ११९। का वचन है कि, आत्मा ही सब देवता स्वरूप है, सब संसार आत्मा ही में स्थिर है। और सूक्ष्म संघात सहित सब जीवों के कर्मों का संबन्ध भी आत्मा ही कराता है॥९॥ चेतन वस्तु

चिद्धातुर्यत्र यत्रास्ते तत्र तत्र निजं वपुः।
पश्यत्येष जगद्रूपं व्योमतामेव चात्यजत्" ॥ १० ॥८७॥

जहाँ २ है, तहाँ मन माया के योग से अपना स्वरूप को जगत् रूप से देखता है, परन्तु अपनी चिदाकाश रूपता को नहीं त्यागता है, अविकृतरूप होते भी मिथ्या विकार देखता है, यह, योगवासिष्ठ प्र० ६। २। १३७।३५ का वचन है ॥ १० ॥

अक्षरार्थ—हे चातक! (तटस्थ देवादि के उपासक पपीहा तुल्य मनुष्यों!) निकट स्थित जल तुल्य सर्वात्मा हरि को छोड़कर दूरस्थ जल तुल्य कहाँ किसको पुकारते हो। वह हरि रूप जल तो सबकी आत्मा होने से जगत में सर्वत्र भरपूर (व्यापक) हो रहा है। और जिस हरिरूप जल में ही नादबिन्दु (नामरूप स्वरूपशब्दवीर्यादि) के भेद (विस्तार कार्य) हुए हैं, और षट्कर्म के बोधक वाक्यों के सहित वेद सब भी उसी हरि में उत्पन्न हुए हैं। इससे सबका आधार होने से वह कहीं दूर नहीं है।

और जिस जल में अन्तःकरणादि उपाधिवाला जीव, तथा मायोपाधिवाला शीव (ईश्वर) का भी वास (स्थिति) है। सो जल (वही ब्रह्म) धरणी (भूमि) और अमर (स्वर्ग) लोक में प्रकाश करता है। या वही जल भूमि में अमर (अविनाशी) प्रकाशरूप है, तथा उसीमें भूमि आदि सब भूत भौतिक उत्पन्न हुए हैं। और जिस जल में ही माया से सब शरीर उत्पन्न हुए हैं, आश्चर्य है कि अत्यन्त निकटवर्ती उस जल का भेद (रहस्य) को कबीरा (जीव) नहीं जानता है, और दूर के जलको तृप्ति, शान्ति के लिये पुकारता है। या हे जीव! उस जल में भेद नहीं समझो इत्यादि। (सर्वं ह्यात्मनि संपश्येत् सच्चासच्च समाहितः। सर्वं ह्यात्मनि संपश्यन्नाधर्मे कुरुते मनः ॥ मनुः १२। ११८) ॥ ८७ ॥

इस ग्रन्थ में कैक स्थानों में ब्रह्मात्मा को जगत का कारण कहा गया है, तथा पूर्व शब्द में पानी के समान सब जगत का साधारण कारण कहा गया है, और जगत को स्वप्नतुल्य, मिथ्या, माया का कार्य भी कहा गया है, तथा ब्रह्मात्मा को अविनाशी अविकारी नित्य भी कहा गया है, इससे सिद्ध होता है कि स्वप्न के समान सब जगत् माया का परिणाम चेतनात्मा का विवर्त है, परन्तु पूर्व शब्द वर्णित जल का दृष्टान्त से कोई जिज्ञासु ब्रह्मात्मा को परिणामी कारण न समझ ले, इस आशय से परिणाम पक्ष में दोष का वर्णन करते हैं। परिणामवादियों के मत में चेतन भगवान ही संसार रूप हुए हैं, भगवान् पर प्रकृति (मूलकारण) हैं, उनसे संकर्षण नाम वाला जीव उत्पन्न होता है, उससे प्रद्युम्न नाम वाला मन होता है, उससे अनिरुद्ध नामवाला अहंकार होता है। वहाँ भगवान्, जीव, मन, अहंकार, इस चार व्यूह (मूर्ति) रूप वस्तुतः भगवान् ही हैं, और जीव जड रूप पदार्थ वस्तुतः भगवान् के शरीर हैं, इससे अद्वैत होते भी शरीर शरीरी भाव से द्वैत भी है। कोई अन्य परिणामवादी शरीर शरीरी भाव से भी भेद नहीं मान कर, सब संसार को भगवान के परिणाम रूप मानते हैं, इससे कहते हैं कि—

शब्द ॥ ८८ ॥

जो पै बीजरूप भगवाना। तौ पण्डित का पूछहु आना ॥
कहँ मन कहँ बुधि कहँ हंकारा। सत रज तम गुण तीन प्रकारा॥

भगवान् बीजवच्चेद्धि परिणामी मते तव।
संसाराश्वत्थरूपेण जायते चेत्स्वयं हरिः ॥ ११ ॥

भगवान् यदि तेरे मत में वट बीज प्रकृति आदि के समान परिणामी हैं, और यदि संसार अश्वत्थ (पिप्पल) विनश्वर रूप से हरि स्वयं उत्पन्न होते हैं ॥११॥ तो आप पण्डितों से बार २ अन्य क्या पूछते हो,

तदा पृच्छति किं ह्यन्यत्पण्डितेभ्यो भवान् मुहुः ।
प्रत्यक्षं जगदेतद्धि भगवानेव सर्वथा ॥ १२ ॥
निरोद्धव्यं मनः कुत्र शोध्या बुद्धिः क विद्यते ।
हेयः कुत्र त्वहङ्कारो रजः सत्त्वं तमस्तथा ॥ १३ ॥
सत्त्वादिगुणभेदेन ज्ञानकर्मादिवस्तुषु ।
त्रिधा भेदः कुतः कुत्र कथं संभाव्यते त्वया ॥ १४ ॥
यद्वा विश्वविवर्तस्य ह्यधिष्ठानं परेश्वरः ।
यदा तदा किमन्यच्च पृच्छन्ति पण्डिताः कुतः ॥ १५ ॥
ज्ञातव्यो विद्यते सैकस्तस्मिञ्ज्ञाते कुतो मनः ।
कुतो वा विद्यते बुद्धिरहङ्कारकथा कुतः ॥ १६ ॥
सत्त्वं रजस्तमश्चैव गुणाः क त्रिविधास्तदा ।
सत्यो[1] ह्यात्मैव सर्वत्र मायामात्रं मृषा जगत् ॥ १७ ॥

प्रत्यक्ष यह जगत् हि तो सर्वथा भगवान् ही है ॥१२॥ निरोध के योग्य मन, शोधन योग्य बुद्धि कहाँ है, त्यागने योग्य अहंकार, तथा रजः सत्त्व तम गुण भी कहाँ हैं कि, जिनका ज्ञान के लिये भी पूछना बन सके ॥१३॥ और ज्ञान कर्मादि वस्तुओं में सत्त्वादि गुणों के भेद से तीन २ प्रकार के भेदों को भी तुम किस हेतु से किस प्रकार कहाँ संभव (निश्चय) कर सकते हो ॥१४॥ अथवा जब विश्व (सब जगत्) विवर्त (मिथ्या-कार्य) का अधिष्ठान (अज्ञात होकर कारण) आश्रय परमेश्वर ही है, तो आप पण्डित (जिज्ञासु) लोक किससे अन्य क्या पूछते हो ॥१५॥ वही एक जानने योग्य है, उसे जानने पर सत्य मन किससे हो, वा बुद्धि किससे सिद्ध हो, अहंकार की कथा किससे हो ॥१६॥ तिस ज्ञान काल में सत्त्व रज तम तीन प्रकार के गुण भी कहाँ हैं, आत्मा ही सर्वत्र सत्य है, मायामात्र मिथ्या ही सब जगत है ॥१७॥

१ कृपणधीः परिणाममुदीक्षते, क्षपितकल्मषधीस्तु विवर्तताम् । स्थिरमतिः पुरुषः पुनरीक्षते व्यपगतद्वितयं परमं पदम् ॥ संक्षेपशारीरके ।

विष अमृत फल फलै अनेका । बहुधा वेद कहै तरवेका ॥
कहहिं कबिर तैं मैं का जाना । को दहुं छूटल को अरुझाना ॥८८॥

दुःखसौख्यात्मके यद्वा बन्धमोक्षात्मके फले ।
विषं चैवामृतं सैव बहुधा फलति प्रभुः ॥ १८ ॥
अहो वेदोऽपि किं वक्ति बहुधैव विमुक्तये ।
त्वमहं चेति जानाति किं मुधैव भवानपि ॥ १९ ॥
को वा मुक्तोऽत्र बद्धः कस्तद्विवेको न विद्यते ।
अतो न भगवान् वाच्यः परिणामी कथञ्चन ॥ २० ॥
अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
मायां स्वां तु समाश्रित्य कारणत्वं प्रपद्यते ॥ २१ ॥
यदस्ति[1] तस्य नाशोऽस्ति न कदाचन साधनैः ।
तस्मात्तन्नष्टमप्यन्तर्बीजभूतं भवेद्धृदि ॥ २२ ॥

परिणाम वाद में वह प्रभु ही सुख दुःख रूप वा बन्ध मोक्षरूप फल, बहुत प्रकार के विष और अमृत फलता है (सिद्ध होता है) ॥१८॥ आश्चर्य है कि, इस अवस्था में वेद भी विमुक्ति के लिये बहुधा क्या कहता है, और आप परिणामवादी भी त्वम् अहम् इस प्रकार व्यर्थ ही क्या जानते हो ॥१९॥ यहाँ मुक्त कौन है, वा बद्ध कौन है, सबके भगवान् रूप होने से उस बद्धमुक्त का विवेक नहीं है । इससे किसी प्रकार भी परिणामी कहने योग्य भगवान् नहीं है ॥२०॥ सर्वात्मा यह भगवान् अव्यक्त (इन्द्रियों के अविषय) अचिन्त्य (मन के अविषय) विकार के अयोग्य कहा जाता है, परन्तु अपनी माया को ले कर कारणता को प्राप्त होता है ॥२१॥ यदि भगवान् विकार परिणाम वाला होगा तो परिणाम बाद में जो वस्तु है, उसका कभी साधनों से नाश नहीं होता

१ योगवासिष्ठ प्र० ६ । २ । ४ । ६२ । परिणामवादे हि पूर्वावस्थाया उत्तरावस्थया तिरोभावमात्रं भवति न तु समूलनाश इति भावः ।

सद्गुरुश्चाह भोः साधो ! सर्वात्मा भगवानयम् ।
विवर्तोऽयं तु संसारो जीवभेदस्त्वभासतः ॥ २३ ॥
यद्वा विषामृतादीनि क्वानेकानि फलानि हि ।
मायामात्रं तु सर्वं तत्तस्मान्मोचयितुं किल ॥ २४ ॥
ब्रुवन्ति बहुधा वेदाः कोऽहं त्वं चेति चिन्त्यताम् ।
को मुक्तः कश्च बद्धो वा विवेकेनेति बुध्यताम् ॥ २५ ॥

विवेकेन हित्वाऽखिलाऽऽयोधयानि,
विहायाशया दूरसंवीक्षणानि ।
मुधाऽऽकारणां चाविकार्यं सदीशं,
सदा सङ्गहीनं भजस्व स्वमुक्त्यै ॥२६॥८८॥

इति द्व० शब्दसुधायामविकारिविभुभगवत्स्वरूपवर्णनं
नाम पञ्चत्रिंशत्तमस्तरङ्गः ॥ ३५ ॥

है, किन्तु उत्तर की अवस्था से पूर्व अवस्था का तिरोभाव मात्र होता है, इससे नष्ट दुःख संसार भी बीज स्वरूप से कारण के हृदय में रहेगा ही, इससे मोक्ष होना दुर्लभ है ॥२२॥ और सद्गुरु तो कहते हैं कि हे साधो ! यह भगवान् सब के आत्मा है, और यह संसार उसके विवर्त है, और जीव का भेद आभास (अज्ञान) से है ॥२३॥ अथवा विष अमृतादि अनेक फल कहाँ हैं, वह सब माया मात्र है, उससे मुक्त करने ही के लिये वेद बहुत प्रकार से कहते हैं; मैं कौन हूं, तुम कोन हो, इस प्रकार चिन्तन करो, और कौन मुक्त है वा कौन बद्ध है, यह भी विवेक से समझो ॥२४-२५॥ विवेक से सब युद्ध (झगडा) को त्याग कर, और आशा से दूर का संवीक्षण (चिन्तन) छोड कर, व्यर्थ आकारणा (पुकारणा) छोड कर, अविकार्य सदा संग रहित सत्य ईश्वर को अपनी मुक्ति के लिये सदा भजो ॥२६॥

अक्षरार्थ—जो पै (यदि) भगवान् बीज रूप (बीजवत् परिणामी) कारण है, और वह संसार वृक्ष रूप हो गया है, ऐसा मानते हो, तो पण्डितों से आन (और) क्या पूछते हो। जो कुछ देखते हो सो सब भगवान् ही हैं, तो भगवान् की प्राप्ति आदि के लिये कुछ पूछना नहीं बन सकता। मन बुद्धि अहंकार रूप निरोधादि करने योग्य पदार्थ भी भगवान् से भिन्न कहाँ हैं, तथा सत्त्वादि तीन गुण भी कहाँ हैं, कि जिनके लिये पूछना बन सके। अथवा सर्वात्मा भगवान ही यदि माया द्वारा बीज रूप निर्विकार अधिष्ठान है, तो हे पण्डितों! अन्य वस्तु क्या किसीसे पूछते हो, उसीको समझो इत्यादि।

विष अमृत अनेक फल परिणामी भगवान ही फलता है, तो वेद बहुत प्रकार से तरवे का (मुक्ति भगवत्प्राप्ति के लिये) क्या कहता है। इससे सर्वात्मा भगवान् जल की नांई साधारण कारण अपरिणामी स्वरूप है, माया रूप शक्ति ही परिणामिनी हैं। और यदि सब भगवान् है तो मैं तैं भी क्या जानते हो, कौन तो छूटल (मुक्त) है, कौन अरुझान (बद्ध) है, परिणामी भगवान के सब रूप होने पर कोई व्यवस्था नही बनेगी, और अज्ञान आभासादि द्वारा सब व्यवस्था बनती है। अथवा मिथ्या गुण ही सुखदुःखादि फल को सिद्ध करते हैं, उनसे तरने के लिये वेद बहुत प्रकार के उपदेश करता है, इससे वेदादि द्वारा समझो कि तुम क्या हो, मैं क्या हूं इत्यादि। (आत्मैवेदं जगत् सर्वं सत्ता-पूर्वादिलक्षणम्। वेत्ति यस्तत्त्वतो वाक्यात्तस्यैवेह कृतार्थता ॥ बृहदा. वा. अ. २।१।२७१) ॥ ८८ ॥

निर्वाणपद प्र० ३६

सर्वाधिष्ठान आत्मा का प्रतिपादन, तथा उसमें परिणामादि का निषेध से नित्य मुक्त ब्रह्मात्मा का प्रतिपादन किया गया है। उसीका अन्तरात्मारूप से उपदेश देते हैं कि—

शब्द ॥ ८९ ॥

बुझु बुझु पण्डित पद निर्वान। सांझ परे कहवाँ बस भान॥
ऊंच निच पर्वत ढेला न ईंत (ट)। बिन गायन तहवाँ उठे गीत॥

तटस्थं हीश्वरं हित्वा परिणामहतं तथा।
बुधा! बुध्यध्वमत्रैव नित्यनिर्वाणकं पदम्॥ १॥
तद्बोधाय सदा चायं विचारः क्रियतां बुधाः!।
सुप्तिमृत्यादिसंध्यायां जीवो भानुः क्व तिष्ठति॥ २॥
क्व वा ज्ञानानि सर्वाणि वसन्त्यैन्द्रियकाणि च।
तं विचारेण जानीत यत्रोच्चैस्त्वं न विद्यते॥ ३॥
नीचैस्त्वं च कुतो नैव नैव चोच्चावचोऽपि यः।
न यत्र पर्वताः सन्ति न लोष्टानीष्टकादयः॥ ४॥

हे बुध! (पण्डितों!) तटस्थ तथा परिणामों से हत (नष्ट) ईश्वर को त्याग कर यहाँ ही नित्य निर्वाण (मोक्ष) स्वरूप पद (स्थान वस्तु) को समझो॥ १॥ और उसका ज्ञान के लिये, हे बुध! यह विचार करो कि, सुषुप्ति मरण प्रलयादि रूप संध्या में यह जीव रूप सूर्य, वा जीव और सूर्य कहाँ स्थिर रहता है॥ २॥ वा इन्द्रिय जन्य सब ज्ञान उस समय कहाँ बसते हैं (ज्ञान शक्ति किस में लीन रहती है), उसको विचार से समझो कि, जिसमें ऊँचापन नहीं है॥ ३॥ किसीसे नीचता भी उसमें नहीं है, और न जो स्वयं उच्चावच (अनेक प्रकार भेदवाला) है, जिसमें पर्वत नहीं है, न लोष्ट (ढेला) इष्टका (ईंट) आदि हैं॥ ४॥

ओस न प्यास मन्दिर नहिं जहँवाँ। सहसो धेनु दुहावै तहँवाँ॥
नित्य अमावस नित संक्राँती। नित नव ग्रह लागे केहि भाँती॥

गायकत्वं[1] विना सर्वं गीतं तत्रैव जायते।
तत्रैव खलु संध्यायां जीवो भानुश्च तिष्ठति॥ ५॥
विषयाम्भःकणो नैव तत्पिपासा न सर्वथा।
देहाख्यं मन्दिरं नैव सर्वं मायाविकल्पितम्॥ ६॥
देहादिमन्दिराणां च तत्राऽसत्त्वेऽपि सत्प्रभौ।
मनोवृत्त्यात्मगावो हि पूर्यन्ते तेषु तेन वै॥ ७॥
अनन्ता वृत्तयः शश्वद् देहे देहे चिदन्वयम्।
आनन्देनापि संबन्धं लभन्ते सर्वदा प्रभोः॥ ८॥
यत्प्रकाशाच्च सूर्योऽपि स्वांशून् पूरयते सदा।
लोकान् भासयते नित्यं तद्धि ज्ञेयं मुमुक्षुभिः॥ ९॥

गायकता के विना ही सब गीत (गान शब्द) उसीमें होता है, और उसमें ही संध्या समय जीव और सूर्य रहता है॥ ५॥

और उसमें विषयरूप जल के कण भी नहीं है, न सर्वथा उसकी पिपासा (इच्छा) है। देह नामवाला मन्दिर उसमें नहीं है, न माया से विकल्पित सब वस्तु है॥ ६॥ तिस सत्य प्रभु में देहादि मन्दिरों के नहीं रहते भी उन देहोंमें मनकी वृत्ति रूप गौ सब उस प्रभु से ही पूर्ण होती हैं॥ ७॥ तत्तत् देहों में अनन्तों वृत्तियाँ चिदात्मा का सम्बन्ध को प्राप्त करती हैं, तथा उस प्रभु के आनन्द से भी सदा सम्बन्ध प्राप्त करती हैं॥ ८॥ जिसके प्रकाश से सूर्य भी अपने अंशुओं (किरणों) को सदा पूरण करता है, और लोकों को सदा प्रकाशता है, वही नित्य ब्रह्म मुमुक्षु से जानने योग्य है॥९॥ चित्तरूप चन्द्रमा का लय नामक जो अमावास्या,

[1] तस्य निःश्वसितं ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदः।

मैं तोहि पूछौ पंडित जना । हृदया ग्रहण लागु केहि खना ।
कहहिं कबिर यतनो नहिं जान । कौन शब्द गुरु लगलौ कान ॥८९॥

[1]चित्तचन्द्रलयाख्या या ह्यमावास्यापि साऽत्र च ।
सुषुप्तौ जायते नित्यं जीवभानोस्तथेन्द्रियैः ॥ १० ॥
ग्रहैः सम्बन्धरूपा वै संक्रान्तिर्जायते सदा ।
बाह्यान्तःकरणान्येव ग्रहाः नव लगन्ति च ॥
जीवभानौ कथं सम्यक् सुविचार्यैव बुध्यताम् ॥ ११ ॥
पृच्छामि पण्डिता ! यत्तद् बुध्यतां कथ्यतां तथा ।
हृदये चित्तचन्द्रे वा जीवभानावथापि वा ॥ १२ ॥
मोहादिराहुभिर्ग्रासः संबन्धो वा कथं भवेत् ।
कदा वा ग्रहणं चैव तेषां भवति दुःखदम् ॥ १३ ॥
इति ज्ञेयमवश्यं तज्ज्ञात्वा मोहो निवार्यताम् ।
एतावद्धे न जानन्ति तेषां कर्णेषु कः शुभः ॥ १४ ॥

सो सुषुप्ति काल में इसीमें सदा होती है, तथा जीवरूप सूर्य का इन्द्रिय सुष्मणा रूप ग्रहों के साथ संबन्धरूप संक्रांती भी सदा होती है, और बाहर भीतर के करण (ज्ञानेन्द्रियाँ) नव ग्रह जीवरूप सूर्य में लगते हैं । सो किस प्रकार लगते हैं, यह सब सम्यक् विचार करके ही समझो ॥ १०-११ ॥

हे पण्डितों ! जो तत्त्व मैं पूछता हू, सो समझो, तथा कहो, हृदय में वा चित्तचन्द्रमा में, अथवा जीव सूर्य में भी मोहादि राहुओं से ग्रास वा उनके साथ सम्बन्ध किस प्रकार होता है । वा किस समय उस हृदयादि का ग्रहण ही दुःखदायी होता है ॥ १२-१३ ॥ यह तत्त्व अवश्य जानने

1 इडापिंगलयोः सन्धौ प्राणस्य च समागमः । अमावास्या च निःश्वासोच्छ्वासनं संक्रमोऽस्ति वै ॥ इडया कुण्डलीस्थाने प्राणस्य च समागमः । सोमग्रहणमित्युक्तमन्यत् पिंगलया भवेत् ॥ श्रीजाबालदर्शनोपनिषद् अ० ४ ॥

गुरुशब्दोऽलगत् सत्यं गुरुरित्थं हि भाषते ।
तावद्यो नैव जानाति स वेत्ति किं हि पण्डितः ॥ १५ ॥
यतश्चोदेति सूर्यो वा ह्यस्तं यत्र च गच्छति ।
स दोग्धि किरणान् यत्र सहस्रं तन्न वेत्ति यः ॥
स किं वेत्ति च किं तस्य गुरुणापि हितं कृतम् ॥ १६ ॥
देवानां दिवसे चैवममा च संक्रमादयः ।
सदा भवन्ति तेज्ञेया ह्यपि शास्त्रविदुत्तमैः ॥ १७ ॥
सुषुप्तौ मृतौ कुत्र चास्ते हि जीवः,
क वा चेतना विद्यते वै तदाऽस्य ।
विदित्वाऽमुमर्थं त्वया सम्यगत्र,
सुनिर्वाणबुद्ध्यैव बोध्या हि सर्वे ॥१८॥८९॥

इति ह० शब्द० निर्वाणपदबोधनं नाम षट्त्रिंशत्तमस्तरंगः ॥ ३६ ॥

योग्य है, उसे जानकर, मोह को हटावो । जो कोई इतना तत्त्व भी नहीं जानते हैं, उनके कानों में कौन शुभ गुरु का शब्द लगा है । इस प्रकार गुरु सत्य ही कहते हैं । तावत् (उतना) तत्त्व भी जो नहीं जानता है, वह पण्डित भी क्या जानता है ॥१४-१५॥ अथवा जिससे सूर्य का उदय होता है, जिसमें अस्त होता है, और वह सूर्य सहस्र किरणों को जहाँ दूहते (पूर्ण करते) हैं, जो पुरुष उसको नहीं जानता है, सो क्या जानता है, और उसका गुरु भी उसका क्या हित किया है ॥१६॥ देवताओं के दिन में इसी प्रकार अमावास्या संक्रान्ति आदि सदा होते हैं, वे भी शास्त्रवेत्ताओं में उत्तमों से ज्ञेय हैं ॥१७॥ सुषुप्ति और मरण काल में जीव कहाँ रहता है, वा इसकी चेतना (बुद्धि-ज्ञानशक्ति) उस समय कहाँ रहती है, इस अर्थ को यहाँ अच्छी तरह समझ कर, सब पदार्थों को निर्वाण (मोक्ष-निर्वृति-विलय) बुद्धि से ही समझो । ये इसी बुद्धि से समझने योग्य हैं ॥१८॥

अक्षरार्थ—हे पण्डितो ! प्रत्यक्षनिर्वाण पद (आत्मवस्तु) को अवश्य समझो। और उसे समझने के लिये विचारो, कि सुषुप्ति मरण रूप, वा प्रसिद्ध स्वरूप संध्याकाल में जीवरूप वा ज्ञानरूप भानु या यह सूर्य कहाँ वसता (रहता) है, और समझो कि, सर्वात्मा रूप वह स्थान, न किसी से ऊँच है, न नीच है, न पर्वत ढेला ईंटादि इतर पदार्थ स्वरूप है, किन्तु सबका आत्मा है। और गायन विना ही उसीसे अनहद नादादि-रूप गीत (गान-शब्द) उठता (प्रगट होता) है, वाक् विना उससे वेदादि शब्द उत्पन्न होते हैं, उसीमें जीव सूर्य वसता है, ज्ञानशक्ति उसीमें लीन होती है (यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छति। तं देवाः सर्वेऽर्पितास्तदुनात्येति कश्चन॥ कठ० २। १। ९॥ स यथा सोम्य वयांसि वासो वृक्षं संप्रतिष्ठन्ते। एवं ह वै तत् सर्वं पर आत्मनि संप्रतिष्ठन्ते॥ प्रश्न ४। ७)। जिस हिरण्यगर्भादिरूप ब्रह्म से सूर्य का उदय होता है, जिसमें सूर्य अस्त होता है, उसीमें सब अग्नि आदि और वाक आदि देव अर्पित (स्थिर) हैं, उसका उलंघन कोई नहीं करता, वही ब्रह्म है। हे सोम्य ! (प्रियदर्शन गार्गे !) जैसे पक्षी सब सायंकाल में वासवृक्ष पर जाकर स्थिर होते हैं, तैसे ही सुषुप्ति आदि काल में सब प्राणी पर आत्मा में जाकर स्थिर होते हैं।

उक्त स्वरूप आत्मा में विषय जल का अंशरूप ओस नहीं है, न उसकी प्यास (इच्छा) है, न देहादिरूप मन्दिर है। तो भी हजारों मनो-वृत्तिरूप धेनु उसीमें दुहाती है (आनन्द ज्ञानादि रसों को पूर्ण प्राप्त करती है)। तथा सूर्य किरणों को पूर्ण करते हैं। चित्त का नित्य लयरूप अमावस्या, जीव का इन्द्रियों पर संक्रमण वा सुषमणारूप संक्रान्ति, पांच ज्ञानेन्द्रिय चार अन्तःकरणरूप नव ग्रह नित्य लगना, किस प्रकार होता है, सो समझो। और देवताओं के दिन में भी मनुष्य के अमावास्या आदि सदा होते रहते हैं।

हे पण्डितों ! मैं तुमसे पूछता हूं कि, हृदय के अन्दर चित्तचन्द्र

जीव सूर्य में ग्रहण (मोहादि) किस प्रकार लगता है, यदि तुम इतनी बात भी नहीं जानते हो, तो तेरे कान में गुरु का कौन शब्द लगा है, अर्थात् कोई शब्द नहीं लगा है ॥८९॥

विवेकज्ञानोपदेश प्रकरण ३७

शब्द ॥ ९० ॥

बुझु बुझु पण्डित मन चित लाय । कबहुं भरल बहे कबहुं सुखाय ॥
खण उबे खण डुबे खण अवगाह । रतन न मिलै पावै नहिं थाह ॥

पण्डिताः ! सावधानेन चेतसेयं विबुध्यताम् ।
मनोरूपा महातीव्रा नदी वै विश्वरूपिणी ॥ १ ॥
मनोरथाद्यनर्थाद्यैर्जलैः पूर्णा कदाचन ।
स्पन्दते सा कदाचिच्च शुष्का याति हताशताम् ॥ २ ॥
दुःखपूर्णा कदाचित्स्यात्सुखलेशैः कदाचन ।
युक्ता भवति जीवश्च तावन्मात्रेण मोदते ॥ ३ ॥
क्षणात्किञ्चिदुदेत्यूर्ध्वं क्षणाज्जीवो निमज्जति ।
मनोऽपि भवचक्रेऽस्मिन् क्षणादायाति याति च ॥ ४ ॥

हे पण्डितों ! सावधान चित्त से मनरूप विश्वरूप महातीव्र यह नदी ही समझो ।.१। वह नदी कभी मनोरथादि अनर्थादि जलों से पूर्ण होकर बहती है । कभी शुष्क (जलरहित) होकर भी हताशता को प्राप्त होती है ।.२॥ कभी दुःखों से पूर्ण होती है । कभी सुख के लेशोंसे युक्त होती है। और जीव सुख लेशमात्र से आनन्द मानता है ॥३॥ इस नदी से जीव क्षणमें कुछ ऊपर जाता है, क्षणमें इसीमें डूबता है, मन भी इस संसार

नदिया नाहिं सँसरि बहे नीर। मच्छ न मरे केंवट रहे तीर॥

तां चावगाहते शीघ्रं रत्नार्थं ध्यानतत्परः।
यावन्न लभते रत्नं तलं तावन्न विन्दते॥ ५॥
ज्ञानरत्नस्य लाभेन स्वात्ममौक्तिकलाभतः।
लभ्यते तत्तलं शुद्धं यत्र पङ्को न विद्यते॥ ६॥
किम्वा यावत्तलं नास्य लभते ब्रह्मचिद्घनम्।
तावद्धि मोक्षरत्नं नो कोऽपि विन्दति मानवः॥ ७॥
रत्नस्य लाभमात्रेण नदी चेयं न तिष्ठति।
आनन्दस्य महाधारा शीघ्रं धावति सर्वतः॥ ८॥
म्रियते जीवमत्स्यो नो कालरूपो निषादकः।
दूरे तिष्ठति तस्माच्च भवबाधा न वर्तते॥ ९॥
किम्वा तलस्य लाभेन तामुक्तां हि नदीं विना।
मोक्षामृतमहाधारा स्पन्दते सर्वतः सदा॥१०॥

चक्रमें क्षण ही में आता जाता है ॥४॥ और कभी ध्यानमें तत्पर होकर उस नदीको कभी रत्नके लिये शीघ्र अवगाहता (थाहता) है, और जबतक रत्न नहीं पाता है, तबतक इस नदी का तल (अधोगत कारण) को भी नहीं पाता है ॥५॥ ज्ञानरत्न के लाभ से और स्वात्मस्वरूप मोती के लाभ (प्राप्ति) से उस शुद्ध तल को पाता है कि जहां अज्ञानादि पंक नहीं है ॥६॥ अथवा चेतनघन ब्रह्मस्वरूप इसका तल जबतक नहीं पाता है, तब तक कोई मनुष्य मोक्षरत्न को भी नहीं पाता है ॥७॥

ज्ञानरत्न के लाभ (प्राप्ति) मात्र से उस जीव के लिये यह संसार नदी स्थिर नहीं रहती है, और आनन्द की महाधारा शीघ्र सर्वत्र चल पडती है ॥ ८ ॥ वह जीवरूप मत्स्य मरण रहित हो जाता है, कालरूप निषाद (मत्स्यघाती) उस जीव से दूर स्थिर रहता है, संसार सम्बन्धी बाधा (पीड़ा) उसे नहीं रहती है ॥ ९ ॥ अथवा संसार का अधिष्ठानरूप

पोखरि नाहिं बाँधल तहँ घाट। पुरइनि नाहिं कमल माहँ घाट॥
कहहिं कबीर ई मन का धोख। बैठा रहे चलन चहे चोख॥९०॥

रत्नाऽलाभे त्वसत्यायां मनोरथसुखं जलम्।
नद्यां धावति वेगेन मोहमत्स्यो न नश्यति॥ ११॥

नाविकश्चेश्वरो जीवात्तटस्थो वर्तते तथा।
दूरेऽवतिष्ठते देवः सद्गुरुश्चैव सर्वदा॥ १२॥

सरो विनैव सज्ज्ञानी ब्रह्मानन्दस्य लब्धये।
ज्ञानाभ्यासावरोहं वै कृतवान् भूमिसंयुतम्॥ १३॥

पद्मपत्रं विनैवात्र हृत्पद्मे सरणिं तथा।
कृतवान् येन चाज्ञोऽपि प्राप्नुयाद्धि परं पदम्॥ १४॥

रत्नं विना तु जीवोऽपि मेरोः शृङ्गात्मकं तथा।
खन्यवस्थादिरूपं हि सुघट्टं कृतवान् मृषा॥ १५॥

तल के मिलने से उस वर्णित नदी के बिना ही मोक्षरूप अमृत की महाधारा सर्वत्र सदा बहती है॥ १०॥ ज्ञान रत्न की अप्राप्ति रहते तो असत्य संसार नदी में मनोरथादि रूप जल वेग से चलता है, और मोहरूप मत्स्य नहीं नष्ट होता है॥ ११॥ नाविक (संसार से पार करनेवाला) ईश्वर जीव से तटस्थ (भिन्न-उदासीन) रहता है, तथा देव और सद्गुरु सदा दूर स्थिर रहते हैं॥ १२॥

सत्यात्मा के ज्ञानी ने ब्रह्मानन्द की प्राप्ति के लिये, सर बिना ही, भूमिकाओं सहित ज्ञान का अभ्यासरूप अवरोह (घाट) किया है॥ १३॥ और पद्मपत्र के बिना ही इस हृदय कमल में ध्यान विचारादिरूप सरणि (मार्ग) किया है, कि जिससे अज्ञ भी ज्ञानी होकर पर पद (मोक्ष) पावे॥ १४॥ ज्ञानरत्न के बिना जीव भी मेरु पर्वत के चार शृङ्गरूप तथा चार खानि बाल्यादि चार अवस्थारूप मिथ्या सुन्दर घाट किया है

सन्तोषादिसुपत्रैश्च विनैव कमलेषु सः।
मार्गं कर्तुं समिच्छन्न पदमाप्नोति शाश्वतम् ॥ १६ ॥

मनसा वञ्चनं चेदं सद्गुरुर्भाषते मुहुः।
वैराग्यादि विनैवैतद् यच्छीघ्रं गन्तुमिच्छति ॥ १७ ॥

तिष्ठन्नेव यथा कश्चिदिच्छेत् क्रोशशतात्परम्।
अधिष्ठातुं तथैवैतद् विचाराद्यन्तरा खलु ॥
वाञ्छनमात्मतत्त्वस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥१८॥९०॥

॥ १५ ॥ और संतोषादि सुन्दर पत्र के बिना ही वह जीव हृदयादि कमलों में मार्ग गमनादि की इच्छा करता हुआ शाश्वत (नित्य) पद (स्थान) को नहीं पाता है ॥ १६ ॥ और यह मन जो वैराग्यादि बिना ही दुःख सागर से शीघ्र ही पार जाना चाहता है। यही मन से किया वञ्चन (प्रतारणा) है, सो सद्गुरु बार २ कहते हैं ॥ १७ ॥ जैसे कोई स्थिर रहते ही सौ कोश से पर स्थान को प्राप्त करके वहाँ स्थिर होने की इच्छा करे, तैसा ही विचारादि विना आत्मस्वरूप और ऐकान्तिक (निश्चल) सुख की यह इच्छा है ॥ १८ ॥

अक्षरार्थ–हे पण्डितों ! प्रथम अपने मन को ही चित्त लगाकर (सावधान होकर) अवश्य समझो, या मन को चित (चेतनात्मा) में लगाकर उसे समझो, या मन चित लगाकर संसार को समझो; क्योंकि समझने विना मनोमय संसार कभी मनोरथ विषयादि जल से भरल (पूर्ण होकर) बहता है (नदी तुल्य भासता है)। दुष्पार प्रतीत होता है। और ज्ञान होने पर कभी सूख जाता है। और ज्ञान विना यह मन क्षण में संसारसमुद्र से कुछ उबता है, उपराम होता है। फिर क्षण में इसीमें डूबता है, क्षण में इसका अवगाहन (खोज-विचारादि) करता है, परन्तु जबतक ज्ञानरूप रत्न नहीं पाता है, तब तक इसका थाह

जीव वा मन नहीं पाता है; इससे मन चित्त लगाकर समझो (ज्ञान की प्राप्ति करो)।

ज्ञान रत्न के मिलने से मनोमय नदी नहीं रहती है, आनन्द रूप नीर सँसरि (फैल-ढरक) कर बहता है। जीवरूप मच्छली नहीं मरती है (मुक्त होती है), कालरूप केवट तीर पर किनारे रहता है, उसे पीडित नहीं करता, और पार करता है। या ज्ञान रत्न विना नदी के नहीं रहते भी मनोरथादि नीर सँसर कर बहते हैं, मोहममतादि मत्स्य नहीं मरते हैं, पार करनेवाले सद्गुरु आदि किनारे दूर रहते हैं, या कालरूप केंवट पकडने के लिये तीर पर वर्तमान रहता है, इत्यादि।

पोखरि (तालाब) नहीं है, परन्तु ज्ञानियों ने विवेक, वैराग्यादि रूप घाट अन्य प्राणियों के लिये किया है, तथा पुरइन (कमलपत्र) के विना हृदय कमलादि में चिन्तन का मार्ग किया है। और अज्ञ जीव मन ने सुमेरु के चार शृंग चार खानि अवस्था आदि रूप घाट तालाव के विना बांधा है, पुरइन विना ही कमलों में गमनागमन का मार्ग किया है। साहब का कहना है कि, यह सब संसार मन का धोखा (भूल, वञ्चना) रूप है, और यह बैठा रहता है, तथा चोख (शीघ्र) चलना भी चाहता है। अर्थात् साधन विना ही सुख मोक्ष चाहता है, इससे आशा आदि को त्याग कर चित्त लगा कर मन को समझो इत्यादि ॥ ९० ॥

प्रथम अविवेक से नवग्रहादि की प्राप्ति का वर्णन हुआ है, और मन के धोखा का भी वर्णन हुआ है, अब उनकी निवृत्ति के लिये, विवेक ज्ञान का उपदेश देते हैं कि—

शब्द ॥ ९१ ॥

बुझु बुझु पण्डित ! बिरवा न होय। अधा' बस पुरुष अधा बस जोय॥
बिरवा एक सकल संसारा। स्वर्ग शीश जर गेल पताला ॥

बुधा ! जानीत तत्त्वं यद्बोधान्न भवेत् पुनः।
संसारदेहवृक्षोऽयं दुःखदः फलवर्जितः॥ १९॥
अत्र वृक्षे वसत्यर्द्धे सच्चिदानन्दरूपवान्।
पुरुषोऽर्द्धे च नारी सा नामरूपात्मिका खलु॥ २०॥
विवेकेन तयोर्ज्ञाने संसारोऽस्य विलीयते।
सत्तो भिन्नस्य ²मिथ्यात्वान्नामरूपे न सिद्धयतः॥ २१॥
सर्वविश्वात्मको यद्वा सर्वविश्वेषु चैकलः।
वृक्षो हिरण्यगर्भो वा विराट् ³स्वर्गोऽस्य मस्तकः॥२२॥

हे बुधों ! उस तत्त्व (स्वरूप) को तुम सब जानो, कि जिसके ज्ञान से यह फल रहित दुःखद ससार देहरूप वृक्ष फिर नहीं हो ॥१९॥ इस आधे वृक्ष में सच्चिदानन्द स्वरूपवाला पुरुष बसता है, और आधे अंश में नाम रूपात्मक वह नारी (माया) वसती है ॥२०॥ विवेक (भेद) पूर्वक उस पुरुष और नारी के ज्ञान होने पर यह विलीन हो जाता है, सत से भिन्न को मिथ्या होने से नामरूप सत्य रूप नहीं सिद्ध होता है ॥२१॥ सब विश्व (भुवनादि) रूप एकल (एकाकी)

---

१ स्कन्दपु० खं० १–२।५०।४०। त्वगसृग्मांसमित्याहुस्त्रिकं मातृसमुद्भवम्। मेदोमज्जास्थिकं प्रोक्तं पितृजं षट् च कौशिकम्॥ इसके अनुसार देह वृक्ष में माता पिता के आधे २ भाग हैं।

२ ब्रह्माण्डलोकदेहेषु सद्वस्तूनि पृथक् कृते। असन्तोऽण्डादयो भान्तु तद्भानेऽपीह का क्षतिः॥ पञ्चदशी २। ९७॥ ३ अग्निर्मूर्द्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग् विवृताश्च वेदाः। वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा॥ मुण्डक० २।१।४॥ संवत्सरो वै प्रजापतिः॥ प्र० १।९।१२॥ इस मुण्डक वचन में भी अग्नि शब्द से स्वर्ग का ही ग्रहण है।

बारह पखुरी चौविस पाता। घन बरोह लागु चहुं पासा (साता)॥
फुलै न फलै वाकि है बानी। निशि वासर विकार चुव पानी॥

स्वर्गे वाऽस्य शिरो मूलं पातालेष्ववतिष्ठते।
मासा द्वादश च स्कन्धाः पक्षाः पत्राणि सर्वशः॥ २३॥
सर्वतश्च प्ररोहोऽस्य [1]दिनयामादिलक्षणः।
यैर्मूलानि निबध्नाति वटवृक्षो न जीर्यति॥ २४॥
सत् पुष्पं च फलं नायं सूते क्वापि कदाचन।
स्वभावोऽस्य तथा तेन वाङ्मात्रं तु तयोर्मुधा॥ २५॥
विकारात्मकपानीयं क्षरत्यस्मादहर्निशम्।
अत्रासक्तजनेष्वेवं जन्मदुःखादिलक्षणम्॥ २६॥
इत्थंभूतोऽपि वृक्षोऽयं तदा नासीच्च कश्चन।
हरिर्यदेममुत्पाद्याऽरक्षत्स्वसत्तया किल॥ २७॥

वृक्ष है, अथवा सब विश्व (भुवनादि) में हिरण्यगर्भ वा विराट रूप एक वृक्ष है, स्वर्ग इस वृक्ष का मस्तक है॥२२॥ वा इसका स्वर्ग में शिर है, पातालों में मूल (जड) स्थिर है, बारह मास इसके स्कन्ध (शाखा) हैं, सब (२४) पक्ष पत्ते हैं॥२३॥ दिन याम (पहर) आदि रूप इसके सर्वत्र प्ररोह (बरोह) हैं, जिनसे यह वृक्ष मूलों कों निबन्ध (स्थिर) करता है, और यह वट वृक्ष जीर्ण नहीं होता है॥२४॥

यह वृक्ष सच्चा फूल फल को कभी कहीं नहीं पैदा करता है, तिस प्रकार का इसका स्वभाव है, तिस फूल फल का व्यर्थ वाणी मात्र (कथनमात्र) ही होता है॥२५॥ इस में आसक्त जनों के ऊपर रातदिन विकार रूप पानी क्षरता (चूता) है, इसी प्रकार जन्म दुःखादि रूप पानी चूता है॥२६॥ इस प्रकार का प्राप्त भी यह वृक्ष उस समय किसी स्वतन्त्र पदार्थ रूप नहीं था, कि जिस समय हरि ने इसे उत्पन्न करके अपनी सत्ता से

[1] सकाम कर्मादि वस्तुतः बरोह हैं, तथा लोक ब्रह्माण्डादि भी बरोह रूप हैं।

कहहिं कबिर कछु अछलो न तहिया हरि बिरवहिं प्रतिपालिन जहिया॥

> सत्कारणात्मना यद्वा यदाऽरक्षत्स्वयं प्रभुः।
> तदा नासीज्जगत् किञ्चिन्मायामात्रमभूत्ततः ॥ २८ ॥
> सद्गुरुर्भाषते चेत्थं सत्तत्त्वबोधसिद्धये।
> विचार्य तद् बुधा! वित्त यस्मान्न भवसंक्रमः ॥ २९ ॥
> जगतः सद्विवेके हि मायामात्रं स्फुरेदिदम्।
> न सत्त्वेन तदा प्राप्तं निर्वाणरूपदं भवेत् ॥ ३० ॥ ९१ ॥

ही इसकी रक्षा किया ॥२७॥ अथवा जिस समय प्रभु ने सत कारण रूप से ही इसकी रक्षा स्वयं किया. उस समय जगत् कुछ नहीं था, तिसके बाद भी माया मात्र ही हुआ ॥२८॥ और सत् स्वरूप का बोध की, सिद्धि के लिये सद्गुरु इस प्रकार कहते हैं, हे बुध! विचार कर उसको तुम सब समझो कि जिससे संसार संक्रम (प्राप्ति प्रवेश) न हो ॥२९॥ जगत् से सत्यात्मा के विवेक कर लेने पर यह जगत् माया मात्र (मिथ्या) भासेगा, सत्यरूप से नहीं भासेगा, तब निर्वाण (मोक्ष) पद प्राप्त होगा ॥३०॥

अक्षरार्थ–हे पण्डितो! उस वस्तु को अवश्य बूझो (समझो), कि जिसके ज्ञान से देहादि रूप वृक्ष नहीं होय। वह वस्तु यह है कि, इस संसार वृक्ष में आधा चेतनात्मा पुरुष बसता है, आधा जोय (माया नारी) बसती है। और यह सब संसार एक वृक्ष रूप है, जिसका स्वर्ग (ब्रह्म लोक) शिर है, और पाताल तक जड़ गया है। बारह मास इसके पखुरी (शाखा) हैं, चौबिस पक्ष पत्ते हैं, और सात दिन पहरादि इसके चारों तरफ सघन बरोह लगे हैं। अविवेकी की दृष्टि से इसमें जड़ चेतन मिले हुए भासते हैं, विवेक से दोनों को पृथक् आधे २ बसाने (निश्चय करने) से फिर बिरवा नहीं होता है।

यह वृक्ष फूलता फलता नहीं है, तो भी वाकी (फूल फल की)

बानी (कथन मात्र) है, या सत्य फूल फल नहीं लगने का इसकी बानी (स्वभाव) है। और इसमें से रातदिन कामादि रूप और मिथ्या कार्य रूप विकार (दुष्ट) पानी चूता है, जिससे जीव सब पीडित होते हैं। साहब का कहना है कि, तहिया (उस समय) कुछ भी नहीं अछलो (नहीं था) कि, जिस समय सर्वात्मा हरि ने इस वृक्ष को उत्पन्न करके इसका प्रतिपालन किया, या जिस प्रलय काल में कारण रूप से जगत की रक्षा किया, तो भी अज्ञानादि से प्राप्त हुआ है, ज्ञान से इसका बीज को नष्ट करो, ज्ञान के लिये विवेक करो इत्यादि ॥९१॥

शब्द ॥ ९२ ॥

वहि बिरवहिं चीन्है जो कोई। जरा मरण रहिते तन होई॥
बिरवा एक सकल संसारा। पेंड़ एक फूटल तिन डारा॥
मध्य के डारि चारि फल लागा। शाखा पत्र गणै को वाका॥

उक्तं वृक्षं विवेकेन यः कश्चिद्वेत्ति सज्जनः।
जरामरणहीनः स विदेहो जायतेऽञ्जसा ॥ ३१ ॥
एकोऽयं सकलं विश्वं वृक्षो वै विद्यते महान्।
तन्मूलं शबलं ब्रह्म एकं शाखात्रयं ततः ॥ ३२ ॥
सात्विकयां मध्यशाखायां मध्यलोकेऽथवाऽत्र हि।
अर्थधर्मादि चत्वारि फलानि फलितानि वै ॥ ३३ ॥

जो कोई सज्जन पूर्व उक्त वृक्ष को विवेक से जानता है, सो जरा-मरण से रहित होकर अञ्जसा (अद्धा-वस्तुतः) विदेह मुक्त होता है ॥३१॥ सम्पूर्ण विश्व (भुवन-संसार) ही यह प्रसिद्ध एक महान् वृक्ष है, और उसका मूल कारण शबल (चित्र) माया से विचित्र स्वरूप-वाला एक ब्रह्म है, उससे सात्विकादि देव लोक रूप तीन शाखा हुए हैं ॥३२॥ सात्विक मध्य शाखा में अथवा इस मध्य लोक में अर्थ धर्म

बेलि एक त्रिभुवन लपटानी । बाँधे ते छूटै नहिं ज्ञानी ॥
कहहिं कबिर हम जात पुकारा । पण्डित होय सो करै बिचारा ॥९२॥

भूतभौतिककार्यात्मशाखापत्राणि यानि च ।
तानि कः परिसंख्याय वाचा वक्तुमिहार्हति ॥ ३४ ॥
मायाऽविद्यात्मिका वल्ली सक्ताऽस्मिन् भुवनत्रये ।
वर्तते च तया बद्धो विद्वानपि न मुच्यते ॥ ३५ ॥
वृक्षं ज्ञात्वा च तत्त्वेन स्वात्मानं प्रविविच्य च ।
ज्ञानखड्गेन तां छित्वा जीवन्मुक्ता भवन्ति हि ॥ ३६ ॥
वयमाहूय संबोध्य गच्छामो भवकाननात् ।
विवेकिनोऽत्र ये शूराश्चिन्तयन्तु वचस्तु ते ॥ ३७ ॥
असङ्गदृढशस्त्रेण छित्त्वेमं मूलसंयुतम् ।
सवल्लिकं च गच्छन्तु परमं धाम निर्मलम् ॥ ३८ ॥
एनं छित्वा च भित्वा च ज्ञानेन परमासिना ।
गच्छन्त्वात्मगतिं शुद्धां पुनरावर्तिवर्जिताम् ॥ ३९ ॥९२॥

काम मोक्ष ये चारों फल फलित (सिद्ध) होते हैं ॥३३॥ उस वृक्ष के जो भूत भौतिक कार्यस्वरूप शाखापत्र हैं, उनको गिन कर वचन से कहने के लिये कौन समर्थ योग्य हो सकता है ॥३४॥

माया अविद्या रूप वल्ली (लता) इस तीनों भुवन (लोक) में आसक्त है, उससे बँधाया हुआ विद्वान् भी मुक्त नहीं होता है ॥३५॥ वृक्ष को स्वरूप से जान कर, और अपनी आत्मा का उससे विवेक करके ज्ञान रूप तरवार से उस वृक्ष को काट करके प्राणी जीवन्मुक्त होते हैं ॥३६॥ हमलोक पुकार कर, समझा कर, संसाररूप जंगल से जाता हूं, जो यहाँ शूर विवेकी लोक हैं, सो वचन का विचार करें ॥३७॥ असङ्ग (आसक्ति का त्याग-वैराग्य) रूप दृढ शस्त्र से मूल वल्ली सहित इस वृक्ष का छेदन करके, परम निर्मल धाम (स्वरूप) को प्राप्त करें ॥३८॥ ज्ञान

रूप उत्तम तरवार से इस वृक्ष का छेदन भेदन करके पुनरावृत्ति से रहित शुद्ध आत्मगति (मुक्ति) को प्राप्त करे ॥३९॥

अक्षरार्थ–उक्त विकारों से रहित होने के लिये, उक्त वृक्ष का प्रकारान्तर से वर्णन करते हुए उपदेश देते हैं कि, जो कोई वही (उक्त) बिरवा (वृक्ष) को विवेक पूर्वक चीन्हता (जानता) है, सो जरामरणादि दुःखों से तनु (देह) से रहित (मुक्त) होता है। यह सब संसार एक वृक्ष है, जिसके मायी एक ईश्वर पेंड (जड) हैं, और उस एक मूल से तीन लोक गुण देव रूप तीन डार (शाखा) फूटे (निकले) हैं। जिसके सात्विक मध्य डार में अर्थादि चार फल लगते हैं, तथा मध्य मनुष्य लोक में सबके साधन होते हैं, और उस वृक्ष के विस्तार रूप शाखा पत्र को तो गिन भी कौन सकता है, ये अनन्त अपार हैं।

माया वा अविद्यामय वासना रूप एक बेली (लता), तीनों भुवन (लोक) रूप इस संसार वृक्ष में लिपटी हुई है, तिससे बांधे जाने पर ज्ञानी (विद्वान) भी नहीं छूटने पाते हैं। ज्ञानाभ्यासविरागादि विना मुक्त नहीं होते हैं। साहब का कहना है कि, हम लोक पुकार कर कहे जाते हैं, या जात (जन्म) जैसे होता है, सो हमने पुकार कर कह दिया हैं। जो कोई पण्डित (विवेकी) होय, सो इस उपदेश का संसार वृक्षादि का विचार करे, विचार से दृढ ज्ञान वैराग्यपूर्वक, वासनादि से अवश्य मुक्ति होगी ॥९२॥

जो कोई वर्णित रीति से वृक्ष को नहीं पहचानते हैं, न ज्ञान के लिये विचारादि करते हैं, किन्तु किसीसे निरञ्जनादि परमात्मा के नाम सुन कर केवल जप में लगे रहते हैं, उन्हे भी विचारादि परायण करने के आशय से कहते हैं कि—

शब्द ॥ ९३ ॥

कहु हो निरञ्जन कौने बानी ।
हाथ पाँव मुख श्रवण जीभ नहिं, का कहि जपहु हो प्राणी ॥
ज्योतिहिं ज्योति ज्योति जो कहिये, ज्योति कवन सहिदानी ।
ज्योतिहिं ज्योति ज्योति दै मारै, तब कहँ ज्योति समानी ॥

कथयन्तु जनाश्चेति किंस्वभावो निरञ्जनः ।
कथ्यते स कया वाचा ह्यवाच्यो निर्गुणो हरिः ॥४०॥
यस्य हस्तौ न पादौ स्तो मुखं न श्रवणं तथा ।
न जिह्वा नैव चान्या वा गुणजात्यादयोऽखिलाः ॥ ४१ ॥
ग्रहीत्रादि किमुक्त्वा तं भवन्तः संजपन्ति हि ।
प्राणिनः ! स विवेकेन सम्यग् बुद्ध्या विविच्यताम् ॥४२॥
ज्योतिर्ज्योतिर्यदि ब्रूध्वे तं हि ज्योतिःस्वरूपिणम् ।
ज्योतिष्ट्वेऽपि तदा तस्य किं लिङ्गं तन्निरूप्यताम् ॥४३॥

निरञ्जन परमात्मा किस स्वभाव वाला है, और वह निर्गुण अवाच्य भी हरि किस वचन से कैसे कहा जाता है, इस अर्थ को समझ कर मनुष्य कहें ॥४०॥ जिसके हाथ पैर नहीं हैं, न मुख तथा श्रवण (कान) हैं, न जिह्वा है, वा न अन्य गुण जाति आदि सब हैं ॥४१॥ हे प्राणियों ! आप सब उसको ग्रहीता (ग्रहण करनेवाला) आदि किस वस्तु रूप कह कर जपते हो, विवेक ज्ञान से बुद्धि से उसे अच्छी तरह भिन्न समझो ॥४२॥ यदि उस ज्योति (ज्ञान) स्वरूप को ज्योतियों की ज्योति कहते हो, तो उसकी ज्योति स्वरूपता में भी क्या लिङ्ग (चिन्ह हेतु) है, सो भी विचारो, समझो ॥४३॥ ज्योतियों की ज्योति आत्मा ही है, और

चार वेद ब्रह्मा जो कहिया, तिनहुं न या गति जानी।
कहहिं कबीर सुनहु हो सन्तो !, बूझहु पण्डित ज्ञानी ॥९३॥

ज्योतिषां ज्योतिरात्मैव यदान्यज्योतिषां च सः।
करोति विलयं देवस्तदा तानि क्व यान्ति च[१] ॥ ४४ ॥
चतुर्वेदान् हि यो ब्रह्मा प्रोक्तवान् सोऽपि चिद्घने।
शुद्धे न वचसो वृत्तिं गतिं वा ज्ञातवान् प्रभुः ॥ ४५ ॥
आहाऽतः सद्गुरुर्धीराः ! श्रवणं सुविधीयताम्।
ज्ञायतां पण्डितान् पृष्ट्वा नाममात्रेण किं भवेत् ॥ ४६ ॥
तपसा यो न संग्राह्यः कर्मणा नेन्द्रियैस्तथा।
विशुद्धसत्त्वो जानाति निष्कलं ध्यानतोपि तम् ॥ ४७ ॥
शान्ताशेषविशेषाणामहन्तान्ता विचारणात्।
केवलं मुक्ततोदेति न तु किञ्चिद्विनश्यति ॥ ४८ ॥

वह देव जब अन्य ज्योतियों का विलय करता है, तब वे ज्योति सब कहाँ जाती है सो समझो ॥४४॥

जो ब्रह्मा चार वेद कहा, सो प्रभु भी चेतनघन शुद्धात्मा में वचन की वृत्ति (प्रवृत्ति) वा गति न जाना ॥४५॥ इससे सद्गुरु कहते हैं कि, हे धीर लोको ! अच्छी तरह श्रवण करो, पण्डितों को पूछ कर उसे समझो, नाम मात्र से क्या होगा ॥४६॥ जो आत्मा तप से सम्यक् ग्रहण योग्य नहीं है, न कर्म से न इन्द्रियों से, प्राप्ति योग्य है, उस निष्कल (निरवयव) को भी विशुद्ध अन्तःकरणवाला ध्यान से जानता है ॥४७॥ योगवासिष्ठ. ६।२।३०।२२। कथन है कि, सब विशेष से रहित पुरुष के विचार

१ इदं बीजेऽङ्कुर इव दृश्यमास्ते महाशये। ब्रूते य एवमज्ञत्वमेतत्तस्यास्ति शैशवम् ॥ मनःषष्ठेन्द्रियातीतं यत्स्यादतितरामणु। बीजं तद्भवितुं शक्तं स्वयंभूर्जगतां कथम् ॥ गगनाङ्गादपि स्वच्छे शून्ये तत्र परे पदे। कथं सन्ति जगन्मेरुसमुद्रगगनादयः ॥ योगवासिष्ठ प्र० ६। १। महाशये महाप्रलये ॥

सर्वागमार्थभिन्नं यन्नामचिह्नादिवर्जितम् ।
एकमच्छमनाद्यन्तमाद्यं चिन्मात्रमस्ति तत् ॥ ४९ ॥९३॥

से अहंकार सम्बन्ध रहित केवल मुक्तता प्रगट होती है, और कुछ नष्ट भी नहीं होता है ॥४८॥ सब आगमों के शब्दार्थ से भिन्न, नाम चिन्हादि रहित, एक, स्वच्छ (निर्मल) आदि अन्त रहित, सब का आद्य (प्रथम-पूर्व) स्वरूप जो वस्तु है, वही चिन्मात्र सत्य वस्तु है ॥४९॥

अक्षरार्थ—हो (हे) सज्जनो ! संसारादि के विचारादि से प्राप्त करने योग्य निरञ्जन (निर्गुण) वस्तु कौने बानी (किस स्वभाववाला वा किस वचन का विषय) है, सो समझो और कहो, और जिसमें हाथ, पैर, मुख, कान, जीभ आदि कुछ विशेष नहीं है, हे प्राणी ! उसे ग्रहीता, गन्ता आदि क्या कह कर जपते हो। यदि उस ज्योति हि (ज्योति को) 'ज्योतिषामपि तज्ज्योतिः' (भ. गी. १३।१८) इत्यादि वचन के अनुसार ज्योतियों की ज्योति कहो, तो उस ज्योतियों की ज्योति की सहिदानी (चिन्ह) क्या है, उसे भी समझो, अर्थात् आत्मज्योति तो प्रगट सबका प्रकाशक है, भिन्न में प्रमाण नहीं है। और प्रलयादि में जब अन्य सब ज्योतियों को वह ज्योतियों की ज्योति दै मारती (लय करती) है, तब सब ज्योति कहाँ समाती है, सावयव विशेष पदार्थ निरवयव निर्विशेष में कैसे लीन होते हैं। अर्थात् अन्य ज्योति मायामात्र हैं, इससे जैसे मायावी की माया मायावी में लीन होती है, वैसा ही समाना समझो, और आत्मज्योति कहीं समाने वाली नहीं है, सदा एक रस वर्तमान रहती है, इत्यादि।

चार वेद को जिस ब्रह्मा ने कहा, उन्होंने भी विचार तथा गुरु बिना या गति (इस भेद) को नहीं जाना, न उसमें इस वाणी की गति को जाना। इससे साहब का कहना है कि, हे सन्तो ! आत्मज्ञानी पण्डितों से श्रवणादि करके इस तत्त्व को समझो, केवल निरञ्जन का नाम ही नहीं जपो।

यहाँ यह विशेष बात है कि-(एकल निरञ्जन सकल शरीरा, शब्द ८५) इसके अनुसार अर्थ हो सकता है कि, मन का क्या स्वभाव है, उसे समझो इत्यादि। या हे निरञ्जन! (जीव!) किस वाणी मात्र अनात्मा को जपते हो, तेरे ही स्वरूप में हाथादि नहीं है, तुम अपने को क्या कह (समझ) कर अन्य को जपते हो, इत्यादि। और (दूरंगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु। यजुः ३४।१) मंत्र के अनुसार मन को ज्योतियों की ज्योति कहा जाय, तो उसकी कोई सहिदानी नहीं है, उसमें आत्मप्रकाश ही भासता है, इसी से महात्मा लोक ज्योतियों की ज्योति में उसको लीन करते हैं, तब मन की ज्योति कहाँ समाती है, उस लयाधार को ही जानो। और आत्मभिन्न को यदि ज्योति की ज्योति कहो, आत्मा को ज्योति मात्र कहो, तो इसमें भी कोई चिन्ह नहीं है। आत्मज्योति ही अन्य ज्योति की कल्पना करती है, और लीन करती है, आप किसी में लीन नहीं होती है, इसीसे चार वेद को कहनेवाला ब्रह्मा ने भी इस मन के ज्ञानादि से गति (मुक्ति , नहीं मानी है, न इस जीवात्मा की किसी में गति (लय) मानी है, इत्यादि ॥९३॥

जीव का पारमार्थिक स्वरूप को ही स्वयं ज्योतिःस्वरूप पूर्व शब्द से कहकर, फिर भी उसे विभु चिदाकाशरूप कहते हुए, उपाधि भेद से व्यवहार की सिद्धि को दर्शाते हैं कि—

शब्द ॥ ९४ ॥

कहु हो अम्बर कासो लागा। चेतनहारा चेतु सभागा॥

हे अम्बर! चिदाकाश! जीवासङ्गस्वरूपवन्!।
केनाप्यनात्मना लग्नः कस्मान्मोहेन धावसे॥ ५०॥

हे अम्बर! (विभु) चिदाकाश! (चेतन पूर्णप्रकाश) असङ्गस्वरूप वाला जीव! किसी भी अनात्मा के साथ मोह से लग कर किस हेतु से

अम्बर मध्ये दीसै तारा। एक चेतु दुज चेतवनहारा॥
जो खोजो सो उहवाँ नाहीं। सो तो आहि अमर पद माहीं॥

सौभाग्यवांश्च बोद्धा त्वमात्मानं बोध सद्विभुम्।
यस्मिन्निजाम्बरे बह्व्यो दृश्यन्ते तारका इमाः॥५१॥
बुद्ध्यादौ प्रतिबिम्बा हि तारकास्तेषु [1]केचन।
बुद्ध्यन्ते बोधयन्त्यन्ये नैवात्माऽत्र विभिद्यते॥५२॥
तारकावच्चिदाभासाः सदा सातिशयाः खलु।
नैवात्मास्ति तथा नित्यः क्रियासङ्गादिवर्जितः॥५३॥
यदि नित्यं सुखं तत्त्वं विमृग्यसि च सर्वदा।
तन्नाऽनात्मनि न स्वर्गे नान्यत्र क्वापि लभ्यते॥५४॥
किन्तु तल्लभ्यते नित्ये विभौ स्वात्मपदे यतः।
तत्रैव वर्तते सौख्यं स्वमहिम्नि स तिष्ठति॥५५॥

धावते हो॥५०॥ सौभाग्यवाला बोद्धा (समझदार) तुम उस सत्य विभु आत्मा को बोध (समझो) कि, जिसमें निजाम्बर (विभुस्वरूप) में ये बहुत तारे दीख पड़ते हैं॥५१॥ बुद्धि आदि में प्रतिबिम्ब ही तारे हैं, उनमें कोई समझते हैं, और कोई अन्य समझाते हैं, इसमें आत्मा नहीं भिन्न होता है॥५२॥ तारे के समान चिदाभास सदा अतिशय (भेदादि) युक्त होते हैं, क्रियासङ्गादि रहित नित्य आत्मा तैसा नहीं हैं॥५३॥

जिस नित्य सुख स्वरूप को सदा खोजते हो, वह न अनात्मा में न स्वर्ग में न अन्यत्र कहीं मिलता है॥५४॥ किन्तु वह सुखस्वरूप नित्य विभु स्वात्मस्थान में मिलता है, जिससे उसीमें सुख रहता है, और वह अपनी महिमा (स्वरूप) में ही रहता है॥५५॥ और वह आत्मा

१ एतद्विषयमेव भेदमवलम्ब्य, भेदव्यपदेशाच्चान्यः, अधिकं तु भेदनिर्देशात्, इत्यादि शारीरकसूत्रम्, न त्वेवाहं जातु नासम्, इत्यादि शास्त्रजातं चोपपन्नतरमिति तद्बलेनात्मनि भेदसाधनमकिञ्चित्करम्।

कहहिं कबिर पद बूझै सोई। मुख हृदय जाके एकै होई ॥९४॥

गुरूणां शाश्वते शब्दे लभ्यते सोऽञ्जसा तथा।
हृदये सुविवेकेन ज्ञानविज्ञानचक्षुषा ॥५६॥
विमुक्तविषयासङ्गं सन्निरुध्य मनो हृदि।
यदा यात्युन्मनीभावं तदा निर्वाणमृच्छति ॥५७॥
गुरूणां सारशब्दः स स्थानं च शाश्वतं तथा।
तेनैव बुध्यते यस्य ह्येकता स्याद्धृदास्ययोः ॥५८॥
मुखे च हृदये तस्माद् विधाय सत्यतां बुध!।
स्वात्मानमम्बरं विद्धि सद्गुरुर्भाषते यथा ॥५९॥
"व्यापकं सर्वतो व्योम मूर्तैः सर्वैर्विवर्जितम्"।
यथा तद्वत्त्वमात्मानं विद्धि शुद्धं परं पदम् ॥ ६० ॥
एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः।
एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् ॥ ६१ ॥

गुरु के शाश्वत (सनातन) शब्द (उपदेश) में अञ्जसा (झटिति) मिलता है, तथा हृदय में सुन्दर विवेक से ज्ञान विज्ञान नेत्र से मिलता है ॥ ५६ ॥ विषयासक्ति से रहित मन को हृदय में रोक कर जब उन्मनी भाव (राजयोग) को प्राप्त करता है, तब निर्वाण (मोक्ष) पाता है ॥५७॥

गुरु का सारशब्द तथा शाश्वत स्थान उसी पुरुष के समझ में आता है, कि जिसके हृदय और मुख में एकता ही होय ॥ ५८ ॥ हे बुध! तिस हेतु से मुख और हृदय में सत्यता करके, जैसे सद्गुरु कहते हैं, तैसे अपनी आत्मारूप चिदाकाश को समझो ॥ ५९ ॥ सब मूर्त पदार्थ से रहित सर्वत्र व्यापक जैसा आकाश हो, तैसा शुद्ध आत्मा को ही तुम पर पद समझो। उपदेश साहस्री० १५ । ३२ । का यह वचन है ॥ ६० ॥ सब प्राणी की एक ही आत्मा भूतों में व्यवस्थित है, वह स्वरूप से एकधा और उपाधि योग से बहुधा जलचन्द्र समान दीखता है। ब्रह्मबिन्दु०

येनावृतं नित्यमिदं हि सर्वं ज्ञः कालकाली गुणिसर्वविद्यः।
बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव ह्याराग्रमात्रः पुरुषोऽपि दृष्टः ॥६२॥९४॥

इति ह० शब्दसुधायाविवेकज्ञानोपदेशवर्णनं नाम सप्तत्रिंशत्तमस्तरङ्गः॥३७॥

पनिषद् ॥ ६१ ॥ जिस महात्मा से यह सब संसार सदा आवृत है। जो ज्ञाता है, कालों का काल (नियन्ता) है, गुणी (गुणों का अधिष्ठाता) है, सर्वज्ञ है, सो अपने आत्मगुण (स्वरूप) से सब पुर (देह) में रहने वाला विभु पुरुष होते भी बुद्धि के गुण से आराग्र मात्र (सूक्ष्म) भी दृष्ट है। श्वेता० ६। २ ॥ ६२ ॥

अक्षरार्थ—हो (हे) अम्बर ! (चिदाकाशरूप जीव !) तुम किस अनात्मा में लगे हो। आत्मभिन्न किसको निरञ्जन समझते जपते हो। या हे मनुष्यों ! कहो कि चिदम्बर किससे लगा है, (सम्बन्धवाला है) अर्थात् उसे असङ्ग समझो। और हे सुभागे ! तुम स्वयं चेतनहार (सबका प्रकाशक ज्योतिरूप) हो, सद्गुरु से इस बात को चेतो (समझो)। और तेरा ही अम्बर मध्ये (चिदाकाश रूप में) बुद्धि आदि में प्रतिबिम्बरूप अनन्त तारे देख पड़ते हैं, और उनही में एक (शिष्य) चेतता है, और दूजा (दूसरा) गुरु चेताता है, समझाने वाला है। अर्थात् गुरु शिष्यादि भेदभाव भेदयुक्त आभासों में है, एक विभु आत्मा में नहीं, सबको प्रकाशने वाला उसीको समझो।

जो नित्य सुखादि तुम खोजते हो, सो भी उहवाँ (परोक्ष स्वर्गादि में) नहीं है, किन्तु सो सुखादि तो इस अपरोक्ष अमर पद (चिदाकाश) में ही है, विवेकादि विना तुझे उसकी प्रतीति नहीं होती है। इससे विवेकादि की प्राप्ति करो।

साहब का कहना है कि, इस अमर पद को सोई पुरुष बूझ (समझ) सकता है कि, जिसके मुख और हृदय एक हो अर्थात् कपट रागद्वेषादि रहित सत्यभाषी एक निष्ठावाला इसको समझता है, अन्य नहीं ॥९४॥

प्रथम शब्द में अनात्म प्रेमादि का निषेध करके, एकात्म तत्त्व का निरूपणपूर्वक औपाधिक भेदों से व्यवहार की सिद्धि बताया गया है। अब विवेक वैराग्यादि पूर्वक उस उपाधि रहित एक आत्मा को जानने के लिये उपदेश देते हैं कि—

शब्द ॥ ९५ ॥

बन्दे करि ले आप निबेरा।
जियत आपु लखु जियत ठौर करु, मुये कहाँ घर तेरा॥

सुशोध्य हृदयं वाचं भो बद्धा देवपूजकाः।
स्वयं स्वस्यापरोक्षश्च बन्धान्मोक्षो विधीयताम् ॥ १॥
आत्मा नैव यदात्मानमहितेभ्यो निवारयेत्।
कोऽन्योऽधिकतरस्तस्मादात्मानं वारयिष्यति ॥ २॥
लोकानुवर्तनं त्यक्त्वा त्यक्त्वा देहानुवर्तनम्।
शास्त्रानुवर्तनं त्यक्त्वा स्वाध्यासापनयं कुरु ॥ ३॥
जीवन्नेव स्वमात्मानं विद्धि विज्ञानचक्षुषा।
अचलं स्वस्य च स्थानं कुरुष्वात्मानमेव हि ॥ ४॥

हे बद्ध (बन्धन युक्त) देवपूजक मनुष्यो ! निष्कामता सत्यभाषणादि से अपने हृदय और वचन को खूब शुद्ध करके, स्वयम् अपना अपरोक्ष ज्ञान और बन्धन से मोक्ष करो॥ १॥ इतिहाससमुच्चय, ८। १२। का कथन है कि, जब जीवात्मा अपना मन को आप अहित से निवारण नहीं करेगा, तो अन्य उससे अधिकतर कौन है कि, जो आत्मा को उस अहित से रोकेगा ॥२॥ अक्ष्युपनिषद् ४२ का कथन है कि, लोकानुवर्तन (अनुसरण), देहानुवर्तन (आसक्ति), शास्त्रानुवर्तन (वासना) को त्यागकर, आत्माध्यास (भ्रम) का नाश करो॥ ३॥ जीते रहते ही अपनी आत्मा को विज्ञान नेत्र से जानो, अपना अचल स्थानरूप आत्मा हि करो (जानो)॥ ४॥

यहि अवसर नहिं चेतहु प्राणी, अन्त कोइ नहिं तेरा ।
कहहिं कबीर सुनहु हो सन्तो!, कठिन काल को घेरा ॥९५॥

आत्मन्येव सदा स्थित्या मनो नश्यति योगिनः ।
युक्त्या श्रुत्या स्वानुभूत्या ज्ञात्वा सार्वात्म्यमात्मनः ॥५॥
अस्थिरे गृहकार्यादौ स्वात्मीयत्वं जहीहि च ।
मृतौ वै लभ्यते कुत्र वर्तमानं गृहादिकम् ॥ ६ ॥
प्राणिनो ! नैव चेदस्मिन् काले वित्त हिताहिते ।
स्वस्थकायाः सुसम्पन्नास्तदान्ते वो न कश्चन ॥ ७ ॥
भवितेति विजानीत कालकारागृहे तथा ।
निरुद्धा दुःखमेष्यन्ति भवन्तो निरयेषु च ॥ ८ ॥
सद्गुरुश्चाह भोः साधो ! श्रूयतां सुविचार्यताम् ।
आत्मज्ञानविहीनानां दृष्ट्वा दुःखपरंपराम् ॥ ९ ॥ ९५ ॥

अध्यात्मोपनिषद् का वचन है कि, युक्ति, श्रुति, अपना अनुभव से अपनी आत्मा की सर्वात्मता को जान कर, आत्मा ही में सदा स्थिति से योगी का बन्धनादि के कारण मन नष्ट होता है ॥ ५ ॥ और चञ्चल गृहकार्यादि में अपनी ममता को त्यागो, वर्तमान गृहादि मरने पर कहाँ मिलते हैं ॥६॥

हे प्राणियों ! निरोग देहवाले धनेन्द्रियादि से सम्यक् सम्पन्न तुम सब यदि इस समय अपने हिताऽहित को नहीं समझते हो, तो अन्त में तुम्हारा कोई नहीं सहायकादि होगा, यह समझो । तथा काल के कारागृह (जेल) में होकर आप सब नरकों में दुःख पावोगे ॥७-८॥ और सद्गुरु कहते हैं कि, हे साधो ! आत्मज्ञान से रहितों के दुःख का परंपरा (प्रवाह) को देख कर आत्मश्रवण सुविचार करो ॥९॥९५॥

अक्षरार्थ–हे बन्दे (देवगुरु भक्त वा बद्ध) जीव ! मुख हृदय को एक करके अपना निवेरा (विवेक-छुटकारा) तुम आप ही करलो, किसी के

भरोसे नहीं रहो। न मरने पर मोक्ष की आशा करो, किन्तु जियते जी अपना स्वरूप आप लखो, और जियते ही में अपना ठौर (अचल स्थिति) करलो, मुये (मरने के बाद) ये वर्तमान गृहादि तेरे कहाँ कैसे रह सकते हैं, इससे अविवेक जन्य इनकी ममता त्यागो।

हे प्राणी! यदि तुम इस अवसर (समय) में नहीं चेतते हो, तो अन्त में तेरा संग सहायक कोई नहीं होगा, और सन्तो! सुनो चेतने बिना अन्त में कठिन काल के घेरा (यम यातनादि) होते हैं, इससे अभी चेतना उचित है ॥९५॥

शब्द ॥ ९६ ॥

लोग बोलै दुरि गये कबीर। या मति जानैगा धीर॥
दशरथ सुत तिहुं लोकहिं जाना। रामनाम के मर्महिं आना॥

आत्मज्ञानविहीना ये कवयो लौकिका जनाः।
ते ह्यात्मनो गतिं दूरं मन्यन्ते मोक्षसिद्धये ॥ १० ॥
लोकाः प्राज्ञं कबीरं च दुरवस्थं हि मन्वते।
अत उक्तां मतिं केचिद्धीरा ज्ञास्यन्ति सज्जनाः ॥ ११ ॥
पुत्रं दशरथस्यैव रामं जानन्ति वै जनाः।
त्रिलोक्यां तद्रहस्यं च रामनाम्नोऽन्यथाऽस्ति हि। १२॥

आत्मज्ञान से रहित जो कवि (विद्वान्) या लौकिक जन हैं, सो मोक्षसिद्धि के लिये अपनी दूर गति मानते हैं ॥१०॥ और प्राज्ञ (ज्ञानी) कबीर को लोक दुरवस्थ (दुष्ट अवस्थावाला) मानते हैं, इससे ज्ञानी से वर्णित उक्त मति को कोई सज्जन धीर ही समझेगें ॥११॥ त्रिलोकी में सब मनुष्यादि दशरथजी के पुत्र को ही सत्य राम मानते हैं, परन्तु निर्गुण

जिहि जस जानि परी जिव लेखा। रज्जुक करै उरग ज्यों पेखा॥
यद्यपि फल उत्तम गुण जाना। हरिहिं छोड़ि मन मुक्ति न आना॥

स्वभावेन यथा येन रामो बुद्धस्तथैव सः।
रामं पश्यति रज्जुं हि यथा सर्पं हि कश्चन॥ १३॥
असर्पे सर्पबुद्ध्या हि यथा कश्चित्पलायते।
भीत्या तथा ह्यरामेऽपि रामबुद्ध्याऽत्र संसृतौ॥ १४॥
रामचन्द्रस्य सद्भक्त्या फलं मुख्यगुणं हितम्।
सज्जनाः परिपश्यन्ति भवतात्तत्तथैव हि॥ १५॥
सर्वात्महरिमज्ञात्वा त्यक्त्वा तस्य विचिन्तनम्।
[1]मनसो न भवेन्मुक्तिः कस्यापीह कथञ्चन॥ १६॥

सत्य सर्वात्मा राम का वह वेदादि में प्रसिद्ध रहस्य अन्यथा ही है॥१२॥ अज्ञानरूप स्वभाव (प्रकृति) से जिस पुरुष ने राम को जैसा समझा है, वह तैसा ही राम को देखता है, जैसे कोई रस्सी को ही सर्प देखता है॥१३॥ असर्प में सर्पबुद्धि से जैसे कोई भय से भागता है, तैसे रामभिन्न में रामबुद्धि से राम को किसी लोकादिरूप संसार में मान कर इस संसार में ही दौडता है॥१४॥

श्री रामचन्द्रजी की सच्ची भक्ति से मुख्य (उत्तम) गुण वाला हित रूप फल, सज्जन लोक देखते (समझते) हैं, सो फल तैसा ही होवे॥१५॥ परन्तु सर्वात्मा रूप हरि को न जान कर, उसके विचार को छोड कर, किसी को भी किसी प्रकार यहाँ मन से (मनोमय संसार से) मुक्ति नहीं हो सकती॥१६॥ सब संसार का और मोक्ष तथा सुख का

---

१ न जहाति मनः प्राणान् विना ज्ञानेन कर्हिचित्। तृणान्तरेणैव विना तृणाङ्गमिव तित्तिरिः॥ ज्ञानादवासनोभावं स्वनाशं प्राप्नुयान्मनः। प्राणःस्पन्दं च नादत्ते ततः शान्तिर्हि शिष्यते॥ योगवा० प्र० ६। ६९। ३४-३५॥

हरि अधार जस मीनहिं नीरा । और यतन कछु कहहिं कबीरा ॥९६॥

'सर्वस्य हरिराधारो मोक्षस्य च सुखस्य च ।
यथा मीनस्य पानीयं सर्वं तेनाऽत्र लभ्यते ॥ १७ ॥
अहो तथापि जीवाश्च भाषन्ते यत्नमन्यथा ।
विन्दन्ते नैव चात्मानं हरिं शुद्धेन चेतसा ॥ १८ ॥९६॥

सर्वात्मा हरि इस प्रकार आधार हैं कि, जैसे मीन का जल है, तिस कारण से मोक्ष सुख सब यहाँ (हरि में) मिलता है ॥१७॥ आश्चर्य है कि, तौ भी जीव सब अन्य प्रकार के यत्नों का कथन करते हैं, और शुद्ध चित्त से आत्मस्वरूप हरि को नहीं प्राप्त करते हैं ॥१८॥

अक्षरार्थ—साहब का कहना है कि, उक्त आत्मनिवेश ठौर करने बिना लोक बोलते हैं, कि हम बहुत दूर गये (पहुंचे) हैं (स्वर्ग वैकुण्ठादि में मन लगाये हैं और मुक्त हैं)। या आत्मज्ञान से मोक्ष कहने वाले कबीर दूर गये (नष्ट हुए), इस प्रकार लोक बोलते हैं। इससे या मति (इस अपरोक्ष आत्मज्ञान) को कोई विरला धीर पुरुष जान सकेगा। दशरथसुत (रामचन्द्र) वा तत्सदृश किसी अन्य को तो तीन लोक ही राम ईश्वरादि जानता है, परन्तु सर्वात्म स्वरूप राम हरि के नामों का मर्म (भेद-रहस्य) आन (और ही है), उसे कोई विरला जानता है। सद्गुरु सद्विचारादि बिना जिहि (जिस) जीव को जैसी बात सुन जान पडी, सो तैसे ही लेखने (देखने-समझने) लगा, उसको वैसे सत्य-प्रतीति होने लगी, जैसे कि कोई रज्जु को उरग (सर्प) पेखा (देखा) करता है, तैसे ही राम से भिन्न किसी व्यक्ति मात्र में जन्य एकदेशी वस्तु में राम ईश्वरादि बुद्धि होती है।

१ अरा इव रथनाभौ कला यस्मिन् प्रतिष्ठिता। तं वेद्यं पुरुषं वेद यथा मावो मृत्युः परिव्यथाः। प्रश्न० ६ । ६ ॥

यद्यपि दशरथसुतादि रूप राम की भक्ति आदि से भी महात्माओं ने उत्तम (सात्विक) गुणवाला फल जाना (माना) है, मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्रजी के सद्गुण सदाचारों के धारण से उत्तम फल बताया है, सो ठीक ही है। तौ भी सर्वात्मा हरि ो छोड कर (उस हरि की प्राप्ति ज्ञप्ति विना) आना (अन्य उपाय प्रकार) से मन से मुक्ति (सूक्ष्म देह की निवृत्ति) नहीं होती है, या ज्ञान विना मन से कल्पित मिथ्या मुक्ति मिलती है, अन्य नहीं। क्योंकि सर्वात्मा हरि ही सब का इस प्रकार आधार है, कि जैसे पानी मीन का आधार है, परन्तु कबीरा (जीव) कुछ और ही यत्न कहता करता है, हरि को नहीं समझता है, इससे काल के घेरा मन का प्रपञ्च से नहीं छूटता है, इत्यादि ॥९६॥

सर्वात्मा हरि की प्राप्ति विना मोक्ष के अभाव का प्रथम वर्णन हुआ है, फिर भी मन वचन कर्म की शुद्धि के अभाव से अन्य यत्नादि में आसक्त गृहदेहादि के अभिमानियों के मोक्ष के अभाव का वर्णन करते हैं कि—

शब्द ॥ ९७ ॥

कैसे के तरो नाथ कैसे के तरो। अब बहु कुटिल भरो॥

वदतो ह्यन्ययत्नं तान् भाषते सद्गुरुः किल।
यूयं पश्वादिनाथा हि कथं मुक्ता भविष्यथ॥ १९॥
इदानीमपि वश्चित्ते रागद्वेषादिसंयुतम्।
वर्तते बहु कौटिल्यमविवेकविमोहदम्॥ २०॥

अन्य यत्न को कहने वाले उन लोकों को सद्गुरु कहते हैं कि, पशु आदि के नाथ (स्वामिता के अभिमानी) तुम सब किस प्रकार मुक्त होगे ॥१९॥ अविवेक द्वारा विमोह देनेवाली, रागद्वेषादि सहित, बहुत

कैसी तेरी सेवापूजा, कैसा तेरा ध्यान। ऊपर ऊजर देखो बक अनुमान॥
भाव तो भुवंग देखो, अति विविचारी।
सुरति सचान तेरी मति तो मजारी॥
अतिरे विरोध देखो, अतिरे दिवाना।
छवो दरशन देखो वेष लपटाना॥

कीदृशी वा कृता सेवा पूजा वाऽपि भवादृशैः।
ध्यानं कीदृक् च सिद्धयेत कौटिल्यं त्यज्यते न चेत् ॥२१॥
शरीरे दृश्यते तावत्तव स्नानेन शुद्धता।
बकवच्छ्वेतता किन्तु भावस्तेऽस्ति भुजङ्गवत् ॥ २२ ॥
कुटिलो विषवत्तीव्रो विचारविमुखः सदा।
व्यभिचाररतः क्रूरो वञ्चनादिषु तत्परः ॥ २३ ॥
श्येनवत्ते मनोवृत्तिः क्रूरा घातरताऽसती।
बुद्धिर्मार्जारिका तुल्या मिथ्याध्यानपरायणा ॥ २४ ॥
दृश्यतेऽतिविरोधोऽतोऽतिगर्वादिश्च मत्तता।
दर्शनेषु च षट्स्वेवं वेषासक्तिः प्रदृश्यते ॥ २५ ॥

कुटिलता, अब ही भी तेरे चित्त में वर्तमान है ॥२०॥ आप सबके तुल्यों से की गई सेवा वा पूजा कैसी सिद्ध होगी, या ध्यान कैसा सिद्ध होगा, कि यदि कुटिलता नहीं त्यागी जाती है ॥२१॥ तेरे शरीर में ही शुद्धता, बक तुल्य श्वेतता दिखती है, और तेरा भाव (तात्पर्य) सर्प तुल्य, कुटिल, विष तुल्य तीव्र, सदा विचार से विमुख, व्यभिचार में रत, क्रूर, वञ्चनादि में तत्पर है ॥२२-२३॥ तेरी मन की वृत्ति असती, श्येन तुल्य क्रूर घातरत है। और मिथ्या ध्यान परायण बुद्धि बिल्ली तुल्य है ॥२४॥

और इसीसे अत्यन्त विरोध, अत्यन्त गर्वादि, और उन्मत्तपन, और इसी प्रकार छवो दर्शनों में वेषासक्ति दीख पडती है ॥२५॥ और

कहहिं कबीर सुनहु नल बन्दा। डाइनि एक सकल जग खन्दा ॥९७॥

सद्गुरुश्चाह भो भक्ताः शृणुतैतत् सुनिश्चितम्।
अविद्या डाकिनी-ह्येका खादति स्माखिलं जगत् ॥ २६ ॥

अविद्यादिदोषोऽस्ति यावद्धृदिस्थो,
न यावच्च भावो विशुद्धो न धर्मः।
न तावद्धि वेषैर्न देशैर्न कैर्वा,
विमुक्ते र्विरक्तेः सुशक्तेश्च वार्ता ॥ २७ ॥

इति श्री० शब्दसुधायां विवेकादि विनाऽभिमानबन्धादिवर्णनं
नामाष्टात्रिंशत्तमस्तरङ्गः ॥ ३८ ॥

सद्गुरु कहते हैं कि, हे भक्त लोगों! यह सुनिश्चित वचन सुनो कि, अविद्या रूप एक ही डाकिनी ने सब जगत को खा गई है ॥२६॥ और जब तक अविद्यादि रूप दोष हृदय में स्थिर है. और जब तक विशुद्ध भाव नही है, न धर्म है, तब तक न वेषों से, न तीर्थादि देशों से, न अन्य किसी से, विमुक्ति, विरक्ति, सुन्दर योगादि शक्ति की वार्ता हो सकती है ॥२७॥

अक्षरार्थ—हे नाथ! (गोगृहादि की स्वामिता के अभिमानी हे जीव!) तुम कैसेके (किस प्रकार) तरोगे। असी तुम में बहुत कुटिलता भरी है, या कुटिल कामादि बहुत दोष तेरे हृदय में भरे हैं, सरल स्वभाव नहीं आया है। और कुटिलता कामादि के रहते तेरी (तुम से की गई) किसी की सेवा वा पूजा भी कैसी हो सकती है, तथा तेरो (तुम से किया गया) किसी का ध्यान भी कैसा हो सकता है, तुम में केवल ऊपर की ही उजलापन बकुला समान दीख पड़ती है। तेरा मन का भाव (आशय) भुजंग तुल्य टेंढा दीखता है, तथा अत्यन्त विविचारी (कुविचारी) पन दीखता है, और तेरी सुरति (मनोवृत्ति-आकार) सचान (बाज) तुल्य है, और मति (बुद्धि) मंजारी (बिल्ली) तुल्य है, तो कैसे तरोगे।

और रे (कुटिलादि) जीव ! तुम में अति विरोध, अत्यन्त दिवाना पन (मदमत्तता) दीखता है, और छवो दर्शनों में केवल वेष ही लिपटा हुआ दीखता है, या ये लोक वेष में आसक्त हैं। इससे एक अविद्या कुबुद्धि रूप डाइन (डाकिनी) ने सब संसार को खाय गई है, फिर मोक्ष कैसे हो। हे बन्दा ! (भक्तो !) इस उपदेश को सुनो और कुटिलतादि त्यागो ॥९७॥

संसारशाम्बरीदेहादितुच्छता प्र० ३९

अशुद्ध भाव अविद्यादि युक्त प्राणियों के नाश संसार का पूर्व शब्द से वर्णन करके, अब विचारशील शुद्ध भावादिवाले सज्जनों के अनुभव स्थिति आदि का वर्णन करते हैं कि—

शब्द ॥ ९८ ॥

अब हम जानिया हो। हरि बाजि का खेल।
डंक बजाय देखाय तमासा। बहुरि लेत सकेल॥

सद्विवेके विचारादौ कृतेऽस्माभिस्तु संप्रति।
ज्ञातं सर्वं जगद्ध्येतद्धरेर्मायाविडम्बनम् ॥ १ ॥
सज्जना भोस्तथा वित्त निखिलं गोगृहादिकम्।
नादयित्वा यथा ढक्कां नटो दर्शयतेऽनृतम् ॥ २ ॥

सत्य का विवेक और विचारादि करने पर तो हम लोकों ने इस सब जगत को हरि की माया का विडम्बन (विस्तार) रूप जाना है, या मायाद्वारा हरि की क्रीड़ारूप जाना है ॥१॥ हे सज्जन ! नट जैसे ढक्का (डंका) बजा कर, अनृत (मिथ्या) खेल देखाता है, तैसा ही गोगृहादि सब संसार को जानो ॥ २ ॥ ढक्का बजाने के समान हजारों (अनन्त) प्रकार के शब्द

हरि बाजी सुर नर मुनि जहड़े, माया चाटक लाया ।
घर में डारि सबे भरमाया, हृदया ज्ञान न आया ॥

ढक्कां वै नादयित्वेव शब्दान् कृत्वा सहस्रधा ।
कौतुकं दृश्यवर्गस्य हरिर्दर्शयते जनान् ॥ ३ ॥
प्रत्यक्षं दर्शयित्वा च कौतुकं सर्वशो हरिः ।
स संकोचयते स्वस्मिन्नटः स्वकौतुकं यथा ॥ ४ ॥
तस्माद्यस्मादिदं जातं यस्मिंस्तिष्ठति संप्रति ।
तं विद्धि मायिनं देवं सत्यं पश्य च निर्गुणम् ॥ ५ ॥
इत्थं ज्ञाने हि को विद्वानत्रासक्तो भवेत्तथा ।
विरोधः केन कः कुर्यात्कौटिल्यं च कथं भवेत् ॥ ६ ॥
हरेर्मायाकृते जाले हीन्द्रजालसमेऽनृते ।
देवा मुनिमनुष्याश्च भ्रान्ता खिन्ना ह्यमोमुहन् ॥ ७ ॥
मोहजालात्मकं तेषु सेन्द्रजालं त्वयोजयत् ।
माया ममत्वजननी वर्ष्मवेश्मस्ववेशयत् ॥ ८ ॥

करके दृश्य समूह का कौतुक (खेल) हरि (ईश्वर) प्राणियों को देखाते हैं ॥ ३ ॥ और सब के प्रति सब कौतुक प्रत्यक्ष दिखा कर, वह हरि उसका अपने में संकोच (लय) करता है, कि जैसे नट अपना कौतुक का करता है ॥ ४ ॥ जिससे जिस मायी ईश्वर से यह जगत् उत्पन्न हुआ है, जिसमें इस समय स्थिर है, उस सत्य मायी देव को समझो, और सत्य से भी सत्य निर्गुण को देखो (समझो) ॥ ५ ॥

इस पूर्व रीति से ज्ञान होने पर कौन विद्वान यहाँ आसक्त होगा, तथा विरोध किससे करेगा, कुटिलता भी कैसे होगी ॥ ६ ॥ इस ज्ञान विना ही हरि की मायाकृत इन्द्रजाल तुल्य मिथ्या जाल (समूह) में देव और मुनि मनुष्य भी भ्रान्त खिन्न होकर अत्यन्त मोहित हुए हैं ॥ ७ ॥ ममता को उत्पन्न करनेवाली वह माया, उन लोकों में मोह का समूहरूप इन्द्रजाल

बाजी झूठ बाजीगर साँचा, साधुन की मति ऐसी ।
कहहिं कबिर जिन जैसी समुझी, ताकी गति भौ तैसी ॥९८॥

तत्रावेश्य च सर्वांस्तान् सा भ्रमयति सर्वदा ।
येषां च हृदये ज्ञानं सत्यं यावन्नचागमत् ॥ ९ ॥

सत्यज्ञानविहीनान् सा देवानपि मुनींस्तथा ।
संभ्रामयति सज्ज्ञाने सर्वांस्त्यजति मुक्तिदा ॥ १० ॥

मायाजालं जगत् कृत्स्नं मिथ्येन्द्रजालवत् ।
नटवच्च हरिः सत्यः साधूनामिति सम्मतिः ॥ ११ ॥

यथा यैश्च परिज्ञातो हरिः सत्योऽथवा जगत् ।
तादृश्येवाऽभवत्तेषां गतिरन्यत्र वा हरौ ॥ १२ ॥

तस्माद्वित्त हरिं धीरास्त्यज्यतामनृतं जगत् ।
इत्येवं सद्गुरुः प्राह कबीरो जगतां हितम् ॥ १३ ॥

का संयोग कराई है, और सबको देहरूप घरों में पैठाया है ॥ ८ ॥ उन घरों में उन सबको पैठा कर, वह माया उन सबको सदा तबतक भ्रमाती है, कि जिनके हृदय में जब तक सत्य ज्ञान नहीं आया है ॥९॥ सत्य ज्ञान से रहित देव और मुनियों को भी वह माया सम्यक् भ्रमाती है, और सत्य ज्ञान होने पर मुक्ति देनेवाली होकर वह सबको त्याग देती है ॥१०॥

माया समूह रूप यह सब जगत् नटकृत इन्द्रजाल तुल्य मिथ्या है, और नट तुल्य हरि सत्य है, यह साधुओं की सच्ची मति है ॥११॥ जिन पुरुषों से जैसा, हरि या जगत सत्य समझा गया, उनकी वैसी ही हरि में वा अन्यत्र (जगत) में गति (प्राप्ति) हुई ॥१२॥ तिससे हे धीर लोको ! सत्य हरि को समझो, और मिथ्या जगत् तुम से त्यागा जाय, यह वचन इस प्रकार, सब जगत् का सद्गुरु कबीर साहब सबके लिये हित रूप कहते हैं ॥ १३ ॥ गौडपादकारिका, वैतथ्य प्र. २।३१।

" स्वप्नमाये यथा दृष्टे गन्धर्वनगरं यथा।
तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः ॥ १४ ॥
तमः श्वभ्रनिभं दृष्टं वर्षबुद्बुदसन्निभम्।
नाशप्रायं सुखाद्धीनं नाशोत्तरमभावगम् " ॥ १५ ॥९८॥

का कथन है कि, जैसे स्वप्न और माया तथा गन्धर्व नगर दीखते हैं, तैसे ही वेदान्त में कुशल पण्डितों से यह संसार असत देखा गया है ॥१४॥ व्यासजी का कथन है कि, अन्धकार में वर्तमान वस्तु में मिथ्या भासित छिद्रादि तुल्य, बुद्बुद तुल्य, नाशप्राय, सुख रहित, नाश के बाद तुच्छ रूप जगत देखा गया है ॥१५॥

अक्षरार्थ–हो (हे) मनुष्यो! हमने तो अब जाना है, कि यह संसार हरि की बाजी (मिथ्या माया) के खेल (मिथ्या कौतुक) रूप है, जैसे नट डंका बजा कर, मिथ्या तमासा (कौतुक) देखाता है, और बहुरि (फिर) सकेल (समेट) लेता है, तैसे ही हरि भी विविध शब्द सुनाकर, बाजी का तमासा देखाता है, और फिर उसका लय करता है। अथवा हे हरे! हमने तुम्हारी बाजी का खेल को ' अब) वर्तमान कालिक (प्रातिभासिक) जाना है, या कार्यरूप हरि को मायिक समझा है।

जाने विना हरि की बाजी (माया) से सुर नर मुनि सब जहड़े (पीडित हुए)। क्योकि माया उन लोकों में चाटक (दृष्टिबंध-कामलोभादि) लाया (लगाय दिया)॥ और फिर देहरूप घर में डार कर (अभिमान कराकर) सबको भरमाया (भ्रान्त चञ्चल किया), इससे हृदय में ज्ञान नहीं आया (नहीं प्राप्त हुआ) या जिनके हृदय में ज्ञान नहीं आया, उनको घर में डार कर भरमाया।

नटकृत बाजी तुल्य बाजी (माया संसार) झूठ है, बाजीगर (नट) तुल्य हरि सत्य है, ऐसी साधुओं की बुद्धि (निश्चय) है, अन्य लोक संसार को ही सत्य समझते हैं, जिन लोकों ने जैसी वस्तु समझी उनकी वैसी ही गति हुई। हरि को सत्य समझने वाले हरि को पाये, संसारी संसार पाये ॥९८॥

मायामय वस्तु शरीरादि पाकर अभिमानादि करनेवाले साधारण मनुष्यों के प्रति उपदेश देते हैं कि—

शब्द ॥ ९९ ॥

चलहु क्या टेंढो टेंढो टेंढो ।
दशहुं द्वार नरक भरि बूडे, तूं गन्धी का बेंढो ॥

देहाभिमानतो मूढा वाव्रज्यन्ते सदा कथम् ।
कुमार्गैर्नैव सन्मार्गे भवन्तो यन्ति सिद्धये ॥ १६ ॥
युष्माकं यत्र गर्वोऽस्ति तस्य द्वाराणि वै दश ।
नारकीयैर्मलैः सन्ति पूर्णानि तानि पश्यत ॥ १७ ॥
" वसाशुक्रमसृङ्मज्जा मूत्रं विट् कर्णविण् नखाः ।
श्लेष्माऽस्रुदूषिका स्वेदो द्वादशैते नृणां मलाः " ॥१८॥
तत्रैव ह्यभिमानेन निमग्नत्वाज्जनाः खलु ।
यूयं दुर्गन्धद्रव्यस्य कुशूलत्वं गता इव ॥ १९ ॥
प्रकाराः पूतिगन्धेश्च देहगेहाभिमानतः ।
संजायन्ते भवन्तो वै चिदानन्दमया अपि ॥ २० ॥

हे मूढ लोको ! आप सब देहाभिमान से कुमार्गों द्वारा सदा कुटिल चाल से कैसे चलते हो, और सिद्धि के लिये सत मार्ग में कैसे नहीं जाते हो ॥१६॥ तुम सब का जिस देह विषयक गर्व है, उसके दशों द्वार नारकीय (नरक में होने वाले) मलों से पूर्ण हैं, उन्हें देखो ॥१७॥ मनु. ५।१३५॥ चरबी, वीर्य, रुधिर, मज्जा, मूत्र, विष्ठा, कर्णविट् (घूज), नख, कफ, लोर, कांची, पसीना; ये बारह मनुष्य के मल हैं ॥१८॥ हे जनो ! उन्ही में अभिमान से निमग्न (आसक्त) होने से तुम सब दुर्गन्ध द्रव्य का कुशूलत्व (कोठी रूपता) को प्राप्त की नांई हो ॥१९॥ आप चेतन आनन्दमय होते भी पूतिगन्धि (दुर्गन्ध) का प्राकार (वरण-घेरा) रूप देहघरादि के अभिमान से होते हो ॥२०॥

फूटी नयन हृदय नहिं सूझै, मति एको नहिं जानी ।
काम क्रोध तृष्णा के माँते, बूडि मुये बिनु पानी ॥
जो जारे तन होय भस्म धुरि, गाडे कृमि विट खाई ।
शूकर श्वान काग का भोजन, तन की इहे वडाई ॥

हृदयस्थानि नेत्राणि विवेकादिमयानि वै ।
नष्टान्येव हि युष्माकं दृश्यते न ततो हितम् ॥ २१ ॥
एकामपि मतिं नैव विन्दन्ति च शुभां यतः ।
लभ्यते सद्गतिः पुंभिः शान्तिः सौख्यं विमुक्तता ॥२२॥
तथा विना च कामेन क्रुधाऽतितृष्णयाऽपि च ।
प्रमत्तत्वाद् ब्रुडन्त्येव भवाब्धौ सज्जलं विना ॥ २३ ॥
ब्रुडित्वा किं म्रियन्तेऽत्र ह्यभिमानेन मानवाः ।
कदर्थनां विलोक्यास्य भवाब्धिस्तीर्यतां द्रुतम् ॥ २४ ॥
देहोऽयं जायते दाहे भस्म धूलिर्भवेद् ध्रुवम् ।
भूमिखाते निखातौ च कृमयोऽस्मिन् भवन्ति हि ॥२५॥

तुम सब के विवेकादिमय हृदयस्थ नेत्र (ज्ञानशक्ति) नष्ट ही हो गये हैं, तिससे हित नहीं देखा जाता है ॥२१॥ आप सब एक भी शुभ मति को नहीं प्राप्त करते हो कि, जिससे शान्ति सुख मुक्ति आदि रूप सद्गति पुरुष पाते हैं ॥२२॥ और उस शुभ मति के विना काम क्रोध अत्यन्त तृष्णा से प्रमत्त रहने से सच्चा जल (विषयादि) के विना ही उसके लिये आप सब संसार सागर में डूबते ही हो ॥२३॥ हे मनुष्यो ! आप सब अभिमान से यहाँ बूड कर क्यों मरते हो ? इस संसार की कदर्थना (पीडा) को देख कर, शीघ्र संसार से पार हो जा ॥२४॥ यह देह दाह होने पर भस्म (राख) होता है, फिर अवश्य धूलि होगा । भूमि के खड्डे में गाडने पर इसमें कीड़े होते हैं ॥२५॥ क्रव्याद (कुत्ता आदि) से

चेति न देखु मुग्ध नल बौरे, तुम ते काल न दूरी ।
कोटिक यतन करो या तन की, अन्त अवस्था धूरी ॥

क्रव्यादैर्भक्षितो विट् च निन्दितो जायते यतः ।
शूकरश्वादिकाकानां भक्ष्यत्वमत्र वर्तते ॥ २६ ॥
" त्रिधावस्था शरीरस्य कृमिविड्भस्मरूपतः । "
किं गर्वः क्रियते तस्य ह्येतावत्यस्ति मुख्यता ॥ २७ ॥
भोः सुमुग्धजना ! मत्ताः ! सावधानैर्हि दृश्यताम् ।
कालो नास्ति क्वचिद् दूरे भवद्भ्य इति बुध्यताम् ॥२८॥
रक्षार्थमस्य देहस्य यत्नाश्चेत्कोटयो जनैः ।
क्रियन्तेऽप्यन्तकालेऽयं धूलित्वमेव गच्छति ॥ २९ ॥
अहो मूढजना यूयं स्थिताः स्थ वालुकागृहे ।
नो चेतथ निजात्मानं मन्यध्वे च स्थिरं जगत् ॥ ३० ॥
एकस्यैवात्र रामस्य भजनेन विना प्रभोः ।
बहवः कुशलाः सिन्धौ निमग्नास्तन्न बुध्यते ॥ ३१ ॥

खाये जाने पर निन्दित विष्ठा हो जाता है, जिससे शूकर श्वान काकादि की भक्ष्यता इस शरीर में है ॥२६॥ इससे कृमि विष्ठा भस्मरूप से शरीर की तीन प्रकार की अवस्था होती है, फिर भी इसका क्या गर्व किया जाता है। उस देह की इतना ही तो मुख्यता (प्रधानता) है ॥२७॥

हे मतवाले ! अत्यन्त मोह युक्त मनुष्यो ! सावधान आप लोकों से काल देखा जाय, और आप सब से वह काल कहीं दूर नहीं है, यह बात भी समझा जाय, यही उचित है ॥२८॥ और इस देह की रक्षा के लिये यदि मनुष्यों से करोडों यत्न किये जाते हैं; तो भी यह अन्त काल में धूलि रूपता को ही प्राप्त होता है ॥२९॥ और आश्चर्य है कि, तुम मूढ लोक सब बालू के घर में (क्षण भंगुर देह में) अभी स्थिर हो, अपनी आत्मा का स्मरण विचार नहीं करते हो, और जगत को स्थिर मानते हो ॥३०॥ और एक ही राम स्वरूप प्रभु के भजन विना बहुत कुशल लोक

बालू के घरवा महँ बैठे, चेतत नाहिं अयाना ।
कहहिं कबिर एक राम भजे बिनु, बूडे बहुत सयाना ॥९९॥

"सम्पन्मदे प्रमत्तश्च विषयान्धश्च विह्वलः ।
महाकामी साहसिकः सन्मार्गं नैव पश्यति ॥ ३२ ॥
सद्यः पतति देहोऽयं विना येन सदात्मना ।
तं निषेव्य कालगतिं तरत्येव हि केवलम् ॥ ३३ ॥
जन्ममृत्युजराव्याधिहरं सर्वहरं तथा ।
कालस्य तरणोपायं भजनं परमात्मनः" ॥ ३४ ॥
"जातिर्विद्या महत्त्वं च रूपं यौवनमेव च ।
यत्नेन परितस्त्याज्याः पञ्चैते भक्तिकण्टकाः" ॥३५॥
अतश्चैनान् परित्यज्य कुरुध्वं भजनं प्रभोः ।
भवाब्धेस्तरणायेति कबीरो भाषते गुरुः ॥ ३६ ॥

भी इस संसार समुद्र में डूब गये, सो भी तुम सबसे नहीं समझा जाता है ॥३१॥ ब्रह्मवैवर्तपु० ब्रह्मखं० ३६।५१। का कथन है कि, सम्पत्ति के मद में प्रमत्त, विषयान्ध, विह्वल, अति कामी, साहसिक (बिना विचारे प्रवृत्तिवाला) सत मार्ग को नहीं देखता है ॥३२॥ कृष्णजन्म खं० १६। २३-४३। का कथन है कि, जिस सत्यात्मा के बिना यह देह शीघ्र गिर जाता है, उसी का केवल निरन्तर सेवन करके कालगति को अवश्य तरता है ॥३३॥ क्योंकि उस परमात्मा के भजन ही जन्म मरण जरा व्याधिको तथा सब ;दुःखादि को हरनेवाला है, और काल को तरने का उपाय रूप है ॥३४॥ अन्यत्र के वचन हैं कि, जाति, विद्या, महत्त्व, रूप, युवा अवस्था के अभिमानों को यत्न से त्यागना चाहिये; क्योंकि ये पांचों अभिमान भक्ति के विरोधी हैं ॥३५॥ इससे संसारसमुद्र से तरने के लिये इन्हें त्याग कर, तुम प्रभु का भजन करो । इस प्रकार कबीर गुरु

देहादिमानं परिहृत्य दूरे लोभं च मोहं ममतां विहाय ।
भजन्ति ये राममनन्यचित्तास्तरन्ति तेऽपारभवाब्धिमाशु ॥३७॥९९॥

इति हनु० शब्द० संसारशाम्बरीदेहाभिमानतुच्छताप्रदर्शनं
नामैकोनचत्वारिंशत्तमस्तरङ्गः ॥३९॥

कहते हैं ॥३६॥ देहाभिमान को दूर त्याग कर, लोभ मोह ममता को छोड कर, अनन्य चित्त हो कर जो राम को भजते हैं, सो अपार भवाब्धि को शीघ्र तरते हैं ॥३७॥

अक्षरार्थ—झूठी धनादि माया पाकर अत्यन्त टेंढा होकर क्या चलते हो। जिस देह के दशो द्वार नरक से भरा है। देहाभिमान से तुम उस नरक में बूडे हो, और दुर्गन्ध पदार्थ के बेढ (बखार-खजाना वा किला) बने हो। अथवा सुगन्ध का बेढ (स्थान) होते भी देहाभिमान से नरक में बूडे हो (चिदानन्द होते भी दुःखी संसारी बने हो), इत्यादि।

तेरी हृदय की नेत्र भी विज्ञानादि फूटी है, इससे कुछ सूझता (सत्य वस्तु दीखता) नहीं है, और तुमने एक भी भावी हितकारक मति (विचारादि) को नहीं जानी है। इसीसे कामादि से माँते हो, और बिना पानी के ही संसार में बूड मूये हो। यदि देह को जलाया जाय तो भस्म होकर धूलि बन जाता है, गाड़ने पर कृमि होता है, कहीं छोड़ देने पर कुत्ता आदि खाकर विट् (विष्ठा) कर देते हैं; क्योंकि यह शूकर श्वानादि का भोजनरूप है, और इस देह की इतनी ही बडाई है।

हे मुग्ध (अज्ञ) बौरे (मतवाले) नल (मनुष्यो)! शीघ्र चेति (सावधान हो) कर देखो न (अवश्य समझो) कि, काल तुम से दूर नहीं है। इससे इस देह के लिये चाहे करोड़ों यत्न (उपाय) करोगे, तोभी इसकी अन्त अवस्था धूलि ही होगी। और बालू के घर तुल्य विनश्वर देह में बैठ (आसक्त हो) कर अयान (अज्ञ) लोक चेतते (समझते-होश करते) नहीं हैं। इससे एक सर्वात्मा राम के भजन विना बड़ २ सयान (लोक कुशल) भी संसारसागर में डूब गये ॥ ९९ ॥

गर्भजन्ममरणादि दुःखवर्णन प्रकरण ४०

शब्द ॥ १०० ॥

फिरहु क्या फूले फूले फूले ।
जब दश मास औन्ध मुख होते, सो दिन काहे भूले ॥
ज्यों माखी संचय नहिं विहुरे, शोचि शोचि धन कीन्हा ।
मूये पीछे लेहु लेहु करि, भूत रहन कस दीन्हा ॥

धनदेहाभिमानेन कुलगोत्रादिना तथा ।
मत्ता भ्रमथ किं यूयं मिथ्याऽऽनन्देन मोहिताः ॥ १ ॥
अधोमुखा यदा यूयमास्त मासान् दशापि वै ।
वासरांस्तांश्च भोः कस्मान्नरा ! विस्मरथाबुधाः ॥ २ ॥
" आस्ते कृत्वा शिरः कुक्षौ भुग्नपृष्ठशिरोधरः ।
अकल्पः स्वाङ्गचेष्टायां शकुन्त इव पञ्जरे " ॥ ३ ॥
मक्षिका मधुवच्चैव संचिन्वन्ति धनं सदा ।
वियुज्यन्ते भवन्तो नो तस्मात् कृत्वाऽतियत्नतः ॥ ४ ॥

धन देह के अभिमान से तथा कुल गोत्रादि से मत्त (उन्मत्त-वा तृप्त) होकर, मिथ्या सुख से मोहित होकर, तुम सब क्या भ्रमते हो ॥ १ ॥ हे अबुध मनुष्यो ! जब तुम सब दश मास अधोमुख (नीचे मुखवाला) गर्भ में रहे, उन दिनों को क्यों भूलते हो ॥ २ ॥ टेढा पृष्ठ (पीठ) और गलावाला, अङ्गों की चेष्टा में असमर्थ प्राणी माता के कुक्षि (उदर) में शिर करके, पिंजरे में पक्षी के समान गर्भ में रहता है ॥३॥ आप लोक, मधुमाखी जैसे मधु का संचय करती है, तैसे सदा धन का संचय करते हैं, और अति यत्न से धनसंचय करके उससे वियुक्त नहीं होते हैं ॥ ४ ॥

जारे देह भस्म होय जाई, गाड़े माटी खाई।
कांचे कुम्भ उदक ज्यों भरिया, तन की यही बडाई॥
देहरि ले वर नारि संगि हैं, आगे संग सुहेला।
मृतक थान लो संग खटोला, फिर पुनि हंस अकेला॥

सावधानेन संचिन्त्य संचितं तद्धनं खलु।
युष्मन्मृतौ ग्रहीष्यन्ति जना अन्ये पुनः पुनः॥ ५॥
गृह्यतां गृह्यतां कृत्वा धनान्यादाय सर्वशः।
भौतिकं क्षेत्रदेहादि रक्षिष्यन्ति कथं जनाः॥ ६॥
दाहे भस्मी भवेद्देहो मृत्स्वाधाने तु मृद् भवेत्।
अन्यथा खाद्यते चायं क्रव्यादैः पशुपक्षिभिः॥ ७॥
आमकुम्भसमे देहे जलवत्प्राणवायवः।
मनोमुखाश्च तिष्ठन्ति देहस्य श्रेष्ठता हि सा॥ ८॥
अन्ते प्राणवियोगे तु द्वारं यावद्वराः स्त्रियः।
सार्द्धं तिष्ठन्ति दुःखार्ताः कियदग्रे सुहृज्जनाः॥ ९॥

सावधानी से सम्यक् विचार करके संचित उस धन को तुम्हें मरने पर अन्य लोक बार २ ग्रहण करेगें॥ ५॥ ग्रहण करो, ग्रहण करो इस प्रकर शब्द करके, सब धनों को लेकर भी वे लोक तेरे भौतिक खेत देहादि को किस प्रकार रख सकेगें॥ ६॥

दाह से देह भस्म रूप होगा, मिट्टी में रखने पर मिट्टी होगा, और प्रकार से मांसाहारी पशु पक्षी आदि से यह खाया जाता है॥ ७॥ आम (कच्चा) घड़ा तुल्य देह में जल तुल्य प्राणवायु और मन आदि रहते हैं, यही देह की श्रेष्ठता है॥ ८॥ अन्त में प्राणवियोग होने पर द्वार तक, श्रेष्ठ स्त्रियाँ दुःख से आर्त (क्षीण) होती हुई साथ रहती हैं, कुछ आगे सुहृद लोक साथ रहते हैं॥ ९॥ श्मशान तक खाट देह के साथ ही

राम न रमसि मोह के मांते, परेहु काल वश कूंवाँ।
कहहिं कबिर नल आप बँधायो, ज्यों नलिनी भ्रम सूवा॥१००॥

श्मशानान्तं हि खट्वापि सहैव वर्तते ततः।
एकाक्ययं हि चलति हंसो मोहादिसंयुतः॥ १०॥
अहो तथापि मोहेन मत्ता यूयं न चिद्घने।
रमध्वे तेन कालस्य रामे वै वशगाः सदा॥ ११॥
भवकूपे निमग्नाःस्थ बद्धाः स्थ स्वयमेव च।
नालिकायां शुको यद्वत् स्वयमेव निबध्यते॥
यूयं भ्रमेण बद्धाः स्थ तथेति सद्गुरोर्वचः॥ १२ ॥१००॥

रहती है। फिर मोहादि सहित यह हंस (जीव) एकाकी चलता है॥१०॥ आश्चर्य है कि, तौभी तुम सब मोह से उन्मत्त होकर चिद्घन राम में नहीं रमते हो, तिसी से सदा काल के वश में गये हो॥११॥ स्वयं ही भवकूप में डूबे हो, और बँधे हो। सूवा जैसे नालिका में स्वयं बंधता है, तैसे ही तुम सब स्वयं भ्रम से ही बंधे हो, यह सद्गुरु का वचन है॥१२॥

अक्षरार्थ फिर भी उपदेश देते हैं कि, रामभजनादि बिना फूले ३ (अत्यन्त गर्वादि युक्त हो कर) क्या फिरते हो। जब गर्भ में दश मास औन्धमुख (अधोमुख) होते हो, सो (उन) दिनों को काहे (क्यों) भूले हो, उन्हे याद रखो कि, जिससे गर्वादि से बचोगे। और उन दिनों को भूलने ही से, माखी ज्यों (मधुमाखी के समान) धन संचय करते हो, और उस धन से विहुरते (हटते) नहीं हो (दान त्यागादि नहीं करते हो) और शोच २ कर धनसंचय किये हो। परन्तु तेरे मरने के पीछे लेहु २ कर के सब धन लोक ले लेगें, और तेरे भूत (भौतिक देह गेहादि) को भी कस (किस प्रकार) रहने देगें वा रहने दिये हैं। अर्थात् मरने पर कोई वस्तु तेरी नहीं रह सकती। या धनादि ले लेगें,

और तेरा रहन (चाल-रीति) भूत (प्रेत) का दिये और देगें (समझेगें), फिर भी इसका क्यों अभिमानादि करते हो ।

जलाने से देह भस्म हो जाता है, गाड़ने से माटी होता है, भूमि वा जल में छोड देने से कोई प्राणी इसे खाय लेते हैं। कच्चे घडे में जल के समान इसमें प्राण भरे और टिके हैं, देह की यही बड़ाई है। मरने पर देहरि ले (द्वार तक) श्रेष्ठ स्त्री साथ रहती है, कुछ आगे तक सुहेला (सुहृद्-मित्र) रहते हैं, मृतक- स्थान लो (तक) कटोला (खाट) साथ रहती है, फिर पुनः २ (बार २) इसी प्रकार हंस (जीव) अकेला ही चलता है, कोई साथी नहीं होता, तौ भी तुम इसके मोह से मात कर राम में नहीं रमते हो,-इससे काल के वश में होकर, नरकादि अन्धकूप में पड़े हो, और नलिनी (ललनी) के सूवा (शुकपक्षी) तुल्य आप ही भ्रम से बँधे हो। इससे सद्विचार भजनादि करके भ्रम रहित मुक्त होवो। शास्त्र के वचन हैं कि, (द्रव्याणि भूमौ पशवश्च गोष्ठे भार्या गृहद्वारि जनाः श्मशाने। देहश्चितायां परलोकमार्गे कर्मानुगो गच्छति जीव एकः ॥ १ ॥ अत्यल्पकल्पितसुखाय किमिन्द्रियार्थैस्त्वं मुह्यसि प्रतिपदं प्रचुरप्रमादः। एते क्षिपन्ति गहने भवभीमकक्षे जन्तून्न यत्र सुलभा शिवमार्गदृष्टिः ॥ २ ॥) द्रव्य भूमि में, पशु गोशाले में, स्त्री गृहद्वार पर; अन्य लोक श्मशान में, देह चिता में, रह जाते हैं; कर्म सहित एक जीव परलोक में जाता है ॥१॥ रे मनुष्य ! अति अल्प कल्पित सुख के लिये, बहुत प्रमाद युक्त होकर विषयों से क्यों प्रतिपद (निरन्तर) तुम मोहित होता है ? ये विषय जन्तु को गम्भीर संसार रूप भयानक वन में डालते हैं कि, जहाँ कल्याण मार्ग का ज्ञान सुलभ नहीं है ॥१००॥

जो लोक रामविमुख होकर, घर शरीर धनादि के चिन्तन में ही आयु को नष्ट करके मरणोन्मुख हो जाते हैं, उनके प्रति कथन द्वारा, शरीरादि में आसक्त जन सामान्य के प्रति वैराग्यादि के लिये कहते हैं कि—

शब्द ॥ १०१ ॥

अब कहँ चलेहु अकेला मीता । उठियो न करहु घर हु चींता ॥
खीर खांड घृत पिण्ड समारा । सो तन लै बाहर कै डारा ॥
जिहि शिर रचि रचि बाँधेहु पागा । सो शिर रतन विदारै कागा ॥

यावद्देहं गृहे सक्तस्तस्य चिन्तापरो भवान् ।
धनदेहपरश्चैकः केदानीं याति मित्र हे ॥ १३ ॥
उत्थाय गृहचिन्तैव पुनः किं क्रियते नहिं ।
किन्नैतद्विदितं पूर्वं यन्नान्तशम्बलं कृतम् ॥ १४ ॥
पायसैर्घृतखण्डाद्यैर्यः पिण्डः साधितस्त्वया ।
स इदानीं बहिर्गेहात् क्षिप्तस्तिष्ठति लोष्ठवत् ॥ १५ ॥
यस्मिंश्छिरसि संधायाऽबध्ना उष्णीषमद्भुतम् ।
शिरोरत्नं हि तत् काका इदानीं विहणन्ति हि ॥ १६ ॥

हे मित्र ! देह की जब तक स्थिति रही तब तक आप गृह में आसक्त होकर उसकी चिंता परायण, धन देह परायण रहे, इस समय एकाकी कहां जाते हो ? ॥१३॥ उठ कर फिर भी घर की चिन्ता ही क्यों नहीं करते हो, क्या यह पहले विदित नहीं था, कि जिससे अन्त का शम्बल नहीं किया ॥१४॥ पायस (खीर) घी खांडादि से जो पिण्ड (देह) तुम से साधित (सुसिद्ध पुष्ट भूषित) किया गया है, सो इस समय घर से बाहर गिरा हुवा ढेला तुल्य स्थिर है ॥१५॥ जिस शिर पर संभार कर अद्भुत उष्णीष (पगरी) बाँधते रहा, उस शिर रूप रत्न (उत्तमाङ्ग) को इस समय काक विदारते (फाडते) हैं ॥१६॥ अग्नि में डालने पर

हाड़ जरै जस लकरिक झूरी । केश जरै जस तृण की कूरी ॥
आवत संग न जात सँघाती । काह भये दल बाँधे हाथी ॥
मायाके रस लेहुं न पाया । अन्तर यम बिलार होय धाया ॥
कहहिं कबिर नल अजहुं न जागा । यमके मुगदर मांझ शिर लागा ॥

अग्नौ प्रक्षेपणे चास्य ह्यस्थि संशुष्ककाष्ठवत् ।
तृणसंघसमः केशो ज्वलत्येव क्षणादिह ॥ १७ ॥
सेना हस्ती तथाश्वाद्या न त्वया सह चागताः ।
न गमिष्यन्ति सार्द्धं ते किं तेषां संग्रहात् फलम् ॥१८॥
बहुचिन्तानिमग्नत्वान्मायायाश्च रसं नहि ।
नरो भोक्तुं समर्थोऽभूत्तावदाक्रमते यमः ॥ १९ ॥
मूषिकस्य विनाशाय मार्जारो धावते यथा ।
तथैव धावते मृत्युर्मुहुर्मुहुरतर्कितः ॥ २० ॥
संमूढो मानवो यस्मादिदानीमपि मोहजाम् ।
कुनिद्रां त्यक्तवान्नैव ततो मध्ये शिरस्ययम् ॥
यमदण्डोऽलगत्तेन विह्वलो वर्तते सदा ॥ २१ ॥

इस देह के हाड सम्यक् सूखा काठ तुल्य, और केश तृण समूह तुल्य क्षण में ही यहां बर जाते हैं ॥१७॥ सेना, हाथी तथा घोडा आदि न तेरे साथ आये, न तेरे साथ जायगें, तो उनका विशेष संग्रह से क्या फल हुवा वा है ॥१८॥

बहुत चिन्ताओं में निमग्न रहने से मनुष्य माया (मायिक वस्तु बुद्धि) का रस (सुख-स्वाद) को भी भोगने के लिये समर्थ नहीं हो सका, तब तक यम आक्रमण किया (प्राप्त हुआ) ॥१९॥ मूसा का विनाश के लिये जैसे बिलाव धावता है, तैसे ही अतर्कित (अविचारित) मृत्यु बार २ धावता है ॥२०॥ जिससे अति मूढ मनुष्य इस (अन्त) समय

दृष्ट्वा तस्य विपत्तिं च भाषते सद्गुरुर्हितम् ।
भावी दण्डो यथा न स्यादद्यापि मोहमार्जनात् ॥ २२ ॥
भोगादिबुद्ध्या प्रसक्तो नरो हि गर्भादिजं दुःखमुग्रं न बुद्ध्वा ।
कामादिभिर्वञ्चितः संशयानो रामं विना मोहितः पीड्यतेऽत्र ॥२३॥

इति छ० शब्दः सुधायां गर्भजन्ममरणादि दुःखवर्णनं
नाम चत्वारिंशत्तमस्तरङ्गः ॥ ४० ॥

भी मोह जन्य प्रेमादि रूप कुनिद्रा को नहीं त्यागा, तिससे मध्य शिर में यह यमदण्ड लगा, तिससे सदा विह्वल रहता है ॥२१॥ उसकी विपत्ति को देख कर, सद्गुरु हित का कथन करते हैं, कि जिस प्रकार अब भी जागने से मोह को त्यागने से भावी दण्ड न हो ॥२२॥ भोगादि के ज्ञान से संसार में प्रसक्त (आसक्त) मनुष्य गर्भवासादि जन्य उग्र (उत्कट) दुःख को नहीं समझ कर, कामादि से वञ्चित होकर, मोहादि से सम्यक् सोया हुवा मोहित होकर राम के विना यहाँ पीडित होता है ॥२३॥

अक्षरार्थ–सदा घर आदि की चिन्ता करनेवाले हे मीता ! (हे मित्रो !) अब (अन्त में) अकेला कहां चले हो । अब न उठ कर घर ही की चिन्ता करो । प्रथम समझते रहो कि, मेरे विना घर का काम नहीं चलेगा, अब भी तो इस बात का ध्यान करो । खीर आदि से जिस पिण्ड (देह) को समारा (सुधारा) सो देह अब बाहर ले कर डारा गया है । जिस शिर पर रच २ कर पाग (पगरी) बांधते रहो, सो शिररत्न (उत्तमाङ्ग) को काग विदारता है । झूरी (सूखी) लकड़ी के समान हाड जलता है, तृण की कूरी (पूंज) के समान केश जरता है । और इनकी रक्षा के लिये तुम कुछ कर नहीं सकते हो । और दल (सेना), बांधा हुआ हाथी आदि न आते संग आये, न जाते संघाती है, तो इनसे क्या फल हुवा ! इससे इन देहादि के लिये सदा के साथी राम से विमुख होना उचित नहीं है ।

और माया के रस (आनन्द) भी नहीं लेने पाया (भोग से तृप्ति नहीं हुई) और अन्तर (बीच) में यम बिलार तुल्य होकर दौड़ा। और अजहुं (मरणे तक) मनुष्य नहीं जागा (मोहादि को नहीं त्यागा), इससे यम के मुगदर (दंड-गदा) इसके मांझ शिर (मध्य शिर) में लगा, और लगता है, यदि अन्त में भी किसी प्रकार मोह को त्याग कर राम को याद करे तो यमदण्ड से रहित हो जाय, इत्यादि। इससे (काऽहं कुत्र गमिष्यामि कस्याहं किमिहागतः। को बन्धुर्मेस कश्चाऽहमित्यात्मानं विचिन्तय ॥ अहिंसासत्यसंतोषक्षमार्जवतपोमयीम्। नावमारुह्य यत्नेन संसारार्णवमुत्तर ॥ इतिहास समुच्चयः) ॥१०१॥

राम की प्राप्ति विना दुःखादि वर्णन प्र० ४१

शब्द ॥ १०२ ॥

मरि हौ रे तन का लै करि हौ। प्राण छुटे बाहर लै धरि हौ ॥
काय निगुरचन अनबन भांती। कोइ जारै कोइ गाड़ै माटी ॥

हे नरा ! मरणे प्राप्ते तन्वा किं वै करिष्यते।
प्राणवायोर्वियोगे सा बहिस्तूर्णं विकीर्यते ॥ १ ॥
कायस्यास्य विनाशश्च बहुधा जायते ततः।
केचिद्दहन्ति केचिच्च मृत्स्वेव निखनन्ति तम् ॥ २ ॥

हे मनुष्यो ! मरण प्राप्त होने पर, इस देह से तुमसे क्या किया जायगा, प्राण वायु के वियोग होने पर वह देह शीघ्र बाहर वीग दिया जाता है ॥ १ ॥ इस देह का विनाश भी बहुत प्रकार से होता है, तिससे कोई इसको जलाते हैं, कोई मिट्टियों में ही गाडते हैं ॥ २ ॥ उस देह

हिन्दु ले जारै तुरुक ले गाडै। यहि विधि अन्त दोनों घर छाडै ॥
कर्म फांस यम जाल पसारा। ज्यों धीमर मछरी गहि मारा ॥
राम विना नल होइ हो कैसा। बाट माँझ गोबरौरा जैसा ॥
कहहिं कबिर पाछे पछतै हो। या घर से जब वा घर जैहो ॥१०२॥

आर्या दहन्ति तं कायं तुरुष्का निखनन्ति च।
उभये त्याजयन्तीत्थं गृहमन्ते त्यजन्ति च ॥ ३ ॥
कर्मपाशैर्युतं जालं मोहकामादिलक्षणम्।
यमः प्रस्तार्य तान् सर्वान् गृहीत्वा हन्ति सत्वरम् ॥ ४ ॥
मत्स्यघाती यथा मत्स्यान् हन्यादेवाविचारयन्।
यमस्तथा नरान् हन्ति धर्मरिक्तान् पुनः पुनः ॥ ५ ॥
"इज्याचार दमाऽहिंसा दानं स्वाध्यायकर्म च।
अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्" ॥ ६ ॥
नरा! रामं विना यूयं भविष्यथ तथा सदा।
रोमन्थकारिणः कीटा यथा मार्गे भवन्ति हि ॥ ७ ॥

को आर्य (हिन्दू) जलाते हैं, और तुरुक गाडते हैं। इस प्रकार दोनों अन्त में घर का त्याग कराते और करते हैं ॥ ३ ॥ कर्म रूप पाशों (बन्धन-ग्रंथि) से युक्त मोह कामादि रूप जाल को पसार कर, यमराज उन जीवों को पकड कर, शीघ्र हनन करता हैं ॥ ४ ॥ मछली मारने वाला जैसे मछलियों को कुछ विचार नहीं करता हुआ मारता हो, वैसे यम भी धर्मरहित मनुष्यों को बार २ मारता है ॥ ५ ॥ और यज्ञपूजा, सदाचार, दम (इन्द्रियनिरोध), अहिंसा, दान, अध्ययनकर्म; ये सब धर्म हैं, और योग से जो आत्मा को समझना है, सो परम धर्म है। यह, याज्ञवल्क्यस्मृति. १।८। का वचन है।

हे मनुष्यो! तुम सब राम बिना सदा वैसा होगे, कि जैसा रोमन्थ (गोबरादि के गोली) करने (बनाने) वाले कीडा रास्ते में होते हैं ॥ ७ ॥

यथा नश्यन्ति ते कीटास्तथा नष्टा मुधैव च ।
पश्चात्तापैर्हता यूयं भविष्यथ तनूक्षये ॥ ८ ॥
यदा चेदं गृहं त्यक्त्वा मानवं देहमुत्तमम् ।
अन्यत्र यास्यथाप्राज्ञास्तदा शोकैर्वितप्स्यथ ॥ ९ ॥
अतः सद्गुरुराहेदं मोहं त्यजथ भो द्रुतम् ।
रामं भजथ येनात्र भवचक्रे न यास्यथ ॥ १० ॥१०२॥

जैसे वे कीट व्यर्थं ही पैर से पिसा कर नष्ट होते हैं, तैसे ही व्यर्थं ही नष्ट होकर, शरीर के नाश होने पर पश्चाताप से भी तुम हत (नष्ट) होगे ॥ ८ ॥ और जिस समय इस मानव देह रूप उत्तम घर को त्याग कर अन्यत्र जावोगे, हे अप्राज्ञ (अज्ञ) लोको ! उस समय शोक से अत्यन्त तपोगे ॥ ९ ॥ इससे सद्गुरु यह वचन कहते हैं कि, हे मनुष्यो ! तुम सब मोह को द्रुत (शीघ्र) त्यागो, और राम को भजो कि, जिससे इस भवचक्र में नहीं जावोगे ॥१०॥

अक्षरार्थं-रे देहाभिमानी माया में फंस कर मरि हौ (मरोगे) तो तन (देह) लेकर क्या करोगे, प्राण छूटते ही तो इसे लोक बाहर ले कर धरते हैं। फिर इस काया का विगुरचन (विद्रुत-नाश) अनबन (अन्य अन्य) भांति (प्रकार से) होता है, कोई जारता है, कोई माटी में गाडता है। हिन्दू लेकर जारता है, तुरुक लेकर गाडता है, और इस प्रकार दोनों को शरीरादि रूप घर अवश्य छोडना पडता है, और छोडने पर इससे कुछ फल नहीं होता है। और देहाभिमानी को पकडने के लिये यम ने कर्मरूप फांस (बन्धन) सहित काम मोहादि जाल को पसारा हैं, और इन जालों से गह (पकड) कर, इस प्रकार मारता है कि, जैसे धीमर मछली को पकड कर मारता है, परन्तु यह दशा राम की प्राप्ति विनु देहाभिमानादि से है।

और हे नल! (नर!) राम विना कैसा होगे, कि बाट माँझ (मार्ग में) गोबरौरा (गोबर कीट) जैसा होता है। जैसे गोबर की गोली सहित

वह मार्ग में नष्ट होता है, वैसे तुम मलिन देह विषय सहित नष्ट होगे। फिर पाछे पश्चात्ताप करोगे, कि जब या घर (इस मानव देह) से वा घर (पशु आदि देहों) में जावोगे, इत्यादि ॥१०२॥

प्रथम कहा गया है कि, राम की प्राप्ति विना कर्म फांस युक्त यमजाल में फंस कर जीव सब कठिन दुःख भोगते हैं। उसीका उदाहरणों से स्पष्ट करते हुए, ब्रह्मा विष्णु आदि अधिकारियों को भी व्यवहार काल में दुःख से छुटकारा का अभाव को दर्शाते हुए, कर्म की अति प्रबलता का वर्णन करते हैं कि—

शब्द ॥ १०३ ॥

अपनो कर्म न मेटो जाई ।
कर्मक लिखल मिटे दहुं कैसे। जो युग कोटि सिराई ॥

रामप्राप्तिं विना स्वस्य संचिताः कर्मवासनाः ।
न नश्यन्ति कदाचिद्धि शक्या नाशयितुं न च ॥ ११ ॥
कर्मणो हि लिपिः केन कथं नश्यतु वै ध्रुवा ।
कोटिकल्पयुगान्तेऽपि कर्माऽवश्यं हि भुज्यते ॥ १२ ॥
" अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाऽशुभम् ।
नाऽभुक्तं क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि " ॥ १३ ॥

राम की प्राप्ति बिना अपनी संचित कर्मजन्यवासना (अदृष्ट) कभी नहीं नष्ट होती है, न किसी से नष्ट करने के शक्य हैं ॥११॥ कर्म की ध्रुवा (संतत-शाश्वत) लिपि (नियति) किस से किस प्रकार नष्ट हो, इसीसे करोडों कल्प युग के अन्त में भी कर्म अवश्य भोगा जाता है ॥१२॥ गरुड पु. प्रे. अ. ५।५७। पुराण के वचन हैं कि, किया हुआ

जो सीता रघुनाथ विवाही, सूर्य मन्त्र लिखि दीन्हा॥
गुरु वसिष्ठ मिलि लगन शोचाई, पल एक संच न कीन्हा॥

अधिकारनिमित्तं यत् प्रारब्धं यच्च वर्तते।
तन्न नश्यति केनापि सत्यमेतच्छ्रुतेर्वचः॥ १४॥

अतश्च रघुनाथो यः सीतां तामूढवान् प्रभुः।
विवाहे यत्र सूर्योऽभून्मन्त्रदाताऽस्य लेखकः॥ १५॥

विद्वद्भिश्च मिलित्वैव वसिष्ठो गुरुसत्तमः।
लग्नं शोधितवांस्तत्र तथापि न च स प्रभुः॥ १६॥

पलैकमपि शान्तिं वा सौख्यं वा लब्धवांस्ततः।
वनवासादितो युद्धात् सीताविरहकारणात्॥ १७॥

"को वा कस्य सुतस्तातः का स्त्री कस्य पतिस्तु वा।
कर्मणा भ्रमणं शश्वत् सर्वेषां भूरि जन्मनि"॥ १८॥

शुभाशुभ कर्म अवश्य ही भोक्तव्य हैं, कल्पों के करोडों सौ से भोगे विना कर्म नष्ट नहीं होता ॥१३॥ और अधिकार (इन्द्रादि पद) का निमित्त (कारण) तथा प्रारब्ध जो कर्म रहता है, सो ज्ञानादि किसी से नष्ट नहीं होता है। यह श्रुति का वचन सत्य है॥१४।

इसीसे जो प्रभु (नेता) रघुनाथ (राम) भी उस प्रसिद्ध सीता को विवाहा, कि जिस विवाह में सूर्य मन्त्रदाता हुए, इस मन्त्र का लेखक हुए॥१५॥ और विद्वानों से मिलकर गुरुओं में अति श्रेष्ठ वसिष्ठजी ने उस में लग्न को शोधा, तौ भी वह प्रभु (राम) वनवासादि से तथा सीता का विरहनिमित्तक युद्ध से, उस विवाह से पलों का एक भी शान्ति वा सुख नहीं पाये॥१६-१७॥ कौन किसका पुत्र है, वा पिता है, या किसकी स्त्री है, सबको अपना कर्म से ही भूरि (बहुत) जन्म में सदा भ्रमण होता है॥१८॥

तीन लोक के कर्ता कहिये, बालि बध्यो बरियाई ।
एक समय ऐसी बनि आई, उनहूं अवसर पाई ॥
नारद मुनि के वदन छिपायो, कीन्हो कपि के रूपा ।
शिशुपाल के भुजा उपारेउ, आपु भये हरि ठूंठा (भूपा) ॥

लोकत्रयस्य कर्ता यः कथ्यते विष्णुरात्मवान् ।
रामरूपो ह्यसौ वालिं हतवान् यद्बलात्ततः ॥ १९ ॥
आगतोऽसौ पुनः कालः साधनं च तथाविधम् ।
येन तस्य फलं लब्धं कृष्णरूपेण तेन हि ॥ २० ॥
व्याधरूपस्य तस्यापि सोऽमिलत्समयस्तथा ।
येन प्रत्यर्पितं तस्य फलं कृष्णे निरङ्कुशम् ॥ २१ ॥
नारदस्य मुनेर्यच्च मायया छादितं मुखम् ।
कपिवच्च कृतं तेन कपीनां सहगोऽभवत् ॥ २२ ॥
"मायां कृत्वा महेशोऽपि संजातो मानुषस्ततः ।
माया क्वापि न कर्तव्या विद्वद्भिर्दोषदर्शिभिः" ॥ २३ ॥

आत्मवान् (जितेन्द्रिय) जो विष्णु तीन लोक के कर्ता कहाते हैं, वही रामचन्द्ररूप होकर जिससे बालि को बल से मारा, तिससे फिर वह काल आया, और तिस प्रकार के साधन प्राप्त हुए कि, जिससे उस कर्म का फल कृष्णरूप से उनने भी पाया ॥१९-२०॥ तथा व्याधरूप उस बालि को भी वह समय मिला कि, जिससे उस कर्म का फल को कृष्णरूप राम में निरंकुश प्रत्यर्पित (प्राप्त स्थापित) किया ॥२१॥ और जिससे नारदमुनि के मुखको माया से छिपा दिये, और वानर का मुखतुल्य कर दिये । तिस से वानर के साथ गमन वाले हुए ॥२२॥ अद्भुत रामायण का वचन है कि, माया करके महेश (विष्णु) भी मानुष हुए, तिससे दोषदर्शी विद्वानों को कहीं भी माया कर्तव्य नहीं है ॥२३॥ और जिससे वह विष्णु के अवतार

पारवती को बाँझ न कहिये, ईस न कहिय भिखारी।
कहहिं कबिर कर्ता के बातें, कर्मक बात नियारी ॥१०३॥

शिशुपालस्य बाहू च यस्मात्स व्यपरोपयत्।
भूत्वैव कुणिवत्तस्मादतिष्ठत् स स्वयं हरिः ॥ २४ ॥
गर्भजेन हि पुत्रेण विहीना पार्वती न च।
वन्ध्या ह्यासीत् स्वभावेन भिक्षुको वा महेश्वरः ॥ २५ ॥
किन्तु सर्वं कृतं ह्येतत् कर्मणैव बलीयसा।
अधिकारिजनेभ्योऽतः कर्तृभ्यः कर्मणां सदा ॥ २६ ॥
ईश्वरेभ्योऽपि सामर्थ्यं गतिश्च बलवत् स्थिरा।
सद्गुरुर्वक्त्यतस्तेषां वार्तां व्यवहृतिं तथा ॥ २७ ॥
जानीयुः सुजना येन ह्यधिकारो न मुक्तिदः।
ज्ञानेनैव तु कल्याणं तेषामप्यन्ततो भवेत् ॥ २८ ॥
अतः सर्वं विहायैव श्रीरामे रमणं कुरु।
तत्रैव रममाणस्य सर्वबन्धो निवर्तते ॥ २९ ॥

कृष्ण शिशुपाल के दो बाहु को अपनी शक्ति से विनष्ट किये, तिससे कुणि (कुकर) तुल्य होकर स्वयं वह हरि स्थिर हुए ॥२४॥

गर्भज पुत्र से रहित पार्वतीजी स्वभाव से ही वन्ध्या नहीं थी, न स्वभाव से ही महेश्वर (शिव) जी भिक्षुक थे ॥२५॥ किन्तु ये सब अतिबली कर्म ही से किया गया था, इससे कर्ता ईश्वर अधिकारी जनों से भी सदा ही कर्मों का सामर्थ्य बलवत् (अधिक) है, और गति स्थिर है, इसीसे सद्गुरु उन अधिकारी ईश्वरों की बात और व्यवहार को कहते हैं ॥२६-२७॥ कि जिससे मनुष्य समझें कि, अधिकार मुक्ति दाता नहीं है, इससे उन अधिकारियों का कल्याण भी अन्त में ज्ञान से ही होगा ॥२८॥ इससे सब छोड़ कर श्रीराम में रमण करो (राम को विचारो, भजो), उसी में रमने वाला का सब बन्ध निवृत्त हो जाता है ॥२९॥ क्योंकि तभी तक

" तावन्माया भवभयकरी पण्डितत्वं न यावत्,
तत् पाण्डित्यं पतसि न पुनर्येन संसारचक्रे।
यत्नं कुर्यादविरतमतः पण्डितत्वेऽमलात्म-
ज्ञानोदारे भयमितरथा नैव ते शान्तिमेति " ॥ ३० ॥

माया भवभय करने वाली होती है कि, जब तक पण्डिताई नहीं होती, और वह पण्डिताई है कि, जिससे तुम फिर संसारचक्र में नहीं गिरते हो, इससे अमल आत्मा के ज्ञान से उदार (महान-सरल) पण्डिताई में निरन्तर यत्न करना चाहिये। अन्यथा, तेरा भय कभी शान्ति नहीं पायेगा। योगवासिष्ठ प्र० ६। २। १४२। ४६ ॥ का यह वचन है ॥३०॥

अक्षरार्थ—अपना कर्म किसी से मेटा नहीं जा सकता (भोगने बिना उसकी निवृत्ति नहीं की जा सकती)। यदि किसी प्रबल कर्म के भोग में करोड़ों युग सिराईं (बीत) जाय, तो भी भोगे बिना कर्म के लिखल (लेख) मिटे तो कैसे मिटे (अवश्य भोग होना कैसे छूटे)। इसीसे लिखा है कि- (महेश्वरो ब्रह्महत्याभयाद्यत्र यतस्ततः सस्नौ तीर्थेषु कस्माच्च इतरो मुच्यते कथम्। अम्बरीषसुतां हृत्वा पर्वतान्नारदात्तथा। सीताहरणमापेदे रामोऽन्यो मुच्यते कथम् ॥ ब्रह्मापि शिरसश्छेदं कामयित्वा सुतामगात्। इन्द्रश्चन्द्रो रविर्विष्णुप्रमुखाः प्राप्नुयुः कृतम् ॥ स्कन्द पु. महेश्वर एवं-कौमारिक खं. अ. ४५।८४। इत्यादि।

कर्मरेख न मेटने से ही, जो रघुनाथ ने जिस सीता को विवाही, और जिस विवाह में सूर्य देव मन्त्र लिखकर दिये। गुरु वसिष्ठजी विद्वानों से मिलकर लग्न सोचा, शोचवाया। तौभी राम वा सीता एक पल भी संच (सुख आराम) नहीं किये। लिखा है कि, (कर्माण्यत्र प्रधानानि सम्यगृक्षे शुभेग्रहे। वसिष्ठकृतलग्नापि जानकी दुःभाजनम् ॥ गरुडपु० आ० अ० ११३।२२) यहां कर्म हीं प्रधान हैं, इसीसे अच्छा ऋक्ष (नक्षत्र) शुभ ग्रह में वसिष्ठ कृत लग्नवाली जानकी दुःख का पात्र हुई।

और जिस रामचन्द्र को तीन लोक के कर्ता कहते हैं, जो वालि को बरियाई (बलात्कार) से बध किये। एक ऐसी अवस्थासमय उनके लिये भी बनकर आई कि जिससे उन्हें भी उसका फल भोगने का अवसर मिला, और वालि को फल देनेका अवसर मिला। और अम्बरीष राजा की कन्या से विवाह के लिये सुन्दरता को चाहनेवाला नारद मुनि के वदन (मुख) को विष्णुदेव ने माया से छिपाय दिये, और कपि (वानर) तुल्य कर दिये, और कृष्णरूप में वही विष्णु चतुर्भुज शिशुपाल के दो भुजा को मायाबल से उखाड़ दिये, जिससे आप हरि (विष्णु) भी ठूंठ (विकृत हाथवाला), कुरूप हो गये।

ब्रह्मवैवर्तपु० गणेश खं० में कथा है कि, विवाह के बाद रतिपरायण शिवजी हुए तब विष्णु भगवान् के कहने से देवलोक विघ्न किये, जिससे भूमि में गिरा हुवा शिवजी के वीर्य से कार्तिकेय हुए। दूसरी बार वृद्ध ब्राह्मण रूप से विष्णु भगवान् विघ्न किये और आसन पर वीर्य गिरा, उससे विष्णु के अंश रूप गणेश हुए। और अ० ५०। में विष्णु भगवान् वृद्ध ब्राह्मण रूप से पार्वतीजी से कहा है कि- (क्षुत्तृड्भ्यां पीड़ितो मातर्वृद्धोऽहं शरणागतः। सांप्रतं तव वन्ध्याया अनाथः पुत्र एव च।) हे मातः भूख पियास से पीडित वृद्ध मैं तेरे शरण में इस समय प्राप्त हूं और वन्ध्या रूप तुम्हारा मैं अनाथ पुत्र ही हूं। इत्यादि वचन से सिद्ध पार्वती को स्वभाव से वन्ध्या नहीं कहना चाहिये, न ईश (शिव) को भिक्षुक कहना चाहिये। क्योंकि कबीर साहब कर्ताओं (अधिकारियों-प्रजापतियों) की बातें कहते हैं कि, इन सब से भी कर्म की बात न्यारी (विलक्षण बली) है, इससे कर्माधीन पार्वती वन्ध्या रही, शिव भिक्षुक रहे। गरुड पु. पूर्व खं. आचारकांड का वचन है कि, (ब्रह्मा येन कुलालवन्नियमितो ब्रह्माण्ड-भाण्डोदरे, विष्णुर्येन दशावतारगहने क्षिप्तो महासंकटे। रुद्रो येन कपाल-पाणिपुटके भिक्षाटनं कारितः, सूर्यो भ्राम्यति नित्यमेव गगने तस्मै नमः कर्मणे॥) ॥१०३॥

प्रथम कहा गया है कि, कोटि युग बीतने पर भी कर्म का रेख नहीं मिटता है, और पीछे पश्चात्ताप करोगे कि, जब इस घर में से दूसरे घर में जावोगे, इत्यादि। सो सुन कर शंका हुई कि, यदि कर्मरेख नहीं मिटता है, तो उत्तम शरीर के लिये पुण्य कर्म ही करना चाहिये कि, जिससे सदा सुख हो, पश्चात्ताप का अवसर ही नहीं आवे; इससे आत्मविचार वैराग्यादि के कोई जरूरत नहीं है। लिखा है कि, (अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति) चातुर्मास्य यज्ञ करने वाला का अक्षयपुण्य होता है, इत्यादि। तब इस श्रुति का अवश्य फलदातृत्वादि के तात्पर्य होने से कहते हैं कि—

शब्द ॥ १०४ ॥

तन धरि सुखिया कोइ न देखा, जो देखा सो दुखिया।
उदय अस्त की बात कहत हैं, सोऊ तो भौ दुखिया॥

कर्मणोऽवश्यमेवात्र भोक्तव्यत्वेन केऽपि नो।
दृश्यन्ते देहिनो देहं गृहीत्वा सुखभागिनः॥ ३१॥
किन्तु सर्वे प्रदृश्यन्ते महादुःखान्वितास्तथा।
सुखलेशेन युक्ताश्च मोहात् तं मन्वते बहुम्॥ ३२॥
सृष्टिप्रलययोर्यश्चोदयास्ताचलयोरपि।
वार्तां वदति शास्त्राद्यैर्दुःखितः सोऽपि दृश्यते॥३३॥
जगतां सर्वमार्गेषु दुःखवन्तोऽभिमानिनः।
संसारिणः प्रदृश्यन्ते गृहस्था वेषिणस्तथा॥ ३४॥

कर्म की यहाँ अवश्य भोक्तव्यता से कोई भी देहधारी देह का ग्रहण करके सुख का भागी नही देखा जाता है ॥३१॥ किन्तु सब महा दुःख से संबन्धवाला तथा सुख के लेश से युक्त दिखते हैं; परन्तु उस सुख लेश को मोह से बहुत मानते हैं ॥३२॥ जो विद्वान् सृष्टि प्रलय की, उदयाचल अस्ताचल की बात को शास्त्रादि द्वारा कहता है, सो भी दुःखी देखा जाता है ॥३३॥ संसार के सभी मार्गों में गृहस्थ तथा वेषधारी

बाटे बाटे सब जग दुखिया, क्या गिरही बैरागी ।
शुकाचार्य दुख ही के कारण, गर्भ ही माया त्यागी ॥
योगी जंगम ते अति दुखिया, तपसी कहँ दुख दूना ।
आशा तृष्णा सब घट व्यापे, कोइ महल नहिं सूना ॥

गृहस्थाद्याश्रमात् किं स्यात् किं विरागाश्रमात्तथा ।
देहवाञ्जायते दुःखी विदेहः सुखभाग् भवेत् ॥ ३५ ॥
अस्य दुःखस्य दाहार्थं शुकाऽऽचार्यो विरक्तधीः ।
गर्भ एवाखिलां मायां त्यक्त्वाऽदेहोऽभवत्स्वयम् ॥ ३६ ॥
देहाभिमानसत्त्वे हि योगिनो जङ्गमास्तथा ।
अतिदुःखभराऽऽक्रान्ता दृश्यन्तेऽत्र विमोहतः ॥ ३७ ॥
ततोऽपि द्विगुणं दुःखं दृश्यते तु तपस्विषु ।
आशातृष्णादयो यस्माद् व्याप्नुवन्ति समन्ततः ॥३८॥
केषाञ्चिन्नैव चाज्ञानां हृद्देहाख्यगृहाणि तैः ।
विरिक्तानीह दृश्यन्ते दुःखिनोऽतो भवन्ति ते ॥३९॥

संसारी अभिमानी लोक दुःखवाले दिखते हैं ॥३४॥ गृहस्थादि आश्रम से क्या होगा, तथा विरागाश्रम से क्या होगा ? देहवाला दुःखी होता है। विदेह सुखभागी होगा ॥३५॥ इस दुःख का दाह (नाश) के लिये विरक्त बुद्धिवाला शुकाऽऽचार्य ने गर्भ ही में सब माया को त्यागकर स्वयं अदेह (मुक्त) हो गये ॥३६॥

देहाभिमान के रहते योगी तथा जंगम भी यहाँ विमोह से, अत्यन्त दुःख के भर (अतिशय पूर्णता) से आक्रान्त (पराजित) दीखते हैं ॥३७॥ तिससे भी दो गुणा दुःख तपस्वियों में दीखता है, जिससे आशातृष्णादि समन्ततः (सर्वतः) व्याप्त होते हैं ॥३८॥ किसी भी अज्ञानी के हृदय देह रूप गृह उन आशा आदि कों से रहित यहाँ नहीं दीखते हैं, इससे वे दुःखी

साँच कहो तो सब जग खीझे, झूठ कहल नहिं जाई ।
कहहिं कबीर तेइ भौ दुखिया, जिन यह राह चलाई ॥१०४॥

इत्थं हि कथिते सत्ये क्रुध्यन्ति सर्वदेहिनः ।
असत्यं नैव वक्तुं च शक्यतेऽत्र मया क्वचित् ॥ ४० ॥
प्रवर्तिता हि यैर्लोके काम्यकर्मादिलक्षणाः ।
मार्गास्ते ह्यभवन् खिन्ना अपि विश्वप्रवर्तकाः ॥४१॥१०४॥

होते हैं ॥३९॥ इस प्रकार सत्य कहने पर सब देही क्रुद्ध होते हैं, परन्तु मुझ से यहाँ कहीं असत्य कहा नहीं जा सकता ॥४०॥ जिन लोकों से लोक में काम्यकर्मादि स्वरूप मार्ग प्रवृत्त (स्थापित) कराये गये, वे विश्व के प्रवर्तक भी खिन्न (दुःखी) हुए अन्य देही की तो बात ही क्या है ॥४१॥

अक्षरार्थ-(न वै सशरीरस्य सतः प्रियाऽप्रियास्याम् । छा. ८।१२।१) शरीर सहित जीवात्मा सुख दुःख से व्याप्त रहता है, इत्यादि शास्त्र और प्रत्यक्षादि से भी देह धरने पर कोई सुखिया (सुखी) नहीं देखा जाता है, किन्तु जो देहाभिमानी देही दीखता है, सो दुखिया ही दीखता है। जो उदय अस्त (सृष्टि प्रलय, उदयाचल अस्ताचल) की बातों को कहता है सो भी दुखिया हुवा है। और बाटे २ (कर्मोपासना सम्प्रदाय वर्णाश्रम रूप सब मार्गों में) सब संसारी दुःखी हैं, क्या गृहस्थ क्या वैरागी ? सब दुःखी हैं। इस दुःख ही के कारण (दुःख होने से उसकी निवृत्ति के लिये) शुकदेवाचार्य गर्भ से ही माया को त्याग दिया (देहाभिमानादि रहित हो गये) इत्यादि ।

माया का त्याग विना, योगी जंगम वेषधारी भी अति दुःखी हैं। शरीरादि के अभिमानी तपस्वियों को इनसे दूना (द्विगुणा) दुःख है, तिस में कारण है कि, आशा तृष्णा सब के घट (देह) में व्याप्त है। कोई महल (देह) इन आशा आदिकों से शून्य (रहित) नहीं है। परन्तु इस सत्य वचन के कहने से सब संसारी खीझते (क्रुद्ध होते) हैं, और

मुझ से झूठ नहीं कहा जाता है। साहब का कहना है कि, वे ही लोक दुःखी हुए कि जिन्हों ने आशा तृष्णादिमय इस संसार के बहुविध मार्ग चलाये, या इस मार्ग में चले चलाये ॥१०४॥

पूर्व शब्द में लौकिक प्रवृत्ति से देहाभिमानी के दुःखों का वर्णन हुवा है, सो प्रवृत्ति अभिमानादि सद्गुरु सत्यात्मा स्वरूप खसम (रक्षक स्वामी ईश्वर) की प्राप्ति विना ही होते हैं, इससे कहते हैं कि—

शब्द ॥ १०५ ॥

खसम बिनु तेलिक बैल भयो।
बैठत नाहिं साधु के संगति, नाधे जन्म गयो ॥

आत्मरामं गुरुं चैव रक्षकं स्वामिनं विना।
तैलिकस्य वृषैस्तुल्या यूयं जाताः स्थ जन्तवः ॥४२॥
यथा तद्बलिवर्दानां गृहे क्रोशा ह्यनन्तकाः।
भ्रमन्ति च सदा तत्र बद्धाक्षाश्च तथा जनाः ॥४३॥
भ्राम्यन्ति लोकयोः शश्वद्देशे परिमिते तथा।
न कदाचन सत्तत्त्वे यान्ति शुद्धे चिदात्मनि ॥४४॥
आसक्त्या चाभिमानाद्यैः सत्सङ्गे न कदाचन।
तिष्ठन्ति च ततो नष्टं वर्ष्मोऽप्यत्रत्य कर्मसु ॥४५॥

सर्वात्मा राम और सद्गुरु रूप रक्षक स्वामी के विना, हे प्राणियो! तुम सब तेली के बैल तुल्य हुए हो ॥४२॥ जैसे उस तेली के बैलों को घर में ही अनन्त कोश मार्ग हैं। और बँधे आँख वाला हो कर सदा वहां भ्रमते हैं, वैसे ही मनुष्य भी लोक परलोक में तथा परिमित देश में शश्वत् (सदा) भ्रमते हैं, कभी शुद्ध चेतनात्मा रूप विभु सत् स्वरूप में नहीं जाते हैं ॥४३–४४॥ आसक्ति और अभिमानादि से कभी सत्संग

बहि बहि मरहु पचहु निःस्वारथ, यम के दण्ड सह्यो।
धन दारा सुत राज काज हित, माथे भार गह्यो ॥

काम्यकर्मादियुक्तानां वर्ष्मेदमगमद् यदि।
तदा जन्माऽफलं जातं मोक्षसाधनमुत्तमम् ॥४६॥
वाहं वाहं महाभारं भवद्भि र्म्रियते मुहुः।
सत्यस्वार्थं विना मोहान्मिथ्यास्वार्थस्य सिद्धये ॥४७॥
सत्यस्याऽऽप्तिं विना चाऽत्र यमदण्डोऽतिदुःसहः।
सह्यते स्म भवद्भिश्च प्राणिभिश्चैव सर्वदा ॥४८॥
अहो तथापि मोहेन धनदारादिसिद्धये।
सुतार्थं राजकार्यार्थं भारो वै गृह्यते महान् ॥४९॥
तं गृहीत्वा च धावन्तो लभन्ते विश्रमं नहि।
अहो तथापि सर्वेऽमी भारायैव समुद्यताः ॥५०॥
वर्तन्ते नतु मोक्षाय न सुखाय हिताय च।
यतन्ते मानवा मूढा मोहेन विवशीकृताः ॥५१॥

में नहीं स्थिर होते हैं, जिससे शरीर भी यहाँ के कर्मों में नष्ट होता है ॥४५॥ यदि काम्य कर्मयुक्त पुरुष का यह देह चल गया (नष्ट हुवा) तो मोक्ष का उत्तम साधन जन्म निष्फल ही गया ॥४६॥

महा भार को ढो २ कर सत्य स्वार्थ के विना मोह से मिथ्या स्वार्थ की सिद्धि के लिये आप सब बार २ मरण पाते हो ॥४७॥ और सत्य की प्राप्ति विना ही अति दुःख से सहने योग्य यमदण्ड को आप सब तथा सब प्राणी सदा सहते हैं ॥४८॥ आश्चर्य है कि, तौभी धन स्त्रीआदि की सिद्धि के लिये, पुत्र के लिये, राजकार्य के लिये, मोह से महान् भार का ग्रहण किया जाता है ॥४९॥ उस भार को ग्रहण करके धावते हुए लोक विश्राम नहीं पाते हैं। तौ भी आश्चर्य है कि ये सब लोक भार के ही लिये समुद्यत (तैयार) हैं और मोह से वश किये गये मूढ मनुष्य, मोक्ष सुख हित के लिये यतन नहीं करते है ॥५०-५१॥

खसमहिं छोड़ि विषय रंग राच्यो, पापक बीज बयो ।
झूठ मुक्ति नल आश जिवन की, प्रेतक जूठ खयो ॥
लख चौरासी जीव योनि महँ, सायर जात बह्यो ।
कहहिं कबीर सुनहु हो सन्तो, श्वानक पूँछ गह्यो ॥१०५॥

स्वामिनं सद्गुरुं त्यक्त्वा रक्तैस्तैर्विषयेष्वथ ।
तत्प्रेमादि हि पापानां बीजमुप्तं हृदि स्वके ॥५२॥
पापबीजेन मुक्तिर्हि मिथ्या भाति तथा हृदि ।
आशा जागर्ति नित्यं सा जीवनस्य धनस्य च ॥५३॥
आशाद्यैश्च पराभूताः कामाद्यैर्मोहितास्तथा ।
प्रेतानामपि चोच्छिष्टं भुक्तवन्तोऽर्थसिद्धये ॥५४॥
कर्मणा तेन कामाद्यैर्वेदाष्टलक्षयोनिषु ।
पतिताः स्थ समुद्रेषु निरुह्यन्ते च तैः सदा ॥५५॥
सद्गुरुश्चाह भोः साधो ! श्रूयतामेतदद्भुतम् ।
यदद्यत्वेऽपि नैते हि गृह्णन्ति सुतरिं दृढाम् ॥ ५६ ॥

और स्वामी सद्गुरु को त्याग कर, विषयों में अनुरक्त उन लोकों ने, विषयों में प्रेमादि रूप ही पापों का बीज अपने हृदय में बोया है ।॥५२॥ और उस पाप बीज से ही मुक्ति मिथ्या प्रतीत होती है, तथा हृदय में जीवन और धन की वह आशा नित्य जागती (बढती) है ॥५३॥ आशा आदि से पराजित, तथा कामादि से मोहित तुम लोकों ने अर्थ की सिद्धि के लिये प्रेतों का भी जूठ खाये हो ॥५४॥ तिस कर्म से और कामादि से चौरासी लाख योनि समुद्रों में पतित हो और उन से सदा निरन्तर बहाये जाते हो ॥५५॥ सद्गुरु कहते हैं कि, हे साधो ! यह अद्भुत (आश्चर्य) सुनो कि जो आज वर्तमान दिन की सत्ता रहते भी ये लोक ज्ञान विज्ञानादि रूप दृढ सुन्दर नौका का ग्रहण नहीं करते हैं ॥५६॥

कुदेवादिशुनां किन्तु पुच्छं गृह्णन्ति सादरम् ।
काम्यासत्कर्मभिश्चैव वाञ्छन्ति तरितुं भवम् ॥५७॥१०५॥

किन्तु संसार दुःखसागर से पार होने के लिये कुदेवादि रूप कुत्ता के पुच्छ (शरण) को आदर पूर्वक पकड़ते हैं, और सकाम असत् कर्मों से ही संसार को तरना चाहते हैं ॥५७॥

अक्षरार्थ–हे मनुष्यो ! खसम (रक्षक सद्गुरु सर्वात्माराम स्वामी) की प्राप्ति विनु, बद्धनेत्र घर में परवश घूमनेवाला तेली के बैल समान हुए हो । कभी साधु की सङ्गति में भी नहीं बैठते हो, इससे काम्यकर्मादि कोल्हु में नाधे (जोते) और बहते ही में तेरा जन्म गया ।

लौकिक व्यवहारों में बह २ (चल २) कर मरते हो, और सत्य स्वार्थ विना ही पचते (पीडित होते) हो, नष्ट होते हो, ज्ञानादि विना कठिन यम के दण्डों को सहते हो । तौ भी धन स्त्री पुत्र राज कार्य के वास्ते ही अपने शिर पर भार उठाये हो, और सद्विचार सत् संगादि नहीं करते हो ।

और तुमने उक्त खसम को छोड़ कर विषय के रंग में राच्यो (विषयानन्द में प्रेम किया), सोई पाप का बीज बोया, उससे मुक्ति झूठप्रतीत होने लगी, और मनुष्य को जीवनादि की आशा बढने लगी, या पाप के बीज बोने से स्वर्गादि रूप झूठी मुक्ति और देवादि रूप से जीवन की आशा होने लगी, जिससे तुमने प्रेतों का भी जूठ खाया, भुक्तोपभुक्त विषयों को भोगा, सत्य अभुक्त मोक्ष सुख का मर्म नहीं जाना । उसी कुकर्मादि से चौरासी लाख योनि रूप सागर (समुद्र) में जीव सब बहा जाता है, और इस अवस्था में भी कुदेव प्रेतादि रूप कुत्तों के पूंछ पकड़ कर संसार पार होना चाहता है, सत्यात्म विचारादि दृढ नाव का शरण नहीं लेता है, इत्यादि ॥१०५॥

सद्गुरु सत्यात्मा की प्राप्ति सत्संगादि विना संसार सागर में जीव बहता है, इत्यादि पूर्व वर्णन को सुन कर, किसी नामोपासक श्रद्धालु को शंका उपस्थित हुई कि एक बार रामादि नाम के लेने (कहने) मात्र से अजामिलादि मुक्त हो गये। द्वेषादि से नाम लेनेवाले कितने सद्गति पाये हैं, इससे सत्यात्मा की प्राप्ति आदि की कोई जरूरत नहीं है। तब कहते हैं कि—

शब्द ॥ १०६ ॥

पण्डित बाद बदै सो झूठा।
राम कहे जु जगत गति पावै, खांड़ कहे मुख मीठा ॥
पावक कहे अंग जो दाहे, जल कहे तृषा बुझाई।
भोजन कहे भूख जो भागै, तो दुनिया तरि जाई ॥

अर्थवादान् विवादांश्च नाम्नोऽपि विवदन्ति ये।
कामात्मानः प्रसक्ताश्च भोगैश्वर्यादिमोहिताः ॥ ५८ ॥
असत्यभाषिणस्तेऽतस्तत्रेत्थं वित्त पण्डिताः।
यदि रामोक्तिमात्रेण सन्मुक्तिर्लभ्यते जनैः।
तदा खण्डादिवादेन मुखे मधुरता भवेत् ॥ ५९ ॥
अग्नेश्च नामतो दाहो यदि ह्यङ्गे भवेत्तथा।
जलस्य कथनादेव विनश्येच्च तृषा यदि ॥ ६० ॥

जो कामी, विषयासक्त, भोग ऐश्वर्यादि से मोहित लोक नाम के अर्थवादों (स्तुति वचनों) को और विरुद्ध वादों को विशेष रूप से कहते हैं ॥५८॥ वे लोक असत्य भाषी हैं, इससे हे पण्डितो! वहाँ इस प्रकार तुम सब समझो कि, यदि राम ऐसा कथन मात्र से मनुष्य सच्ची मुक्ति पाते हैं, तो खांड आदि के कथन से मुख में मधुरता होनी चाहिये ॥५९॥ तथा अग्नि के नाम से यदि अङ्ग (देह) में दाह होय, तथा जल के कथन से ही यदि तृषा (पियासा) नष्ट हो जाय ॥६०॥ और अन्न के कहने ही

नल के संग सुगा हरि बोले, हरि प्रताप नहिं जानै।
जो कबहुं उड़ि जाय जँगल महँ, स्वपनहुं सुरति न आनै॥
बिनु देखे बिनु अरस परश बिनु, नाम लिये का होइ।
धन धन कहै धनिक जो होवै, निरधन रहै न कोई॥

अन्नस्य च कथामात्राद् बुभुक्षाविगमो भवेत्।
तद्वत्ते नाममात्रेण मुच्येरन् देहिनः खलु॥ ६१॥
ज्ञानादेव हि कैवल्यं नान्यः पन्था विमुक्तये।
अतो यत्नेन बोद्धव्यं रामभक्त्या निजं पदम्॥ ६२॥
काम्यकर्मपरित्यागो विरागश्च शमादिकम्।
अमानितादिकं सर्वमभ्यसेज्ज्ञानसाधनम्॥ ६३॥
मनुष्याणां हि संगत्या कीरोऽपि भाषते हरिम्।
हरेर्नैव प्रतापं स किन्तु जानाति कश्चन॥ ६४॥
अत एव कदाचित्स चेदुड्डीय वनं व्रजेत्।
न संस्मरति तत्रासौ स्वप्नेष्वपि हरिं तदा॥ ६५॥

से भूख मिट जाय तो ये देहधारी भी नाम मात्र से हीं मुक्त हो जाय॥६१॥ ज्ञान से ही कैवल्य (मोक्ष) होता है, ज्ञान से अन्य मार्ग अज्ञानमय बन्ध से मुक्ति के लिये नहीं है, इससे श्रवणादि यत्न और राम भक्ति द्वारा निजस्वरूप स्थान जानने योग्य है॥६२॥ काम्य कर्म का परित्याग होने पर, शम दमादि और अमानित्व अदम्भित्वादि सब ज्ञान के साधनों का अभ्यास करे॥६३॥

मनुष्यों की संगति से कीर (सूगा) भी हरि का भाषण (कथन) करता है, किन्तु वह हरि के किसी भी प्रताप (प्रभाव-तेज) को नहीं जानता है॥६४॥ इसीसे वह जब कभी उड कर वन में जाता है, तो वहाँ वह स्वप्नों में भी हरि का संस्मरण नहीं करता है॥६५॥ तैसे ही

साँची नेह विषय माया सो, हरि भक्तन की फांसी।
कहहिं कबिर एक राम भजे बिनु, बाँधे यम पुर जासी ॥१८६॥

तथैव मानवो यो हि संगत्या भाषते हरिम्।
प्रतापं नैव चेद्वेत्ति स हरिं भजते किमु ॥ ६६ ॥
प्रत्यक्षेण विना तस्य स्पर्शसांमुख्यमन्तरा।
नाममात्राद् भवेद् किं तद्वते ज्ञानान्न मुक्तता ॥ ६७ ॥
धनस्य नाममात्रेण धनिकश्चेद् भवेज्जनः।
तदा न निर्धनः कोऽपि भवेद् भुवाद् भयावहे ॥ ६८ ॥
सत्यमेतद् बुधा वित्त मायां च विषयांस्तथा।
सत्यत्वेन विनिश्चित्य स्नेहो या क्रियतेऽनृते ॥६९॥
स एव हरिभक्तानां पाशो भवति बन्धदः।
तस्य त्यागेन सद्भक्त्या ज्ञानान्मुक्ता भवन्ति ते ॥ ७० ॥
अत एव तथैकस्य रामस्य भजनं विना।
जना यमपुरे याथ यूयं तद् भाषते गुरुः ॥ ७१ ॥

जो मनुष्य भी संगादि से हरि कहता है, और यदि प्रताप को नहीं जानता है, तो वह हरि को क्या भजता है ॥६६॥ तिस हरि का प्रत्यक्ष के बिना और हृदय से प्रेमादि रूप स्पर्श संमुखता विना नाम मात्र से क्या होगा, तिससे यह निश्चित बात है कि, ज्ञान के विना मुक्तता नहीं होती ॥६७॥ यदि धन के नाम मात्र से मनुष्य धनवान् हो जाय, तो भयावह संसार में कोई निर्धन नहीं होवे ॥६८॥

और हे बुध! तुम सब यह वचन सत्य समझो कि, माया तथा विषयों को सत्य रूप से निश्चय करके जो अनृत (मिथ्या) पदार्थ में स्नेह किया जाता है ॥६९॥ वह स्नेह ही हरिभक्तों को भी बन्धन देनेवाला पाश (बन्धन-जाल) रूप होता है, इससे वे हरिभक्त भी उस स्नेह का त्याग से सद्भक्ति से ज्ञान पाकर ज्ञान से मुक्त होते हैं ॥७०॥ इसीसे तिस प्रकार एक राम के भजन विना, हे मनुष्यो! तुम सब

रामभक्तिं विना नैव शमादिमन्तरा नहि ।
कामत्यागं विना नैव ज्ञानं कुत्रापि लभ्यते ॥ ७२ ॥
" अविद्याया नचोच्छित्तौ ज्ञानादन्यदपेक्षते ।
ज्ञानोत्पत्तौ नचैवान्यच्छमादिभ्यो ह्यपेक्षते ॥ ७३ ॥
भूमौ यथाऽऽहितं लौहं भूमित्वमुपगच्छति ।
मनोऽक्षरे धृतं तद्वदक्षरत्वं निगच्छति ॥ ७४ ॥
तावत्तरङ्गत्वमयं करोति, जीवः स्वसंसारमहासमुद्रे ।
यावन्न जानाति परं स्वभावं, निरामयं तन्मयतामुपेतः' ॥७५॥१०६॥

इति ह० शब्दसुधायां रामप्राप्तिं विना देहिनां दुःखकर्मवश्यतादिवर्णनं नामैकचत्वारिंशत्तमस्तरङ्गः ॥ ४१ ॥

यमपुर में जाते हो, उसका सद्गुरु वर्णन करते हैं ॥७१॥ राम भक्ति विना कहीं भी ज्ञान नहीं मिलता है, न शमदमादि विना, न काम का त्याग बिना मिलता है ॥७२॥ बृहदारण्यक. वार्तिक, १।३।९८। का वचन है कि, अविद्या की निवृत्ति में ज्ञान से अन्य की अपेक्षा (जरूरत) नहीं है, और ज्ञान की उत्पत्ति में शमदमादि से अन्य की अपेक्षा नहीं है ॥७३॥ वृ. वा. ४।४।७२६ का वचन है कि, जैसे भूमि में गाडा हुआ लोहा कुछ दिन में भूमि रूप हो जाता है, तैसे ही अक्षर (अविनाशी) ब्रह्मात्मा में धरा हुवा मन अक्षर स्वरूप होता है ॥७४॥ योगवासिष्ठ प्र. ६।२।८२ २५ का वचन है कि, यह जीव अपना अज्ञान से रचित संसार रूप महासमुद्र में तब तक जन्मादि रूप तरङ्गत्व को सिद्ध करता है कि, जब तक तन्मयता को प्राप्त होकर निरामय परब्रह्मरूप अपना स्वरूप नहीं जानता है ॥७५॥

अक्षरार्थ—हे पण्डित ! बाद (अर्थवाद-स्तुति आदि वाक्य) मात्र को जो वदै (कहै) सो झूठा है, राम कहे (रामादि शब्द के उच्चारण) से ही यदि संसारी गति (मुक्ति) पावे, तो खांडादि कहने से भी मुख में मीठाखादि होना चाहिये । यदि पावक कहने से देह जले, जल कहने से

तृषा (पियास) शान्त होय, भोजन कहने से भूख भग जाय तो माना जा सकता है कि, रामादि नाम के कहने से संसारी तर जायगा। भजन से मुक्ति होती है, सो भजन कहना मात्र नहीं है, किन्तु तन मन आदि से सेवन रूप है, सो सब संसारी से हो नहीं सकता। और वस्तुतः (यस्यै देवतायै हविर्गृहीतं स्यात्तां मनसा ध्यायन् वषट् कुर्यात्। गोपथ ब्रा० ३ ४) इत्यादि बचनों के अनुसार नाम जपादि सभी स्थानों में ध्यानादि की आवश्यता है, यह भाव है। और अजामिलादि तो प्रथम के सत्पुरुष ही थें, किसी प्रारब्ध वश थोड़ी देर के लिये कुमार्ग में प्रवृत्त हुए, सन्तदर्शनादि से पाप की निवृत्ति होने से सुमार्गी हो गये, मुक्त नहीं हुए। द्वेषादि से नाम लेनेवाले सब भी प्रथम के भक्त थे, इत्यादि॥

मनुष्यों के संग से सुवा भी हरि २ बोलता है, परन्तु हरि का प्रताप को नहीं जानता है; इसीसे जब कभी जंगल में उड जाता है, तो स्वप्न में हरि की सुरति (स्मरण) को दिल में नहीं आनता (लाता) है। प्रतापादि जाने विना नाम लेने वालो की यही दशा होती है। देखे और अरस परश (संग स्पर्श) आदि के विना नाम लेने मात्र से क्या सच्चा फल हो सकता है। यदि धन २ कहने से धनी हुआ जाय तो कोई निर्धन नहीं रहे। यद्यपि (शब्दे मारा गिर पडा, शब्दे छोडा राज। साखी ९) इत्यादि वचनों के अनुसार शब्दों में भी अद्भुत शक्ति है। इससे नाम मात्र से भी श्रद्धालु सच्चा सच्चरित्र भक्त को अवश्य भक्ति आदि के अनुसार फल प्राप्त होता है, तथापि यहाँ मोक्ष के लिये विषयासक्ति का त्याग और प्रेम परतत्त्व के दर्शनादि पर्यन्त यत्नों के विधान में तात्पर्य है।

विषयादिरूप माया में सत्य बुद्धि से सत्य प्रेम ही हरि भक्तो के लिये फांसी है, इससे उस स्नेह का त्याग पूर्वक एक शुद्ध राम को भजने बिना बाँधा हुवा यमपुर में जाते हो। भाव है कि अजामिल की शुभ गति उस साधु की कृपा से हुई, कि जो पुत्र का नाम नारायण

धरवाये थे। और प्रथम के कर्मादि शुभ थे कि, जिससे साधु की कृपा हुई, अन्त में नारायण कह सका इत्यादि। और रावणादि तो जन्मान्तर के हरिदास ही थे, केवल शापभोग के लिये उन शरीरों का धारण किये थे। इससे इनके दृष्टान्त से नाम मात्र से सुगति समझना उचित नहीं है, इत्यादि ॥१०६॥

मायाकृतभ्रमणतरणार्थोपदेश प्र० ४२

प्रथम कहा गया है कि, राम कहने से मुक्ति हो तो खांड कहने से मुख मीठा होना चाहिये, इत्यादि। सो सुन कर शंका हुई, कि जैसे खांड कहने से मुख मीठा नहीं होता है, तैसे ही खांड के विचार ज्ञान से भी मुख मीठा नहीं होता, किन्तु खाने से मुख मीठा होता है, अग्नि के संग से अंग जलता है, पानी के पीने से पियास जाता है, इत्यादि। और असंग ब्रह्मात्मा खाने आदि योग्य नहीं है, इससे इन दृष्टान्तों से ही उसके ज्ञानादि से भी मुक्ति नहीं सिद्ध हो सकती, इत्यादि। तब संसारबन्धन में अविवेक अज्ञान जन्यता, और उस अविवेक अज्ञान में विवेक विज्ञानादि से नाश्यता के आशय से कहते हैं कि—

शब्द ॥ १०७ ॥

है कोइ गुरु ज्ञानि जगत में, उलटी वेदो बूझै।
पानी में आग लागी, अन्धहिं आँखि न सूझै॥

गुरोर्लब्धावबोधोऽत्र ज्ञानी कोऽपि स विद्यते।
वेद्यान् यो वैपरीत्येन जानाति विश्ववर्तिनः ॥ १ ॥

गुरु से प्राप्त ज्ञान वाला वह ज्ञानी यहाँ कोई विरला ही है कि, जो विश्ववर्ती वेद्य (ज्ञेय) पदार्थों को स्वाभाविक प्रतीयमान स्वरूप से उलटा

गाई तो नाहर को खैलो, हरिणी खैलो चीता ।
कागा नगरे फांदि के, बटेरन बाज जीता ॥

मनोवृत्त्यात्मकं ज्ञानं परावृत्य भवाच्च यः ।
वेदानुद्घाट्य सद् वेत्ति गुरुर्ज्ञानी स कथ्यते ॥ २॥

शान्ते शुद्धे परानन्दे ह्यज्ञानात्तापलक्षणाः ।
अग्नयो हि प्रतीयन्ते वेद्ये तद्विपरीतता ॥ ३ ॥

निरुद्धाक्षश्च यो बाह्याद्वेदसिद्धान्तविन्मुनिः ।
ज्ञानविज्ञाननेत्राभ्यां तत्त्वं स एव पश्यति ॥ ४ ॥

किञ्चेन्द्रियगणैः शून्यो योऽचक्षुर्वर्तते शिवः ।
स एव निखिलं विश्वं नेत्रैः पश्यति सर्वदा ॥ ५ ॥

मनोमायात्मकौ गावौ पुरुषव्याघ्रसत्तमम् ।
खादतः स्वाविवेकेन विवेके त्वन्यथा भवेत् ॥ ६ ॥

ज्ञानिनां हि मनः कालं करालमपि बाधते ।
अन्यबाधे कथा काऽस्ति सर्वानात्मविबाधनात् ॥ ७ ॥

ही जानता है ॥ १ ॥ और मन की वृत्तिरूप ज्ञान को संसार से लौटा कर, और वेदों का उद्घाटन (विवरण) करके जो सत् तत्त्व को जानता है, सो ज्ञानी गुरु कहा जाता है ॥ २ ॥ शान्त (निर्विकार) शुद्ध उत्तमानन्द स्वरूप में अज्ञानरूप स्वभाव से तापरूप अग्नि प्रतीत होती हैं, सो भ्रम ज्ञान है । वेद्य (जानने योग्य) सत्यात्मा में तापों से विपरीतता है ॥३॥ बाहर के पदार्थों से इन्द्रियों का निरोधवाला, वेद का सिद्धान्त को जानने वाला जो मुनि (मननशील) हैं, सोई ज्ञान विज्ञान नेत्रों से तत्त्व वस्तु को देखते हैं ॥ ४ ॥ और सब इन्द्रियों से रहित जो अचक्षु (आँखरहित) है, वही शिव स्वरूप आत्मा नेत्रों द्वारा सब संसार को सदा देखता है ॥ ५ ॥

मन माया स्वरूप गाय, आत्मविवेक के विना व्याघ्रतुल्य अति श्रेष्ठ पुरुष को खा गई और खाती है; परन्तु विवेक होने पर अन्यथा होगा, वह पुरुष उसे नष्ट करेगा ॥ ६ ॥ ज्ञानी का मन कराल (भयानक)

मूसा तो मंजारे खैलो, स्यारे खैलो श्वाना ।
आदि का उद्देश जाने, तासु विश्वे बाना ॥

इन्द्रियाण्येव चाज्ञानां हरिणाश्चञ्चलाः सदा ।
तानि खादन्ति चैतन्यं संतोषादिविवेकिताम् ॥ ८ ॥
ज्ञानिनां हरिनिष्ठात्मा हरिणी तापरूपिणीम् ।
तरक्षुं चैव चिन्तां च खादत्येव न संशयः ॥ ९ ॥
तित्तिर्यो वृत्तयस्तुच्छाः पुंकाकनगरे गताः ।
विचाराद्यात्मकांश्छ्येनानजयन्नञ्जसा ततः ॥ १० ॥
तथा सत्सङ्गिनो लोके नरान्तुलङ्घ्य कुत्सितान् ।
श्येनान् कालादिकाञ् जित्वा ब्रह्मानन्देऽभवन् स्थिराः॥११॥

काल को भी बाधित करता है, सब अनात्मा का विशेष बाधा करने से अन्य (काल से भिन्न) की बाधा में कथा ही क्या है ॥ ७ ॥ अज्ञों के इन्द्रियाँ ही सदा चञ्चल हरिण (मृग) हैं। वे इन्द्रिय संतोषादि और विवेकिता रूप चैतन्य को खाती (नष्ट करती) हैं ॥ ८ ॥ ज्ञानियों की सर्वात्मा में निष्ठा रूप हरिणी (मृगी) ताप रूप तरक्षु (तेंदुआ) और चिन्ता को खाती ही है, इसमें संशय नहीं है ॥ ९ ॥ तित्तिरपक्षी की स्त्री तित्तिरियों के तुल्य मोहममतादि रूप तुच्छ वृत्तियाँ काकतुल्य पुरुषों के नगर (समूह) में प्राप्त होकर फिर उनके विचारादि स्वरूप श्येनों को जीत लिया ॥ १० ॥ तथा सत्पुरुषों के सङ्गी लोगों ने कुत्सित (अधम) नरों का उलंघन (त्याग) करके, कालादि रूप श्येनों को जीत कर ब्रह्मानन्द में स्थिर हुए ॥ ११ ॥

१ यहाँ (उद्दिष्टो मेऽनुवाक्) इत्यादि के समान उद्देश शब्द का उपदेश वा लक्ष्य अर्थ है। (गुणैः प्रापणमुद्देशः) इस लक्षण का लक्ष्य नहीं है, किन्तु (साक्षात्कथनमुपदेशः) का लक्ष्य है, या आत्मा में वचनाऽविषयता से लक्ष्य के तात्पर्य से उद्देश पद है।

मूषिका वासना तुच्छा शास्त्रजं बोधमद्भुतम् ।
मार्जारं खादति स्मैतदनभ्यासफलं विदुः ॥ १२ ॥

ज्ञानिनां सुमनोवृत्तिरनादिं च दुरुद्धराम् ।
मायां मार्जारिकां तूर्णं खादित्वा सा स्वयं गता ॥ १३ ॥

मनश्चेन्द्रियदेवाश्च जम्बुकास्तेऽविवेकिनम् ।
श्वानं विषयिणं नूनं खादन्ति स्म स्वपुष्टये ॥ १४ ॥

ज्ञानिनामुपदेशो वा जम्बुको वादतत्परान् ।
शुनः खादितवानेव ह्यन्यानपि सुदुश्चरान् ॥ १५ ॥

इत्यादि सुविवेकेन वेद्यान् कृत्वेव चान्यथा ।
अबोधकालिकान् धीरो ह्यादितत्त्वोपदेशनम् ॥ १६ ॥

तत्त्वेनैव विजानाति तस्य विश्वेऽपि सर्वशः ।
कार्याणि खलु सिद्ध्यन्ति यशोऽप्यस्य स्थिरायते ॥१७॥

तुच्छ वासना रूप मूषिका शास्त्रजन्य अद्भुत बोध रूप मंजार को खा गई, अभ्यास के अभाव का फल रूप इसको महात्मा लोक जानते हैं ॥१२॥ और ज्ञानियों के सुन्दर मनोवृत्तिरूप सादि मूला अनादि दुरुद्धर (दुःख से नष्ट होने वाली) माया रूप बिल्ली को शीघ्र खा कर वह स्वयं लीन हो गई ॥१३॥ कुवासना युक्त मन इन्द्रियों के अधिष्ठातृ देव सब जम्बुक हैं, सो अपनी पुष्टि के लिये विषयी प्राणीरूप श्वान को ही खा गये ॥१४॥ अथवा ज्ञानी का उपदेश रूप जम्बुक (व्यवहार विमुख) ने भी वाद में तत्परों को तथा अन्य भी सुदुश्चरों (अतिदुर्भक्षों) श्वानों को खा ही लिया ॥१५॥ इत्यादि सुन्दर विवेक से अज्ञान काल के वेद्य पदार्थों को अन्यथा (उलटा) के समान कर के धीर पुरुष आदि तत्त्व (स्वरूप) का उपदेश को तत्त्व स्वरूप से ही जानता है, जिससे उस के संसार में भी सब कार्य सिद्ध होते हैं, और इसका यश भी स्थिर के समान होता है ॥१६–१७॥

एके ही तो दादुर खैलो, पांचे हूं भुवंगा ।
कहहिं कबीर पुकारि के, है दोउ एक संगा ॥१०७॥

एकैव चास्थिरा बुद्धिः प्रमादभ्रमसंयुता ।
मण्डूकी पञ्च सर्पान् सा खादतिस्म मुहुर्मुहुः ॥१८॥
विवेकं सुविरागं च शमं ज्ञानं दमं तथा ।
तथा विद्याऽप्यविद्यादीन् खादत्येव न संशयः ॥ १९ ॥
आश्चर्यं यद्विरुद्धास्ते वर्तन्ते सह जन्तुषु ।
क्वचित् केचिन्निवर्तन्ते प्रौढज्ञानादिना खलु ॥ २० ॥
अतस्तस्यैव लाभार्थं दयया प्रेरितो गुरुः ।
पौनःपुन्येन तत्तत्त्वं भाषते येन मुच्यते ॥ २१ ॥
ब्रह्मात्मन्यपि सर्वं तद्विरुद्धं वर्तते जगत् ।
आनन्दे दुःखभानं च जडे ज्ञानस्य कल्पना ॥ २२ ॥
सर्वार्था विपरीताश्च द्वन्द्वान्यपि च सर्वशः ।
तानि सर्वाणि नश्यन्ति तद्वाक्यामृतपानतः ॥२३॥१०७॥

प्रमाद भ्रम से युक्त चञ्चल एक बुद्धिरूप मण्डूकी है, सो विवेक, सुविराग, शम, ज्ञान, तथा दम स्वरूप पांचों सर्पों को बार २ खाती है। तथा विद्या भी अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश रूप पांच सर्प को खाती है ॥ १८-१९ ॥ आश्चर्य है कि, विरुद्ध भी ये विद्यादि और अविद्यादि मन्दावस्था में जन्तुओं में साथ ही रहते हैं। प्रौढ ज्ञानादि से कोई कहीं निवृत्त होते हैं ॥ २० ॥ इससे उस प्रौढ ज्ञानादि की प्राप्ति के लिये, दया से प्रेरित गुरु बार २ रूप से उस तत्त्व को कहते हैं कि, जिसकी प्राप्ति से मुक्त हुआ जाता है ॥ २१ ॥ ब्रह्मात्मा में भी वह सब विरुद्ध जगत् है, आनन्द में दुःख का भान होता है, जड़ में ज्ञान की कल्पना होती है ॥ २२ ॥ विपरीत सब अर्थ और सब द्वन्द्व भी ब्रह्मात्मा में हैं। वे सब द्वन्द्वादि उस सद्‌गुरु के वाक्यामृत का पान से नष्ट होते हैं ॥ २३ ॥

अक्षरार्थ–गुरु ज्ञानी (गुरु से प्राप्त ज्ञानवाला) जगत में कोई विरला है, जो वेद (वेद्य पदार्थ वेदों) को उलट कर समझता है, अर्थात् सत्यादि भासता हुआ संसार को असत्यादि समझता है, जन्मादिवाला प्रतीत आत्मा को जन्मादि रहित जानता है, अर्थवादादि का प्रवृत्ति आदि में तात्पर्य समझता है, इत्यादि। और इस ज्ञान के विना ही पानी (आनन्द स्वरूप) आत्मा में ताप रूप अग्नि लगी हुई प्रतीत होती है, और जब मनुष्य बाहर से अन्ध तुल्य होता है, तो उन अन्धों को ही यह आनन्द स्वरूप आत्मा ज्ञान विज्ञान आँखों से सूझता है, अन्य अन्धों (अविवेकियों) को यह बाहर के आँख से नहीं सूझता है, इससे भ्रम की निवृत्ति के लिये यत्न भी नहीं करते हैं, इत्यादि।

गाई (गाय तुल्य मन माया) नाहर (बड़ा व्याघ्र तुल्य बड़े लोकों) को खाया। और हरिणी तुल्य (अविद्या चञ्चल इन्द्रियाँ) चीता (छोटा व्याघ्र तुल्य छोटे लोगों) को खाई है। बटेरन (तित्तिर तुल्य तुच्छ वृत्ति वासनादि कों) ने काक तुल्य प्राणी के समुदाय को लांघ-फाँद कर उनके विचार सुबुद्धि आदि रूप बाजों को जीता है, इत्यादि।

मूसा (मलिन वासनादि) मंजार (सुवासनादि) को खा गई। स्यार (भूत प्रेतादि कुदेव) श्वान (कुभक्त मांसाहारी) को खाया। आदि (सर्वादि तत्त्व) का उद्देश (उपदेश) को जो जानता है, तासु (तिसमें) विश्वे बाना (संसार स्वांग तुल्य हुआ) है, या उसका संसार में कार्य बना (सिद्ध हुआ)।

एक ही दादुर (अविद्यायुक्त बुद्धि) पांच भुवंग (विवेक, विराग, शम, दम, ज्ञान) को खाया है, तथा विद्यादि युक्त बुद्धि, अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश को खाती है। दादुरी प्राणायाम से पांच प्राण वश होते हैं। और दोनों विरोधी गुप्त प्रगट रूप से शरीर जीव में साथ ही रहनेवाले हैं॥ १०७॥

प्रथम अज्ञानमय संसार द्वन्द्वादि की निवृत्ति के लिये विचारादि की कर्तव्यता का वर्णन हुआ है, इससे उस विचार विज्ञानादि के विरोधी कुसङ्ग का त्याग के लिये कहते हैं कि—

शब्द ॥ १०८ ॥

योगिया के नगर बसै मति कोई । जो रे बसै सो योगिया होई ॥
वहि योगिया के उलटा ज्ञाना । कारा चोला नाहीं म्याना ॥

मुमुक्षवो न केऽप्यत्र संसक्तेषु कुयोगिषु ।
निवसेयुर्यतस्तत्र वसन्तः स्युर्हि तादृशाः ॥ २४ ॥
" कामिनां कामिनीनां च संगात्कामी भवेत् पुमान् ।
देहान्तरे ततः क्रोधी लोभी मोही च जायते ॥ २५ ॥
सङ्गं न कुर्यादसतां शिश्नोदरतृपां क्वचित् ।
तेषां सङ्गात्तमस्यन्धे पतत्यन्धानुगोऽन्धवत् " ॥ २६ ॥
ज्ञानं सर्वं कुयोगानां विपरीतं हि वर्तते ।
शरीरमुभयं तेषां क्रूरं तीक्ष्णं च खड्गवत् ॥ २७ ॥
तस्य संयमनार्थं च कोशतुल्यं विवेकजम् ।
न वैराग्यादिकं तेषां तेन घ्नन्ति हि सङ्गतः ॥ २८ ॥

कोई भी मुमुक्षु इस संसार में आसक्त कुयोगियों में निवास नहीं करें, जिससे उनमें बसनेवाले वैसे ही होगें ॥ २४ ॥ आत्मपु. अ. ७।६४। कामी और कामिनी के संग से पुरुष कामी होता है, फिर देहान्तर में क्रोधी लोभी मोही हो जाता है ॥२५॥ भा. स्क. ११।२६।३। इससे शिश्नोदर को तृप्त करनेवाले (उपस्थ जिह्वा के वशवर्ती) असत् पुरुषों का संग कहीं नहीं करे, उसके पीछे चलने वाला, अन्धा के पीछे चलने वाला अन्धा के समान अन्ध तम में गिरता है ॥२६॥ कुयोगियों के सब ज्ञान विपरीत रहता है, और उनके सूक्ष्म स्थूल दोनों देह तरवार तुल्य क्रूर और तीक्ष्ण रहता है ॥२७॥ और उस शरीर का संयमन (संयम)

प्रगट सो कन्था गुप्ता धारी । ता महँ मूल सजीवन भारी ॥
वहि योगिया के युक्ति जो बूझै, राम रमै तेहि त्रिभुवन सूझै ॥

प्रत्यक्षां स्थूलरूपां ते गुप्तां सूक्ष्मस्वरूपिणीम् ।
कन्थां वै दधते गर्वात्तयोरभ्यन्तरे स्थिताम् ॥ २९ ॥

अविद्यां मूलभूतां च जीवयन्तीं जगत्त्रयम् ।
विशालां दधते यद्वा परं संजीवनौषधम् ॥ ३० ॥

आत्मैव वर्तते तस्य ज्ञानं तेषु न विद्यते ।
अतो देहाभिमानाद्यैः संसरन्ति कुयोगिनः ॥ ३१ ॥

कुयोगिभवयोगं यो जानात्यत्र विवेकवान् ।
रमते स्वात्मरामे च त्रिलोकीं स प्रपश्यति ॥ ३२ ॥

रसं चामृतवल्ल्याः स विद्यानन्दाभिधं सदा ।
पिबन् साक्षिस्वरूपेण तिष्ठतीति गुरोर्मतम् ॥ ३३ ॥

के लिये विवेक जन्य कोश तुल्य वैराग्यादि उनको नहीं रहता है, तिससे वे लोक संग से घात करते हैं ॥२८॥

वे कुयोगी लोक प्रत्यक्ष स्थूल देह रूप और गुप्त सूक्ष्म देहरूप कन्था (गुदरी) का गर्व (अभिमान) से धारण करते हैं, तथा तीनों लोक को जिलाती हुई विशाला (महती) मूल (कारण देह) स्वरूप अविद्या का धारण करते हैं। अथवा उत्तम सम्यक् जीवनकारक औषध रूप आत्मा ही है, परन्तु उसका ज्ञान उन लोकों में नहीं है, इससे देहाभिमानादि से कुयोगी लोक संसार में गमन करते हैं ॥ २९-३१ ॥ जो विवेकी कुयोगी का संसार के संबन्ध को जानता है, और स्वात्माराम में रमता है, सो तीनों लोक को देखता (जानता) है ॥३२॥ और आत्मविद्यारूपी अमृतवल्ली (लता) के विद्याऽऽनन्द नामक रस को पिबता हुआ, वह साक्षी स्वरूप से स्थिर रहता है, यह सद्गुरु का मत है ।३३॥

अमृत बेली क्षण क्षण पीवै, कहैं कबिर योगि युगयुग जीवै ॥१०८॥

वदन्त्यन्ये तु तेषां यो यागदानादिलक्षणाम् ।
युक्तिं वेत्ति तटस्थे च रामे वै रमते तथा ॥ ३४ ॥
तस्य त्रिभुवनज्ञानं जायते योगमन्तरा ।
संगत्यागेन किं तस्य वैराग्येण च किं भवेत् ॥ ३५ ॥
वदन्ति कवयश्चान्ये ते प्राप्य स्वर्गमूर्धसु ।
पानं चामृतवल्ल्या वै रसस्य कुर्वते सदा ॥ ३६ ॥
भूत्वैव ह्यमरास्तत्र जीवन्त्येव युगं युगम् ।
नावर्तन्ते पुनस्तेऽत्र मुक्ता एव भवन्त्यतः ॥ ३७ ॥ १०८ ॥

और लोक कहते हैं कि, उन योगियों के याग दानादिरूप युक्ति को जो जानता है, और तटस्थ (लोकान्तरवासी आत्मभिन्न) राम (ईश्वर) में रमता है ॥३४॥ तिसको योग के विना ही तीनों भुवन (लोक) का ज्ञान होता है, उसको संग का त्याग से और वैराग्य से क्या होगा ॥३५॥ और अन्य कवि लोक कहते हैं कि, वे यागादि करनेवाले, स्वर्ग के मूर्धा में उत्तम स्थान को पाकर, वहाँ अमृतवल्ली के रस का सदा पान करते हैं ॥३६॥ अमर (मृत्यु रहित देव) होकर के ही वहाँ युग २ जीते हैं। यहाँ फिर नहीं लौटते हैं, इससे मुक्त ही होते हैं ॥३७॥

अक्षरार्थ--योगिया (माया के संग्रही आसक्त मनुष्यों) के नगर (संग समूह) में कोई नहीं बसो; क्योंकि उसके साथ नगर में जो कोई मन्द विवेकी सज्जन बसता है, तो वह भी योगिया हो जाता है। और उस योगिया के सब ज्ञान उलटा (विपरीत) होते हैं, और चोला (स्थूल सूक्ष्म देह) कारा (क्रूर तीक्ष्ण घातक) रहते हैं, और उन्हें वश में रखने के लिये वैराग्यादि रूप म्यान (कोश) योगिया के पास में नहीं रहते हैं, इससे वह संगी को अवश्य पीडित करता है।

प्रगट (प्रत्यक्ष स्थूल) गुप्त (अप्रत्यक्ष सूक्ष्म) कन्था (देह) को

योगिया धारी (अभिमानी) है । और ता महँ (उन दोनों में) उनका मूल (कारण देह) भारी सजीवन (ज्ञान विना अविनाशी महान्) है । उस योगिया का संसार से युक्ति (योग-सबन्ध) को समझ कर जो सर्वात्मा राम में रमता है, उसको तीनों भुवन (लोक) सूझता है, अर्थात् वह सब लोकों के तत्त्व स्वरूप को जानता है, और विद्यावेली का अमृत रस (जीवन्मुक्ति का आनन्द) को क्षण क्षण में पीता है, और साक्षी स्वरूप से युग २ (सदा) जीता है, सो बडे २ आचार्य भी कह गये हैं। अथवा नामादि मात्र से मुक्ति माननेवाले कहते हैं कि, उस योगिया के संगादि से हानि नहीं होती है; क्योंकि उसके कर्म रूप युक्ति को जो समझता है, और तटस्थ राम (देवादि) में रमता है, उसे सिद्धि के बल से तीनों लोक सूझता है, तथा साकेतादि में जाकर अमृतवेली के रसका पान करके युग २ जीता है, इत्यादि ॥१०८॥

—०—

पूर्व शब्द में क्रूर देहाभिमानी आदि कुपुरुषों के संग का त्याग के लिये उपदेश देकर, अब जिनका संग करना चाहिये, उनकी अल्पता आदि के आशय से कहते हैं कि—

शब्द ॥ १०९ ॥

भाई रे बहुत बहुत का कहिये, बिरले दोष हमारे ।
गढन भजन समारन आपे, राम रखै त्यों रहिये ॥

भो भ्रातर्बहवो येऽत्र सन्ति संयोगिनो जनाः ।
निमग्ना वै जगज्जाले तेभ्यो बहु वदामि किम् ॥३८॥

हे भाई ! जगत् के जाल में निमग्न (आसक्त) जो यहाँ बहुत संयोगी लोक हैं, उनके प्रति बहुत मैं क्या कहूं ॥३८॥ जो कोई मेरे प्रेम में निरत,

ये केचिद्विरलाः सन्ति मत्प्रेमनिरता नराः ।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो जिज्ञासादिसमन्विताः ॥ ३९ ॥

तेभ्यः संकथयामीदमसङ्गत्वसुसिद्धये ।
राम एव स्वयं कर्ता शक्तियुक्तो महाप्रभुः ॥ ४० ॥

सत्तया स्वप्रकाशेन सर्वेषां रक्षकस्तथा ।
अन्ते नाशयिता सैव ज्ञात्वैवं तं बुधाः सदा ॥ ४१ ॥

तत्र संलग्नचित्ताः स्त यथा रक्षति स प्रभुः ।
यथा स्थापयते चात्र तथा तिष्ठत सर्वदा ॥ ४२ ॥

चिन्तां त्यक्त्वा शरीरादेस्तच्चिन्तातत्पराः सदा ।
विमोक्ष्यध्वे तथा तूर्णं नान्यथा मोहयन्त्रिताः ॥४३॥

रामं बहुं न मन्यध्वमेकं स्मरत तं प्रभुम् ।
सर्वात्मानं समर्थं च निर्मलं नित्यसाक्षिणम् ॥ ४४ ॥

श्रद्धालु, असूया रहित, जिज्ञासा आदि सहित विरला मनुष्य हैं ॥३९॥ असंङ्गता की सिद्धि के लिये उनके प्रति यह कहता हूं कि, मायाशक्तियुक्त महाप्रभु राम ही स्वयं कर्ता हैं ॥४०॥ तथा सत्ता और अपना प्रकाश से सब के रक्षक हैं, अन्त में वही नाश करने वाला हैं । हे बुध ! उस राम को इस प्रकार सदा जान कर ॥४१॥ उसी में संलग्न (आसक्त) चित्त वाले होवो, और वह प्रभु जिस प्रकार रक्षा करता है, जैसे यहाँ स्थिर करता है, तिस प्रकार से सदा स्थिर होवो ॥४२॥ शरीरादि की चिन्ता को त्याग कर तथा सदा उसीकी चिन्ता में तत्पर हुआ तुम सब शीघ्र विमुक्त होगे, मोह से बंधाये हुए तुम अन्य प्रकार नहीं मुक्त हो सकते हो ॥४३॥ राम को बहुत नहीं मानो । किन्तु सर्वात्मा समर्थ निर्मल नित्य साक्षी उस एक प्रभु का ही स्मरण करो ॥४४॥

आसन पवन योग श्रुति स्मृती, ज्योतिष पढ़ि बैलाना ।
छौ दरशन पाखण्ड छ्यानबे, एकल काहु न जाना ॥
आलम दुनी सकल फिरि आयो, एकल उहे न आना ।
ताजी करिगह जगत उपायो, मन महँ मन न समाना ॥

असंसक्तिं विना केचिदासनाभ्यासतत्पराः ।
वायुयोगपराश्चैव प्राणायामपरायणाः ॥ ४५ ॥
श्रुतिं स्मृतिं पठित्वाऽन्ये ज्योतिषं च बहुश्रुताः ।
जडा एव प्रदृश्यन्ते स्वात्मज्ञानाद्बहिस्कृताः ॥ ४६ ॥
ये षड् दर्शनिनः सर्वे पाषण्डनिरता जडाः ।
केवलं तेऽगुणं ह्येकं केऽपि जानन्ति नोऽबुधाः ॥ ४७ ॥
सर्वे संघाश्च संसारे तीर्थादौ सर्वयोनिषु ।
लोकेषु च मुहुर्भ्रान्त्वा ह्यागताश्चात्र भुक्तये ॥ ४८ ॥
तत्त्वं नाऽलभ्यत क्वापि केनापि वा कथञ्चन ।
आत्मरामं विना भद्र ! यतः स एकलः शिवः ॥४९॥

आसक्ति के अभाव विना ही कोई आसनाभ्यास में तत्पर हैं, अन्य कोई वायु योग पर होकर प्राणायाम परायण हैं ॥४५॥ अन्य कोई बहु श्रवणवाले भी आत्मज्ञान से बहिष्कृत (रहित) होकर, ज्योतिष पढ कर भी जड़ ही दीखते हैं ॥४६॥ जो पाखण्ड में निरत षड्दर्शनी सब हैं, वे कोई अबुध (अविवेकी) भी केवल (निर्णीत-शुद्ध) निर्गुण एक आत्मा को नहीं जानते हैं ॥४७॥ जाति वर्णाश्रमादि के सब संघों (समूहों) ने संसार, तीर्थादि, सब योनि, लोकों में बार २ भ्रम कर फिर इस लोकादि में भोग के ही लिये प्राप्त हुये ॥४८॥ हे भद्र ! आत्माराम के बिना किसी से किसी प्रकार कहीं भी तत्त्व (परमात्मा) को नहीं पाया गया, जिससे वह आत्माराम एकाकी शिव (परमात्म) स्वरूप है ॥४९॥

कहहिं कबिर योगी औ जंगम, फीकी इन की आशा ।
राम नाम रटिये ज्यों चातक, निश्चय भक्ति निवासा ॥१०९॥

तत्त्वप्राप्तिं विना सर्वे गृहं करिगहं पुनः ।
नूतनं देहरूपं वै जनयन्ति स्म संसृतौ ॥ ५० ॥
यतस्तेषां मनो नैव गृहीतं मनसाऽभवत् ।
आशातृष्णादिसंयुक्तं कर्मादि वर्तते ततः ॥ ५१ ॥
मनसोऽग्रहणात् सम्यग् योगिनो जङ्गमस्य च ।
हृदि स्फुरति तुच्छाऽऽशा निष्फला सबला मुहुः ॥ ५२ ॥
अतो मनो निगृह्यैव कर्तृत्वं परिहृत्य च ।
चातकेन समं प्रेम्णा रामनाम रटादरात् ॥ ५३ ॥
तेन ते निश्चला भक्तिर्हृदये वत्स्यति द्रुतम् ।
भाषते सद्गुरुश्चैव सर्वथा मुक्तिसिद्धये ॥ ५४ ॥
तुच्छया वाऽऽशया युक्ता वदन्त्येवं कुयोगिनः ।
रटनाच्चातकस्येव भक्तिर्वसति निश्चला ॥ ५५ ॥

और तत्त्व की प्राप्ति के विना सब लोक, नूतन देह रूप करिगह (वस्त्र बिनने का स्थान) घर को संसार में उत्पन्न करते हैं ॥५०॥ और जिससे उनका मन मन से गृहीत नहीं हुवा, तिससे आशा तृष्णादि से संयुक्त कर्मादि तन्तु वर्तमान रहता है ॥५१॥

मन का सम्यक् ग्रहण नहीं होने से, योगी और जंगम के हृदय में भी तुच्छ निष्फल बलवती आशा बार २ प्रगट होती है ॥५२॥ इससे मन का निग्रह करके ही और कर्तृता के अभिमान को त्याग कर, चातक के समान प्रेम से आदर से रामनाम रटो ॥५३॥ उस रटन से तेरे हृदय में निश्चल भक्ति शीघ्र वसेगी, सर्वथा मुक्ति की सिद्धि के लिये सद्गुरु इस प्रकार कहते हैं ॥५४॥ अथवा तुच्छ आशा से युक्त कुयोगी इस प्रकार कहते हैं, कि चातक तुल्य रटने ही से निश्चल भक्ति वसती है

आशापाशैर्गुणविरचितैः कामलोभादिबन्धैः,
स्वाङ्के नीत्वा तदनु सकलान् वासनादौ निपात्य।
श्वभ्रे मिथ्यावचनकलहैर्मानसं स्वं च माया,
जीवान् हन्ति प्रबलरिपुवद्रामभक्त्या तरैते ॥५६॥१०९॥

इति ह० शब्दसुधायां मनोमायाकृतभ्रमतरणोपदेशवर्णनं
नाम द्वाचत्वारिंशत्तमस्तरङ्गः ॥ ४२ ॥

॥५५॥ अपना मन और माया, आशारूप पाशों (बन्धनों) से तथा गुणों से विरचित काम लोभादि बन्धनों से सकल प्राणी को अपने अङ्क (क्रोड-पास) में प्राप्त करके, और उसके बाद वासनादि रूप श्वभ्र (बिल) में गिरा कर, फिर प्रबल रिपु के समान मिथ्यावचन कलहों से जीवों का नाश करता है, इसलिये रामभक्ति से इस मन माया को तरो (त्यागो, नष्ट करो) ॥५६॥

अक्षरार्थ—हे भाई! संसार में जो बहुत लोक हैं, उनसे बहुत क्या कहें, हमारे (सद्गुरु के) विरले दोस्त (प्रेमी) हैं, उनसे कहना है कि, आपे (अपना स्वरूप ही) सर्वात्मा राम स्वयं गढन (सृजन) समारन (पालन-सुधारन) भञ्जन (नाशन) हार (कर्ता) हैं, इससे सो राम जैसे रखें तैसे ही चिन्ता रहित रहना चाहिये। अर्थात् शरीरादि की चिन्ता को त्याग कर आत्मनिष्ठ आत्मविचारादि धर्मपरायणता पूर्वक असंग होना चाहिये।

अथवा हे भाई! अधिक से अधिक क्या कहा जाय, हमारे दोस्त विरले हैं, जो विवाद कुसंगादि को त्याग कर विचार सत्संगादि यत्न विवेकादि के लिये करते हैं, और अन्य लोक कहते हैं कि, आप गढने आदि वाला ईश्वर करेगें, सो होगा; विवेकादि की कोई जरूरत नहीं है।

सद्‌गुरु में प्रेम आत्मज्ञानादि विना, आसनाभ्यास, पवनयोग (प्राणायाम) परायण, श्रुति स्मृति ज्योतिषादि पढनेवाले भी बैलाना (बैल तुल्य) हुए रहते हैं। और बैलाने रहने से छौ दर्शन (सम्प्रदाय) योगी आदि पन के अभिमानी, छयानवे पाखण्डी (वेषधारी) कोई भी एकल (एक-अद्वैत) राम को नहीं जाना, कोई विरला विवेकी जाना। और आत्मा को नहीं जानने से ही सकल आलम (जमात-समूह) सकल दुनी (सब दुनियाँ-संसार) में फिर आया (स्वर्ग नरक तीर्थादि में भटक आया); परन्तु कहीं कुछ सत्य सुख वस्तु नहीं मिला। क्योंकि एकल उहे (वह राम ही) सत्य सुखस्वरूप है, अन्य कहीं कुछ नहीं है। और राम की प्राप्ति विना जगत में ताजी (नवीन) करिगह (देह रूप घर विशेष) उपायो (उत्पन्न किया) और मन में मन नहीं समाया (मन स्ववश नहीं हुवा), अथवा अज्ञ दुनी (द्वैतवादी) का आलम, मर कर फिर आया। परन्तु एक आत्मा वही रहा; अन्य नहीं हुआ, इत्यादि।

साहब का कहना है कि, ज्ञानादि विना योगी आदि की भी तुच्छ फीकी (निष्फल) आशा होती है, इससे आशा आदि को त्याग कर, रामनाम को चातक के समान प्रेम से रटो तो हृदय में निश्चल भक्ति निवास करेगी, कि जिससे ज्ञानी होकर पूर्ण निराश मुक्ति पद को पावोगे। या फीकी आशावाले योगी आदि कहते हैं कि, चातक के समान केवल नाम रटने से अवश्य भक्ति होगी, स्वर्गादि में निवास स्थान मिलेगा, इत्यादि ॥१०९॥

शब्द ॥ ११० ॥

रामुरा संशय गाँठि न छूटै। ताते पकरि पकरि यम लूटै ॥
ह्वै मिस्कीन कुलीन कहावहु, तुम योगी संन्यासी।
ज्ञानी गुणी शूर कवि दाता, या मति किनहुं न नाशी ॥

रामनामधना भो भो रामात्मानश्च मानवाः :
यतः संशयकामाशामोहाद्यात्मकुग्रन्थयः ॥ १ ॥
अध्यासग्रन्थयश्चैव न नश्यन्ति ततः सदा।
ग्राहं ग्राहं यमो नित्यं जनान्नाशयतेऽखिलान् ॥ २ ॥
भूत्वा मस्करिणः सर्वे भक्ताश्च साधवोऽपि वा।
योगिनो जङ्गमाश्चैव वेषमात्रेण नान्यथा ॥ ३ ॥
कुलीनाश्चापि कथ्यन्ते ह्यभिमानं च कुर्वते।
शास्त्राणां ज्ञानिनो भूत्वा शिल्पज्ञा गुणिनोऽपि च ॥ ४ ॥
दानिनः कवयो वीराः संशयान्नाशयन्ति न।
मतिं न विपरीतां चेदभिमानयुतां कुधीम् ॥ ५ ॥

हे रामनाम धन वाले, हे रामस्वरूप मनुष्यों! जिससे संशय काम आशा मोह आदि स्वरूप कुग्रन्थि (कुबन्धन) और अध्यास (भ्रम) रूप ग्रन्थि भी नहीं नष्ट होते हैं, तिसी से यम नित्य (सदा) जीवों को ग्रहण कर २ के सब जनों को नष्ट करता है ॥१-२॥ सब लोक वेष मात्र से मस्करी (संन्यासी) भक्त साधु अथवा योगी जंगम भी होकर, अन्यथा (आचरण से) नहीं होते हैं ॥ ३ ॥ इसीसे कुलीन (सज्जन-साधु) भी कहाते हैं, और अभिमान करते हैं, निरभिमानी भक्तादि नही होते हैं और शास्त्रों के ज्ञानी शिल्पज्ञ गुणी हो कर, तथा दानी कवि वीर होकर भी यदि आत्मादि के संशयों को नष्ट नहीं करते हैं, न अभिमानयुक्त

सुस्मृति वेद पुराण पढ़ै सब, अनुभव भाव न दरशै ।
लोह हिरण्य होत दहुं कैसे, जो नहिं पारस परसै ॥

तदा सर्वं हि तद् व्यर्थं विपरीतफलप्रदम् ।
नैव स्वर्गप्रदं नापि मोक्षदं तत् कदापि हि ॥ ६ ॥
स्मृतीर्वेदान् पुराणादीन् पठन्ति सर्वमानवाः ।
आत्मानुभवभावो न तथापि तेषु दृश्यते ॥ ७ ॥
मनोग्रहं विना तद्वदाशात्यागादिकं विना ।
जायतेऽनुभवो नैव यमबाधा न नश्यति ॥ ८ ॥
यावन्न दृश्यते चात्मा तावल्लोहसमो ह्ययम् ।
कथं हिरण्यतुल्यः स्याज्जीवो मुक्तश्चिदव्ययः ॥ ९ ॥
पार्श्वाख्यमणिसम्बन्धं विना लौहं कथं भवेत् ।
हिरण्यं तत्समः पन्था जीवब्रह्मत्वसिद्धये ॥ १० ॥

विपरीत मति रूप कुबुद्धि को नष्ट करते हैं ॥४-५॥ तो वह सब व्यर्थ है, और उलटा फल देनेवाला है, न कभी सच्चा स्वर्ग देनेवाला है, न मोक्ष देनेवाला है ॥ ६ ॥

सब मनुष्य स्मृति (धर्मशास्त्र) वेद पुराणादि को पढते हैं, तौ भी उनमें आत्मानुभव का भाव (सत्ता स्वभाव) नहीं दीखता है ॥ ७ ॥ मन का ग्रहण विना तद्वत् आशा का त्यागादि के विना आत्मानुभव नहीं होता है, न यम की बाधा (व्यथा) नष्ट होती है ॥ ८ ॥ और जब तक आत्मा नहीं दीखता (प्रत्यक्ष होता) है, तब तक लोहा तुल्य यह जीव, सुवर्ण तुल्य मुक्त चिदव्यय (चेतन अविनाशी) कैसे होगा ॥ ९ ॥ पारस नामवाला मणि के संबन्ध बिना लोहा सुवर्ण कैसे होगा, उसीके तुल्य मार्ग जीव की ब्रह्मत्वसिद्धि के लिये भी है ॥१०॥

जियत न तरेहु मुये का तरिहो, जियतहिं जो न तरै ।
गहि परतीति कियो जिन जासो, सोइ तहाँ अमरे ॥
जो कछु कियो ज्ञान अज्ञाना, सोई समुझ सयाना ।
कहहिं कबिर तासो का कहिये, देखत दृष्टि भुलाना ॥११०॥

आशापाशं विलूयाऽत्र त्वभिमानं विधूय चेत् ।
जीवन्तो नैव मुच्यध्वे मृतानां का विमुक्तता ॥ ११ ॥
ये जीवन्तो न मुच्यन्ते ते यत्र प्रीतिसंयुताः ।
दृढविश्वासयुक्ताश्च भवन्ति मरणावधि ॥ १२ ॥
मृतास्तत्रैव जायन्ते कर्मबद्धाः कदाशया ।
निबद्धा यमपाशैश्च पीड्यन्ते यमदुर्भटैः ॥ १३ ॥
जगद् भ्रमं परिज्ञाय त्यजन्ति वासनां तु ये ।
ते विरक्ता विमुच्यन्ते जीवन्तोऽपि मृताः पुनः ॥ १४ ॥
ज्ञानाज्ञाने च ये केचित् कर्मोपासनलक्षणे ।
कृते स्तो मानवैर्विज्ञ ! ते विद्धि फलदे मृतौ ॥ १५ ॥

आशारूप पाश (बन्धन) को काट कर, अभिमान को नष्ट करके, यदि यहाँ जीता हुवा तुम नहीं मुक्त होगे, तो मर हुए को विमुक्तता क्या होगी ॥११॥ जो जीते सें मुक्त नहीं होते, वे लोक मरण तक जिस विषय प्राणी आदि में प्रीति युक्त दृढ विश्वास सहित रहते हैं ॥१२॥ कर्म से बद्ध वे लोक वहाँ ही मर कर जन्मते हैं, फिर कुत्सित आशा और यमपाशों से निबद्ध होकर यम के दुर्जय भटों से पीडित होते हैं ॥१३॥ और जो कोई जगत् को भ्रम स्वरूप (मिथ्या) जान कर इसकी वासना कामादि को त्यागते हैं, वे विरक्त ज्ञानी जीते ही मुक्त होते हैं तो फिर मृत (विदेह) भी मुक्त ही रहते हैं, जीवन्मुक्ति बिना विदेह मुक्त नहीं होते ॥१४॥

हे विज्ञ ! कर्मोपासनारूप ज्ञान अज्ञान जो कछु मनुष्यों से किये गये हैं, उन्ही को मरने पर फल देने वाला जानो ॥१५॥ और ज्ञान वा

तत्फलं भुज्यते मृत्वा ज्ञानाज्ञानैश्च यत्कृतम् ।
नान्यद्धि प्राप्यते किञ्चित् कुतो मोक्षः कुतः सुखम् ॥१६॥
रागादियुक्ततां बन्धं तद्विमुक्तिं च मुक्तताम् ।
प्रत्यक्षमपि यो दृष्ट्वा भ्रान्तो भ्रमति मोहतः ॥ १७ ॥
तं किं वच्मि कथं तं च बोधयामि परं पदम् ।
एवं हि सद्गुरुः प्राह ज्ञात्वा मोहं महत्तमम् ॥ १८ ॥
" असंशयवतां मुक्तिः " " संशयात्मा विनश्यति " ।
मानेनैव च नश्यन्ति तमसा ये पराजिताः ॥ १९ ॥
निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥२०॥११०॥

इति हनु० शब्द० संशयग्रन्थ्यादितो जीवन्मुक्तेरभाववर्णनं
नाम त्रिचत्वारिंशत्तमस्तरङ्गः ॥४३॥

अज्ञान से जो कर्मादि किये गये रहते हैं, मर कर उनका ही फल भोगा जाता है, अन्य कुछ नहीं मिलता, तो मोक्ष वा सुख किससे हो ॥१६॥ रागादि से युक्तता रूप बन्ध को और रागादि से विमुक्ति रूप विमुक्तता को प्रत्यक्ष देख कर भी जो कोई मोह से भ्रान्त हो कर भ्रमता (भटकता) है ॥१७॥ उसको क्या कहें, और उसको परं पद कैसे समझावें, मोह को अति महान् जान कर; सद्गुरु इस प्रकार कहते हैं ॥१८॥ मैत्रेय्युपनिषद्, भगवद्गीता, महाभारत, के कथन हैं कि, असंशयवालों की मुक्ति है, संशययुक्त मन वाला विनष्ट होता है, और जो तमोगुण से पराजित हैं सो मान (अभिमान) से ही नष्ट होते हैं ॥१८॥ निर्गत (निवृत्त) मान (अभिमान) मोह (अविवेक) वाले, सङ्गरूप दोष को जीतने वाले, सदा अध्यात्म विचार परायण, विनिवृत्त कामवाले, सुखदुःख नामवाले द्वन्द्वों से रहित, मोह रहित ही उस अव्यय पद (मोक्ष) को पाते हैं । भ. गी. १५।५।२०॥

अक्षरार्थ–रामनामोपासकों से वा रामरूप आत्मा के विवेकियों से

कहते हैं कि, हे रासुरा ! (रामनाम धनवाले वा रामराजस्वरूप) जीवो ! जिससे संशय गांठि (अज्ञान संशयादि जन्य अध्यास कामादि बन्धन) नहीं छूटते हैं, तिसीसे यम पकड २ कर लूटता (नष्ट करता) है । संशयादि रहने ही से तुम सब मिस्कीन (दीन दास साधु संन्यासी) आदि वेष मात्र से हो कर भी कुलीनता आदि के अभिमान रखते, कुलीन कहाते हो । और योगी संन्यासी कहाते हो । तथा ज्ञानी गुणी शूर कवि दाता भी तुम कहाते हो, परन्तु किसी अविवेकी ने या मति (संशय भ्रम बुद्धि) को नहीं नष्ट किया कि जिससे अभिमानादि नष्ट हों ।

सुन्दर स्मृति वेद पुराणादि सब पढते हैं, परन्तु अभिमान संशयादि की निवृत्ति विना सत्यात्मा के अनुभव (अपरोक्ष ज्ञान) का भाव (सत्ता) किसी में नहीं दीखता है । और अनुभव विना यदि आत्मस्वरूप पारस से जीव रूप लोहा को परस (संबन्ध) नहीं हुवा तो वह लोह हिरण्य (प्रकाशमय मुक्त) होत दहुं (होय तो) कैसे होय ।

आत्मानुभवादि से जियते ही न तरेहु (रागद्वेषादि से नहीं मुक्त हुए हो) तो मरने पर क्या तरोगे । जो कोई जियते ही में नहीं तरे, इस कारण से जिन्हों ने जासों (जिस लोक विषय देव देहादि से) गहि प्रतीति (दृढ प्रेम विश्वास) किये, सोइ (वे लोक) अमरे (मरने से प्रथम ही) तहाँ (वहाँ) मन से स्थिर हुए, और मर कर वहाँ गये, इत्यादि ।

हे सयाने लोको ! ज्ञान (उपासना, या ज्ञानपूर्वक) अज्ञान (कर्म या भूल से) जो कुछ शुभाशुभ किये हो, सोई (उसीका फल) मरने पर मिलता है, ऐसा समझो । मुक्ति जियते ही होती है (जीवतो यस्य कैवल्यं विदेहोऽपि स केवलः । अध्यात्मोपनिषद्) । दृष्टि (आंख) से कर्मफलबन्ध मोक्षादि को देख कर भी जो भूले हैं, तिन लोकों से क्या कहा जाय ॥११०॥

ज्ञानादि विना सर्वनिष्फलता प्रकरण ४४

शब्द ॥ १११ ॥

देखि देखि जिव अचरज होई। यह पद बूझै विरला कोई ॥
धरती उलटि आकाशहिं जाई। चिउँटी के मुख हस्ति समाई ॥
बिनु पवने जो पर्वत ऊड़ै। जीव जन्तु सब वृक्षहि चूढ़ै ॥

ये दृष्ट्वापि भ्रमन्तीह दृष्ट्वा दृष्ट्वा हि तान् सदा।
आश्चर्यं जायते स्वान्ते जगल्लीलां विलोक्य च ॥ १ ॥
अपरोक्षं पदं ह्येतमात्मानं विरला जनाः।
पश्यन्त्यन्ये च भूमिष्ठाः स्वर्गाय सन्ति सोद्यमाः ॥ २ ॥
आत्मनो विमुखा मान्या योगिनोऽपि हि केचन।
पार्थिवीधारणाद्यन्ते व्योम्नि गच्छन्ति मुक्तये ॥ ३ ॥
पिपीलिकाऽऽस्यतुल्यायां हस्तितुल्याः शरीरिणः।
संविशन्ति मनोवृत्तौ वासनायां सुखाशया ॥ ४ ॥
अहो वायुं विना यत्र मायावेगेन पर्वताः।
उड्डीयन्ते समाधिस्थास्तत्रान्ये जन्तवः खलु ॥ ५ ॥

जो देख जान कर भी प्रबल मोह कामादि वश यहाँ भ्रमते हैं, उन्हें देख २ कर, तथा जगत की लीला (क्रीडा विलासादि) को देख कर, स्वान्त (मन) में सदा आश्चर्य होता है ॥ १ ॥ विरला जन अपरोक्ष पद (स्थान) स्वरूप इस सर्वात्मा को देखते (जानते) हैं, और अन्य भूमिष्ठ लोक स्वर्ग के ही लिये उद्यम (यत्न) सहित हैं ॥ २ ॥ आत्मा से विमुख मान्य कोई योगी भी पार्थिवी आदि धारणा के अन्त में मुक्ति के लिये व्योम (ब्रह्माण्ड) में जाते हैं ॥ ३ ॥ चींटी का मुख के तुल्य मन की वृत्ति रूप वासना में हस्ती तुल्य देहधारी सुख की आशा से पैठते हैं ॥ ४ ॥ आश्चर्य है कि, जिस प्रपात दाता सदा मोह

सूखे सरवर उठे हिलोर। बिनु जल चकवा करै किलोर ॥
बैठा पण्डित पढ़ै पुरान। बिन देखे का करै बखान ॥
कहहिं कबिर जो पद को जान। सोई सन्त सदा परमान ॥१११॥

संसारवृक्षचूडायां स्वर्गे गत्वा प्रपातदे ।
सुखं शान्ति विमृग्यन्ति मोहवात्यायुते सदा ॥ ६ ॥
योगिनो पवनं रुद्ध्वोड्डीयोड्डीयानबन्धतः ।
शरीरशिखरे यान्ति स्वेन्द्रियैर्जन्तुभिः सह ॥ ७ ॥
शुष्के सरोवरे तत्र सत्यानन्दादिवर्जिते ।
तद्दृष्ट्याऽऽनन्दभङ्गोऽपि बहुधा जायते खलु ॥ ८ ॥
चक्रवाकसमास्ते च सत्यानन्दजलं विना ।
कल्लोलं कुर्वते तत्र स्वात्मानं मन्वते नहि ॥ ९ ॥
पण्डिताश्चोपविश्याऽत्र पुराणानि पठन्ति ये ।
परोक्षस्य कथां तेऽऽपि कुर्वते नैव चात्मनः ॥१०॥

रूप वात्या (वायु समूह) युक्त, संसार वृक्ष की चूडा (अग्र) स्वरूप स्वर्ग में लौकिक वायु के विना ही माया के वेग से समाधिस्थ महापुरुष-रूप पर्वत उड जाते हैं (समाधि से गिरते हैं), अन्य प्राणी वहाँ जा कर सुख शान्ति खोजते हैं ॥ ५-६ ॥ और योगी लोक पवन को रोक कर, उड्डीयान बन्ध से उड कर, शरीर के शिखर पर अपने इन्द्रिय रूप जन्तुओं के सहित जाते हैं ॥ ७ ॥

सत्य आनन्दादि से रहित सूखा हुवा उस स्वर्गादि सरोवर में उन लोकों की दृष्टि से बहुत प्रकार के आनन्द का भङ्ग (तरङ्ग) भी होता है ॥ ८ ॥ और चक्रवाक (कोक-चकवा) तुल्य वे लोक, सत्य आनन्द रूप जल के विना ही वहाँ कल्लोल (आनन्द के महातरङ्ग) करते हैं, अपनी आत्मा को नहीं मानते हैं ॥ ९ ॥ जो पण्डित यहां बैठ कर पुराण पढते हैं, वे भी परोक्ष की ही कथा करते हैं, आत्मा की नहीं ॥१०॥

सद्गुरुश्चाह ये लोके त्वपरोक्षं पदं विदुः ।
त एव साधवस्तेषां प्रमाणं वचनं सदा ॥११॥
त एव सज्जनैः सेव्यास्त्याज्याः सर्वे कुबुद्धयः ।
ज्ञेयः स निर्गुणो रामो हेया वै संशयादयः ॥१२॥१११॥

और सद्गुरु कहते हैं कि, लोक में जो अपरोक्ष पद (स्थान) को जानते हैं, वे ही साधु हैं; उनके वचन सदा प्रमाण है ॥११॥ वे ही सज्जनों से सेवनीय हैं, सब कुबुद्धि वाले त्याज्य हैं, वह निर्गुण राम ज्ञेय है, और संशयादिक हेय हैं । १२॥

अक्षरार्थ–जो लोक देख कर भी भूले हैं, उनसे कुछ कहना तो नहीं बनता है, परन्तु देख २ कर जिव (मन) में आश्चर्य होता है, या उन जीवों को देख २ कर आश्चर्य होता है, और यह (अपरोक्ष) आत्मपद (सर्वाधार वस्तु) को कोई बिरला बूझता (समझता) है। और उसको समझने विना ही धरती (भूमि निवासी) उलट कर आकाश (स्वर्ग) में जाना चाहती है, योगी लोकों के यत्न से भी देहगत भूमि-भाग आकाश के भाग में जाता है। और चींटी तुल्य सूक्ष्म वासनादि के मुख (वश) में हस्ती तुल्य प्राणी समाते हैं। और जहाँ वायु के विना ही पर्वत तुल्य धारणा उड जाती है, तहाँ साधारण जीव जन्तु सब संसार वृक्ष पर चढना और इसकी चूडा स्वर्गादि में स्थिति चाहते हैं, योगी लोक प्राण निरोध से विना पवन के होकर, संसार से जो पर्वत पर उडते हैं, तो इन्द्रियादि रूप जीव जन्तु भी वृक्ष पर चढते हैं, इत्यादि ।

और सूखा सरोवर तुल्य (सत्यानन्द रहित) स्वर्गादि में अज्ञ की दृष्टि से आनन्द का हिलोर (तरङ्ग) उठता है, और सुख रूप जल के विना ही चकवा (देवादि) किलोर (कोलाहल-क्रीडा) करते हैं। और बहुत पण्डित भी बैठ कर पुराण पढते हैं, और बिनु देखे (परोक्ष), स्वर्गादि का व्याख्यान करते हैं। परन्तु जो पद (अपरोक्ष आत्मस्वरूप

सर्वाधार) को जानते हैं, सोई सन्त हैं, और उन्ही के वचन सदा प्रमाण रूप है। आत्मज्ञानी पण्डित आत्मस्वरूप में बैठा (ब्रह्मनिष्ठ) हुआ, पुराण (अनादि) वस्तु को पढता है। और बिनु देखे (अदृश्य-साक्षी) का व्याख्यान करता है, उस ज्ञानी का पद को जानता है, सोई सन्त सदा प्रामाणिक है ॥१११॥

शब्द ॥ ११२ ॥

तुम यहि विधि समुझहु लोई हो। गोरी मुख माँदर बाजै ॥
एक सगुण षट चक्र हिं बेध्यो। बिनु वृष कोल्हु माचै (जै) ॥

अये जिज्ञासवो लोका ! इत्थमुक्तं हि बुध्यताम्।
परोक्षवादिनां वाक्यं सम्यगालोच्य यत्नतः ॥१३॥
मुखवाद्येन ते तावद्विशुद्धं कथयन्ति हि।
कुण्डलिन्या मुखे चैषां संशुद्धे व्यज्यते रवः ॥१४॥
एकस्तु सगुणः कश्चित्तेषां चक्रेषु षट्स्वथ।
संविद्धो वर्तते तेन तानि विद्ध्यन्ति ते खलु ॥१५॥

हे जिज्ञासु लोको ! परोक्षवादियों के वाक्यों को यत्न से अच्छी तरह देखकर, पूर्वोक्त तत्त्व को इस प्रकार समझो ॥ १३ ॥ मुखरूप बाजा से वे लोक सब सर्वथा विशुद्ध (निर्गुण) को ही कहते हैं। इन योगियों की कुण्डलिनी नाड़ी के शुद्ध मुख में भी निर्गुण का रव (ध्वनि) व्यक्त होता है ॥ १४ ॥ और उनके छवों सम्पूर्ण चक्रों में कोई एक सगुण पदार्थ संविद्ध (व्याप्त-निश्चित) है, इससे वे लोक बाद में तिस सगुण से ही उन चक्रों का वेधन करते हैं ॥ १५ ॥ शुद्ध से वेधन नहीं करते हैं,

ब्रह्महिं पकरि अग्नि महँ हून्यो । मच्छ गगन चढि गाजै ॥

न तु विद्ध्यन्ति शुद्धेन वाक्येऽन्यद् धृदयेऽन्यथा ।
एषां हि वर्तते तेन गुरुर्न लभ्यते हरिः ॥१६॥

वृषं धर्मं विना तद्वद् वृषं ज्ञानं विना च ते ।
शरीरं तैलयन्त्रं हि चालयन्ति मृजन्ति च ॥१७॥

मोक्षं सौख्यं न तैलं ते लभन्ते तेन सत् क्वचित् ।
निबद्धा विकलाश्चैव भ्रमन्ति भवकानने ॥१८॥

मनो ब्रह्मा हि तान् सर्वान् हुत्वा तापत्रयाग्निषु ।
ज्योतिःष्वेव जगत्यां च गगने मोदते स्वयम् ॥१९॥

मनोमायात्ममत्स्यो वा जीवान् ब्रह्मात्मकान् खलु ।
अग्नौ हुत्वा स्वयं सैव गगनं प्राप्य राजते ॥२०॥

तं कश्चित्पश्यति ब्रह्म कश्चित्सौख्यं प्रपश्यति ।
तस्य साक्षिस्वरूपं तु विशुद्धं नैव पश्यति ॥२१॥

इससे इनके वाक्य में अन्य रहता है, और हृदय में अन्यथा रहता है, तिससे गुरु हरि नहीं मिलते हैं ॥ १६ ॥ और धर्मरूप वृष (ज्ञान वर्षक) विना, तद्वत् ज्ञानरूप वृष (मोक्षसुख वर्षक) विना ही वे लोक शरीररूप तैल यन्त्र (कोल्हु) को चलाते मांजते हैं ॥ १७ ॥ तिससे वे लोक मोक्ष वा सुखरूप सत्य तेल कहीं नहीं पाते हैं, इससे निबद्ध और विकल होकर संसार वन में भ्रमते हैं ॥ १८ ॥ और मनरूप ब्रह्मा उन सबको, तीन ताप रूप अग्नियों में, दृश्य ज्योतियों में और संसार में ही हवन करके आप स्वयं गगन में आनन्द करता है ॥१९॥ अथवा मन मायारूप मत्स्य ब्रह्मस्वरूप जीवों को तापादि रूप अग्नि में हवन करके और स्वयं वही गगन में प्राप्त होकर विराजता है ॥ २० ॥ उसको कोई ब्रह्म देखता है, कोई सुखरूप देखता है, और तिसका साक्षी स्वरूप विशुद्ध को नहीं देखता है ॥२१॥

नित्य अमावस नित्य ग्रहण है, राहु ग्रसन नित दीजै ।
सुरही भक्षण करत वेद मुख, घन बरषै तन छीजै ॥

ज्ञानेनापि विना नित्यं चित्तचन्द्रलयात्मिका ।
योगिस्वान्तेऽप्यमावास्या जायते ग्रसनं तथा ॥२२॥
इन्द्रियादिग्रहैरेवं जीवचन्द्रस्य विद्यते ।
ग्रहणं ग्रसनं वापि कालभेदेन सर्वदा ॥२३॥
सुष्मणाप्राप्तिरूपाऽपि त्वमावास्या सदा भवेत् ।
इडया कुण्डलिन्यां च प्राप्तिः संग्रसनं विधोः ॥२४॥
नाड्या पिङ्गलया प्राप्तिः कुण्डलिन्यां तु या भवेत् ।
सा सूर्यग्रहणं नित्यं योगिनां हृदये भवेत् ॥२५॥
इत्थं संग्रसनेऽप्यस्य योगिचित्तस्य सर्वदा ।
तस्याभिव्यक्तिरूपा च द्वितीया वर्तते सदा ॥२६॥
हठेनैतन्निरुद्धं हि प्रादुर्भवति सर्वदा ।
अतो ज्ञानं विना तस्य विनाशो नैव विद्यते ॥२७॥

और आत्मज्ञान के विना भी चित्तचन्द्रमा का लयरूप अमावास्या योगियों के मन में सदा होती है, तथा इन्द्रियादि ग्रहों से चित्त का ग्रहण होता है । इसी प्रकार जीवरूप चन्द्र का भी ग्रहण वा ग्रसन कालभेद से सदा होता है ॥ २२-२३ ॥ सुष्मणा नाडी में प्राणचित्त की प्राप्तिरूप अमावस्या भी सदा होती है । इडा (चन्द्र) नाडी से कुण्डलिनी में प्राप्तिरूप चन्द्रमा का संग्रसन होता है ॥ २४ ॥ और पिंगला (सूर्य) नाडी से जो कुण्डलिनी में प्राप्ति होती है, सो योगियों के हृदय में सदा सूर्यग्रहण होता है ॥ २५ ॥ इस प्रकार इस योगी के चित्त का सर्वदा संग्रसन होने पर भी उसकी अभिव्यक्तिरूप द्वितीया तिथि भी सदा रहती है ॥ २६ ॥ क्योंकि हठ से निरुद्ध भी यह चित्त सदा प्रादुर्भूत (प्रगट) होता ही है, इससे ज्ञान के विना उसका विनाश नहीं है ॥ २७ ॥

" सर्व एव परिक्षीणाः संदेहा यस्य वस्तुतः ।
सर्वार्थेषु विवेकेन स विश्रान्तः परे पदे ॥२८॥

ज्ञानादवासनीभावं स्वनाशं प्राप्नुयान्मनः ।
प्राणात्स्पन्दं च नादत्ते ततः शान्तिर्हि शिष्यते " ॥२९॥

वेदमुख्यांश्च वेदैर्हि देवाः खादन्ति सर्वदा ।
कर्मादिघनवर्षेऽपि तनुस्तेषां तु हीयते ॥३०॥

लम्बिकाविधिना योगाः सुरभीनामिकां निजाम् ।
जिह्वामेव हि स्लक्षन्ति ज्ञात्वा वेदविधिं हि तत् ॥३१॥

चन्द्रनाडीघनस्तत्र वर्षत्यमृतबिन्दुकान् ।
पिबतां तांश्च तेषां वै तनोर्नाशो भवत्यलम् ॥३२॥

वाञ्छया तेऽमरत्वस्य तान् पिबन्ति तथापि न ।
तत्फलं जायते साधो ! खिद्यन्ते ते तु मोहतः ॥३३॥

योगवासिष्ठ प्र० ६ । २ । स० १२५ ॥ सब अर्थ में वास्तविक विवेक से जिसके सब संशय नष्ट हो गये हैं, वही पर पद (आत्मा) में विश्रान्त होता है ॥ २८ ॥ प्र० ६ । ६९ । ज्ञान से ही मन वासना रहित रूपता को अपना नाश को प्राप्त होता है, प्राण से भी स्पन्द (चञ्चलता) का ग्रहण नहीं करता है, तब शान्ति ही शेष रहती है ॥ २९ ॥ ज्ञान विना वेद को मुख्य माननेवालों को भी वेदों द्वारा देव सब सदा भोगते खाते हैं । कर्मादिरूप मेघ की वृष्टि होने पर भी उनका देह नष्ट होता ही है ॥ ३० ॥ योगी लोक लम्बिकाकरण विधि से सुरभी नामक अपनी जिह्वा का ही भक्षण (ऊर्ध्वविवरप्रवेश) करते हैं, उस भक्षण को वेद का विधान जानकर वह भक्षण करते हैं ॥ ३१ ॥ चन्द्रनाडी रूप मेघ उस जिह्वा पर अमृत बिन्दुओं की वर्षा करती है, और उन बिन्दुओं को पीनेवाले भी उन योगियों के शरीर का अलं (पर्याप्त-निरर्थक) नाश होता है ॥ ३२ ॥ वे

त्रिकुटी मध्ये माँदर बाजै, अवघट अम्बर छीजै ।
पुहुमिक पनिया अम्बर भरिया, ई अचरज को बूझै ॥

त्रिकुट्यां च मृदङ्गो यो वाद्यते प्राणवायुना ।
तस्मिन्नपि कुघट्टे हि नश्यत्येव चिदम्बरम् ॥३४॥

नादाभ्यासरतो यस्मादात्मज्ञानं विना व्रजन् ।
विनिमज्जत्यविद्यायां नैव जातु चिदात्मनि ॥३५॥

तुच्छे पार्थिवदेहे च योगजानन्दलक्षणम् ।
पानीयमयमादत्ते सिद्धिजं न तु बोधजम् ॥३६॥

इदमत्र महाऽऽश्चर्यमानन्दात्मा स्वयं सदा ।
सुखमन्वेषते तुच्छं तत् को वेत्ति त्वपण्डितः ॥३७॥

चिदानन्दस्वरूपोऽपि विमलाद्विमलग्रहः ।
अनन्तोऽपि न जानाति दुःखी दोषीव खण्डितः ॥३८॥

लोक अमरता की इच्छा से उन बिन्दुओं को पीते हैं, तोभी वह फल नहीं होता है । हे साधो ! वे लोक मोह से दुःखी होते हैं ॥ ३३ ॥

त्रिकुटी में प्राणवायु से जो मृदंग (माँदर) बजाया जाता है, उस कुघाट में भी चिदाकाश रूप जीवात्मा नष्ट होता है ॥ ३४ ॥ जिससे आत्मज्ञान विना नादाभ्यास में प्रवृत्त होकर जाता हुआ, अविद्या में लीन होता है, कभी चिदात्मा में नहीं लीन होता ॥ ३५ ॥ और तुच्छ पार्थिव देह में योगज आनन्दरूप सिद्धि जन्य पानी (मर्यादा आदि) का ग्रहण करता है, ज्ञान जन्य आनन्द का नहीं ॥ ३६ ॥ यहाँ यह भारी आश्चर्य है कि, स्वयं सदा आनन्द स्वरूप भी तुच्छ सुख को खोजता है, तिस तत्त्व को अपण्डित कौन जानता है ॥ ३७ ॥ चिदानन्द स्वरूप, विमल से भी विमलग्रह (ज्ञान) स्वरूप अनन्त भी अपने को नहीं जानता है, और दुःखी दोषी की तरह खण्डित (भेदित) है ॥ ३८ ॥

कहहिं कबीर सुनहु हो सन्तो, योगिन सिद्धि पियारी ।
सदा रहत सुख संयम अपने, वसुधा आदि कुमारी ॥११२॥

उवाच सद्गुरुः साधो ! शृणुत्वं योगिनां गतिम् ।
एतेषां सिद्धयो नित्यं विद्यन्तेऽतिप्रियाः खलु ॥३९॥
अतश्च स्वसुखार्थं ते संयमे निरताः सदा ।
भवन्त्येव न बोधार्थं तेन चादिकुमारिकाः ॥४०॥
वर्तन्ते पत्युरप्राप्त्या पृथिव्यां सच्चिदात्मनः ।
यस्य लाभात् सदा सैव पात्यनन्तात्मरूपतः ॥४१॥
" ये केचन जगद्भावास्तानविद्यामयान् विदन् ।
कथं तेषु किलात्मज्ञस्त्यक्ताविद्यो निमज्जति " ॥४२॥
अनात्मज्ञास्तु तान् मत्वा सत्यसौख्यमयान् किल ।
यतमानास्तदर्थं च निमज्जन्ति भवार्णवे ॥४३॥
आशां कुर्वन्ति चान्येषामात्मानं मन्वते नहि ।
लभन्ते सत्पतिं नैव त्वहो मोहकदर्थना ॥४४॥११२॥

हे साधो ! सद्गुरु ने योगियों की गति (चाल) को कहा है, तुम सुनो, इनकी सिद्धियाँ सदा अति प्यारी हैं ॥ ३९ ॥ और इसीसे वे लोक अपना सुख के लिये सदा संयम (धारणा ध्यान समाधि) में निरत (प्रवृत्त) होते हैं, बोध के लिये नहीं निरत होते, तिससे सत्चित्स्वरूप पति की अप्राप्ति से आदिकुमारी हैं, और जिसके मिलने से वही सदा अनन्त आत्मस्वरूप से सदा पालन करता है ॥ ४०–४१ ॥ योगवासिष्ठ. प्र० ५ । ८९ । १४ । जो कुछ जगत के पदार्थ हैं उनको अविद्यामय जानता हुआ, अविद्यारहित, आत्मज्ञानी॰ उन पदार्थों में कैसे निमग्न हो सकता है ॥ ४२ ॥ अनात्मज्ञानी तो उन्हें सत्य सुखमय जानकर, उनके लिये यतन करते हुए संसारार्णव में डूबते हैं ॥ ४३ ॥ अन्य की आशा करते हैं, आत्मा को नहीं मानते हैं, न सत्य स्वामी को पाते हैं, मोह की कदर्थना (पीड़ा) आश्चर्यरूप है ॥ ४४ ॥

अक्षरार्थ–फिर भी कहते हैं कि, हो (हे) सुजन लोई ! (लोको !) आप इस प्रकार समझो, कि इन परोक्षवादी लोकों के मुखरूप माँदर (मृदंग तुल्य बाजा विशेष) ही गोरी (शुद्ध-निर्गुण) बाजता (बोलता) है। और एक कोई सगुण पदार्थ इनके छवों चक्रों में बेधा (व्याप्त) रहता है, और सत्य धर्म ज्ञानादि रूप वृक्ष (बैल) के विना ही इनके देहरूप कोल्हु मांचता (नाचता) है, या जलादि से धोया मांजा जाता है। तथा ये लोक बैल नहीं होते भी कोल्हु तुल्य भवचक्र में सदा नाचते हैं। इससे मनरूप ब्रह्म ही इन्हें पकड़ कर तापादि में हवन किया है, और मायारूप मछली इनके हृदयादि गगन में चढकर गाजती है, या मायारूप मछली ब्रह्म (जीव) को ही संसाराग्नि में हवन करके आप गगन में विराजती है, इत्यादि। अर्थात् हृदय विचार रहित माँदर के समान जो वचन बोलते हैं, सो सदा मन माया के वश में रहते हैं।

चित्त का लयरूप अमावास्या हठ से सदा होने पर, तथा ग्रहण होने पर, तथा कुण्डलिनी रूप राहु के लिये प्राणरूप ग्रास देने पर भी, ज्ञान विना द्वितीया के समान चित्त चन्द्र का उदय होता है। और वेदमुख (वेदवक्ताओं) को भी सुर ही (देव ही) भक्षण करते हैं, चित्त की सत्ता रहते विद्वान् भी देवाधीन होते हैं। घन (बहुत) कर्मादि की वर्षा करने पर भी शरीर वार २ होता है और नष्ट होता है। योगी लोक वेदविधि समझ कर खेचरी मुद्रा की रीति से सुरभी नामक जिह्वा का भक्षण करते हैं, अमरत्व की इच्छा से अमृत बिन्दु की वर्षा करके पीते हैं, परन्तु देह अवश्य नष्ट होता है।

मुख नासिका कान के सन्धिरूप, और नासिका दोनों भ्रुवों के सन्धिरूप योगियों की त्रिकुटी में माँदर (मृदंग-अनहद बाजा) बजता है। उसी अवघट (कुघाट) में अम्बर (चिदाकाशरूप जीवात्मा) छीजता (नष्ट होता) है, ज्ञानादि विना नादाभ्यास से अविद्यादि में लीन होता है; क्योंकि पुहुमी (भूमि) के पानी (आनन्द) को चिदम्बर ने भरा (प्राप्त किया)

है, अर्थात् शरीर विषयादि के आनन्द को ही सत्य समझ कर प्राप्त किया है, आत्मा में आरोप किया है, इस आश्चर्य को समझता भी कौन है।

साहब का कहना है कि, हे सन्तो! सुनो, बहुत योगियों की सिद्धियाँ प्यारी हैं। और वे लोक सदा अपने सुख मानादि के लिये संयमों में लगे रहते हैं, और सच्चा स्वामी को नहीं प्राप्त करते, इससे वसुधा (भूमि) में आदि कुमारी रहते हैं। वसु (धनादि) धारण करनेवाली उनकी बुद्धि ज्ञान रहित रहती है। कोई भूमिपतित्व चाहते हैं। परन्तु वसुधा आदि कुमारी है, आजतक किसीकी नहीं हुई, इत्यादि ॥११२॥

शब्द ॥ ११३ ॥

झूठहिं जनि पतियाहु हो, सुनु सन्त सुजाना।
घटही में ठग पूर है, मति खोहु अपाना॥

भोः सुज्ञाः! साधवो! नित्यं शुद्धबुद्धनिजात्मनः।
सत्यस्य श्रवणादीनामभ्यासोऽत्र विधीयताम् ॥ ४५ ॥
मिथ्याभूतं जगत् किञ्चित् सिद्धिसम्पत्तिबान्धवम्।
प्रतीयतां न सत्त्वेन विश्वासो नाऽत्र धीयताम् ॥ ४६ ॥
मनःकामेन्द्रियादीनां वञ्चकानां पुरं गृहम्।
युष्मत्कलेवरेष्वस्ति तत्सङ्गत्या स्वकं धनम् ॥ ४७ ॥

हे सुन्दर पण्डितो! साधुओ! नित्य (सदा) सत्य शुद्ध बुद्ध (सर्वज्ञ) अपनी आत्मा के श्रवणादि का अभ्यास इस मानव तनु संसार में करो ॥४५॥ मिथ्या स्वरूप पञ्चभूतात्मक किसी जगत् तथा सिद्धि सम्पत्ति बन्धु के समूह को सत्य रूप से नहीं समझो, न इनमें सुखादि के विश्वास का धारण करो ॥४६॥ मन काम इन्द्रियादि रूप वञ्चकों के पुर (नगर) गृह, तुम सबके शरीर में ही है, उनकी सङ्गति तथा प्रमाद से अपना

झूठे का मण्डान है, धरती असमाना ।
दशहुं दिशि वाके फन्द है, जिव घेरे आना ॥

ज्ञानं शमादिकं नैव नाशयध्वं प्रमादतः ।
रक्षणीयः सदैवात्मा ह्यात्मनैव नचान्यतः ॥ ४८ ॥
सद्रत्नं च स्वमात्मानं न विस्मरथ कुत्रचित् ।
नामरूपात्मकेऽसत्ये कल्पिते विश्वमण्डले ॥ ४९ ॥
असत्सङ्गो न कर्तव्यो विश्वासो ह्यसतां नहि ।
सतां सङ्गःसदा कार्यस्तेभ्यश्च श्रवणादिकम् ॥ ५० ॥
भूम्यादिगगनान्तं हि विस्तृतं विश्वमण्डलम् ।
मिथ्यामायामनःकार्यं मिथ्यात्ममण्डनं च तत् ॥ ५१ ॥
मायाया मनसः पाशो दिक्षु सर्वासु वर्तते ।
तस्यैवावरणे सर्वे ह्यज्ञा जीवाः समागताः ॥ ५२ ॥
सकामानां हि योगश्च तपश्च जपसंयमाः ।
तीर्थानि व्रतदानानि भक्तयो नवधा तथा ॥ ५३ ॥

ज्ञान शमादि रूप धन को नष्ट नहीं करो, और अपनी आत्मा सदा अपने ही से रक्षा योग्य है, अन्य से नहीं ॥४७-४८॥ और सत्य रत्न रूप अपनी आत्मा को नाम रूप स्वरूप, असत्य, कल्पित, विश्वमण्डल (भुवनादि समूह) में कहीं भी नहीं भूलो ॥४९॥ असत् पुरुष वस्तु का संग नहीं करना, न असत् का विश्वास करना, किन्तु सत्पुरुषों का संग सदा करना, और उनसे श्रवणादि करना ॥५०॥

भूमि से आदि लेकर आकाश (स्वर्गादि) तक विस्तृत यह संसार का समूह, मिथ्या जो माया और मन उसका कार्यरूप है, और वह मिथ्या स्वरूप ही मण्डन (अलंकार-भूषण) है ॥५१॥ और माया तथा मन का मोहादि रूप पाश (बन्धन) सब दिशाओं में है, उसीके आवरण (घेरा) में सब अज्ञ जीव प्राप्त हैं ॥५२॥ सकाम जीवों के योग, तप,

योग जाप तप संयमा, तीरथ व्रत दाना ।
नौधा वेद कितेब है, झूठे का बाना ॥
काहू के शब्दे फुरे, काहू करमाती ।
मान बडाई ले रहे, हिन्दु तुरुक दु जाती ॥

नामात्मकास्तथा वेदा ग्रन्थाद्याश्चैव सर्वशः ।
मिथ्यावेषस्वभावा हि शब्दशक्यार्थलक्षणाः ॥५४॥
सत्यो भावो न जन्मप्रभृतिमनुभवेत् सत्त्वतः सर्वदैव,
नैवासत्यः कदाचिज्जनिमृतिवशगः संभवेद्वा प्रसङ्गात् ।
एवं बोधान्निवृत्तिर्जगति सदसतोर्नैव दृष्टा न बाधो,
बन्धोऽवाच्यस्ततोऽयं जनिमृतिवशगो वित्तिबाध्यः प्रतीतः ॥५५॥
कस्यचिद् योगिनः शब्दा वाक्यसिद्ध्या स्फुरन्ति हि ।
शक्तिर्भवति काव्यस्य लोके कीर्तिप्रदा खलु ॥ ५६ ॥

जप, संयम, तीर्थ, व्रत, दान, तथा नवधा भक्ति, नामस्वरूप वेद, और सब ग्रन्थादि, जो शब्द और शक्य (वाच्य) अर्थ स्वरूप हैं, सो सब मिथ्या (माया) के ही वेष (आकार) स्वभाव स्वरूप हैं ॥५३-५४॥ सर्वदा सत्य रहने से सत्य पदार्थ जन्मादि का अनुभव नहीं कर सकता, और अतिप्रसंग (नरशृंगादि की उत्पत्ति आदि की प्राप्ति) से असत्य भी कभी जन्मादि के वशगामी नहीं हो सकता । इसी प्रकार सत् असत् की बोध से निवृत्ति या बाध नहीं देखा गया है, तिससे जन्ममरण के वशगामी यह संसार बन्धन तथा ज्ञान से बाध्य प्रतीति का विषय संसार अवाच्य (अनिर्वचनीय) मिथ्या है ॥५५॥

वाक्यसिद्धि से किसी योगी के शब्द सत्यादि रूप से स्फुरित (प्रख्यात) होते हैं, और शब्दों के स्फुरित (प्रकाशित) होने से लोक में यश देनेवाली काव्य की शक्ति होती है ॥ ५६ ॥ किसीको वचन से अन्य का निग्रह

बात ब्योंत असमान के, मुद्दत नियरानी ।
बहुत खुदी दिल राखते, बूडे बिनु पानी ॥

निग्रहेऽनुग्रहे शक्तिर्वाचा भवति कस्यचित् ।
वरशापादिभिर्लोकान् करोति वशगान् हि सः ॥५७॥
आकाशगमनादिश्च सिद्धिर्भवति कस्यचित् ।
क्रियात्मिका यया लोकेष्वाश्चर्यं मन्यते बहु ॥ ५८ ॥
सिद्धा हि सिद्धिभिः सर्वे प्रतिष्ठां श्रेष्ठतां तथा ।
प्राप्नुवन्ति सदाऽऽर्येभ्यस्तुरुष्केभ्यश्च मान्यताम् ॥५९॥
आर्याश्च यवनाः सर्वे द्विजातीनां गणास्तथा ।
मानाद्यर्थं सदा यत्नं कुर्वन्ति नहि मुक्तये ॥ ६० ॥
एष मायाकृतः पाशो बध्यन्ते यत्र योगिनः ।
द्विजातयोऽपि विद्वांसस्तुरुष्काद्या हि सर्वशः ॥ ६१ ॥
व्याख्यातारः परोक्षस्य वार्तां स्वर्गस्य कुर्वते ।
आकाशस्य व्यवस्थां च युगानि प्रगतान्यतः ॥ ६२ ॥

(निरोध) अनुग्रह (हितसंपादन अहितनिवारण) में शक्ति होती है, वह वर शाप आदि से लोकों को वशगामी करता है ॥ ५७ ॥ किसीको क्रियात्मक आकाशगमनादि रूप सिद्धि होती है, जिससे लोकों (भुवनों) में प्राणी बहुत आश्चर्य मानता है ॥ ५८ ॥ सिद्ध सब सिद्धियों से आर्य और तुरुकों से प्रतिष्ठा (आदर) श्रेष्ठता (प्रधानता) मान्यता (पूज्यता) सदा प्राप्त करते हैं ।।५९।। और सब आर्य यवन तथा द्विजातियों के समूह सब भी मानादि के लिये सदा यत्न करते हैं, मुक्ति के लिये नहीं ॥६०॥ यह पूर्वोक्त ही मायाकृत पाश है, जिसमें योगी द्विजाति विद्वान् तुरुकादि सब बँधते हैं ॥६१॥

परोक्ष का व्याख्यान करनेवाले स्वर्ग की बात करते हैं और आकाश की व्यवस्था करते हैं कि, अमुक प्रदेश में अमुक लोकादि हैं, इत्यादि।

आयुषश्चापि मर्यादा ह्यागताऽतिसमीपतः ।
गोचराणां तथाप्येते धरन्ति हृदये कणान् ॥६३॥

असारं वस्तु मानं च ह्यहंकारं मनोऽग्रताम् ।
दधते च निमज्ज्यातस्ते ब्रुडन्ति जलं विना ॥६४॥

मनो न दद्यादिह भोगभुक्तये,
दद्यात्सदैतन्निजयोगयुक्तये ।
सर्वं हि दद्याद् भवसिन्धुसेतवे,
तन्वादिकं सद्गुरवेऽर्हहेतवे ॥६५॥

तन्वा तदीयं बहुसेवनं चरेत्,
स्वान्तेन तच्चिन्तनभक्तिमाहरेत् ।
वाचा तदीयान् सुगुणानुदाहरे-
न्न जातु दोषं सुधनैश्च तोषयेत् ॥६६॥

और इन्हें मिथ्या नहीं समझते, इसीसे बहुत युग गये ॥६२॥ और आयुः की भी मर्यादा (सीमा–स्थिति) अति समीप में आ गई, तोभी ये लोक विषयों के कणों का ही हृदय में धारण करते हैं ॥६३॥ असार वस्तु, मान (पूज्यों के प्रति अनादरभाव), अहंकार (अपने में पूज्यतादि का अभिमान), मन की अग्रता (प्रधानता) को हृदय में धरते हैं, इससे वे लोग जल विना ही निमग्न होकर बूडते हैं ॥६४॥ मन को भोग (लौकिक सुख धनादि) की भुक्ति (भोगने) के लिये यहां नहीं देना चाहिये, किन्तु सदा आत्मयोग की युक्ति के लिये देना चाहिये, और संसारसमुद्र के सेतु (पूल), अर्ह (पूज्य) मोक्ष का हेतुरूप सद्गुरु के प्रति शरीरादि सब देना चाहिये ॥६५॥ शरीर से उनकी बहुत सेवा करे, मन से उनका चिन्तनरूप भक्ति की प्राप्ति करे, वाणी से उनके सुन्दर गुणों का कथन करे, दोष को कभी नहीं कहे, सुन्दर धनों से संतुष्ट करे ॥६६॥

कहहिं कबिर कासो कहौं, सकलो जग अन्धा ।
साँचा सो भागा फिरै, झूठे का बन्दा ॥११३॥

इति श्रीपूज्यपादसद्गुरुकबीरसाहबकृतबीजकाख्यग्रन्थेऽखिलसंशय-
शमनदमनं द्वितीयं शब्दप्रकरणं समाप्तम् ॥ २ ॥

सद्गुरुराह कस्मै तत् कथयामि चिदव्ययम् ।
विवेकचक्षुषा लभ्यं श्रद्धैकाग्र्यधनैर्जनैः ॥ ६७ ॥

सर्वे सन्ति जनास्त्वन्धाः संसारेऽत्राविवेकिनः ।
सत्यादेव पलायन्ते स्तुवन्त्यनृतमादरात् ॥ ६८ ॥

त्यक्त्वा सद्गुरुमप्येते धावन्ते च यतस्ततः ।
भूत्वा चानृतिनां दासास्तान् स्तुवन्ति सदा जनाः ॥६९॥

विमुच्यन्तां कथं चैते शृण्वन्ति न पराऽमृतम् ।
कुर्वते न विवेकं चेद् वैराग्यं नाश्रयन्ति च ॥ ७० ॥

अमानित्वमुखैर्हीनाः शमादिगुणवर्जिताः ।
लाभलोभादिनिष्ठाश्च मुच्यन्तां दुर्जनाः कथम् ॥ ७१ ॥

सद्गुरु कहते हैं कि, श्रद्धा एकाग्रता रूप धनवालों को विवेक नेत्र से मिलने योग्य वह चित् स्वरूप अविनाशी तत्त्व किसके लिये कहें ॥६७॥ इस संसार में सब अविवेकी लोग अन्धे हैं । सत्य से ही भागते हैं, और झूठ की स्तुति आदर से करते हैं ॥६८॥ ये लोग सद्गुरु को भी त्याग कर जहाँ तहाँ धावते हैं, और मनुष्य झूठे लोकों के दास होकर, उनकी ही सदा स्तुति करते हैं ॥६९॥ ये लोग यदि उत्तम अमृत का श्रवण नहीं करते हैं, न विवेक करते हैं, न वैराग्य का आश्रयण करते हैं, तो कैसे मुक्त होयँ ॥७०॥ अमानितादि से रहित, शमादि सद्गुणों से वर्जित (रहित), लाभ का लोभ में निष्ठा (व्रत-प्रीति) वाले दुर्जन कैसे मुक्त होयँ ॥७१॥

योगैरपि च ये भोगं सिद्धीः सम्पत्तिमेव च।
वाञ्छन्ति ते कथं मुक्ता भवन्तु वाऽभिमानिनः ॥ ७२ ॥
शान्त्यादिगुप्तगुणभूषणभूषिता ये,
सद्वाक्यसागरसुधारसलालसाश्च।
कैवल्यकारणगुरोः पदमाश्रिता वै,
मुक्ता भवन्ति भवभावनया वियुक्ताः ॥७३॥
निष्कामयोगादथ साधुसेवनात्,
कामाद्यरीणां परिवर्जनाद्बलात्।
स्वात्मानुभूत्या परमात्मभावनात्,
मुक्ता भवन्त्याप्तजनाः सुखं भवात् ॥७४॥
मिथ्याऽभिमानं परिहृत्य दूरे,
मिथ्यैव बुद्ध्वाऽखिलविश्वमेतत्।
कृत्वा विभूतौ प्रियतां कच्चिन्न,
ह्यात्माभिरामा भवबन्धमुक्ताः ॥ ७५ ॥

जो अभिमानी लोक योगों से भी भोगसिद्धि सम्पत्ति को ही चाहते हैं, वे कैसे मुक्त होवें ॥७२॥ शान्ति आदि स्वरूप गुप्त (गूढ रक्षित) गुण रूप भूषणों से जो भूषित (शोभित) हैं, और सत्पुरुषों के सत्य वाक्य रूप सागर के सुधारस की लालसा (अति इच्छा) वाले हैं, तथा कैवल्य के कारणरूप गुरु के पद का आश्रयण किये हैं, संसार की भावना से रहित वे ही लोक मुक्त होते हैं ॥७३॥ निष्काम योग, और साधुसेवा, और कामादि शत्रुओं का बल से त्याग, अपनी आत्मा की अनुभूतिद्वारा परमात्मा की भावना (भक्ति चिन्तन) से आप्त (सत्यवक्ता) लोक सुखपूर्वक संसार से मुक्त होते हैं ॥७४॥ मिथ्या अभिमान को दूर त्याग कर, इस सब विश्व को मिथ्या ही जानकर, किसी विभूति में प्रियता (स्नेह–प्रेम) नहीं करके, आत्मा ही में सर्वथा रमण करनेवाले भवबन्धन से मुक्त

गुरुभक्त्या मतिं शुद्धां विधाय हरिनिष्ठया।
क्षिप्रं विमुच्यते बन्धाज्ज्ञानादेव नचान्यथा ॥७६॥

इति ह० शब्दसुधायां योगस्वर्गादिसम्पत्तितुच्छतावर्णनं नाम
चतुश्चत्वारिंशत्तमस्तरङ्ग ॥ ४४ ॥

हैं ॥७५॥ गुरुभक्ति और हरिनिष्ठा (प्रीति–सिद्धि) से बुद्धि को शुद्ध कर के ज्ञान से ही शीघ्र बन्ध से मुक्त होता है, और प्रकार से नहीं ॥७६॥

अक्षरार्थ–सिद्धि सम्पत्ति आदि से कल्याण नहीं होता है, इससे सज्जन जिज्ञासु के प्रति उपदेश देते हैं कि, हे सुजान (विवेकी) सज्जनो ! मेरी बात सुनो, कि झूठ (मायिक वस्तु असत् पुरुष) को नहीं पतियाओ (इनमें सत्य सुखदायी आदि रूपता का ज्ञान विश्वास नहीं करो) या हे मनुष्यो ! सुनो, झूठों का विश्वास नहीं करो, और सुजान सन्त से श्रवण करो। और तेरे घट में ही कामादि ठगों के पुर (ग्राम) है, उनके वश होकर तुम अपने ज्ञानादि रत्नों को नही खोवो, आत्मधन को सुरक्षित रखो, कुमति को नष्ट करो।

धरति (भूमि) असमान (आकाश) में वा भूमि आदि रूप मण्डान (विस्तार-मण्डन) सब झूठ (मनमाया) का कार्य रूप है। और दशों दिशा में वाके (उसी मन माया के) काम लोभादि रूप विषयरूप फन्दा हैं, और अज्ञ जीव उसी फन्द (पाश) के घेरे में आना (आये) हैं। और सकाम योगादि, नौधा भक्ति निधि संसार, शब्दमय वेदादि, स्वरूप से और फलरूप से भी उस झूठ मन माया के ही बाना (स्वांग-वेष-स्वभाव) रूप है।

काहूके (किसीके) शब्दे फुरे (शब्द सत्य होते हैं, या शब्द के फुरणा-स्मरणादि) होते हैं। किसी में करामात (आकाशगमनादि अणिमादि) होते हैं। जिससे हिन्दू तुरुक दोनों जातिसे मान–बड़ाई लेते रहते हैं, इत्यादि।

असमान (आकाश स्वर्गादि) की बात का ब्योंत (व्यवस्था-नांप) करते २ मुद्दत्त (अन्त समय) नियराया (पास में आया), बातों में बहुत दिन बीत गये। तो भी जो बहुत खुदी (खुदगर्जी-स्वार्थीपन, या खुदी तुच्छ विषयादि) को ही अपने हृदयों में रखते हैं, वे लोक इसी से पानी विना बूड गये, अभिमानादि से जन्ममरणादि के चक्र में पड़े, इत्यादि।

साहब पुकार के कहते हैं, मैं किससे सत्यात्मा की बात कहूं। यह सकलो जग (संसारी) अन्धा (विवेकरहित) है, इससे सच्चा गुरु सत्य शब्द सत्य वस्तु से भागा फिरता है, और झूठों के वन्दा (दास) होता है, उनकी स्तुति वन्दना करता है, इत्यादि ॥११३॥

अथोपसंहारः।

शब्दामृतप्रकाशेन मोदन्तां गुरवो मम।
प्रीतो भवतु सर्वात्मा साक्षिरूपो महेश्वरः ॥ १ ॥

निर्मथ्य सागरं शब्दं सुधेयं प्रकटीकृता।
पिबन्तु सुधियः शश्वन्मोदन्तां मोक्षलब्धये ॥ २ ॥

शब्दामृतमिदं तावदल्पमेवोद्धृतं मया।
यतन्तामत्र चान्येऽपि यथाशक्त्यमृताय वै ॥ ३ ॥

साकल्येन समुद्धर्तुं क्षमोऽप्यस्माच्च को भवेत्।
येनायं रचितः सिन्धुस्तं विना परमं गुरुम् ॥ ४ ॥

देवासुरैर्मिलित्वाऽपि मथित्वा क्षीरसागरम्।
उद्धृतं घटिकामात्रं तृप्तास्तेनाऽभवन् सुराः ॥ ५ ॥

मयाऽप्येतत्प्रयत्नेन ह्यत्यल्पं विमलामृतम्।
उद्धृतं तेन तृप्यन्तु सज्जना ये विमत्सराः ॥ ६ ॥

तृप्यन्तु साधवो ह्यस्मात्त्यजन्तु दुरितं खलाः ।
असाध्यसाधने कश्च शक्तः स्यादीश्वरं विना ॥ ७ ॥

यद्भक्त्या जायते नैव जगत्यां मानवः पुनः ।
तं सर्वसुहृदं रामं प्रपद्येऽहं भयापहम् ॥ ८ ॥

यद्भक्त्यैव जनो नैव नरकेषु निपात्यते ।
तं वन्दे दुःखहन्तारं पातारं पितरं गुरुम् ॥ ९ ॥

यद्भक्त्या जनिभङ्गानां नामाऽपि श्रूयते नहि ।
अजन्मानमहं वन्दे तमश्यामं विभुं सदा ॥१०॥

जगतां सारभूताय चिद्रूपायाऽखिलात्मने ।
सर्वेषां सुहृदे नित्यं रामाय गुरवे नमः ॥११॥

यस्य वाक्यसुधायाश्च सकृत् पानाद् बुधो भवेत् ।
मुधा भवति विश्वं च तं कबीरं भजाम्यहम् ॥१२॥

सुधाऽवसेकवद्यस्य वचनात्तापनाशनम् ।
भयं न यमराजाच्च तं कबीरं नमाम्यहम् ॥१३॥

दीक्षाशिक्षाप्रदान् वन्दे विद्यादातॄन सुसज्जनान् ।
पूज्यान्सर्वान्नमस्यामः कुर्वन्तु श्रोतृमङ्गलम् ॥१४॥

जयन्तु ते सद्गुरुपादरेणवः सद्बोधवत्सार्थविवृद्धिधेनवः ।
येषां प्रसादात् सुधियां नवत्सवो रक्षन्तु ते भक्तजनं यथा धवः ॥१५॥

इति श्रीसद्गुरुकबीरसाहबचरणकमलभृङ्ग श्रीमोहनसाहब श्रीरमिता-
साहब गुरुचरणदास श्रीहरिहरकृपालुसुध्यन्तेवासिहनुमद्दासकृतेयं
शब्दसुधा समाप्ता ।

श्रीसद्गुरुचरणकमलेभ्यो नमः ।

श्री सद्गुरु कबीर साहब कृत

बीजक

स्वानुभूति व्याख्यासहित ।

अथ तृतीय कहरा प्रकरण ।

तत्रादौ मङ्गलं सम्बन्धश्च ।

[1]देहादिबन्धरहितं सहितं प्रकृत्या
भक्तेष्टसाधनविधावनुवर्तमानम् ।
सङ्गादिहीनपरपावनदिव्यरूपं
रामं नमामि नमतां सदभीष्टदोहम् ॥ १ ॥

देहादि रूप बन्धन से रहित, शक्ति रूप प्रकृति से युक्त, भक्तों के इष्ट (आशंसित-प्रेयः) का साधन (उपाय-सिद्धि) में अनुवर्तमान (प्रवृत्त), सङ्गादि से रहित उत्तम पावन दिव्य स्वरूप वाला, नमस्कार करनेवालों के सत्य अभीष्ट को पूर्ण करनेवाला राम को नमस्कार करता

---

१ देहकामादिबन्धैरहितम् । प्रकृत्या शुद्धसात्विकमायाशक्त्या सहितम् । सङ्गादिभिर्हीनं परं (उत्कृष्टं) पावनं दिव्यं स्वरूपं यस्य तम् । सन् योऽभित इष्टस्तस्य दोहं (पूरकं प्रापकं) रामं नमामि ॥१॥ खर्वा (नीचा) येऽभिमानादयस्तैर्विवर्जितः । मन्युः (शोको दैन्यं) करुणा एका (मुख्या) मूर्तिर्यस्य ॥१॥ कायस्य तत्त्वमतिजुगुप्सितत्त्वं तस्य ज्ञानार्थम् ॥२॥

खर्वाभिमानभयरोषविवर्जितो यो
मन्युस्पृहादिविगतः करुणैकमूर्तिः।
शीलादिशुद्धगुणभूषणभूषितो वै
तं सद्गुरुं तनुमनोवचनैर्नमामि ॥ २ ॥

देहाभिमानादतिवर्द्धते मृषा
तृष्णा धनादेर्ममतामदादि च।
तत्कायतत्त्वस्य सुदर्शनाय हि
तन्वा जुगुप्सा गुरुणा निगद्यते ॥ ३ ॥

तनुं विनिन्द्याऽत्र हि भक्तिसंयुतं
योगं विरागं च विवेकमादरात्।
ज्ञानं विशुद्धं शममुक्तवान् गुरुः
संक्षेपतस्तत्सुजनैर्निशम्यताम् ॥ ४ ॥

हूं ॥ १ ॥ खर्व (अल्प) अभिमान, भय रोष (क्रोध) से रहित, मन्यु (शोक) स्पृहा (इच्छा) आदि से भी रहित, जो सद्गुरु हैं, और करुणा (दया) ही जिनकी एक (मुख्य) मूर्ति है, तथा शील (पवित्र चरित्र) आदि शुद्ध (सात्विक) गुण रूप भूषण से भूषित, उस सद्गुरु को तनु मन वचन से नमस्कार करता हूं ॥ २ ॥ देहाभिमान से मिथ्या धनादि की तृष्णा और ममता मद आदि अति बढता है, तिससे शरीर का तत्त्व (स्वरूप) के सुन्दर दर्शन (ज्ञान) के लिये ही शरीर की जुगुप्सा (निन्दा) गुरु से कही जाती है ॥ ३ ॥ इस प्रकरण में शरीर की निन्दा करके भक्ति सहित योग विराग विवेक विशुद्ध ज्ञान और शम का संक्षेप से कथन आदर से सद्गुरु ने किया, वह सुजनों से सुना जाय ॥ ४ ॥ अर्थात्–शब्द प्रकरण में विस्तारपूर्वक संसार में मायिकता, असारता, दुःखरूपता आदि का वर्णन किया गया है, और साधन सहित ज्ञान ज्ञानी की धारणा आदि को दर्शाया गया है। उन्ही का इस प्रकरण में

संक्षेप से वर्णन है, और योगादि का प्रकारान्तर से वर्णन है, और कठिन दुःखादि को कहर कहते हैं, उनका यहाँ वर्णन है, इससे इस प्रकरण को कहरा कहते हैं, और कहरा नामक रागविशेष होने से भी कहरा कहा जाता है। और अन्तिम शब्द में मिथ्या की आसक्ति का त्याग के लिये उपदेश दिया गया है। तहाँ सब आसक्ति शरीरासक्ति पूर्वक ही प्रायः होती है, इससे सब से प्रथम स्थूल शरीर की हीनता, दुर्दशा आदि का इस प्रकरण में वर्णन करते हैं कि—

तनुधनादि जुगुप्सा प्र० १

कहरा ॥ १ ॥

ऐसन देह निरापन बौरे, मुये छुवै नहिं कोई हो।
उँडवक डोरवा तोरि लड़्वलन, जो कोटिन धन होई हो ॥

हृद्योऽयं मानवो देह आत्मीयो नहि कस्यचित्।
आत्मत्वे किन्तु वक्तव्यं मलिनस्य स्वभावतः ॥ १ ॥
दुःखात्मनो ह्यनित्यस्य शुद्धस्त्वात्मा [1]सुखः स्वयम्।
नित्यो विभुः सदाऽसङ्गश्चिन्न देहात्मको भवेत् ॥ २ ॥
देहश्चाशुचिरत्यन्तं तस्मान्मृत्योरनन्तरम्।
स्पृश्यते केनचिन्नैव चेत्स्याद् ब्रह्मसुतस्य सः ॥ ३ ॥

हृद्य (प्रिय) भी यह मानव देह किसी के आत्मीय (आत्मसम्बन्धी) नहीं है, और स्वभाव से मलिन दुःखरूप अनित्य देह को आत्मता पूछने पर तो कहना ही क्या है, आत्मा स्वयं शुद्ध सुखकारक नित्य विभु सदा असङ्ग चित् स्वरूप है, देह स्वरूप नहीं हो सकता ॥ १-२ ॥ और देह अत्यन्त अशुचि है, तिसी से मृत्यु के अनन्तर (अव्यवहित-बाद)

---

१ सुखयतीति सुखः।

ऊर्ध्वे श्वासा उपजी त्रासा, हँकराइन परिवारा हो।
जो कोइ आवै बेगि चलावै, पल इक रहन न पारा हो॥

अनात्मीयत्वतश्चायं यदा केन न गच्छति।
तदा परिकरो ह्यस्य कथं केन गमिष्यति॥ ४॥
कश्चास्य परिवारो वा [1]परिच्छदमुखाश्च के।
जीवेन सह गन्तारो द्रव्यादीन्यथवा परे॥ ५॥
अतश्च मृतिकालेऽस्य कटिसूत्रं जना अपि।
छित्वा न्यस्यन्ति वै भूमौ निजाः कोटिपतेरपि॥ ६॥
अत्यन्तदुःखरूपोऽयं मृतिकालेऽतिरिच्यते।
उच्छ्वसन्तमतो दृष्ट्वा जनास्त्रस्यन्ति तत्क्षणात्॥ ७॥
विह्वलाः स्वजनानाशु भीताश्चैवाऽऽह्वयन्ति यान्।
ते त्वागत्यातितूर्णं तं बहिः क्षेप्तुं जनान् मुहुः॥ ८॥

में यदि वह देह ब्रह्मा के पुत्र का भी हो तो भी किसी से छूआ नहीं जाता है॥ ३॥ और अनात्मीयता के कारण जब यह देह किसी के साथ नहीं जाता है, तो इसके परिकर (परिवार-सम्बन्धी) कैसे किसी के साथ जायगा॥ ४॥ कौन इस देह का परिवार, वा परिच्छद (परिच्छादक रक्षक भृत्यादि) अथवा द्रव्यादि पर (अन्य) कौन पदार्थ जीव के साथ चलने वाले हैं॥ ५॥ इसीसे इस देह के मरण काल में करोडपति के अपने जन (लोक) भी उसके कटिसूत्र (डांरा) को तोड कर भूमि में बीग देते हैं॥ ६॥

यह देह अत्यन्त दुःख रूप है, और मरण काल में और अति दुःख रूप से प्रतीत होता है, इसीसे ऊर्ध्व श्वास युक्त को देख कर मनुष्य शीघ्र डर जाते हैं॥ ७॥ विह्वल भययुक्त होकर के ही जिन स्वजनों को पुकारते हैं, वे लोक आकर, उसे बाहर डारने के लिये लोकों को बार २

१ परिच्छद्यतेऽनेनेति संज्ञायां घः॥

चन्दन चरचि चतुर सब लेपिन, गले गजमुक्ता हारा हो ।
चहुं दिशि गीध मुये तनु लूटै, जम्बुकन ऊदर फारा हो ॥
कहहिं कबीर सुनहु हो सन्तो !, ज्ञान हीन मति हीना हो ।
इक इक दीन यही गति सबकी, क्या राव क्या दीना हो ॥१॥

प्रेरयन्ति पलं नैव सहन्ते तु विलम्बनम् ।
भयादीनां निवृत्त्यर्थमन्यकृत्यसमाप्तये ॥ ९ ॥
एतज्ज्ञानं विना लोके विषयाणां विचक्षणाः ।
चन्दनादि निघृष्याङ्गे पृचते कान्तिसिद्धये ॥१०॥
एवं मुक्तामयीं मालां कन्धरास्वर्पयन्ति ते ।
क्षणात्तु मृतिसंप्राप्तौ क्रव्यादा गृध्रजम्बुकाः ॥११॥
स्थित्वा चतुर्षु वै दिक्षु कृत्वा कुद्रवणं मुहुः ।
सर्वतो वै विलुण्ठन्ति पिचण्डं च हणन्ति हि ॥१२॥
भोः साधो ! शृणु तत्त्वेन सुविचार्य विनिश्चिनु ।
[१]अज्ञानां मतिहीनानामेकैकस्मिन् दिने सदा ॥१३॥

प्रेरणा करते हैं, भयादि की निवृत्ति और अन्य कृत्य (कर्तव्य) समाप्ति के लिये पल मात्र भी विलम्ब नहीं सहते हैं ।। ८-९ ।। इस ज्ञान के विना विषयों के विचक्षण (विद्वान) लोक, कान्ति की सिद्धि के लिये चन्दनादि को घीस कर अङ्ग (देह) में लेपते हैं ॥१०। इसी प्रकार मुक्ता (मौक्तिक) मयी माला को वे लोक कन्धराओं (ग्रीवाओं) में अर्पण (धारण) करते हैं, और क्षणमात्र में मरण की संप्राप्ति होने पर, गीध सियारादि क्रव्याद (मांसाहारी) प्राणी चारों दिशा में स्थिर होकर, बार २ कुधावन करके सब तरफ से विलुण्ठन (नाश) करते हैं, पिचण्ड (उदर) को फाडते हैं ॥११-१२॥

हे साधो ! श्रवण करो, और तत्त्वतः (स्वरूपतः) सुविचार करके

१ यावद्देहमनःप्राणबुद्ध्यादिष्वभिमानवान् । तावत् कर्तृत्वभोक्तृत्वसुख-दुःखादिभाग् भवेत् ॥ अध्यात्मरा० बालका० स० ७ ॥

एतादृशी दशाऽवश्यं जायते भूभृतामपि।
दरिद्राणां च सर्वेषां ज्ञानिनां नैव कुत्रचित् ॥१४॥
मतिज्ञानविहीना वा सन्तः शृण्वन्तु सर्वशः।
राजानो दुर्गताः के वा सर्वेषां सा दशैकदा ॥१५॥
विज्ञा देहाद्विविच्य स्वं तिष्ठन्ति सच्चिदात्मना।
अतस्तेषां मृतिर्नास्ति विद्यते त्वविवेकिनाम् ॥१६॥
म्रियन्ते ह्यविवेकेन सर्वे देहाभिमानिनः।
न तु विज्ञा यतः साधो! जीवन्मुक्ता भवन्ति ते ॥१७॥
"[1]ज्ञानस्वरूपमखिलं जगदेतदबुद्धयः।
अर्थस्वरूपं पश्यन्तो भ्राम्यन्ते तमसः प्लवे" ॥१८॥१॥

यह विशेष निश्चय करो, कि मतिहीन अज्ञानी राजा और दरिद्र सब की एक २ दिन ऐसी ही दशा सदा और अवश्य होती है, ज्ञानी की ऐसी दशा कहीं नहीं होती ॥ १३–१४ ॥ अथवा मतिहीन ज्ञानहीन और सन्त सब इस बात को सुनें और समझें कि, राजा वा दुर्गत (दरिद्र) कौन हैं, सब की वह दशा एक समय होती है ॥१५॥ और विज्ञ (ज्ञानी) लोक अपने को देह से विवेक (भिन्न) करके सत्चित् स्वरूप से स्थिर रहते हैं, इससे उनका मरण नहीं है, अविकियों का है ॥१६॥ सब देहाभिमानी अविवेक से मरते हैं, हे साधो! विज्ञ नहीं मरते; जिससे वे जीवन्मुक्त रहते हैं ॥१७॥ यह सब जगत् ज्ञान (ब्रह्म) स्वरूप है, कुबुद्धि लोक इसको अर्थ स्वरूप देखते हुए तम के प्लव (जलान्तर-शब्द सागर) में भ्रमते हैं ॥१८॥

अक्षरार्थ–हे बौरे! (देहाभिमानी अविवेकीयों!) जिस देह में आसक्त हो कर, मोक्ष सुख को खो बैठे हो, सो देह ऐसा निरापन (अनात्मा -असम्बधी-स्वत्वरहित-अपावन) है, कि मुये पीछे इसे कोई छूता तक

१ पद्मपु० सृष्टिखं० अ० ३।४७॥

नहीं है। अर्थात् जो इसे त्यागता है, सो फिर इस में नहीं आता है, और अन्य लोक छूना नहीं चाहते हैं, इससे तुरन्त जार गाड़ देते हैं। और यदि करोडों रुपयादि धन हों, तो भी लोक, डडबक (कमर के) डोरा (डांरा-कटिसूत्र) को भी तोर कर, लडवलन (गिराय दिये)। एक डोरा (धागा) तक भी किसी के साथ नहीं गया, न जाता है, इत्यादि।

और मरण काल में ऊर्ध्व श्वास होते ही अन्य को भी त्रास (भय) उपजता (उत्पन्न होता) है, तो वह अपने परिवार (संबन्धी) को हँकराता (बोलाता) है। फिर जो कोई आता है, सो वेगी (शीघ्र) घर से चलाता (बाहर करता) है, इससे यह देह वहाँ एक पल भी रहने नहीं पेरा (पाया), न रहने पाता है। तो भी इस देह की शोभा आदि के लिये चतुर लोक चन्दन को चरचि (घीस) कर इस देह में लेपते हैं, गले में गजमुक्ता आदि के हार पेन्हते हैं। परन्तु अन्त में इस देह के चारों तरफ बैठ कर इसे गीध लूदते (खाते) हैं, गीदड पेट फारते हैं।

हे सन्तो! सुनो! ज्ञानहीन मतिहीन सबकी एक २ दिन यही गति (दशा) होती है, क्या राजा वा क्या रंक होवें, देहाभिमानी की यही गति होती है, विवेकी ज्ञानी की नहीं ॥ १ ॥

शरीर धनादि के अभिमानादि को त्यागने के लिये संसार की असारता को देखाते हुए रामभजनादि के लिये उपदेश देते हैं कि—

कहरा ॥ २ ॥

राम नाम भजु राम नाम भजु, चेति देखु मन माहीं हो।
लक्ष करोड जोरि धन गाडे, चलत डोलावत बाँहीं हो॥

त्यक्त्वा देहाभिमानादीन् रामनामानमेव हि ।
सर्वात्मानं भजध्वं तं यूयं नान्यं कदाचन ॥१९॥

सावधानाः सदा भूत्वा तं च स्वे मनसि स्थितम् ।
अपरोक्षं विजानीत सर्वयत्नेन सज्जनाः ! ॥२०॥

" सुप्ताः प्रबुद्धाः पश्यन्ति दृश्यं दृश्ये रता यथा ।
तथाऽदृश्ये रताः शान्ताः सन्तः पश्यन्ति सत्पदम् ॥२१॥

विना यत्नभरेणेदं न कदाचन सिद्धयति ।
महतोऽभ्यासवृक्षस्य फलं वित्त परं पदम् " ॥२२॥

अविदित्वा तु रामं ये लक्षं कोटिं धनानि वै ।
भूमौ निखन्य रक्षन्ति मत्ता गच्छन्ति गर्वितः ॥२३॥

बाहू संदोलयन्तो वै गणयन्तो न कञ्चन ।
ते नश्यन्ति मुधा मोहात् प्राप्नुवन्ति न किञ्चन ॥२४॥

देहाभिमानादि को त्याग कर, सर्वात्मा उस रामनामवाला को ही तुम सब भजो, अन्य को कभी नहीं भजो ॥१९॥ हे सज्जनों ! सदा सावधान हो कर अपने मन में स्थित उस राम को सब यत्न से अपरोक्ष जानो ॥२०॥ योगवासिष्ठ प्र० ६।२।१६३ ४५-४६। के वचन हैं कि-जैसे दृश्य वस्तु में प्रेम वाला स्वप्न और जाग्रत में दृश्य को देखता है, तैसे अदृश्य आत्मा के प्रेमी शान्त सन्त भी सत् तत् पद को देखते हैं। परन्तु यत्न का विस्तार के विना इस अदृश्य पद की प्राप्ति नहीं होती, इससे महान् अभ्यासरूप वृक्ष के फलरूप इस पर पद को जानो ॥२१-२२॥ जो लोक राम को नहीं जान कर, लाखों करोडों धन को भूमि में गाड कर रक्षा करते हैं, और उसके गर्व से उन्मत्त हो कर बाहू को डोलाते हुए, किसी को कुछ भी नहीं समझते हुए, चलते हैं; वे लोक मोह से व्यर्थ नष्ट होते हैं, कुछ पाते नहीं हैं ॥२३-२४॥

प्रारब्ध वश धन की प्राप्ति हो तो उसका उचित दानोपभोगादि करना ही कल्याण कारक है, केवल गाड रखना अनर्थ कारक है इत्यादि आशय से कहते हैं कि—

बाबा दादा औ परपाजा, जिनके ई भुइँ भाँडे हो ।
अँधरे भये हियहुं की फूटी, तिन काहे सब छाडे हो ॥
ई संसार असार को धन्धा, अन्त काल कोइ नाहीं हो ।
उपजत बिनशुत वार न लागै, जस बादर की छाँहीं हो ॥

बाहू संदोलयन्तस्ते गच्छन्तो न विदन्ति किम् ।
पितॄन् पितामहांस्तद्वद् गतांश्च प्रपितामहान् ॥२५॥
अन्धाः किमभवंश्चैते हृच्चक्षुर्व्यनशत् किमु ।
किं न पश्यन्ति यद्येषां भूमिभाण्डादिसंचयैः ॥२६॥
वयं वै धनिनो जातास्ते त्यक्त्वा किं समव्रजन् ।
किं न सर्वं समादाय तेऽगमन् मम पूर्वजाः ॥२७॥
यथा तैर्न गतः कोपि संचयो न तथा मया ।
कश्चिद् यास्यति सार्द्धं तज्ज्ञातव्यं मोक्षकाङ्क्षिभिः ॥२८॥

बाहु डोलाते चलते हुए वे लोक, गये हुए पिता, पितामह तद्वत् प्रपितामह को क्या नहीं जानते हैं ॥२५॥ क्या ये लोक अन्धे हुए हैं, क्या हृदय के नेत्र भी नष्ट हुवा है, कि यत् (जिससे) क्या नहीं देखते हैं, कि जिनके भूमि (राज्यादि) भाण्ड (भूषण पात्रादि) के संचयों (समुदायों) से हम लोक धनी हुए हैं, वे लोक त्याग कर क्यों गये, मेरे पूर्वज वे लोक सब संचय को ले कर क्यों नहीं गये ॥२६–२७॥ जैसे उनके साथ कोई भी संचय नहीं गया, तैसे मेरे साथ भी कोई नहीं जायगा, सो मोक्षेच्छु को समझना चाहिये ॥२८॥ यह संसार अतथ्या

उत्तम कुल गोत्रादि मात्र से जो अपनी बड़ाई भलाई समझते हैं, उनके प्रति कहते हैं कि—

नाता गोता कुल कुटुम्ब सब, इन कर कौन बड़ाई हो ।
कहहिं कबिर एक राम भजे बिनु, बूडल सब चतुराई हो ॥२॥

संसारोऽयमतथ्याया व्यवहारस्त्वसन् सदा ।
असत्य व्यवहारोऽपि तुच्छस्तुच्छफलप्रदः ॥२९॥
मृत्युकाले न कोऽप्यत्र कस्यापि संभवत्यथ ।
परान्ते ज्ञानकाले च किञ्चित्सन्नाऽत्र स्थिप्यते ॥३०॥
वर्तमानेऽपि कालेऽस्य समुत्पत्तिविनाशयोः ।
वासरा नैव गच्छन्ति स्थिरताप्रत्ययो भ्रमात् ॥३१॥
मेघो यथा च तच्छाया क्षणाद् भवति नश्यति ।
तथैव विश्ववर्गोऽयं क्षणाद् भवति लीयते ॥३२॥
सम्बन्धैः कुलगोत्राद्यैः कुटुम्बैः क्रियते किमु ।
किम्वा श्रेष्ठत्वमेतैः स्याच्छ्रीराम भजनं विना ॥३३॥

(सत्यता रहित) माया का व्यवहार (स्थिति क्रियादि) स्वरूप और सदा असत् है। और इस संसार के व्यवहार भी तुच्छ है, और तुच्छ फल के दाता है ॥२९॥ और यहाँ मृत्यु काल में कोई किसी का नहीं संभव होता है, अनन्तर ज्ञान काल रूप परान्त में तो यहाँ कुछ भी सत् बाकी नहीं रहता है ॥३०॥ वर्तमान काल में भी इस संसार की उत्पत्ति विनाश में बहुत दिन नहीं जाते हैं, सदा कुछ परिवर्तन होता रहता है, परन्तु भ्रम से स्थिरता का ज्ञान होता है ॥३१॥ जिस प्रकार मेघ और उसकी छाया क्षण में उत्पन्न नष्ट होता है, तैसे ही यह विश्व (भुवनादि) का वर्ग (संघात) भी क्षण में होता है, और लीन होता है ॥३२॥

श्री राम का भजन के बिना लौकिक संबंध, कुलगोत्रादि, कुटुम्बों से क्या फल किया जाता है, वा इन से श्रेष्ठता क्या होगी ॥३३॥ एक

एकस्याद्वयरामस्य भजनेन विना सदा ।
अनश्यत्सर्वचातुर्यं न्यमज्जन् कुशला भवे ॥३४॥
रामनाम्नि परे तत्त्वे दृष्टे जन्मादिवर्जिते ।
शुद्धे सर्वाणि मुच्यन्ते बन्धनानि हि सर्वथा ॥३५॥
रामनाम्नि स्थिते चित्ते वैराग्यरसरञ्जिते ।
शमादौ साधिते सर्वास्त्रुट्यन्ति भववागुराः ॥३६॥
सर्वेषां यः शुभकरसुहृत् सर्वात्मात्मा सुविदितपरः ।
शान्तो दान्तो जितरिपुगणो नैवासौ क्वापि वसति गुणे ॥३७॥

इति हनुमद्दिये कहराकल्पे तनुधनादि जुगुप्सावर्णनं नाम प्रथमा शिक्षा ॥२॥

अद्वय राम के सदा भजन बिना सब चतुराई नष्ट हुई, और कुशल भी संसार में निमग्न हुए (डूबे) ॥३४॥ जन्मादि रहित शुद्ध रामनाम वाला पर तत्त्व (स्वरूप) के देखने (जानने) पर, सब बन्धन सर्वथा छूट जाते हैं ॥३५॥ वैराग्य रस से रञ्जित (वैराग्य में प्रेमयुक्त) चित्त के रामनाम वाला में स्थिर होने पर, शमदमादि के साधित (सम्यक् सिद्ध प्राप्त) होने पर, सब संसार बन्धन टूट जाते हैं ॥३६॥ जो सब के शुभ करने वाला सुहृद, सब की आत्मा स्वरूप आत्मावाला, अच्छी तरह पर तत्त्व के ज्ञानी, शान्त, दान्त, कामादि रिपुगण के विजयी है, वही कहीं भी गुण में नहीं वसता है, किन्तु गुणपर आत्मनिष्ठ होता है ॥३७॥

अक्षरार्थ–रामनाम वाला हरि को भजो, रामनाम ही को भजो, और उस राम को अपने मन में चेति (विवेक) करके देखो (समझो) तथा चित्त में सावधान हो कर देखो कि जो कोई लाखो करोडो धन जोड़ (संग्रह) करके गाडते हैं, और गर्व के मारे बाहु डोलाते चलते हैं, सो बात कैसी है, तथा सदा धन में आसक्त रहने से चलते (मरते) समय भी उसीके लिये बाहु डोलाते (इसारा) करते हैं, उस समय भी ममतादि नहीं छोडते, इससे दुःखी होते हैं इत्यादि ।

ये अभिमानी लोक अन्धे भये हैं, उनके हृदय की आंख भी फूटी है, इसीसे यह नहीं समझते हैं कि बाबा (पिता) दादा (पितामह) परपाजा (प्रपितामह) जो हुए, और जिनके ये भूमि भांडे (खेत प्रान्नादि) थे, वे लोक सब काहे छोड गये। अर्थात् जैसे वे लोक मिथ्या अभिमान करके गये, तैसे ही सब मिथ्या अभिमान करते हैं। और यह संसार ससार (मिथ्या) मनमाया के धन्धा (कार्य-व्यापार) रूप है, अन्त काल में कोई किसी का नहीं होता है, और इसके उपजते बिनशते में वार (समय) नहीं लगता है, यह बादर की छाया की तरह तुरन्त उत्पन्न नष्ट होता है। स्वप्न तुल्य इसकी स्थिरता भासती है इत्यादि।

नाता (सम्बन्ध) गोता (गोत्र) कुल (घर खानदान) कुटुम्ब (सम्बन्धी) इन सबकी बडाई क्या है (तुच्छ है)। और एक सर्वात्मा राम को भजने बिना सब चतुराई भी बूडल (व्यर्थ नष्ट हुई) तथा चतुर लोक भी नाता आदि में फंस कर संसार समुद्र में डूब गये ॥ २ ॥

कामी जुगुप्सा प्र० २

उक्त चतुराई में नष्ट होने वाले, स्त्री के समान परवश विषय सम्पत्ति में आसक्त लोकों के प्रति कहते हैं कि—

कहरा ॥ ३ ॥

ननदी गे तैं विषम सोहागिनि, तैं निगले संसारा गे।
आवत देखि एक संग सूति, तैं औ खसम हमारा गे॥

भो मूढा वञ्चका देवदासाः! कर्मठकामुकाः!।
स्त्रीवत् परवशाः प्रीतिसंयुता विषमेषु च ॥ १ ॥

हे मूढ, वञ्चक, देवदास, कर्मठ, कामुक, स्त्रीतुल्यपरवश, और विषयों में प्रीति सहित लोको! ॥ १ ॥ मिथ्या का अभिनन्दन (स्वीकार)

मोर बाप कहँ दुइ मेहररुआ, मैं अरु मोर जेठानी गे।
जब हम अइली रसिक के संग में, तबहिं बात जग जानी गे॥

युष्माभिर्विनिगीर्णा वै सर्वे संसारिणो जनाः।
मिथ्याभिनन्दनासक्तिस्वार्थसाधनतादितः॥ २॥
यूयं भजथ रामं नो नैवोपदिशथापि च।
तत्त्वं किन्त्वन्यथा ब्रूध्वे तेन नश्यन्ति मानवाः॥ ३॥
अस्माभि र्दृश्यते चैतद्यदत्रागमनाऽहनि।
अस्माकं स्वामिना सार्द्धमात्मरामेण संगताः॥ ४॥
सुप्ताश्चैवागताः सर्वे भवन्तो मोहनिद्रया।
तां त्यजन्ति नचाद्यापि तेनानर्थपरंपरा॥ ५॥
शुद्धात्मा चैव जीवश्च द्वावेवास्तां तदा हृदि।
जीवेन कल्पितो भूयो ह्यनन्तः स्वपतिव्रजः॥ ६॥
द्वावेव वल्लभौ मेऽत्र वर्तेते स्वामिनः पितुः।
एकोऽहं यश्च मत्तोऽपि श्रेष्ठः कोऽपि विचारवान्॥ ७॥

आसक्ति, स्वार्थसाधनता आदि से तुम सब ने सब संसारी जनों को निगल लियो (खा गयो-नष्ट कियो)॥ २॥ तुम सब राम को नहीं भजते हो, न तत्त्व का उपदेश ही भजन के लिये देते हो, किन्तु अन्यथा ही कहते हो, तिससे मनुष्य नष्ट होते हैं॥ ३॥ हम लोकों से तो यह देखा जाता है कि जो इस संसार में आगमन (जन्मादि) के दिन हमारा स्वामी आत्मा राम के साथ ही मिले हुए और मोह निन्द्रा से सोये हुए आप सब यहाँ आये हैं, और उस निद्रा को आज भी नहीं त्यागते हैं, तिसीसे अनर्थ (दुःख) की परम्परा (प्रवाह) है॥४,५॥ उस आगमन काल में अन्तर्यामी रूप से शुद्धात्मा और जीव दोही हृदय में थे, फिर जीव से बहुत, अनन्त पतिसमूह काल्पित हुए हैं॥ ६॥

इस संसार में मेरा रक्षक पिता के दो ही वल्लभ (प्यारे) हैं, सब

माय मोर मुबलि पिता के संगे, सारा रचि मुवल सँघाता गे।
आपुहिं मुई और लै मुवली, लोग कुटुम्ब संग साथा गे॥

विमुक्तो भवपाशेभ्यो जीवन्मुक्तो विदेहकः।
स्ववशोऽसङ्गधीः शान्तः परार्थघटकः सुधीः ॥ ८ ॥
यदा चाहं रसज्ञस्य सुसङ्गेऽत्र समागतः।
तदा ज्ञातं जगत् कृत्स्नं वाचारम्भणमात्रकम् ॥ ९ ॥
किञ्च यज्जगतोऽप्यस्य तत्त्वं तद्विदितं मया।
यस्मिञ् ज्ञाते न किञ्चिद्धि ज्ञातव्यमवशिष्यते ॥१०॥
माया माता मृता चाद्य पितुरासाद्य मेऽन्तिकम्।
तटस्थस्वामिभिः सार्द्धमविद्याऽपि मृताऽनृता ॥११॥
ज्ञानाग्नेश्च चितां कृत्वा संघातात्माऽतिवल्लभा।
वनिताऽपि मृता साऽत्र न पुनर्भवनाय वै ॥१२॥

से लघु एक मैं हूं, और दूसरे वे हैं कि जो विचारवान् भवपाशों से विमुक्त, देहाभिमानरहित, स्ववश, असङ्ग बुद्धिवाला, शान्त, अन्य के प्रयोजन का साधक, पण्डित और हम से श्रेष्ठ ही हैं ॥७–८॥ जब मैं यहाँ रसज्ञ (आत्मज्ञानी) के सुन्दर संग में प्राप्त हुवा, तब सम्पूर्ण जगत को वाचारम्भणमात्र (मिथ्या) जान लिया ॥ ९ ॥ और इस जगत का जो तत्त्व (सत्यस्वरूप परमात्मा) है, सो भी मुझे विदित (ज्ञात) हुवा कि जिसके जानने से कुछ जानने योग्य बाकी नहीं रहता है ॥१०॥ अद्य (आज इस ज्ञान काल में) माया (ममतादि) रूप मेरी माता (जन्मदात्री) सर्वात्मा पिता के पास जा कर मर गई, और तटस्थ स्वामियों के सहित साथ अनृत (मिथ्या) स्वरूप अविद्या भी मर गई ॥११॥ प्राणेन्द्रियादि के संघात (समुदाय) स्वरूपा अति प्यारी वनिता (स्त्री) भी ज्ञानाग्नि की चिता बना कर, वह फिर यहां नहीं जन्मने के लिये मरी है ॥१२॥ अथवा अतिचञ्चल माया ने ही ज्ञान सहित संघात को

यहाँ शंका हुई कि यदि ज्ञानी के माया आदि सब ज्ञान से नष्ट हो जाते हैं, तो ज्ञान के अव्यवहित उत्तर काल में शरीर छूट जाना चाहिये, क्योंकि माया कर्मादि रूप कारण के विना देह रूप कार्य की स्थिति नहीं रह सकती इत्यादि तब कहते हैं कि—

जब लगि श्वाँस रहे घट भीतर, तब लगि कुशल परी हैं गे।
कहहिं कबिर जब श्वाँस निसरिगौ, मन्दर अनल जरी हैं गे॥३॥

संघातं ज्ञानयुक्तं वा चितां कृत्वाऽतिचञ्चला।
स्वयं तत्र मृताऽन्यांश्च गृहीत्वा लोकसंघकान्॥१३॥
इन्द्रियादीन् कुटुम्बांश्च तृष्णाऽऽशादिगणांस्तथा।
सा सर्वांश्च गृहीत्वैव व्यनश्यद्योगदुर्गमा॥१४॥
इत्थं दग्धेऽपि सर्वस्मिन्निदग्धपटवत् किल।
चित्रवद्वर्तते देहो ज्ञानिनामपि सम्प्रति॥१५॥
प्रारब्धवशतः किञ्च कार्यशक्त्यवशेषतः।
यावत् संतिष्ठते प्राणस्तावद्देहेऽस्ति मङ्गलम्॥१६॥
प्राणस्य विगमेऽस्यापि पुनर्दाहो भविष्यति।
सवासनं समूलं च सद्गुरुस्तद्धि भाषते॥१७॥

चिता बना कर अन्य लोकादि समूहों का भी ग्रहण करके स्वयं नष्ट हुई है॥१३॥ योग से भी दुर्गम वह माया इन्द्रियादि रूप कुटुम्बों और तृष्णा आशा आदि के गणों इन सब का ग्रहण कर के ही नष्ट हुई॥१४॥

इस प्रकार ज्ञानाग्नि से सब के दग्ध होने पर भी ज्ञानियों के देह वर्तमान काल में दग्धपट तुल्य चित्र तुल्य रहता है॥१५॥ प्रारब्ध कर्म का बल से और मायाविद्या की आवरण शक्ति के नाश होने पर भी कार्य (विक्षेप) शक्ति के बाकी रहने से जब तक देह में प्राण है, तब तक मङ्गल भी है॥१६॥ प्राण के वियोग होने पर ज्ञानाग्नि से दग्ध भी इस देह का वासना मूल सहित फिर दाह होगा, सो सद्गुरु कहते हैं॥१७॥

अथवाऽज्ञस्य देहेऽपि यावच्छ्वासं हि मङ्गलम् ।
श्वासस्य विगमे सोऽत्र वन्हौ दग्धो भविष्यति ॥१८॥
ज्ञानेन भवेदिह मुक्ततायोगेन न कर्मभिराश्रमैः ।
सर्वात्मसु चात्मनि तुल्यता चेद्विघ्नगणः क्व संसृतिः ॥१९॥
इन्द्रियाणि सन्नियम्य विश्वं यः सदा जगन्मृषैव पश्यन् ।
तिष्ठति स्व रामनामधाम्नि सैव नेह चंक्रमीति चक्रे ॥२०॥
यस्य मनस्तुष्टं स्वबोधतो दोषगुणौ सम्यक् च निर्गतौ ।
यश्च शुभे संस्कारतो वसेन्नैव स दोषै र्लिप्यते स्वतः ॥२१॥३॥

अथवा अज्ञ के देह में जब तक श्वास है, तभी तक मंगल है, श्वास के निकलने पर वह यहाँ अग्नि में दग्ध होगा ॥१८॥ परन्तु मुक्तता यहाँ ज्ञान ही से होगी, योग कर्म आश्रम से नहीं, और यदि सर्वात्मा निजात्मा में तुल्यता हो, तो विघ्नगण और बार २ मरण कहाँ ॥१९॥ क्योंकि जो इन्द्रियों का संयम करके सब जगत को सदा मिथ्या देखता हुवा अपने राम नाम वाला धाम में स्थिर है, सोई इस संसार चक्र में बार २ नही घूमता है ॥२०॥ जिसका मन अपना ज्ञान से संतुष्ट है, और दोष गुण दोनो जिसके अच्छी तरह निकल गये हैं, और जो संस्कार से ही शुभ मार्ग में वसता है, कर्तव्य बुद्धि से नहीं, वह स्वतः स्वभाव से दोषों से लिप्त नहीं होता है, इससे सर्वथा जीवन्मुक्त विदेह मुक्त होता है ॥२१॥

अक्षरार्थ—गे (हे) ननदी (नाता आदि में आसक्त अनात्माभिनन्दन करने वाले !) तैं (तुम सब) समरस परमात्मतत्त्व को छोड कर विषम (क्रूर) देव विषयादि के सोहागिन (प्रेमी) हुए हो, और विषम सोहागिन हो कर गुरु आदि कहा कर तैं (तुम) संसारी जीवों को निगले (नष्ट पीडित किये) हो। और आवते (जन्मते) काल में तैं (तुम) जीव को और हमारा खसम (स्वामी) सर्वात्मा प्रभु को ही हम लोकों ने एक संग सोया देखा है, तुम दो ही एक देह वृक्ष के हृदय

कोटर में सोये थे, (द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। मुण्ड ३।१) पीछे तुमने बहुत की कल्पना की है। विशेष बात है कि रमैनी प्रकरण में कर्मी को नारी कहा गया है, और गे शब्द से प्रायः स्त्री का संबोधन होता है, इससे यहाँ स्वतन्त्र अपनी आत्मा को नहीं जान कर, कर्मादि द्वारा देवादि को भजने वाले, और देवादि का ही उपदेश देने वाले, सर्वात्मा से विमुखों के प्रति यह कथन है, जो देवादि के वहन तुल्य हो कर, अन्य जीवों को भी देवादि की प्राप्ति कराना चाहते हैं, आत्माराम की नहीं।

कहते हैं कि तुम तो विषम के प्रेमी हो परन्तु मेरा बाप (सर्व-पिता) आत्माराम समतत्त्व के ही दो मेहरारू (अर्धाङ्गी स्त्री) रूप हैं, एक तो मैं (वर्तमान ज्ञानी) और दूसरी मोर जेठानी (हम से बडे तथा प्रथम के ज्ञानी भक्त), अर्थात् हम लोकों की बुद्धि सर्वाधिष्ठान सत्यात्मा को ही पति पिता समझती हैं॥ और (रसो वै सः तै० २।७) इसके अनुसार आनन्द स्वरूप रसको जानने वाले रसिक के संग में जब हम सब आये, तब जगत को बात (वाणी मात्र) मिथ्या जान गये॥ और ऐसा जानने से ही मेरी माय (माया) सर्वात्मा पिता के संग में लीन हो गई, या तटस्थ पतियों के सहित नष्ट हो गई। और ज्ञानाग्नि की सारा (चिता) रच कर देहादि संघात नष्ट हुए, और वह माया ही मरते समय और (अन्य) लोक कुटुम्ब संगी साथी (महत्तत्त्व अहंकारादि) सब को ले कर मरी, इससे हम सब असंग हो गये।

जब तक ज्ञानी के स्थूल देह में प्रारब्ध कर्म वश प्राण रहता है, तब तक इसके मूल नष्ट होने पर भी इसकी स्थिति रहने से इसका कुशल रहता है, प्रारब्ध के क्षय होने पर श्वास के निकलने से इस देह रूप मन्दिर का अग्नि में दाह होता ही है, तथा अज्ञ के देह में भी प्राण रहते ही कुशल है, फिर नही, विज्ञ के लिये सदा सर्वत्र कुशल है (न तस्य प्राणा उत्क्रमन्ति) इस श्रुति के अनुसार, ज्ञानी के प्राण का लय होना ही निकलना है, अन्य नहीं इत्यादि ॥ ३ ॥

जो मनुष्य मरण पर्यंन्त विषम विषयादि के ही प्रेमी रहने से आत्मविचारादि नहीं करते हैं, उनकी दशा का वर्णन करते हैं कि—

कहरा ॥ ४ ॥

राम नाम बिनु राम नाम बिनु, मिथ्या जन्म गमायहु हो ॥
सीमर सेइ शुगा ज्यों जहड़े, ऊन परे पछताई हो ।
जैसे मदुआ गाँठि अर्थ दे, घरहुंक आकिल गमाई हो ॥

रामनाम विना साधो ! रामप्राप्तिं विनैव हि ।
मिथ्याभूते जगत्यस्मिन् सर्वेस्वाऽऽयूंष्यनाशयन् ॥२२॥
निषेव्य शाल्मलिं कीरो यथा लोकेऽतिवञ्च्यते ।
तूलपाते शरीरे च पश्चात्तापेन पीड्यते ॥२३॥
संसारशाल्मलिं तद्वन्निषेव्य मानवा अपि ।
वञ्चिता रसलोभेन पीड्यन्तेऽसारवस्तुभिः ॥२४॥
मद्यपो वा यथा वित्तं ग्रन्थिस्थं च सुरक्षितम् ।
तद्विक्रेत्रे स्वयं दत्वा पीत्वा तन्माद्यतिक्षणात् ॥२५॥

हे साधो ! रामनाम के विना राम की प्राप्ति विना ही मिथ्याभूत (प्राप्त) इस जगत में सब अपने आयु को नष्ट किये ॥२२॥ जैसे कीर (सूगा) लोक में सीमर को सेव कर अत्यन्त ठगा जाता है, और शरीर पर तूल (रुआ) के पात (गिरने) से पश्चात्ताप करके पीडित होता हैं ॥२३॥ तैसे ही मनुष्य भी संसार सीमर को रस (आनन्द) के लोभ से सेव कर, असार वस्तुओं से पीडित होते हैं ॥२४॥ या मद्यप जैसे ग्रन्थि (बन्धन) में स्थित, सुरक्षित, वित्त (धन) उस मद्य बेंचने वाला को स्वयं दे कर, मद्य खरीद कर पी कर, क्षण के बाद उन्मादयुक्त होता है ॥२५॥ और प्रमत्त हो कर अपने गृह देहादि को भी नहीं सम-

स्वादे उदर भरे नहिं कबहूं, ओसे प्यास न जाई हो।
द्रव्य हीन कैसन पुरुषारथ, मनहिं माँह पछताई हो॥

बुध्यते न प्रमत्तःसन् गृहदेहादिकान् स्वकान्।
गोचरादौ तथा क्षिप्त्वा मनोबुद्धी इमे जनाः॥२६॥
भोगासक्ति प्रमादाद्यै र्माद्यन्ति मद्यपा इव।
बुध्यन्ते न सदा राममानन्दं निकटे स्थितम्॥२७॥
यथा स्वादेन मद्यस्य ह्युदरं न प्रपूर्यते।
विषयस्वादतस्तद्वत्तृप्तिर्जातु न जायते॥२८॥
तुषारेण तृषा यद्वन्न कदाचन नश्यति।
सुतुच्छै र्गोचरैस्तद्वत्तृष्णाऽऽशा शान्तिमेति न॥२९॥
द्रव्यहीनस्य दीनस्य पुरुषार्थः कथं भवेत्।
दानभोगादिरूपो वा बहुव्यापारलक्षणः॥३०॥
इच्छया केवलं सोपि पश्चात्तापेन तप्यते।
मनोरथभराक्रान्तः शान्तिं क्वापि न विन्दते॥३१॥

झता हैं, तैसे ही ये मनुष्यादि मन बुद्धि को विषयादि में लगा कर, भोग में आसक्ति और प्रमाद आदि से मद्यपों की तरह उन्मत्त होते हैं, और पास में स्थित आनन्द स्वरूप राम को सदा नहीं समझते हैं॥२६-२७॥

जैसे मदिरा के स्वाद से उदर (पेट) प्रपूर्ण नहीं होता है, तैसे ही विषयों का स्वाद से भी कभी तृप्ति नहीं होती है॥२८॥ तुषार (शीत) से जैसे कभी तृषा (तृष्णा-पिपासा) नहीं नष्ट होती, तैसे ही अति तुच्छ गोचरों (विषयों) से तृष्णा (इच्छा) आशा शान्ति नहीं पाती है॥२९॥ द्रव्य रहित दीन (दरिद्र-भीत) का दान भोगादि रूप वा बहुत व्यापार रूप पुरुषार्थ (प्रयोजन) कैसे हो सकता है॥३०॥ मनोरथ के भर (अतिशय) से युक्त वह भी इच्छा पश्चात्ताप से केवल तपता है, कहीं शान्ति नहीं पाता हैं॥३१॥ इसी प्रकार राम की प्राप्ति बिना,

गांठी रतन मरम नहिं जाने, पारख दीन्हा छोरी हो ।
कहहिं कबिर यह अवसर बीते, रतन न मिले बहोरी हो ॥४॥

एवं रामं विना तस्य भक्तिज्ञानादिकं विना ।
मनोरथशताक्रान्तः शान्तिं मुक्तिं न विन्दते ॥३२॥
रामप्राप्तिविहीनस्य पुरुषार्थोत्तमः कुतः ।
पश्चात्तापेन सततं केवलं तप्यते ह्यसौ ॥३३॥
सद्रत्नं विद्यते बुद्धिग्रन्थिस्थं चातिनिर्मलम् ।
यस्य विज्ञानमात्रेण पुनः शोको न बाधते ॥३४॥
अहो तस्य रहस्यं न जना जानन्ति मोहतः ।
तद्विवेकविचारादींस्त्यक्त्वा तिष्ठन्ति दूरतः ॥३५॥
अमूल्योऽवसरो याति यदि तन्नाऽत्र लभ्यते ।
अन्यत्र नैव तल्लब्धुं शक्यमस्ति कथञ्चन ॥३६॥
दुर्लभो मानुषो देहो देहिनां शुभभक्तिदः ।
तत्राति दुर्लभं मन्ये स्वात्मतत्त्वावलोकनम् ॥३७॥

तथा राम के भक्ति ज्ञानादि विना सैकडों मनोरथों से युक्त प्राणी भक्ति मुक्ति नहीं पाता है ॥३२॥ राम की प्राप्ति रहित को पुरुषार्थों में उत्तम (मोक्ष) कैसे किससे हो सकता है, वह पश्चाताप से सदा केवल तपता ही है ॥३३॥

बुद्धि रूप ग्रंथि (पर्व गठरी) में स्थिर, अति निर्मल, सत्यात्मा रत्न वर्तमान है, जिसके विज्ञान मात्र से फिर शोक नहीं पीडित करता है ॥३४॥ आश्चर्य है कि, मनुष्य उस रहस्य (गुप्त भेद) को मोह से नहीं जानते हैं, और उसके विवेक विचारादि को दूर से त्याग कर बैठे हैं ॥३५॥ यह अमूल्य अवसर जा रहा है, यदि वह रत्न यहां नहीं मिला, तो अन्यत्र वह किसी प्रकार मिलने के योग्य नहीं हैं ॥३६॥ शुभ भक्ति देने वाला मानुष देह दुर्लभ है, उस में भी स्वात्मस्वरूप का

" चतुर्विधशरीराणि धृत्वा धृत्वा सहस्रशः ।
सुकृतान्मानवो भूत्वा ज्ञानी चेन्मोक्षमाप्नुयात् ॥३८॥
चतुरशीतिलक्षेषु शरीरेषु शरीरिणाम् ।
न मानुषं विनाऽन्यत्र तत्त्वज्ञानं तु लभ्यते " ॥३९॥४

दर्शन को दुर्लभ समझता हूं ॥३७॥ गरुड पु० अ० ४९।१२-१३। के वचन हैं कि, हजारो बार चार प्रकार के शरीर धर २ कर, पुराय से मनुष्य हो कर, यदि ज्ञानी होता है, तो मोक्ष पाता है ॥३८॥ देहियों के चौरासी लक्ष शरीरों में मानुष शरीर के विना अन्यत्र तत्त्व ज्ञान नहीं मिलता है ॥३९॥

अक्षरार्थ–रामनाम वाला वस्तु की भक्ति प्राप्ति विना ही जिन्हों ने मिथ्या (झूठ-संसार विषयादि) में जन्म (आयु) गमाया, वे लोक जैसे सीमर को सेव कर सुवा जहडता (पीडित) होता है, और ऊन (रूआ) देह पर पडने से पछताता है, तैसे ही जहडे पछताये। और मदुअ (मद्यप) जैसे गांठ के अर्थ (द्रव्य पैसे) दे कर घर के अकल (बुद्धि होस) को नष्ट करता है, तैसे विषयादि में मन दे कर लोक विवेकादि गमाते हैं ॥

और स्वादे (मद्य वा विषय का स्वाद से) कब ही उदर (पेट) नहीं भरता है, न तृप्ति होती है, जैसे ओस (शीत) से प्यास (पिपासा) नहीं जाती है। और द्रव्य हीन का पुरुषार्थ कैसन (कैसा) हो सकता है, वह केवल मन में बार २ पश्चात्ताप करता है, गया द्रव्य हाथ नहीं आता, सोई दशा आत्म राम के विना मनुष्यता बीतने पर होती है।

और जिस द्रव्य विना मोक्ष रूप पुरुषार्थ नहीं मिलता, सो रत्न बुद्धि रूप गांठि में ही वर्तमान है, तिस का मर्म को गुरु आदि विना कोई नहीं जानता है, और उसकी पारख (विवेकादि) को भी सब छोड दिया है, परन्तु इस अवसर के बीतने पर बहोरी (फिर) वह रत्न नहीं मिलता है ॥ ४ ॥

पूर्व वर्णित रत्न जीव का स्वरूप ही है, और उसका ज्ञान सद्गुरु के उपदेशादि से ही होते हैं, फिर कामादि बन्धनों की अत्यन्त निवृत्ति होती है, इत्यादि आशय से कहते हैं कि—

कहरा ६

मति सुनु माणिक मति सुनु माणिक!, हृदया बन्ध निवारहु हो॥
अट पट कुम्हरा करे कुम्हरैया, चमरा गांम न बांचै हो।
निति उठि कोरिया बेठ भरतु हैं, छिपिया आँगन नाचै हो॥

हे जीव! रामरत्नात्मन्! शृणु त्वं मतिमादरात्।
भाविबन्ध विनाशाय समर्थामात्मगोचराम् ॥४०॥
श्रुत्वा ज्ञात्वा च तां धीर! कामादि बन्धनानि वै।
हृत्स्थानि वारयस्वाऽऽशु भवबाधाऽभिभूतये ॥४१॥
बन्धनै र्यन्त्रितस्त्वं हि कुम्भकारसमः सदा।
शरीरघटसिद्ध्यर्थं कुयत्नं कुरुषे बहु ॥४२॥
कोटिधाऽपि कृते यत्ने चर्मनद्धं कलेवरम्।
तत्संघोऽन्नाभिमानी वा कालपाशान्न मुच्यते ॥४३॥

हे रामरत्न स्वरूप जीव! भावी संसार का विनाश के लिये समर्थ, आत्म विषयक, मति (बुद्धि-विशेष) का तुम श्रवणादि करो ॥४०॥ हे धीर! उस मति को सुन जान कर, भवदुःख की निवृत्ति के लिये, हृदय में स्थिर कामादि बन्धनों का निवारण शीघ्र करो ॥४१॥ उन बन्धनों से यन्त्रित (बँधा) हुवा तुम सदा कुम्हार के समान कुयत्न बहुत करते हो ॥४२॥ और करोडो प्रकार से यत्न करने पर भी चाम से बँधा हुवा यह देह, तथा इसका समुदाय, या इसके अभिमानी काल के पाश से मुक्त नहीं होता है ॥४३॥ तो भी तुम नरक तिर्यगादि अवस्था

निति उठि नौवा नाव चढ़तु हैं, बेरहिं बेरा बारे हो ।
राउर के कछु खबर न जानहु, कैसे झगर निवारे हो ॥
एक गाम वसे पांच तरुणियाँ, ता महँ जेठ जेठानी हो ।
आपन आपन झगर पसारिन, पिय सो प्रीति नशानी हो ॥

तथापि त्वं समुत्थाय तन्तुवायसमः स्वयम् ।
शरीरपटवानार्थं वर्तसे वेतनं विना ॥४४॥
भरणस्य ह्यलाभेन कायैः कञ्चुकितः सदा ।
संसारचत्वरे नित्यं नर्तक इव नृत्यसि ॥४५॥
महद्भ्यश्चान्धकूपेभ्य उत्थायापि सदैव च ।
सुदृढां मानवीं मूर्तिं तरिं लब्ध्वा भवार्णवे ॥४६॥
नाविकस्येव चारुह्य मतिमान्द्यात्कुयोगतः ।
सर्वास्त्यजसि ता मोहात् पारं यासि द्रुतं नहि ॥४७॥
सर्वश्रेष्ठस्य देवस्य किञ्चित्तत्त्वं न वेत्सि चेत् ।
इन्द्रियादिगणस्यात्र कलहो वार्यते कथम् ॥४८॥

से ऊठ कर तन्तुवाय (जुलाहा) के समान, वेतन के विना ही स्वयं शरीर-रूप पट को बुनने के लिये प्रवृत्त होते हो ॥४४॥ भरण (वेतन-पोषण) के नहीं मिलने से शरीरों से सदा कन्चुकित (वेष्टित) हो कर, संसार रूप चत्वर (अंगण) में नर्तक तुल्य नित्य नांचते हो ॥४५॥

महान् अन्धकूप रूप नरक कुयोनि आदि से ऊठ (निकल) कर, और संसार समुद्र में सुदृढ मानवी मूर्ति (देह) रूप तरि (नौका) को पा कर, और नाविक (कर्णधार) तुल्य उसं पर चढ कर (अभिमान करके) भी बुद्धि की मन्दता वा कुयोग से मोह से सदा ही ऊन सब नावों को तुम त्यागते हो, शीघ्र पार नहीं जाते हो ॥४६-४७॥ सब से श्रेष्ठ जो सर्वात्मा देव है, उसका भी कुछ तत्त्व (स्वरूप) नहीं जानते

भैंसिन माहँ रहै नित बकुला, तकुला ताकि न लीन्हा हो ।
गायन माहँ बसेहु नहिं कबहूं, कैसे के पद चीन्हा हो ॥
पन्थिक पन्थ चीन्ह नहिं लीन्हा, मूढहिं मूढ गमारा हो ।
घाट छोरि कस अवघट रेंगहु, कैसे लगबहु पारा हो ॥

एकस्मिन्नगरे देहे तरुण्यः पञ्च सन्ति वै ।
इन्द्रियाणि हि तेष्वङ्ग ! ज्येष्ठं तद्विद्यते मनः ॥४९॥
ज्येष्ठा तेषां कुबुद्धिश्च ताः सर्वाः संगताः सदा ।
स्वार्थाय कलहायन्ते नष्टा प्रीतिस्ततः प्रभौ ॥५०॥
कलहस्यातिविस्तारात्प्रभुभक्तेरभावतः ।
बकवृत्तिर्भवान्छश्वद् वर्तते महिषीसमे ॥५१॥
तामसे महिषे तिष्ठन्निन्द्रियाणां गणे तथा ।
अवश्यमेव बोद्धव्यं तत्त्वं नैवावबुद्धवान् ॥५२॥
गायकेषु गुणज्ञेषु विद्वत्सु सात्त्विकेषु च ।
नो तिष्ठसि कदाचिच्चेत् कथं ज्ञास्यसि सत्पदम् ॥५३॥

हो, तो इन्द्रियादि गण (समूह) का जो यहाँ कलह है, उसका निवारण कैसे किया जायगा ॥४८॥ एक देह रूप नगर में पांच ज्ञानेन्द्रिय रूप पांच तरुणी स्त्री हैं, और हे अङ्ग (प्रिय) ! उन में ज्येष्ठ (बडा) वह मन है ॥४९॥ उन सब की ज्येष्ठा (बड़ी) कुबुद्धि है, सो सब मिल कर स्वार्थ के लिये कलह करती हैं, इससे प्रभु विषयक प्रीति नष्ट हुई है ॥५०॥

कलह का अति विस्तार से, तथा प्रभु की भक्ति के अभाव से आप बकवृत्ति हो कर सदा महिषी (भैंसी) तुल्य में रहते हो ॥५१॥ और तामस (तमोगुणी) महिष तथा इन्द्रियों के समूह में स्थिर हुआ तुम अवश्य ही जानने योग्य तत्त्व (स्वरूप) को नहीं समझते हो ॥५२॥ और गायक (उपदेशक) शमादि गुण के ज्ञानी सात्त्विक विद्वानों में यदि तुम कभी नहीं स्थिर होते हो, तो सतपद को कैसे जानोगे ॥५३॥ संसार के

यतइत के धन हेरिया ललची, कोदइत के मन दौरा हो।
दुइ चकरी ले दरन पसारिन, तब पैहो थिति ठौरा हो॥

संसारपथिकश्चेत्त्वं [1]महासुपथिगामिनः।
पृष्ट्वा वेत्सि न सन्मार्गं मूढान्मूढोऽसि पामरः॥५४॥
मूढैः कुपुरुषैः सार्द्धं सङ्गमेन च सत्पथम्।
सुघट्टमपि संत्यज्य कुघट्टे धावसे कथम्॥५५॥
कुघट्टे धावमानश्च भवाब्धेः पारमव्ययम्।
कथं त्वं लप्स्यसे सौख्यं सम्यगेतद्विचारय॥५६॥
उत्तरणं विना चास्य संसाराब्धेरयं जनः।
आनन्दघनसद्वस्तु वस्तुष्वेवान्वेषते मुहुः॥५७॥
यतस्ततो विमृग्याऽयं लब्ध्वा किञ्चित्सुखादिकम्।
तृप्तिं न विन्दते क्वापि लोभग्रस्तो व्रजत्यतः॥५८॥
सुखादेश्चात्र को दाता मनसेत्थं विचिन्त्यते।
कदन्नकोद्रवैस्तुल्यान् मनो ध्यायति गोचरान्॥५९॥

पथिक तुम यदि महान् सुन्दर पथके चलनेवालों से पूछ कर सत मार्ग को नहीं जानते हो, तो मूढ से मूढ और पामर (नीच) हो॥५४॥ और मूढ कुपुरुषों के साथ संग से सत्य मार्ग सुघाट को भी त्याग कर, कुघाट में किस प्रकार धावते हो॥५५॥ कुघाट में धावता हुआ तुम संसार के अविनाशी पार सुख को कैसे पावोगे, सो अच्छी तरह विचारो॥५६॥

इस संसार समुद्र को उतरने (पार होने) बिना यह मनुष्य आनन्दघन सद्वस्तु को बाह्य वस्तुओं में ही बार २ खोजता है॥५७॥ जहाँ तहाँ खोज कर, और कुछ सुखसाधनादि को पाकर भी यह मनुष्य कहीं तृप्ति नहीं पाता है, इससे लोभ से ग्रस्त होकर चलता है॥५८॥ यहाँ सुखादि के

१ न पूजनादिति निषेधान्नाऽप्रत्ययः, शोभनः पन्थाः सुपन्था महान् सुपन्था महासुपन्थाः, तं गन्तुं शीलं यस्य।

प्रेम बाण एक सतगुरु दीन्हा, गाढो तीर कमाना हो ।
दास कबीर कियो यह कहरा, महरा माँह समाना हो ॥५॥

काञ्चिच्च विषयान् प्राप्य कोद्रवान् वै जनोऽधमः ।
वितुषीकरणायेव तान् सौख्यप्रचुरान् मुहुः ॥६०॥
कर्तुमिच्छन् हि कर्मादि तनुते भोगमेव वा ।
लोकयोरुभयोस्तच्च प्रतनोति महत्तमम् ॥६१॥
अनेनैव स्थितेः स्थानं लप्स्येऽहमिति मन्यते ।
असुखे सुखबुद्ध्यैवमस्थिरे स्थिरबुद्धितः ॥६२॥
सद्गुरुश्च विलोक्यैतत् प्रभौ प्रेम विना महत् ।
अनर्थं तस्य नाशाय प्रेमबाणं प्रदत्तवान् ॥६३॥
एकमेकात्मविषयं सर्वद्वन्द्वविवर्जितम् ।
सदा सौख्यावहं सर्वबन्धच्छेदविधायकम् ॥६४॥
एकस्य तस्य बाणस्य दृढता धैर्यलक्षणा ।
महद्धनुर्हतस्तेन सर्वानर्थो विनश्यति ॥६५॥

दाता कौन हैं, इस प्रकार मन से विचारता है । कदन्न कोदों के तुल्य विषयों का मन ध्यान करता है ॥५९॥ अधम मनुष्य किसी विषय रूप कोदों को पाकर, कोदों को जैसे तुषरहित करने के लिये कर्मादि किये जायँ, तैसे उन विषयों को सुखबहुल करने की इच्छा कर्ता हुआ कर्मादि वा भोग का विस्तार करता है, और दोनों लोक में अतिमहत् उस कर्मादि का विस्तार, असुख में सुख ज्ञान, अस्थिर में स्थिर ज्ञान से करता है, और यह मानता है कि, मैं इसी से स्थिति का स्थान पाऊंगा ॥६०—६२॥

प्रभु में प्रेम बिना इस महा अनर्थ को देख कर, उसका नाश के लिये सद्गुरु ने प्रेमबाण दिया ॥६३॥ वह बाण सब द्वन्द्व से रहित, सदा सुखद, सब बन्धन का नाश करने वाला, एक आत्मविषयक एक है, सो सद्गुरु ने उपदेश द्वारा दिया ॥६४॥ उस एक बाण का सात्विक

देवदासादिजीवास्तु कुघट्टे धावनादिकम् ।
कुकष्टं कृतवन्तो वै महत्स्वप्यविशच्च तत् ॥६६॥
व्यवसायात्मिका बुद्धिरेका भवति निश्चला ।
अन्या ह्यनन्तशाखा स्याच्चलाऽनन्तस्वरूपिणी ॥६७॥५॥

इति हनुमदीये कहराकल्पे कामिजुगुप्सादिवर्णनं नाम द्वितीया शिक्षा ॥२॥

धैर्य रूप दृढता ही महान धनुष है, तिस धनुष बाण से आहत हुआ सब अनर्थ विनष्ट होता है ॥६५॥ कुदेव के दासादि रूप जीव तो हिंसादि रूप कुघाट में धावनादि रूप कुकष्ट (कठिन दुःख) किये, और वह महान् लोकों में भी पैठ गया ॥६६॥ और व्यवसाय (निश्चय) स्वरूप बुद्धि एक निश्चल होती है, अन्य बुद्धि अनन्तशाखा वाली अनन्त स्वरूपवाली चञ्चल होती है, इससे भक्ति ध्यानादि से व्यवसायात्मक बुद्धि होनी चाहिये ॥६७॥

अक्षरार्थ–हे माणिक ! (निर्मल रत्नरूप जीव !) तुम मति (आगामी भववारक विचारादि) को सुनो, और हृदय के कामादि बन्धनों का निवारण करो । क्योंकि कामादि को त्यागने विना कुम्हार के समान तुम अटपट कुम्हरैया (हीन व्यवहार) करते हो । और जिस देह के लिये सब कुछ करते हो, यह चमरा गाम (चर्मादि निर्मित देह सब) थाँचता (रहता) नहीं है । तो भी विवेक विना नित (सदा) उठ कर (मानव तनु पाकर-जन्म ले कर) कोरिया (जुलाहे) के समान बेठ भरते (बयाना पूरा करते) हो । सत्य मजदूरी विना बेगार करते हो, और छिपिया (छीपा जाति विशेष) तुल्य संसाराङ्गना में बार२ नाचते हो, इत्यादि ।

और नित (सदा) अन्य योनियों से उठ कर नौवा (केवँट) के समान मानव देह रूप नौका पर चढते हो, परन्तु उन सब बेरा (उडुप-नाव) को बारे (त्यागते) जाते हो, संसार से पार नहीं होते हो । और राउर (श्रेष्ठ सद्गुरु सत्यात्मा हृदय महल) की कुछ भी खबर नहीं जानते हो,

तो इन्द्रियादि के झगड़ाओं का निवारण कैसे करोगे। एक गाम (देह) में पांच तरुणी (इन्द्रियाँ) बसती हैं, उनमें जेठ (बड़ा) मन है, जेठानी कुबुद्धि है। वे सब अपने २ झगडा फैलाये हैं, प्रियतम आत्मदेव से प्रीति को नष्ट किये हैं।

बकुला (बकध्यानी) होकर भैंस तुल्यों में सदा रहते हो, और तकुला (ताकने-देखने योग्य) को ताकि (देखि) नहीं लिया है या तकुला (देखने-वाले) होकर देखा नहीं है। और गायन (वक्ता) ज्ञानी के संग में कभी नहीं बसते हो, तो अचल पद को कैसे चीन्होगे। पन्थिक (संसार पथ के गन्ता) सुपथ को नहीं पहचाना है, स्वयं मूढ गमार किसी मूढ़ गमार से मिले हो, सुघाट (शमादि) को छोड़कर, अवघट (कुघाट) में क्यों रेंगते (चलते) हो, इस प्रकार भवाब्धि के पार कैसे लगोगे॥

कुघाट में चलने वालोंने जतइत के (जहाँ तहाँ) घन हेरिया (बहुत ढूंढा)। अथवा जतइत (संसार जाँतावाला) घन (आनन्दघन) को खोजा। और ललची (विषयभोगादि का लोभ किया) और लोभ करने पर कोदइत (कोदों तुल्य विषय-विषयवाला) के लिये मन दौड़ा, या कोद (कौन दाता) है, इतके (इस तरफ) मन दौड़ा। फिर कर्मादि द्वारा विषयादि कोदों को पाकर, दो लोक रूप चकरी लेकर, उसीके दरन (विचार भोगादि) को पसारिन (फैलाया) कि तब (इसीसे) मैं स्थिति का स्थान पाऊंगा।

सद्गुरु ने स्थिति स्थान की प्राप्ति और अनर्थों की निवृत्ति के लिये प्रियतमात्मराम में प्रेमरूप एक ही बाण शिष्यों को दिया है, और उस प्रीति में गाढ (दृढ) पन धारणा धैर्यादिक ही उस तीर (बाण) का कमान (धनुष) है। और देवादि के दास कबीरों (जीवों) ने तो यह कुघाट में धावनादि रूप कहरा (दुःख के साधन) किया है। सो महरा (महान् वा कहार तुल्य) में समाया है। या दासों का इस कहरा में वर्णन है जिसमें महत्त्व की बात छिपी है, या यह उपदेश महरमी (भेदी-विवेकी) में ही लगता है, इत्यादि॥ ५॥

धारणोपदेश प्र० ३।

शास्त्रोपदेशादि द्वारा विचार और सत्संगादि, आत्मरामरत्न की प्राप्ति का मुख्य साधन है, सो उत्तम अधिकारी के लिये है। उन साधनों में असमर्थों के लिये प्रेमभक्ति राजयोग का उपदेश संक्षेप से प्रथम दिया गया है। उसीका कुछ विस्तार से उपदेश देते हुए, भक्तियोगादि रहितों की यमयातनादि का वर्णन करते हैं। तहाँ यद्यपि (राजयोगः समाधिश्च उन्मनी च मनोन्मनी। अमरत्वं लयं तत्त्वं शून्याशून्यं परं पदम्॥ अमनस्कं तथाऽद्वैतं निरालम्बं निरञ्जनम्। जीवन्मुक्तिश्च सहजा तुर्या चेत्येकवाचकाः॥ हठयोगप्रदीपिका, ४।३-४) इसके अनुसार राजयोगादि १६ समाधि के नाम हैं। तथापि (जलसैन्धवयोः साम्यं यथा भवति योगतः। तथात्ममनसोरैक्यं समाधिरिह भण्यते॥ परेण ब्रह्मणा सार्द्धमेकत्वं यन्नृपात्मनः। स एव योगो विख्यातः किमन्यद् योगलक्षणम्॥) इस स्कन्दपुराणादि के वचनानुसार, आत्मा मन की एकता साधन रूप समाधि है, और परमात्मा के साथ जीवात्मा की एकता फल रूप समाधि है। और इसी फल रूप समाधि (योग) को कहनेवाला शब्द है कि (सन्तो! सहज समाधि भली है। गुरु प्रताप भई जा दिन ते, सुरत न अनत चली है॥ जहँ जहँ जाऊँ सोइ परिक्रमा, जो कछु करों सो पूजा। गृह बनखण्ड एक करि जानौं, भाव मिटावौं दूजा॥ आँख न मूँदो कान न रूँधो, काया कष्ट न धारूँ। खुले नैन हँसि हँसि पहिचानूं, सुन्दर रूप निहारूं॥ शब्द निरन्तर मनुआ राते, मलिन वासना त्यागे। ऊठत बैठत कबहुं न बिसरै, ऐसी तारी लागे॥ कहहिं कबिर यह उन्मुनी रहनी, सो प्रगटे करि गाई। सुख दुख से एक परे परम पद, सो पद है सुखदाई॥) इससे सिद्ध होता है कि, आँखादि के मुन्दना आदि रूप हठ के बिना सुन्दर स्वरूप आत्मा को सर्वत्र देखना राजयोग सहज समाधि है। यद्यपि इसकी साधनावस्था में कष्ट होता ही है, तथापि हठयोग की अपेक्षा अल्प होता है। इससे साधनावस्था में भी

सहज राजयोग कहाता है, और (तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्) नाभिचक्रादि धारणा के स्थानों में ध्येयाकार मनोवृत्ति की एकाकारता को ध्यान कहते हैं, और वह ध्यान ही परिपक्व अवस्था में साधनात्मक समाधि रूप हो जाता है । इत्यादि आशय से कहते हैं कि—

कहरा ६

सहज ध्यान रहु सहज ध्यान रहु, गुरु के वचन समाई हो ॥
मेली शिस्त चरा चित राखहु, रहहु दृष्टि लौ लाई हो ।
जस दुख देखि रहहु यह अवसर, अस सुख होइहिं पाई हो ॥

महानर्थनिवृत्त्यर्थं सहजानन्दलब्धये ।
राजयोगस्य सिद्ध्यर्थं सहजानामकस्य च ॥ १ ॥
[1]सद्गुरोर्वचने स्थित्वा सदा ध्यानं कुरु प्रभोः ।
ध्याने नित्यं स्थितः किञ्चित्त्वन्यत्तत्त्वं न चिन्त्यताम् ॥२॥
चञ्चलं यन्महच्चित्तं शस्ते शिष्टौ गुरोरथ ।
ध्रियतां मेलयित्वाऽत्र वृत्तिर्लक्ष्ये निधीयताम् ॥ ३ ॥

महा अनर्थ (प्रयोजन वस्तु आदि के अभाव दुःख) की निवृत्ति, सहज (स्वाभाविक) आनन्द की प्राप्ति और सहजा नामवाला राजयोग की सिद्धि के लिये, सद्गुरु के वचन में स्थिर होकर प्रभु का सदा ध्यान करो, और ध्यान में सदा स्थिर होकर किसी अन्य तत्त्व की चिन्ता नहीं करो ॥१-२॥ जो चित्त महा चञ्चल है, उसे शस्त (कल्याण) रूप वस्तु मार्ग में और गुरु की शिष्टि (शिक्षा) में मिला (लगा) कर धरो, और इसी लक्ष्य में चित्त वृत्ति का धारण करो ॥३॥ और अभ्यासादि में दुःख को देख जानकर

१ दुर्लभो विषयत्यागो दुर्लभं तत्त्वदर्शनम् । दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करुणां विना ॥ महोप० ४।७७ ।

जो खुटकार बेगि नहिं लागै, हृदय निवारहु कोहू हो।
मुक्ति कि डोरि गाढ़ि जनि खैंचहु, तब बाझिहिं बड़ रोहू हो॥

[1]दुःखं दृष्ट्वा त्विदानीं त्वं यथा स्थास्यसि निश्चलः।
अभ्यामादौ तथैवाङ्ग! लप्स्यसे निश्चलं सुखम्॥४॥
संदेहजनकं चैतद् व्यर्थचेष्टाप्रवर्तकम्।
मनश्चेन्न लगेच्छीघ्रं सत्पदे गुरुभाषिते॥५॥
तथापि त्वं प्रयत्नेन स्वान्तान्मन्युं निवारय।
येन केन प्रकारेण स्वं चित्तं संप्रसादय॥६॥
लगेद्वाऽपकृतिः क्वापि वेगेन कियतापि चेत्।
तथापि न त्वया [2]कोपः कार्यः कस्मै जनाय वै॥७॥
मुक्तिमत्स्यप्रदा शुद्धा शमादिगुणसंयुता।
चित्तवृत्तिर्वटी क्वापि शीघ्रमाकृष्यतां [3]नहि॥८॥

भी तुम जैसे निश्चल स्थिर होगे, हे अङ्ग (प्यारे)! तैसा ही निश्चल सुख पावोगे॥४॥ संदेह का कारण व्यर्थ चेष्टा (प्रवृत्ति) का प्रवर्तक (साधक) यह मन यदि शीघ्र गुरु से कथित सत्यपद में नहीं लगे॥५॥ तो भी तुम प्रयत्न से मन से मन्यु (क्रोध शोक दीनता) का निवारण करो, और जिस किसी प्रकार से अपने चित्त को संप्रसन्न स्वच्छ करो॥६॥ अथवा कहीं किसी का अपकार यदि कितना हूं वेग से तुझे लगे (प्राप्त हो) तो भी किसी जन के लिये तुझे क्रोध नहीं कर्तव्य है॥७॥ और मुक्ति रूप मत्स्य को

१ आत्मानं नियमैस्तैस्तैः कर्षयित्वा प्रयत्नतः। प्राप्यते निपुणैर्धर्मो न सुखाल्लभते सुखम्॥ वाल्मीकीय रा० युद्ध का० स० ९।३१।

२ अतिवादांस्तितिक्षेत नावमन्येत कञ्चन। नचेमं देहमाश्रित्य वैरं कुर्वीत केनचित्॥ मनुः० अ० ६।४७।

३ शनैः शनैरुपरमेद् बुद्धया धृतिगृहीतया। आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्॥ भ० गी० अ०६।२५।

मनुअहि कहो रहो मन मारे, खिझुआ खीझि न बोले हो ।
मानू मीत मितैयो न छोड़े, कमऊँ गाँठि न खोले हो ॥

कोपं सर्वान् प्रति त्यक्त्वा धैर्यमालम्ब्य यत्नतः ।
चित्तेन्द्रियनिरोधेन सहजा वृत्तिराप्यते ॥ ९ ॥
इत्थमेव कृते साधो ! महत्सौख्यं परं पदम् ।
लप्स्यतेऽत्र त्वया शीघ्रं जन्मापि न भविष्यति ॥१०॥
क्रोधवेगे समुत्पन्ने स्वं मनः परिबोधय ।
क्रुद्धः कोपान्न कञ्चिच्च किञ्चिद्वद कदाचन ॥११॥
[1]कामक्रोधोत्थवेगेन लोभेन ह्रियते न यः ।
स योगी स च मोक्षस्य भाजनं भक्तिभाजनम् ॥१२॥
कामक्रोधौ व्युदस्यातो मित्राणि विद्धि सज्जनान् ।
मित्रता त्यजतां नैव तद् ग्रन्थिर्न विमुच्यताम् ॥१३॥

देनेवाली, शमादि गुण सहित शुद्ध चित्त की वृत्ति रूप वटी (रस्सी डोरी) को कहीं शीघ्र नहीं खींचो ॥ ८ ॥ सब के प्रति कोप का त्याग करके, प्रयत्न से धैर्य का धारण करके, चित्त और इन्द्रियों का निरोध से सहजावृत्ति पाई जाती है ॥ ९ ॥ हे साधो ! इसी प्रकार करने पर, महान् सुख परमपद तुझे यहाँ ही शीघ्र मिलेगा, और जन्म भी नहीं होगा ॥१०॥

क्रोध के वेग उत्पन्न होने पर, अपने मन को समझावो, और क्रोधयुक्त हो कर क्रोध से किसी को कुछ भी कभी नहीं कहो ॥११॥ काम क्रोध-जन्य वेग से और लोभ से जो नहीं हरा (वशकिया) जाता है, सोई योगी तथा मोक्ष का पात्र और भक्ति का पात्र है ॥१२॥ इससे काम क्रोध को त्याग कर, सब सज्जनों को अपना मित्र जानो, और मित्रता को कभी त्यागो नहीं, न उस मित्रता के ग्रन्थी (बन्धन व्यवहार) को त्यागो

१ शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् । कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ॥ भ० गी० अ० ५ । २३ ॥

भोगहु भोग भुक्ति जनि भूलहु, योग युक्ति तन साधहु हो ।
जा मत से करहु मतवाली, ता मत को चित बाँधहु हो ॥

अथवा सर्वभूतेषु मित्रतां भावयन् स्विकाम् ।
न कदापि च तद्ग्रन्थि मित्रतां वा परित्यज ॥१४॥
सुखितादिजनेष्वेवं मैत्र्यादेर्भावनां कुरु ।
प्रसाद्यतां तया चित्तं येन बुद्धिः स्थिरा भवेत् ॥१५॥
भोगोऽपि भुज्यतां युक्त्या भुक्तौ नैव निमज्ज्यताम् ।
योगयुक्त्या शरीरं च संशुद्धं स्ववशं कुरु ॥१६॥
[1]आहारलघुताब्रह्मचर्यशौचवितृष्णता ।
युक्तक्रियाऽऽत्मचिन्ताद्याः सन्ति वै योगयुक्तयः ॥१७॥
यया मत्या च कुरुषे गर्वमुन्मादमेव वा ।
तां बधान स्वचैतन्ये धीरधारणया सदा ॥१८॥

॥१३॥ अथवा सब प्राणी में अपनी मित्रता की भावना सिद्धि करता हुवा, कभी उस मित्रता की ग्रंथि और मित्रता को नहीं त्यागो ॥१४॥ और (मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदु:खपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् । योगद. १।३३) इस बचन के अनुसार सुखी में मित्रता, दु:खी में करुणा, पुण्यात्मा में मुदिता, पाप में उपेक्षा (उदासीनता) की भावना करो, और उससे चित्त को प्रसन्न स्वच्छ करो कि जिससे बुद्धि स्थिर होवे ।।१५।।

शरीर धारणार्थक भोग को युक्ति से भोगो, परन्तु भोग में निमग्न (आसक्त) नहीं होवो, और योग की युक्ति से शरीर को सम्यक् शुद्ध स्ववश करो ॥१६॥ आहार (भोजन) की अल्पता, ब्रह्मचर्य, शौच, वितृष्णता, उचित क्रिया, आत्मचिन्तनादि योग की युक्तियाँ हैं ॥१७॥ और जिस बुद्धि से गर्व (अहंकार) वा उन्माद (चित्त की चञ्चलता)

---

१ युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु । युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥ भ० गी० अ० ६।१७ ॥

नहिं तो ठाकुर है अति दारुण, करि हैं चाल कुचाली हो ।
मारि बाँधि डाँरि सब लीहैं, छूटिहिं सब मतवाली हो ॥

या प्रीतिरविवेकानां विषयेष्वपहारिषु ।
सा चेदात्मनि देवे स्यान्मुक्तौ कास्ति कदर्थना ॥१९॥
यया मत्या जनो बद्धो नरकेषु निपात्यते ।
तां नियुज्य प्रभौ रामे बन्धान्मुक्तः सुखी भवेत् ॥२०॥
इत्थं चेत् क्रियते नैव यमराजः प्रभुर्मनः ।
गुणाधिकारवन्तश्च सर्वेऽतिदारूणास्तव ॥२१॥
कुक्रियां कुस्थितिं तेऽत्र करिष्यन्ति कृते तव ।
सुदण्डं ते विधास्यन्ति निबध्य ताडनादितः ॥२२॥
तदा ते मत्तता गर्वः सर्वं एव नशिष्यति ।
तत्राऽलाभेन च त्रातुर्विह्वलो रोरुदिष्यसे ॥२३॥

करते हो, उस बुद्धि को धीरों की धारणा द्वारा सदा स्वचैतन्य (आत्मा) में बांधो ॥१८॥ अविवेकियों की जो प्रीति अपहरण करनेवाले विषयों में होती है, वही प्रीति यदि आत्मदेव में हो तो मुक्ति में कौन कठिनाई है ॥१९॥ जिस बुद्धि से बंधा हुवा मनुष्य नरक में गिराया जाता है, उसी बुद्धि को सर्वात्माराम प्रभु में लगा कर बन्धन से मुक्त सुखी होगा, और होता है ॥२०॥

इस प्रकार यदि तुम से नहीं किया जाता है, तो तेरा यमराज, प्रभु (ईश्वर) मन, गुणों के अधिकारवाले (ब्रह्मा आदि) ये सब अति दारुण (महा भयंकर) हैं ॥२१॥ वे लोक तव कृते (तेरे लिये) यहाँ कुक्रिया कुस्थिति (कुधारणा) करेंगे, और बांधकर ताडनादि से तेरा सुन्दर दण्ड करेंगें ॥२२॥ उस समय तेरी मत्तता औ गर्व सब नष्ट होगा, और वहाँ रक्षक के न मिलने से विह्वल होकर अतिशय रोवोगे ॥२३॥ मरने पर

जबही सावट आनि पहूंचा, पीठि साट भल टूटी हो ।
ठाढ़े लोग कुटुम सब देखैं, कहे न काहु कि छूटी हो ॥

[1]स्वस्वकर्मानुसारेण सुखं दुःखं च विन्दते ।
भयं यद्वाऽभयं सर्वं मृतौ नान्यत्तु किञ्चन ॥२४॥
कामी वै बध्यते मृत्यौ निष्कामोऽतिविमुच्यते ।
योगयुक्तो विशुद्धात्मा तस्माद्योगं समाश्रयेत् ॥२५॥
समायाति कशाघाती यदैव यमकिंकरः ।
तदा पापात्मनः पृष्ठे कशां स त्रोटयत्यलम् ॥२६॥
तत्र स्थित्वा कुटुम्बश्च लोकः पश्यति तां दशाम् ।
[2]कस्यापि वचनान्नैव तदा मोक्षो हि जायते ॥२७॥

अपने २ कर्मों के अनुसार सुख और दुःख, भय या अभय सब पाता है, और अन्य कुछ नही ॥२४॥ मृत्यु होने पर कामी बँधता है, और योगयुक्त विशुद्धात्मा निष्काम जीव अत्यन्त मुक्त होता है, तिससे योग का सम्यक् आश्रयण करे ॥२५॥

जिस समय कशा (प्रतोद) से मारनेवाला, यम का किंकर (दास) आता है, उस समय वह पापात्मा के पीठ पर अच्छी तरह कशा तोडता है ॥२६॥ वहाँ स्थिर होकर कुटुम्ब और लोक उस दशा को देखता है, परन्तु किसी के बचन से उस समय मोक्ष (उबार) नहीं होता है ॥२७॥

१ पापी महाभयं पश्येत् कालान्तकमुखैर्वृतम् । पुण्यकर्मा सौम्यरूपं धर्मराजं तदा किल ॥ मनुष्या एव गच्छन्ति यमलोकं नचापरे। धार्मिकः पूज्यते तत्र पापः पाशगलो भवेत् ॥ स्कन्दपु० माहेश्वरखं० कौमारिकखं० ५।७१ इत्यादि ।

२ आत्मैव यदि नात्मानमहितेभ्यो निवारयेत् । कोऽन्यो हितकरस्तस्मा-दात्मानं तारयिष्यति ॥ गरुडपु० अ० ४९।२२ ।

एक पै नष्ट पावँ परि विनवै, विनति किये नहिं मानै हो ।
अनचिन्ह रहहु कियेहु न चिन्हारे, सो कैसे पहिचानै हो ॥
ले न बोलाय बात नहिं पूछै, कँवट गर्व तन बोलै हो ।
जाके गाँठ समर कछु नाहीं, सो निथाह भय डोलै हो ॥

एकोऽसौ म्रियमाणश्च प्रणिपातपुरस्सरम् ।
तदा स्तौति न तत्किञ्चिन्मन्यते यमकिंकरः ॥२८॥
पूर्वं परिचयस्तस्य मरणान्तं कृतो न यैः ।
तानिदानीं कथं सोऽपि जानीयाद्यमकिंकरः ॥२९॥
यमराजोऽपि तान्नैवावबुध्येत नराधमान् ।
यैस्तेन संस्तवः पूर्वं कृतो न मरणावधि ॥३०॥
स नैवाऽऽह्वयते शान्तं वार्तां काञ्चिन्न पृच्छति ।
दुःखाब्धेस्तारकोऽप्येष गर्वदेहेन भाषते ॥३१॥
जीवकर्ममयो देवस्तदा भाति निरञ्जनः ।
गर्वी पश्यति गर्वित्वं शान्तस्तत्र हि शान्तताम् ॥३२॥

एक वह मरता हुआ प्राणी उस समय प्रणिपात (दण्डवत् प्रणाम) पूर्वक स्तुति करता है, परन्तु यमदूत सो कुछ नहीं मानता है ॥२८॥ जिन लोकों ने पहले मरणतक उसका परिचय (परिज्ञान) नहीं किया, तो इस मरण काल में उन्हे वह यमदूत भी कैसे जानेगा ॥२९॥ जिन्होंने मरण तक उस यमराज के साथ भी संस्तव (परिचय) जान पहचान प्रथम नहीं किया है, उन अधम मनुष्यों को यमराज भी कुछ नहीं समझेगा ॥३०॥

वह यमराज, पापात्मा परिचय रहित को शान्ति पूर्वक नहीं पुकारता है, न कोई बात पूछता है; किन्तु दुःख समुद्र से तारनेवाला भी यह गर्वरूप देह द्वारा बोलता है ॥३१॥ उस समय निरञ्जन (ईश्वर) रूप देव जीव के कर्ममय प्रतीत होता है, इससे गर्वी (अहंकारी) उसमें गर्वित्व

जिन समयुक्ति अगुअन कै राखिन, धरिन मच्छ भरि डेहरि हो।
जेकरा हाथ पावँ कछु नाहीं, धरे लागु तेहि सो हरि हो॥

यस्य स्वान्ते न सत्कर्म ज्ञानध्यानादिशम्बलम्।
अनन्ते स भयस्थाने कम्पते तत्र विह्वलः॥३३॥
यस्तु स्वान्तं निजात्मानं नियोज्याऽऽत्मन्यधारयत्।
शम्बलं ज्ञानयोगादि सम्पाद्य धृतवांश्च वा॥३४॥
स मनोवाञ्छितं पूर्णमानन्दघनमव्ययम्।
सुमत्स्यं लब्धवान् यद्वा स्वर्गं कर्मानुसारतः॥३५॥
यस्य नो पाणिपादादि चक्षुरादि न किञ्चन।
देहो लगति यस्मिन्नो लभ्यो मत्स्यो हरिर्हि सः॥३६॥
स एव मायया सर्वग्रहणायाऽलगत्स्वयम्।
यो हि संसारबन्धस्य स्थितेर्मोक्षस्य कारकः॥३७॥

देखता है, और शान्त उसमें शान्तपन देखता है॥३२॥ जिसके मनमें सत्कर्म ज्ञान ध्यानादि रूप शम्बल (परलोक मार्ग के खर्च) नहीं रहता है, सो अनन्त भय के स्थान में वहाँ विह्वल होकर कांपता है॥३३॥

और जो अपनी आत्मा रूप स्वान्त (मन) को सत्यात्मा में लगाकर धरा, वा ज्ञानयोगादि रूप शम्बल का संपादन (सिद्धि) करके धरा॥३४॥ सो मनोवाञ्छित, पूर्ण, आनन्दघन, अव्यय, सुमत्स्य (ब्रह्मात्मा) को पाया, या कर्मानुसार से स्वर्ग पाया॥३५॥ जिसके हाथ पैरादि नहीं है, न नेत्रादि है, न जिसमें देह लगता (संग पाता) है, वही हरि प्राप्त करने योग्य मत्स्य है॥३६॥ और वही स्वयं माया से सब को ग्रहण करने के लिये लगा है, जो कि संसार रूप बन्धन की स्थिति और मोक्ष के कर्ता है॥३७॥

पेलना अछत पेलि चलु बौरे, तीर तीर का डोलहु हो ।
उथले रहहु परहु जनि गहिरे, मति हाथहुं के खोवहु हो ॥

विद्यमाने शरीरे स्वे नावि स्वस्थेन्द्रियादिके ।
अरित्रक्षेपणीसत्त्वे संवाह्य भवमुत्तर ॥३८॥

क्षिप्रं तत्तरणे यत्नं कुरुष्व त्वं जनः शुभम् ।
भवसिन्धोस्तटे किं वै भ्रान्तो भ्रमसि सर्वदा ॥३९॥

यावन्नास्य परं पारं त्वया संप्राप्यते बुध ! ।
तावदप्युन्नते मार्गे पदे तिष्ठ विवेकतः ॥४०॥

गम्भीरे भवचक्रे हि रागद्वेषभयाकुले ।
पत मा मोहतो रत्नं हस्तस्थं त्यजतां नहि ॥४१॥

अमूल्यावसरो याति मानुष्यं चातिदुर्लभम् ।
सुलभ्यं ह्यात्मरत्नं तदत्रैवात्यञ्जसा खलु ॥४२॥

नौका रूप अपने मानव देह के रहते और स्वस्थ (निरोग) इन्द्रियादि रूप अरित्र (पतवार) क्षेपणी (डांर) के रहते, खेव कर संसार को तरो ॥३८॥ मनुष्य रूप तुम संसार के तरने में शीघ्र शुभ यत्न करो, भवसिन्धु के किनारे पर भ्रान्त होकर क्यों सदा भ्रमते हो ॥३९॥ हे बुध ! (विवेकी) जबतक इसके परले पार तुम से नहीं प्राप्त किया जाता, तब तक भी ऊंचा मार्ग और स्थान में विवेक से स्थिर होवो ॥४०॥ राग द्वेष भय से आकुल (व्यस्त-व्याप्त) गम्भीर संसार चक्र में मोह से नहीं गिरो, और हस्तस्थ रत्नतुल्य विवेकादि को नहीं त्यागो ॥४१॥ अमूल्य अवसर अति दुर्लभ मनुष्यता जा रहे हैं, वह आत्मस्वरूप रत्न भी यहाँ अञ्जसा (शीघ्र) अच्छी तरह प्राप्त करने योग्य है ॥४२॥

तर के घाम उपर के भूँभुरि, छाँह कतहुँ नहिं पायहु हो ।
ऐसे जाने पसीजहु सीजहु, कस न छतरिया छायहु हो ॥

रत्नाऽलाभे हि शोकाद्या आधयस्त्वां निरन्तरम् ।
अन्तः संतापयिष्यन्ति बहिस्तु तप्तबालुकाः ॥४३॥

तापाश्च दैहिकाद्या हि धक्ष्यन्ति नाऽत्र संशयः ।
तप्तश्चो भयतस्त्वं हि क्व शान्तिं लप्स्यसे सुखम् ॥४४॥

सच्छायां नैव कुत्रापि ज्ञानयोगादिकं विना ।
लब्धवान्नैव लब्धासि ततस्तापैर्निपीड्यसे ॥४५॥

एवं ज्ञात्वापि किं जीव! घर्मयुक्तोऽतितप्यसे ।
छदिः संछाद्यते किन्न ज्ञानयोगादिलक्षणा ॥४६॥

ज्ञानयोगाद्यभावे हि गते युगसहस्रके ।
न क्वचिच्छान्तिलाभः स्यान्मुक्तिर्नैव च नैव च ॥४७॥

आत्मरत्न के नहीं मिलने पर शोकादि रूप आधि (मानस दुःख) तुमको निरन्तर भीतर संतप्त करेंगें, और बाहर तप्त बालुतुल्य दैहिकादि ताप तुमको दग्ध करेंगें, इसमें संशय नहीं है, और दोनों तरफ से संतप्त तुम कहाँ शान्ति सुख पावोगे ॥४३–४४॥ ज्ञानयोगादि के बिना सच्ची छाया (शान्तिप्रद) को तुमने कहीं नहीं पाया है, न पानेवाला हो, तिसीसे तापों से पीडित होते हो ॥४५॥ हे जीव! ऐसा जानकर भी तुम घर्म (स्वेद) युक्त (दुःखी) होकर क्यों अत्यन्त तपते हो, ज्ञानयोगादि रूप छदि (छप्पर) क्यों नहीं छाते (बनाते) हो ॥४६॥ ज्ञानयोगादि के अभाव रहते, हजारो युग बीतने पर भी कहीं शान्ति नहीं मिलेगी, और मुक्ति किसी प्रकार भी नहीं होगी ॥४७॥

जो कछु खेल कियो सो कीयो, बहुरि खेल कस होई हो।
सासु ननद घर देत उलाटन, रहहु लाज मुख गोई हो॥
गुरु भौ ढील गोण भौ लच पच, कहा न मानहु मोरा हो।

पटलाऽसाधने त्वत्र क्रीडायुक्तं कुतूहलम्।
कृतं यत् तत् कृतं विद्धि पुनर्नेत्थं भविष्यति ॥४८॥
तिर्यग्योनिषु संप्राप्तौ नरकेष्वथ संकटे।
कथं कौतूहलं सिद्ध्येत्तदद्यैव विचिन्त्यताम् ॥४९॥
माया ह्येष। जगच्छ्वश्रूः स्वामिनां जननी मता।
असतां सा कुबुद्धिश्च ननान्दा लोकघातिनी ॥५०॥
ते उभे वैपरीत्येन प्रदर्श्यार्थाञ्जनान्प्रति।
अनन्तदेहगेहेषु क्षिपतो ज्ञानमन्तरा ॥५१॥
उपालम्भमुभे दत्तो जनेभ्यश्च सदा ततः।
लज्जितैरेव युष्माभिर्मुखमाच्छाद्य जीव्यते ॥५२॥
देहनौगुणवृक्षोऽयं मेरूदण्डोऽदृढोऽभवत्।
नाड्याद्यास्तद्गुणाश्चात्र शिथिलत्वमुपाव्रजन् ॥५३॥

पटल (छदि :—छप्पर) के यहाँ नहीं सिद्ध करने पर क्रीड़ा सहित जो कुतूहल (खेल) कियो सोई किया समझो, फिर ऐसा नहीं होगा ॥४८॥ तिर्यग्योनियों में, नरकों में, संकट (संबाध) दुःखस्थान में संप्राप्ति होनेपर कौतूहल कैसे सिद्ध होगा, सो आज ही विचारो ॥४९॥ असत् स्वामियों की जननी मानी गई यह माया जगत की सासु है, और वह कुबुद्धि (अविद्या) लोक को नष्ट करनेवाली ननद है ॥५०॥ वे दोनों लोकों के प्रति अर्थों को उलटा रूप से देखा कर, ज्ञान के बिना अनन्त रूप घर में फेंकती हैं ॥५१॥ और लोकों के प्रति सदा उपालम्भ (ओलहन) दोनों देती हैं, जिससे लज्जित ही होकर तुम सब ढांप कर जीते हो ॥५२॥

देह रूप नौका के गुणवृक्षक (कूपक) रूप यह मेरू दण्ड अदृढ हो

ताजी तुरुकी कबहुं न साधेहु, चढेहु काठ के घोड़ा हो ॥
ताल झांझ भल बाजत आवे, कहरा सब कोइ नाचै हो ।

अहो तथापि सद्वाक्यं गुरूणां मन्वते नहि ।
मन्वते त्वसतां वाक्यं पीड्यन्ते तेन जन्तवः ॥५४॥
तौरुष्की तरुणी याऽश्वा तद्बुद्धि प्रापिकां लघु ।
सत्तत्त्वस्याऽऽत्मबुद्धिं नो सहजां साधयन्ति वा ॥५५॥
कदाचिद्वै भवन्तोऽत्र काष्ठस्याश्वसमं कथम् ।
काम्यकमादिकं तुच्छमाश्रयन्ति जडं तु वा ॥५६॥
जडासक्त्या न मोक्षः स्यात्काम्येन कर्मणा नहि ।
न सौख्यं नापि विज्ञानं न ध्यानं धारणा शुभा ॥५७॥
स्थितानां तत्र युष्माकं कल्पितैः स्वामिभिः सह ।
विवाहाय विवाद्यन्ते तालाश्च झर्झरादिकाः ॥५८॥
आयान्ति वादयन्तश्च तान् सर्वेऽप्यविवेकिनः ।
जडाः सर्वेऽत्र नृत्यन्ति मनस्तेषां विकूर्दते ॥५९॥

गया, और नाड़ी आदि रूप उसके गुण (रस्सी) भी शिथिलता (अदृढता) को प्राप्त हुए ॥५३॥ आश्चर्य है कि, तो भी प्राणी गुरु के सत्य वाक्य को नहीं मानते हैं, और असत् पुरुषों के वाक्य को मानते हैं, तिसीसे पीडित होते हैं ॥५४॥ तुरुकों के देश में उत्पन्न, युवती जो घोडी, तिसके समान सत् स्वरूप को लघु (क्षिप्र) प्राप्त करानेवाली आत्मबुद्धि वा सहजा (समाधि-राजयोग) को आप लोक कभी नहीं सिद्ध करते हो, और काठ के घोड़ा तुल्य सकाम कर्मादि को, तुच्छ वस्तु को वा जड़ को यहाँ कैसे आश्रयण करते हो ॥५५–५६॥ जड़ में की आसक्ति से मोक्ष नहीं होगा, न काम्य कर्म से होगा, इनसे न सुख होगा, न विज्ञान होगा, न ध्यान होगा, न शुभ धारणा होगी ॥५७॥ उस काठ के घोड़े तुल्य पर स्थिर तुम सबका कल्पित स्वामियों के साथ विवाह के लिये ताल झाँझादि बजाये जाते हैं ॥५८॥ और उन

जेहि रंग दुलहा ब्याहन आवै, तेहि रंग दुलहिनि राचै हो ॥
नौका अछत खेवहुं नहि जानहु, कैसे लगवहु तीरा हो ।
कहहिं कबीर राम रस मांते, जोलहा दास कबीरा हो ॥६॥

सात्त्विकै राजसैर्यद्वा तामसैर्यैस्तु रञ्जितः ।
रङ्गैर्वरः समायाति रज्यध्वे यूयमत्र तैः ॥६०॥

रञ्जितास्तैर्भवन्तश्च प्राप्नुवन्ति हि तान् सदा ।
नैव सत्यं परात्मानं संसाराब्धेः परं स्थितम् ॥६१॥

वर्जितं सर्वरङ्गैश्च विशुद्धं पावनं परम् ।
असङ्गं निर्गुणं नित्यं विभुमानन्दचिद्घनम् ॥६२॥

स्थितायामेव नाव्यत्र जानन्ति वाहनं न चेत् ।
भवाब्धेः सत्परं पारं प्राप्नुवन्तु कथं जनाः ॥६३॥

विजानन्तु कथं चैते वाहनं साधनं तथा ।
तटस्थस्यैव रामस्य रसे मत्ता हि सन्ति चेत् ॥६४॥

बाजाओं को बजाते हुए अविवेकी सब आते हैं, और यहाँ जड़ (अज्ञ) सब नांचते हैं, उनका मन भी कूटता उछलता है ॥५९॥ सात्विक राजस वा तामस, जिस रङ्ग से रञ्जित वर (देवादि) आता है, तिसी रंग से तुम सब भी यहाँ रंगाते हो ॥६०॥ और उन रङ्गों से रञ्जित आप लोक उन वरों को ही सदा पाते हैं, और भवाब्धि से पर (दूर) स्थित, सब रङ्गों से रहित, विशुद्ध पर (उत्तम) पावन, असङ्ग, निर्गुण, नित्य, विभु, आनन्द चेतनघन, सत्य पर (केवल) आत्मा को नहीं पाते हैं ॥६१-६२॥

मानव देह रूप नौका के यहाँ रहते, इसका वाहन (गति-खेवने) को यदि नहीं जानते हैं, तो संसार समुद्र के सत्य पर पार को जन कैसे प्राप्त हों ॥६३॥ और ये लोक वाहन तथा ज्ञान के साधन को भी कैसे जानें। यदि तटस्थ राम (ईश्वर) के ही रस (प्रेम) में मतवाले हैं ॥६४॥ त्रैगुण्य

त्रैगुण्यैर्हि रसैर्मत्ता विन्दन्ते न परं पदम् ।
इत्येवं सद्गुरुः प्राह दासान् जीवान् सुदेहिनः ॥६५॥
ब्रह्मण्येवेदं सर्वं विश्वं मायासिद्धं सत्यार्थैः शून्यम् ।
तत्रासक्ता ये मोहैर्मत्तास्तेषा यातायातं स्यान्नित्यम् ॥६६॥
तेषां कृते च भूतात्मा भूतैर्नानाविधास्तनूः ।
सृजत्यविरतं सर्वान् भ्रामयन् मायया मुहुः ॥६७॥६॥

(काम्यकर्मादि विषयक) रस (प्रेमादि) से मस्त लोक पर पद को नहीं पाते हैं, इस बात को ऐसा ही सुन्दर देहवाले दास जीवों के प्रति सद्गुरु कहते हैं ॥६५॥ ब्रह्म ही में यह सब विश्व (भुवनादि) माया से सिद्ध है, और सत्य अर्थों से रहित है, जो इसमें आसक्त और मोह से मतवाले हैं, उनके यातायात (मरण जन्म) सदा होगा ॥६६॥ उन्हीं के लिये भूतात्मा रूप ईश्वर भूतों (भूमि आदिकों) से नाना प्रकार के शरीरों को अविरत (सतत) सृजता है, और सब को माया से बार २ भ्रमता हुआ सृजता है ॥६७॥

अक्षरार्थ–हे सत्य के प्रेमियों! सहज समाधि के लिये ध्यान में स्थिर रहो, और सदा गुरु के बचन में समाय (स्थिर होय) कर सहज ध्यान ही में लगो ॥ और शिस्त (शस्त कल्याण) रूप वस्तु में चरा (चञ्चल) चित्त को मेल (लगा) कर रखो, और दृष्टि (मनोवृत्ति) से सदा उसी में लौ (प्रेम ध्यान) लगाय रहो। या दृष्टि (नेत्र) पर लौ (लक्ष्य) लगाय रहो, या चराऽचित (चर–अचर) को शस्त में मेली (लीन) करके रख दो, और उसी शस्त में दृष्टि से लौ लगाय रहो । और इस अभ्यासादि जन्य दुःख को देखकर भी इस–समय जैसे स्थिर रहोगे, ऐसा ही स्थिर सुख फिर प्राप्त होगा ॥

और जो (यदि) खुटकार (खटका–संदेहादि करनेवाला) मन बेगि (शीघ्र) सत्य अर्थ अभ्यासादि में नहीं लगे, या किसी का खुटकार (उपद्रव–अपकार) चाहे कितनाहूं वेग से न लगे, तो भी तुम अपने हृदय से क्रोध

का निवारण करो ॥ और मुक्ति की डोरी (ध्यानरत चित्तवृत्ति) को गाढ (जोर) से जनि (नहीं) खींचो (इसमें शीघ्रता घबराहटादि नहीं करो), तभी बड़ा रोहू तुल्य मन बाझेगा (स्ववश होगा, जन्मादि का भय मिटेगा, मुक्ति होगी) । इत्यादि ।

कामादि के वेग होने पर भी मनुमहिं (मनको) कहो (समझावो), उस मन को मारे (दबाये) रहो । और खिझुआ ! (क्रोधी !) तुम खीझि (क्रोध कर) के किसीसे नहीं बोलो ॥ और सबको अपना मित्र समझो, मितैया (मित्रता) नहीं छोड़ो और कमऊं (कामकी) गाँठि (गठरी) नहीं खोलो (अत्यन्त कामी नहीं बनो), या कमऊँ (कभी) मित्रता के गाँठि (प्रेमबन्धन) को नहीं खोलो, इत्यादि ।

शरीर की स्थिति अभ्यास विचारादि के लिये उचित भोग भोगो, शरीर से परोपकारादि करो, परन्तु भुक्ति (भोग-स्वाद) में नहीं भूलो (आसक्त नहीं होवो), योग की युक्ति से स्थूल सूक्ष्म देह को साधो (रोगालस्यादिरहित शुद्ध स्ववश करो) या ज्ञान के साधनों से युक्त करो। और जा मत (जिस समझ बुद्धि) से मतवाली (गर्वप्रमादादि) करते हो, ता मत के (उस मत को) चित (चेतनात्मा) में बाँधो (लगावो) ।

नहिं तो (पूर्व कही रीति से नहीं करने पर) तेरे लिये ठाकुर (ईश्वरादि) अति दारुण (भयानक शत्रु) हैं । वे सब कुचाली का चाल (कुमार्गी की गति) करेंगें । और बांध मार कर सब अपराधों के दण्ड लेगें, तब तेरी सब मतवाली (गर्व) छूटेगी ।

जब सावट (साढ–कैंत मारनेवाला) यमदूत आय कर पहूंचेगा, तब पीठ पर साट भली भाँति से तोडेगा। खड़े २ लोक कुटुम्बादि देखेगें, किसी के कहने से छुटकारा नहीं होता। एक पै (अकेला ही) नष्ट (मृत्युग्रस्त) जीव, पाँव पर के विनय स्तुति करता है, परन्तु दण्डदाता नहीं मानता है। ऐसा ही उचित भी है; क्योंकि जिससे तुम सदा अनचिन्ह रहते हो, तो वह तुमको कैसे पहचाने, और जिस आत्मा को प्रथम नहीं समझे हो, उसे उस समय कैसे समझोगे, इत्यादि ।

वह ठाकुर, पहचान योग भक्ति आदि रहित जीवों को प्रेम से नहीं बुला लेता है, न कुछ बात पूछता है, किन्तु वह केवट (भक्त योगी आदि को पार मुक्त करनेवाला) भी माया से गर्भमय देह का धारण करके बोलता है। तब जिसके गांठ (हृदय) में सत् कर्मादि रूप कुछ समर (शम्बल) नहीं रहता है, सो जीव निथाह (अथाह-अगम अपार) भय के स्थानों में डोलता (कांपता) है। (ये नरा ज्ञानशीलाश्च ते यान्ति परमां गतिम् । पापशीला नरा यान्ति दुःखेन यमयातनाम् ॥ गरुडपु० प्रे० अ० १।१७) ।

जिन लोकों ने अगुअन (आगे-प्रथम) से ही समयुक्ति (संग्रह) करके ज्ञानध्यानादि शम्बल राखा, या जीवात्मा का ब्रह्मात्मा में सम्यक् संबन्ध कर रखा; उन लोकों ने भर डेहरि (भर डेली-मन भर) वाञ्छित मच्छ (आनन्द-मोक्ष) धरिन (धरा-पाया)। और वस्तुतः जिसके हाथ पाँव आदि कुछ नहीं हैं, न धरे (धड़-देह) का जिस में लाग (संबन्ध) है, प्राप्त करने योग्य मत्स्य सोई हरि है। या जो हाथादि रहित है, सोई हरि जीवों के कर्मानुसार माया से यमराजादि ठाकुर बनकर, मूढ़ जीवों को धरने (पकड़ने) दण्ड देने में लगा है, इत्यादि। (अपाणिपादो जवनो ग्रहीता। श्वेता० ३।१९॥ संसारमोक्षस्थितिबंधहेतुः। श्वे० ६।१६)।

हे बौरे! पेलना (मानव देहादि रूप नौका आदि) के अछते रहते ही [1]पेलि (सहज ध्यानादि से खेव) कर, संसार सागर से पार चलो, तीर २ (किनारे २) क्या डोलते हो। और तब तक कबले (उच्च स्थान) ध्यानादि में रहो, गहिरे (गम्भीर) रागद्वेषादि में जनि (नहीं) पड़ो, और हाथ में प्राप्त वस्तु आदि को मति (नहीं) खोवो।

इस अवसर के व्यर्थ बीतने पर, तर के (भीतर के) शोकादि रूप घाम (धूप-ताप) और (बाहर) के भूंभुरि (तप्त बालू) तुल्य रोगादि से

१ गुजराती भाषा में पेलि का परली पार अर्थ होता है।

पीडित होने पर, तुमने कतहुं (कहीं) छांह (आनन्द का स्थान) नहीं पाया है, न पावोगे। ऐसे ही जानो, और प्राय: ऐसा जानकर भी पसीजते (घामार्त होते रोते) हो, सीजते (पकते-भुनते) हो, परन्तु तो भी छाया शान्तिप्रद ज्ञानध्यानादि रूप छतरी (घर) क्यों नहीं छाते हो।

ज्ञान ध्यानादि रूप छत्री (छप्पर) नहीं छाने पर, जो कुछ खेल इस देह में कियो सो कियो, बहुरि (फिर) कैसा खेल होगा सो समझो। उस समय तो सासु (माया) ननद (अविद्या-कुबुद्धि) अनन्त देह रूप घरों में जीवों के प्रति उलाटन (उपालम्भ-परिभाषण) देती है, तथा देहों में उलट २ कर भ्रमाती है, जिसकी लाज से तुम मुख को गोये (छिपाये) रहते हो।

संसार सागर से पार करने में समर्थ देह रूप नौका के गुरु (गुणरखा) मेरुदण्ड ढील हो गया, और गोण (नाडी रूप गुण, या देह रूप बोरा) लचपच (कमजोर) हो गये, तो भी मोरा (सद्‌गुरु) का कहा नहीं मानते हो। और ताजी (नवीन) तुरुकी (तुरकस्थान) की घोड़ी तुल्य शीघ्र इष्ट स्थान में प्राप्त करानेवाले ज्ञानध्यानादि को कभी नहीं सिद्ध करते हो। किन्तु काम्यकर्मादि विषयादि रूप काठ के घोड़े पर चढ़े हो।

काठ के घोडे पर चढे हुए मनुष्यों का विवाह के लिये ताल झांझादि भले (अच्छी तरह) बाजते आते हैं, और कहरा (कहार तुल्य) सब कोई नाचते हैं, और जिस गुण रूप रंगवाला दुलहा ब्याहन को आता (कल्पित होता) है, उसी रंग से जीव रूप दुलहिन वा उसकी बुद्धि राची (साजी) जाती है।

और इस मानव देह रूप नौका के अछते (रहते) भी यदि खेवना नहीं जानते-हो, तो पार तीर पर कैसे लगोगे। और खेवना भी कैसे जानोगे, त्रिगुण राम के रस (आनन्द) से ही जोलहा (मानुष तनुधारी) दास जीव तुम मांते हो इत्यादि ॥६॥

कहरा ॥ ७ ॥

ओढन मेरो रामनाम मैं, रामहिं के बणिजारा हो ॥
रामनाम के करौं वणिजिया, हरि मेरे हटवाई हो ।
सहस नाम का करौ पसारा, दिन दिन होत सवाई हो ॥

उपासीनो हि नामैव प्राह रामेति नाम मे ।
उत्तरीयपटैस्तुल्यं शैत्यतापादिवारकम् ॥६८॥
रामनाम्नो हि वाणिज्यं सदैवाऽत्र करोम्यहम् ।
हरिरेव फलोन्माता दाता तस्य सदाऽव्ययः ॥६९॥
हरेः सहस्रनाम्नां च सुविस्तारं करोम्यहम् ।
येनास्मदीयवाणिज्ये सदा वृद्धिर्हि पादशः ॥७०॥
ज्ञानिनस्तु वदन्त्यत्र रामनामास्ति सत्पटः ।
तेन वास्यं जगत्सर्वं तस्य व्यापारिणो वयम् ॥७१॥
उपदेशादिकं तस्य वाणिज्यं क्रियते यतः ।
स हरि र्भृतिरस्माभिः प्राप्यते ह्यक्षयाद्वयः ॥७२॥

नाम की ही उपासना करनेवाला दास जीव कहता है कि, राम यह नाम ही मेरा ओढनेवाले पटों के तुल्य है, ठंढी तापादि के नाशक हैं ॥६८॥ यहाँ मैं रामनाम का ही वाणिज्य (वणिज्य वृत्ति) सदा करता हूं, इसमें हरि ही उसका फल को तौलनेवाला और दाता हैं, सो हरि सदा अव्यय (अविनाशी) हैं ॥६९॥ हरि के सहस्र नामों का मैं सुविस्तार (पाठ जप) करता हूं, जिससे मेरे वाणिज्य में पादशः (पाद २) से (सवाई २) सदा वृद्धि होती है ॥७०॥ और ज्ञानी सब कहते हैं कि, यहाँ रामनामवाला सत्य पट है (ईशावास्यम्) इस श्रुति के अनुसार तिससे ही सब जगत् वास्य (आच्छादनीय) है, तिसी का हम व्यापारी हैं ॥७१॥ उसीका उपदेशादि रूप वाणिज्य हमसे किया जाता है, कि जिससे अक्षय अद्वय

जाकु देव मैं नव पँच सेरवा, ताको होत अढाई हो।
कान तराजु सेर तिन पौवा, डहकिन ढोल बजाई हो॥

अनन्तनामकस्यास्य विस्तारो वर्ण्यते यतः।
सदा लोके सुखादीनां वृद्धिर्भवति पादशः॥७३॥
यस्मै ददामि भक्त्या वै नवधा सुनिधेस्तथा।
पञ्चाक्षरस्य मन्त्रस्य विधिनैवोपदेशनम्॥७४॥
अर्द्धाधिकद्विमात्रस्य प्राप्तिस्तस्य भवेद् ध्रुवा।
ओङ्कारस्येत्युपासीनो भाषते नाममात्रकम्॥७५॥
सेटकानि हि यस्यैव नव पञ्चेन्द्रियाणि च।
प्राणा देवमयानि स्युः सोंकारार्थं समाप्नुयात्॥
इत्येवं भाषते ज्ञश्च जनान् सर्वमयं हरिम्॥७६॥
तुलयाऽसमया लोकरूपया सेटकेन च।
पादोनेनैव सर्वेऽमी पीडयन्ते त्रिगुणेन हि॥७७॥

वह हरि ही हमें भृति (वेतन—भरण) मिलता है॥७२॥ अनन्त नामवाला इस हरि के विस्तार (विभूति) का वर्णन किया जाता है कि, जिससे लोक में सुखादि की सदा पाद २ से वृद्धि होती है॥७३॥

नवधा निधि रूप नवधा भक्ति का तथा पञ्चाक्षर मन्त्र का उपदेश जिसको विधि से देता हूं, तिसको अर्द्धाधिक द्विमात्र (ढाई मात्रा) रूप ओंर की प्राप्ति ध्रुवा (नित्या—शाश्वत् स्वरूपा) होगी। इस प्रकार नाम मात्र के उपासक कहते हैं॥७४-७५॥ और जिसके बाहर भीतर के इन्द्रिय (ज्ञान साधन) रूप नौ सेर, तथा पञ्च प्राणरूप पांच सेर, ये सत्यात्मदेवमय हों, सो ओंकार के अर्थ को सम्यक् प्राप्त करेगा, यह बात जनों के प्रति ज्ञानी कहते हैं, हरि को सर्वमय (सर्वात्मस्वरूप) कहते हैं॥७६॥ और लोक रूप असम (विषम) तुला (तराजू) से तथा एक पाव रहित सेर त्रिगुण से ये सब लोक पीडित होते हैं॥७७॥

सेर पसेरी पूरा करि लेहु, पासंग कतहुं न जाई हो।
कहहिं कबीर सुनहु हो सन्तो, जोर चले जहडाई हो॥ ७॥

वञ्चका वञ्चयन्त्येतांस्तया तेन च वै जनान्।
प्रत्यक्षं वादयित्वेव ढक्कान् कोपि न बुध्यते॥७८॥
प्रस्थद्रोणादिकं सर्वं ज्ञानध्यानादिलक्षणम्।
सुपूर्णं क्रियतां साधो! क्वापि पापे न गम्यताम्॥७९॥
वासनाऽप्यूनतात्मा या समताबाधिका दृढा।
पूर्णज्ञानं विना सा न क्वचिद्याति दुरुद्धरा॥८०॥
पूर्णज्ञानं विना ये तु हठेन वासनाक्षयम्।
नामाद्यैः कर्तुमिच्छन्ति वञ्चितास्ते व्रजन्ति हि॥८१॥
वञ्चयित्वा जनांस्ते च वञ्चका ह्यतिदुर्धियः।
अधो यान्ति न संदेहो वञ्चना ह्यनर्थदा॥८२॥
एवं श्रीसद्गुरुः प्राह शृण्वन्तु सर्वसज्जनाः।
त्यजन्तु वञ्चकत्वं च वञ्चकानां कुसङ्गतिम्॥८३॥७॥

इति हनुमदीये कहराकल्पे धारणोपदेशवर्णनं नाम तृतीया शिक्षा॥३॥

वञ्चक लोक भी तिस तुला और सेर से प्रत्यक्ष ही ढोल बजा कर, मानो इन लोकों को ठगते हैं, परन्तु कोई समझता नहीं है॥७८॥

हे साधो! ज्ञान ध्यानादि रूप प्रस्थ द्रोणादि (सेर आदि) अच्छी तरह पूर्ण कर लो, कहीं पाप (दुष्कृत) में नहीं जावो॥७९॥ समता का बाधक जो न्यूनता रूप वासना है, दुरुद्धरा (दुर्निवारा) वह वासना भी पूर्णज्ञान विना कहीं नहीं जाती (नष्ट होती) है॥८०॥ जो कोई पूर्ण ज्ञान विना ही हठ से नामादि से वासनाओं का नाश करना चाहते हैं, वे लोक वञ्चित होकर (ठगा कर) जाते हैं॥८१॥ और अति दुर्बुद्धि वाले वे वञ्चक भी जनों को ठग कर, नीचे जाते हैं, इसमें संशय नहीं है, क्योंकि वञ्चना अनर्थ को देने वाली है॥८२॥ इस प्रकार सद्गुरु कहते

हैं, सो सब सज्जन सुनें, और वञ्चकता, वञ्चकों की कुसङ्गति को त्यागे ॥८३॥

अक्षरार्थ—उक्त रामरस में मांते नामोपासक कहते हैं कि, ज्ञान सहज समाधि की आवश्यकता नहीं हैं, क्योंकि मेरा रामादि नाम ही ओढन (सब द्वन्द्व वारक) है, इसीले मैं रामनाम का ही वणिजारा (व्यापारी) हूं। और रामनाम का ही वणिजी (व्यापार) मैं करता हूं, और इस व्यापारी में हरि ही मेरे हटवाई (हटवापन की मजदूरी) हैं, वा हटवा (तौलनेवाला) फलदाता हरि ही हैं। इसीसे मैं सहस्र नाम का पसार (वाणिज्य-विस्तार) करता हूं, कि जिससे दिन २ सवाइ वृद्धि होती है। ज्ञानी कहता है कि, रामनामवाला विभु ब्रह्म ओढन है इत्यादि।

नामोपासक गुरु कहते हैं कि, साधारण में तो सवाई वृद्धि होती ही है, परन्तु मैं जाकु (जिसको) नव सेरवा (नवधा भक्ति आदि) पंचसेरवा (पञ्चाक्षर मन्त्र-पंचमहायज्ञादि) का उपदेश देता हूं, उसको उस रामनाम के व्यापार में ढाई गुणा वृद्धि होती है, या ढाई मात्रा वाला ओंकार के अर्थ ईश्वर की प्राप्ति होती है। यह गुरु का ही कहना हैं कि, जिसके अन्तःकरण ज्ञानेन्द्रिय रूप नव सेर, और प्राण रूप पांच सेर, आत्मदेव (मैं) मय रहता है उसको ढाई होता है। और अज्ञ लोकों ने कान (समता रहित) लोकादि रूप तराजु (तुला) और तीन गुण रूप तीन पाव का सेर से ढोल बजा कर लोकों को डहकिन (डहकाया ठगा) है। अर्थात् लोक गुणादि में सत्यता आदि बता कर सत्यात्मा से विमुख किया है।

सद्गुरु कहते हैं कि, ज्ञान ध्यान विरागादि रूप सेर पसेरी को पूर्ण करो, अन्यथा वासनादि रूप पासंग (पसँगा-हीनता) कहीं नहीं जायगें (नहीं नष्ट होयगें) या सेर पसेरी को पूर्ण करके पा (पाप) लोभादि के संग में वा लोभी आदि के संग में कहीं नहीं जावो। जो कोई ऐसा नहीं करके जोर (हठ-आग्रहादि) करते हैं, सो आप जहडे और अन्य को भी जहडाय (पीडित) करके चले और चलते है ॥ ७ ॥

जैसे केवल नामादि से लोक मुक्ति मानते हैं, तैसे ही कोई किसी वेषविशेष का धारण से भी मुक्ति आदि मान कर, आत्मविचारादि से सर्वथा विमुख रहते हैं, उनके विपरीत ज्ञान की निवृत्ति आदि के लिये कहते हैं कि—

कहरा ॥ ८ ॥

रहहु सम्हारे राम विचारे, कहता हौं पूकारे हो ॥
मूड़ मूड़ाय फूलि क्या बैठे, मुद्रा पहिरि मजूषा हो ।
ता ऊपर कछु छार लपेटे, भितर भितर घर मूसा हो ॥

स्थीयतां सावधानेन रामो हृदि विचार्यताम् ।
आहूयोच्चैर्वदास्येतद्विचारे मा प्रमाद्यताम् ॥१॥
मुण्डनं कारयित्वैव मुद्रां धृत्वा च सेलिकाम् ।
किं कुगर्वेण चोत्फुल्ल्य वर्तसे दम्भवर्द्धितः ॥२॥
अहो मुण्डितदेहस्य बहिर्भस्मप्रलेपनम् ।
क्रियते यच्च कामाद्यैश्चौरैरन्तःप्रलुण्ठनम् ॥३॥
क्रियते चेन्न तद्वेत्सि वृथैव सकलं भवेत् ।
तस्मात्त्वं सावधानेन चौराञ्ज्ञात्वा जहीहि तान् ॥ ४ ॥

सावधानी से स्थिर होवो, राम को हृदय में विचारो, उच्च स्वर से पुकार कर यह कहता हूं, कि विचार में प्रमाद (भूल) नहीं करो ॥ १ ॥ मुण्डन करवा कर, कान में शीसा के मुद्रा पहन कर, गले में भेंडी का बाल की सेली (माला) धर कर, कुगर्व से ऊपर फूल कर, क्या दम्भ से वर्द्धित बडा बने रहते हो ॥ २ ॥ आश्चर्य है कि, मुण्डित शिर वाले देह के बाहर में भस्म का प्रलेपन करते हो । और भीतर में जो कामादि चोरों से प्रलुण्ठन (चोरी) किया जाता है, यदि

गाम बसतु हैं गर्व भारती, काम क्रोध हंकारी हो ।
मोहन जहाँ तहाँ लै जै हैं, नहिं पति रही तुम्हारी हो ॥

भारत्याद्युपनामाद्यैर्ये युक्तास्तेऽपि वेषिणः ।
गर्विता ग्राम्यधर्मेषु ग्रामेषु च बसन्त्यहो ॥५॥
किं वा गर्वस्य नगरे तेषां वासो हि विद्यते ।
अहंकारवतां वासः कामे क्रोधे च सर्वदा ॥६॥
अहंकारयुतांस्तांश्च मोहस्य जनका हि ते ।
प्रापयिष्यन्ति यत्रैव तत्रैवानिश्चिते स्थले ॥७॥
यत्र वा मोहनो देवो यमराड् वर्तते स्वयम् ।
तत्र ते प्रापयिष्यन्ति महाघोरे भयावहे ॥८॥
भो जीव ! न तदानीं ते मर्यादा प्रभुताऽथवा ।
किञ्चिद्वर्तिष्यते तस्मादद्य साधु विधीयताम् ॥९॥

उसको नहीं जानते हो, तो मुण्डनादि सब वृथा ही होंगे। तिससे तुम सावधान मन से चोरों को जान कर उन्हें त्यागो ॥ ३–४ ॥

जो कोई भारती सरस्वती आदि उपनाम (उपाधि) आदि से युक्त हैं, वे गर्व सहित वेषधारी भी ग्राम्यधर्म (मैथुन) में वा ग्रामों (जनसमूहों) में बसते हैं, सो आश्चर्य है ॥ ५ ॥ अथवा उन लोकों का वास (अभिमान) गर्व के नगर (पुरी) देह में है। और अहंकार वालों का सदा काम और क्रोध में भी वास होता है ॥ ६ ॥ और अहंकारयुक्त उन लोकों को मोह के जनक वे कामादि जहां तहां अनिश्चित स्थान में प्राप्त करायेंगे ॥ ७ ॥ अथवा जहां मोहन यमराज देव स्वयं रहते हैं। महाघोर (महा भयानक) भयावह तिस स्थान में वे कामादि प्राप्त करेंगे ॥ ८ ॥ हे जीव ! उस समय तेरी मर्यादा (धारणा–स्थिति) अथवा प्रभुता आदि कुछ नहीं रहेगी, तिससे आज ही साधु (शोभन) को सिद्ध करो ॥ ९ ॥

माँझ मँझरिया बसै जो जानै, जन ह्वै हैं सो थीरा हो।
निर्भय भै तहँ गुरुकी नगरिया, (सुख) सोवै दास कबीरा हो ॥८॥

कामादिकं परित्यज्य मध्येऽत्र मध्यसंयुताः ।
वस्तुं ये हि विजानन्ति लभन्ते ते स्थितिं जनाः ॥१०॥
स्थितिं यत्र लभन्ते स्म निर्भयाः प्राक्तना जनाः ।
गुरूणां नगरी तत्र तद्दासास्तत्र शेरते ॥११॥
अन्यद्दासा भयस्थाने संसारे मोहनिद्रया ।
शेरते नैव पश्यन्ति भयं जन्मादिजं सदा ॥१२॥
शेरते योगनिद्राभिर्गुरुभक्ता निजात्मनि ।
पश्यन्ति च विवेकेन सत्यासत्ये च सर्वशः ॥१३॥
यदा कर्मसु काम्येषु दुःखहत्यै सुखाय च ।
क्रियमाणेषु संपश्येद्विपरीतफलं सुधीः ॥१४॥
तदा गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम् ।
ब्रह्मनिष्ठं महाप्रज्ञं संशान्तकरणव्रजम् ॥१५॥

जो कोई जन इस मध्य लोक में कामादि को त्याग कर, मध्य मार्ग से युक्त हो कर बसने को जानते हैं, वे स्थिति पाते हैं ॥१०॥ और पूर्व के निर्भय जन जहां स्थिति प्राप्त किये, तहां ही सद्‌गुरु की नगरी है, उनके दास वहां ही सोते हैं ॥११॥ अन्य के दास भय के स्थान संसार में मोहनिन्द से सोते हैं, और सदा जन्मादि जन्य भय को नहीं देखते (समझते) हैं ॥१२॥ गुरु भक्त निजात्मा में योगनिन्द से सोते हैं, और विवेक से सत्य असत्य सब को देखते हैं ॥१३॥ बुद्धिमान् पण्डित जब दुःख की निवृत्ति और सुख के लिये किये गये काम्यकर्मों में उलटा ही फल देखें ॥१४॥ तब उत्तम श्रेय के जिज्ञासु होकर, शान्त सब इन्द्रिय समुदाय-वाला, महा बुद्धिमान्, ब्रह्मनिष्ठ गुरु को प्राप्त करें ॥१५॥ सब से मन का

सर्वस्मान्मनसोऽसङ्गं तथा सङ्गं सुसाधुषु ।
मैत्र्यादिकं च भूतेषु सर्वमेतद्यथोचितम् ॥१६॥
विदध्याच्च गुरौ भक्तिमेषा मध्यदशा स्मृता ।
अनयाऽत्र च संसारे सुखं मोक्षं हि विन्दते ॥१७॥८॥

असङ्ग को तथा सुन्दर साधुओं में सङ्ग को प्राणियों में मित्रतादि को इन सब को यथोचित सिद्ध करें, और गुरु में भक्ति सिद्ध करें, यही मध्य दशा (मध्यमार्ग) कही गई है, इससे इस संसार में मोक्ष पाता है ॥१६-१७॥

अक्षरार्थ-मैं पुकार कर कहता हूं कि, मन इन्द्रियादि को सम्हारे (वश में किये) रहो, और सावधानी से राम के विचार में स्थिर रहो। केवल माथ मूंडा कर क्या गर्व से फूल कर बैठे हो, तथा कान में मुद्रा, गले में मँजूषा (सेली आदि) क्या पहिरे हो। या मुद्रा पहिर कर मकार का सेवन क्या करते हो। और ता ऊपर (तिसके बाद) देह में कुछ छार (राख) लपेटते हो, परन्तु ज्ञानादि विना भीतर २ कामादि चोर घर (हृदय) को मूसते (चुराते) हैं। तिन्हें समझो, ज्ञानादि की प्राप्ति करो।

भारती आदि उपाधि वाले गर्वी ग्रामों में बसते हैं, तथा काम क्रोध अहंकार युक्त हैं, या कहने मात्र के भारती लोक मानो गर्व के ग्राम में बसते हैं, इससे कामी आदि बने हैं। उनसे कहना है कि, जब मोहन (मोहित करने वाले) कामादि जहां तहां ले जायंगे, तब तुम्हारी पति (पत-इज्जत-प्रभुता) नहीं रहेगी, या जहां मोहन (यमराजा) हैं, तहां ले जायंगे इत्यादि।

जो इस माँझ (मध्य) लोक में मझरिया (मध्य दशा) न अति त्याग न अति संग्रहादि मार्ग से बसने चलने जानता है, सो जन अत्यन्त विरक्तादि होकर स्थिर होगा; क्योंकि उसी निरभिमान मध्यावस्था स्वरूप में गुरु की नगरी है, वहाँ गुरु मिलते हैं, फिर वहाँ गुरु के दास जीव सुख से योगनिद्रा का अनुभव करता है, इत्यादि ॥ ८ ॥

कहरा ॥ ९ ॥

राम नाम का सेवा बीरा, दूरि नाहिं दुरि आशा हो ।
आन देव का सेवहु बौरे, ई सब झूठी आशा हो ॥
उपरक केश कहाँ भौ ऊजर, भीतर अजहुं कारो हो ।
तन के वृद्ध कहाँ भौ बौरे, भीतर अजहुं बारो हो ॥

रामेति नाम किं भ्रातः सेव्यते केवलं त्वया ।
दूरस्थस्य न चेदाशा नश्यत्यनुभवं विना ॥१८॥
सेवया रामनाम्नो वा दुराशा न यया गता ।
न सा सेवेति विज्ञेया मिथ्या सा वाचिकी कथा ॥१९॥
सर्वदेवमयाद्रामाद् देवान् किं सेवसेऽन्यकान् ।
मूढ ! तत्त्वं विजानीहि मिथ्याऽऽशैषा निगद्यते ॥२०॥
रामादन्यस्य सर्वाशा मिथ्या सविषया यदि ।
हृदयान्न गता बाह्यपलितत्वेन किं भवेत् ॥२१॥
वर्तते यावदाशैषा हृदि तावद्धि कृष्णता ।
तमसो विद्यमानत्वाद् रागद्वेषादिसत्त्वतः ॥२२॥

हे भाई ! यदि राम का अनुभव (ज्ञान) विना दूरस्थ वस्तु की आशा नष्ट नहीं होती है, तो केवल राम इस नाम ही का क्या सेवन करते हो, अनुभव के लिये यत्न करो ॥१८॥ अथवा राम की जिस सेवा से दूर की आशा नहीं निवृत्त हुई, वह सेवा नहीं समझना चाहिये, वह मिथ्या वाचिकी कथा रूप है ॥१९॥ और हे मूढ़ ! सर्व देवमय राम से अन्य देवों को तुम क्या सेवते हो, तत्त्व (स्वरूप) को समझो, अन्य देवों की यह आशा मिथ्या कही जाती है ॥२०॥ विषय सहित मिथ्या स्वरूप राम से अन्य की सब आशा यदि हृदय से नहीं निवृत्त हुई, तो बाहर के पलितत्त्व (बालों की सफेदी) से क्या होगा ॥२१॥ जब तक यह आशा हृदय में है, तब तक तमोगुण के रहने से और राग द्वेषादि की सत्ता से हृदय में

मुख के दांत कहाँ गौ चौरे, भीतर दांत लोहे के हो।
फिरि फिरि चना विषय के चबै हो, काम क्रोध मद लोभक हो॥
तन की सकल संज्ञा घटि गयऊ, मनहि दिलासा दूनी हो।
कहहिं कबिर एक राम भजे बिन, सकल सयानप ऊनी हो ॥९॥

आशासत्त्वे च वार्द्धक्यान्मूढबुद्धेर्भवेत् किमु।
आशादिजनकं ह्यन्तस्तरुणं वर्तते मनः ॥२३॥
मुखस्थाश्चेद्गता दन्ता मूढस्य तेन किं गतम्।
अन्तस्तस्याद्य वर्तन्ते दन्ता लौहमया इव ॥२४॥
कामः क्रोधो मदो लोभो मोहश्च मत्सरादयः।
अन्तरस्था इमे दन्ता यैर्गोचरमयान् सदा॥
चर्विष्यसि हि चणकान् देहे देहे पुनः पुनः ॥२५॥
देहेन्द्रियादिशक्तिस्तेऽभवन्न्यूना हि वार्द्धके।
आशातृष्णादयः स्वान्ते दृश्यन्ते द्विगुणा इमे ॥२६॥
दयालुर्गुरुराहातो रामस्यैकस्य सर्वदा।
भजनेन विना सर्वं चातुर्यमूनमेव हि ॥२७॥९॥

कृष्णता भी है ॥२२॥ मूढ बुद्धिवाला को आशा की सत्ता रहते वृद्धता से क्या होगा, आशा आदि के जनक मन तो भीतर में तरुण ही है ॥२३॥

मूढ के मुख में के दांत यदि चल गये, तो तिससे क्या गया, उसके अन्तःकरण में (मध्य में) अभी लोहमय तुल्य दांत हैं ॥२४॥ काम क्रोधादि ये सब अन्तरस्थ (अन्तरात्मा में स्थित) दांत हैं, जिनसे विषयमय चनाओं को तत्तत् देहों में बार २ खावोगे ॥२५॥ वृद्धता होने पर तेरे देहेन्द्रियादि की शक्ति न्यून हो गई, परन्तु मन में ये आशा तृष्णादि द्विगुण दीखते हैं ॥२६॥ इससे दयालु सद्गुरु कहते हैं, सदा एक सत्य राम को ही भजने विना सब चतुराई तुच्छ ही है ॥२७॥

अक्षरार्थ–और हे बीरा! (हे भाई!) ज्ञान निर्भयता आदि विना यदि दूर देशादि की आशा दूर (नष्ट) नहीं हुई, तो राम नाम की सेवा से क्या हुआ, या क्या राम नाम को सेवते हो, यदि दूर की आशा दूर नहीं होती है। और हे बौरे! राम से आन (अन्य) देवों को क्या सेवते हो? ई सब (इन सबकी) आशा झूठी (निष्फल) है। और आशा आदि की निवृत्ति विना ऊपर के केशों के ऊजला होने से क्या हुआ, भीतर अजहुं (अब ही कालापन वर्तमान है, और शरीर के वृद्ध होने से भी क्या हुआ, भीतर मन अभी जुवा है। (तेनाधीतं श्रुतं तेन तेन सर्वमनुष्ठितम्। येनाशां पृष्ठतः कृत्वा नैराश्यमवलम्बितम्॥ न तेन स्थविरो भवति येनास्य पलितं शिरः। बालोऽपि यः प्रजानाति तं देवाः स्थविरं विदुः॥ म० भा०।)

आशा आदि के रहते यदि मुख के दांत गये, तो कहाँ गया (क्या गया)? अभी भीतर में लोहे के दांत हैं। उनसे फिर २ (बार २) जन्म ले २ कर विषय के चणा चबावोगे (भोगोगे)। देह की सब संज्ञा (शक्ति ज्ञान) घट गई, परन्तु मनहिं (मन में) दिलासा (इच्छा–आशा) दूनी (दुगुणा) हो गई। इससे विषयादि को मिथ्या जानकर, एक सत्य सर्वात्मा राम को भजने बिना सब सयानप (चतुराई) ऊनी (तुच्छ) है॥ ९॥

एक राम को भजने बिना सब सयानप को ऊन कहा गया है, सो सुन कर, जिज्ञासु तटस्थ राम का भजन को न समझ लेवे, इस आशय से और सर्वात्मदृष्टि रूप शास्त्रदृष्टि से कहते हैं कि—

कहरा॥ १०॥

हौं सबन में हौं ना हौं मोहि, बिलग बिलग बिलगाई हो।
ओढ़न मोरा एक पिछौरा, लोग बोलु एकताई हो॥

यस्य रामस्य भजनाद् भवबन्धो निवर्तते।
आत्मैव स च रामो मे वर्तेऽहं सर्वतस्ततः॥२८॥

जिस राम के भजन से संसार बन्धन निवृत्त होता है, सो राम मेरा

एक निरन्तर अन्तर नाहीं, ज्यों घट जल शशि झाँई हो ।
एक समान कोइ समुझत नाहीं, जरा मरण भ्रम जाई हो ॥

असङ्गत्वान्न वा क्वापि पुरुषो वाऽस्मि चेतनः ।
एकानन्दघनश्चैव माया बुद्धिर्विभेदिका ॥२९॥
बहुभेदेन युक्तं मां ह्यसती सा चकार ह ।
सैवावरणशक्त्या स्यादुत्तरीयसमा मम ॥३०॥
स्वरूपे साऽप्रविष्टा मे कल्पिता चैकदेशतः ।
अतो मे सर्वथैवैक्यं वदन्ति ज्ञानिनो जनाः ॥३१॥
विदिताऽविदिताभ्यां यो ह्यन्यः सन् स्वप्रभत्वभः ।
विदितः प्रतिबोधं च तं स्मरन्ति सदा बुधाः ॥३२॥
साजात्याद्यैर्न चैकत्वं किन्तु तत्सर्वथैव हि ।
अतो निरन्तरश्चैको ह्यखण्डः सर्वदाऽस्म्यहम् ॥३३॥
सर्वेषां हि विभेदानामभावेन विभौ मयि ।
अन्तरं वर्तते नैव व्यवधानादिलक्षणम् ॥३४॥

आत्मा ही है, इससे मैं सर्वत्र वर्तमान हूं ॥२८॥ अथवा असङ्ग होने से मैं कहीं नहीं हूं, वा एक आनन्दघन चेतन पुरुष हूं माया और बुद्धि मुझे विभिन्न करनेवाली है ॥२९॥ असत् स्वरूपा वह माया मुझे बहुत भेदयुक्त किया है, और वही माया आवरण शक्ति से मेरा उत्तरीय (ओढना) वस्त्र तुल्य हुई है ॥३०॥ वह उपाधि रूप होने से मेरे स्वरूप में नहीं प्रविष्ट है. और एक देश में कल्पित है, इससे ज्ञानी जन सर्वथा मेरी एकता कहते हैं ॥३१॥ स्वप्रकाश होने से जो विदित अविदित (ज्ञाताज्ञात) से भिन्न है, और सब ज्ञान रूप वृत्ति में जो विदित (प्रकाशित) है, पण्डित उसी का सदा स्मरण विचारादि करते हैं ॥३२॥

मेरे स्वरूप में सजातिता से एकता नहीं है, किन्तु सर्वथा ही वह एकत्व है, इससे मैं एक अखण्ड निरन्तर (छिद्र व्यवधानादि रहित) सदा हूं ॥३३॥ विभु मेरे स्वरूप में सब विभेदों के अभाव से व्यवधानादि

रैनि दिवस मैं तहवाँ नाहीं, नारि पुरुष समताई हो ।
नहिं मैं बालक बूढ़ो नाहीं, नहिं मेरे चिलकाई हो ॥

विभेदानामभावेऽपि यो भेदो भासते चिति ।
स घटस्थजलस्थासु प्रतिमासु यथा विधोः ॥३५॥
एकं समरसं कोपि वेत्ति नैवाऽविवेकवान् ।
जरा मरणमापच्च भ्रमो येन विनश्यति ॥३६॥
ब्रह्मविद्भवति ब्रह्म शोकं तरति चात्मवित् ।
नान्यः पन्था विमुक्तेश्च सर्वे वेदा वदन्ति तत् ॥३७॥
रात्रिंदिवविभेदो नो यत्राऽहं तत्र विद्यते ।
स्त्रीपुंसादिषु सर्वत्र वर्तते समता मम ॥३८॥
बालो नाहं न जीनश्च मे डिम्भत्वं न विद्यते ।
त्रिविधेऽपि वसंश्चाहं वर्ते सर्वत्र सर्वदा ॥३९॥

रूप अन्तर (भेद) मुझ में नहीं है ॥३४॥ विभेदों के अभाव होते भी चिति (आत्मा) में जो भेद भासता (प्रतीत होता) है, सो भेद घटों के जलों में स्थित चन्द्रमा के प्रतिबिम्बों में जैसा भेद रहता है वैसा है ॥३५॥ कोई अविवेकी एक समरस (तुल्य स्वभाव–एक रस) को नहीं जानता है, कि जिससे जरा मरण आपत्ति भ्रम नष्ट होते हैं ॥३६॥ ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म होता है. आत्मज्ञानी शोक तरता है, अन्य मार्ग मोक्ष का नहीं है, सो सब वेद कहते हैं ॥३७॥

जहाँ मैं अपने स्वरूप महिमा में हूं वहाँ रात दिन का विभेद नहीं है, और स्त्रीपुरुषादि में भी मेरी सर्वत्र समता है ॥३८॥ मैं बाल (माणवक) नहीं हूं, न जीन (जीर्ण वृद्ध) हूं, मुझे डिम्भत्व (स्तनप-अतिबालत्व) नहीं है, और तीनों प्रकार के स्वरूपों में रहता हुवा भी मैं सदा सर्वत्र रहता हूं ॥३९॥ इस संसार में मेरा ही राम और विश्वराट्

त्रिविधि रहौं सबही महं बरतौं, नाम मोर रमुराई हो ।
पठय न जाउँ बोलय नहिं आऊँ, सहज रहौं दुनियाई हो ॥
जोलहा तान बान नहिं जानै, फाट बिनै दश ठाँई हो ।
गुरुप्रसाद जिन्हे जस भाख्यो, जन विरले सिधि पाई हो ॥

अत्र मेऽस्ति हि नामैतद्रामेति विश्वराडिति ।
रमन्ते योगिनः सर्वे सत्ये मय्येव चिद्घने ॥४०॥
नाहं विसर्जनाद् यामि प्रेरणात् कस्यचित् क्वचित् ।
आहूतो नैव कुत्रापि ह्यागच्छामि स्वभावतः ॥४१॥
जीवरूपेण सर्वत्र वर्ते संसारमण्डले ।
स्वरूपेण तथाऽसङ्गस्तिष्ठामि नाऽत्र संशयः ॥४२॥
जीवरूपः कुविन्दोऽयं संसारपटसंहतौ ।
सर्वातानवितानेषु सत्यं यावन्न पश्यति ॥४३॥
तावद्दशप्रदेशेषु दशद्वारैर्युतं पटम् ।
सच्छिद्रं खण्डितं शश्वद्वयत्येव विमोहतः ॥४४॥

यह नाम है, सब योगी सत्य चिद्घन मुझ में ही रमते हैं ॥४०॥ मैं विसर्जन (परित्याग–दान) से वा किसी की प्रेरणा से कहीं नहीं जाता हूं, और आहूत (बोलाया हुवा) कहीं भी स्वभाव (स्वरूप) से नहीं आता हूं ॥४१॥ जीव रूप से संसार मण्डल (देश) में सर्वत्र रहता हूं, तथा स्वरूप से असङ्ग ही सर्वत्र स्थिर हूं, इसमें संशय नहीं है ॥४२॥

यह जीवरूप कुविन्द (जुलाहा) संसाररूप पट के समूह में और उसके सब आतान वितान (तानी भरनी) में जब तक सत्यात्मा को नहीं देखता है ॥४३॥ तब तक दश प्रदेश (स्थान) में दश द्वारों से युक्त छिद्र सहित खण्डित (फटा हुआ) पट (देह) को मोह से सदा बिनता ही है ॥४४॥ तिससे संसार में भ्रमता हुवा, जरा मरणादि जन्य

अनन्त कोटि मणि हीरा बेध्यो, फिटिक मोल नहिं पाई हो ।
सुर नर मुनि जा खोज परे हैं, कछु कछु कबिरन पाई हो ॥१०॥

जरामरणजं दुःखं पौनःपुन्येन सर्वदा ।
तेन भुङ्क्ते भ्रमन् विश्वे लभते न स्थितिं क्वचित् ॥४५॥
येभ्य उक्तं यथा तत्त्वं सच्चिदानन्दलक्षणम् ।
तेषु केचित्तथा तत्त्वं लभन्ते कृपया गुरोः ॥४६॥
सत्त्वादिभिर्गुणैरात्मा देवतिर्यङ्नरादिभिः ।
स्वरूपैर्भासमानोऽपि स्वयमेकोऽव्ययस्त्वजः ॥४७॥
मनसा योऽमतो नित्यं मनो येन मतं भवेत् ।
मनसो यो मनो देवोऽबुधस्तं हि कथं स्मरेत् ॥४८॥
विरला लब्धवन्तो ये तत्तत्त्वं कृपया गुरोः ।
तद्दृष्ट्याऽनन्तकोट्यन्तैर्मणिभिर्हीरकादिभिः ॥४९॥
विद्धं मालादिकं सर्वं तुच्छमूल्यविवर्जितम् ।
देवा मुनिमनुष्याश्च मार्गयन्ते हि तत् सदा ॥५०॥

दुःख को सदा बार २ भोगता है, कहीं स्थिति नहीं पाता है ॥४५॥ जिन मनुष्यों के लिये सच्चिदानन्द स्वरूप तत्त्व (सत्यात्मा) जिस प्रकार कहा है, उनमें कोई गुरु की कृपा से वैसा तत्त्व को पाते (समझते) हैं ॥४६॥ सत्त्वादि गुणों से आत्मा देवादि स्वरूप से भासता हुआ भी स्वयं तो वह एक अज अव्यय है ॥४७॥ जो मन से नित्य अमत (मन का सदा अविषय) है, जिससे मन मत (प्रकाशित) होता है, इससे जो देव मन का भी मन (साक्षी-सत्ता) स्वरूप है, उसको अबुध (अविवेकी) कैसे विचारे समझेगा ॥४८॥

जो विरल कोई गुरुकृपा से उस सत्य तत्व को पाये, उनकी दृष्टि से, अनन्त कोटि पर्यन्त मणि हीरा आदि से विद्ध (वेधित-सदृश) माला आदि सब वस्तु तुच्छ मूल्य से भी रहित है। और देव मुनि

केऽपि केऽपि जनाः किञ्चित्तत्तत्त्वं प्राप्नुवन् क्वचित् ।
कृपया च गुरोः सम्यक् लब्धवन्तो हि सज्जनाः ॥५१॥
देहप्राणादयो येन सत्प्रकाशस्वरूपिणा ।
जीवन्ति प्रचरन्तोऽत्र तं जानन्ति हि सज्जनाः ॥५२॥
वाचाऽनभ्युदितो वाचो वागात्मा योऽभिधीयते ।
प्राणः प्राणस्य यः स्वच्छस्तं स्वं जानाति शुद्धधीः ॥५३॥
चक्षुरादिभिरग्राह्यस्तदात्मा यः स्वयंप्रभः ।
विजानाति हि तं ब्रह्म नान्यं यं वा ह्युपासते ॥५४॥१०॥

इति हनुमदीये कहराकल्पे रामभक्तिविचारादि वर्णनं नाम चतुर्थी शिक्षा ।।४॥

मनुष्य सदा उसी तत्त्व को खोजते हैं ॥४९-५०। गुरुकृपा विना खोजने पर भी कोई २ जन कुछ २ उस तत्त्व को पाये (समझे) । और गुरु की कृपा से सज्जन अच्छी तरह प्राप्त किये ॥५१॥ सत्य प्रकाश स्वरूप वाला जिससे देह प्राणादि यहाँ अपने व्यापारों को करते हुए जीते हैं, सज्जन उसीको सत्यात्मा जानते हैं ॥५२॥ जो वचन से नहीं कहा जाता, सो आत्मा वाक् का वाक् कहा जाता है; जो प्राण का प्राण है, स्वच्छ है, उसीको शुद्ध बुद्धिवाला आत्मा जानता है ॥५३॥ जो स्वयं प्रकाश नेत्रादि इन्द्रियों से ग्रहण योग्य नहीं है, शुद्ध बुद्धि वाला आत्मा उसी आत्मा को ब्रह्म जानता है, अन्य को नहीं; वा जिस देवादि की मनुष्य उपासना करते हैं, उन्हे भी ब्रह्म नहीं जानता है ॥५४॥

अक्षरार्थ–हौं (चेतनात्मा मैं) सबन हौं (सब में अखण्ड साक्षि-स्वरूप से हूं) और नाहौं (असंग निराधार होने से किसी में नहीं हूं) या ना (चेतन पुरुष) स्वरूप हूं । स्त्री रूप बुद्धि प्रकृति मेरे आश्रित हैं, वही मोहि एक (मुझ को) बिलग २ (पृथक् २) बिलगाई (भिन्न २ किया) है । और वही आवरण शक्ति वाली मेरा एक पिछौरा (गमछा, चादर) रूप ओढना है, इससे विवेकी लोक मेरे स्वरूप में एकता ही बोलते (कहते) हैं ।

मैं एक और निरन्तर (खण्ड छिद्र रहित) हूं। सजाति विजाति स्वगत भेद के अभाव से मुझ में किसी का अन्तर (व्यवधान भेद) नहीं है। जो भेद आत्मा में प्रतीत होता है, सो घटजल में प्रतीत चन्द्रादि की झांई (प्रतिबिम्ब) गत भेद के समान हैं। इस एक और समान (एक रस) आत्मा को कोई नहीं समझता है, कि जिससे आत्मा में जरा मरणादि के भ्रम नष्ट हो जायं। और नित्य मुक्ति की प्राप्ति हो; क्योंकि अज्ञान जन्य ही जन्मादि संसार और सब प्रकार के बन्धन दुःखादि हैं।

मैं तहवाँ (मेरे स्वरूप में) रात दिन नहीं है (यदाऽतमस्तन्न दिवा न रात्रिः। श्वेता. ४।१८)। और नारी पुरुष में भी मेरे स्वरूप में समता है, (नैव स्त्री न पुमानेषः। श्वेता. ५।१०)। न मैं बालक हूं, न वृद्ध हूं, न मेरे में चिलकाई (अतिबालता) है, तौ भी त्रिविध रूप से रहता हूं, और स्वरूप से सब में वर्तता हूं, इससे मेरा ही रमुराई (रामराजा) नाम है, और पठये (भेजने आदि) से मैं कहीं नहीं जाता हूं, न बोलये (पुकारने) से आता हूं, किन्तु सहज (स्वभाव) से ही दुनिआई (संसार—व्यवहार) में रहता हूं।

जीव रूप जोलहा संसार पट के तान बान (तानी भरनी) में चेतनात्मा को नहीं जानता है, न प्रपंच को मिथ्या समझता है, इससे दश ठाईं (दश ठिकाने) फाटा हुवा (दश द्वारयुक्त) देह पट को बार २ बिनता है, और जिन जीवों को जैसा तत्त्व कहा है, वैसे तत्त्व की सिद्धि (ज्ञान) को विरले जन गुरुकृपा प्रसन्नता से पाये और पाते हैं।

जो लोक उक्त तत्त्व को पाते हैं, उनकी दृष्टि से बेधा (पोया) हुआ अनन्त कोटि मणि हीरा भी फिटिक (फिटकिरी) आदि तुच्छ वस्तु के मूल्य भी नहीं पाते हैं। परन्तु उसका पाना दुर्लभ है, इसीसे तो सुर नर मुनि सब उसके खोज में परे हैं (लगे हैं) परन्तु उसको कुछ ही

कुछ पाये हैं, सब सर्वथा नहीं समझे हैं, या कछु २ (कोई २) कविरन (जीवों) ने पाया है, अन्य लोक देह प्राणादि को ही आत्मा समझे हैं इत्यादि ॥१०॥

माया से जन्मादि वर्णन प्र० ९

प्रथम अनन्त कोटि मणि हीरा आदि को तुच्छ कहा गया है, उसे सुन कर किसी जिज्ञासु को शंका हुई कि, क्षेम (मंगल–कल्याण), कुशल (पुण्य–तृप्ति) और सहीसलामत (सच्चा स्वास्थ्य सत्य, पूर्ण आरोग्य) द्रव्यादि विषयों से ही होते हैं, फिर भी उन्हें तुच्छ क्यों कहा गया है ? तब कहते हैं कि—

कहरा ॥ ११ ॥

क्षेम कुशल औ सहीसलामत, कहहु कवन कहँ दीन्हा हो ।
आवत जात दुनों विधि लूटै, सामर गहिरे लीन्हा हो ॥

मायादिविषयान् ये हि क्षेमादिजनकान् विदुः ।
सद्गुरुस्तान् प्रति प्राह भवद्भिः कथ्यतामिदम् ॥ १ ॥
क्षेम च कुशलं कस्मै सत्यस्वास्थ्यं सुखादिकम् ।
विषया दत्तवन्तो वै वराकाः क्षणभङ्गुराः ॥ २ ॥
तुण्टाकाः प्रत्युतैते चाऽत्रागतौ गमने तथा ।
जन्मना मरणेनैव लुण्ठन्ति प्राणिनः सदा ॥ ३ ॥

माया जिनके आदि (कारण) है उन विषयों को जो कोई क्षेमादि के जनक मानते हैं, उनके प्रति सद्गुरु कहते हैं, कि आप यह कहें कि, वराक (बेचारे) क्षणभङ्गुर विषय किस को क्षेम कुशल सत्य स्वास्थ्य सुखादि दिये, प्रत्युत (उलटा) तुण्टाक (हिंसक) ये विषय, इस संसार में आगमन तथा गमन में जन्म और मरण से ही प्राणी को सदा लुटते (चुराते) हैं ॥ १–३ ॥ और गम्भीर (भारी) सुख का साधन सद्विवेकादि

सुर नर मुनि जति पीर औलिया, मीरा पैदा कीन्हा हो ।
कहँ ले गणौं अनन्त कोटि ले, सकल पयाना दीन्हा हो ॥

शम्बलं सद्विवेकादि गम्भीरं सुखसाधनम् ।
आच्छिद्य विषयैस्तद्धि निगृहीतं कृतं क्वचित् ॥ ४ ॥
गुणैर्गुणान् भजन्नज्ञः स्वात्मप्रद्योतिते स्वके ।
शरीरे ह्यात्मता भ्रान्त्या सज्जते च विमुह्यति ॥ ५ ॥
कर्मणा लभते देहं देहात्कर्म करोति च ।
एवं बंभ्रम्यमाणेन विश्रमः कुत्र लभ्यते ॥ ६ ॥
सुरान्नरान् मुनींश्चैव यतीन् यवनदेशिकान् ।
यवनानां तथा साधून् राजानं स्वामिनं प्रभुम् ॥ ७ ॥
विषया जनयन्ति स्म ह्यनन्तकोटिसंख्यकान् ।
कियद्गणिम तु संख्याय विषयैर्जनिता हि ये ॥ ८ ॥
मृत्योर्मुखे हि ते सर्वे तैश्च दत्ता मुहुर्मुहुः ।
तैश्च प्रस्थापिताः केचिज्जले यास्यन्ति केचन ॥ ९ ॥

रूप शम्बल है उसको जीवों से आच्छिद्य (छीन ले) करके विषयों ने ले लिया, और कहीं अन्यत्र कर दिया ॥ ४ ॥ फिर अज्ञ जीव गुण (इन्द्रियों) से गुणों (विषयों) को भजता (सेवता) हुआ, विवेकादि बिना, अपनी आत्मा से प्रकाशित अपने देह में ही आत्मता की भ्रान्ति से आसक्त होता है, और विमोहित होता है ॥ ५ ॥ कर्म से देह पाता है, देह से कर्म करता है, और इस प्रकार बार २ अत्यन्त भ्रमनेवाला जीव विश्राम (आनन्दादि) कहां पाता है ॥ ६ ॥

देव मनुष्य मुनि संन्यासी यवन के गुरु तथा साधु राजा स्वामी प्रभु, अनन्त कोटि संख्या वाले इन सब को विषय (विषयों की वासना) ही उत्पन्न किये हैं। गिन कर कहाँ तक कहूं, और जो विषयों से उत्पन्न हुए हैं, सो सब उन विषयों से ही बार २ मृत्यु के मुख में भी दिये गये हैं ।

पानी पवन आकाश जाहिंगें, चन्द जाहिंगें सूरा हो ।
ये भि जाहिंगें वोभि जाहिंगें, परत न काहुक पूरा हो ॥
कुशले कहत कहत जग विनशल, कुशल काल की फांसी हो ।
कहहिं कबिर सारि दुनिया विनशल, रहल राम अविनाशी हो ॥११॥

पवने केचिदाकाशे चन्द्रे सूर्ये क्षितौ द्यवि ।
जलाद्याश्च गमिष्यन्ति विषयैः प्रेरितास्तथा ॥१०॥
मर्त्याद्याः स्वर्गिणश्चैव पूर्णता तैर्न कस्यचित् ।
विषयैर्जायते क्वापि तृप्तिः शान्तिर्न विद्यते ॥११॥
अतृप्ता व्यनशन् सर्वे वदन्तः कुशलं हि तैः ।
तज्जन्यं कुशलं चातः कालपाशो भवावनौ ॥१२॥
तेन बद्धा इमे सर्वेऽनश्यन् संसारिणो मुहुः ।
अविनाशी सदैवास्ते रामस्तद् भाषते गुरुः ॥१३॥
जाग्रदादिष्ववस्थासु भूतभौतिकवस्तुषु ।
कूटस्थः साक्षिरूपोऽसौ स्वयंसिद्धः सनातनः ॥१४॥

और कोई उन विषयों से प्रस्थापित (यात्रा वाले) होकर जल में जायगें। कोई वायु में, कोई आकाश चन्द्र सूर्य भूमि स्वर्ग में जायगें। तैसे ही जल आदि के अभिमानी देव भी विषयों से प्रेरित होकर जायगें, ॥ ७–१० ॥ मनुष्यादि और स्वर्गी भी विषयों से गमन करेगें, और उन विषयों से किसी की पूर्णता नही होती है, न उनसे कहिं तृप्ति शान्ति है ॥११॥

उन विषयों से कुशल कहने वाले सब अतृप्त ही विनष्ट हुए, इससे उन विषयों से जन्य कुशल भी इस भवावनि (संसाररूप भूमि) में कालपाश ही हैं ॥१२॥ उस पाश से बँधे हुए ये सब संसारी बार २ नष्ट हुए। सदा अविनाशी एक राम ही है, सो गुरु कहते हैं ॥१३॥ वह राम जाग्रदादि अवस्थाओं में, भूत, भौतिक वस्तुओं में कूटस्थ (निर्विकार) साक्षिस्वरूप, अत एव स्वयंसिद्ध सनातन (नित्य) है ॥१४॥

आत्माऽसौ केवलः स्वच्छः सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरः शिवः ।
सर्वान्तरः सदानन्दचिन्मात्रस्तमसः परः ॥१५॥
सोऽन्तर्यामी स पुरुषः स प्राणः स महेश्वरः ।
स कालो दिक् तदव्यक्तं वेदवेदः प्रतापवान् ॥१६॥
जनिरहितो मृतिविगतस्तत इह तापविरहितः ।
विकृतिविदो नहि विकृतिः कृतिकलिकामविरहितः ॥१७॥११॥

वही आत्मा केवल (एक), स्वच्छ, सूक्ष्म से अति सूक्ष्म, शिव (मोक्ष-ईश्वर) है, सर्वान्तर (सब जिसके मध्य में है), सत् आनन्द चेतना ही उसकी मात्रा (परिमाण) है, और तम (प्रकृति) से पर है ॥१५॥ वही राम अन्तर्यामी है, वह पुरुष (हिरण्यगर्भ) है, वह प्राण (विराट्) है, महान् ईश्वर है, वह काल है, और दिक् है, तथा अव्यक्त (निर्गुण ब्रह्म) है, वेदों का वेद (ज्ञानों का ज्ञान) और प्रताप-वाला है ॥१६॥ यहाँ जन्म मरण से रहित है, इसीसे तापों से रहित है, विकार को जाननेवाला को विकार नहीं है, इससे कृति (क्रिया), कलि (कलह), काम (इच्छा) से भी अत्यन्त रहित है ॥१७॥

अक्षरार्थ— उक्त आत्मज्ञानादि बिना मायिक विषयादि कवन कहँ (किसको) क्षेम कुशल (प्राप्त की रक्षा-कल्याण) सत्य स्वास्थ्यादि दिये, सो कहो समझो, उलटा आते जाते समय जन्म मरण रूप दोनों प्रकार से विषय वासनादि सब क्षेम कुशलादि को लूटते हैं, और विवेकादि रूप गम्भीर सामर (शम्बल) को भी ले लेते (नष्ट करते) हैं।

देव, नर, मुनि, यति, पीर (गुरु), औलिया (विरक्त–फकीर), मीरा (अमीर–राजा) इन सब को विषय वासनादिकों ने पैदा किया (जन्माया) है। और अनन्त कोटि लै (तक) पैदा हुए उनको कहाँ तक कहा जाय, उन सब को फिर विषयों ने ही पयाना (यात्रा) दिया है, उत्पन्न करके मरण द्वारा अन्य योनि आदि में पहुंचाया है॥ इससे पानी पवनादि में

सब प्राणी फिर भी जायगें, जल जन्तु आदि होगें, कोई आकाश (अन्तरिक्ष) लोक में जायगें, या आकाशगामी पक्षी देवादि होगें, कोई चन्द्र सूर्यादि लोकों में जायंगे। और येभि (इस लोक के वासी), वो भि (परलोक के वासी) भी जायगें। इसी प्रकार पानी पवनादि भी जायगें, परन्तु विषय वासनादि के रहते किसी को तृप्ति पूर्णता नहीं होती है।

मायिक विषयों से कुशल (कल्याण) कहते २ संसारी सब नष्ट हुए, क्योंकि विषय जन्य कुशल ही काल की फांसी है। सब संसार काल पाकर नष्ट हुआ, और होता है, अविनाशी एक राम ही रहा और रहता है। इससे सो राम ही कल्याण स्वरूप है, अन्य नहीं, इससे सब विनश्वर को छोड कर राम की ही प्राप्ति करना चाहिये ॥११॥

कहरा ॥ १२ ॥

यह माया रघुनाथ कि बौरी, खेलन चली अहेरा हो।
चतुर चिकनियहिं चुनि चुनि मारे, काहु न राख्यो न्यारा हो॥

जगदीशस्य रामस्य चराचरप्रभोर्विभोः।
विषयाद्यात्ममायेयमविवेकस्वरूपिणी ॥१८॥
मत्तावद्वर्तते सा चाऽऽगच्छदाखेटकाय वै।
ज्ञाननिर्वेदहीनांश्च कुशलान् राजसांस्तथा ॥१९॥
देहादेर्मण्डने सक्तान् निहन्त्येव विचित्य सा।
स्वपाशान्न पृथक् कश्चित्स्थातुं साऽत्रानुमन्यते ॥२०॥

जगदीश चराचर के प्रभु विभु राम की अविवेक स्वरूपवाली यह विषयादि स्वरूपा माया है ॥१८॥ सो माँती हुई के समान है, और आखेटक (मृगया-शिकार) के लिये आई है, और वह ज्ञान वैराग्य रहित कुशलों (निपुणों) तथा देहादि के मण्डन (प्रसाधन-शोभा) में आसक्त राजसों को खोज कर नष्ट करती है, और वह यहाँ किसी को अपने पाश

मौनी वीर दिगम्बर मारे, ध्यान धरन्ते योगी हो ।
जंगल में के जङ्गम मारे, माया किनहुं न भोगी हो ॥
वेद पढन्ते पाँडे मारे, पूजा करते स्वामी हो ।
अर्थ विचारत पण्डित मारे, बांध्यो सकल लगामी हो ॥

वाङ्मौनव्रतिनः शूरान् सर्वानेव दिगम्बरान् ।
सा प्रमापयते माया ध्यानस्थान् योगिनस्तथा ॥२१॥
जङ्गमान् विपिनस्थांश्च मायाभोगस्य कामुकान् ।
सर्वान् मारयते माया तां केऽपि भुञ्जते नहि ॥२२॥
वैदिकान् पठतो वेदान् स्वामिनः पूजने रतान् ।
पण्डितान् बहुशास्त्रार्थविचिन्तनरतानपि ॥२३॥
भोग्या प्रमापयत् सैव सर्वांश्च भोगलालसान् ।
मनसा प्रग्रहेणैव त्वबध्नात् सर्वकामुकान् ॥२४॥
कानने चर्य्यशृङ्गं सा ह्यमारयद्विचक्षणा ।
[1]ब्रह्मणश्च शिरः सैवाऽस्फोटयन्मोहलीलया ॥२५॥

से पृथक् स्थिर रहने के लिये अनुमति नहीं देती है ॥१९-२०॥ वह माया, माया का भोग की इच्छा वाले वाङ्मौनरूप व्रत (नियम) वालों को और सब शूर दिगम्बर तथा ध्यानस्थ योगी को भी मारती है, और माया ही विपिनस्थ (जंगलनिवासी) भोगेच्छु सब जंगमों को मारती है, और कोई भी उसे नहीं भोगते हैं ॥२१-२२॥

वेदों को पढते हुए वैदिकों को, पूजा में रत स्वामियों (राजा प्रभुओं) को, बहुत शास्त्रार्थ के विचार में रत पण्डितों को, और भोग की प्रबल इच्छावाले सभी को, वही मारी है, और सब कामियों को मनरूप प्रग्रह (लगाम) से बाँधी है ॥२३-२४॥ वही विचक्षण (पण्डिता) माया

१ पुरा कृतयुगस्यादौ स्वीयां दुहितरं विधिः । रूपयौवनसंपन्नां स तां यभितुमुद्यतः ॥ तं दृष्ट्वा तादृशं रोषाच्छिरः खड्गेन पञ्चधा । चिच्छेदाहम् ॥ इत्यादि स्कन्द पु० ॥

शृङ्गी ऋषि वन भीतर मारे, ब्रह्मा के शिर फोरी हो।
नाथ मच्छन्दर चले पीठि दे, सिंहल हूं में बोरी हो॥
सांकठ के घर कर्ता धर्ता, हरि भक्तन की चेरी हो।
कहहि कबीर सुनहु हो सन्तो, ज्यों आवै त्यों फेरी हो॥१२॥

मत्स्येन्द्रो हि महायोगी तस्याः प्रावृत्य यत्नतः।
कृत्वा तां पृष्ठतो द्वीपे सिंहले चागमत्तथा॥२६॥
चञ्चला तत्र गत्वा सा तं नाथं मोहसागरे।
न्यमज्जयत्तु गोरक्षः शिष्यवर्यो ह्यरक्षयत्॥२७॥

इतिश्री सद्गुरुकबीरसाहबकृते बीजकग्रन्थे निखिलमोहनिवारके तृतीयं कहराप्रकरणं समाप्तम्॥ ३॥

गुरुदीक्षाविहीनानां शाक्तादीनां गृहे हि सा।
स्वतन्त्रा सर्वकर्त्री च स्वामिनीव विराजते॥२८॥
हरिभक्तगृहे सा च दासी भूत्वा विशत्यलम्।
उभयान् वञ्चयत्येव भोग्यभूताऽतितामसी॥२९॥

कानन (वन) में ऋष्यशृङ्ग को मारा, वही मोह रूप लीला से ब्रह्मा के शिर को फोरा॥२५॥ महायोगी मत्स्येन्द्रनाथ यत्न से उस माया से लौट कर निवृत्त हो कर और उसे पीछे करके, सिंहल द्वीप में गये॥२६॥ वह चञ्चला माया वहाँ जाकर उस नाथ को मोहसागर में निमग्न किया। फिर श्रेष्ठ शिष्य गोरखनाथ ने रक्षा किया॥२७॥

सच्चे सद्गुरु की दीक्षा शिक्षा आदि से रहित हिंसक शाक्तादि के घर हृदयादि में वह माया, स्वतन्त्र सब कुछ करनेवाली और स्वामिनी की तरह विराजती है॥२८॥ और हरिभक्त के घर में वह दासी होकर अच्छी तरह पैठती है, और भोग्य स्वरूप वाली अत्यन्त तामसी माया दोनों को ठगती ही है॥२९॥ अथवा अभक्तों के घर में जो यहाँ स्वतन्त्र होकर

किम्वाऽभक्तगृहे याऽत्र स्वतन्त्रा राजते सदा ।
सैव भक्तगृहे नित्यं सुदासीव विकम्पते ॥३०॥
सद्गुरुश्चाह भोः साधो ! श्रवणं सुविधीयताम् ।
विमोक्षाय ततो मार्ग एक एव सुखंगमः ॥३१॥
भोग्यभूता यदाऽऽगच्छेत्तदैव तां परित्यज ।
निवर्तय च तूर्णं तां दृष्टिस्तत्र न दीयताम् ॥३२॥
" माद्यति प्रमदां दृष्ट्वा सुरां पीत्वा च माद्यति ।
तस्माद् दृष्टविषां नारीं दूरतः परिवर्जयेत् " ॥३३॥
" सङ्गः सर्वात्मना त्याज्यः स चेत्यक्तुं न शक्यते ।
स सद्भिः सह कर्तव्यः सतां सङ्गो हि भेषजम् " ॥३४॥
" शान्तानां गतकामानां स्वात्मतत्त्वावलोकिनाम् ।
साधूनां समचित्तानां सङ्गोऽपि शेवधिर्नृणाम् " ॥३५॥

सदा विराजती है, वही भक्तों के गृह में सुन्दर दासी के समान सदा कांपती डरती रहती है ॥३०॥ और सद्गुरु तो कहते हैं कि, हे साधो ! विमुक्ति के लिये आत्मश्रवणादि करो, और विमुक्ति के लिये सुख से चलने योग्य मार्ग एक ही है कि भोग्य स्वरूप वाली माया जब आवे तभी उसे त्यागो, और उसे शीघ्र लौटा दो, उसमें दृष्टि नहीं दो ॥३१-३२॥ नारदपरिव्राजकोपनिषद्, ६।३१। का वचन है कि, स्त्री को देख कर माँतता है, और मदिरा पी कर माँतता है, इससे दृष्टिविषा (दर्शन से विषयुक्त करने वाली) स्त्री को दूर से त्यागो ॥३३॥ मार्कण्डेय पु. ३४।२३ का वचन है कि, सङ्ग को सर्वात्मना (सर्वस्वरूप से) त्यागना चाहिये, परन्तु यदि वह सर्वथा नहीं त्यागा जाय, तो वह सङ्ग साधुओं के साथ करना चाहिये, क्योंकि सन्तों का संग, संगदुःख की निवृत्ति के लिये औषध रूप है ॥३४॥ शान्त, काम रहित, स्वात्मतत्त्व के अनुभवी, समचित्त वाले साधुओं के संग भी मनुष्यों के शेवधि (निधि) है ॥३५॥ आदर से आधा

क्षणार्द्धं हि सतां सङ्ग आदरेण सदा कृतः ।
शातयत्येव पापानि तारयेच्च भवार्णवात् ॥३६॥
कायमनोवाक्यैः परिशुद्धैर्यस्य सदा सत्संसदि भक्तिः ।
राज्यपदैर्हर्म्यालिविचित्रैर्नित्यचलैर्वित्तैरलमस्य ॥३७॥
कहराकल्यमाकर्ण्य कलहं च कलेवरम् ।
कान्ताकनककामित्वं कुकीर्तिं कर्मकच्चरम् ॥३८॥
कदर्थं च कदध्वानं कदाचारांश्च कामुकान् ।
कृत्वा दूरे सदा ध्येयो रामनामा निरञ्जनः ॥३९॥
क्लेशान् कर्माशयान् कृन्त्वा कृत्वा कल्याणमुत्तमम् ।
ध्येयो रामः सदा ज्ञेयो ज्ञानान्मोक्षफलप्रदः ॥४०॥
मायां मोहं ममत्वं च मत्सरं काममण्डनम् ।
खण्डित्वा योगतो ज्ञेया रामनामसुगीतिका ॥४१॥

क्षण भी सन्तों का संग सदा किया हुवा, पापों को नष्ट करता है, और संसार सागर से पार करता है ॥३६॥ परिशुद्ध तन मन वचन से जिसकी सन्तों की संसद (सभा) में भक्ति है, इस प्राणी को हर्म्यों (धनी के गृहों) की आलि (पंक्ति) से विचित्र राज्यपदों (राज्य स्थानादि) से और नित्य चञ्चल वित्त से अलम् (प्रयोजन नहीं) है ॥३७॥ कहरा का कल्य (न्याय-विधि) को सुनकर, और कलह (विग्रह) कलेवर (देहाभिमान), स्त्री सुवर्णादि की इच्छा, कुकीर्ति (कुविस्तार-कुयश), कर्मकच्चर (कर्मात्मक मलिन वस्तु), निन्दित अर्थ, निन्दित मार्ग, निन्दित आचार, कामी; इन सब को दूर कर के रामनाम वाला निरञ्जन (माया रहित) सर्वात्मा सदा ध्यान योग्य है ॥३८-३९॥ अविद्यादि क्लेशों और कर्माशयों (विषयों, वासनाओं) का छेदन कर के, उत्तम कल्याण (कर्म भक्ति संतोषादि) कर के, ज्ञान मात्र से मोक्षफल देने वाला राम सदा ज्ञेय ध्येय हैं ॥४०॥ माया (छलादि), मोह (आसक्ति, अविवेक), ममता, मत्सर (अन्य के शुभ से द्वेष), काम से देहादि का मण्डन (विभूषण)

दम्भं दर्पं कुवाक्यं च व्युदस्य दयया युतम् ।
दण्डान् धृत्वा हृदा पेयं रामनाम परामृतम् ॥४२॥
दमयित्वा मनो दत्त्वा जन्तुभ्योऽभयदक्षिणाम् ।
दयया चार्द्रचित्तः सन् पेयो रामरसायनः ॥४३॥
मत्वा नैवातिदूरे च हृत्वा नैव धनादिकम् ।
स्वमनोमन्दिरे गत्वा नमस्कार्यो निरञ्जनः ॥४४॥
कल्यं कलकलं श्रुत्वा प्रकल्यं कलसंयुतम् ।
कहरायां मनोऽद्यापि रागाद्यस्यात्र संस्फुरेत् ॥४५॥
जगतां वल्लभे नैव मनश्चेत् प्रीतिमाहरेत् ।
किं नरः पल्लवासक्तमनाः कश्चित्स वानरः ॥४६॥

को त्याग कर रामनाम की सुगीतिका (उपदेश) जानने योग्य है ॥४१॥ दम्भ (वञ्चना), दर्प (अहंकार), कुचतुराई को त्याग कर, और वाग्दण्ड, मनोदण्ड, कायदण्ड का धारण कर के, दया सहित रामनाम पर अमृत पीने योग्य है ॥४२॥ मन का दमन कर के, प्राणियों के प्रति अभय दक्षिणा देकर, दया से आर्द्र चित्त हो कर, राम स्वरूप रसायन पेय है ॥४३॥ राम को अति दूर न मान कर, और राम के लिये धनादि का हरण (स्वीकार प्राप्ति) नहीं कर के, अपने मन रूप मन्दिर में ही जाकर, निरञ्जन राम को नमस्कार करना चाहिये ॥४४॥ केहरा के कल्य (शास्त्रविधि सहित), प्रकल्य (अति निरामय कल्याणरूप), कल (गंभीर मधुर) कलकल (कोलाहल) को सुन कर, अब भी जिसका मन यहाँ राग से स्फुरित होता (चलता) है ॥४५॥ और सब संसार के वल्लभ (प्यारा) सर्वात्माराम में यदि प्रीति को मन नहीं प्राप्त करता है, तो उस मनवाला वह क्या मनुष्य है, कि पल्लव (किसलय–कोमल पत्र) में आसक्त वानर है ? संसारपल्लव (विस्तार–राग) में आसक्त होने से वह योग्य मनुष्य नहीं है ॥४६॥ और जो मनुष्य सब भुवन में क्लेशों को देख कर वैराग्ययुक्त

यः क्लेशांश्च विलोक्य सर्वभुवने वैराग्ययुक्तो नरः,
मायामोहमदादिहीनमनसा रामं सदा सेवते ।
पक्षापक्षविभेदहीनधिषणः कैवल्यमार्गे रतः,
ज्ञेयोऽसौ परमेश्वरो भुविगतस्तस्मै नमः सर्वदा ॥४७॥१२॥

इति हनुमदीये कहराकल्पे मायाजन्यजन्मादिसंसारवर्णनं नाम
पञ्चमी शिक्षा ॥ ५ ॥ समाप्तश्चायं कहराकल्पः ॥

हो कर, मायामोहमदादि से रहित मन द्वारा सदा सर्वात्मा राम को सेवता है, पक्षापक्ष (मित्रामित्र) विभेद रहित बुद्धिवाला हो कर कैवल्य मार्ग में रत रहता है, वह भूमिगत परमेश्वर ही जानने योग्य है, उसके प्रति सदा नमस्कार हो ॥४७॥

अक्षरार्थ-यह (प्रत्यक्ष) विषय देहादि, रघुनाथ (अविनाशी सर्वात्मा ईश्वर) की बौरी (अविवेकवती) माया है, सो अहेर खेलने चली है, और चतुर चिकनियाँ (सौखीन) को चुन २ कर मारती है, किसी को अपने मोहजाल से न्यारा (जुदा) नहीं रखती है, और माया का भोग की इच्छावाले मौनी, शूर आदि सब को मारती है, और उनमें से किसी ने उस माया को भोगा भी नहीं, व्यर्थ ही सब मारे गये, और मारे जाते हैं (भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ताः) ।

वेद पढन्ते (पढते में) पांडे (वेदपाठी पण्डित) को, धनादि के लिये देवपूजा करते स्वामी (राजा धनी) को, शास्त्रार्थ वा लौकिकार्थ को विचारते हुए पण्डित (विद्वान) को भी वह माया मारती है, और मन मनोरथादि लगाम से सबको बाँध रखी है । उसने शृङ्गी ऋषि को वन के भीतर जाकर मारा (तप आदि से गिराया) । यह कथा वाल्मिकी रामायण बालकाण्ड दशम अध्याय में है । और ब्रह्मा के शिर को फोडा (शिवजी से कटवाया) । यह कथा स्कन्द पु. वैष्णव खं. बदरिकाश्रममा० अ. २ में है । और मच्छन्दरनाथ (गोरखनाथ के गुरु) माया से पीठ देकर

चले (भगे) तो सिंहलद्वीप में जाकर उन्हें भी बोरी (मोहनदी में डुबोई) ।

यद्यपि माया सब को मारती है, तथापि यह भेद है कि. सांकठ (भक्ति हीन शाक्तादि) के घर में वह कर्ता धर्ता रहती है, और दैवी सम्पत्ति वाले हरिभक्तों के घर में (दासी) बन कर रहती है । साहब कहते हैं, यदि इसके फन्दों से बचना चाहो, तो यह माया (स्त्री द्रव्यादि विषय) ज्योंही आवे त्योंही फेर दिया करो । इनका संगसंग्रहादि नहीं करो, इनमें आसक्त नहीं होओ इत्यादि । (संग त्यागि गुरु राम के, चरण शरण ढिग जाय । हनूमान जो नर सोइ, तारण तरण कहाय ॥) ॥ १ ॥ ॥१२॥

श्रीसद्‌गुरुचरणकमलेभ्यो नमः ।

अथ चतुर्थ विप्रमतीसी प्रकरण ॥

तत्रादौ मङ्गलम् । सम्बन्धश्च ॥

ब्रह्मज्ञानपरः सुकर्मनिरतो विद्यावदातो हि यः ।
कामक्रोधमदादिदुर्गुणगणैः स्पृष्टो न चान्तस्तथा ।
द्वन्द्वातीतविमत्सरोऽतिनिपुणो धर्मादिसंदेशने ।
सद्विप्रो जपयोगदाननिरतोऽलुब्धोऽस्तु तस्मै नमः ॥१॥

जो सद्विप्र ब्रह्मज्ञानपरायण (वेदज्ञानपरायण) सुकर्म में निरत, विद्या से अवदात (शुद्ध-श्वेत) हैं, तथा कामक्रोधमदादि रूप दुर्गुणों के गणों से अन्तः में स्पृष्ट (लेपवाला) नहीं हैं, द्वन्द्वों से रहित, मत्सर रहित हैं, धर्मादि के उपदेश देने में अति निपुण हैं, और जप याग दान में निरन्तर रत अलोभी हैं, उनके प्रति नमस्कार हो ॥ १ ॥ ब्रह्मनिष्ठ · पर-

ब्रह्मनिष्ठः परं ब्रह्म स्वयं वेधा विवेकवान्।
तत्सङ्गत्या च तन्नत्या परं ब्रह्माधिगम्यते ॥२॥

ये हिंसकाः पापपरायणा नरा दयादिहीना मदमानसंयुताः।
क्रूराः प्रकृत्या त्वतिलोभसंयुतास्ते राक्षसा ज्ञानविचारवर्जिताः॥३॥

प्रकृत्या राक्षसा ये वै तेषां सङ्गादिभिर्जनाः।
अधो यान्ति च पीडयन्ते निरयादौ निरन्तरम् ॥४॥

प्रकृत्या राक्षसा ये च ये च देवास्तयोर्भिदाम्।
बोधयन् सद्गुरुः किञ्चित् प्रोक्तवांस्तन्निशम्यताम् ॥५॥

ब्रह्म है, पूर्ण विवेकवाला स्वयं वेधा (ब्रह्मा-विष्णु) है, उसकी संगति और उसके नमस्कार से परब्रह्म प्राप्त होता है ॥ २ ॥ जो मनुष्य हिंसक (घातुक), पापपरायण, दयादि से रहित, मद (हर्ष), मान (अभिमान) सहित, प्रकृति (स्वभाव) से ही क्रूर (कठिन दया रहित), अति लोभ सहित, और ज्ञान विचार रहित हैं, सो प्रकृति से राक्षस हैं ॥ ३ ॥ प्रकृति से जो राक्षस हैं, उनके संगादि से सज्जन अधः (नीचे) जाते हैं, और नरकादि में निरन्तर पीडित होते हैं ॥ ४ ॥ प्रकृति से जो राक्षस हैं, और जो देव हैं, उनके भेद को समझाते हुए सद्गुरु ने कुछ कहा है, सो सज्जनों से सुना जाय ॥ ५ ॥

अन्तिम कहरा में कहा गया है कि, चतुर चिकनियाँ को चुन २ कर माया मारती है इत्यादि। उस माया से ही जिन विप्रों की बुद्धि भ्रष्ट क्रूर हो जाती है, उनकी हीन दशा का ही विप्रमतीसी प्रकरण में वर्णन है, कि जिसे सुन कर वे अपनी बुद्धि को सुधारें, और सुधार रहित उनके सङ्गादि अन्य लोक नहीं करें, इत्यादि आशयों से अन्य सब लोकों से कहते हैं कि—

विप्रमतीसी

सुनहु सबन मिलि विप्रमतीसी। हरि बिनु बूड़ी नाव भरीसी॥
ब्राह्मण ह्वै के ब्रह्म न जानै। घर महं जगत प्रतिग्रह आनै॥

मायया हृतबोधानां विप्राणां यादृशी मतिः।
वर्तते तां मिलित्वाऽत्र सर्वे शृण्वन्तु सज्जनाः॥१॥
यया मत्या हि विप्राणां पूर्णा नौरिव जीवनम्।
जातिर्यशश्च विद्यादि संसाराब्धौ निमज्जति॥२॥
जन्मना नाममात्रेण भूत्वा ते ब्राह्मणा अपि।
वेदतत्त्वं न जानन्ति महद् ब्रह्माद्वयं सुखम्॥३॥
ब्रह्मविद्भिर्य आदेयो लोके तं हि प्रतिग्रहम्।
आनयन्ति गृहे मूढास्तेन नश्यन्ति दुर्बुधाः॥४॥
"हिरण्यं भूमिमश्वं (च) गामन्नं वासस्तिलान् घृतम्।
प्रतिगृह्णन्नविद्वांश्च भस्मीभवति दारुवत्॥ ५॥
अतपास्त्वनधीयानः प्रतिग्रहरुचिर्द्विजः।
अम्भस्यश्मप्लवेनेव सह तेनैव मज्जति"॥ ६॥

माया से नष्ट बोधवाले विप्रों की जैसी मति है, उसको यहाँ सब सज्जन मिल कर सुने॥१॥ जिस मति से पूर्ण नौका तुल्य जीवन, जाति, यश और विद्यादि संसारसमुद्र में डूब रहा है॥ २॥ वे लोक जन्ममात्र से वा नाम मात्र से ब्राह्मण होकर भी वेद का तत्त्व (स्वरूप) अद्वैत सुखस्वरूप विभु ब्रह्म को नहीं जानते हैं॥ ३॥ और जो प्रतिग्रह लोक में ब्रह्मवेत्ताओं से लेने योग्य है, उस प्रतिग्रह (दानविशेष देय) वस्तु को अपने घर में मूढ भी लाते हैं, तिससे दुर्बुध (दुर्ज्ञानी) नष्ट होते हैं॥ ४॥ मनु अध्याय ४ के वचन हैं कि, सुवर्ण, भूमि, अश्व, गौ, अन्न, वस्त्र, तिल, घी का दान लेनेवाला अविद्वान् दारु तुल्य भस्म होता है॥ ५॥ तप अध्ययन रहित होते प्रतिग्रह में रुचि (इच्छा) वाला द्विज पत्थर की

जे सिरजा तेहि नहिं पहिचानै। कर्म भरम लै बैठि बखानै।

" न विद्यया केवलया तपसा वापि पात्रता।
यत्र वृत्तमिमे चोभे तद्धि पात्रं प्रकीर्तितम् ॥ ७ ॥
विद्यातपोभ्यां हीनेन नतु ग्राह्यं प्रतिग्रहम्।
गृह्णन् प्रदातारमधो नयत्यात्मानमेव च " ॥ ८ ॥
सर्वस्माज्जगतः किञ्च प्रतिगृह्णन्ति लोभतः।
ग्राह्याग्राह्यं न जानन्ति लोभेन हतबुद्धयः ॥ ९ ॥
येन सृष्टमिदं सर्वमीशेन ब्रह्मणा स्वयम्।
तं विविक्तं न पश्यन्ति ह्यन्यं जल्पन्ति ते स्थिताः ॥१०॥
काम्यानि बहुकर्माणि भ्रान्तिसिद्धानि सर्वदा।
भाषन्ते कल्पितान्येव पदार्थोपासनानि च ॥११॥

नौका के समान उस प्रतिग्रह सहित डूबता है, ॥ ६ ॥ याज्ञवल्क्य स्मृ. १ के वचन हैं कि, केवल विद्या वा तप से दान की पात्रता (अधिकारिता) नहीं होती, किन्तु जिसमें सद्वृत्त (चरित्र) और विद्या तप भी हों वही पात्र कहा गया है ॥ ७ ॥ विद्या तप रहित को प्रतिग्रह नहीं लेना चाहिये। लेने पर दाता और अपने को भी अधोगति को प्राप्त कराता है ॥ ८ ॥ और लोभ से सब संसारी से दान लेते हैं। लोभ से नष्ट बुद्धिवाले ग्राह्य, अग्राह्य को भी नहीं समझते हैं ॥ ९ ॥

जिस ब्रह्म स्वरूप ईश्वर से स्वयम् यह सब संसार रचा गया है। विविक्त (पवित्र-असंग विवेकी) उस ईश्वर को नहीं देखते हैं, और वे लोक स्थिर हो कर अन्य का कथन करते हैं ॥१०॥ भ्रमसिद्ध सकाम बहुत कर्मों का और कल्पित ही पदार्थ तथा उपासनाओं का सदा कथन करते हैं ॥११॥ ग्रहण, ग्रहण काल में दानादि, दर्श (अमावास्या) के सम्यक्-

ग्रहण अमावम मायर दूजा । स्वस्तिक पात प्रयोजन पूजा ॥
प्रेत कनक मुख अन्तर बासा । आहुति सत्य होम की आशा ।
उत्तम कुल कलि माँह कहावै । फिरि फिरि मध्यम कर्म करावैं ।

ग्रहणं ग्रहणे काले दानादीन् दर्शसंविधाम् ।
समुद्रदर्शनस्पर्शौ द्वितीयादींस्तिथींस्तथा ॥१२॥
स्वस्तिकं पात्रदानं च प्रयोजनविधिं बहुम् ।
देवपूजाविधानं च भाषन्ते ह्याशया मुहुः ॥१३॥
मुखे वसति वै प्रेतो हृदये कनकं तथा ।
मुखे च हृदये चैव प्रेतस्य कनकं खलु ॥१४॥
देवाऽऽह्वानाग्निहोत्रादेर्लौकिकाऽलौकिकस्य च ।
संकल्पस्य च ते ह्याशां कुर्वते भोगसिद्धये ॥१५॥
कलौ ह्युत्तमगोत्रास्ते कथ्यन्ते च कुलीनकाः ।
कारयन्ति च कर्माणि बहुशो मध्यमानि वै ॥१६॥

विधि, समुद्र के दर्शन सहित स्पर्श, द्वितीया आदि तिथि, तथा स्वस्तिक (मंगल द्रव्य-गृहविशेष) के दान, पात्रों का दान, बहुत प्रयोजन (फल -कार्य) का विधि और देवपूजा का विधान (विधि); इन सबका बार २ आशा से कथन करते हैं ॥१२-१३॥ इनके मुख में प्रेत (प्रेत की बात) बसता है, और हृदय में कनक (सुवर्ण) बसता है, और मुख हृदय दोनों में प्रेत (मुर्दा) सम्बन्धी कनक भी बसता है ॥१४॥ देव का आह्वान (आकरण-पुकार) अग्निहोत्रादि, लौकिक अलौकिक (वैदिक) कर्म, संकल्प (मानस कर्मादि) की आशा भोग की सिद्धि के लिये ही प्रायः वे लोक करते हैं ॥१५॥

कलियुग में वे विप्र उत्तम गोत्रवाले और कुलीन (आर्य-सज्जन) कहे जाते हैं, और बहुत मध्यम कर्म करते कराते हैं, उत्तम नहीं ॥१६॥

सुत दारा मिलि जूठो खाहीं । हरि भक्ता के छूति कराहीं ॥
कर्म अशौच उच्चिष्टा खाहीं । मति भ्रष्ट यमलोकहिं जाहीं ॥
न्हाय खोरि उत्तम ह्वै आवै । विष्णुभक्त देखे दुख पावै ॥
स्वार्थ लागि जे रहै बेकाजा । नाम लेत पावक ज्यों डाजा ॥

हिंसादीन्यधमान्येव कर्माणि कारयन्ति ये ।
का च तेषां कथा वाच्या वर्तते लोमहर्षणा ॥१७॥
पुत्रैर्दारै मिलित्वा ये तूच्छिष्टं भक्षयन्ति वै ।
हरिभक्तेषु ते मोहादशुचित्वं हि मन्वते ॥ १८ ॥
तैश्च स्पर्शादिना ह्यज्ञाः प्रायश्चित्तं च कुर्वते ।
अशौचं कुर्वते लोके बह्वीश्चात्र विडम्बनाः ॥ १९ ॥
अशौचे कर्मणि प्रेतस्योच्छिष्टं वे तु भुञ्जते ।
मतिभ्रष्टा हि ते यान्ति यमलोके भयावहे ॥ २० ॥
स्नात्वा विशेषकं कृत्वा ह्यागच्छन्ति सभादिषु ।
विष्णुभक्तं हि दृष्ट्वाऽत्र दुःखितस्ते भवन्ति च ॥२१॥
तुच्छस्वार्थस्य सिद्ध्यर्थं प्रवर्तन्ते विकर्मसु ।
हिंसादिषु निषेधाय तन्नाम्नैव ज्वलन्ति च ॥ २२ ॥

और जो हिंसा आदि अधम ही कर्म कराते हैं, उनकी तो कथा ही क्या कहनी है । वह लोमहर्षणा (लोमों में पुलक का हेतु) है ॥१७॥ और जो पुत्र, स्त्री से मिलकर उच्छिष्ट खाते हैं, वे भी मोह से हरिभक्तों में अशुचिता मानते हैं ॥१८॥ उन भक्तों के साथ स्पर्शादि से भी अज्ञ सब प्रायश्चित्त करते हैं, अशौच करते हैं, और यहाँ बहुत विडम्बना करते हैं ॥१९॥ अशौच कर्म में जो प्रेत के उच्छिष्ट खाते हैं, वे बुद्धिभ्रष्ट, भयजनक यमलोक में जाते हैं ॥२०॥ स्नान करके विशेषक (तिलक) कर के सभा आदि में आते हैं, तो यहाँ विष्णुभक्त को देख कर वे दुःखी होते है ॥२१॥

तुच्छ स्वार्थ की सिद्धि के लिये हिंसादि रूप विकर्म (पाप) में भी

राम कृष्ण की छोड़िन आशा । पढ़ि गुणि भये कृतम के दासा ॥
कर्म पढ़ै कर्महिं कहँ धावै । जे पूछे तेहि कर्म दिढावै ॥

अग्निवद्दग्धुमिच्छन्ति क्रुधैव प्रज्वलन्ति चेत् ।
शृण्वन्ति न हितं वाक्यमभिमानहता नराः ॥ २३ ॥

सर्वात्मनो हि रामस्य कृष्णस्य ब्रह्मरूपिणः ।
आशा ह्येतैः परित्यक्ता पठित्वापि विचार्य च ॥ २४ ॥

कार्यस्य क्वापि मूर्त्यादेः काम्यकर्मादिकस्य च ।
दासा एतेऽभवन्मोहाद् बन्धानर्थप्रदस्य वै ॥ २५ ॥

कामं पठन्ति कर्माणि ध्यायन्ति तत्फलानि च ।
धावन्ते फललब्ध्यर्थं भाषन्ते तानि पृच्छते ॥ २६ ॥

दृढं कुर्वन्ति लोके च कर्तव्यत्वं हि कर्मणाम् ।
नैव जातु विवेकादेः सद्भक्त्यादेः कदाचन ॥ २७ ॥

प्रवृत्त होते हैं, और निषेध के लिये उनके नाम से ही ज्वलित होते हैं ॥२२॥ यदि क्रोध से ही प्रज्वलित होते हैं, तो अग्नि तुल्य दग्ध करने की इच्छा करते हैं. और अभिमान से नष्ट मनुष्य हित वचन नहीं सुनते हैं ॥२३॥ इन लोगों ने पढ़ विचार कर भी सर्वात्मा राम की, ब्रह्मस्वरूप कृष्ण की आशा का परित्याग किया है ॥२४॥ और कहीं बन्धन अनर्थ देनेवाला कार्यमूर्ति आदि के और काम्य कर्मादि के दास ये मोह से हुए हैं । २५॥ कर्मों का यथेष्ट पाठ करते हैं, उनके फलों का ध्यान करते हैं, फल की प्राप्ति के लिये धावते हैं, पूछने वालों के लिये उन कर्मों का ही कथन करते हैं ॥२६॥ लोक में कर्मों की ही कर्तव्यता को दृढ करते हैं, जातु (कदाचित्) विवेकादि की कर्तव्यता को, वा कभी सद्भक्त्यादि की कर्तव्यता को नहीं दृढ करते हैं ॥२७॥

निःकर्मी की निन्दा कीजै। कर्म करै ताही चित दीजै॥
ऐसी भक्ति हृदया महँ लावै। हिरणाकश के पन्थ चलावै॥
देखहु सुमती केर प्रकाशा। अभ्यन्तर भये कृतमक दासा॥
जाके पूजे पाप न ऊड़े। नाम सुमरनी भव महँ बूड़े॥

त्रैगुण्यबन्धमुक्तानां नैष्कर्म्यफलशालिनाम्।
निन्दा कार्या दिशन्त्येवं कुर्वते च स्वयं तथा॥ २८॥
कर्मकारिषु तद्देयं स्वचित्तं सावधानतः।
एवं चोपदिशन्त्यज्ञाः कुर्वते चातिदुष्करम्॥ २९॥
भक्तिं चैतादृशीं स्वान्तेष्वाहरन्ति यया किल।
हिरण्यकश्यपस्यैव संप्रदायः प्रवर्तते॥ ३०॥
एतेषां सुमतेश्चैष प्रकाशो दृश्यतां जनैः।
मनसाऽप्यभवन् येन दासाः कार्यस्य कर्मणः॥ ३१॥
यस्य कार्यस्य पूजाभिः पापं किञ्चिन्न नश्यति।
तन्नाम्नः प्रत्युत स्मर्ता निमज्जति भवार्णवे॥ ३२॥

त्रैगुण्य बन्धन (कामादि) से युक्त, नैष्कर्म्य (त्याग-मोक्ष) फल वालों की निन्दा कर्तव्य है। इस प्रकार स्वार्थी उपदेश देते हैं, और स्वयं तैसा ही करते हैं॥२८॥ और कर्म करनेवालों में अपना वह चित्त सावधानी से देने योग्य है, इस प्रकार भी अज्ञ लोक उपदेश करते हैं, और अति दुष्कर कर्म करते हैं॥२९॥ और अपने २ मन में ऐसी भक्ति लाते हैं कि जिस भक्ति से हिरण्यकश्यप का ही संप्रदाय (सिद्धान्त-मत) प्रवृत्त सिद्ध होता है॥३०॥ इनकी सुमति का यह प्रकाश जनों से देखा जाय, कि जिससे ये कार्य कर्म के ही दास मन से भी हुए हैं।॥३१॥ जिस कार्य की पूजाओं से कोई पाप नहीं नष्ट होता, प्रत्युत (उलटा) उस कार्य के नाम का स्मरण करने वाला भवार्णव में बूडता है॥३२॥ उस कार्य के

पाप पुण्य के हाथे पाशा । मारि जगत को कीन्ह विनाशा ॥
ई बन्हि कुल बन्ही कहा रे । ई गृह जारै ऊ गृह मारे ॥
बैठा ते घर माहु कहावै । भीतर भेद मुम मनुआँ लखावै ॥

तस्य येऽत्राऽभवन् दासास्तेषां च पूजनान्नहि ।
पापं नश्यति तन्नाम्ना भवबाधा च वर्तते ॥ ३३ ॥
दृढौ तेषां करे पापपुण्यरूपौ हि पाशकौ ।
विद्येते कल्पितौ याभ्यां बद्ध्वा सर्वाञ्जगज्जनान् ॥३४॥
मारयित्वेव विद्ध्वस्य भूयो भूयो व्यनीनशन् ।
अद्यापि नाशयन्त्येव ये विवेकविवर्जिताः ॥ ३५ ॥
रक्षको भक्षको यत्र जीवनस्यात्र का कथा ।
सुखं शान्तिश्च मोक्षश्च दूराद्दूरे हि वर्तते ॥ ३६ ॥
कथ्यन्ते वह्नयश्चैते विश्वस्मै स्वकुलाय च ।
अत एतं गृहं लोकं परलोकं दहन्ति रे ॥ ३७ ॥
लोकयोः प्रापका विप्राः संजातास्तद्विनाशकाः ।
अहो मायाबलं तीव्रं किं किं सा नहि साधयेत् ॥३८॥

भी जो यहाँ दास हुए, उनकी पूजा से भी पाप नहीं नष्ट होता है, और उनके नाम से भी संसार की बाधा (पीड़ा) रहती है ॥३३॥

उन अज्ञ कार्यदासों के हाथ में कल्पित दृढ पाप पुण्य रूप पाश हैं, जिनसे सब जगत के जनों को बाँध कर, मानो मार कर, विध्वंस कर के बार २ भूरि २ नाश किये, और जो विवेक रहित हैं, सो अब भी नष्ट करते हैं ॥३४-३५॥ जहाँ रक्षक ही भक्षक हो, इस स्थान में जीवन की कौन कथा है । वहाँ सुख शान्ति और मोक्ष तो दूर से दूर रहता है ॥३६॥ ये अविवेकी विश्व के लिये और अपने कुल के लिये वह्नि कहे जाते हैं । रे अज्ञ प्राणी ! इसीसे इस गृहरूप लोक को और पर लोक को ये जलाते हैं ॥ ३७ ॥ दोनों लोक के प्राप्त करानेवाले विप्र भी दोनों के विनाशक हो

ऐसी विधि सुर विप्र भनीजै । नाम लेत पीठासन दीजै ॥
बूड़ि गये नहि आपु सँभारा । ऊँच नीच कहु काहि ज़ोहारा ॥
ऊंच नीच है मध्यम बानी । एकै पवन एक है पानी ॥

गृहे तेऽपि स्थिताः श्रेष्ठाः कथ्यन्ते साधवस्तथा ।
अन्तःस्थिताय मनसे चौर्यभेदान् दिशन्ति ये ॥३९॥
ईदृशा अपि विप्रास्ते कथ्यन्ते [1]भूसुरास्तथा ।
दीयते नाममात्रेण तेभ्यः पीठासनं जनैः ॥४०॥
यद्यप्येते प्रपूज्यन्ते तथापि भववारिधौ ।
निमग्ना न स्वमात्मानं स्वयमेवोद्धरन्ति ते ॥ ४१ ॥
श्रेष्ठा नामकुलाद्यैश्चेत्कर्मभिर्नीचतां गताः ।
कथ्यतां तु तदा केभ्यो ह्यभिवादो विधीयते ॥ ४२ ॥
वस्तुतः कुलगोत्राद्यैरार्यावर्णादिसंकथा ।
मध्यैव वर्तते लोके देहदृष्ट्या न तत्त्वतः ॥ ४३ ॥

गये । माया का बल तीव्र (अतिशय) है, वह उस बल से क्या २ न सिद्ध करेगी ॥३८॥ वे सब भी घर में स्थिर रहते हुए श्रेष्ठ तथा साधु कहे जाते हैं, जो कि अन्तर में स्थिर अपने मन को. चोरी का भेद बताते समझाते हैं ॥३९॥

ऐसी वृत्तिवाले भी वे लोक विप्र तथा भूदेव कहे जाते हैं, और नाम मात्र से उनके लिये मनुष्यों से पीठासन (पीठ नामक आसन) दिया जाता है ॥४०॥ यद्यपि ये प्रपूजित होते हैं, तो भी संसारसमुद्र में निमग्न वे लोक स्वयम् अपनी आत्मा का उद्धार नहीं करते हैं ॥४१॥ नाम कुल आदि से श्रेष्ठ भी यदि कर्मों से नीचता को प्राप्त हैं, तो कहो कि अभिवादन (प्रणाम) किसके लिये करते हो ॥४२॥ और कुलगोत्रादि से आर्य (सज्जन), अवर्ण (नीच) का संकथन लोक में देहदृष्टि से मध्यम

१ ये ब्राह्मणाः शुश्रुवांसोऽनुचानास्ते मनुष्यदेवाः । शतपथब्रा. कां. २।२।४॥

एकै मटिया एकु कुम्हारा। एकु सबन को सिरजनहारा ॥
एकु चाक सब चित्र बनाया। नाद बिन्द के मध्य समाया ॥
व्यापी एकु सकल की गोती। नाम धरे का कहिये भोती ॥

देहेष्वपि च वर्तन्ते प्राणास्तुल्या जलानि च।
मृत्तिकैकविधा कुम्भकारो जीवो विधिस्तथा ॥४४॥
एकधा वर्तते सर्वस्रष्टा चैकः परेश्वरः।
निर्गुणे सगुणे वाऽस्मिन् भेदगन्धो न विद्यते ॥ ४५ ॥
एकस्मिन् गर्भचक्रे च चित्रं सर्वमजीजनत्।
नादे बीजे प्रविष्टं तत् किं हीनं चोत्तमं च किम् ॥४६॥
गोऽतीतो विभुरात्मैकः सर्वगोत्रेषु वर्तते।
व्याप्तः सर्वेन्द्रियातीतो नाम्ना स्याद्भौतिकस्य किम् ॥४७॥
भौतिकस्यास्य देहस्य कृतैश्च बहुनामभिः।
नात्मा वै कथ्यते किन्तु देह एव विकथ्यते ॥ ४८ ॥

ही बात है। तत्त्वतः (यथार्थ स्वरूप से) नहीं है ॥४३॥ देहों में भी प्राण तुल्य हैं, और जल तुल्य हैं, मृत्तिका एक प्रकार की है, कर्मद्वारा कर्ता कुम्भकार जीव वा विधि (दैव विधाता) एक प्रकार के हैं, और सब स्रष्टा परमेश्वर भी एक हैं। निर्गुण वा सगुण इस में भेद का गन्ध (लेश) भी नहीं है ॥४४–४५॥

कर्ता ने एक गर्भ रूप चक्र पर सब चित्र (देह) को उत्पन्न किया है, सो सब चित्र नाद (शब्द-नाम) में वाचकता संबन्ध से वाच्य स्वरूप प्रविष्ट (स्थिर) है, और बीज (वीर्य) में कार्य रूप से प्रविष्ट है, उसमें कौन हीन और कौन उत्तम है ॥४६॥ गो (स्वर्ग भूमि जलादि) से अतीत (भिन्न श्रेष्ठ) एक विभु आत्मा सब गोत्रों में है। सर्वेन्द्रियातीत (सब इन्द्रियों का अविषय) व्याप्त (व्यापक) आत्मा है। भौतिक (भूतों के कार्य) देह के नाम से उस आत्मा को क्या है ॥४७॥ भौतिक इस देह

राक्षस करणी देव कहावै । वाद करै गोपाल न भावै ॥
हंस देह तजि न्यारा होई । ताकर जाति कहहु दहुं कोई ॥
श्वेत स्याह की राता पियरा । अवरण वरण कि ताता सियरा ॥

यद्वै सत्कर्मणा श्रैष्ठ्यं तच्च तेषु न दृश्यते ।
कर्मणा राक्षसा एव कथ्यन्ते भूसुरा अहो ॥ ४९ ॥
कुर्वते बहुवादांश्च गोपालो रोचते नहि ।
एभ्यो ब्राह्मणमन्येभ्य: सर्वव्यापी निरञ्जनः ॥ ५० ॥
जात्या किं क्रियते गर्वो जीवात्माऽप्यवलोक्यताम् ।
यदा देहं परित्यज्य हंसो भिन्नो भवत्ययम् ।
कथ्यतां तस्य का जातिस्तदा कैरपि कीदृशी ॥५१॥
श्वेतोऽसौ ब्राह्मणो यद्वा श्याम: शूद्रस्वरूपकः ।
रक्तोऽस्ति क्षत्रियो यद्वा पीनात्मा वैश्यवर्णकः ॥५२॥

के किये गये बहुत नामों से आत्मा नहीं कहा जाता है किन्तु देह ही विविध रूप से कहा जाता है ।।४८।। कर्म से जो श्रेष्ठता होती है, सो भी माया से वञ्चित हिंसकों में नहीं देखी जाती है । इससे कर्म से राक्षस ही भूसुर कहे जाते हैं सो आश्चर्य है । ४९।। ये लोक बहुत वाद करते हैं । और सब में व्यापक निरञ्जन गोपाल (भूमि आदि के रक्षक) ईश्वर, इन अपने को ब्राह्मणमानियों को नहीं रुचते हैं ।।५०।। जातिमात्र से क्यों गर्व करते हो, जीवात्मा को भी समझो, कि जब यह हंस (आत्मा) देह को त्याग कर भिन्न होता है, तब किसी से कहा जाय कि उसकी कैसी कौन जाति है ।५१।

वह आत्मा श्वेत (सात्विक) ब्राह्मण है, अथवा श्याम (तमोगुणी) शूद्र स्वरूप है, अथवा रक्त (राजसी) क्षत्रिय है, कि पीत (सत्त्वरजोमय) स्वरूप वैश्य वर्ण है ॥५२॥ या सब वर्ण से रहित वा सब वर्णवाला है,

हिन्दू तुरुक की बूढ़ा बारा। नारि पुरुष मिलि करहु विचारा॥
कहिये काहि कहा नहिं माना। दास कबीर सोइ पै जाना॥

साखी—बहिया है बहि जात है, करे गहे चहुं ओर।
जो कहा नहिं माने तो, दे धक्का दुइ और॥

अवर्णः सर्ववर्णो वा सोऽष्णोऽस्ति शीन एव वा।
आर्यों वा यवनो वाऽसौ वृद्धस्तरुण एव वा॥५३॥
नारी किं पुरुषो वाऽसौ सर्वैरित्थं विचार्यताम्।
नारीभिः पुरुषैर्येन मोहो ज्ञानाद्विनश्यतु॥ ५४॥
सद्गुरुश्चाह कस्यैतद्रहस्यं कथ्यतामिमे।
मन्यन्ते नैव कार्याणां दासास्तान्येव मन्वते॥ ५५॥
गुरुभक्ताश्च ये केचिद् भविष्यन्ति नरोत्तमाः।
मंस्यन्ते त इदं तत्त्वमन्यस्मै कथ्यतां किमु॥ ५६॥
नन्ववाह्यन्त सर्वेऽमी जन्तवोऽनन्तकालतः।
इदानीमपि वाह्यन्ते भवनद्याऽतिवेगतः॥ ५७॥
मनोबुद्धिकराभ्यां च चतुर्दिक्षु हि गोचरान्।
गृहीत्वाऽत्र वहन्त्यज्ञा मन्यन्ते न सतां कथाम्॥५८॥

सो आत्मा उष्ण (दक्ष-अशीत-गर्म) है वा शीत (शीतल-मन्द) ही है, वा आर्य (कुलीन) या यवन है, या वह वृद्ध वा तरुण ही है॥५३॥ वह नारी वा पुरुष है, सब स्त्री पुरुष से वह इस प्रकार विचारा जाय, कि जिससे ज्ञान होने से मोह नष्ट हो जाय॥५४॥ सद्गुरु कहते हैं कि, यह रहस्य किसको कहा जाय। ये कार्यों के दास इसको नहीं मानते हैं, किन्तु उन कार्यों को ही मानते हैं॥५५॥ जो कोई नरोत्तम गुरुभक्त होंगें, वे ही इस तत्त्व को मानेगें, अन्य के लिये क्या कहा जाय॥५६॥

संसारनदी के अत्यन्त वेग से ही ये सब जन्तु अनन्त काल से बहाये गये हैं, और आज भी बहाये जा रहे हैं॥५७॥ और अज्ञानी जीव मन

तथापि विदूषामेतदुचितं कथ्यतां हि यत् ।
द्विस्तेभ्यो यदि मन्येरन् हितं तेषां भवेत् परम् ॥५९॥
लौहकान्तो यथा लौहं व्यवधाने न चाहरेत् ।
सन्निधावाहरेन्नूनं व्यवधानव्यपायत: ॥ ६० ॥
वासनाकामकर्माद्यैर्व्यवधाने तथा नहि ।
चिदानन्दमयं ब्रह्म स्वात्मनेऽप्याहरेन्मनः ॥ ६१ ॥
ईश्वरोऽप्यात्मयोगाय मुक्तये न कदाचन ।
भक्तिहीनं मनो हृत्वा स्वस्मिन् संहर्तुमीशते ॥ ६२ ॥
वासनाकामकर्मादीन्यनुरुध्य परेश्वरः ।
प्राणिभ्य: फलमाहर्ता नान्यत्कर्तुं स शक्नुयात् ॥६३॥
वासनादिविशुद्धौ च भक्तियुक्तं मनः सदा ।
आहरेदीश्वरो ब्रह्म लौहकान्तवदेव हि ॥ ६४ ॥

बुद्धि रूप हाथ से चारों दिशा में विषयों को पकड़ कर इसमें बहते हैं । उन्हे त्याग कर तीर में आने के लिये सन्तों की कथा को नहीं मानते हैं ॥५८॥ तो भी विद्वानों (ज्ञानियों) का यह कार्य उचित है, जो कि उनके प्रति दो बार और भी कहा जाय । यदि मानेगें, तो उनका परम हित होगा ॥५९॥ लौहकान्त (चुम्बक) जैसे अति व्यवधान रहते लोहा को नहीं हरता (खींचता) है, और समीप में व्यवधान (पड़दा) की निवृत्ति से अवश्य लोहा को हरता है ॥६०॥ तैसे ही वासना काम कर्मादि के व्यवधान रहते चिदानन्दमय ब्रह्म भी स्व–स्वरूपता के लिये मन को नहीं हरता (स्वीकार करता) है ॥६१॥ ईश्वर भी आत्मा के साथ संबन्ध और मुक्ति के लिये भक्ति रहित मन को हर कर अपने में उसका संहार (लय) नहीं कर सकते हैं ॥६२॥ परमेश्वर भी वासना काम कर्मादि के अनुरोध करके ही प्राणियों के लिये फल को प्राप्त करानेवाला हैं । वह भी अन्य कर्म के लिये समर्थ नहीं है ॥६३॥ वासना आदि की निवृत्ति होने पर, लौहकान्त के तुल्य ईश्वर ब्रह्म, भक्ति सहित मन को सदा स्वीकार

न तत्र रागो न च दोषरोषौ न च क्रिया कापि विचित्ररूपा।
कामादियोगेन हि सर्वजन्म तेषां वियोगेन च मुक्तता स्यात् ॥६५॥
विप्रादिसुमतिं सम्यक् बुद्ध्वा यद्वचनादिह।
पुनर्न भ्राम्यति क्वापि तस्मै श्रीगुरवे नमः॥ ६६ ॥
विप्रसुधीपुष्पजमकरन्दं माद्यतु पीत्वा हरिजनभृङ्गः।
पश्यतु शुद्धाऽद्वयमनवद्यं तिष्ठतु शुद्धे पथि परविद्यः ॥६७॥
॥ इति हनुमद्दासकृता विप्रमतिमकरन्दव्याख्या समाप्ता ॥

करते हैं ॥६४॥ उस ईश्वर ब्रह्म में राग, मोह रूप दोष, और रोष (कोप) नहीं हैं, विचित्र रूपवाली कोई क्रिया नहीं है. इससे कामादि के सम्बन्ध से ही सबका जन्म होता है, और उन कामादि के वियोग (अभाव) से मुक्तता होगी ॥६५॥ जिनके वचन से विप्रादि की सुन्दर मति को समझकर, फिर यहाँ कहीं नहीं भ्रमता है, तिस श्रीगुरु को नमस्कार है ॥६६॥ विप्र की सुन्दर बुद्धि रूप पुष्प से जन्य मकरन्द (रस) को पीकर हरिजन रूप भृङ्ग आनन्द हों, और अनवद्य (दोष रहित) शुद्ध अद्वय को देखें, तथा परविद्यावाला हो कर भी शुद्ध मार्ग में स्थिर रहें ॥६७॥

अक्षरार्थ—सब मिल कर विप्रमतीसी (मायानष्ट विप्रों की जैसी मति है) उसको सुनो, कि जिस मति से हरि (सर्वात्मा राम) की प्राप्ति विना भरीसी (भरी हुई के तुल्य) नाव (नाव तुल्य मानवजीवनादि) डूब गई। और ब्राह्मण होय कर भी ब्रह्म (वेद निर्गुण ब्रह्मात्मा) को नहीं जानते हैं. तो भी ब्रह्मविद् के लेने योग्य प्रतिग्रह जगत से अपने घर में लाते हैं।

असत् प्रतिग्रहादि दोषों से ही जो सृष्टिकर्ता है. उसको नहीं पहचानते हैं, और भ्रम से सिद्ध कर्मादि को ले कर (मान कर), बैठ कर उनका व्याख्यान करते हैं। और ग्रहण, अमावास्यादि तिथि के दान, सायर (समुद्र) के दर्शनादि, दूजा (द्वितीया तिथि, दूसरी बात) स्वस्तिक

(मंगलद्रव्य) का, पात (पात्र) या स्वस्ति (मंगल आशीर्वादादि के लिये संकल्पित पात्र), लौकिक प्रयोजन (कार्य) तथा पूजा; इन सब का व्याख्यान करते हैं, और प्रेत तथा कनक, या प्रेत (मृतक) के मुख में दिया हुआ कनक भी इनके मुख और हृदय में बसता है, और आहुति (देवाऽऽह्वान स्तुति या हवनादि) तथा सत्य (संकल्प या वैदिक अग्नि-होत्रादि) की आशा करते हैं, सर्वात्मा ईश्वर की नहीं ।

आश्चर्य है कि कलिमाँह (कलियुग में) उत्तम कुल कहाते हैं, परन्तु फिरि (बार २ घूम) मध्यम (हीन) कर्म कराते हैं । सुत दारा (पुत्र स्त्री) से मिल कर जूठ खाते हैं, परंतु पवित्र हरिभक्त के संबन्धादि से छूति (अशौच प्रायश्चित्त) कराते हैं । अशौच कर्म (श्राद्ध) में प्रत के उच्छिष्ट खाते हैं, इससे मतिभ्रष्ट (बुद्धि ज्ञान रहित) हो कर यमलोक में जाते हैं । न्हाय (स्नान कर) के, खोरि (तिलक कर) के, उत्तम होय (श्रेष्ठता के अभिमानी) हो कर आते हैं, परन्तु श्रेष्ठ सर्वात्मा विष्णु देव के भक्त को देख कर दुःख पाते हैं ।

स्वार्थ लागि (तुच्छ स्वार्थ के लिये) जे (जो) बेकाज (कुकर्म-हिंसादि) में लगे रहते हैं, उसका नाम लेते ही पावक की नाईं डाजते (जलाते क्रोध करते) हैं । सच्चा राम कृष्ण (ईश्वर–ब्रह्म) की आशा (भक्ति) को छोड दिये । और पढ गुण कर भी अत्यन्त कृतम (कार्य के दास भक्त) हो गये । इससे तुच्छ कर्म को पढते हैं. उसीके लिये धावते (दौडते वा ध्यान करते) हैं । जो कोई पूछता है, उसके प्रति भी कर्म ही दढाते हैं इत्यादि ।

और समझाते हैं कि निःकर्मी (कर्ममुक्तों) की निन्दा करो, जो कर्म करता हो, उसमें मन लगावो । और ये अपने हृदयों में ऐसी तामसी भक्ति लाते हैं, कि जिससे मानो हिरण्यकश्यप के पन्थ ही चलाते हैं । इनकी सुमति के प्रकाश को देखो कि जिस करके अभ्यन्तर अन्तःकरण से भी कृतम (कार्य) के दास हुए हैं । यहाँ कुमति व्यंग्यार्थ है । या अपनी

सुबुद्धि के प्रकाश से इन्हें देखो कि ये अभ्यन्तर से कार्य के दास हुए हैं। जाके (जिस कार्य वा कार्यभक्त के) पूजने से पाप (कुबुद्धि) नहीं उडते (नष्ट होते) हैं, उल्टा उनके नाम का समरनी (स्मरणवाला) संसार में बूडता ही है।

इनके हाथे (हाथ में) पाप-पुण्य कर्म के पाशा (फांसी) है। (इन्हें कर्म की व्यवस्था का अधिकार मिला है)। उससे जगत को मार कर विनष्ट (हिंसापरायण) किया। रे अज्ञ प्राणि! इसीसे इन्हे ई (इस संसार) और अपने कुल दोनों के लिये वन्हि (अग्नि) कहा है, और वह्नि होने से ई गृह (इस लोक) को जारते हैं, और ऊ गृह (परलोक) को भी मारते (नष्ट करते) हैं। ते (वे) भी अपने घर में बैठे हुए साहु कहाते हैं, और भीतर रहने वाले मनके प्रति मुस (चोरी) के भेद (मर्म) को लखाते (समझाते) रहते हैं (वञ्चना आदि से द्रव्य लेना चाहते हैं)।

(हस्तावुपस्थमुदरं वाक् चतुर्थी चतुष्टयम्। एतत् सुसंयतं यस्य स विप्र: कथ्यते बुधैः॥ गरुड पु० खं. १।१३५।६)। परवित्तग्रहण हिंसा जूआ आदि से रहित होने से जिसके हाथ वश में हो, परस्त्री रहित होने से उपस्थ वश में हो, लोभ रहित हित मित भोजन से उदर वश में हो, सत्य हित मित भाषण से वाक् वश में हो, सो पण्डितों से विप्र कहा जाता है। परन्तु लोक में जिनकी ऐसी (पूर्व कही) विधि (प्रकार-चाल) है, उनके लिये भी लोक कहते हैं कि इन्हे भूसुर विप्र भनीजै (कहिये)। और नाम लेते ही पीठासन (उच्चासन) या पञ्चासन (कुशासन) दीजिये (पीठासन के पिचासन, पाठान्तर है, उससे पञ्चासन अनुमान होता है)। परन्तु ये स्वयं भव में बूड गये हैं, अपने को आप सँभारा नहीं है। और नामादि से ऊँच होते भी कर्मादि से नीच हो गये, तो फीर कहो किसके प्रति जोहार (प्रणाम) किया जाय। तत्त्व विचार करने पर तो ऊंच नीचादि बानी (शब्द) मध्यम हैं। सब में एके पवन पानी मिट्टी कुम्हार (ब्रह्मा) सबके सृष्टिकर्ता (ईश्वर) हैं।

गर्भ रूप एक चक्र पर सब चित्र को कर्ता ने बनाया है, सो नाद विन्दु के मध्य में समाया है। एक आत्मा सब की गौती (गोत्र) में व्यापक है या गो अतीत (अतीन्द्रिय) सब में व्यापक है। भौती (भौतिक-भूतों के विकार) देह के नाना नाम धरने से आत्मा में क्या भेद कहा जा सकता है। कर्म से व्यावहारिक भेद श्रेष्ठतादि होते हैं। तहाँ राक्षस की करनी (कर्म) वाले देव कहाते हैं, और व्यर्थ विवाद करते हैं। इन्हे गोपाल नहीं भावते (अच्छे लगते) हैं। और देह को त्याग कर जब हंस (जीव, न्यारा होता है, तो उसकी जाति नहीं कही जा सकती कि—

वह देह रहित आत्मा श्वेत है कि स्याह (स्याम वा काला,) राता (लाल), पियरा (पीला) है। अवरण (जाति रंग रहित) वर्ण (जाति-रूप वाला) है, कि ताता (गर्म) सियरा (शीत) है। हिन्दू तुरुक है कि वृद्ध बारा (युवा) है। स्त्री पुरुष सब मिल कर विचार करो कि वह कैसा है। विचार से आत्मज्ञान होने पर मिथ्या अभिमानादि नष्ट हो जावगें। साहब का कहना है कि, यह विचार की बात भी किससे कहा जाय, माया मोह ग्रसित जीव कहा नहीं मानते हैं। देवादि के दास जीव सोई वै (श्वेतादि) को ही सत्य जानते मानते हैं। या जो कोई हरिगुरु के दास जीव हैं सोई इस विचार को जानते हैं।

कार्य के दासादि जीव सब संसारनदी में अनादि काल से बह चुके हैं, और अब भी बहे जा रहे हैं। और इस अवस्था में भी कर (हाथ-मन) में चारों तरफ से विषय कामादि को गहे (पकड़े) हैं। उनके त्यागादि से इनका कल्याण हो सकता है, तिस त्यागादि के लिये यदि कहना नहीं मानते हैं, तो भी दो धक्का और भी दो। सांसारिक दुःख, यमयातना आदि को दर्शाते हुए दो चार बार और भी समझावो, बल से भी दुष्ट कामादि को छोडावो। ऐसा करने से अपना त॰फ से कसर नहीं रहेगा, इत्यादि।

श्रीसद्गुरुचरणकमलेभ्यो नमः ।

तत्रादौ मङ्गलं, सम्बन्धश्च ।

अथ पञ्चम हिंडोला प्रकरण ॥ ५ ॥

दोलादोलितमानसान् निजजनान् संप्रेक्ष्य यो विह्वलान्,
त्रासात्तूर्णमतारयत्सुविमलैः पद्यैस्त्रिभिः संदिशन् ।
तं सर्वस्य हितं महाकविवरं कल्याणकल्पद्रुमम्,
वन्दे सद्गुरुरूपिणं करुणया युक्तं कबीरं परम् ॥ १ ॥
यस्य विज्ञानमात्रेण दोलाया न भयं क्वचित् ।
तं वन्दे परमानन्दं शुद्धं राम चिदव्ययम् ॥ २ ॥
यदाश्रिताः कर्मभवाश्च कर्म-कालादयः कर्मफलं प्रदातुम् ।
सामर्थ्यवन्तो नितरां भवन्ति तज्ज्ञानतस्ते विलयं प्रयान्ति ॥ ३ ॥
अतो गुरुस्तस्य सुबोधहेतुं विवेकवैराग्यजनौ समर्थम् ।
चकार पद्यत्रितयं सुबोधं विचारसत्सङ्गसुमार्गदीपम् ॥ ४ ॥

संसार रूप दोला (हिंदोला) से दोलित (चञ्चल) मनवाले, विह्वल, निज जनों को देख कर, सुविमल तीन पद्यों से उपदेश करता हुआ जो सद्गुरु उन्हें तूर्ण (शीघ्र) भय से तराया (रहित किया), सबका हित, महाकवियों में श्रेष्ठ, कल्याण का कल्पवृक्ष, करुणा युक्त, उत्तम सद्गुरु स्वरूप, उस कबीर गुरु की बन्दना करता हूं ॥ १ ॥ जिसके विज्ञान मात्र से कहीं भी दोला का भय नहीं रहता है, तिस परमानन्द शुद्ध (निर्गुण) चित (चेतन) अव्यय (अविनाशी—सत्य) राम की बन्दना करता हूं ॥ २ ॥ जिसके आश्रित होकर, कर्म जन्य शरीरादि, और कर्म कालादि, कर्म के फल को देने में नितरां (अत्यन्त) सांमर्थ्य वाले होते हैं, उसीके ज्ञान से वे सब विलय (नाश) को प्राप्त होते हैं ॥ ३ ॥ इसीसे गुरु ने उस आत्मा का बोध के कारण, विवेक वैराग्य की उत्पत्ति में समर्थ, सुगमता से समझने योग्य, विचार सत्संग सुमार्ग का प्रकाशक, तीन पद्य किया

हनुमन्तं हि यः शीघ्रं दोलादिजमहाभयात् ।
अतारयत्तमचलं भजेऽहं सद्गुरुं हरिम् ॥ ५ ॥

हिंडोला १

भरम हिंडोला ना (जामें), सब जग झूलै आय ॥

पाप पुण्य के खम्भ दोऊ, मेरु माया मानि ।
लोभ मरुआ विषय भँवरा, काम कीला ठानि ॥

भ्रमसिद्धा हि दोलेयं मनोदेहात्मकं जगत् ।
यत्रागत्य हि सर्वेऽमी दोलायन्ते शरीरिणः ॥ १ ॥
पापपुण्यमयौ स्तम्भौ ह्यधःस्थावुच्छ्रितौ दृढौ ।
मेरुस्तम्भोऽत्र मायैव तिर्यक् ताभ्यां परं स्थिता ॥ २ ॥
लोभो गोपानसी चात्र विषया भ्रमणप्रदाः ।
प्रेङ्खास्थानादिका ज्ञेया यत्र भ्राम्यति वेगतः ॥ ३ ॥
लोभो मरुवको यद्वा विषया भ्रमरा मताः ।
कामः कीलोऽत्र विज्ञेयो येन सर्वो निबध्यते ॥ ४ ॥

है ॥ ४ ॥ जो दोलादि जन्य महाभय से हनुमान को शीघ्र तारा है, उस अचल सद्गुरु हरि को मैं भजता हूं ॥ ५ ॥

यह भ्रम से सिद्ध हिंडोला है, जो कि मन देहादि रूप जगत् है, जिस पर आकर, ये सब शरीरधारी हिंडोला के समान ही आचरण करते (झूलते) हैं ॥ १ ॥ इस हिंडोला के आधार में पापपुण्यमय दो स्तम्भ हैं, जो नीचे कारण रूप में स्थिर, और उच्छ्रित (खडे) के तुल्य और दृढ हैं ॥ २ ॥ तिर्यक् (टेंढा) उन दोनों से पर स्थित माया ही यहाँ मेरु स्तम्भ है ॥ २ ॥ हिंडोला स्थान में छाया के लिये बनाया गया घर तुल्य संसार में लोभ गोपानसी (मरुआ नाम काष्ठ के स्थान में) है, और यहाँ भ्रमण को सिद्ध करनेवाले, प्रेंखा (दोला) के स्थानादि रूप विषय ही जानने योग्य हैं, कि जिनमें मन आदि वेग से भ्रमते हैं ॥ ३ ॥ यद्वा लोभ मरुआ पुष्प

शुभ अशुभ बनाय डाँडी, गह्यो दोनों पानि ।
यह कर्म पटरी बैठि कै, (को) को न झूलै आनि ॥
झूलै तो ब्रह्मा दत्त शिव, झूलै सुरपति इन्द्र ।
झूलै तो नारद सारदा, झूलै व्यास फणीन्द्र ॥

शुभाशुभौ पदार्थौ द्वौ दण्डौ तत्र कृतौ हि तौ ।
हस्ताभ्यां निगृहीतौ वै सर्वैर्वा मनसा धिया ॥ ५ ॥
प्रसिद्धं यदिदं कर्म कामक्रोधादिदूषितम् ।
पट्टे स्थित्वा न के केऽत्र दोलयन्ते देवमानवाः ॥ ६ ॥
ब्रह्मा संदोल्यते देही दत्तात्रेयो महामुनिः ।
सर्वज्ञश्च शिवो देवराडिन्द्रश्च प्रतापवान् ॥ ७ ॥
देवर्षिर्नारदश्चैव भारती पावनी मता ।
व्यासोऽपि सर्वविज्ज्ञानी फणीन्द्रः शेष एव च ॥ ८ ॥
गणगन्धर्वदेवाश्च मुनयः सूर्यचन्द्रकौ ।
स्वयं यन्निर्गुणं ब्रह्म गां लब्ध्वैवेन्द्रियादिकम् ॥ ९ ॥

रूप है, और उससे प्राप्त होनेवाले विषय भ्रमर माने गये हैं। और इस दोला में काम ही कील रूप है, कि जिससे सब (पापपुण्य माया आदि) बँधते हैं ।। ४ ॥ शुभ और अशुभ दो पदार्थ तिससें दण्ड किये गये हैं । सो सब के हाथ वा मन बुद्धि से निगृहीत हैं ।। ५ ॥ काम क्रोधादि से दूषित जो यह वर्तमान कर्म हैं, इस पट्ट या (पटरी) में स्थिर होकर कौन २ देव मनुष्य दोलित–उत्क्षिप्त (चञ्चल) नहीं होते हैं ॥ ६ ॥

देहधारी ब्रह्मा झूलते हैं, महामुनि दत्तात्रेय, सर्वज्ञ शिव, प्रतापवान् देवराज इन्द्र भी देही अवस्था में झूलते हैं ॥ ७ ॥ देवऋषि नारद, पवित्र करनेवाली मानी गई भारती (सरस्वती), सर्वज्ञ ज्ञानी व्यास, फणीन्द्र शेषनाग भी देही अवस्था में झूलते हैं ॥ ८ ॥ गण गन्धर्वादि देव, मुनि, सूर्य चन्द्र झूलते हैं । और स्वयं निर्गुण ब्रह्म ही इन्द्रियादि रूप गौ को

झूलै तो गण गन्धर्व मुनि, झूलै सूरज चन्द ।
आपु निर्गुण सगुण होय के, झूलिया गोविन्द ॥
छः चारि चौदह सात इकिस, तीनि लोक बनाय ।
खानि बानि खोजि देखहु, स्थिर न कोइ रहाय ॥

दोलायां दोल्यते नित्यं भूत्वेव सगुणं गुणैः ।
जीवेशादिस्वरूपेण नानाऽवस्थासु गच्छति ॥१०॥
यद्वा गोविन्दनामा यो विष्णुर्देवः सनातनः ।
दुर्गुणै रहितो भूत्वा दोल्यते सद्गुणैः सह ॥११॥
जन्मादीन् सविकारान् षट् कामाद्यरिगणांस्तथा ।
खन्यवस्थायुगादींश्च भुवनान् भूतसर्गकान् ॥१२॥
सप्तस्वरान् समुद्रांश्च तन्मात्राणि मनो धियम् ।
नरकान् विंशतिं चैकं लोकांस्त्रीन् साधनान्वितान् ॥१३॥
रमते रचयित्वाऽत्र गोविन्दो जीव एव वा ।
स्थितिं न लभते क्वापि दोलया दोलितः सदा ॥१४॥

प्राप्त करके गुणों से सगुण की तरह होकर हिंडोला में सदा झूलता है। जीव, ईश्वरादि स्वरूप से नाना अवस्थाओं में प्राप्त होता है ॥९-१०॥ अथवा गोविन्द नामवाला जो सनातन विष्णु देव हैं, सोई दुर्गुणों से रहित होकर सद्गुणों के सहित झूलते हैं ॥११॥

जन्मादि छौ विकारों को, तथा विकार सहित छौ कामादि रूप अरिगणों को, और चार खानि, चार अवस्था, चार युगादि को, चौदह भुवन, चौदह प्रकार के भूत (प्राणी) का सर्ग (सृष्टि) को, सात स्वर, सात समुद्र, पांच तन्मात्रा, मन, बुद्धि, इन सातों को, बीस और एक इक्किस नरक को, साधन सहित तीन लोक को रचकर इसमें गोविन्द वा जीव रमता है। और दोला से सदा दोलित रहने से कहीं भी स्थिति नहीं पाता है ॥ १२-१४ ॥ और छौ दर्शन अवस्था आदि का विचार कर,

खण्ड ब्रह्मण्ड खोजि देखहु, छूटत कतहूं नाहिं ।
साधु सन्त विचारि देखहु, जिव निस्तरि कहँ जाहिं ॥
(जहँ) रैनि दिवस न चन्द सूरज, तत्त्व पल्लव नाहिं ।
काल अकाल प्रलय नहिं तहँ, सन्त विरले जाहि ॥

किञ्च षट् दर्शनादीनि विचार्यैतेषु मृग्यताम् ।
खनिवाणीषु सर्वासु स्थिरः कोपि न लभ्यते ॥१५॥
अन्विष्याऽऽलोक्य खण्डेषु ब्रह्माण्डेषु विलोक्य ।
मुच्यते क्वापि बन्धान्नो कोऽपि विज्ञानमन्तरा ॥१६॥
साधवः सज्जनाश्चैतत् प्रविचार्य प्रपश्यत ।
कुत्र गत्वा ह्ययं जीवो निर्वाणं पदमेष्यति ॥१७॥
ज्ञानं विना न कुत्रापि गत्वाऽयं मुच्यते तथा ।
ज्ञानाद् ध्वान्तनिवृत्तौ तु मुक्त एव गताशयः ॥१८॥
साधुभिः सज्जनैर्वैतद् विचार्यैव प्रदृश्यताम् ।
कुत्र याति विमुक्तोऽयं जीवः संसारबन्धनात् ॥१९॥
नक्तंदिवप्रभेदो नो सूर्यश्चन्द्रो न यत्र वै ।
पञ्चतत्त्वानि नैवैषां विस्तारो यत्र नास्ति च ॥२०॥

इन खानि वाणी आदि सब में खोजा, तो स्थिर कोई नहीं मिलता है ॥ १५ ॥ खण्डों में खोज देख कर ब्रह्माण्डों में देखो, कि विज्ञान विना कोई कहीं मुक्त नहीं होता है ॥ १६ ॥ हे साधु (सुन्दर) सज्जन ! तुम सब पूर्ण विचार करके यह देखो कि, यह जीव कहाँ जाकर निर्वाण (मोक्ष) पद पावेगा ॥ १७ ॥ और समझो कि, ज्ञान विना यह कहीं भी जाकर मुक्त नहीं होता है, और ज्ञान से ध्वान्त (तिमिर) की निवृत्ति होने पर, कर्माशयादि रहित मुक्त ही है ॥ १८ ॥ या साधु सज्जनों से विचार कर यह देखा जाय कि संसारबन्धन से विमुक्त यह जीव कहाँ जाता है ॥१९॥

जिसमें रात दिन का भेद नहीं है, न चन्द्रसूर्य जहाँ हैं, न पांच तत्त्व

तहँ के बिछुरे (बहु) कल्प बीते, भूमि परे भुलाय ।
साधु सङ्गति खोजि देखहु, बहुरि(न) उलटि समाय ॥

सुकालो नैव दुष्कालः प्रलयो न कथञ्चन ।
सन्तो विवेकिनः केचित्तत्र यान्ति विमत्सराः ॥२१॥

वियुक्तानां ततश्चैषां गताः कल्पा ह्यनन्तकाः ।
अनादिकालतश्चाथ भूमौ भ्राम्यन्ति सर्वथा ॥२२॥

जीवाः सर्वे हि कल्पान्ते यान्ति तत्रैव साशयाः ।
आयान्ति च पुनस्तेन गर्भादिषु विमोहतः ॥२३॥

साधूनां सङ्गतौ चैतदन्विष्यात्र प्रपश्यत ।
येन भूयो न कुत्रापि संसारे विशताशया ॥२४॥

यद्वा निराशयैस्तत्र पुनस्तत्त्वे निविश्यताम् ।
नैवात्रागमनं येन दोलायां संभविष्यति ॥२५॥

का संबन्ध है, न इन तत्त्वों का जहाँ विस्तार है ॥२०॥ किसी प्रकार जहाँ सुकाल दुष्काल प्रलय नहीं हैं, मत्सर रहित कोई विवेकी सन्त तहाँ जाते हैं ॥ २१ ॥ उससे वियुक्त हुए इन जीवों के अनन्त कल्प बीत गये और। अनादि काल से (अथ सब) भूमि में सर्वथा भ्रमते हैं ॥ २२ ॥ कर्माशय (वासना) सहित सब जीव कल्प के अन्त में उसीमें जाते हैं। और तिसी कर्माशय से विमोह द्वारा–फिर गर्भादि में आते हैं ॥ २३ ॥ साधुओं की सङ्गति में इसको खोजकर देखो, कि जिससे फिर कहीं भी संसार में आशा से नहीं पैठो ॥ २४ ॥ अथवा निराशय होकर तिस तत्त्व में फिर पैठना चाहिये, कि जिससे यहाँ दोला में आना नहीं हो सकेगा ॥ २५ ॥

यहि झूलवे की भय नहीं, जो होहिं सन्त सुजान ।
कहहि कबिर सत सुकृत मिलै (तो), बहुरि न झूलैं आन ॥ १ ॥

ज्ञानवन्तो हि ये सन्तस्तेषां दोलाभयं नहि ।
विद्यते हीति निश्चित्य शुद्धं ज्ञानमुपार्जय ॥२६॥
आह गुरुवरो येषां संमिलेत्सद्गुरुः क्वचित् ।
सत्यवक्ता सुहृच्चैव पुण्यं निष्कामकर्मजम् ॥२७॥
ते पुनर्नैव दोलायामायास्यन्ति कदाचन ।
जीवन्मुक्ता विमुक्ताश्च ते स्थास्यन्ति सदव्यये ॥२८॥
सर्वं विहायाऽत्र मनो निदध्याद्रामे परे ब्रह्मणि शान्तरूपे ।
सर्वं क्षणात्तद्धि विलाप्य दुःखं तूत्तिष्ठते सौख्यमयं विशुद्धम् ॥२९॥
न यस्य मोहो न मदो न मत्सरः समस्वभावेन तु वर्तते सदा ।
न रागरोषौ न च दोषदुर्विधा स एव साक्षात्परतः परो भवेत् ॥३०-१॥

ज्ञानवाले जो सन्त हैं, उनको दोला का भय नहीं है, इस निश्चय को ही प्राप्त करके शुद्ध ज्ञान का उपार्जन करो ॥ २६ ॥ गुरुवर कहते हैं कि जिनको कहीं सद्गुरु मिल जाय। सत्यात्म के वक्ता सुहृद मिल जायँ, निष्काम कर्म जन्य सुपुण्य मिल जाय ॥ २७ ॥ वे फिर भयानक दोला में कभी नहीं आवेंगे, वे जीवन्मुक्त विमुक्त हो कर अव्यय में स्थिर होंगे ॥ २८ ॥ यहाँ सब को त्याग कर, परब्रह्म शान्त स्वरूप राम में मन को निरन्तर धरे। फिर वह ब्रह्म ही क्षण भर में सब दुःख का विलय कर के विशुद्ध सुख स्वरूप से उठता है (प्रगट होता है) ॥२९॥ जिसको मोह मद मत्सर नहीं हैं, और सदा सम स्वभाव से रहता है, जिससे राग-द्वेष नहीं हैं, न दोष जन्य कोई दुष्ट विधा (° विधि वा प्रकार) है, वही साक्षात् पर से पर आत्मस्वरूप होगा और होता है ॥ ३० ॥

अक्षरार्थ-विप्रमतीसी के अन्त में वर्णित व्यापक आत्मा का विपरीत ज्ञान रूप भ्रम (अध्यास) से सिद्ध हि यह ना (पुरुष-जीव) के देहादि

रूप हैं। या हे ना (नरों !) यह भ्रम ही हिंडोला रूप है, या भ्रम रूप हिंडोलना है, और सब जग (संसारी) इस पर थाय कर, झूलता है। इस हिंडोला में पाप पुण्य के दो खंभे हैं, माया मेरु है, ऐसा मानो। अर्थात् धर्माधर्म और माया के अधीन शरीरादि और सब व्यवहार हैं। लोभ मरुआ (पुष्प, या छाया आदि के साधन लकडी) है, शब्दादि विषय भँवरा (भ्रमर, भ्रमण के स्थान) हैं, और काम कील है। शुभ अशुभ पदार्थ दण्ड हैं, जिनको जीव दोनों हाथ से पकडे हैं। प्रसिद्ध कर्म पटरी पर बैठ कर कौन नहीं आकर झूलता है। अर्थात् आसक्ति कामादि पूर्वक कायिकादि कर्म करने पर सब आवागमन के चक्र में पडते हैं, और नीच ऊंचादि अवस्था को पाते हैं।

अन्य की तो कथा ही क्या है, पूर्व के कर्माधीन अधिकारी लोक भी अधिकार तक झूलते हैं। इसीसे ब्रह्मा, दत्त (दत्तात्रेय), शिव, देवपति इन्द्र, नारद, शारदा (सरस्वती), व्यास, फणीन्द्र (सर्प के स्वामी शेष), गण देव, गन्धर्व देव, मुनि, सूर्य, चन्द्र, और आपु (स्वयं) निर्गुण (ब्रह्म) भी गोविन्द (इन्द्रियवाला) सगुण होकर झूलता है। या गोविन्द (विष्णु) भी स्वयं निर्गुण (दुर्गुण रहित) और सगुण (कल्याण गुण सहित) होकर झूलते हैं।

छः (शास्त्र वेदाङ्ग दर्शनादि), चार (वेद अवस्था आदि), सात (द्वीप समुद्रादि), इक्किस (नरकादि) तीन लोक को बनाय (रचकर) वह गोविन्द जीवात्मा इनमें झूलता है। और खानि बानी को खोजकर इनमें देखो (समझो) कि कोई कहीं स्थिर नहीं रहता है। या छः चारादि में और खानि वाणी में बनाय (अच्छी तरह) खोजकर देखो, कोई स्थिर नहीं रहता है॥ ज्ञान बिना, खण्ड ब्रह्माण्ड में कहीं झूलने से छुटकारा नहीं है। इसलिये साधु सन्तों से विचार कर जानो कि जीव मुक्त होकर कहाँ जाते हैं।

जिस आत्मा में रातदिनादि नहीं हैं, न पांचतत्त्व का पल्लव विस्तार

है, न सुकाल दुष्काल वा मरण मोक्षादि है, उस स्वरूप में कोई बिरले सन्त प्राप्त होते हैं ॥ उस आत्मस्वरूप लोक के (से) विछुरें (अज्ञान द्वारा वियुक्त हुए) तुम्हें अनन्त युग हुए, और देहादि रूप भूमि में पड़ कर उसे भूले हो, या उसे भूल कर भूमि में पड़े हो ॥ साधुसंग में उसे खोजकर (श्रवणादि करके) देखो, कि जिससे संसार से उलट कर बहुरि (फिर) वासनादि रहित मन उसी में लीन हो, और संसार में नहीं समाय।

जो सुजान (ज्ञानी चतुर) सन्त होते हैं, उन्हे इस हिंडोला पर झूलने का भय नहीं रहता है। और जिस विवेकी सज्जन को सत सुकृत (श्रेष्ठ पुण्य निष्काम शुभ कर्म भक्ति आदि, या सच्चा ज्ञानी गुरु) मिलते (प्राप्त होते[1]) हैं, सो जिज्ञासु भी बहुरि (फिर) आन (आय कर) नहीं झूलता हैं, किन्तु ज्ञानी होकर मुक्त होता है ॥ १ ॥

हिंडोला २

बहु विधि चित्र बनाय के हरि, रची क्रीड़ा रास।
जेहि झूलवे कि इच्छा नहिं, अस बुद्धि (है) केहि पास ॥

चित्राणि बहुधा कृत्वा स्वाद्यलीलां हरिः स्वयम्।
सत्यामरचयद्दोलां भ्रमरूपेति केचन ॥३१॥
यया नात्र भवेदिच्छा क्रीडितुं सा मतिः कुतः।
वर्तते हृदये कस्य 'हरेस्तन्त्रं जगत् समम् ॥३२॥

स्वयं हरि ने बहुत प्रकार के चित्रों (शरीरों) को बनाकर, और स्वाद युक्त लीलावाली सत्य दोला को रचा है, यह भ्रम रूप नहीं है, इस प्रकार कोई कहते हैं ॥ ३१ ॥ और जिस मति से इस दोला पर

१ 'यच्छक्तयो विश्वमलं सृजन्ति रक्षन्ति निघ्नन्ति जनेषु विश्रन्। तन्नामरूपाकृतिभिः स्वयं च विभिद्य चास्ते हि महाविभूतौ ॥' 'उभयोरात्मभूतोऽयं स्वतन्त्रो धारको हरिः। प्रेरको मारको लिप्तो भोजको भोगवर्जितः ॥' ब्रह्मसंहिता। उभयोश्चिदचितोः। लिप्तः ससङ्गः ॥

झुलत झुलत बहु कल्प बीते, मन नहिं छोड़त आस ।
मचो रहत हिंडोल अहनिशि, चारि युग चौमास ॥
कबहुं (क) ऊँचे कबहुं (क) नीचे, स्वर्ग भूतले जाय ।
अति भ्रमत फिरत हिंडोलवा (हो), नेकु नहिं ठहराय ॥

दोलायां क्रीडतां यातो बहुकल्पा गताः खलु ।
मनस्त्यजति नैवाशां हरिर्यावन्न चेच्छति ॥३३॥
रहस्यरचिता चेयं चला दोला ह्यहर्दिवम् ।
चत्वारि च युगान्यत्र चतुर्मासाः प्रवर्षणाः ॥३४॥
कदाचिद्याति चोर्ध्वं सा त्वधः स्वर्गेऽथ भूतले ।
भ्रमत्येवं हि वेगेन किञ्चित् क्वापि न तिष्ठति ॥३४॥
यादवानां हि राजा त्वं हे हरे! भक्तवत्सल! ।
पाह्यस्मान् वयमद्यास्माद्दोलनात्संबिभेमहि ॥३५॥
इत्येवं कवयः प्राहुस्तथाऽऽचार्याः प्रमेनिरे ।
गोपालशरणं प्राप्य चक्रुस्ते विनयं बहुम् ॥३६॥

क्रीड़ा करने की इच्छा नहीं हो, वह मति भी किस हेतु से किसके हृदय में रहती है। हरि के तन्त्र (अधीन) सब जगत है ॥ ३२ ॥ इसीसे दोला में क्रीड़ा करनेवालों के बहुत कल्प बीत गये, परन्तु जब तक हरि इच्छा नहीं करते हैं, तबतक मन आशा को नहीं त्यागता है ॥ ३३ ॥ रहस्य (गुप्त भेद) से यह दोला रची गई है। और दिनरात चल (चञ्चल) रहती है, इसके चलने में यहाँ चारों युग वर्षा के चार मास हैं ॥३४॥

सूक्ष्म देह रूप वह हिंडोला कभी ऊपर स्वर्ग में जाती है, तो कभी नीचे भूतल में आती है। इस प्रकार वेग से भ्रमती है, कहीं कुछ स्थिर नहीं होती ॥ ३४ ॥ हे भक्तवत्सल! हरे! तुम यादवों (यदुवंशियों) के राजा हो, हमारी रक्षा करो, हम इस समय इस दोलन (उत्क्षेपण) से डर रहे हैं ॥ ३५ ॥ इस पूर्ववर्णित रीति से कविलोक कहते हैं, तथा

डरपत हौं यह झूलवे कि, राखु (हो) यादवराय ।
कहैं कविर गोपाल विनति, शरण हरि को पाय ॥२॥

यद्वा सद्गुरुरेवाह सर्वात्मा श्रीहरिः स्वयम् ।
जीवकर्मानुसाराद्यैः कृत्वा चित्राण्यनेकधा ॥३७॥
लीलया लोकवत्सैव क्रीडारासं तु मायया ।
चकार जीवरूपेण प्रविश्य चित्रविश्वयोः ॥३८॥
"रमणार्थमिदं सर्वं ब्रह्मैव स्वेच्छयाऽभवत् ।
यथा सर्पः स्वेच्छयैव कुण्डलाकारतां व्रजेत्" ॥ ३९॥
बिभेत्यत्र यदा जीवो यादवानां प्रभुं तदा ।
स्तौति मां शरणे रक्ष बिभेम्यत्र ह्यहं विभो ! ॥४०॥२॥

आचार्य भी ऐसे ही मानते हैं, और वे सब गोपाल रूप हरि के शरण को प्राप्त कर के बहुत विनय किये हैं ॥ ३६ ॥ अथवा सद्गुरु ही कहते हैं कि स्वयम् सर्वात्मा हरि ने जीव के कर्मानुसारादि से अनेक प्रकार के चित्रों को बनाकर, और (लोकवत्तु लीला कैवल्यम् । ब्रह्मसू अ. २।१।३३) के अनुसार, वही हरि लोक के समान लीला से जीवरूप से चित्र और भुवनादि में पैठ कर मायाद्वारा क्रीडात्मक रास (रस समूह) को किया है ॥ ३७–३८ ॥ रमण के लिये इस सब स्वरूप ब्रह्म (ईश्वर) ही अपनी इच्छा से हुआ है। जैसे अपनी इच्छा से सर्प कुण्डलाकारता को प्राप्त होता है ॥ ३९ ॥ यहाँ जब जीव डरता है, तब यादवों के प्रभु की स्तुति करता है कि, मुझे शरण में रक्षा करो, हे विभो ! अब मैं यहाँ डरता हूं ॥४०॥

अक्षरार्थः—किन्हीं का कहना है कि, संसार अनादि से सिद्ध नहीं है, किन्तु हरि (परमात्मा) ने स्वयं क्रीडारास (क्रीडा लीला समूह) को रचा है। और जिन्हें झूलने की इच्छा नहीं होती, सो ऐसी बुद्धि भी किसी के पास (अधीन) नहीं है ॥ इसीसे झूलते २ बहुत कल्प बीत गये, परन्तु हरि की इच्छा विना सबके मन आशा को नहीं छोड़ता है, और हिंडोला भी

दिनरात मचो रहत (चलती रहती) है। चारों युग झूलने के योग्य चातुर्मास बने रहते हैं, इत्यादि।

और वह हिंडोला कभी ऊंचे स्वर्ग में, कभी नीचे भूतल में जाती है, और अत्यन्त वेग से भ्रमती फिरती है, नेकु (थोडा भी, या शीघ्र) नहीं ठहरती है। फिर कोई भयभीत होकर कहते हैं कि, यह झूलवे कि (इस झूलने से) मैं डरपत (डरता) हूं, हे यादवराय ! राखु (रक्षा करो) इस प्रकार कवि आदि गोपाल की बिनती (स्तुति) करते हैं, उनके अधीन मुक्ति समझते हैं ॥ २ ॥

ईश्वरादि संसार के साधारण कारण हैं, और जीवों के काम कर्मादि की अपेक्षा रखते हैं। जीवों के काम लोभ कर्मादिक ही विशेष कारण हैं, इत्यादि आशय से फिर कहते हैं कि–

हिंडोला ३

लोभ मोह के खम्भ दोऊ, मन से रची हिंडोल।
झुलहिं जीव जहान जहँ लो, कतहु नहीं थित ठौर ॥

लोभमोहमयैस्तम्भैर्युक्तां दोलां भ्रमात्मिकाम्।
मनसाऽरचयञ्जीवा विशेषण पृथक् पृथक् ॥४१॥
रचयित्वा तु दोलां ते दोलायन्ते हि सर्वशः।
ये केचिद्देहिनो लोके भुवने क्वापि सन्ति हि ॥४२॥
परिणामैः क्रियाद्यैश्च दोलनात् सर्ववस्तुनः।
सर्वत्रैवाऽत्र संसारे स्थितेः स्थानं क्वचिन्नहि ॥४३॥

लोभ मोहमय स्तम्भ (प्राणादि) से युक्त भ्रम स्वरूप दोला को जुदा २ विशेष रूप से जीवों ने मन से रचा है ॥ ४१ ॥ जो कोई लोक भुवन में कहीं देही हैं, वे सब दोला रच कर झूल रहे हैं ॥ ४२ ॥ और परिणामों से तथा क्रिया आदि से सब वस्तु के चञ्चल होने से इस सब

चतुर झुलहिं चतुराइया, झूलहिं राजा शेष ।
चान्द सूर्य दोउ झूलहीं, उनहुं न भौ उपदेश ॥
लक्ष चौरासि जिव झूलहि, रवि सुत धरिया ध्यान ।
कोटिन कल्प युग बीतिया, अजहुं न मानै हान ॥

चतुरश्चात्र चातुर्याद्राजा शेषादिकोऽपि च ।
भवे दोलायतेऽत्रासौ चन्द्रः सूर्यः प्रतापवान् ॥४४॥
उपदेशो यतो नैतैः पूर्वजन्मस्वलभ्यत ।
खेलायन्ति ततः सर्वे कृत्वा कर्माणि कामतः ॥४५॥
उपदेशं विनैवास्य ह्यसङ्गस्यात्मनः सदा ।
युगाष्टलक्षयोन्यादौ दोलायन्तेऽत्र जन्तवः ॥४६॥
खेलायन्तो न जानन्ति वैवस्वतयमं जनाः ।
स च दत्तावधानो वै वर्तते सर्वतः सदा ॥४७॥
इत्थमेषां गतान्यत्र कल्पाश्चैव युगानि च ।
कोट्यो नैव जानन्ति स्वहानिं दुःखवेदनाम् ॥४८॥

संसार में कहीं भी स्थिति का स्थान नहीं है ॥ ४३ ॥ चतुर इस संसार में चतुराई से झूलता है । और राजा तथा शेषादिक भी यहाँ झूलते हैं । और वह चन्द्रमा प्रतापवान् सूर्य भी यहाँ झूल रहे हैं ॥ ४४ ॥ जिससे इन लोगों ने भी पूर्व जन्मों में झुलना से रहित होने के लिये उपदेश नहीं पाया, तिससे ये सब इच्छापूर्वक कर्म करके विलास कर रहे हैं ॥४५॥

इस असंग आत्मा के उपदेशादि बिना ही प्राणी सब यहाँ चौरासी लाख योनि आदि में सदा झूलते हैं ॥ ४६ ॥ और खेला (विलास) करते हुए प्राणी वैवस्वत यम को नहीं जानते हैं, और वह यम अपने मन में दत्त अवधान (एकाग्रता)वाला होकर सर्वत्र सदा रहता है ॥ ४७ ॥ इसी प्रकार इन जीवों के यहाँ करोड़ों कल्प और युग चल गये, परन्तु ये

धरति अकाश दुइ झूलहीं, झूलहि पवना नीर ।
देह धरे हरि झूलहीं, देखहिं हंस कबीर ॥

दोलायन्ते पृथिव्यां च तथाऽऽकाशे च वायुषु ।
अप्सु चान्ये तथा चैते देवाः क्षित्यादिसंज्ञकाः ॥४९॥
विष्णुश्चैव स्वयं देवो देहं धृत्वा पृथग्विधम् ।
भवे दोलायते ह्यत्र पश्यन्त्येवं विवेकिनः ॥५०॥
सर्वात्मैव हरिर्यद्वा देहं धृत्वा पृथक् पृथक् ।
भवे दोलायते तं च पश्यन्ति ज्ञानिनोऽचलम् ॥५१॥
हिंदोलाललितं ह्येतद्विलोक्य कृतिनो जनाः ।
त्यक्त्वा लोभादिकं सर्वं द्वन्द्वमुक्ता भवन्तु वै ॥५२॥

हिंदोलाललितं विलोक्य विबुधस्त्यक्त्वा भ्रमं दूरतो,
धर्माधर्ममयान् विपाट्य विपुलान् स्तम्भांश्च मायां तथा ।
लोभं गोचरकामकर्मकलहं हित्वा हरिं संभजन्,
मोहध्वान्तविमुक्तमानसतयाऽसौ निश्चलो मोदताम् ॥५३॥३॥

इति हनुमदीयहिंदोलाललितं समाप्तम् ॥

अपनी हानि दुःख की वेदना (अनुभव) नहीं जानते हैं ॥ ४८ ॥ इससे पृथिवी आकाश वायु जल में अन्य जीव सब झूलते हैं, तथा ये पृथिवी आदि नामवाले देव भी संसार में झूलते हैं ॥ ४९ ॥ स्वयं विष्णु देव भी नाना प्रकार के देहों को धर कर, इस संसार में झूलते ही हैं, इस प्रकार से विवेकी समझते हैं ॥ ५० ॥ अथवा सर्वात्मा हरि ही जीव रूप से पृथक् २ देह धर कर संसार में झूलता है, और ज्ञानी उसके सत्य स्वरूप को अचल देखते हैं ॥ ५१ ॥ हिंदोला के ललित (इप्सित) अर्थादि रूप इस व्याख्यान को देख कर कृती (कुशल) मनुष्य, सब लोभादि को त्याग कर द्वन्द्व रहित हो जाय ॥ ५२ ॥ विबुध (ज्ञानी), हिंदोला ललित को देख कर, भ्रम को दूर से त्याग कर, धर्माधर्ममय विपुल (विशाल)

स्तम्भों को तथा मायां को विपाट्य (उखाड़ कर), लोभ को और विषयों की इच्छा से किये गये कर्मों से जन्य कलह को छोड कर हरि को भजता हुआ, मोहरूप अन्धकार से रहित मनवाला होने से वह ज्ञानी निश्चल होकर आनन्द करे ॥ ५३ ॥

अक्षरार्थ—भ्रमजन्य लोभ मोह के दो खंभे हैं, और यह व्यष्टि हिंडोला मन से रची गई है। और जहान (संसार) जहँ लो (जहाँ तक) है तहाँ तक जीव झूल रहे हैं। कतहुं (कहीं भी) थित (स्थिर) ठौर (स्थान) नहीं है ॥ चतुर चतुराई से झूलते हैं, राजा (ज्ञानी) प्रारब्धानुसार झूलते हैं। या राजा (ब्रह्मा आदि अधिकारी) और शेष (अनन्त, वा ज्ञानी-ब्रह्मादि से अन्य) सब झूलते हैं। चन्द्र सूर्य दोनों भी झूलते हैं, क्योंकि उन्हें भी पूर्वजन्म में झूलना से रहित होने का उपदेश नहीं हुआ है।

उपदेशादि बिना लोभादि से चौरासी लक्ष योनि के जीव झूल रहे हैं, और रविसुत (यमराज) सर्वत्र ध्यान लगाया है। और करोडों कल्प युग के ऐसे ही बीतने पर भी जीव अब भी अपनी हानि को नहीं मानता (समझता) है। और नहीं समझने से ही जीव सब पृथिवी आदि में झूलते हैं, तथा पृथिवी आदि भी झूल रहे हैं, और जिस हरि की क्रीडा रूप संसार को कोई कहते हैं, सो हरि भी देह धर कर झूल रहे हैं। इस तत्त्व को हंस (विवेकी जीव) समझते हैं, इत्यादि ॥३॥

———

श्रीसद्गुरुचरणकमलेभ्यो नमः ॥

तत्रादौ मङ्गलम् । सम्बन्धश्च ॥

अथ षष्ठ वसन्त प्रकरण ॥ ६ ॥

सत्यानन्दघनं प्रदर्श्य विमलं कामादिकं मार्जयन्,
मोहध्वान्तहरः स्ववाक्यकिरणैः सत्कोमलैः शीतलैः ।
हृद्गेहान्तरवर्तिनां च कलहं यो वारयत्यञ्जसा,
तं सत्यं हि कबीरमत्र सुखदं भानु परं संश्रये ॥ १ ॥
यस्य वाक्किरणैर्ध्वस्तस्तमोरागाद्योऽरयः ।
नाऽऽवर्तन्ते पुनः क्वापि तं वीरं मिहिरं भजे ॥ २ ॥
यद्द्वादशात्मान इमे वसन्तकाः, स्वान्ते हरन्ते ननु सर्वदा तमः ।
महार्हरत्नं च हरिं निजान्तिके, प्रकाशयन्ते तमहं भजे सदा ॥३॥
वर्तते नित्यमानन्दो यद्-दयया हनूमतः ।
तस्य सच्चरणद्वन्द्वमद्वन्द्वं नित्यमाश्रये ॥ ४ ॥

जो कबीर गुरु, विमल, सत्यानन्दघन को देखा कर कामादि का मार्जन (निवृत्ति) करता हुवा, सत्य कोमल शीतल अपने वाक्य रूप किरणों से मोहान्धकार को हरनेवाला हैं । और हृदय रूप घर के अन्तर वर्तने रहनेवाले कामादि के कलहों को जो अञ्जसा (झटिति या तत्त्वतः) निवारण करते हैं, तिस सत्य, सुखद, पर (उत्तम) भानु (सूर्य) कबीर को यहाँ सम्यक् सेवते हैं ॥ १ ॥ जिनके वाक् रूप किरणों से ध्वस्त (नष्ट हुए) तम रागादि रूप शत्रु फिर कहीं नहीं लौटते हैं, तिस वीर मिहिर (सूर्य) को भजते हैं ॥ २ ॥ जिनके द्वादशात्मा (बारह मूर्ति) रूप ये वसन्त हैं, और मन में सदा ही तम को हरते हैं, और महा अर्ह (पूज्य) रत्न रूप हरि को अपने पास में प्रकाश करते हैं, तिनको मैं सदा भजता हूं ॥ ३ ॥ जिनकी दया से हनूमान को नित्य सदा आनन्द है, उन अद्वन्द्व (राग-द्वेषादि रहित) चरण युगल का सदा आश्रयण करता हूं ॥ ४ ॥

जीव संसृति प्रकार वर्णन प्रकरण १

वसन्त, मलार, सारंग, दीपक, भैरव, सोरठा, नाम के छौ राग होते हैं। इस प्रकार के वचनों का वसन्त राग है, और वसन्त ऋतु के समान इसमें आनन्दजनक उपदेशों का वर्णन है। इस कारण से इस प्रकरण को वसन्त कहते हैं। और पाप पुण्यादि जन्य बीजाङ्कुर न्याय से अनादि अविद्यात्म हिंडोला की निवृत्ति के लिये विवेक विचारादि की कर्तव्यता का इस प्रकरण में उपदेश देते हैं कि—

वसन्त १

शिव काशी कस भई तोहारि। अजहूं हो शिव देखु विचारि॥
चोवा चन्दन अगर पान। घर स्मृती होत पुराण॥

पुण्यपापमयी नित्यं लोभमोहमयी चला।
नगरीयं भवाख्या ते शिवात्मन्नभवत्कथम्॥ १॥
अद्यापि त्वं विचार्येदं पत्तनं पश्य कारणम्।
तत्र विद्धि च तत्त्यक्त्वा मुक्तसङ्गः सुखी भव॥ २॥
यक्षधूपस्य सारोऽथ गन्धसारोऽथ वंशकम्।
नागवल्लीदलं चैव निगमे ह्यत्र लभ्यते॥ ३॥
देहगेहेषु सर्वत्र प्राक्तना विषयास्तथा।
भुक्ता भुक्ताश्च रागेण संस्मर्यन्ते पुनः पुनः॥ ४॥

हे शिवात्मन्! (जीव!) सदा पुण्य पाप मयी, लोभमोहमयी, चञ्चल, भव (संसार) नामक यह नगरी तेरी कैसे हुई॥ १॥ तुम आज भी इस पत्तन (नगरी) को विचार कर देखो, और तिसमें कारण को समझो। और उस कारण को त्याग कर संग से रहित मुक्त सुखी होवो॥ २॥ यक्षधूप (राल) का सार (चोवा) अथ (और) गन्धसार (चन्दन) वंशक (अगुरु) और नागवल्ली का दल (पान) इस निगम (पुरी) में भोग के लिये मिलता है॥ ३॥ और सर्वत्र देह रूप घरों

बहु विधि भवनन लागु भोग। (अस) नगर कोलाहल करत लोग॥
बहु विधि परजा लोग तोर। तेहि कारण चित्त ढीठ मोर॥

प्राप्त्यर्थं च स्मृतानां वै यत्नोऽत्र क्रियते सदा।
तत्प्राप्त्या भवनेष्वेषु भोगस्तेषां हि जायते ॥ ५ ॥

तद्भोगेनैव तुष्टाश्च सर्वे लोका बहिर्मुखाः।
मत्ताः कलकलं शश्वत् कुर्वते नात्मचिन्तनम् ॥ ६ ॥

प्रजा बहुविधाश्चात्र पुत्रपौत्रादिलक्षणाः।
संप्राप्यन्ते त्वया शम्भो! तस्माच्चित्तेऽस्ति धृष्टता ॥ ७ ॥

धृष्टं जातं त्विदं चित्तं ममतामत्र भावयत्।
इदं मे स्यादिदं मे स्यान्नैव तज्जातु तृप्यति ॥ ८ ॥

इत्थं ते नगरी प्राप्ता ममतामोहतः शिव!।
त्यक्त्वा त्वं ममतां मोहं मुक्तसङ्गः सुखी भव ॥ ९ ॥

में राग से बार २ भोगे हुए पूर्व के विषय पुनः २ स्मृत (याद) होते हैं ॥ ४ ॥ और उन स्मृत हुए विषयों की प्राप्ति के लिये यहाँ सदा यत्न किया जाता है। फिर उनकी प्राप्ति से इन भवनों में उनका भोग होता है ॥ ५ ॥ और उनके भोग से ही संतुष्ट बहिर्मुख (विषयपरायण) उन्मत्त सब लोक सदा कलकल (कोलाहल) करते हैं, आत्मचिंतन नहीं करते ॥ ६ ॥

हे शम्भो! तुझे यहाँ पुत्र पौत्रादि रूप बहुत प्रकार की प्रजा मिलती है, तिससे चित्त में धृष्टता (निर्लज्जता–निर्भयता) है ॥ ७ ॥ और धृष्ट हुवा यह चित्त, यह मुझे हो यह मुझे हो, इस प्रकार यहां ममता करता हुवा, वह कभी तृप्त नहीं होता है ॥ ८ ॥ हे शिव! इस प्रकार तुम्हें यह नगरी ममता और मोह से प्राप्त हुई है। तुम ममता मोह को त्याग कर सङ्ग रहित सुखी होवो ॥ ९ ॥ यहाँ सुख समझ कर, यहाँ आसक्त,

सुनि कै शंकर भयउ कोह। अस काहू नहिं कहल मोह ॥
सुर नर मुनि सब धरहिं ध्यान। तूं बालक कछु कहै न जान ॥

श्रुत्वेममुपदेशं च शङ्करोपासको नरः ।
तामसोऽत्र सुखं बुद्ध्वा सक्तः क्रुद्धोऽभवत्क्षणात् ॥१०॥
अवदत् स न कोऽप्येवमद्यावध्युक्तवान् मम ।
शिवस्त्वं मोहतश्चायं भवबन्धस्तवेति च ॥११॥
अहमज्ञोऽस्मि जीवश्च शिवो वै भगवान् प्रभुः ।
सर्वज्ञः सर्वविच्चैव कर्ता धर्ता च हारकः ॥१२॥
यस्य ध्यानं सुराः सर्वे नराश्च मुनयस्तथा ।
कुर्वन्ति तं न वेत्सि त्वं बालो वक्तुं न वेत्सि च ॥१३॥
एतदप्यस्ति काश्याश्च प्राप्तेः कारणमुत्तमम् ।
यन्नाद्यावधि सत्यस्य ह्युपदेशमवाप्तवान् ॥१४॥
श्रुत्वापि च क्रुधामेति मन्यसे न हितं वचः ।
यावदेतन्न तावद्धि संसारो विनिवर्तते ॥ १५ ॥

तामसी, शंकर के उपासक मनुष्य इस उपदेश को सुन कर, क्षण में क्रुद्ध हो गया ॥१०॥ और वह बोला कि आज तक मुझे इस प्रकार कोई नहीं कहा था, कि तुम शिव हो, और यह तेरा संसार बन्धन मोह से है ॥११॥ मैं अज्ञ और जीव हूं। और शिव तो, भगवान् (ईश्वर) प्रभु (स्वामी) सर्वज्ञ (सामान्य रूप से सब के ज्ञाता) सर्ववित् (विशेष रूप से सबके ज्ञाता) कर्ता धर्ता और संहारकर्ता हैं ॥१२॥

जिस शिव के ध्यान सब देव, मनुष्य और मुनि भी करते हैं, उसको तुम नहीं जानते हो, तुम बाल (अज्ञ) हो, और कहना भी नहीं जानते हो ॥१३॥ गुरु बोले कि, यह भी काशी (संसार) की प्राप्ति का उत्तम कारण है, कि जो अबतक तुम ने सत्य का उपदेश नहीं पाया है ॥१४॥ और सत्य को सुनकर भी आप क्रोध को प्राप्त होते हो, हित वचन को

हमरा बलकवक इहै ज्ञान। तोहरा को समुझावै आन॥
जेहि जाहि मन से रहल आय। जिवको मरण कहु कहँा समाय॥

तथाभूते न वक्तव्यमित्यप्यत्रोपदिश्यते।
दैवादुक्तौ च शान्त्यैव वर्तितव्यं तथाविधे॥ १६॥
बालस्य मम बोधो हि वर्तते तादृशः स्थिरः।
त्वां च बोधयितुं शक्तः कोऽन्यो लोकेऽपि विद्यते॥१७॥
बोधो वा मम शिष्याणामीदृशो वर्तते सदा।
त्वां को बोधयितुं शक्तो मां चेद् बालेति भाषसे॥ १८॥
बोधाऽभावाच्च यो यत्र मनसा वर्तते जनः।
मृत्वा पुनः स तत्रैव स्वयमागत्य तिष्ठति॥ १९॥
आगत्याऽत्र च जातानां जीवानां मरणं पुनः।
अवश्यं भविता तच्च कथ्यतां कुत्र यास्यति॥ २०॥

नहीं मानते हो, जब तक यह उपदेशाऽभावादि है; तब तक संसार नहीं निवृत्त होता है॥१५॥ यहाँ गुरु से यह भी उपदेश दिया जाता है, कि तथाभूते (तिस प्रकार के प्राणी के रहते) कुछ नहीं कहना चाहिये। दैवयोग से कुछ कहे जाने पर, तिस स्वभाववालों के विषय में स्वयं शान्ति से ही रहना चाहिये॥१६॥ गुरु कहते हैं कि, बाल (शिशु) रागद्वेषादि रहित स्वरूप जो मैं हूं तिसका ज्ञान तो तैसा ही स्थिर है, और तुम को समझाने के लिये भी लोक में अन्य कौन समर्थ है॥१७॥ अथवा मेरे शिष्यों का ऐसा ही ज्ञान सदा है, और यदि तुम मुझे बाल (अज्ञ) कहते हो, तो तुझे समझाने के लिये कौन समर्थ है॥१८॥

बोध (ज्ञान) के अभाव से जो मनुष्य जहाँ मन से आसक्त रहता है, मर कर फिर वह स्वयं वहां ही आकर स्थिर होता है॥१९॥ और यहां आकर जन्मे हुए जीवों का मरण फिर अवश्य होगा। कहो कि वह मरण जन्मवान् से अन्यत्र कहाँ जायगा॥२०॥ और सर्वात्मा हरि तथा

ताकर जो कछु होय अकाज । ताहि दोष नहिं साहेब लाज ॥
हर हर्षित अस कहल भेव । जहँ हम तहँ दूसर न केव ॥

विमुखानां हरेश्चैव सद्गुरोस्तत्त्वदर्शिनः ।
जायते यन्महत्कष्टं यातनाऽकार्यकर्म वा ॥ २१ ॥
हानिस्तत्र हि दोषाणां तेषामेवास्ति हेतुता ।
प्रभौ गुरौ हरौ नैव मन्दाक्षमस्य विद्यते ॥ २२ ॥
व्रीडा विषमताद्यैः स्यात्ते न सन्ति स्वयं प्रभौ ।
स्वस्वकर्मानुसारेण फलं चादन्ति जन्तवः ॥ २३ ॥
एतच्छ्रुत्वा हरः कश्चिद्विषयाऽऽहरणे रतः ।
हर्षितः प्रोक्तवानित्थ स्वरहस्यं सुदर्पितः ॥ २४ ॥
यत्राऽहं तत्र कोऽन्योऽस्ति प्रभुर्वा गुरुरव्ययः ।
अहमेव करोमीदं यद्यदिच्छामि तत् खलु ॥ २५ ॥
हर्षितो ज्ञानतो यद्वा स्वात्मनिष्ठो हरः स्वयम् ।
आत्मनि भेदजातानां निषेध उक्तवानिति ॥ २६ ॥

तत्त्वदर्शी सद्गुरु से विमुखों को जो महान कष्ट (दुःख) यातना (तीव्र वेदना) अकार्य कर्म (कुप्रवृत्ति) हानि आदि होते हैं, उनमें उनके दोषों को ही कारणता है। समर्थ गुरु वा हरि में इसका मन्दाक्ष (लज्जा) नहीं है ॥२१–२२॥ क्रूरता विषमता आदि से व्रीडा (लज्जा) हो सकती है, सो विषमता आदि प्रभु में स्वयं नहीं है। अपने २ कर्मों के अनुसार से प्राणी फल भोगते हैं ॥२३॥ विषयों की प्राप्ति आदि में प्रवृत्त विषयानन्द युक्त कोई हर (जीव) इस वचन को सुनकर और अत्यन्त दर्प (अहंकार युक्त) होकर, अपना रहस्य (विचार) इस प्रकार बोला कि जहां मैं हूं तहां अन्य कौन अव्यय प्रभु वा गुरु है। मैं ही जो २ चाहता हूं, सो सब यह करता हूं ॥२४–२५॥ अथवा आत्मज्ञान से आनन्दित आत्मनिष्ठ स्वयं शिव स्वरूप ज्ञानी ने आत्मा में भेदसमूहों का निषेध (अभाव) है, इस प्रकार कहा ॥२६॥

दिना चार मन धरहु धीर। जस देखहिं तस कहहिं कबीर ॥१॥

तस्मै गुरुरुवाचेत्थं धैर्यं कुरु चतुर्दिनम्।
गर्वस्यापि फलं तूर्णं संगमिष्यसि निश्चितम् ॥२७॥
नाहं शापं ददाम्येतन् मिथ्या नैव वदामि च।
प्रपश्यामि यथा किन्तु तथा वच्मि हि तत्त्वतः ॥२८॥
यद्वा प्रोक्तोपदेशेन हर्षितो दोषनाशतः।
रहस्यं प्रोक्तवान् कश्चिद्धरो भेदविवर्जितः ॥२९॥
मत्स्वरूपे भिदा नैव विद्यते वै कथञ्चन।
जिज्ञासुजनमुख्याय गुरुभिश्चात्र कथ्यते ॥३०॥
चत्वार्येव दिनान्यङ्ग! धैर्यं मनसि धारय।
विवेकादिपरो नित्यं जीवन्मुक्तो भविष्यसि ॥ ३१ ॥
नाहं परोक्षवाद्यस्मि तत्त्वं पश्यामि यादृशम्।
तादृशं संवदाम्यत्र तत्त्वं जानीहि सुव्रत। ॥ ३२ ॥ १ ॥

तिस अहंकारी के लिये गुरु ने इस प्रकार कहा कि, चार दिन धैर्य धरो, गर्व का भी निश्चित फल शीघ्र पावोगे ॥ २७ ॥ यह वचन मैं शाप रूप नहीं दे रहा हूं, और न मैं मिथ्या कहता हूं, किन्तु जैसा तत्त्वतः (वस्तुतः) देखता हूं, तैसा कहता हूं ॥ २८ ॥ अथवा पूर्व वर्णित उपदेश से दोषों के नाश होने से हर्षयुक्त भेदभाव रहित कोई हर (जीव) रहस्य (मर्म) बोला कि, मेरे स्वरूप में किसी प्रकार भी भेद नहीं है। और जिज्ञासुजनों में मुख्य (प्रधान) के लिये गुरु से भी यहाँ कहा जाता है कि, हे अङ्ग! चार दिन मन में सात्विक धैर्य का धारण करो, सदा विवेक पर रहो, जीवन्मुक्त होगे ॥ २९–३१ ॥ मैं परोक्षवादी नहीं हूं किन्तु जैसा तत्त्व देखता हूं, तैसा कहता हूं। हे सुव्रत! यहाँ तुम उसी तत्त्व (स्वरूप) को जानो ॥ ३२ ॥

अक्षरार्थ—हे शिव! (कल्याण रूप जीव) तोहारी काशी (तेरा

यह गमनशील देहादि संसार) कस भई (कैसे हुई है) सो अजहूं (अब भी) हो शिव ! विचार कर देखो कि जिससे झूलना छूटे ॥ और समझो कि, चोवा चन्दन अगर पानादि का देव मनुष्यादि के घर २ (देह २) में भोग मिलता है, तथा पुराने भोगों का स्मरण (स्मृति) होता है। फिर उसके अनुसार विषयों की प्राप्ति करने से भवनों (देहों) में बहुत प्रकार के भोग लगते (प्राप्त होते) हैं, और भोग से ही मस्त होकर लोक संसार में कोलाहल करते हैं। अथवा काशी के स्वामी विश्वनाथजी से कहते हैं कि, हे शिव ! आपकी नगरी काशी कैसी हो गई है ? ज्ञानभंडार रूप इसको अब भी विचार कर देखो, इसकी उपेक्षा नहीं करो। यहाँ घर २ में चोवा चन्दनादि दीखते हैं, स्मृति पुराणादि की कथा होती है, घरों में बहुत विधि से भोग लगता है, परन्तु तौभी ज्ञान की चर्चा शान्ति आदि नहीं दीखते हैं, लोक सब नगर में व्यर्थ कोलाहल करते हैं, इत्यादि।

और बहुत प्रकार के तोर प्रजा लोग (संतति लोक) हैं, तिसी कारण से तेरा चित्त ढीठ (निर्भय) है, और मोर २ (ममता) करता है। इस उपदेश को सुन कर शंकर (शिवभक्त) को क्रोध हुवा, और वह कहने लगा कि, अस (इस प्रकार) मुझे काहू (किसी) ने नहीं कहा है। अथवा हे विश्वनाथ ! तेरी प्रजा (जनसंघ) बहुत प्रकार के हैं, तिससे मेरा चित्त ढीठ है, जिससे मैं कुछ कहता हूं। इस बात को सुन-कर शिव को क्रोध हुवा, और बोले कि, अस (इस प्रकार) आज तक मुझे कोई नहीं कहा है, इत्यादि।

और जिस शिव के सुर नर मुनि सब ध्यान धरते हैं, उस शिव के विषय में बालबुद्धि तुम कुछ कहना नहीं जानते हो। गुरु का कहना है कि, हमरा बलकन्नक (बालक रूपी गुरु का, या हमारे शिष्यों का) इहै (पूर्व वर्णित ही) ज्ञान है। और गुरु से विमुख तुम को गुरु बिना और

कौन समझा सकता है। अर्थात् विषयाऽऽसक्ति से सुख समझनेवालों को भी गुरु ही समझा सकते हैं, और उसके दुर्वचन से भी क्षुब्ध नहीं होते हैं इत्यादि। अथवा शिवजी बोले कि, सुरादि मेरा ध्यान धरते हैं, तुम समझाने आये हो, कुछ कहना नहीं जानते हो। गुरु बोले, मुझ बालक का यही ज्ञान है, इत्यादि।

जेहि (जो जीव) मन से जाहि (जिस) में रहल (आसक्त रहे) और आत्मविचारादि नहीं किये, वे जीव मर कर भी फिर वहाँ आय (जन्मे) तो उनके मरण कहो कि कहाँ (कैसे वा किस में) समाय (निवृत्त होय वा जाय) इससे आय कर अवश्य मरना होता है। और ताकर (उस जीव का) जो कुछ अकाज (हानि आदि) होता है, सो ताहि दोष (उसीके दोष अपराध) से होता है, उसमें साहब को लाज (दोषादि) नहीं है। इस बात को सुनकर हर्षयुक्त हर (शिवभक्त या शिव) अपना भेद ऐसा कहा कि, जहाँ मैं हूं तहां दूसरा कोई नहीं है, न हल्ला है इत्यादि।

साहब का कहना है कि, चार दिन धीर (धैर्य) धरो तो सब पता लगेगा कि कोई है या नहीं है। मैं परोक्षवादी नहीं हूं या झूठ नहीं कहता हूं, न शाप देता हूं, किन्तु जैसा देखता हूं तैसा ही कहता हूं। मिथ्या अभिमान का फल बुरा होता है, सर्वात्मभाव का फल उत्तम शान्ति होता है, तो ज्ञानियों को प्रत्यक्ष है, अथवा पूर्व वर्णित बातों को सुन कर, हर्षयुक्त शिवजी ने अपना भेद ऐसा कहा कि, मेरे पास वा स्वरूप में दूसरा कोई नहीं है। चार दिन धीरज धरो तो देखा जायगा। तब साहब ने कहा कि, आप समर्थ हो जैसा चाहो वैसा करो। मैं तो जैसा देखता हूं, तैसा कहता हूं इत्यादि ॥ १ ॥

प्रथम वसन्त से बाह्य आसक्ति आदि को त्यागने के लिये उपदेश देकर, अब अन्तर्गत शत्रुओं को जीतने के लिये उनके स्वरूप व्यापारादि का वर्णन पूर्वक उपदेश देते हैं कि—

वसन्त ॥ २ ॥

घर हिं में बाबू बढलि रारि । उठि उठि लागै चपलि नारि ॥
एक बड़ि जाके पांच हाथ । पांचहुं केर पचीस साथ ॥
पचीस बतावै और और । और बतावै कैउ ठौर ॥

भो हंस ! प्रिय ! भेदात् स्वे विग्रहो विद्यते महान् ।
अनिशं वर्द्धते चायं गृह एव कलेवरे ॥ ३३ ॥
उत्थायोत्थाय युद्ध्यन्ति मायाऽविद्याकुबुद्धयः ।
परस्परं च संलग्ना दृश्यन्तेऽत्यन्तदुर्मदाः ॥ ३४ ॥
चञ्चलास्ताः स्त्रियो नित्यं कलहायन्ते परस्परम् ।
लगन्तीव विमोहेन दृश्यन्ते त्वयि दुर्भगाः ॥ ३५ ॥
मायैका विद्यते ज्येष्ठा तस्या हस्तसमानि वै ।
पञ्चभूतान्यविद्याद्याः सर्वकार्यप्रसाधने ॥ ३६ ॥
तैश्च सार्द्धं सहाया वै भूतप्रकृतयः खलु ।
पञ्चविंशतिसंख्याकाः सन्ति तृष्णादयस्तथा ॥ ३७ ॥
अन्यमन्यं हितं सौख्यं दर्शयन्ति जनान् हि ताः ।
दुर्मनीषादयश्चान्ये स्थानानि कतिधा खलु ॥ ३८ ॥

हे प्यारे हंस ! भेदभाव से अपने देह रूप घर में ही महान् विग्रह (कलह) है, और यह अनिश (सतत) बढ़ता है ॥३३॥ माया अविद्या कुबुद्धि उठ २ कर युद्ध करती हैं, और अत्यन्त दुष्ट मद (अहंकार) वाली ये सब परस्पर मिली हुई दीखती हैं ॥३४॥ चञ्चल दुर्भगा वे स्त्रियाँ परस्पर कलह करती हैं, और विमोह से तुम में लगती हुई के समान दीखती हैं ॥३५॥ एक माया ज्येष्ठा (सब से बड़ी) है, और सब कार्य को सिद्ध करने में उसके हाथों के तुल्य आकाशादि पांच भूत हैं, और अविद्या, अस्मितादि पांच क्लेश हैं ॥३६॥ और उनके साथ में सहाय (अनुचर) पचीस भूतों की आध्यात्मिक प्रकृतियाँ हैं, तथा तृष्णादिक हैं ॥३७॥ वे

अन्तर मध्ये अन्त लेत। झकझोरि झेला जीवहि देत॥
आपन आपन चाहै भोग। कहु कस कुशल परी हैं योग॥

दर्शयन्ति सदा जीवान् कल्पितान्येव सर्वथा।
न सत्यमेकमात्मानं सनातनमविक्रियम्॥ ३९॥
इत्थं यास्ताः स्त्रियो नित्यमन्तस्तिष्ठन्ति सर्वदा।
तासां मध्ये तु यस्तिष्ठेत्तस्यान्तं ताः प्रकुर्वते॥ ४०॥
स्वान्तमध्ये तु ताः स्थित्वा संपश्यन्त्यन्तरं सदा।
संप्राप्य चान्तरं तूर्णं द्वन्द्वान्येताः प्रकुर्वते॥ ४१॥
द्वन्द्वानि प्रविधायैवं कृत्वैनात्यन्तचञ्चलम्।
कष्टं शोकं ददत्यस्मै मोहं द्वैविध्यव्यग्रताम्॥ ४२॥
स्वं स्वं भोगं च वाञ्छन्ति नात्मनो वै गतिं शुभाम्।
विवेकादि विना चात्र क्षेमयोगः कथं वद॥ ४३॥

सब जनों के प्रति अन्य २ हित सुख बताते हैं, और अन्य दुर्मनीषा (दुर्बुद्धि) आदि भी अनेक प्रकार के स्थान बताते हैं॥३८॥ वे सब सदा जीवों को सर्वथा कल्पित (मिथ्या) ही बताते दिखाते हैं, सनातन (नित्य) अविकारी सत्य एक आत्मा को नहीं दिखाते हैं॥३९॥

इस पूर्व कही रीति से जो वे स्त्रियाँ नित्य (अनवरत) भीतर स्थिर रहती हैं, उनके मध्य (बीच) में जो सदा रहता है, तिसका वे अन्त (नाश) करती हैं॥४०॥ और वे स्त्रियाँ मन में स्थिर रह कर सदा अन्तर (छिद्र–अवकाश) देखती रहती हैं, और ये अन्तर पाकर शीघ्र द्वन्द्व करती हैं॥४१॥ इस प्रकार द्वन्द्व को सिद्ध करके अत्यन्त चञ्चल करके ही, इस जीव को कष्ट शोक मोह देती हैं, द्वैविध्य संशय) से व्यग्रता (व्याकुलता) देती हैं॥४२॥ अपना २ भोग चाहती हैं, जीवात्मा की शुभ गति नहीं चाहती हैं। विवेकादि के बिना यहाँ क्षेम (कल्याण) का योग (संबंध–प्राप्ति)

विचार विवेक न करै कोय। (सब) खलक तमाशा देखै लोय॥
मुख फारि हंसे राव रंक। (ताते) धरे न पावै एको अंक॥

अहो केऽपि विवेकं च विचारं न प्रकुर्वते।
किन्तु सर्वे प्रपश्यन्ति जगतः कौतुकं महत्॥ ४४॥
नारीणां कलहादेश्च विलोक्य कुतुकं जनाः।
सुखं मत्वाऽत्र तिष्ठन्ति यतन्ते नैव मुक्तये॥ ४५॥
दृष्ट्वापि कलहं द्वन्द्वं सुखं मत्वा नरा इमे।
मुखं व्यादाय सर्वेऽपि हसन्ति नृपदुर्गताः॥ ४६॥
तस्मान्नैकं हृदिस्थं सद्धर्तुं शक्ता भवन्ति ते।
वञ्चिताश्चैव धावन्ति संसारेषु कुवर्त्मसु॥ ४७॥
एकामपि स्त्रियं यद्वा किञ्चिदेकं सुलक्षणम्।
वशीकर्तुं न चार्हन्ति नैकं देवं कथञ्चन॥ ४८॥
मार्गयन्ति समीपे नो दूरे संदर्शयन्ति च।
स्वामिनं च सुखं तथ्यं वागुरा यत्र वर्तते॥ ४९॥

कैसे हो, सो कहो ॥४३॥ आश्चर्य है कि कोई भी विवेक और विचार नहीं करता है, किन्तु सब लोक जगत के महान् कौतुक को देखते हैं ॥४४॥ स्त्रियों के कलहादि का कुतुक (कौतुहल) को देखकर और सुख मान कर मनुष्य यहाँ स्थिर होते हैं, और मुक्ति के लिये यतन नहीं करते ॥४५॥

राजा दरिद्रादि रूप सब ये मनुष्य कलह द्वन्द्व को देख कर भी सुख मान कर मुख फार कर हँसते हैं ॥ ४६ ॥ तिसी से वे सब एक हृदयस्थ सत को धरने के लिये समर्थ नहीं होते हैं, और वञ्चित हो कर संसारों में, कुमार्गों में धावते हैं ॥ ४७ ॥ अथवा एक भी स्त्री को, एक किसी सुलक्षण को भी वश में करने के लिये योग्य नहीं होते हैं, न किसी प्रकार एक देव को वशी करते हैं ॥ ४० ॥ समीप (हृदय) में तथ्य (सत्य) स्वामी सुख को नहीं खोजते हैं, और दूर में देखाते (बताते)

नियर न खोज बतावै दूरि । चहुं दिशि बागुर रहल पूरि ॥
लक्ष अहेरी एक जीव । ताते पुकारै पीव पीव ॥

मनोमृगस्य बन्धाय जीवस्यापि च सर्वतः ।
चतुर्षु दिक्षु पूर्णा सा मोहमारादिलक्षणाः ॥ ५० ॥
स्त्रीवित्तादिस्वरूपा वा वागुरा सातिविस्तृता ।
जीवमृगस्य बन्धाय कुशलः कोऽपि मुच्यते ॥ ५१ ॥
मनसो वृत्तयो दुष्टाः कामाद्याश्चेन्द्रियादयः ।
लक्षमाखेटकारा वै जीवश्चैको मृगोऽबलः ॥ ५२ ॥
तस्मात्स्वस्य सहायार्थमाह्वयेच्चेत्प्रभो ! प्रभो ! ।
तावता नास्य मोक्षो वै विद्यते कामशत्रुतः ॥ ५३ ॥
तस्मात्स्वस्य विचारादि कर्तव्यं वै मुमुक्षुभिः ।
अभ्यासादिपरो भूत्वा ज्ञानं प्राप्य सुदुर्लभम् ॥ ५४ ॥

हैं कि, जहाँ बागुरा (मृगबन्धन का हेतु जाल) है ॥ ४९ ॥ मोह कामादि रूप वह वागुरा मन रूप मृग का और जीव का भी बन्धन के लिये चारों दिशाओं में सर्वत्र पूर्ण है ॥ ५० ॥ जीवरूप मृग का बन्धन के लिये स्त्री वित्त (धन) आदि रूप जो बागुरा है, सो भी अतिविस्तृत है, उससे कोई कुशल (चतुर) ही मुक्त होता है ॥ ५१ ॥

मन की दुष्ट वृत्तियाँ कामादि और इन्द्रियादि लाखो आखेटकार (शिकारी) हैं, और अबल (अल्प बल वाला) एक जीव मृग है ॥५२॥ तिससे यदि यह जीव अपनी सहायता (अनुचरता) आदि के लिये यदि हे प्रभो २ पुकारे भी, तो तावता (उतने मात्र से) इसको कामादि शत्रु से मोक्ष नहीं है ॥५३॥ तिससे आत्मा के विचारादि मुमुक्षु को करना चाहिये । और अभ्यासादि परायण होकर, विरक्त शम में निष्ठावाला, अत्यन्त दुर्लभ ज्ञान पाकर, सब वासना को त्यागे । यो धीर इस मानव जन्म में

अन्न कि ग्रार जो करै चुकाव। कहहिं कबिर ताकि पूरि दाव ॥२॥

विरक्तः शमनिष्ठश्च वासनामखिलां त्यजेत्।
अत्र जन्मनि यो धीरः कर्मबन्धं विलापयेत् ॥ ५५ ॥
निःशेषं नाशयेन्मोहमविद्याकामपञ्जरम्।
तस्यैवात्र जयं पूर्णं कबीरो भाषते गुरुः ॥ ५६ ॥
उपरत्या तथा भक्त्या विरक्त्याऽहरहस्तथा।
परां पुष्णाति संशान्तिं मुक्तिस्त्वनुभवेन हि ॥ ५७ ॥
सर्वभूतेषु संपश्यन् ब्रह्मत्वं वै निजात्मनः।
भूतान्यात्मनि चापश्यन् विरक्तः पुरुषोत्तमः ॥ ५८ ॥
चतुर्थीं भूमिकां प्राप्य जीवन्मुक्तो भवत्यलम्।
अवस्थायाः समुत्कर्षादानन्दो व्यज्यते किल ॥५९॥ २ ॥

निःशेष (सब) कर्म रूप बन्धन को विलीन (नष्ट) करे, अविद्या काम रूप पञ्जर (पिञ्जर) बन्धनागार को और मोह को नष्ट करे, यहाँ उसीका पूर्ण विजय कबीर गुरु कहते हैं ॥ ५४–५६ ॥ संसार से उपरति (उपरामता), तथा सद्गुरु आदि में भक्ति, और अहरहः (प्रतिदिन) की विरक्ति से मनुष्य उत्तम शान्ति को पुष्ट करता है, परन्तु मुक्ति अनुभव से ही होती है ॥५७॥ विरक्त पुरुषोत्तम सब प्राणी में अपनी आत्मा की ही ब्रह्मरूपता को देखता हुआ, और आत्मा में प्राणियों को नहीं देखता हुवा, ज्ञान की चतुर्थी भूमिका को पाकर पूर्ण जीवन्मुक्त होता है। फिर अवस्था का समुत्कर्ष (वृद्धि) से आनन्द अभिव्यक्त होता है, मोक्ष में भेद नहीं होता ॥५८–५९॥२॥

अक्षरार्थ–हे बाबू ! (प्यारे जीव !) घर (देह) में ही रारि (झगड़ा–युद्ध) बढलि (बढा) है। चपलि (चञ्चल) माया आदि रूप नारी उठ २ कर झगड़ा में लागै (लगती) हैं। एक प्रकृति रूप माया बड़ी है, जिसके आकाशादि पांच तत्त्व या अविद्या आदि पांचों हाथ के तुल्य या वश में हैं।

और उन पांचों के पचीस प्रकृति (आध्यात्मिक स्वभाव) साथी हैं। पचीसों स्वभाव और २ (अन्य २) को हित सुखद बताते हैं, उनसे और (अन्य) दुर्बुद्धि आदि अन्य केउ (कितने) ठौर (स्थानों) को बताती (कल्पना करती) हैं।

अन्तर (भीतर) रहनेवाली स्त्रियों के मध्ये (मध्य में) रहनेवालों के वे स्त्रियाँ अन्त (भेद) लेती रहती हैं, या अन्त (नाश) लेती (करती) हैं। और झकझोरि (चञ्चल–खैंचतान) करके, जीवों को झेला (संसार झूलना–कष्ट) देती हैं। सब अपना २ भोग चाहती हैं, तो कहु (कहो) कि इस अवस्था में कस (कैसे) कुशल (मंगल) का योग (संयोग) परी हैं, (प्राप्त होगें)। कुशल के लिये कोई विचार विवेक नहीं करता है, किन्तु खलक (संसार) के तमासा को सब लोक देखते हैं।

राव (राजा–धनी) रंक (दरिद्र) सब तमासा देख कर, मुख फार कर हँसते हैं, इससे एके अंक (ज्ञान के चिन्ह वा स्थानादि) को नहीं धरने पाते हैं, वा एक को भी अंक (गोद क्रोड) में नहीं पकड़ने पाते हैं। और नियरे (पास) में तत्त्व मोक्ष को नहीं खोजते हैं किन्तु दूर देश में बताते हैं, जहाँ चारों दिशा में कामादि रूप वागुरा (जाल) पूर्ण (व्याप्त) हो रहा है।

लक्ष (लाखों) कामतृष्णाशादि, अहेरी (शिकारी) हैं, और उनसे पीड़ित एक ज़ीव है, तिससे भयभीत होकर पीव २ (ईश्वर २) पुकारता है। परन्तु विचारादि विना उनसे मुक्त नहीं होता। जो जीव अबकि बार (इस देह में) कामादि का चुकाव (समाप्ति–नाश) करे, ज्ञानाग्नि से कर्म–कामादि को जलावे, उसीकी पूर्ण दाव (बाजी–विजय) है। वह सर्वथा मुक्त है ॥ २ ॥

बाहर और भीतर के प्रपञ्च तथा शत्रुओं से बँचने के लिये उपदेश देकर, अब आत्मविचार सर्वात्मा राम की भक्ति का उपदेश देते हुए, विराग के लिये संसार की असारता को भी दर्शाते हैं कि—

वसन्त ॥ ३ ॥

राम नाम भजु लागु तीर । ऐसो दुर्लभ जात शरीर ॥
गयउ वेणु बलि गयउ कंस । गौ दुर्योधन बुडेउ वंश ॥
पृथु गये पृथिवी के राव । गये त्रिविक्रम रहा न काव ॥
छौ चक्कवै मण्डलि के झार । अजहूं हो नल देखु विचार ॥

भजतां रामनामानं संसाराब्धेः परं तटम् ।
क्षिप्रमाश्रयतामीदृग् देहो याति सुदुर्लभः ॥ ६० ॥
गृहनारीप्रपञ्चे वा बाह्यवित्तादिसंहतौ ।
क्वापि नैव मनो देयं सर्वं त्यक्त्वैव यास्यसि ॥ ६१ ॥
गतो वेणुर्बलिः कंसो वंशो दुर्योधनस्य च ।
पृथिव्या ईश्वरः सर्वं त्यक्त्वैव चागमत्पृथुः ॥ ६२ ॥
गतस्त्रिविक्रमो देवो न चिरं कोऽप्यविद्यत ।
सुरा वा ह्यसुरा मर्त्या राजानो दुर्गतास्तथा ॥ ६३ ॥
सार्वभौमा गताः षट् ते सर्वे वै मण्डलेश्वराः ।
अद्याऽप्येतद्विचारेण द्रुतं पश्यन्तु मानवाः ॥ ६४ ॥

रामनामवाला को भजो, और संसार-समुद्र के पर (उत्तम) तट का शीघ्र आश्रयण करो। ऐसा अत्यन्त दुर्लभ देह जा रहा है ॥६०॥ देह रूप गृह की नारियों के प्रपञ्च का (विपर्यय-भ्रम) में वा बाहर के धनादि के समूह में कहीं भी मन नहीं देना (लगाना), क्योंकि सबको त्याग कर के ही जाओगे ॥६१॥ वेणु, बलि, कंस, दुर्योधन और दुर्योधन के वंश गया, और भूमि के ईश्वर (स्वामी) पृथु भी सबको त्याग कर ही गये ॥६२॥ त्रिविक्रम (वामन-विष्णु) देव गये, कोई भी चिर काल तक नहीं रहा । देव वा असुर, तथा मनुष्य राजा दरिद्र कोई नहीं रहे ॥६३॥ वे वेणु आदि छः सार्वभौम (चक्रवर्ती) गये, तथा सब मंडलेश्वर (प्रान्तेश्वर) गये । आज भी विचार कर मनुष्य यह शीघ्र समझें ॥६४॥

हनुमत कश्यप जनक बालि। ई सब छेंकल यम के द्वारि॥
गोपीचन्द भल कीन्ह योग। (जस) रावण मारे करत भोग॥
एसो जात सबन को जान। कहहिं कबिर भजु राम नाम ॥३॥

हनूमान् कश्यपश्चैव जनको बालिरेव च।
यमद्वारस्य चैतेऽपि ह्यागन्तुत्वं समाप्नुवन् ॥ ६५ ॥
यमद्वारेऽगमंश्चैते निरुद्धा मृत्युनाऽभवन्।
तदाऽन्येषां कथा काऽस्ति देहिनां मृत्युसंभवे ॥ ६६ ॥
यदा रामस्य भक्त्यैते ज्ञानं प्राप्य सुदुर्लभम्।
यमद्वाराण्यरुन्धन् वै लेभिरे राममुत्तमाः ॥ ६७ ॥
गोपीचन्द्रश्चकारैवं योगं परमपावनम्।
यमद्वार्यगमत् सो वा यमद्वारं ह्यरुन्धत ॥ ६८ ॥
भोगासक्तं विमूढं तं रावणं न्यवधीत् प्रभुः।
रामचन्द्रस्तथवान्यान् गच्छतो विद्धि वै जनान् ॥ ६९ ॥
सर्वानेवं विदित्वा च भोगासक्त्यादिकं त्यज।
भजस्व रामनामानं कबीरो भाषते गुरुः ॥ ७० ॥ ३ ॥

इति वसन्तवल्लरौ जीवसंसृति प्रकार वर्णनं नाम प्रथमं पुष्पम् ॥१॥

हनूमान, कश्यप, जनक और बालि; ये सब भी यम का द्वार के आगन्तुत्व (अतिथित्व) को सम्यक् प्राप्त हुए ॥६५॥ ये लोक भी यमद्वार में गये, और मृत्यु से निरुद्ध (आवृत) हुए तो अन्य देही की मृत्यु होने में कथा ही क्या है ॥६६॥ अथवा इन उत्तमों ने राम की भक्ति से सुदुर्लभ ज्ञान को पाकर, यम के द्वारों को रोक दिया, और राम को प्राप्त किये ॥६७॥ इसी प्रकार, गोपीचन्द ने परम पावन योग किया, और वह भी यमद्वार में गया, वा यमद्वार को ढांपा (रोका) ॥६८॥ भोग में आसक्त उस रावण को जैसे प्रभु (ईश्वर) रामचन्द्र ने वधा (मारा) तैसे ही भोगासक्त अन्य जनों को भी जाते (मरते) समझो

॥६९॥ और सबको ऐसा जान कर भोग में आसक्ति आदि को त्यागो, रामनामा को भजो, यह कबीर गुरु कहते हैं ॥७०॥३॥

अक्षरार्थ—रामनामवाला को भजो, और संसाराब्धि के तीर (किनारे) लगो। यह ऐसा (सुन्दर) दुर्लभ देह जा रहा है। वेणु आदि गये, कोई रहने नहीं पाये। दुर्योधन गया, उसका वंश भी बूडा (नष्ट हुआ)। पृथिवी के राव (राजा) पृथु भी गये, त्रिविक्रम (तीनों लोक में पाद–विस्तारक) विष्णु गये, कोई नहीं रहा। झारि (सब) मण्डलि (देश) के छः चक्रवर्ती राजा गये। हे मनुष्यों। सो अब भी विचार कर देखो।

हनुमानादि भी यमद्वार को छेंकिन (मृत्यु के द्वार पर गये, या भजन से यमद्वार–मार्ग को रोका)। गोपीचन्द ने भी भला योग किया कि जिससे यमद्वार को रोका। और जैसे भोग करते में रावण मारा गया, ऐसे ही अन्य सबको जाते (मरते) जान कर, रामनाम को भजो। या रावण के समान सब के जान (प्राण–ज्ञान) जाता है; इससे आवागमन रहित रामनाम को भजो, इत्यादि ॥ ३ ॥

गर्वमोहमहत्त्ववर्णन प्र० २

द्वितीय वसन्त में वर्णित अन्तर्गत शत्रुओं में से अहंकार की प्रबलता का वर्णन पूर्वक, अहंकार रहित राम भजन को मुक्ति का हेतु बताते हैं कि—

वसन्त ॥ ४ ॥

सबहि मद मांते कोइ न जाग। संगहिं चोर घर मूसन लाग ॥

अहो सर्वेऽत्र गर्वेण मत्ताः सुप्ताश्च जन्तवः।
रामभक्त्या विवेकाद्यैः कोऽपि जागर्ति नो कुधीः ॥ १ ॥

आश्चर्य है कि सब प्राणी यहाँ गर्व से उन्मत्त और सोये हैं, कोई भी कुबुद्धि राम की भक्ति और विवेकादि से जागता नहीं है ॥ १ ॥ और

पण्डित मांते पढ़ि पुराण। योगी माते योग ध्यान॥
तपसी मांते तपके भेव। संन्यासी मांते करि हमेव॥

यावज्जाग्रति नैते हि कामाद्यास्तावदत्र तु।
गृहे मुष्णन्ति सर्वस्वं स्तेनाः सर्वे सहासनाः॥ २॥
पुराणानि पठित्वैव मत्तो भवति पण्डितः[१]।
वेदा यत्राऽपरास्तत्र पुराणं किं न वेत्ति सः॥ ३॥
योगी योगस्य युक्त्या च ध्यानाद्यैश्च प्रमाद्यति।
सिद्ध्यो योगविघ्नास्तान् न तथा वेद कर्हिचित्॥ ४॥
तपस्वी तपसा भेदज्ञानेनैव प्रगर्वितः।
सकामतपसस्तुच्छं फलं नैव च वेत्ति सः॥ ५॥
वर्णाश्रमाभिमानेन ह्यहंयुश्चाविवेकवान्।
संन्यास्यप्यभवन्मत्तो[२] वेषं बन्धं न वेत्ति सः॥ ६॥

जब तक ये प्राणी नहीं जागते हैं, तब तक यहाँ घर में साथ में रहनेवाले कामादि रूप सब चोर सर्वस्व चोराते हैं॥ २॥ पण्डित पुराणों को पढ कर के ही उन्मत्त होता है, और वह यह नहीं समझता कि जिस परा (आत्मविद्या) में वेद भी अपरा हैं, वहाँ पुराण क्या हैं॥ ३॥ और योगी हठयोग की युक्ति से तथा धारणा–ध्यानादि रूप संयमों से सिद्धि पाकर प्रमाद करता है, और सिद्धियां योग के विघ्न हैं, तिनको तैसा कभी नहीं जानता है॥ ४॥

जो तपस्वी तप का भेद (विशेष प्रकार) के ज्ञान से ही प्रगर्वित (अति गर्वयुक्त) है, सो सकाम तप का फल को तुच्छ नहीं जानता है॥ ५॥ वर्णाश्रम के अभिमान से अहंयुः (अहंकार वाला) अविवेकी वेषाभिमानी

१ अत्र पण्डितशब्देन पाण्डित्याभिमान्वानेव गृह्यते। न तु पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठसेदिति श्रुति प्रोक्त आत्मज्ञानी, तत्राभिमानासम्भवात्। योगिशब्देन चानात्मज्ञ उच्यते न तु ज्ञानयोगयुक्तः स्थितप्रज्ञः। उक्तहेतोरेव।

२ अत्र तामसराजसत्यागवान् गृह्यते, न तु गुणातीत इति॥

मोलना मांते पढ़ि मोसाफ । काजी मांते देइ निसाफ ॥
संसारी माँते मायक धार । राजा मांते करि हंकार ॥
मांते शुक उद्धव अक्रूर । हनुमत मांते धरि लंगूर ॥

मौलवीति प्रसिद्धो यस्तुरुष्कः सोऽप्यधीत्य च ।
मुलाफं स्वकुराणादि मत्तो मृत्यु न पश्यति ॥ ७ ॥
काजीति च प्रसिद्धो यो न्यायं स्वस्य प्रदर्श्य सः ।
मत्तः पण्डितमानी सन् नात्मतत्त्वं प्रपश्यति ॥ ८ ॥
सर्वे संसारिणोऽप्यन्ये वधूपुत्रादिलक्षणे ।
मायानद्याः प्रवाहेऽत्र खरे मत्ता भयावहे ॥ ९ ॥
अहंकारेण राजानः सर्वे मत्ताः प्रमेनिरे ।
वयमेव वरा नान्ये नात्मानं धर्ममेव वा ॥ १० ॥
असंसारी शुकश्चैवं ज्ञानमत्तो बभूव ह ।
उद्धवोऽक्रूरभक्तश्च ज्ञानभक्तिरसैः सदा ॥ ११ ॥
हनूमान् पुच्छसामर्थ्यात्तं धृत्वा प्रामदद्बलात् ।
असुराञ्छातयँल्लङ्कां रामभक्तिं चकार ह ॥ १२ ॥

संन्यासी उन्मत्त हुवा, वह वेषाभिमान को बन्धन नहीं जानता है ॥ ६ ॥ मौलवी इस नाम से प्रसिद्ध जो तुरुक, सो भी अपने कुराणादि रूप मुसाफ (मुसहफ-संग्रह) को पढकर उन्मत्त है, सो मृत्यु को नहीं देखता है ॥ ७ ॥ काजी इस नाम से जो प्रसिद्ध है, सो अपना न्याय (नीति) को बताकर, पण्डितमानी होकर, उन्मत्त हुआ, आत्मस्वरूप को नहीं देखता ॥८॥

सब अन्य संसारी भी, भयावह, खर (तीक्ष्ण) स्त्रीपुत्रादि रूप माया-नदी के प्रवाह (धारा) में यहाँ उन्मत्त हैं ॥ ९ ॥ अहंकार से उन्मत्त सब राजा समझे हैं कि हम ही श्रेष्ठ हैं, अन्य नहीं, और आत्मा वा धर्म को भी नहीं समझे हैं ॥१०॥ संसार-बन्धन रहित शुकदेव इसी प्रकार ज्ञान से मतवाला हुए, और उद्धव तथा अक्रूर भक्त, ज्ञान भक्ति के रसों (रागों) से सदा मत्त हुए ॥११॥ हनूमान् पुच्छ के सामर्थ्य से मत्त

शिव मांते हरिचरण सेव । कलि मांते नामा जयदेव ॥

हरेर्हि पादसेवायां शिवो मत्तो बभूव ह ।
नामदेवो कलौ मत्तो जयदेवोऽप्यभूत्तथा ॥ १३ ॥
मदमत्तो हि संसारी ज्ञानमत्तो विमुक्तधीः ।
भक्तियोगप्रमत्तस्तु सदानन्दं समश्नुते ॥ १४ ॥
वद्वाऽभ्युपगमेनाऽत्र परं वादेन कथ्यते ।
शुकदेवादिमत्तत्वं मायिके वस्तु विग्रहे ॥ १५ ॥
" स चोवाच प्रियारूपं लब्धवन्तं शुकं हरिः ।
त्वं मे प्रियतमा भद्रे ! सदा तिष्ठ ममान्तिकम् ." ॥ १६॥
इत्यादिषु पुराणेषु शुकादिनां हरेः किल ।
स्त्रीत्वं संवर्णयन्त्येव कत्यन्ये मतवादिनः ॥ १७ ॥
अनयैव दिशा ज्ञेयं हनुमत्कश्यपादिषु ।
यमद्वारेषु बद्धत्वं गोपीचन्द्रे तथैव च ॥ १८ ॥

हुए, तथा उस पुच्छ को धारण करके अन्य बल से प्रमत्त हुए, असुरों को नष्ट करते हुए लोक में रामभक्ति किये ॥१२॥

सगुण हरि की पादसेवा में शिव मत्त हुए । कलियुग में नामदेव, जयदेव भी तैसे ही मत्त हुए ॥१३॥ मद (अहंकार) से संसारी मतवाला होता है, विमुक्त बुद्धिवाला ज्ञान से मतवाला होता है, भक्तियोग से प्रमत्त हुआ तो सदा आनन्द पाता है ॥१४॥ अथवा यहाँ परं (केवल) अभ्युपगम वाद से मायिक वस्तु देह में शुकदेवादि की मत्तता कही जाती है ॥१५॥ प्यारी स्त्री रूप को प्राप्त शुकदेवजी के प्रति वह हरि बोले कि, हे भद्रे ! तुम मेरी अति प्यारी हो, सदा मेरे पास रहो ॥१६॥ अन्य मतवादी इत्यादि पुराण–वचनों में शुकादि को हरि के स्त्रीत्व का ही वर्णन करते हैं ॥१७॥ इसी दिग्दर्शन द्वारा हनुमदादि में यमद्वारों में बद्धता अभ्युपगम वाद से जानने योग्य है, तैसी ही बात गोपीचन्द में है ॥१८॥

सत्य सत्य कहे स्मृति वेद । (जस) रावण मारे घर के भेद ॥
चञ्चल मन के अधम काम । कहहिं कबिर भजु राम नाम ॥४॥

आत्मनोऽन्यत्र ये भक्तास्ते यमसद्मनि ।
बध्यन्तेनात्र संदेहः स्वसिद्धान्तस्तथा नहि ॥ १९ ॥

वेदा वा स्मृतयश्चैव सत्यमेव वदन्ति तत् ।
रावणो गृहभेदेन यथा नष्टस्तथा जनाः ॥ २० ॥

देहगेहस्य भेदेन मनोऽनैकाग्र्यतस्तथा ।
नश्यन्ति मोहकामाद्यैः कार्याऽकार्योऽविवेकतः ॥ २१ ॥

मनसश्चञ्चलस्यास्य कार्यं गर्ह्यं हि विद्यते ।
तच्छान्त्यै भज रामं त्वं सद्गुरुराह सज्जनम् ॥ २२ ॥

सर्वात्मानं परं रामं भजन् योगी ह्यनन्यधीः ।
अहंकारादि संशून्यो जीवन्मुक्तो हि जायते ॥ २३ ॥

क्योंकि आत्मा से अन्यत्र जो आसक्त हैं, सो सब यमघर में बांधे जाते हैं, परन्तु साहब का अपना सिद्धान्त तैसा नहीं है, कि शुकादि वस्तुतः मांते हैं, वा हनुमनादि बद्ध हैं; क्योंकि साहब आत्मज्ञानी को मुक्त मानते हैं ॥१९॥

वेद वा स्मृतियाँ वह सत्य ही वचन कहते हैं कि जैसे रावण घर के भेद (विभीषण के विरोधादि से) नष्ट हुआ, तैसे ही सब जन, देह रूप घर के भेद से तथा मन की एकाग्रता के अभाव से, मोह कामादि से और कार्य-अकार्य के अविवेक से नष्ट होते हैं ॥२०-२१॥ चञ्चल इस मन का कार्य गर्ह्य (कुत्सित-अधम) ही है, इससे उस चञ्चलता की शान्ति (निवृत्ति) के लिये तुम राम को भजो, यह बात सद्गुरु सज्जन को कहते हैं ॥२२॥ सब के आत्मा केवल राम को भजता हुआ अनन्य बुद्धिवाला योगी अहंकारादि से रहित होकर जीवन्मुक्त होता है ॥२३॥

आत्मानन्दे स्थितो योगी ह्यर्थाननुभवन्नपि ।
न हृष्यति न च द्वेष्टि मायात्वं प्रविचारयन् ॥ २४ ॥
यस्य स्वः पर इत्येवं भेदो न हृदि वर्तते ।
देहादौ सति शान्तात्मा स्मृतः स पुरुषोत्तमः ॥ २५ ॥
सर्वस्मै विभवायापि यो नात्मानं क्षणं त्यजेत् ।
सर्वभूतसमः शान्तः सर्वमुख्यः स अग्रणीः ॥ २६ ॥ ४ ॥

आत्मानन्द में स्थिर योगी शुभाशुभ अर्थों का अनुभव करता हुआ भी, उनमें मायारूपता का विचारादि करता हुआ हर्ष द्वेष से रहित रहता है ॥२४॥ जिसको देहादि के रहते भी यह मेरा है, यह पर (अन्य) का है, इस प्रकार का भेद हृदय में नहीं है, वह शान्तात्मा पुरुषोत्तम कहा गया हैं ॥२५॥ जो सब विभव (द्रव्य–धन) के लिये भी आत्मा को क्षण भर भी नहीं त्यागता है, किन्तु आत्मनिष्ठ रहता है, सब प्राणी में समतावाला वही शान्तात्मा सब से प्रधान अग्र नेता है ॥२६॥४॥

अक्षरार्थ–जब तक सर्वात्मा राम के ज्ञान, भक्ति निष्ठ नहीं हुए, तब तक सब मद (गर्व) से मांते, भक्ति–ज्ञान निष्ठा विना कोई भी जाग (मोह गर्व को त्याग) नहीं सके। इससे संग में ही रहनेवाले कामादि चोर घर (देह) के सुख, विचारादि को मूसने (चोराने) लगे हैं। बुद्धिमत्ता के अभिमानी पण्डित पुराण पढ़कर मांते हैं, योगी योग ध्यान में मस्त हैं, इत्यादि।

तपस्वी तप के भेद के ज्ञान से मांते हैं, और संन्यासी हमेव (अह-मेव) मैं ही मोक्षाधिकारी हूं, इत्यादि अहंकार से मांते हैं। मोलना (मोलवी) मोसाफ (कुराण) पढ कर मांते हैं, काजी (पण्डित) निसाफ (फैसला–न्याय–व्यवस्था) दे कर मांते हैं।

साधारण संसारी माया के धार में माते। राजा राज्य के अहंकार करके मांतते हैं। असंसारी शुकादि ज्ञान भक्ति आदि से मांते। यह अभ्युपगम वाद से वर्णन है, सो भी मद की प्रबलता प्रदर्शनार्थक है।

शिवजी हरि के चरणों को सेव कर मस्त रहे। कलियुग में नामदेव भक्त, और जयदेव कवि हरिचरण सेव कर मस्त हुए।

स्मृति और वेद यह बात सत्य ही कहते हैं, कि जैसे रावण घर के भेद (फूट–विरोध) से मारा गया। तैसे सब प्राणी अपने २ घर के भेद (चञ्चलता अज्ञान) से मारे जाते हैं; क्योंकि चञ्चल मन के अधम (निकृष्ट) काम होते हैं। उस चञ्चलता की निवृत्ति के लिये रामनाम भजो, यह सद्गुरु का उपदेश है ॥ ४ ॥

घर के शत्रु और चञ्चल मन से पराजित गुरु, विचारादि से विमुख अविवेकियों की दशा का वर्णन करते हुए उपदेश देते हैं कि—

वसन्त ५।

हमरा कहल के नहिं पतियार। आपु बुड़े नल सलिल धार ॥
अन्ध कहे अन्धे पतियाय। जस वेश्या के लगन जाय ॥

मनसा गेहशत्र्वाद्यैः पुमांसो ये पराजिताः।
अस्माकं भाषिते तेषां विश्वासो नैव जायते ॥ २७ ॥
गुरूणां वचनेऽप्रीत्या ते स्वकीयापराधतः।
निमज्जन्ति स्वयं मूढा मोहादिसलिलार्णवे ॥ २८ ॥
मोहान्धलपितेष्वेव ते विश्वासं च कुर्वते।
तेन वेश्येव जायन्ते संलग्ना वै कुवर्त्मसु ॥ २९ ॥

जो पुरुष मन से और देह घर के शत्रु (कामादि) आदि से पराजित (हारे) हैं, उनको हमारे (सद्गुरु के) भाषित (वचन) में विश्वास नहीं होता है ॥२७॥ सद्गुरु के वचन में अप्रेम से वे मूढ स्वयं अपने अपराधों से मोहविषयादि रूप सलिल (जल) के समुद्र में डूबते हैं ॥२८॥ मोह से अन्धों के लपितों (वचनों) में ही वे विश्वास करते हैं, तिससे वेश्या के समान कुमार्गों में संलग्न (प्रवृत्त) होते हैं ॥२९॥ वेश्या का

सो तो कहिये ऐसो अबूझ । खसम ठाढ़ ढिग नाहिं सूझ ॥
आपन आपन चाहै मान । झूठ प्रपञ्च सांच कै मान ॥
झूठा कबहुं न करि हैं काज । मैं बरजौं तैं सुनु निलाज ॥
छाड़हु पाखण्ड मानहु बात । नहिं तो परि हौ यम के हाथ ॥

वेश्यालग्नस्य चिन्तेव तेषां संलग्नचिन्तनम् ।
जायतेऽसद्विवाहार्थं तटस्थैः पतिभिः सह ॥ ३० ॥
अहो तेऽतिविमूढाश्च कथ्यन्तेऽन्धसमा नराः ।
स्थितं स्वसविधे सत्यं पतिं पश्यन्ति नो यतः ॥ ३१ ॥
ज्ञानं विनैव मोहान्धः स्वमान्यत्वं प्रतीक्षते ।
मिथ्याभूतं प्रपञ्चं च मन्यते सत्यमेव सः ॥ ३२ ॥
मिथ्याभाषी गुरु नैव सत्कार्यं ते कदाचन ।
करिष्यति हि निर्लज्ज ! ततस्त्वां वारयाम्यहम् ॥ ३३ ॥
पाखण्डत्वं त्यज्य सद्यस्त्वं मन्यतां सद्गुरोर्वचः ।
अन्यथा यमहस्ते त्वं विवशः संगमिष्यसि ॥ ३४ ॥

लग्न की चिन्ता (विचार) के समान, उनका तटस्थ (देवादि) पतियों के साथ असत् विवाह के लिये सम्यक् लग्न का विचार होता है ॥३०॥ वे अत्यन्त विमूढ मनुष्य आश्चर्य स्वरूप अन्ध तुल्य कहे जाते हैं, जिससे अपने पास में स्थित सत्य पति को नहीं देखते हैं, अन्य से विवाह चाहते हैं ॥३१॥

मोहान्ध प्राणी ज्ञान के बिना ही अपनी २ मान्यता की प्रतीक्षा (इच्छा) करता है, और वह मिथ्या स्वरूप प्रपञ्च (विस्तार-वञ्चना) को ही सत्य मानता है ।। ३२ ।। मिथ्या बोलनेवाला गुरु तेरा सच्चा काम कभी नहीं करेगा, हे निर्लज्ज ! तिसीसे मैं तुम्हें उससे रोकता हूं ॥३३॥ पाखण्ड (धर्मानादर-वेषाभिमानादि) को तुम सद्यः (तत्काल) त्यागो, सद्गुरु के वचन को मानो । अन्यथा तुम परवश यम के हाथ में जावोगे

कहहिं कबिर नल कियो न खोज। भटकि मुये जस बनके रोझ ॥५॥

गुरुणां शरणे गत्वा यैस्तत्त्वं न विमार्गितम्।
गुरोश्चाऽन्वेषणं यैर्वा कृतं नैव समादरात् ॥ ३५ ॥
स्थितेः स्थानं ह्यलब्ध्वा ते कामकर्मवशानुगाः।
आरण्यमृगवद् भ्रान्त्वा मुहुर्नष्टाः कुबुद्धयः ॥ ३६ ॥ ५ ॥

॥३४॥ गुरु के शरण में जाकर, जिन्हों ने तत्त्व (आत्मा) को नहीं खोजा, या जिन्हों ने गुरु का खोज भी पूर्ण आदर से नहीं किया ॥ ३५ ॥ काम (इच्छा), कर्म के वश अनुगमन करनेवाले वे कुबुद्धि लोक जंगल में होनेवाले मृगों के समान स्थिति के स्थान को नहीं पाकर, बार २ भटक कर नष्ट हुए ॥ ३६ ॥

अक्षरार्थ–चञ्चल मन के वशबर्ती अहंकारी नल (नर), हमरा (सद्गुरु का) कहल का पतियार (प्रतीति–विश्वास) नहीं करता है। इससे आप ही मोहादि सलिल (उदक–नीर) की धारा में बूडता है। मोहान्ध अज्ञ के कहे (वचन) में मोहान्ध विश्वास करता है. इससे जैसे वेश्या की लगन धरी जाय, तैसे इसकी लगन धरी जाती है, अर्थात् असत् पति में आसक्त वेश्या की तरह यह स्वयं असत् में आसक्त है, फिर भी किसी असत के साथ संबन्ध के लिये लग्न शोची जाती है, सो अनुचित है। और सो तो (वह मोहान्ध तो) ऐसो (वेश्या अन्ध के तुल्य ही) अबूझ (अज्ञ) कहिये (कहाने योग्य) है, जिससे इसके ढिग (पास) में सदा ही सत्य खसम (स्वामी) ठाढ़ (वर्तमान) है, सो इसको सूझ (दीख) नहीं पड़ता है।

अविवेकी गुरु आदि अपना २ मान (प्रतिष्ठा) चाहते हैं, और झूठ प्रपञ्च (संसार) को ही सत्य करके मानते हैं। हे निर्लज्ज ! वह झूठा तेरा कार्य कभी नहीं करेगा, इससे मैं बरजता (रोकता) हूं कि, झूठों से बचो, तुम इस बात को सुनो, और समझो। और सद्गुरु की बात को मानो,

पाखण्ड (माया दम्भादि) को त्यागो, नहीं तो यम के हाथ (वश) में पड़ोगे ॥ जिन लोगों ने सद्गुरु के उपदेश को नहीं माना, न खोज (विचारादि) किया, वे लोक बन के रोझ (पशुविशेष) की नाईं भटक कर मरे ॥ ५ ॥

संसारी माया के धार में मांते, सलिल धार में बूडे, इत्यादि वचनों को सुनकर किसी को शंका हुई कि, वह माया जब बुढी होगी, तब जीव सहज ही मुक्त हो जायगें। तथा वह प्रकृतिरूप माया जैसे भोग देती है, तैसे कभी मुक्त करेगी। इससे सद्गुरु आदि का खोज, विचारादि की कोई जरूरत नहीं है। तब कहते हैं कि—

बसन्त ६ ।

बुढ़ि हंसि बोलै मैं नितहिं बारि। मोहि अस तरुणि कहु कौनि नारि॥
दांत गयल मोर पान खात। केश गयल मोर गंग नहात॥

यस्या वै पुटभेदेषु परीवाहेषु जन्तवः ।
ब्रूडन्त्यनवधानेन वृद्धैषाऽनादिशाम्बरी ॥ ३७ ॥
सा ब्रवीति हसित्वैवं वयस्थाऽस्मि सदा ह्यहम् ।
मारणे तारणे शक्ता भोग्यभोगादि सिद्धिषु ॥ ३८ ॥
नागवल्लीदलैस्तुल्यान् खादन्त्या राजसान् नरान् ।
दन्ता मे विगताः कालाद्यात्मकाः क्षणभङ्गुराः ॥ ३९ ॥

जिस मायारूप नदी के पुटभेद (चक्र–आवर्त) परीवाह (धारा) में प्राणी अनवधानता से डूबते हैं, सो अनादि शाम्बरी (माया) वृद्धा ही है ॥ ३७ ॥ परन्तु वह हंस कर इस प्रकार कहती है कि, मैं सदा ही वयस्था (तरुणी) हूं। तथा मारने तारने में और भोग्य भोग आदि की सिद्धि में शक्ता (सामर्थ्यवाली) हूं ॥ ३८ ॥ पान के तुल्य राजस मनुष्यों को खाती हुई मेरे कालादि रूप क्षणभंगुर दांत गये ॥ ३९ ॥ प्रलय

नयन गेल मोर कज्जल देत । वयस गेल परपुरुष लेत ॥
जान पुरुषवा मोर अहार । अनजाने का करौं सिंगार ॥

तमोगुणात्मकाः केशा नष्टाः प्रलयकालिकाः ।
स्नानेन कार्यगङ्गायां रजःसत्त्वप्रवृत्तितः ॥ ४० ॥
यद्वा विज्ञानसंस्वादात्कामक्रोधादिलक्षणाः ।
दन्ता नष्टाश्च सत्कर्मगङ्गायां स्नानमात्रतः ॥
तमः केशा निवृत्ता मे भवन्ति हि जनाश्रिताः ॥ ४१ ॥
तमःकज्जलदानेनाऽकर्माञ्जनसमर्पणात् ।
दृक्शक्तिनयनं नष्टं रजो नष्टं शमादितः ॥ ४२ ॥
वयश्च मे गतं यावदनात्मपतिसेवनात् ।
यद्वा नश्यति तारुण्यं मायाया बन्धकारकम् ॥ ४३ ॥
परस्य पुरुषस्याऽत्र नामध्यानादियोगतः ।
ज्ञानात्तु सर्वथा सैव नष्टा भवति शाम्बरी ॥ ४४ ॥
अज्ञाः कापुरुषाः सर्वे ममाहारं विदन्ति वै ।
न विदन्ति तु ये केचित्तेभ्यस्तद्बोधनाय च ॥ ४५ ॥

काल के तमोगुण रूप केश, रजोगुण सत्त्वगुण की प्रवृत्ति से कार्यरूप गंगा में स्नान से नष्ट हो गये ।। ४० ॥ अथवा विज्ञानरूप पान के सम्यक् स्वाद से जनाश्रित काम क्रोधादि रूप मेरे दांत नष्ट हुए । और सत्कर्मरूप गंगा में स्नान मात्र से जनाश्रित तमोगुण रूप मेरे केश निवृत होते हैं ॥४१॥

तमोगुण रूप कज्जल (लोचक) के देने से, और अकर्म (हीन कर्म) रूप अञ्जन के समर्पण से दर्शन-शक्ति रूप नेत्र नष्ट हुआ, और शमादि से रजोगुण नष्ट हुआ है ॥४२॥ यावत् (सकल) मेरा वयस (बाल्यादि अवस्था) अनात्म-रूप पति के सेवन से गया । अथवा बन्धनकारक माया का तारुण्य, पर (उत्तम) पुरुष (सर्वात्मा राम) के नाम, ध्यानादि रूप योग से नष्ट होता है । और ज्ञान से तो वह शाम्बरी (माया) ही सर्वथा नष्ट होती है ।।४३-४४।। अज्ञ कुपुरुष सब मेरा आहार ही जानते हैं, और जो कोई नहीं जानते हैं,

कहहिं कबिर बुढ़ि आनन्द गाय । पूत भतार हिं बैठि खाय ॥६॥

सुशृङ्गारं करोम्येतं त्रिगुणैर्विश्वमण्डले ।
यद्वा तैः पुरुषैरज्ञैः स्वशृङ्गारं करोम्यहम् ॥ ४६ ॥
विज्ञा विषयिणः किञ्च ममाहाराः सदैव हि ।
पामरार्थस्तु शृङ्गारः सर्वोऽपि मम विद्यते ॥ ४७ ॥
इयं मायाऽतिवृद्धाऽपि स्वर्गादौ विषयादिषु ।
सत्यानन्दं प्रगायैव पवित्रं स्वपतिं प्रभुम् ॥ ४८ ॥
खादित्वैवात्र तिष्ठन्ती लक्ष्यते सा विवेकिभिः ।
अज्ञः प्रलोभितः सम्यक् तया नश्यति मोहतः ॥ ४९ ॥
यद्वा कुगुरवो वृद्धाः स्वपतिप्राप्तिहेतवे ।
तारुण्यं दर्शयन्त्येव त्वन्यत्र कारणानि च ॥ ५० ॥
अस्माकं पुरुषो वेत्ति ह्याहारं सर्वमुत्तमम् ।
अज्ञेयपुरुषस्यार्थं शृङ्गारः क्रियतां किमु ॥५१॥

उन्हें भी वह समझाने के लिये त्रिगुण के द्वारा इस संसार–मण्डल में मैं यह सुन्दर शृङ्गार (शोभा) करती हूं। अथवा उन अज्ञ पुरुषों द्वारा मैं अपना शृङ्गार करती हूं। और विज्ञ (निपुण–कुशल) भी विषयी जीव सदा मेरा आहार ही हैं। पामर के लिये ही मेरा सब शृंगार है ॥४५–४७॥

अतिवृद्धा भी यह माया स्वर्गादि और विषयादि में सत्य आनंद का प्रगान करके ही पवित्र अपना पति रूप प्रभु को खाकर के ही स्थिर की नाईं यहाँ विवेकियों से वह देखी जाती है। और उससे अच्छी तरह प्रलोभित अज्ञ मोह से नष्ट होता है ॥ ४८–४९ ॥ अथवा कुगुरु ही वृद्ध (असमर्थ) है, परन्तु अपने स्वामी की प्राप्ति के लिये तारुण्य देखाते हैं, और अन्यत्र (दांतादि के अभाव में) कारणों को देखाते हैं ॥ ५० ॥ और कहते हैं कि हमारा पुरुष (स्वामी) उत्तम सब आहार को जानता है। अज्ञेय पुरुष के शृंङ्गार क्या किया जाय ॥ ५१ ॥ जो पुरुष (ब्रह्म)

अज्ञातः पुरुषो यश्च निर्विशेषः सदा समः ।
स करिष्यति किं भद्रमित्येवं ते ब्रुवन्ति हि ॥५२॥
स्वर्गे प्रगाय चानन्दं पुत्रं शिष्यं पतिं तथा ।
सत्ताप्रदं परं शुद्धं खादित्वेव च तेन ते ॥
तिष्ठन्तीति गुरुः प्राह कबीरः करुणानिधिः ॥५३-६॥

इति वसन्तवल्लर्यां गर्वमोहमहत्त्वाख्यं द्वितीयं पुष्पम् ॥ २ ॥

अज्ञात निर्विशेष सदा एक रस है, वह क्या कल्याण करेगा, इस प्रकार वे सब कहते हैं ॥ ५२ ॥ और वे सब स्वर्ग में आनन्द गाकर, शिष्य रूप पुत्र को तथा सत्ताप्रद केवल शुद्ध पति को उसी गान से खाकर मानो वे स्थिर हैं, यह बात करुणानिधि कबीर गुरु कहते हैं ॥ ५३ ॥

अक्षरार्थ–अनादि होने के कारण यह माया बुढि है, सो मानो हंस कर बोलती है, और कहती है कि, मैं नितहिं (सदा) वारि (युवती) हूं। और मोहि अस (मेरे समान) तरुणी कौन नारी है, सो कहो। शंका हुई कि, यदि तूं तरुणी है, तो तेरे दांतादि क्यों नहीं दीखते हैं ? तब कहती है, कि चतुर चिकनिया आदि पानों के खाते में मेरे दांत (कालादि) गये। और कार्यादि रूप गंगा के स्नान में प्रलयकालिक तमोगुण रूप केश गये, इत्यादि।

मेरा नयन (जीवाश्रित–सात्विकांश–ज्ञानशक्ति) कज्जल (तामस प्रवृत्ति) के देने से गया। और वयस (अवस्था) परपुरुष (भिन्न या उत्तम पुरुष) के आश्रय लेते ही गया। पुरुष वा (कुपुरुष) तो मोर (माया के) ही आहार को जानते हैं, और आहार देकर मेरी सेवा करते हैं। अनजानों को जनाने के लिये मैं अपना शृङ्गार करती हूं। या जाननेवाले मेरा आहार हैं, अज्ञों से मैं शृङ्गार करती हूं, इत्यादि।

और उक्त बुढ़ि (वृद्धा) ने संसार में आनन्द गाय (बताय) कर पूत भतारहिं (पवित्र पति को, या पुत्र और पति को) खाय बैठी (खाय लियाँ) है, इत्यादि ॥ ६ ॥

अद्भुत नारी वर्णन प्रकरण ॥ ३ ॥

वसन्त ७

तुम बूझहु पण्डित कौनि नारि । काहु न ब्याहल है कुमारि ॥
सब देवतन मिलि हरिहिं दीन्ह । चारिहुं युग हरि संग लीन्ह ॥
प्रथमे पद्मिनी रूप आय । ह्वै साँपिनी जग खेदि खाय ॥

बुध्यध्वं पण्डितास्तावत् का सा नार्यत्र विद्यते ।
यां न कोऽप्यूढवाँल्लोके ह्यद्यावध्यविवेकवान् ॥ १ ॥
कुमारी विद्यते सा च चित्पितुर्ह्यन्तिके सदा ।
असङ्गश्च पिता नास्या विवाहायापि बुध्यते ॥ २ ॥
देवा सर्वे मिलित्वा तां हरये वै ददुर्यदा ।
एनां चतुर्युगे पार्श्वे तदा हरिरपालयत् ॥ ३ ॥
अमन्यत स्वभार्यां तां सदैव वशवर्तिनीम् ।
सन्निधौ वर्तमानाऽपि सा च नैवममन्यत ॥ ४ ॥
आदौ सा पद्मिनी भूत्वा संसारेष्वागता पुनः ।
भूत्वैव सर्पिणी सर्वान् धावित्वैवात्ति सर्वदा ॥ ५ ॥

हे पण्डितों ! तबतक यह अच्छी तरह सर्वथा समझो कि, कौन वह नारी यहाँ है कि, जिसको लोक में आजतक कोई अविवेकी नहीं विवाहा (वश किया) है ॥ १ ॥ और वह चेतनात्मा रूप पिता के पास में सदा कुमारी है, असङ्ग पिता भी इसका विवाह के लिये कुछ नहीं समझता है ॥ २ ॥ जब सब देव मिलकर, इसे हरि (विष्णु) को दिया । तब हरि भी चारों युग में इसे अपने पास में रक्षित रखा ॥ ३ ॥ और उसको वशवर्तिनी अपनी भार्या (स्त्री) समझा । और पास में वर्तमान भी वह नारी अपने को इस प्रकार (वशवर्तिनी) नहीं समझी ॥ ४ ॥ वह आदिकाल में पद्मिनी (सुखदा) होकर संसारों (लक्ष्मी आदि रूप देहों) में

यह वर युवती वै वर नाह। अति रे तेज तिय रैनि ताह॥
कहहिं कबिर यह जगत पियारि। अपन बलकवहिं रहल मारि॥७

श्रेष्ठेयं युवती भाति विष्णुः श्रेष्ठः पतिः स च।
अज्ञानमोहरात्रौ च तस्यास्तेजोऽनिवर्द्धते॥ ६॥

अहो जगत्प्रिया चैषा सर्वेषां मातृवत्तथा।
विमोह्य विविधै र्जालैः स्वस्या एव तु बालकान्॥ ७॥

मारयन्त्यत्र तिष्ठन्ती खादन्ती सर्पिणीव च।
वर्तते तां बुधा! वित्त यतध्वं च विमुक्तये॥ ८॥

आदौ सा सुखदा भूत्वा पश्चाद् दुःखकरी सदा।
तदा त्यक्तुं समिच्छद्भिस्त्यक्तुं शक्या भवेन्नहि॥ ९॥

अतो यतध्वं हि सदा विमुक्तये,
बाल्याद् भजध्वं हरिमात्मशुद्धये।

खाई। फिर सर्पिणी (संहारिणी-दुःखदा) होकर सदा सबको दौड़ कर खाती है॥ ५॥

यह माया श्रेष्ठ युवती भासती हैं, और वह विष्णु श्रेष्ठ पति भासते हैं। और अज्ञान मोह रूप रात्रि में उस माया का तेज अत्यन्त बढता है॥६॥ आश्चर्य है कि, यह संसारी की प्यारी है, तथा सब की माता तुल्य है, तौ भी विविध जालों (समूहों-बन्धन साधनों) से मोहित करके अपने ही बालकों को यहाँ खड़ी (स्थिर) होकर मारती हुई, सर्पिणी की नाईं खाती हुई है। हे बुधों! (पण्डितों!) उसे समझो, और विमुक्ति के लिये यतन करो॥ ७-८॥ वह आदि में सुख देनेवाली होकर, पीछे सदा दुःख करनेवाली है, और तिस दुःख देने के समय उसे त्यागने की इच्छा करनेवालों से वह उस समय त्यागने योग्य शक्य नहीं होती है॥ ९॥ इससे सुखदशा में ही सदा विमुक्ति के लिये यतन करो, और बाल्या-

त्यक्त्वैव मायां ममतां सुदूरे,
हिंसां च दम्भं कपटं न कुर्वताम् ॥ १० ॥ ७ ॥

वस्था से ही आत्मशुद्धि के लिये हरि को भजो । और माया ममता को अत्यन्त दूर में त्याग करके ही हिंसा, दम्भ और कपट नहीं करो ॥१०॥७॥

अक्षरार्थ–हे पण्डितो! तुम बूझो (समझो) या हे मनुष्यो! तुम पण्डित (ज्ञानी) से बूझो (पूछ कर समझो) कि वह कौन नारी है, कि जिसको किसीने ब्याहा नहीं है, इससे वह सदा कुमारी है। सब देव मिलकर उसे हरि को दिया । हरि भी उसे चारों युग में साथ लिये रहे । परन्तु वह तो प्रथम पद्मिनी रूप से संसार में आकर, फिर सर्पिणी होकर, जगत को खदेड़ कर खाती है । अर्थात् मायिक वस्तु प्रवृत्ति काल में सुखद सुन्दर प्रतीत होती है, परिणाम में सब के लिये दुःखरूप शोभा सौन्दर्यादि रहित ही हो जाती है ।

अज्ञानी के लिये वह पद्मिनी माया वर (श्रेष्ठ) युवती है, और वे (विष्णु) वर नाह (श्रेष्ठ–नाथ–स्वामी) हैं । परन्तु उस तिय (युवती स्त्री) के और ताह (तिस) विष्णु के रैनि (अज्ञान रात्रि) में ही अत्यन्त तेज रहता है । ज्ञानवस्था में स्वयंज्योतिः एक ही सर्वात्मा राम रहता है। और उसके ज्ञान विना ही यह माया जगत की प्यारी हुई है, और सर्पिणी की तरह ब्रह्माण्ड–कुण्डलना में घेर कर अपने बालक (बच्चों) को ही मार रही है ॥ ७ ॥

वसन्त ८

कर पल्लव केवल खेलै नारि। पण्डित होय सो करै विचारि॥

नार्येव केवला सर्वं कृत्वा विस्तारमद्भुतम् ।
खेलायति च तां कोऽपि पण्डितश्चिन्तितुं क्षमः ॥११॥

चित् सत्ता प्रकाश को पाकर केवल नारी (माया) ही अद्भुत विस्तार (संसार) करके खेलती है । उसे विचारने के लिये कोई पण्डित

कपरा न पहिरै रहै उघारि । निर्जिव सो धनि अति पियारि ॥
उलटी पलटी बाजू तार । काहू मारै काहु उबार ॥

योऽस्ति वै पण्डितस्तस्य विचारं स करोतु च ।
साक्षिमात्रोऽत्र देवोऽस्ति मायैव करोति च ॥ १२ ॥
तथैव विदुषामेषा करपत्रबलेन च ।
पदवाक्यादिरूपेण माया नृत्यति सर्वदा ॥ १३ ॥
विद्यापटं न धत्ते सा तां दृष्ट्वैव विलीयते ।
तां विना तु सदैवैषा विवृता वर्ततेऽसती ॥ १४ ॥
आवृणोति परं देवं स्वयं सैव निरञ्जनम् ।
निर्जीवा च जडा सैव भवति प्रेयसी जने ॥ १५ ॥
निर्जीवधनधान्येभ्यः सजीवस्त्रीस्वरूपिणी ।
अतिप्रियतमा लोके विद्यते साऽविवेकिनाम् ॥ १६ ॥
मितवर्णस्वरूपा च पौर्वापर्यविभेदतः ।
भूत्वाऽनन्तात्मिका सैव तारं शब्दायते मुहुः ॥१७॥

ही क्षम (समर्थ) है ॥ ११ ॥ और जो पण्डित है सो उसका विचार करे । सर्वात्मा देव यहाँ साक्षिमात्र है, और माया द्वारा ही करता है ॥ १२ ॥ और तैसे ही यह माया विद्वानों के कर (हाथ) रूप पत्र (पर्ण) के बल से लेख द्वारा पद वाक्यादि रूप से सदा नाचती है ॥ १३ ॥ और वह विद्या रूप पट का धारण नहीं करती हैं । तिस विद्या को देख करके ही विलीन होती है । और उस विद्या के बिना तो यह असती (माया) सदा विवृता (उघारी–प्रगट) रहती है ॥ १४ ॥ स्वयं वही पर निरञ्जन देव को आवृत्त करती है, और निर्जीवा (प्राणधारण रहित) जडा वेही माया जन में प्रेयसी (अतिप्रिया) है ॥ १५ ॥ और निर्जीव धन (द्रव्य) धान्य (व्रीहि) से सजीव स्त्री स्वरूपवाली वह माया लोक में अविवेकियों की अति प्रियतमा है ॥ १६ ॥

परिमित वर्ण स्वरूप वह माया ही पूर्वाऽपरभाव के भेद से अनन्त

कहैं कबिर दासन के दास । काहू सुख दे काहु उदास ॥८॥

प्राणापानादिरूपेण दिनमासादिरूपतः ।
भूतभौतिकरूपेण चित्त्स्वे सा समाश्रिता ॥१८॥
कञ्चिन्मारयते मूढं स्वविद्या वपुषैव सा ।
विज्ञं तारयते सैव तत्त्वविद्यास्वरूपतः ॥१९॥
दासदासा वदन्त्येवं सा निहन्ति न कञ्चन ।
सौख्यं दत्ते हि कस्मैचिदौदासीन्यं तु कस्यचित् ॥२०॥
भुञ्जते हि फलं सर्वे कर्मणो मृत्युभागिनः ।
कर्म मायात्मकं तच्चेद् भवतु तन्न वार्यते ॥२१-८॥

इतिवसन्तवल्लरावद्भुतनारीवर्णनं तृतीयं पुष्पम् ।

स्वरूप होकर बार २ तार (उच्च स्वर) से शब्द करती है ॥१७॥ प्राणापानादि रूप से दिन मासादि रूप से, भूत भौतिक रूप से वह माया ही चित्स्वरूप के समाश्रित है ॥१८॥ अविद्या रूप वपुः (आकार-देह) से वही किसी मूढ को मारती है, और वही तत्त्व (अनारोपित-सत्य) की विद्या का स्वरूप से विज्ञ को तारती है ॥१९॥ दासों के दास इस प्रकार कहते हैं कि, वह किसी को नहीं मारती है, किन्तु किसीको सुख देती है, और किसी को उदासीनता (निर्पेक्षता-वैराग्य) देती है ॥२०॥ सब मृत्युभागी प्राणी अपने कर्मों के फल ही भोगते हैं, माया नहीं मारती है। परन्तु वह कर्म यदि मायास्वरूप है, तो वही बात रहे, उसका वारण नहीं किया जाता है ॥२१॥

अक्षरार्थ—केवल नारी (माया) ही पल्लव (विस्तार—संसारवृक्ष) करके खेलती है, या केवल कर रूप पल्लव (नवपत्र) से खेलती है। जो पण्डित हो सो विचार करे। वह विद्यादि रूप पट नहीं पहनती है, न चेतनात्मा ईश्वर से ढपती है। इससे सदा उघार रहती है। और निर्जीव (जड) भी

सो माया रूप धनी (स्त्री) अति प्यारी है, या निर्जीव माया से वह सजीव स्त्री माया अति प्यारी हैं।

परिमित वर्णादि रूप माया उलट पटल कर तार (जोर) स्वर से बाजती है, और उन रूपों से किसीको मारती है, किसीको उबारती है। दासों के दास कबीर (भक्त सब) कहते हैं कि वह किसी को भी मारती नहीं है, किन्तु किसी को लोक में सुख देती है, और किसी को उदासीन (विरक्त-ब्रह्मनिष्ठ) करती है, मुक्त करती है। और अपने कर्मों से जीव मरते हैं। तहाँ यदि कर्म मायारूप है तो माया से ही मरण सिद्ध होता है, अन्य से नहीं ॥ ८ ॥

अद्भुत मानव चरित्र वर्णन प्र० ॥ ४ ॥

माया और उसके वशवर्तियों के स्वभावादि का वर्णन करके, अब माया को स्ववश करनेवाले विवेकी गुरुभक्तों के स्वभावादि का वर्णन द्वारा, उस प्रबल माया से बचने के लिये उपाय बताते हैं कि—

वसन्त ॥ ९ ॥

मायि मोर मनुषा अति सुजान । धान कूटि कुटि करै विहान ॥

सद्गुरोः प्रियभक्ता ये मायां कृत्वा वशे स्थिताः ।
विवेकेन विरागाद्यैर्विचारेण निरन्तरम् ॥ १ ॥
अतिविज्ञा हि ते धीरा मायाजालनिकर्तने ।
कुर्वन्ति दुष्करं सर्वं लभन्ते दुर्लभं पदम् ॥ २ ॥

जो सद्गुरु के प्रिय भक्त निरन्तर विवेक, विचार और विरागादि से माया को वश में करके स्थिर हैं, मायाजाल के निकर्तन (काटने) में अतिविज्ञ (निपुण) वे धीर सब दुष्कर करते हैं, और दुर्लभ पद (स्थान) पाते हैं ॥१-२॥ वे लोक सत्य मिथ्या का अविवेक स्वरूप ब्रीहि (धान)

बड़े भोर उठि आंगन बाढ़ि । बड़े खाँच लै गोबर काढ़ि ॥
बासी भात मनुष ले खाय । बडे घैल ले पनियक जाय ॥

सत्यानृताऽविवेकात्मव्रीहीन् घ्नन्ति विवेकतः ।
तद्व्यापारेण मोहान्धरात्रिं विगमयन्ति ते ॥ ३ ॥
उत्थाय चानिकल्पे ते उपरत्या समन्ततः ।
वैराग्यशोधनीं नीत्वा शोधयन्ति हृदाजिरम् ॥ ४ ॥
रागाद्यवकरं कृत्वा दूरे ते हि विवेकतः ।
विशालमतिपात्रेण कुप्रज्ञावासनादिकम् ॥
नयन्ते गोविषं दूरे सदाऽभ्यासादितत्पराः ॥ ५ ॥
भक्तं पर्युषितं यच्च प्रारब्धकर्मलक्षणम् ।
भुञ्जते तद्धि हर्षेण भुक्त्वैव क्षपयन्ति च ॥ ६ ॥
शमादिशालिसद्बुद्धिघटमादाय यत्नतः ।
विज्ञानवारिलाभार्थं यान्ति ते गुरुसन्निधौ ॥ ७ ॥
तत्र कुर्वन्ति विनयं ज्ञानं मे दीयतां प्रभो ! ।
स्वामिनो मे निजस्यैव नित्यस्यापरिणामिनः ॥ ८ ॥

को विवेक से हनते (कूटते) हैं, और उसी व्यापार से मोहान्ध अज्ञान रात्रि को नष्ट करते हैं ॥ ३ ॥ वे लोक अतिकल्प (प्रभात–निरोग) दशा में उपरति द्वारा संसार से ऊठ (उपराम हो) कर, वैराग्य रूप शोधनी (संमार्जनी–वर्धनी) को प्राप्त करके हृदय रूप अजिर (अंगन–देह) को शुद्ध करते हैं ॥ ४ ॥ और वे सदा अभ्यासादि में तत्पर होकर विवेक से रागादि रूप अवकर (संकर–कचरा) को दूर करके, विशाल बुद्धिरूप पात्र से कुबुद्धि वासनादि रूप गोविष् (गोबर) को दूर प्राप्त करते हैं ॥५॥

प्रारब्ध कर्म रूप जो बासी भात है, उसको विवेकी गुरुभक्त हर्ष से भोगते हैं, और भोग करके ही उसे नष्ट करते हैं ॥ ६ ॥ शमादि से शोभित श्रेष्ठ बुद्धि रूप घट को यत्न से लेकर, विज्ञान रूप जल की प्राप्ति के लिये वे गुरु के समीप में जाते हैं ॥ ७ ॥ वहाँ विनय करते हैं कि, हे प्रभो !

अपना सयाँ के बांधो पाट। लै रे बेंचो हाटे हाट॥
कहहिं कबिर ई हरिके काज। जोइयक ढिग रहि नाहिं लाज ॥९॥

हृत्पदे तद्धि संस्थाप्य बध्वा च प्रेमबन्धनैः।
रक्षिष्यामि सदा देव! दीयतां दीयतामिति॥ ९॥
सच्छिष्येभ्यस्तु दत्वैव ज्ञानं विज्ञानसंयुतम्।
गुरवः शिक्षयन्त्येवं रे मद्भक्ता इदं शुभम् ॥१०॥
जिज्ञासुजनहट्टेषु विक्रेतव्यं सदा खलु।
भक्त्यादिमूल्यमादाय देयं योग्याय नान्यथा ॥११॥
इदमेव हरेः कार्यं नान्यल्लोकेषु विद्यते।
सुप्रसन्नो हरिश्चातः क्षणान्मुक्तं करोति हि ॥१२॥
ज्ञानेन चोपदेशेन विना नास्ति विमुक्तता।
मायायोषित्समीपे हि लज्जा कस्यात्र तिष्ठति ॥१३॥
निर्लज्जाः पतिता भूत्वा सर्वे धावन्ति सर्वतः।
तन्निवृत्त्यै गुरुः प्राह कबीरः करुणार्णवः ॥१४॥

मुझे नित्य अपरिणामी अपना स्वामी का ही ज्ञान दीजिये ॥ ८ ॥ हे देव! उस ज्ञान को हृदय पट में अच्छी तरह रखकर, प्रेमबन्धनों से बांध कर मैं रक्षा करूंगा। इससे अवश्य दीजिये ॥ ९ ॥ और सच्चा शिष्यों के प्रति विज्ञान सहित ज्ञान देकर के ही गुरुलोक इस प्रकार फिर शिक्षा देते हैं कि, रे मेरा भक्त! यह शुभ ज्ञान जिज्ञासु जन के हाट में सदा बेंचने योग्य है; इससे भक्ति श्रद्धा आदि रूप मूल्य लेकर योग्य के प्रति यह देने योग्य है, अन्यथा नहीं ॥११॥

वह ज्ञान सदुपदेशादिक ही हरि के कार्य (सेवा) है। सब लोकों में अन्य हरि के कार्य नहीं हैं। और इसीसे सुप्रसन्न हरि क्षण में मुक्त करते हैं ॥१२॥ सत्य ज्ञान और उपदेश के विना विमुक्तपन नहीं है, और ज्ञान विना माया रूप स्त्री के समीप में यहाँ लज्जा किसकी स्थिर रहती है ॥१३॥ और निर्लज्ज सब पतित होकर सर्वत्र धावते हैं, इससे उस निर्लज्जता आदि

ब्रह्मचारी मिताहारी तितिक्षुः संयतेन्द्रियः।
तुष्टो विविक्तसेवी च निष्पृहोऽप्यार्जवान्वितः ॥१५॥
धीरो दयालुरद्रोही दम्भाऽहङ्कारवर्जितः।
जन्ममृत्युजरादीनां दोषाणामनुचिन्तकः ॥१६॥
यः पुत्रादिष्वनासक्तो योगयुक्तो ह्यसङ्गधीः।
आत्मचिन्तापरो भक्तो ज्ञानं लब्ध्वा स मुच्यते ॥१७-९॥

की निवृत्ति के लिये करुणासिन्धु कबीर गुरु यह वचन कहते हैं ॥१४॥ कुमार्गादि से लज्जावाला ब्रह्मचारी, परिमित भोजनवाला, तितिक्षु (सहनशील), संयत (बद्ध) इन्द्रियवाला, संतोषयुक्त, एकान्तसेवी, इच्छा रहित होते भी आर्जव (नम्रतादि) युक्त, धीर, दयालु, द्रोह-रहित, दम्भ अहंकार रहित, जन्मादि के दोषों को विचारने वाला, पुत्रादि में आसक्ति रहित, योगयुक्त, असङ्ग बुद्धिवाला, आत्मविचार को उत्तम माननेवाला जो भक्त होता है, सो ज्ञान पाकर मुक्त होता है ॥१५–१७॥

अक्षरार्थ—मायी (माया को जीतने वाला) मोर मनुषा (गुरु भक्त) अत्यन्त सुजान है। वह धान (अविविक्त सत्यानृत) को कूट २ कर (विचार विवेक से भिन्न २ समझ कर) विहान (सुप्रकाश, प्रभात) करता है। अज्ञान मोहरात्रि को नष्ट करता है। और बडे भोर (प्रथम विवेक) काल में उठि (उपरत हो) कर, विराग द्वारा हृदयांगन को बाढ़ि (बुहार) कर, बडे खांच (टोकरी) तुल्य सुविचारादि से आशा तृष्णादि गोबरों को शरीर से काढता (निकालता) है, इत्यादि।

बासी भात (प्रारब्ध कर्मादि) को वह खाय (भोग) लेता है। बडे बैल (बडी बुद्धि) को लेकर, ज्ञानादि पनियक (पानीय) के लिये गुरुशरण में जाता है। और स्तुतिपूर्वक कहता है कि, मैं अपना सयाँ (स्वामी) को हृदय पाट (पट) में बांधूं (धरूं) गा, मुझे मिलाइये। फिर सद्गुरु उपदेश देकर कहते हैं कि, रे मेरा भक्त ! इसे लेकर सज्जन

जिज्ञासुओं के हाटे २ वेचो (श्रद्धा भक्ति आदि देख कर तुम भी उपदेश दो), इत्यादि ।

सद्गुरु का कहना है कि, विवेकादि और सद्भक्ति सदुपदेश आत्मज्ञान ही सर्वात्मा हरि के कार्य हैं। और इसी कार्य के विना मायारूप जोइयक (स्त्री के) ढिग (पास) में किसीकी लाज (इज्जत–मर्यादा) नहीं रहने पाती है ॥ ९ ॥

जिस माया स्त्री के पास में लज्जा नहीं रहती है, उसीके प्रभाव का, और उसके भक्तों के समझादि का वर्णन करते हैं कि—

वसन्त ॥ १० ॥

रसना पढु हो श्रीवसन्त। पुनि जे परिहहु यम के फन्द ॥

उपकण्ठेऽत्र यस्या न लज्जा संस्था च तिष्ठति ।
तस्या भक्तोऽत्र कश्चिद्धि प्राहैवं योगवित्तथा ॥१८॥
जिह्वया श्रीनिवासं त्वं भजस्व मुच्यसे ततः ।
अन्यथा यमपाशेषु पुनर्गत्वा पतिष्यसि ॥१९॥
एवं श्रुत्वा जनाः केचिन्मेरुदण्डलतोपरि ।
गोचरैः सहितं चित्तं ह्यर्पयन्तो मुहुर्मुहुः ॥२०॥
अष्टौ वै कमलान्यैतैरिन्द्रियार्थविषैः खलु ।
अदहन्नहि चानन्दरससेकै र्व्यवर्द्धयन् ॥२१॥

जिस माया के उपकण्ठ (निकट) में यहाँ किसी की लज्जा और संस्था (मर्यादा) नहीं स्थिर रहती है, उसका कोई भक्त तथा कोई योगवेत्ता, इस विषय में इस प्रकार कहता है कि, जिह्वा से श्रीनिवास (लक्ष्मी के निवास का स्थान–आश्रय–विष्णु) को तुम भजो, तो माया आदि से मुक्त होओ; अन्यथा फिर यम–बन्धनों में जाकर गिरोगे ॥१८–१९॥ इस प्रकार सुन कर कोई जन, गोचर (विषय) सहित चित्त का मेरुदण्डरूप लता के ऊपर बार २ अर्पण करते हुए, इन इन्द्रियों के अर्थ (विषय) रूप

मेरुदण्ड पर डंक कीन्ह । अष्ट कमल परजारि दीन्ह ॥
ब्रह्म अग्नि कीयो परकाश । अर्द्धं ऊर्ध्व तहँ वहै बतास ॥

यद्वा सद्गुरुरेवाह भोः श्रीवासन्तिकः प्रधि ! ।
मा पठाऽन्यं रसं त्वं हि त्यक्त्वाऽऽत्मानं हरिं परम् ॥
अन्यथा यमपाशेषु पुन र्गत्वा पतिष्यसि ॥२२॥
तीक्ष्णतुण्डप्रघातेन मेरौ वै कमलानि ते ।
प्राज्वालयद्यमः पूर्वं तं विस्मरति किं भवान् ॥२३॥
पद्मे गत्वा सहस्रारे तत्र स्वीयमनीषया ।
ब्रह्माग्नेर्हि प्रकाशं ते सचक्रु र्योगिनो भ्रमात् ॥२४॥
यतस्तत्र ह्यधश्चोर्ध्वं वायुश्चलति सर्वदा ।
तत्संघर्षेण जातो न प्रकाशो ब्रह्म विद्यते ॥२५॥

विषों से आठों कमलों को [१]दग्ध किये, और आत्मानन्दरूप रस के सेचन से बढाये नहीं ॥२०–२१॥ अथवा सद्गुरु ही कहते हैं कि, हे श्रीमान् वासन्तिक ! (वसन्त के ज्ञाता) प्रधि ! (श्रेष्ठ बुद्धिवाला) तुम उत्तम हरि आत्मा को त्याग कर अन्य रस (आनन्द) को नहीं पढो । अन्यथा फिर यमबन्धनों में जाकर गिरोगे ॥२२॥ पूर्व जन्म में तेरे मेरुदण्ड पर तीक्ष्ण तुण्ड (मुख) का प्रघात से यम ने तेरे कमलों को प्रज्वलित किया है, तिस यम को आप क्यों भूलते हो ॥२३॥

वे भक्त योगी लोक हजार अर (अङ्ग) वाला चक्र रूप सहस्र दल पद्म में जाकर वहाँ अपनी बुद्धि से भ्रम जन्य ब्रह्माग्नि का प्रकाश किये ॥२४॥ जिससे वहां भी सदा नीचे ऊपर वायु चलता है, इससे उस वायु का संघर्ष से जन्य वह प्रकाश ब्रह्म स्वरूप नहीं है, इससे उसमें ब्रह्माग्नि का प्रकाश बुद्धि भ्रमजन्य ही है ॥२५॥ प्रधान नव नाडियां, या प्राण

१ तुम यहि विधि समुझहु लोइ हो, गोरी मुख मांदर बाजै ॥ एक सगुण षट् चक्र ही वेध्यो ॥ इत्यादि शब्द देखिये ।

नव नारी परिमाला गाव । सखी पांच तहं देखन धाव ॥
अनहद बाजा रहल पूरि । पुरुष बहत्तर खेलै धूरि ॥

नव नाड्यः प्रधानानि प्राणान्तःकरणानि वा ।
संघर्षजपरानन्दं गायन्ति जनयन्ति च ॥२६॥
सख्यस्तद्दर्शनायैव पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि च ।
तत्रैव खलु धावन्ति त्यक्त्वा स्वां स्वां क्रियां तदा ॥२७॥
यद्वा सद्गुरुराहेदं यमकृत्यं पुराकृतम् ।
प्राज्वालयन्महाग्निं स त्वद्दाहाय तदा यमः ॥
वायु र्वातिस्म तीव्रात्मा ह्यधश्चोर्ध्वं समन्ततः ॥२८॥
अहो तथापि ते प्राणा इन्द्रियाणि मनस्तथा ।
नाड्याद्यास्तत्र संयान्ति गायन्ति गीतकानि च ॥२९॥
वाद्यं ह्यनाहतं तत्र तदा पूर्णं विराजते ।
द्विसप्ततिप्रकोष्ठस्था नाडीस्थास्तत्र वायवः ॥३०॥

और अन्तःकरण, भी संघर्षजन्य ही उत्तम आनन्द को उत्पन्न करते और गाते (व्यक्त करते) हैं ॥२६॥ और उस समय ज्ञानेन्द्रिय रूप पांच सखियां अपनी २ क्रियाओं को छोड कर, उसी आनन्द को देखने के लिये वहां ही धावती हैं, परन्तु ब्रह्मानन्द प्रकाश उससे भी पर है ॥२७॥ अथवा सद्गुरु ही यह प्रथम किया हुवा यम का व्यापार को कहते हैं कि, वह यम ने उस समय तुम्हारे दाह के लिये महान् अग्नि को प्रज्वलित किया था। और तीव्र (अतिशय) स्वरूपवाला वायु उस समय नीचे ऊपर सर्वतः बहता था ॥२८॥ आश्चर्य है कि, तो भी तेरे प्राण इन्द्रिय तथा मन और नाडी आदि उस यमस्थान में ही अच्छी तरह जाते हैं, और गीत गाते हैं, सत्य ब्रह्मात्मा में नहीं जाते हैं ॥२९॥

अनाहत (विच्छेदादि रहित) शब्द रूप वाद्य (बाजा) वहां उस समय पूर्ण रूप से बिराजमान रहता है, और बहत्तर प्रकोष्ठों में स्थिर तथा नाडियों

माया देखि कस रहहु भूलि । जस वनासपति रहली फूलि ॥
कहैं कबीर हरी के दास । फगुआ मांगे वैकुण्ठ वास ॥१०॥

वसन्तानन्दधूलिं हि किरन्तीव परस्परम् ।
मायात्मिकां न सद्रूपां किमु भ्राम्यत दर्शनात् ॥३१॥
वनस्पतौ यथा पुष्पं कल्पनाभि र्लगेत् क्वचित् ।
मूर्धज्योतिषि भूमत्वं तथैव कल्पनात्मकम् ॥३२॥
तटस्थस्य हरे र्दासा वदन्ति कवयस्तथा ।
न ते फाल्गुनिका भ्रान्ता वैकुण्ठे किन्तु संस्थितिम् ॥३३॥
याचन्ते ते हरेः साक्षान्न मोक्षं निर्विशेषकम् ।
सोऽस्ति मिथ्या तु वैकुण्ठे स्थितिः सत्यास्ति मुक्तता ॥३४-१०।

इति वसन्तवल्लरावद्भुतपुरुषचरित्रवर्णनं नाम चतुर्थं पुष्पम् ॥ ४ ॥

में स्थिर रहनेवाले वायु, सत्यरूप नहीं किन्तु मायात्मक वसन्त के आनन्द की धूलि को मानो परस्पर फेंकते हैं, उस मिथ्या का दर्शन से क्यों तुम सब भ्रमते हो ॥ ३०-३१ ॥ जैसे कहीं वनस्पति में कल्पनाओं से पुष्प लगे, (प्रतीत हो) तैसे ही शिर की ज्योति में भी भूमत्व (ब्रह्मता) कल्पना स्वरूप ही है ॥ ३२ ॥ और तटस्थ हरि के भक्त कवि कहते हैं कि, वे फाल्गुन को जाननेवाले फाल्गुन में क्रीड़ा करनेवाले भ्रान्त नहीं हैं किन्तु साक्षात् हरि से वैकुण्ठ में सम्यक् स्थिति की याचना करते हैं । निर्विशेष (भेदादि रहित) मोक्ष की याचना नहीं करते हैं; क्योंकि वह मोक्ष मिथ्या है, वैकुण्ठ में स्थिति ही सच्ची मुक्तता है ॥ ३३-३४ ॥

अक्षरार्थ—माया के भक्त योगी आदि कहते हैं कि, हे लोको ! रसना से श्रीवसन्त (श्रीपति) को पढो (भजो) या हे रसने ! (जिह्वे!) श्रीवसन्त को भजो, नहीं तो यम के फन्दों में पड़ोगे । जिस यम ने मेरुदण्ड पर डंक देकर, आठों कमलों को दग्ध किया है । अथवा सद्गुरु का कहना है कि,

हे श्रीवसन्त ! (नित्यानन्द के प्रेमी) सांसारिक रस को नहीं पढो, नहीं तो फिर यम के फन्द में पडोगे । अन्य रस को पढनेवालों ने मेरुदण्ड पर डंक (सविष चित्तवृत्ति) दिये, जिससे आठों कमलों को जलाये, या कमलों में प्रकाश किये; क्योंकि मेरुदण्ड के साथ कमलों का सम्बन्ध है, इत्यादि ।

योगी भक्तों ने ब्रह्मरूप अग्नि का या महान् अग्नि का प्रकाश किया, परन्तु वहां नीचे ऊपर बतास (वायु) बहता (चलता) है, इससे वह वायु जन्य प्रकाश है, और नव नाड़ी, या पंच प्राण, चार अन्तःकरण रूप नव नारी उसी प्रकाश से परिमाला (परमानन्द गीत) गाती हैं, ज्ञानेन्द्रिय वहां तमासा देखने दौडती हैं । इससे घ्राणेन्द्रियादि के बाहर का व्यापार रूक जाता है, इत्यादि । (कंकुमादि का विमर्दन को परिमल कहते हैं, उसके स्थान में परिमाला है, सो आनन्द विशेष का बोधक है) ।

मन इन्द्रिय का निरोध होने पर अनहद शब्द रूप बाजा पूर्ण हो रहा है, परन्तु बहत्तर कोठे के वायु रूप पुरुष वहां धूलिं खेल रहे हैं । उनका चल स्वभाव है, इससे वहां ही अपना सूक्ष्म व्यापार कर रहे हैं । साहब का कहना है कि, उक्त अग्नि बाजा आदि रूप माया को ही देख कर कैसे भूले हो कि जैसे वनस्पति फूल रहा हो । उनसे भिन्न साक्षी स्वरूप आत्मा को समझो । और कवि लोक कहते हैं कि, फगुआ (फाल्गुन वसन्त के आनन्दवाले) हरि के दास भूले नहीं हैं किन्तु वैकुण्ठ में वास मांगते हैं, निर्विशेष मोक्षसुख नहीं चाहते, इत्यादि ॥ १० ॥

उपदेशोपसंहार प्रकरण ९

सकाम भक्ति हठ लयादियोग जन्य अनित्य वसन्त (सुख-मोक्ष) का वर्णन करके, नित्य वसन्तराज का वर्णन करते हुए, उसके विना हानि का भी वर्णन करते हैं कि—

वसन्त ॥ ११ ॥

(जाके) बारह मास वसन्त होय। (ताके) परमारथ बूझै विरला कोय॥
वरषैं अग्नि अखण्ड धार। हरियर (भौ) वन अठारह भार॥

सर्वदा सर्वमासेषु वसन्तो यस्य विद्यते।
सर्वत्र ज्ञानलाभेन नित्यतृप्तस्वभावतः॥ १॥
परमार्थं परानन्दं तस्यात्र विरला जनाः।
श्रेष्ठा एव हि जानन्ति नान्ये विषयिणो नराः॥ २॥
ज्ञानिनां हृदयेऽखण्डो ज्ञानाग्नि र्हि प्रवर्षति।
अखण्डं सच्चिदानन्दं जलं दत्ते च सर्वदा॥ ३॥
तेन हृष्यन्ति लोमानि सत्येन सुजलेन वै।
यानि ह्यष्टादशो भारै र्वानस्पत्यैः समानि च॥ ४॥
नित्यं ज्वलति तापाग्नौ नैव म्लायन्ति कर्हिचित्।
आनन्दवारिणा तापास्तूर्णं नश्यन्ति ते यतः॥ ५॥
हरे र्भक्ता वदन्त्येवं वैकुण्ठादौ सदैव च।
वसन्तो वर्तते तस्य तत्त्वं कोऽपि सुबुध्यते॥ ६॥

ज्ञान की प्राप्ति से नित्यतृप्त स्वभाव होने से जिसको सदा सब मास में सर्वत्र वसन्त ही है, उसके परम अर्थ (फल) उत्तम आनन्द को यहाँ विरल श्रेष्ठ जन ही जानते हैं, अन्य विषयी मनुष्य नहीं जानते ॥ १-२ ॥ ज्ञानियों के हृदय में अखण्ड ज्ञानाग्नि वर्षती है, और अखण्ड सत चित आनन्द रूप जल देती है ॥ ३ ॥ उस सत्य सुन्दर जल से लोम हृष्ट (प्रसन्न-पुलकित) होते हैं, जो लोम वनस्पतियों के अठारह भार तुल्य हैं ॥ ४ ॥ ताप रूप अग्नि के सदा ज्वलित रहते भी ज्ञानी के लोम कभी मलिन नहीं होते हैं, जिससे वे ताप आत्मानन्द जल से शीघ्र नष्ट होते हैं ॥ ५ ॥ इसी प्रकार हरिभक्त कहते हैं कि, वैकुण्ठादि में सदा ही वसन्त रहता है, उसका स्वरूप को कोई विरल पुरुष अच्छी तरह समझता है ॥६॥

पनिया आदर धरै न लोय। पवन गहै कस मलिन धोय।
बिनु तरुवर फूले आकाश। शिव विरञ्चि तहँ लेहि बास॥
सनकादि भूले भँवर होय। लखचौरासी जीव जोय॥

संसारे तापसत्त्वेऽपि तत्रत्य वनसन्ततिः।
सततं हरितैवास्ते संशाद्वलितभूमिगा॥ ७॥
ज्ञानानन्दजलं नव लोका गृह्णन्ति चादरात्।
प्राणवायुं निगृह्णन्ति मलिनं क्षालयतां कथम्॥ ८॥
यावन्न मार्ज्यते चित्तं तावत् सत्यतरुं विना।
आकाशं पुष्पितं भाति तत्र शम्भुर्वसत्यजः॥ ९॥
भूत्वा भ्रमरवत्तत्र सनकादिसुरर्षयः।
मत्ता भ्रान्ताश्च तिष्ठन्ति जीवाश्च सर्वयोनिगाः॥१०॥
संमार्जनां विना बुद्धे विज्ञानादि विना तथा।
यत्सत्यत्वेन संभाति तद्विज्ञानान्मृषा भवेत्॥ ११॥
अनृतात्तु विवेकेन त्वामेव सद्गुरुस्तु यः।
संदर्शयति सत्यं तत्पादे भावं न वै त्यज॥ १२॥

संसार में ताप के रहते भी, सम्यक् शाद्वलित (नव हरित तृणयुक्त) भूमि में होनेवाली वहाँ की वन सन्तति सतत (निरन्तर) हरित ही रहती है॥७॥

लोक ज्ञान आनन्द स्वरूप जल का आदर से ग्रहण नहीं करते हैं, किन्तु प्राणवायु का निग्रह करते हैं, तो मलिन (अज्ञान पाप दुःखादि दोष) कैसे शुद्ध निवृत्त होय॥ ८॥ जब तक चित्त नहीं शुद्ध होता है, तब तक सत्य वृक्ष के विना ही आकाश पुष्प युक्त प्रतीत होता है, और वहाँ शिव अज (ब्रह्मा) बसते हैं, ऐसी प्रतीति होती है। और सनकादि देवर्षि भी भ्रमर तुल्य होकर स्थिर प्रतीत होते हैं, और सब योनियों के जीव भी उन्मत्त भ्रान्त होकर वहां स्थिर होते हैं॥९-१०॥ बुद्धि की संमार्जना (शुद्धि) तथा विज्ञानादि के बिना जो वस्तु सत्य रूप से प्रतीत होती है, वही विज्ञान से मिथ्या होगी॥११॥ जो सद्गुरु अनृत (मिथ्या)

जो तोहि सतगुरु सत्य लखाव। ताते न छूटे चरण भाव॥
अमर लोक फल लावै चाय। कहैं कबिर बूझै सो खाय ॥११॥

गुरुपादे सदा भावाद्धरौ भक्त्या सदा सुखम्।
लभ्यते मलिनं सर्वं क्षाल्यते नात्र संशयः ॥ १३ ॥
कवयस्तु वदन्त्येवं देवलोकं य इच्छति।
देवादीन् सत्करोत्येव सैवाप्नोति सुखं फलम् ॥ १४ ॥
अथवाऽमरलोकात्मस्वरूपे सत्फले हि ये।
जिज्ञासां च मुमुक्षां च समन्तादानयन्ति वै ॥ १५ ॥
गुरोश्च शरणे गत्वा पृष्ट्वा श्रद्धासमन्विताः।
तत्स्वरूपं विजानन्ति ते मोक्षं प्राप्नुवन्ति हि ॥ १६ ॥
इत्येवं ज्ञानिनस्तत्त्वं सर्वे सम्यग् वदन्ति हि।
तस्मात्स एव बोद्धव्यः सर्वैरेव मुमुक्षुभिः ॥ १७ ॥
यद्वा भक्तिजलं नैव लोका गृह्णन्ति सादरम्।
गृह्णन्ति पवनं केन मलिनं मार्ज्यतामिति ॥ १८ ॥

से विवेक करके तुझे ही सत्य समझाते हैं, उनके चरण में भाव (प्रीति) को नहीं त्यागो ॥१२॥ गुरुचरण में सदा भाव से और हरि विषयक भक्ति से सदा सुख मिलता है, और सब मलिन (अज्ञान पापादि) निवृत्त होता है, इसमें संशय नहीं है ॥१३॥

कवि लोक इस प्रकार कहते हैं कि, जो देवलोक (स्वर्ग) चाहता है, और देवादि का भी सत्कार करता है, वही सुख रूप फल पाता है ॥१४॥ अथवा अमर (अविनाशी) लोक (दर्शनीय) आत्मस्वरूप सत्फल (मोक्ष) विषयक जिज्ञासा और मोक्षेच्छा को जो समन्तात् (सर्वतः) लाते हैं (प्राप्त करते) हैं ॥१५॥ और श्रद्धा सहित होकर गुरुशरण में जाकर गुरु से पूछ कर उस स्वरूप को जानते हैं, वे ही मोक्ष पाते हैं ॥१६॥ सब ज्ञानी उस तत्त्व को इस प्रकार अच्छी तरह कहते हैं, तिससे वह आत्मा ही सब मुमुक्षुओं से जानने योग्य है ॥१७॥ अथवा भक्त कहते हैं

वृक्षं विनाऽपि वैकुण्ठे ह्याकाशं पुष्पितं सदा ।
वर्तते तत्र शम्भुश्च वेधास्तिष्ठति सर्वदा ॥ १९ ॥
सनकाद्याश्च ये सिद्धा ज्ञानित्वेनापि सम्मताः ।
ते तत्र भ्रमरा भूत्वा तिष्ठन्त्यानन्दकानने ॥ २० ॥
सर्वयोनिस्थभक्ता ये तेऽपि तिष्ठन्ति तत्र वै ।
तत्रैव च मनोयोगादन्योऽपि फलमत्ति वै ॥ २१ ॥११॥

कि, लोक भक्ति रूप जल को आदर सहित नहीं ग्रहण करते हैं, पवन का ग्रहण करते हैं, तो मलिन किससे शुद्ध होय ॥१८॥ वैकुण्ठादि दिव्य लोकों में वृक्ष विना ही सदा आकाश पुष्पित रहता है (दिव्य पुष्पयुक्त रहता है) और वहां शिव ब्रह्मा सदा रहते हैं ॥१९॥ ज्ञानी रूप माने गये जो सनकादि सिद्ध हैं, वे भी भ्रमर होकर वहां आनन्द वन में रहते हैं ॥२०॥ सब योनियों में स्थिर रहनेवाले जो भक्त हैं, वे भी वहां जाकर स्थिर रहते हैं, और वहां ही मनोयोग (मन लगाने) से अन्य जीव भी वहां जाकर मोक्ष फल भोगते हैं इत्यादि ॥२१॥

अक्षरार्थ-जिसके हृदय में बारह मास (सदा) वसन्त (आनन्द -मोक्ष) रहता है । उसका परमार्थ (सत्य स्वरूपादि) को विरला कोई समझता है, और (जो समझै तिहि निर्मल अंगा) इस वचन के अनुसार समझने वाला निर्मल होता है । क्योंकि ज्ञानी के हृदय में ज्ञानाग्नि अखण्ड धारा से बरषती है, सो सब मल को नष्ट करती है, और उसीसे उनके अठारह भार वनस्पति तुल्य लोमगण हरियर (प्रसन्न) हुए रहते हैं, और प्रारब्धानुसार तापादि के होने पर भी, छः इन्द्रिय, इन्द्रिय जन्य ज्ञान, ज्ञान के विषय ये अठारहों ज्ञानी को आनन्द रूप ही भासते हैं इत्यादि ।

और विवेक विज्ञान सद्भक्ति रूप पनिया (जल) को लोय (लोक) आदर से नहीं धरते हैं, किन्तु केवल पवन (प्राण) को गहते (रोकते) हैं, तो अविद्यादि रूप मलिन (मल पाप) कैस धोय (निवृत्त होय) ।

और मलिन की निवृत्ति नहीं होने से तरुवर (वृक्ष) के विना ही आकाश फूला हुवा भासता है (सुख के साधन युक्त प्रतीत होता है) और शिवादि वहाँ वास लेते (बसते वा गन्ध लेते) हुए भासते हैं। इससे सनकादि (निवृत्ति मार्ग के वेषधारी) भी उसी कल्पित फूल (लोक विषयादि) में भँवर होकर भूले हैं, तथा जो चौरासी लाख योनि के जीव हैं, सो भी भूले हैं। यदि तुम इस भूल से रहित होना चाहो तो जो सद्गुरु तेरे स्वरूप को ही तेरे प्रति सत्य लखाते हैं, उनके चरण तथा सत्य से तेरा भाव नहीं छूटना चाहिये, तेरी आत्मा ही सत्य है, सद्गुरु ही उसे प्राप्त करानेवाले हैं इत्यादि।

अमरलोक (देवलोक वा अविनाशी आत्मलोक) रूप फल के लिये जो कोई चाव (इच्छा) लावै। और उसके तत्त्व को गुरु आदि से बूझै (समझै) सो अपनी २ समझ के अनुसार फलों को खाय (भोगे या प्राप्त करे) यह सब कवि आचार्य का कथन है ॥११॥

गुरुभक्त और देवभक्त गुरुशरण और देवशरण में जाकर, अपने २ समझ के अनुसार नित्यानित्य वसन्त (आनन्दादि) के लिये विनय करते हैं, तिसका एकोक्ति द्वारा वर्णन करते हैं कि—

वसन्त ॥ १२ ॥

(मैं) आयउँ मेहतर मिलन तोहि। ऋतु वसन्त पहिराउ मोहि॥

देवभक्ता गुरो भक्ता गत्वा तस्य हि सन्निधौ।
कुर्वते च स्तुतिं देव! महत्तर! दयानिधे! ॥ २२ ॥

देवभक्त और गुरुभक्त तिस देव और गुरु के समीप में जाकर, स्तुति करते हैं कि, हे देव! हे अतिमहत्! हे दयानिधे! तेरे ही साथ संगम

लम्बी पुरिया पाई क्षीण । सूत पुराना खूंटा तीन ॥
शर लागै तेहि तिनि सै साठि । कसनि बहत्तर लागु गांठि ॥

त्वयैव संगमार्थोऽहमागतस्तव मन्दिरे ।
शरणे चैव हे देव ! वसन्तानन्दवर्द्धनम् ॥ २३ ॥
योग्यं पटं शरीरं मे ज्ञानं सत्यं च दीयताम् ।
अज्ञा वाञ्छन्ति देवत्वं विज्ञा मोक्षं सनातनम् ॥ २४ ॥
प्राप्तस्य च पटस्यास्य विस्तारोऽस्ति महान् प्रभो ! ।
क्षयिष्णुस्तत्र शुद्धिश्च विरलाऽल्पतरा तथा ॥ २५ ॥
वासनाकर्मभूताद्यास्तन्तवोऽस्य पुराननाः ।
जीर्णाः सन्ति तथा कीला गुणदोषात्मकास्त्रयः ॥२६॥
शतानि त्रीणि षष्टिश्च यान्यस्थीनि कलेवरे ।
दिनानि वत्सरस्याथ शरास्तान्यस्य संभवे ॥ २७ ॥
द्विसप्ततिश्च नाडीनां कोटयो वायवस्तथा ।
बन्धनान्यत्र विद्यन्ते नाड्यः क्षिप्रं चलन्ति च ॥२८॥

(संग) रूप अर्थ (प्रयोजन) वाला मैं तेरे मन्दिर और शरण में आगत (प्राप्त) हूं । हे देव ! वसन्त के आनन्द को बढानेवाला योग्य शरीर रूप पट और सत्य ज्ञान मुझे दीजिये । इस प्रकार अज्ञ देवभाव चाहते हैं, और विज्ञ (विवेकी) सनातन मोक्ष चाहते हैं ॥२२-२४॥ हे प्रभो ! प्राप्त इस देह संसार रूप पट के महान् विस्तार है, और तिसमें शुद्धि क्षयिष्णु (विनश्वर) विरल तथा अल्पतर है ॥२५॥ इसके वासना कर्म भूत आदि रूप तन्तु पुरातन जीर्ण हैं । और गुण तथा दोष रूप इसमें तीन कील (आधार) हैं ॥२६॥

देह में जो तीन सौ षष्टि (साठ) हाड हैं, सो अथवा एक वर्ष के तीन सौ साठ दिन ही इस देह पट के संभव (उत्पत्ति) में शर हैं ॥ २७ ॥ और नाडियों के बहत्तर करोड़ तथा प्राणापानादि वायु इस में बन्धन रूप

खुर खुर खुर खुर चलै नारि । बैठि जोलहदि आसन मारि ॥
ऊपर नचनी करै कलोल । करिगह में दुइ चलै गोर ॥

बहिर्नद्यश्चलन्त्येवं चन्द्रसूर्यादयस्तथा ।
स्थिराः केऽपि न विद्यन्ते दीयतां सुस्थिरं पदम् ॥ २९ ॥

अस्थिरे चाऽत्र लोकेऽथ देहे च बुद्धिरूपिणी ।
तन्तुवायी स्थिताऽऽस्ते मे ह्यासनं परिकल्प्य तु ॥३०॥

ऊर्ध्वनर्तनशीलेन यन्त्रेण च समानि वै ।
इन्द्रियाणि च चन्द्राद्याः कल्लोलं कुर्वते बहु ॥ ३१ ॥

वायु र्नृत्यति सर्वत्र शब्दं कुर्वन् पृथग्विधम् ।
ब्रह्माण्डे च गृहे देहे यन्त्रगेहसमे सदा ॥ ३२ ॥

चन्द्रसूर्यौ हि पादौ द्वौ बुद्धेः संचलतो मुहुः ।
अध्यात्ममधिभूतं वा चल सर्वं चराचरम् ॥ ३३ ॥

हैं, और नाड़ी सब क्षिप्रं (शीघ्र) चलती हैं ॥ २८ ॥ इसी प्रकार बाहर नदियाँ चलती हैं, तथा सूर्य चन्द्रादि चलते हैं, कोई स्थिर नहीं हैं, हमें स्थिर पद (स्थान) दीजिये ॥ २९ ॥ और अस्थिर (चञ्चल) इस लोक में तथा देह में मेरी बुद्धि रूपिणी तन्तुवायी (जुलाहिन) ने आसन (पीठ) की परिकल्पना करके ही स्थिर है ॥ ३० ॥ कपड़ा बुनने के समय ऊपर नाचने के स्वभाववाला यन्त्र के समान इन्द्रिय और चन्द्रादि बहुत कल्लोल (महातरङ्ग) वेगादि करते हैं ॥ ३१ ॥ नाना प्रकार के शब्द करता हुआ वायु भी यन्त्रगृह तुल्य ब्रह्माण्ड और देह रूप गृह में सर्वत्र सदा नाचता है ॥ ३२ ॥ बुद्धि के पैर रूप चन्द्रमा और सूर्य दोनों बार २ अच्छी तरह चलते हैं । अध्यात्म वा अधिभूत स्वरूप सब चराचर (चञ्चल) है ॥ ३३ ॥

पांच पचीसो दशहुं द्वार। सखी पांच तहँ रची धमार॥
रंग विरङ्गी पहिरी चीर। हरिके चरण धरि गावै कबीर॥१२॥

दिक्षु द्वारेषु दशसु पञ्चतत्त्वानि सन्ति वै।
तेषां प्रकृतयः पञ्चविंशतिसंख्यकास्तथा॥ ३४॥
पञ्चप्राण इमे सख्य इन्द्रियाणि तथैव च।
धैवतं हि स्वरं यद्वा धमाराख्यं कुकौतुकम्॥ ३५॥
गानं वा कुर्वते येन भक्त्यानन्दादि दुर्लभम्।
भवत्यथ पटो देहो जायते सुलभः सदा॥ ३६॥
इत्थं सिद्धं पटं चित्रं परिधाय हि सज्जनाः।
भक्ता जिज्ञासवः सर्वे हरे धृत्वा पदं मुहुः॥ ३७॥
गायन्ति सुगुणांस्तस्य हरेश्च सद्गुरोस्तथा।
पटस्याऽन्यस्य लब्ध्यर्थं सदैव नूतनस्य वै॥ ३८॥
भक्ता देवस्य मन्यन्ते देवदेहांस्तथाविधान्।
मुमुक्षवः परं ब्रह्म तस्य प्राप्तेः समिच्छया॥ ३९॥

शरीर के दशों द्वार और दशों दिशाओं में पांच तत्त्व और उनके पचीस प्रकृति (स्वभाव) वर्तमान हैं॥ ३४॥ और पांच प्राण रूप सखी और तैसे ही इन्द्रिय रूप सखी सब धैवत नामक स्वर करते हैं, अथवा धमार नामक कुकौतुक या गान करते हैं, कि जिससे भक्ति आनन्दादि दुर्लभ होता है, और देह रूप पट सदा सुलभ होता है॥३५-३६॥ इस प्रकार पांच तत्त्वादि से सिद्ध चित्र पट (देह) का धारण करके भी सज्जन भक्त जिज्ञासु सब हरि के पद को हृदय में धर कर, अन्य सदा ही नूतन (नवीन) रहनेवाला पट की प्राप्ति के लिये, उस हरि और सद्गुरु के सद्गुणों को बार २ गाते हैं॥३७-३८॥ देवभक्त देव-देहों को तथाविध (सदानूतन) मानते हैं। मुमुक्षु परब्रह्म को सदा नूतन मानते हैं, और उसी की प्राप्ति की सम्यक् इच्छा से सद्गुरु को, सद्गुणों को गाते हैं

आत्मभावेन तल्लब्ध्वा मोदन्ते ते सदैव च ।
पुनरावृत्तिहीनं तं मोक्षं यान्ति विदेहिनः ॥ ४० ॥
यदीयवाक्यामृतपानमात्राज्जनो विमुक्तो भवतीह बन्धात् ।
यथा श्रुतेःसाररसानुभूत्या विमुक्तिभाजःसुजनानुमस्तान् ॥४१॥
वसन्तवल्लरिं दृष्ट्वा कलिकाभक्तिसंयुताम् ।
मोदन्तां सुजनाः सर्वे ब्रह्मानन्दोऽनुभूयताम् ॥४२॥१२॥

इति वसन्तवल्लरावुपदेशोपसंहारवर्णनं पञ्चमं पुष्पं समाप्तम् ॥५॥
समाप्तेयं वसन्तवल्लरिः ।

॥ ३९ ॥ और आत्मस्वरूप से उस ब्रह्म को पा कर वे सदा आनन्द होते हैं, तथा देह रहित होकर पुनरावृत्ति से रहित तिस मोक्ष को प्राप्त करते हैं ॥ ४० ॥ जैसे श्रुति के सार रस के अनुभव से सुजन विमुक्ति के भागी होते हैं, तैसे जिन सद्गुरुओं के वाक्यरूप अमृत के पान (श्रवणादि) मात्र से मनुष्य यहां बन्धन से विमुक्त होता है, उन सद्गुरुओं को नमस्कार है ॥ ४१ ॥ कलिका (कोरक) तुल्य भक्ति सहित वसन्त वल्लरि (मञ्जरि) को देखकर सुजन आनन्द हों, और सब ब्रह्मानन्द का अनुभव करें ॥ ४२ ॥

अक्षरार्थ–हे मेहतर ! (अत्यन्त महान् ! लोकनायक !) देव ! गुरो ! मैं तुम से मिलने आया हूं। मुझे ऋतु वसन्त तुल्य आनन्द जनक दिव्य देह, वा ज्ञान मोक्षपट) पहिरावो (प्राप्त करावो) । इस प्राप्त देह पट के पुरिया (थान) लम्बी (अनादि–विस्तृत) है, और पाई (शुद्धि) इसमें क्षीण (अति अल्प) है । तथा कर्मवासनादि रूप सूत पुराने (अनादि) हैं । और खूंटा (आधार खूंटी) तीन (गुण वा दोष) हैं ।

तेहि (तिस देह विश्व) में, एक वर्ष के दिन या देह की हड्डियाँ तीन सौ साठ शर लगे हैं । और बहत्तर नाड़ी वा वायु के कसनी (कस कर बांधने वाली) गांठि (ग्रन्थि बन्धन) लगती है । और नारि (नाड़ियाँ)

इसमें खुर ४ (बहुत शीघ्र २) चलती हैं। और जोलहदी (जीवरूप जुलाहा की स्त्री–बुद्धि) इसीमें आसन मार (लगा) कर बैठी है। ऊपर की तरफ नचनी (नाचनेवाली कल) की तरह इन्द्रिय वायु आदि कल्लोल (शब्द समुद्र का महान् तरङ्ग) करते हैं। और करिगह (करघायुक्त घर) रूप देहादि में चन्द्रसूर्यादि रूप दोनों गोड़ (पैर) समय २ पर चलते हैं।

इस देह में पांच पत्त्व पचीस प्रकृति दश द्वार वर्तमान हैं, और वहां पांच ज्ञानेन्द्रिय वा प्राण रूप पांच सखी ने धमार नामक खेल रची है। इससे यहां भक्ति ज्ञानादि में सदा उपद्रव रहता है। और उक्त रीति से सिद्ध रंगविरंगी (विचित्र) चीर (वस्त्र–देह) को पहिर (धर) कर, और हरि के चरण धर के कबीर (देवभक्त–गुरुभक्त) स्तुति गाते हैं। और अमर देहादि की याचना करते हैं। अथवा पांच पचीस के कार्यरूप दश द्वारयुक्त बहुत रंगवाला चीर को पहिर कर पांच सखियां (पंचदेवोपासकादि) धमार रची है। और इन सब प्रपञ्चों से रहित होने के लिये हरि (सर्वात्मा देव गुरु) के चरण धर के कबीर नित्य धमार वसन्त गाते हैं, इत्यादि ॥ १२ ॥

जिहि पद भजि नर पावई, नित्य वसन्त उदार।
हनूमान तिहि चरणरज, प्रणमत बारं बार ॥ १ ॥
परमानन्द सम्पादकं षष्ठं वसन्तप्रकारणं समाप्तम् ॥ ६ ॥

श्रीसद्गुरुचरणकमलेभ्यो नमः।

तत्रादौ मङ्गलम् संबंधश्च।

अथ सप्तम चांचर प्र० ॥ ७ ॥

स्नेहाख्यपाशाद्विनिवारयन्तं रामाख्यरत्नं दरिदर्शयन्तम्।
मोहान्धकूपाच्च हि तारयन्तमपारसौख्यैकघनं प्रपद्ये ॥ १ ॥

स्नेह नामक पाश (बन्धन) से विशेष निवारण करते हुए, राम नामक रत्न को पुनः २ अतिशय देखाते हुए, मोहान्धकूप (संसार) से

अद्वन्द्वानन्दसंदोहं पादद्वन्द्वं सदा भजे ।
गुरूणां ज्ञाततत्त्वानां कृपागारं हरिं श्रये ॥ २ ॥
रामनाम्नि स्मृते गीते मधुरे मधुराक्षरे ।
पीते श्रोत्रपुटाभ्यां च कामबाधा न विद्यते ॥ ३ ॥
कामारिसेव्यं वनमालिदेवं स्त्रष्टुस्तथेशं त्रिजगन्निवासम् ।
सुज्योतिषां ज्योतिषमव्यकामं रामं भजेऽहं गणनाथनाथम् ॥४॥
श्रीरामाऽभजनाद्या च श्रीरामभजनात्तथा ।
भ्रान्ताऽभ्रान्तोऽत्र हनुमान् कां दशां नानुभूतवान् ॥ ५ ॥

तारते हुए, अपार सुख की ऐक्य (केवलता) घन (निरन्तर) तत्त्व को प्राप्त होता हूं ॥ १ ॥ द्वन्द्व रहित आनन्द का संदोह (संघात) स्वरूप तत्त्वज्ञ गुरु के चरणयुगल को सदा भजता हूं, और कृपा का घर हरि को सेवता हूं ॥ २ ॥ मधुर (स्वादु) अक्षर वाला, मधुर (प्रिय) रामनाम के स्मरण गान से और श्रोत्रपुट से पीने से काम की पीडा नहीं रहती है ॥ ३ ॥ कामारि (शिव) जी का सेव्य, वनमाली (विष्णु) जी का देव, स्रष्टा (ब्रह्मा) का ईश (स्वामी), तीनों लोक का आश्रय, सुन्दर ज्योतियों का ज्योति, गणनाथों का नाथ, कामरहित राम को मैं भजता हूं ॥ ४ ॥ प्रथम भ्रान्त फिर अभ्रान्त हनुमान ने श्रीराम के नहीं भजने से जो दशा होती है, तथा श्रीराम के भजने से जो दशा होती है, तिस कौन दशा का अनुभव नहीं किया ॥ ५ ॥

चांचर एक प्रकार का खेल को कहते हैं। फालगुन में स्त्रीपुरुष अपने २ पृथक २ दल बांधकर, रंग पिचकारी आदि लेकर खेलते हैं। कहिं स्त्रियाँ पुरुषों के साथ भी खेलती हैं। यहाँ माया का जीवात्मा के साथ खेल का वर्णन दूसरा चांचर में किया गया है, और इस खेल के गान राग को भी चांचर कहते हैं। इस प्रकरण का वही राग है, इससे इसको चांचर कहते हैं। माया के साथ चांचर में जो हारते हैं, उन्हे उक्त नित्य वसन्त की

प्राप्ति नहीं होती है। और हारने के कारण स्नेह काम मोहादिक हैं, इससे साहब कहते हैं कि—

चांचर ॥ १ ॥

जारहु जग का नेहरा मन बौरा हो।
जा महँ शोक संताप समुझु मन बौरा हो॥
बिना नेव का देवघरा मन बौरा हो।
बिनु कहगिल की ईंट समुझु मन बौरा हो॥

अप्रबुद्धमना भोस्त्वं प्रमूढस्वान्तवाञ् जनः।
विवेकवह्निना स्नेहं जगतां परिदाहय ॥ १ ॥
यत्र स्नेहेन शोकश्च संतापो जायते हृदि।
तं जानीहि च तत्रत्यं स्नेहं त्वं परिमार्जय ॥ २ ॥
सन्निवेशं विनैवाऽयं संसारो देवमंदिरम्।
सुधा कर्दमहीनाश्च पदार्था इष्टका यथा ॥ ३ ॥
वास्तुरत्र च नास्त्येव ह्यसङ्गः पुरुषो यतः।
दृश्यमानं च निर्मूलं मिथ्या मायामनोमयम् ॥
विनश्वरं सदैवेदं पतयालु च गत्वरम् ॥ ४ ॥

हे अपण्डित मनवाला, तथा अतिमूढ स्वान्त (मन) वाला जन, तुम विवेकाग्नि की प्राप्ति करके उससे संसार का स्नेह (प्रेम) को अच्छी तरह दग्ध करो ॥ १ ॥ जिस संसार में स्नेह से शोक और संताप (संज्वर) हृदय में होता है। उस संसार को समझो, और वहाँ का स्नेह को निवृत्त करो ॥ २ ॥ यह संसार सन्निवेश (निकर्षण-नेव) के बिना ही देवमन्दिर रूप है। और यहाँ के पदार्थ, सुधा (इष्टका चूर्णादि) कादों आदि रूप कहगिल रहित ईंट के समान हैं ॥ ३ ॥ यहाँ वास्तु (गृहाधार भूमि) नहीं है, जिससे आधार रूप पुरुष (आत्मा) असंग है। दृश्यमान जगत्

काल बूत की हस्तिनी मन बौरा हो ।
चित्र रच्यो जगदीश समुझु मन बौरा हो ॥
काम अन्ध गज वशि परे मन बौरा हो ।
अंकुश सहिहो शीश समुझु मन बौरा हो ॥
तन धन सो क्या गर्वसी मन बौरा हो ।
भस्म कृमि जाकि साज समुझु मन बौरा हो ॥
मरकट मूठी स्वाद की मन बौरा हो ।
लीन्हो भुजा पसारि समुझु मन बौरा हो ॥

हस्तिनीप्रतिमेवैतत् स्त्रियाश्चित्रं जगत्पतिः ।
कालरूपं व्यरचयत्तद् विवेकेन बुध्यताम् ॥ ५ ॥
कामान्धगजवद्भूत्वा ह्यन्यथा विवशः सदा ।
तीव्रमङ्कुशवद् विद्धि यातनादि सहिष्यसे ॥ ६ ॥
तन्वा धनादिभिः किञ्च गर्वं त्वं कुरुषे मुधा ।
विद्धि तत्साधनं सर्वं कृमिर्भस्म भवेद् ध्रुवम् ॥ ७ ॥
वनौका इव बध्वा त्वं मुष्टिं प्रसार्य दोस्तथा ।
अगृह्णाः स्वादु तेन स्वं बद्धं विद्धि नचान्यथा ॥ ८ ॥

सत्य–विकारी मूल रहित है । इससे मिथ्या मायामनोमय विनश्वर सदाही पतनशील और गत्वर (चञ्चल) यह जगत है ॥ ४ ॥

हाथी को फंसानेवाली हस्तिनी की प्रतिमा के समान यह स्त्री का चित्र (आश्चर्य रूप लेख) को जगतपति ने तेरे लिये काल रूप ही रचा है, उसे विवेक से समझो ॥ ५ ॥ अन्यथा (समझने बिना) कामान्ध हाथी के समान विवश होकर तीव्र अंकुश तुल्य यमयातनादि को सहोगे ॥ ६ ॥ और शरीर धनादि से तुम क्या व्यर्थ गर्व करते हो । समझो कि, उस तन धन के सब साधन कृमि वा भस्म अवश्य होगा ॥ ७ ॥ वनौका

छूटन की संशय परी मन बौरा हो ।
घर घर नाचे द्वार समुझु मन बौरा हो ॥
ऊंच नीच जानै नहीं मन बौरा हो ।
घर घर खायहु डाँग समुझु मन बौरा हो ॥

मोक्षस्य संशयस्तावद् यावत् स्वादु न हीयते ।
स्नेहो वा यावदत्राङ्ग ! द्वारेष्वत्र सुनृत्यसि ॥ ९ ॥
मर्कटो हि यथा द्वार्षु नृत्यमेव गृहे गृहे ।
तथैव त्वं शरीरेषु विद्धि बद्धो हि नृत्यसि ॥ १० ॥
कीशवत्त्वं प्रधानं वा निकृष्टं नैव वेत्स्यसि ।
गृहदेहेषु तद् विद्धि दण्डाघातं सहिष्यसे ॥ ११ ॥
नर्तितं हि त्वया तद्वत्सोढं च बहु ताडनम् ।
तद्विद्धि त्यज चाद्यापि स्नेहपाशं भयंकरम् ॥ १२ ॥

(वानर) के समान तुम मूठी बांधकर और दोः (भुजा) पसार कर स्वादु वस्तु का ग्रहण किये हो, तिसी से तुम अपने को बन्धन युक्त समझो, अन्यथा नहीं ॥ ८ ॥

जबतक स्वादु वस्तु नहीं त्यागे जाते, तब तक मोक्ष का संशय है, और हे अङ्ग ! जब तक स्नेह है, तब तक यहां द्वारों (योनियों) में अच्छी तरह नांचते हो ॥ ९ ॥ और मर्कट जैसे घर २ में द्वारों पर नाचता ही है, तैसे ही तुम बँध कर शरीरों में नांचते हो, सो समझो ॥ १० ॥ वानर के समान तुम भी प्रधान (परमात्मा वा उत्तम) को तथा निकृष्ट (अधम) को विवेक पूर्वक नहीं समझोगे। और गृहतुल्य देहों में दण्डोंसे मार सहोगे, सो समझो ॥ ११ ॥ वानर के समान तुमने बहुत नाचा है, और बहुत ताडन भी सहा है, उसे समझो, और अब भी भयंकर स्नेहबन्धन को त्यागो ॥ १२ ॥

ज्यों सुगना नलिनी गह्यो मन बौरा हो।
ऐसो भरम विचार समुझु मन बौरा हो॥
पढ़े गुणे का कीजिये मन बौरा हो।
अन्त बिलैया खाय समुझु मन बौरा हो॥
शूने घर का पाहुना मन बौरा हो।
ज्यों आवै त्यों जाय समुझु मन बौरा हो॥

गृहीत्वा नालिकां यद्वद् गृहीतोऽस्मीति मन्यते।
कीरस्तथा भ्रमं विद्धि विचारं कुरु मुक्तये॥ १३॥
भ्रान्तिश्चेन्नहि ते नष्टा पठित्वा वा प्रगुण्य च।
किं त्वयाऽन्तेऽस्ति कर्तव्यं माया मार्जारिकाऽत्स्यति॥१४॥
पठन्तं हि यथा कीरं बद्धमत्ति विडालिका।
तथा विषयिणं मूढं मायाऽविद्येति विद्धि ताम्॥ १५॥
यथा शून्यगृहात्कश्चिदतिथिर्वा कुटुम्बकः।
क्षिप्रं यथाऽऽगतं याति सत्कारादिविवर्जितः॥ १६॥
भ्रान्तो यथाऽऽगतं याति विद्या तद्धृदयात्तथा।
तद्विद्धि सत्कुरुष्वैनां स्वयं च सत्कृतो भव॥ १७॥

जैसे सूवा नालिका को पकड़ कर, भ्रम से मानता है कि, मैं पकड़ा गया हूं. तैसा ही भ्रम तुम समझो, और मुक्ति के लिये विचार करो॥ १३॥ यदि तेरी भ्रान्ति नहीं नष्ट हुई तो पढकर और प्रगुणन (चिन्तनादि) करके भी अन्त में तुझे क्या करना है। उस समय माया रूप मार्जारी खा लेगी॥ १४॥ जैसे पढता हुवा भी सूवा को बँधा रहने पर बिलारी खाती है, तैसे ही मूढ विषयी को माया अविद्या खाती है, उसे समझो॥ १५॥ जैसे शून्य घर से कोई अतिथि वा कुटुम्ब सत्कारादि रहित हो कर, जैसे आता है तैसे ही शीघ्र लौट जाता है॥ १६॥ तैसे ही भ्रान्त प्राणी यथाऽऽगत आता है, तथा उसके हृदय से विद्या भी

नहाने को तीर्थं घना मन बौरा हो।
पूजन को बहु देव समुझु मन बौरा हो ॥
बिनु पानी नल बूड़ि हो मन बौरा हो।
(तुम) टेकहु राम जहाज समुझु मन बौरा हो ॥
कहहिं कबिर जग भर्मिया मन बौरा हो।
(तुम) छाड़हु हरि को सेव समुझु मन बौरा हो ॥१॥

स्नानार्थं बहुतीर्थानि पूजार्थं दैवतानि च।
भ्रान्तिसत्त्वे हि विद्यन्ते विद्धि तानि विवेकतः ॥१८॥
विवेकादि विना त्वङ्ग ! जलेनाऽपि विना भवे।
निमङ्क्ष्यसि ततो रामं विद्धि तत्पोतमाश्रय ॥ १९ ॥
रामं संश्रित्य सर्वं त्वं त्यजान्यत्तीर्थदैवतम्।
भ्रान्तं तत्र जगत् कृत्स्नं तन्निबोध विवेकतः ॥ २० ॥
सद्गुरुश्चाह भोः साधो ! सर्वं त्यक्त्वा हरिं भज।
सच्चिदानन्दरूपं वै नित्यानन्दस्य लब्धये ॥ २१ ॥

जैसे की तैसी जाती है, इससे उस ज्ञान को समझो, इस विद्या का सत्कार करो, और स्वयं भी सत्कृत होवो ॥ १७ ॥

भ्रम के रहने पर स्नान के लिये बहुत तीर्थ, और पूजा के लिये बहुत दैवत (देवसमूह) हैं, उन्हे विवेक से समझो ॥ १८ । और हे अङ्ग ! विवेकादि विना जल के विना भी संसार में डूबोगे, तिससे उस संसार के पोत (नाव) का आश्रयण करो ॥ १९ ॥

राम का शरण लेकर अन्य तीर्थ दैवत को तुम त्यागो, सब जगत उसमें सत्यादि बुद्धि से भ्रान्त (भ्रमयुक्त) है, उसे विवेक से समझो ॥२०॥ और सद्गुरु कहते हैं कि, हे साधो ! नित्यानन्द की प्राप्ति के लिये, सबको त्याग कर, सच्चिदानन्दस्वरूप हरि को भजो ॥२१॥ सब जगत के निवास

श्रुते मते वै जगतां निवासे ध्याते च दृष्टे खलु रामनाम्नि ।
परात्परे ब्रह्मणि निर्विशेषे कामादिबाधा नहि वर्ततेऽत्र ॥२२॥
स्नेहश्च मोहो ममता गृहादिषु कामश्च क्रोधोऽपि मदोऽथ मत्सरः।
यावद्धि चैते ननु विद्यया किमु हन्याद्धरेर्ज्ञानधनु विधाय तान् ॥२३॥

यावत्कामश्च लोभश्च दुराशा मत्सरो मदः ।
रागद्वेषौ कुतस्तावन्मोक्षवार्ताऽपि संभवेत् ॥ २४ ॥
ममतां तु निराकृत्य कामक्रोधादिकं तथा ।
गच्छन्ति परमं स्थानं वीतरागा विमत्सराः ॥ २५ ॥
इन्द्रियाणि वशे कृत्वा ज्ञात्वा देवं निरञ्जनम् ।
मायामयं जगज्ज्ञात्वा मोक्षं विन्दन्ति निःस्पृहाः ॥२६॥१॥

रूप राम नामवाला पर से पर निर्विशेष ब्रह्म के सुने मनन ध्यान किये जाने पर, यहां कामादि की बाधा (पीड़ा) नहीं रहती है ॥ २२ ॥ सांसारिक स्नेह, मोह, गृहादि में ममता, काम, क्रोध, मद और मत्सर, जब तक ये सब हैं ही, तब तक विद्या से क्या फल है, इससे हरि के ज्ञान रूप धनुष को बनाकर इनका नाश करे ॥ २३ ॥ जब तक काम लोभ दुष्ट आशा मत्सर मद राग द्वेष हैं तब तक मोक्ष की बात भी किससे हो सकती है ॥ २४ ॥ ममता तथा कामक्रोधादि का निराकरण करके ही राग मत्सर रहित प्राणी परम स्थान को जाते हैं ॥ २५ ॥ इन्द्रियों को वश में कर के निरञ्जन देव को जान कर और जगत को मायामय जान कर इच्छा रहित प्राणी मोक्ष पाते हैं ॥ २६ ॥

अक्षरार्थ–हो (हे) मनबौरा (उन्मत्त मनवाला, या बौरा मन) जगत का नेहरा (प्रेम) को जारो (नष्ट करो)। जा महँ (जिस स्नेह या जगत में) शोक संतापादि होते हैं, उसे समझो । यह संसार बिना नेव (नींव) के देवघर (मन्दिर) तुल्य है, और इसके कारण रूप पदार्थ बिना कहगिल (कादों गारा) के ईंट तुल्य हैं । क्योंकि आत्मा असंग है, माया आदि अनिर्वचनीय हैं ।

संसार में कालबूत (काल स्वरूप या कलबूत–देह चित्र) रूप की हस्तिनी के समान स्त्रीरूप चित्र को जगदीश ने रचा है। कामान्ध गज तुल्य मनुष्यादि परवश होकर अंकुश तुल्य यातनादि को शिर पर सहता है, और सहोगे, सो समझो। तन धन से क्या गर्वसी (गर्व करते हो) कि जाके (जिसके) साज (साधन-समूह) भस्म वा कृमि अन्त में होते हैं। मरकट (वानर) जैसे स्वाद की (स्वादयुक्त वस्तु की) मूठी बांधता है। तैसे तुम भुजा पसार कर स्वादु वस्तु लिये हो, और बँधे हो।

भुजा पसार कर पकडने से छूटने के संशय में बुद्धि पड़ी है, और मरकट तुल्य घर २ के द्वारों पर नांचते हो। मरकट के समान ही ऊंच नीच कुछ नहीं समझते हो, और उसीके समान घर २ में डाँग (लाठी) के मार खाये हो, सो समझो।

जैसे सूगा नलिनी को स्वयं पकड़ कर, भ्रम से बन्धन समझता है, विचार से तैसा ही भ्रम अपने में समझो। यदि भ्रम नहीं छूटा तो पढ गुण कर भी क्या करोगे। पढनेवाले सूगों की तरह तुझे भी अन्त में माया काल रूप बिलाव खा लेगा। शून्य घर की पाहुन की तरह, शून्य हृदय में विद्या जैसे आती है, तैसे ही चली जाती है, सत्कारादि नहीं पाती है, इत्यादि।

और अज्ञ का नहाने के लिये घना (बहुत) तीर्थ हैं, पूजने के लिये बहुत देव हैं। हे नर ! इसी विस्तार से पाणी के बिना ही बूडोगे। इससे अब भी एक सर्वात्मा राम जहाज को टेको (शरण लो) कि जिससे बचोगे।

साहब का कहना है कि, सब संसारी भ्रमयुक्त हैं, इससे मोक्ष सुखादि के लिये, अनात्मा में भटकते हैं, तुम भ्रम को छोड़ो (नष्ट करो) और केवल हरि को ही सेवो ॥ १ ॥

चांचर ॥ २ ॥

खेलति माया मोहिनी मन०। (जिन) जेर कियो संसार समुझु०
रच्यो रंग तिनि चूनरी मन०। सुन्दरि पहिरे आय समुझु०
शोभा अद्बुद रूप की मन०। महिमा वरणि न जाय समुझु०
चन्द्रवदनि मृगलोचनी मन०। बुन्दका दियो उघारि समुझु०

जनतामोहिनी माया क्रीडतीव जगत्त्रये ।
या संसारिणः सर्वे जीर्णा गीर्णा निपीडिताः ॥ २७ ॥
कौतुकं चांचराख्यं सा कुर्वतीव विलासिनी ।
कुरुते बहुधा लीलां तां विद्धि दुःखदां सदा ॥२८॥
त्रिभिर्गुणमयै रागैः पटं चित्रं विधाय च ।
विद्धि तां सुन्दरीभूत्वा परिधायाऽत्र चागताम् ॥ २९ ॥
तस्या रूपस्य शोभा सा परमाद्भुतरूपिणी ।
अनिर्वाच्यं महत्त्वं च ज्ञायतां स्वविवेकतः ॥ ३० ॥
चन्द्रवद्वदनं यस्या लोचनं मृगनेत्रवत् ।
ललाटबिन्दुमुद्घाट्य स्थितां विद्धि विशेषकम् ॥ ३१ ॥

जनसमूह को मोहनेवाली वह माया मानो तीनों लोक में क्रीडा करती हुई वर्तमान है, कि जिससे सब संसारी जीर्ण (वृद्ध—असमर्थ), गीर्ण (स्तुत—भक्षित) निपीडित हुए हैं ॥ २७ ॥ वह विलासिनी (लीलावाली) माया चांचर नामक कौतुक करती हुई के समान बहुत प्रकार की लीला करती है। उसे सदा दुःखदा जानो ॥ २८ ॥ गुणमय तीन रागों से चित्रपट बना कर, और सुन्दरी होकर, उस पट को पहिर कर, यहाँ आई हुई उस माया को समझो ॥ २९ ॥ उसका रूप की भी वह शोभा परम आश्चर्य स्वरूपवाली है। और उसके महत्त्व भी अनिर्वचनीय हैं, सो अपना विवेक से समझो ॥ ३० ॥

जिसके चन्द्रमा के तुल्य वदन (मुख) है, मृग का नेत्र के तुल्य

यती सती सब मोहिया मन० । गज गति वाकी चाल समुझु०
नारद के मुख माँड़ि के मन० । लीन्ही वसन छिनाय समुझु०
गर्व गहेली गर्व से मन वौरा हो । उलटी चली मुसुकाय समुझु०
शिव सन ब्रह्मा दौड़ि के मन० । दोनो पकरिन जाय समुझु मन०

यतीन् सतीः सतः सर्वान् सा मोहितवती तथा ।
गजवद्गतिशीला या विद्धि त्वं तां विमोहिनीम् ॥ ३२ ॥
नारदस्य मुखे सैव निहत्येव चपेटिकाम् ।
विभूष्य मर्कटाकारै र्वस्त्रं तस्य जहार च ॥ ३३ ॥
प्रतिष्ठामहरत्तस्य मर्यादां च बहूत्तमाम् ।
आच्छादनं च मनसस्तां विद्धि चाति दुर्विधाम् ॥ ३४ ॥
गर्वसंग्राहिणी गर्वान्निवृत्य सा ततोऽगमत् ।
संस्मित्य नारदात्तां हि विद्धि गर्वस्वरूपिणीम् ॥ ३५ ॥
महायोगीश्वरं शम्भुं विज्ञराजं विधिं तथा ।
कृत्वा ताभ्यां समान् सर्वान् योगिनो विज्ञमानिनः ॥
अगृह्णद् विद्धि धावित्वाऽगृह्णीतामथ तौ च ताम् ॥३६॥

लोचन (नेत्र) हैं, विशेषक (तिलक) रूप ललाटबिन्दु को उघार कर स्थिर उसी माया को समझो ॥ ३१ ॥ संन्यासी, सती स्त्रियाँ, सत्पुरुष सब को वह मोहित किया है, तथा जो हाथी तुल्य गमन के स्वभाववाली है, उस विमोहनी को तुम समझो ॥ ३२ ॥ वही माया नारद के मुख में चपेटिका (चपेटा) मार कर के समान, और वानराकार से विभूषित कर के उनका वस्त्र हर लिया ॥ ३३ ॥ प्रतिष्ठा, और बहुत उत्तम मर्यादा हरा, तथा मन का आच्छादन (वस्त्र–अपवारण) को भी हरा, उसको अति दुर्विध (खल–दरिद्र) जानो ॥ ३४ ॥

गर्व का संग्रह करनेवाली वह माया गर्व से कुछ हंस कर उस नारद से लौट कर चल दिया, उस गर्व स्वरूप वाली को समझो ॥ ३५ ॥ महायोगीश्वर शिव को और पण्डितराज ब्रह्मा को अथवा उनके

फगुआ लीन्ह छिनाय के मन० । बहुरि दियो छिटकाय समुझु०
अनहद ध्वनि बाजा बजै मन० । श्रवण सुनत भो चाव समुझु०
खेलनिहारा खेलि हैं मन० । बहुरि न ऐसो दाव समुझु मन०

नित्यानन्दवसन्तं च समाच्छिद्य तयोर्बलात् ।
प्रायोजयदनित्येन सुखलेशेन तावुभौ ॥ ३७ ॥
तस्मादपि कदाचिच्च तौ क्रुधेव व्ययांजयत् ।
दैत्यैर्युद्धादिकालेषु विद्धि तां चञ्चलागतिम् ॥ ३८ ॥
अनाहतो ध्वनिर्यस्तु श्रूयते श्रवणादिषु ।
वाद्यं नदति तच्छ्रुत्वा वाञ्छा भवति विद्धि ताम् ॥ ३९ ॥
दक्षाः केलिं करिष्यन्ति केऽपि कौतुकिनस्तथा ।
मोक्षश्रियोऽत्र लाभाय ह्यानन्दघनलब्धये ॥ ४० ॥
भूयो नावसरो हीदृक् प्राप्स्यते सत्वरं जनैः ।
बुध्वेति सावधानेन क्रीडतां विद्धि ताञ्जनान् ॥ ४१ ॥

तुल्य सब योगी पण्डितमानी को दौड़कर वह माया पकड़ लिया। और फिर वे दोनों उसे पकड़े ॥ ३६ ॥ और माया ने उनके नित्यानन्द रूप वसन्त को बल से विच्छिन्न पृथक करके अनित्य सुखलेश से उन दोनों को युक्त किया ॥ ३७ ॥ और कभी दैत्यों के साथ युद्धादि काल में उस अनित्य सुख से भी मानो उन्हे क्रोध से रहित कर दिया, तिस चञ्चला की गति को समझो ॥ ३८ ॥

कान आदि में जो अनाहत ध्वनि (शब्द) सुना जाता है, वही इस माया के चांचर खेल में वाद्य (बाजा) नदता (बजता) है, उसे सुनकर खेल की वाञ्छा (इच्छा) होती है, सो समझो ॥ ३९ ॥ कोई दक्ष (चतुर) तथा कौतुकी (खेलाड़ी) ही यहां मोक्षश्री का लाभ और आनन्द घन की प्राप्ति के लिये ही केलि (क्रीड़ा-खेला) करेंगें ॥ ४० ॥ मनुष्यों को ऐसा अवसर भूयः (बहुत-फिर) नहीं मिलेगा । इस प्रकार जानकर, सावधान

ज्ञान ढाल आगे दियो मन० । टारे टरत न पावँ समुझु मन० ॥
खेलनिहारा खेलही मन० । जैसी वाकी दाव समुझु मन० ॥
सुर नर मुनि औ देवता मन० । गोरख दत्ता व्यास समुझु० ॥
सनक सनन्दन हारिया मन० । और कि केतिक बात समुझु० ॥

ज्ञानचर्म हि तै र्दत्तमग्रतो धारणादितः ।
मनो बुद्धिश्च पादौ नो कदाचिदपगच्छतः ॥ ४२ ॥
विचालनाच्च मायाया ये चलन्ति कदाचन ।
तान् वै विजयिनो विद्धि मायायाश्च भवस्य च ॥ ४३ ॥
ये त्वन्येऽनवधानेन खेलायन्ति कुयोगतः ।
तस्या अवसरो येन नाष्टान् विद्धि वं जनान् ॥४४॥
तस्यै यावद् ददुः केऽपि प्रस्तावं भूसुरा नराः ।
मुनयो देवता दत्तो गोरक्षो व्यास एव वा ॥ ४५ ॥
सनन्दनश्च सनकः सर्वे तावत्पराजिताः ।
पराभूतौ तदन्येषां किं वक्तव्यं हि विद्धि तत् ॥ ४६ ॥

मन से क्रीडा करनेवाले जनों को समझो ॥ ४१ ॥ उन लोगों ने धारणा-ध्यानादि से ज्ञानरूप चर्म (फलक-ढाल) को आगे दिया है, और उनके मन बुद्धिरूप पैर धारणादि से कभी हटते नहीं हैं ॥४२॥ जो कोई माया के विचालन (हटाने) से कभी अपनी धारणादि से चलते (हटते) नहीं हैं, उन्ही को माया और संसार के विजयी समझो ॥ ४३ ॥

जो अन्य कोई असावधान मन से कुयोग से खेल करते हैं, कि जिससे उस माया को अवसर मिलता है, उन जनों को नष्ट ही समझो ॥ ४४ ॥ उस माया को जबतक, भूसुर (ब्राह्मण), मनुष्य, मुनि. देवता. दत्तात्रेय. गोरख, वा व्यास सनक सनन्दन भी प्रस्ताव (अवसर) दिये, तब तक सब पराजित हुए । फिर उनसे अन्य के पराभव में तो कहना ही क्या है, सो समझो ॥ ४४-४६ ॥

छिलकत थोंथे प्रेम के मन० । धरि पिचकारी गात सपुञ्ज० ॥
कै लीयो वशि आपने मन० । फिरि फिरि चितवत जात स०॥
ज्ञान गाड़ लै रोपिया मन० । त्रिगुण दियो है साथ स० ॥
शिव सन ब्रह्मा लेन कह्यो मन० । औरकि केतिक बात सपुञ्ज० ॥

मिथ्याप्रेमात्मिकां धृत्वा रागप्रक्षेपिणीं करे ।
रागं क्षिपति सर्वेषां देहे तच्चिन्त्यतां त्वया ॥ ४७ ॥
इत्थं कृतवती सर्वान् स्ववशे सा पुनः पुनः ।
पश्यन्त्येव परावृत्य याति तां विद्धि काऽस्ति सा ॥४८॥
सद्विवेकं हि सर्वेषां मोहश्वभ्रे व्यरोपयत् ।
किंवाऽसत्त्रिगुणज्ञाने रन्ध्रे सर्वान् व्यपातयत् ॥
त्रिगुणं सर्वबन्धाय सर्वैः सह चकार सा ॥ ४९ ॥
कृत्वाऽनुकरणं सर्वं चाँचरस्य हि चञ्चला ।
बध्नाति पुरुषान् सर्वांस्तद्विद्धि त्वं विवेकतः ॥ ५० ॥
विधातारं शिवं स्वस्या वशे कर्तुमुवाच सा ।
किंवा ताभ्यां समान् सर्वान् काऽन्यवार्तेति बुध्यताम् ॥५१॥

मिथ्या प्रेम स्वरूप रागप्रक्षेपिणी (रंग फेंकने का साधन) को मानो हाथ में धर कर के वह सब के देह पर राग (रंग) फेंकती है, सो तुम विचारो ॥ ४७ ॥ इसी प्रकार वह सबको अपने वश में बार २ किया है, और लौट कर देखती ही आ रही है, उसे समझो कि वह कौन है ॥४८॥ सब के सद्विवेक को वह मोहरूप श्वभ्र (बिल) में गाड़ दिया है, अथवा असत् त्रिगुण वस्तु के ज्ञान रूप रन्ध्र (बिल) में सब को गाड़ दिया है, और वह सब का बन्धन के लिये सब के साथ में तीन गुण का समूह को कर दिया है ॥ ४९ ॥ और यह चञ्चला चांचर का ही सब अनुकरण (रीति) करके सब पुरुषों को बांधती है । तिस बन्धनादि को तुम विवेक से समझो ॥ ५० ॥

वह माया विधाता (ब्रह्मा) शिव को अपने वश में करने के लिये

एक ओर सुर नर मुनी मन० । एक अकेली आप समुझु० ॥
दृष्टि परै छाड़ै नहीं मन० । कै लियो एक धाप समुझु० ॥
जेते थे तेते लियो मन० । घूंघुट माँहि समोय समुझु मन० ॥
कज्जल वाके रेखवा मन० । अदग गया नहिं कोय समुझु० ॥

एकतो मुनयो देवाः सर्वे तिष्ठन्ति मानवाः ।
सन्नद्धाः केवला सैव चान्यतो विद्धि तां सदा ॥ ५२ ॥
दृष्टे गोचरतां प्राप्ते जनं कमपि नाऽत्यजत् ।
एकेनाक्रमणेनेयं पदाक्रान्तं चकार ह ॥ ५३ ॥
आक्रान्ता अभवन् ये ये तान् सर्वान् स्वावृतौ किल ।
अवगुण्ठे समावेश्य धारयत्तच्च बुध्यताम् ॥ ५४ ॥
तामस्याः खलु मायाया आकारः कज्जलाकृतिः ।
निष्कलङ्को न कोऽप्यस्या यतस्तत्सङ्गवाञ्जनः ॥ ५५ ॥
तस्या द्वारि स्थितो ह्यीन्द्रः कृष्णश्चैव प्रतापवान् ।
दर्शनायातिलुब्धः सन् दृष्ट्वा नृत्यति विद्धि तत् ॥ ५६ ॥

बोली है, अथवा उनके तुल्य सबको वश में करने के लिये बोली है, तो अन्य की बात क्या है सो समझो ॥ ५१ ॥ एक तरफ सब मुनिदेव मनुष्य सन्नद्ध (वर्मित–सज्ज) हैं, और अन्य तरफ वही केवल है, उसे सदा समझो ॥ ५२ ॥ दृष्टि के विषय होने पर वह किसी जन को नहीं छोड़ा, किन्तु एक ही आक्रमण (पूर्ण पैर का प्रसारण)में सबको पैर से आक्रान्त कर लिया (दबा लिया) ॥ ५३ ॥

जो २ उस माया के पाद (भाग) से आक्रान्त (पराजित हुए, उन सबको वह अपनी आवरण शक्ति रूप अवगुण्ठन (घूंघुट) में पैठाकर धारण किया, सो समझो ॥ ५४ ॥ तामसी माया का आकार कज्जल के समान आकृतिवाला है, इससे उसके संगवाला कोई जन इससे निष्कलङ्क नहीं गया ॥ ५५ ॥ तिस माया का दर्शन के लिये अतिलोभी होकर, उसके

इन्द्र कृष्ण द्वारे खड़े मन० । लोचन ललचि नचाय समुझु० ॥
कहहिं कबिर ते ऊबरे मन बौरा हो ।
जाहि न मोह समाय समुझु मन बौरा हो । २ ॥

इन्द्रियद्वार्षु यद्वते हीन्द्रविष्ण्वादयः सदा ।
तिष्ठन्ति तज्जलोभेन दृष्ट्वा नृत्यन्ति जन्तवः ॥ ५७ ॥
विनिर्जित्य हि मायां स मुक्ता भवति सर्वथा ।
यस्य हृदि यदा मोहः संविशेन्न कदाचन ॥ ५८ ॥
" विनीतमानमोहश्च बहुसङ्गविवर्जितः ।
तस्मात्मज्योतिषः साधो ! निर्वाणमधिगच्छति " ॥५९॥
तस्मात्सद्गुरुराहैवं कबीरः सर्वसज्जनम् ।
मोहं मार्जयतां त्यक्त्वा सङ्गं चैव सुखी भव ॥६०॥
मायामयं विश्वमलं विदित्वा त्यक्त्वैव मोहं ममतां च दूरे ।
गतस्मया हर्षविषादहीना विजित्य मायां सुखिनो भवन्ति ॥६१॥

द्वार पर इन्द्र प्रतापवान् कृष्ण भी स्थिर हैं, और उसे देख कर नाचते हैं, सो समझो ॥ ५६ ॥ अथवा ये इन्द्र विष्ण्वादि इन्द्रियों के अधिदेव सब इन्द्रियों के द्वारों पर सदा स्थिर रहते हैं, और उन अधिदेवो की प्रेरणाजन्य लोभ से मायिक वस्तु को देखकर जन्तु सब नाचते हैं ॥५७॥

जिसके हृदय में जब मोह कभी नहीं पैठे, तब वह माया को जीत कर सर्वथा मुक्त होता है ॥ ५८ ॥ हे साधो ! मान (अभिमान) और मोह तथा बहुत संग से रहित ही प्राणी उस आत्मज्योति ज्ञानवाला ज्ञानी के निर्वाण (मोक्ष) को पाता है, (यह महाभारत शान्ति प० अ० २६ । १६ । का वचन है,) ॥ ५९ ॥ तिससे सद्गुरु कबीर सब सज्जन को इस प्रकार कहते हैं कि, मोह का मार्जन (निवारण) करो, और संग को त्याग करके ही सुखी होवो ॥ ६० ॥ संसार सब भुवनादि को मायामय अच्छी तरह जानकर, और मोह ममता को दूर में त्याग करके ही

स्नेहसूर्यादिजं तापं पापमायादिजं तमः ।
हरन्ती चांचराब्जस्य चन्द्रिकेयं विराजताम् ॥ ६२ ॥

दृष्ट्वा चांचरचन्द्रिकां हि सुजनः संसारसिन्धोस्तटम् ।
आश्रित्याजरमद्वयं सुविमलं रामं परं पावनम् ॥

त्यक्त्वा रागरसं च मोहमिहिकां कृत्वा कलिं मायया ।
छित्वा तां च विवेकखड्गतरसा सत्ये पदे राजताम् ॥६३॥७॥

इति श्री सद्गुरु कबीर साहब कृते विविध बंध बीज विध्वंसने बीजकनाम्नि ग्रन्थे मोहंविध्वंसनं नाम चांचराख्यं सप्तमं प्रकरणं समाप्तम् ॥ ७ ॥

स्मय (विस्मय–आत्म–मान्यता) रहित, और हर्ष विषाद रहित लोक माया को जीत कर सुखी होते हैं ॥ ६१ ॥ सांसारिक प्रेमादि जन्य ताप को और पाप मायादि जन्य अन्धकार को नष्ट करती हुई यह चांचररूप अब्ज (चन्द्र) की चन्द्रिका (ज्योत्स्ना) बिराजे ॥ ६२ ॥ सुजन पुरुष, चांचर (चर्चरी) की चन्द्रिका को देखकर, और संसार समुद्र के तट रूप अजर अद्वय सुविमल पर (उत्तम) पावन राम का आश्रयण करके, राग रूप रस को तथा मोहरूप मिहिका (हिम) को त्याग कर, माया के साथ कलि (युद्ध) करके, और बिवेक रूप तरवार के वेग से उसका छेदन (नाश) करके, सत्य पद (स्थान) में विराजे ॥ ६३ ॥

अक्षरार्थ–हे मन बौरा ! सब से भारी भ्रम का कारण रूप अनित्य सुख का हेतु रूप यह विश्व–विमोहिनी माया चांचर खेल रही है, जिसने संसारी को जेर (तंग-हीन-हैरान) किया है। और उसने चांचर खेलने के लिये तीन रंग (सत्व रज तम या श्वेत रक्त स्याह) से चूनरी (चित्र पट या त्रिगुण पदार्थ) को रचा है। और सुन्दरी होकर उसे पहिर कर आई है। और उसकी अद्भुत शोभा और महिमा का वर्णन नहीं किया जा सकता।

चन्द्रतुल्य वदनवाली मृगलोचनी माया ने मोहने के लिये चन्दनादि की बुन्दका (तिलक) को उघारी है। यति (संन्यासी), सती (सत्यवक्ता आदि) सब को मोही है। हाथी की गति के समान उसकी चाल है। वही नारद के मुख मँडि के (मुख में मार कर, या वानराकार से मुख को विभूषित कर के) उनके वसन (वस्त्र-परदा या प्रतिष्ठा) को छिनाय लिया (नष्ट किया)। देवर्षि की भी अचल स्थिति नहीं रहने दिया।

गर्व गहेली (गर्व रखनेवाली) माया मुसुका कर, नारदजी से उलट कर, चली। और शिव सन (शिव ऐसे) योगी, और ब्रह्मा ये दोनों दौड कर, (पहुंच) कर, उसे पकडिन, या माया इन दोनों को पकड़ी। और इनके फगुआ (नित्यवसन्तानन्द-ज्ञान फाग) छीन लिया, और तुच्छ सुख दे दिया। फिर उस तुच्छ सुख से भी छिटकाय-(पृथक् कर) दिया। अर्थात् अधिकार तक ये भी नित्यवसन्त में स्थिर नहीं रह सके ऐसी माया की प्रबलता को समझो।

चांचर की तरह, अनहद ध्वनि ही बाजा बजता है, जिसे कान से सुनने पर, योग खेलादि की चाव (इच्छा) होता है। कोई विरल खेलाड़ी माया के साथ सावधानी से खेलेगें। जो जानते हैं कि, बहुरि (फिर) ऐसा दाव (मोका अवसर) नहीं मिलेगा। और वे ज्ञानी ज्ञान रूप ढाल को आगे दिये (किये) रहते हैं, और धारणा ज्ञानभूमिकादि से उनके पांव (मन बुद्धि) टारने से भी किसी प्रकार नहीं टर सकते।

सब खेलनेवाले माया के साथ खेलते हैं, परन्तु जैसी उसकी दाव रहती है वैसा खेलते हैं, अपनी दाव के अनुसार नहीं खेलते, इससे पराजित होते हैं, उसकी दाव के अनुसार खेलनेवाले सुर (शूर-देवतुल्य) नर मुनि देवता गोरख दत्तात्रेय, व्यास सनक सनन्दन भी तब तक हार गये, फिर अन्य की बात ही क्या है। अपने २ अधिकार तक प्रारब्धादि के अनुसार सभी माया से हैरान हीं रहते हैं, विरल जीवन्मुक्त निश्चिन्त होते हैं।

थोंथे (नकल–कुण्ठित) प्रेम की पिचकारी को हाथ में धरके रागादि-रूप रंग सब के गात (देह) पर माया छिलकती (डारती) है । और इस प्रकार सबको अपने वश में कर लिया है, तौभी फिर २ कर चितवत्त (देखती) जाती है, कि कोई बच नहीं जाय । सब के ज्ञान को मोहरूप गाड (खाई) में लेकर रोपा (गाड़ा) है । या त्रिगुण के ज्ञान रूप गाड़ में सबको खड़ा किया है, और बन्धन के लिये तीन गुण सब के साथ दिया (किया) है इत्यादि ।

शिव सन (शिव समान) और ब्रह्मा को भी स्ववश में लेने (करने; के लिये माया ने कह्यो (कहा–प्रतिज्ञा किया) है, फिर अन्य की केतिक (कितनी–क्या) बात है । एक ओर (तरफ) देव मनुष्यादि सभी हैं, और एक तरफ अकेली आप (माया) है । परन्तु दृष्टि परने (देखने) पर किसीको उसने छोड़ा नहीं, सबको एक ही धाप (डेग–फलान) में वश कर लिया इत्यादि ।

इन्द्र और कृष्ण प्रधान देव भी माया के द्वार पर खड़े हैं, और नेत्र से उसे देखने के लिये ललचते (लोभ करते) हैं, उसे देखकर आनन्द से नाचते हैं । या इन्द्रियद्वार पर इन्द्रादि देव खड़े हैं, जिससे देखने आदि के लिये जीव सब लालच (लोभ) करके, देखने पर नाचते हैं, और देव सब नचाते हैं ।

माया के दाग बन्धनादि से वे ही लोक ऊबरते (बचते) हैं कि जिन में मोह (अविवेक आसक्ति आदि) नहीं समाते हैं । इससे मोह के कारण स्नेह भ्रमादि का नाश के लिये उपाय करना उचित है ॥ २ ॥

हनूमान हरि भजन बिनु, जग का नेह न जाय ।
नेह गये बिनु जीव जग, फिरि फिरि भटका खाय ॥ १ ॥
हरि गुरु भक्ति विचार करि, नेह मोह करि दूर ।
जें निर्भय विचरहिं मही, ते पावहिं पद पूर ॥ २ ॥

इति चांचरचन्द्रिका समाप्त ॥

श्रीसद्गुरुचरणकमलेभ्यो नमः।

तत्रादौ मङ्गलं, सम्बन्धश्च।

अथाष्टम (ज्ञान) चौतीसी प्रकरणम् ॥ ८ ॥

यः शुद्धो ज्ञानमूर्तिः स्थिरचरनिकरं व्याप्य चास्ते स्वभासा,
भोगान् भुक्त्वेव लोके तनुमतिमनसां साक्षिभूतोऽद्वितीयः।
हृत्वा सर्वान् विवर्तान् स्वमहिमनि तदा मायया सुप्तवच्च,
आनन्तं तं तुरीयं परमसदमृतं ह्याश्रये शान्तमाद्यम् ॥१॥

अक्षराणां समूहैर्यः प्राप्यते ह्यक्षरोऽपि सन्।
ओंकाराद्यभिधेयं तं सदवाच्यं सदा भजे ॥ २ ॥

अक्षरैरक्षरं नित्यं बोधयन्तं विभुं परम्।
अक्षयं तं गुरुं वन्दे परमानन्दचिद्घनम् ॥ ३ ॥

सोपानभूतान् सुविधाय योऽक्षरान् निरक्षरेऽप्यक्षधियां प्रकाशे।
प्रावेशयत्साधुजनस्य मानसं तं देशिकेन्द्रं प्रणमामि सर्वदा ॥४॥

देह बुद्धि मन के साक्षी स्वरूप अद्वितीय ज्ञान रूप मूर्तिवाला शुद्ध जो आत्मा, स्थिर (स्थावर) चर (जंगम) के समूह को अपनी भास (दीप्ति) से व्याप्त करके वर्तमान है, और लोक में भोगों को भोग कर प्रलयादि में सब विवर्तों (मिथ्या कार्यों) को नष्ट करके, उस समय अपनी महिमा में माया से सोया हुवा के समान रहता है, अनन्त परम सत्य अमृत शान्त आद्य (आदि) स्वरूप उस तुरीय (आत्मा) का ही आश्रयण करता हूं ॥ १ ॥ अक्षर (अविनाशी) होते भी जो अक्षरों (वर्णों) के समूहों से पाया (समझा) जाता है, ओंकारादि का अभिधेय (अर्थ) वस्तुतः सत्य अवाच्य उस आत्मा को सदा भजता हूं ॥ २ ॥ अक्षरों के द्वारा अक्षर (अविनाशी) नित्य विभु पर तत्त्व को समझाते हुए, परमानन्द चिद्घन अक्षय उस गुरु की वन्दना करता हूं ॥ ३ ॥ जो गुरु अक्षरों को सोपान (आरोहण-सीढी) स्वरूप करके, इन्द्रिय बुद्धि के प्रकाश स्वरूप निरक्षर में भी साधु जन के मन को प्रवेश कराया है, तिस

अलब्ध्वा रक्षणं सम्यग् निजं वैदिककर्मसु।
ययुर्यच्छरणं देवास्तमोंकारं गुरुं भजे॥ ५॥

देशिकेन्द्र (श्रेष्ठ गुरु) को सदा प्रणाम करता हूं॥ ४॥ छान्दोग्य अ. ११४। के अनुसार, देव सब वैदिक कर्मों में अपनी सम्यक् रक्षा नहीं पाकर जिस ओंकार के शरण में प्राप्त हुए, तिस ओंकार रूप गुरु को मैं भजता हूं॥ ५॥

चांचर के अन्त में मोह रहित का मोक्ष कहा गया है, और ज्ञान विना कोई मोह रहित हो नहीं सकता। इससे ज्ञान के साधनादि का वर्णन चौंतीसी प्रकरण में करते हैं। चौंतिस अक्षरों के द्वारा ज्ञान का उपदेश होने से इस प्रकरण को ज्ञान चौतीसी कहते हैं। प्रथम की चौपाई मंगलाऽभिन्न उपक्रम रूप है। और यद्यपि अक्षर बावन हैं, तथापि काव्य में चौंतिस अक्षर माना जाता है, तिसका विचार रमैनी २४ के टिप्पण में हो चुका है।

ओंकारार्थ प्रदर्शन प्र० ॥ १ ॥

(ओंकार एवेदं सर्वम्। छा० २।२३।३॥ एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म। कठ० १।२।१६) इत्यादि श्रुतियों के अनुसार सब के आत्मा ओंकार है, उसे समझे विना भ्रम-अविवेक का वर्णन करते हैं कि—

चौतीसी १

ओ अंकार आदि जो जानै। लिखि के मेटे ताहि सो मानै॥
ओ अंकार कहै सब कोई। जिन यह लखा सो विरले होई॥१॥

इदं सर्वं यदोंकारो ब्रह्मास्ति, चैतदक्षरम्।
एतदालम्बनं श्रेष्ठमित्यादिशासनाद्धि ये॥ १॥

जो यह सब हैं सो ओंकार है, यह ओंकार अक्षर ब्रह्म है, यह श्रेष्ठ आलम्बन (आधार) है, इत्यादि उपदेश से, जो ओंकार को परम पूज्य

ओंकारं परमं [1]पूज्यं सर्वस्यादिं विदन्ति ते ।
यं लिखित्वा विलुम्पन्ति तं मन्यन्ते विमोहतः ॥ २ ॥

लिखित्वेदं जगच्चित्रं यद्धि ब्रह्म निगूहते ।
ओंकारं तद्धि मन्यन्ते गुरुभक्ता विवेकिनः ॥ ३ ॥

ओंकारं शब्दमात्रं हि वदन्ति बहवो जनाः ।
ये तु तत्त्वेन जानन्ति भवन्ति विरला हि ते ॥ ४ ॥

परमात्मप्रतीकत्वं श्रेष्ठता तस्य नामसु ।
ओंकारस्य यथा तच्च श्रुतिस्मृत्योः स्फुटं परम् ॥५॥१॥

सब का आदि जानते हैं, वे भी जिसे लिखकर विलुप्त करते (मेटते) हैं, उसीको विमोह से ओंकार मानते हैं ॥१-२॥ और जो ब्रह्म इस जगत् रूप चित्र को लिख कर आवृत करता है, उसीको विवेकी गुरुभक्त ओंकार मानते हैं ॥ ३ ॥ शब्द मात्र रूप ओंकार को बहुत लोक कहते हैं, परन्तु जो उसको स्वरूप से जानते हैं, सो विरल होते हैं ॥ ४ ॥ उस ओंकार को परमात्मा की प्रतीकता (नामरूपावयवता) उसके नामों में श्रेष्ठता जैसे है, सो श्रुतिस्मृति में पर (केवल) प्रगट है ॥ ५ ॥

अक्षरार्थ-जो लोक शास्त्र द्वारा ओंकार को सबका आदि (कारण) जानते हैं, वे लोक भी जिसे लिख कर मेटते हैं, उसीको विवेकादि विना ओंकार मानते हैं। और विवेकी लोक संसार रूप चित्र को लिख कर मेटनेवाला को ओंकार मानते हैं, इससे ओंकार शब्द को बहुत लोक कहते हैं, परन्तु जिन्होंने इसे लखा (जांना) सो विरले होते हैं ॥ १ ॥

---

१ प्रणवं हीश्वरं विद्यात्सर्वस्य हृदि संस्थितम् । सर्वव्यापिनमोंकारं मत्वा धीरो न शोचति ॥ अमात्रोऽनन्तमात्रश्च द्वैतस्योपशमः शिवः । ओंकारो विदितो येन स मुनिर्नेतरो जनः ॥ गौडपादीय का० प्र० १।२८-२९ ॥

(तस्य वाचकः प्रणवः । योगसू० १।२७) इत्यादि के अनुसार ओंकार (प्रणव) ईश्वर का वाचक है, और वेदान्त के अनुसार शुद्धात्मा का लक्षणा द्वारा बोधक है. तो भी जो शब्दों से ईश्वर वा आत्मा को नहीं समझ सकता, सो ध्यानादि द्वारा समझकर विचारादि से अपरोक्ष कर सकता है। इस आशय से ध्यानादि का वर्णन करते हैं। और कहीं २ ककारादि के स्थान में कक्का इत्यादि कहते हैं, इससे कहते हैं कि—

चौतीसी २

कक्का कमल किरण महँ पावै । शशि विकसित संपुट महँ आवै ॥
तहां कुसुम्भ रंग जो पावै । अगह गही के गगन रहावै ॥२॥

स्वयंप्रकाशसूर्यात्मा क इति कथ्यते बुधैः ।
लभ्येत किरणस्तस्य यदा हृत्कमले स्वके ॥ ६ ॥
फुल्लचन्द्रसमहृदः सम्पुटे चाव्रजेत् स चेत् ।
रूपं तत्रोपलभ्येत कुसुम्भरूपवत्तथा ॥ ७ ॥
ध्यायकेन तदा सर्वं त्यक्त्वैव कमलादिकम् ।
अग्राह्यं निर्विशेषं तद् गृहीत्वैव चिदम्बरे ॥ ८ ॥
स्थातव्यं हृदये यद्वा स्वोंकारार्थमात्रकम् ।
गृहीत्वा तत्र तादात्म्यात्स्थातव्यं सदा बुधैः ॥ ९ ॥

स्वयंप्रकाश सूर्य तुल्य आत्मा पण्डितों से क इस प्रकार कहा जाता है, तिस आत्मा का किरण (मरीचि) को जब अपने हृदय कमल में पावे (समझे) ॥ ३ ॥ और वह किरण यदि फुल्ल (विकसित) चन्द्रमा के तुल्य हृदय के सम्पुट (मध्य) में प्राप्त हो, तथा वहां कुसुम्भ (महारजन वा सुवर्ण) का रूप के समान जब रूप ज्ञात हो ॥ ७ ॥ तब ध्याता को कमलादि सबको त्याग कर, उस अग्राह्य निर्विशेष को समझ कर, चिदाकाश में स्थिर होना चाहिये, वा हृदय में अपना ओंकारार्थमात्र का ग्रहण करके उसीमें तादात्म्य (अभेद) से सदा पण्डित को स्थिर होना चाहिये

किम्बाऽऽनन्दप्रकाशस्य विन्देत् किरणमात्मनः ।
शशिवद्विकचे सम्यग् हृत्पद्मे सम्पुटेऽथवा ॥१०॥
बुद्धौ मनसि वा रागे कुसुम्भवत्सुरञ्जके ।
अग्राह्यमनघं बुध्वा तदा तिष्ठेच्चिदम्बरे ॥११॥२॥

॥८–९॥ अथवा आनन्दप्रकाशस्वरूप आत्मा का किरण को शशि तुल्य विकसित हृदय कमल में वा उसके संपुट में जब पावे, या कुसुम्भ की तरह अपने रंग से आत्मा को सुरञ्जित करनेवाला बुद्धि या मन रूप राग (रंग) में उस किरण को पावे, तब अगाह्य अनघ को समझ कर, चिदाकाश में स्थिर होय ॥१०–११॥२॥

अक्षरार्थ–(कः प्रजापतिरुद्दिष्टः कोऽर्कवाय्वनलेषु च । कश्चात्मनि मयूरे च कः प्रकाश उदाहृतः ॥ कं शिरो जलमाख्यातं सुखं च परिकीर्तितम् ।) इस कोश के अनुसार प्रजापति सूर्य वायु आत्मा मयूर प्रकाशादि के वाचक क शब्द है, इससे कक्का (सुखप्रकाश रूप आत्मा) का किरण (प्रकाश) को जब कमल (हृदय) में पावे (समझे) और चन्द्र तुल्य विकसित हृदय सम्पुट में जब वह किरण आवे, और तहवाँ ही कुसुम्भ रंग जब प्राप्त हो (ज्ञात हो), तब अगह आत्मा को गह (जान) कर गगन में स्थिर होना चाहिये । यह ओंकार के अर्थ को समझने का उपाय है ॥ २॥

चौंतीसी ३

खखा चाहै खोरि मनावै । खसम हिं छोड़ि दशहुं दिशि धावै ।
खसमहिं छोडि क्षमा ह्वै रहई । ह्वै न क्षीण अक्षय पद लहई ॥३॥

चिदाकाशः सुखं स्वर्गः खशब्देन निगद्यते ।
तत्र यः स्थितिमिच्छेत्स ईश्वरप्रार्थनादिभिः ॥१२॥

ख शब्द से चिदाकाश सुख और स्वर्ग कहा जाता है, उस चिदाकाशादि में जो स्थिति की इच्छा करे, सो ईश्वर की प्रार्थना आदि से,

दोषान् क्षमापयेत् स्वस्य दुष्टं चानुनयेन्मनः।
धारणाध्यानतः सम्यग् धर्मसत्सङ्गमादिभिः ॥१३॥
कल्पितं च पतिं त्यक्त्वा धावेद् दिक्षु दशस्वपि।
आत्मदृष्ट्या गुरुं चापि मार्गयेत् सर्वतः प्रभुम् ॥१४॥
पतिं त्यक्त्वा क्षमाद्यैश्च संयुतो निवसेत् सदा।
क्षीणो न भवति ह्येवं लभते चाक्षयं पदम् ॥१५॥
स्वस्मिंस्त्यक्त्वा पतित्वं च क्षमाशीलो जितेन्द्रियः।
निर्ममो निरहङ्कारो निर्द्वन्द्वः सङ्गवर्जितः ॥१६॥
सर्वत्र समबुद्धिश्च पदं गच्छत्यनामयम्।
जीवन्मुक्तोऽभयः शान्तः सर्वत्र मुदमेति सः ॥१७॥

अपने दोषों की क्षमा करावे, दुष्ट अपने मन को अनुकूल शान्त सम्यक् धारणा ध्यानादि से और धर्म सत्सङ्गादि से करे ॥१२-१३॥ और कल्पित (मिथ्या) पति को त्याग कर, प्रभु (नेता) गुरु को सर्वत्र खोजे, और आत्मदृष्टि से दशों दिशा में धावा करे ॥१४॥ पति को त्याग कर क्षमा संतोष धैर्यादि से युक्त होकर सदा निवास करे। इस प्रकार ही जीव क्षीण (नष्ट) नहीं होता है, और अक्षय (अविनाशी) पद को पाता है ॥१५॥ और अपने में स्वामित्व के अभिमान को त्याग कर, क्षमा के स्वभाववाला, जितेन्द्रिय, ममता अहंकार रहित, संग रहित, निर्द्वन्द्व (राग द्वेषादि रहित), सर्वत्र समबुद्धिवाला, अनामय (अरोग) पद को पाता है, और वह जीवन्मुक्त भयरहित शान्त होकर सर्वत्र आनन्द पाता है ॥१६-१७॥

भावार्थ-खखबा (चिदाकाश सुख सत्य स्वर्ग) को जो चाहे, सो खोरियों (दोषों) को मनावे (भक्ति आदि द्वारा क्षमा करावे, या दुष्ट मन को शान्त अनुकूल करे) तथा खसम (कल्पित पति-पतित्व के अभिमान) को छोड़ कर, सद्गुरु सत्यपति की प्राप्ति के लिये दशो दिशा में धावे (जाय आत्मा को सर्वत्र समझे)। और असत् खसम पतित्व के अभिमान को छोड़कर, क्षमायुक्त होकर जो रहता है, सो कभी क्षीण नहीं होता है, किन्तु अक्षय पद को पाता है ॥ ३ ॥

अनात्म खसम का त्याग के लिये उपदेश को सुन कर शंका हुई, कि देवादि का त्याग करने पर वे सब अक्षय पद की प्राप्ति में विघ्न करेंगे, इससे विघ्नेश गणेश का तो किसी प्रकार भी त्याग नहीं हो सकता, तब कहते हैं कि—

चौंतीसी ४

गगा गुरु के वचने मानै। दूसर शब्द करे नहिं काने॥
तहाँ विहङ्गम कबहु न जाई। औगह गहि के गगन रहाई॥

विघ्नहर्ता गणेशोऽत्र गशब्देन निगद्यते।
तद्रूपं सद्गुरुं पश्येन्मन्येत वचनं तथा॥१८॥
अन्यं न शृणुयाच्छब्दं गुरुं च हृदि धारयेत्।
एवं दिविषदां केऽपि कदाचित्तत्र यान्ति नो॥१९॥
विघ्नमाचरितुं किन्तु सहायास्ते भवन्ति हि।
ज्ञाने ध्याने तथा भक्तौ धर्मे मुक्तौ च सर्वथा॥२०॥
देवानां च सहायत्वे निष्प्रत्यूहो नरोऽप्यसौ।
अग्राह्यं परमं बुद्ध्वा चिदाकाशे वसत्यलम्॥२१॥
शौचेन तपसा मौनादजस्रं श्रवणादिभिः।
अहिंसाद्यैश्च संशुद्धैरेषा बुद्धिरवाप्यते॥२२॥

विघ्न को हरनेवाला गणेश यहाँ ग शब्द से कहे जाते हैं, तिस विघ्नहर्ता रूप सद्गुरु को देखे, तथा उनके वचनों को विघ्नहर्ता माने॥ १८॥ अन्य शब्द को नहीं सुने, गुरु को हृदय में धारण करे, इस प्रकार करने से दिविषद (देव) में से कोई भी वहां विघ्न करने के लिये कभी नहीं आते हैं, किन्तु वे देव सब ज्ञान ध्यान तथा भक्ति धर्म और मुक्ति में सर्वथा सहायक होते हैं॥ १९-२०॥ और देव के सहायक होने पर वह निष्प्रत्यूह (निर्विघ्न) मनुष्य परम अग्राह्य को भी समझ कर चिदाकाश में अच्छी तरह से बसता (स्थिर होता) है॥ २१॥ परन्तु यह बुद्धि (ज्ञान) शौच, तप, मौन, अजस्र (सतत–नित्य) श्रवणादि, और

सद्भक्तिर्या गुरुषु च भक्तिः सर्वस्माच्चेतसि च विरक्तिः ।
हिंसात्यागः समम तिशुद्धा वित्तिः प्राज्ञे ह्यतिविमला स्यात् ॥२३।४॥

इति चौतीसीचर्चायामोंकारार्थप्रदर्शनं नाम प्रथमं वाक्यम् ॥ १ ॥

अहिंसा आदि द्वारा सम्यक् शुद्ध प्राणी से प्राप्त की जाती है ॥२२॥ और सत्यात्मा सत् पुरुषों में भक्ति रूप जो गुरुओं में भक्ति, और चित्त में सब से विरक्ति, हिंसा का त्याग, समता बुद्धि से शुद्ध अतिविमल वित्ति (ज्ञान); ये सब प्राज्ञ (विवेकी) में ही हो सकते हैं ॥ २३ ॥

अक्षरार्थ–गग्गा (विघ्नहर्ता–गणेश) रूप गुरु और गुरु के वचन को माने। और दूसरे (असार) शब्दों का कान (श्रवण–धारण) नहीं करे, तो तहां (उसके पास में) विहंगम (पक्षी–आकाशगामी–विघ्नकर्ता देवादि) कभी नहीं जाते हैं। इससे वह औगह (अग्राह्य–अथाह) चञ्चल मन का अविषय आत्मा को गह कर, चिदाकाश वा हृदाकाश में स्थिर रहता है। (य एवं वेदाऽहं ब्रह्माऽस्मीति नह देवाश्च नाभूत्या ईशते। बृहद० १।४।१०) (मैं ब्रह्म हूं इस प्रकार अपरोक्ष जो आत्मा को जानता है, उसकी अविभूति के लिये देवगण समर्थ नहीं है ॥ ४ ॥

देहविषयतत्त्वप्रदर्शन प्र० ॥ २ ॥

चौतीसी ५

घघ्घा घट फूटे घट होई। घट ही में घट राखु समोई ॥
जो घट घटे घटै फिरि आवै। घट ही में फिरि घटहिं समावै ॥५॥

घटो घनो ह्यधर्मश्च घशब्देन निगद्यते ।
घटवद् घनवच्चैव देहरूपो घटः, सदा ॥
भज्यते जायतेऽधर्मोऽवोधो यावद्धि विद्यते ॥ १ ॥

घड़ा, घन (मेघ) अधर्म घ शब्द से कहा जाता है, देह रूप घट, मृद् घटवत् और मेघतुल्य सदा भग्न होता (फूटता) है, और उत्पन्न होता है, कि

अतो गुरो र्वचः श्रुत्वा घटं देहद्वयात्मकम् ।
अविद्यात्मघटे क्षिप्त्वा स्थाप्यतां स न चिन्त्यताम् ॥२॥
नेत्थं कृत्वा शरीरेऽत्र घटते यः सदा कुधीः ।
स आयाति घटे शश्वत् घटे चास्य घटो विशेत् ॥ ३ ॥
मातु र्निविशते गर्भे देहाभिमितितस्तथा ।
स्वयमेव घटो भूत्वा घटादौ वर्तते पुनः ॥ ४ ॥
किम्वाऽधर्मेण नष्टेऽस्मिन् देहेऽपि स पुनर्भवेत् ।
सूक्ष्मदेहघटश्चैनं स्थूलेष्वावेश्य रक्षति ॥ ५ ॥
यदाऽधर्मः शरीरं च विवेकान् न्यूनतां व्रजेत् ।
तदा घटो घटे यायात् क्रमशो लीनतां व्रजेत् ॥ ६ ॥
असङ्गे नैव सम्बन्धो देहस्य भासते तदा ।
राजते च तदात्माऽयं कूटस्थो ह्यचलो ध्रुवः ॥ ७ ॥ ५ ॥

जबतक अधर्मरूप अज्ञान है ॥१॥ इससे गुरु के बचन को सुनकर, स्थूल सूक्ष्म दोनों देह रूप घट को, अविद्या माया रूप घट में फेंक कर (मिथ्या माया मात्र जान कर) स्थिर करो, और उसकी चिन्ता नहीं करो ॥ २ ॥ जो कुबुद्धि ऐसा नहीं करके इस शरीर में घटता (चेष्टा करता) है, सो शश्वत् (पुनः पुनः) घट में आता है, और दूसरे के घट (देह) में इसका घट पैठता है ॥ ३ ॥ देह के अभिमान से माता के गर्भ मे प्रवेश करता है, तथा स्वयं देह रूप होकर फिर देहादि में प्रवृत्त होता है ॥ ४ ॥ अथवा अधर्म से इस देह के नष्ट होने पर भी अधर्म से ही वह देह फिर होगा, और सूक्ष्म देह रूप घट ही इस जीव को स्थूल देहों में पैठा कर रक्षा करेगा ॥ ५ ॥ जब अधर्म और शरीर विवेक से न्यूनता (अल्पता हीनता) को प्राप्त होगा, तब एक स्थूल देह दूसरे सूक्ष्मादि देह में जायगा और क्रम से लीनता (नाश) को भी प्राप्त होगा ॥ ६ ॥ उस समय असंग आत्मा में देह का संबन्ध नहीं प्रतीत होता है, और तिस कालमें

कूटस्थ (निर्विकार) अचल (अक्रिय) ध्रुव (नित्य शिवस्वरूप यह आत्मा प्रकाशता है ॥ ७ ॥

अक्षरार्थ- घघ्घा (मेघ-घट) तुल्य यह घट (देह) क्षण में फूटता और होता है। और यह घट ही जीवात्मा को माता के घट में समा कर रखता है। तो कोई इन घटही में घटता (आसक्त होता) है, सो घटों में ही फिर भी आता है, और फिर भी घट ही में घटाभिमानी होकर समाता है इत्यादि ॥५॥

विषयी आदि के जन्मादि प्रवाह का वर्णन करके, विषयी और विषय के स्वभावों का वर्णन करते हैं कि—

चौतीसी ६

ङङ्ङा निरखत निशिदिन जाई। निरखत नयन रहा रतनाई ॥
निमिष एक जो निरखै पावै। ताहि निमिष में नयन छिपावै ॥६॥

भैरवो विषयश्चैव स्मरणं ताडनं स्पृहा।
कथ्यते वै ङकारेण ध्वनिश्च कथ्यते तथा ॥ ८ ॥
भीषणान् विषयादींस्तान् पश्यतां यात्यहर्दिवम्।
घोराणां दर्शने येषां नेत्रं रत्नसमं सदा ॥
निश्चलं वर्तते रक्तं विद्यते वाऽविवेकिनाम् ॥ ९ ॥
मन्दप्रज्ञो हि कश्चिच्चेत्पलमेकमपि क्वचित्।
तान् द्रष्टुं लभते कालं तावता घ्नन्ति ते धियम् ॥१०॥

भैरव (भयंकर-पदार्थ) विषय, स्मरण, ताडन, विषय की स्पृहा (इच्छा) ङकार शब्द से कहा जाता है, तथा ध्वनि कहा जाता है ॥८॥ अहर्दिवस् (प्रतिदिन) उन भयानक विषयादिकों को देखते हुए लोकों के अहर्दिवस् (रातदिन) समय जा रहा है, कि जिन घोर (भयंकर) विषयों के देखने में अविवेकियों के नेत्र रत्नतुल्य सदा निश्चल रहता है, वा रक्त (लाल) है ॥ ९ ॥ मन्द बुद्धिवाला कोई यदि कहिं एक पल मात्र भी

विवेकनेत्रमाच्छाद्य कुमार्गेषु नयन्ति ते।
अहो तथापि पश्यन्तस्ताञ्जना मन्वते सुखम् ॥ ११ ॥
अथवाऽहर्दिवं याति विश्वं पश्यति दारुणम् ।
स्मरणं त्वं सतां पश्य ताडनं च यमादिभिः ॥ १२ ॥
स्पृहणीयं स्वमात्मानं विद्धि तेभ्यो विवेकतः।
विद्यते मानवे देहे नेत्रं रत्नसमं तव ॥ १३ ॥
एकमेव निमेषं चेदात्मानं मन्तुमर्हसि ।
तावन्मात्रेण सर्वास्त्वमन्या दृष्टि विलोप्स्यसि ॥ १४ ॥६॥

उन विषयों को देखने के लिये काल (समय) पाता है, तो उतने ही काल में वे विषय उसकी बुद्धि को नष्ट करते हैं ॥ १० ॥ और वे विषय विवेक रूप नेत्र को ढांप कर कुमार्गों में प्राप्त कराते हैं। आश्चर्य है कि तो भी उन्हे देखते हुए जन सब सुख मानते हैं ॥ ११ ॥ अथवा विश्व (सब जगत्) दारुण (घोर) को ही देखता है, और ऐसे ही अहर्दिव (दिन २) जा रहा है। तुम सत्पुरुषों के स्मरण (विचार) को देखो और यमादि से ताडन को समझो ॥ १२ ॥ और उन विषयादि से विवेक पूर्वक स्पृहणीय (जानने की इच्छा का विषय) अपनी आत्मा को जानो। मनुष्य देह में रत्न तुल्य तेरा नेत्र (दृष्टि ज्ञानशक्ति) है ॥१३॥ यदि एक निमेष (पल) भी आत्मा को जान सकते हो, तो उतने ही मात्र से अन्य सब भ्रम दृष्टि को नष्ट करोगे ॥१४॥

अक्षरार्थ-डङ्डा (भयानक विषयादि) को निरखते (देखते) में रातदिन जा रहे हैं, और उन्हें देखने में सबके नेत्र रतनाई (रत्नतुल्य-पल रहित-लाल) हो रहे हैं। और विषयों का स्वभाव है कि जो कोई मन्द विवेकी उन्हें एक पल भी निरखने (देखने) पाता है, तो उतने ही काल में उसके विवेक रूप नयन (नेत्र) को वे विषय छिपाते (आच्छादित नष्ट करते) हैं, इत्यादि ॥ ६ ॥

चौतीसी ७

चच्चा चित्र रच्यो बहु भारी । चित्रहिं छाडि चेतु चित्रकारी ॥
जिन यह चित्र विचित्र उखेला । चित्र छाडि तें चेतु चितेला ॥७॥

चन्द्रः सूर्यश्च चौरश्च निर्मलं दुर्जनश्च चः ॥
देहविश्वात्मकं चित्रं चन्द्रसूर्यादिसंयुतम् ।
महातस्करवद् घोरं रचितं दुर्जनैः समम् ॥१५॥
हरति स्वात्मसर्वस्वं चित्तं चोरयते तथा ।
रचितं निर्मलेनापि माययैतादृशं कृतम् ॥१६॥
तत् त्यक्त्वा चित्रकारं त्वं तं जानीहीदृशं जगत् ।
विचित्रं रचितं येन चित्रकारः स चेतनः ॥१७॥
त्वमेवासि ततस्त्यक्त्वा चित्रं देहात्मकं त्वया ।
आत्मैव ज्ञायतां देवश्चित्रकारो निरञ्जनः ॥ १८॥७॥

चन्द्रमा, सूर्य, चोर, निर्मल (ब्रह्मादि) और दुर्जन को च कहा जाता है । चन्द्रसूर्यादि सहित, देह और विश्वरूप चित्र, महा तस्कर (चोर) के तुल्य, घोर (भयानक) और दुर्जनों के तुल्य, माया आदि से रचा गया है ॥१५॥ अपनी आत्मारूप सर्वस्व को हरता है, तथा चित्त को चुराता है, निर्मल आत्मा से भी रचा गया यह चित्र माया से ऐसा किया है ॥१६॥ उस चित्र को त्याग कर, तुम चित्रकार को जानो । जिसने ऐसा विचित्र जगत को रचा है, वह चेतन चित्रकार तुम ही हो (तेरी आत्मा है), तिससे तुम देह रूप चित्र को त्याग कर, निरञ्जन चित्रकार देव आत्मा ही को समझो ॥१७–१८॥

अक्षरार्थ–बहुत भारी चच्चा (चोर) रूप चित्र जगदीश से रचे गये हैं । तुम चित्रों को छोड कर, चित्रकारी को चेतो (समझो), जिन्होंने इन विचित्र चित्रों को उखेला (रचा) है, चित्रों को छोडकर, उन्हीं चितेला (चितेरा–चित्रकार) को तुम चेतो (समझो) ॥ ७ ॥

चौतीसी ८

छछ्छा आहिं छत्रपति पासा । छकि क्यों न रहसि मेटि सब आशा ॥
मैं तोही क्षिण क्षिण समुझाया । खसम छोडि कस आपु बँधाया ॥८॥

निर्मलं छं समाख्यातं तत्क्षेत्रज्ञोऽतिसन्निधौ ।
आत्मत्वाद्वर्तते नित्यं सार्वभौमनृपोपमः ॥ १ ॥
तं ज्ञात्वा नित्यतृप्तस्त्वमाशां निर्मूल्य सर्वथा ।
किं तिष्ठसि न चाऽव्यग्रो निर्मलोऽसि सदाऽव्ययः ॥२॥
अहं बोधितवानस्मि ह्येवं प्रतिपलं हितम् ।
त्वां तथापि कथं त्यक्त्वा पतिं बद्धः स्वयं भवान् ॥ ३ ॥
अद्यापि स्वपतिं बुध्वा गृहीत्वा स्वात्मभावनः ।
आशापाशं निराकृत्य बन्धान्मुक्तः सुखी भव ॥ ४ ॥
आशापाशान्न निर्मुक्ति र्निर्मलज्ञानमन्तरा ।
तं ज्ञात्वा तामशेषं त्वं जहीहि दृढबोधतः ॥ ५ ॥

निर्मल को छ कहते हैं, सो निर्मल ब्रह्म आत्मा होने से क्षेत्रज्ञ रूप अति समीप में है, और चक्रवर्ती राजा तुल्य स्वतंत्र है ॥ १ ॥ उस क्षेत्रज्ञ सार्वभौम तुल्य को जान कर, और आशा का सर्वथा निर्मूलन (नाश) करके, तुम अव्यग्र (अनाकुल–एकाग्र) होकर क्यों नहीं स्थिर होते हो। तुम सदा निर्मल अव्यय हो ॥ २ ॥ मैं तुम को इस प्रकार प्रतिपल में हित समझाया हूं, तो भी आप स्वयं पति को त्याग कर कैसे बद्ध (बन्धन युक्त) हो ॥ ३ ॥ आज भी अपना पति को जान कर, और अपनी आत्म-भाव से ग्रहण (अपरोक्ष) करके, आशा रूप बन्धन को त्याग कर, बन्धन से मुक्त सुखी होवो ॥ ४ ॥ निर्मल आत्मा के ज्ञान विना आशारूप बन्धन से अत्यन्त मुक्ति नहीं होती है, इससे तुम उस निर्मल आत्मा को पूर्ण

आशा हि लोहरज्जुभ्यो विषमा विपुला दृढा ।
तां संहर्तुं विवेकं च वैराग्यं प्रथमं श्रय ॥ ६ ॥

जान कर, दृढ ज्ञान से उस आशा को अशेष (सर्वथा) त्यागो ॥ ५ ॥ आशा ही लोहे की रस्सी से भी विषम (क्रूर) और विपुल (विशाल) तथा दृढ (बलवती) है, उसका नाश के लिये तुम विवेक और वैराग्य को प्रथम सेवो ॥ ६ ॥

अक्षरार्थ–छछा (निर्मल) छत्रपति (राजा–क्षेत्रज्ञ आत्मा) अत्यन्त पास में आहिं (है), उसके ज्ञान ध्यानादि से सब आशाओं को मेट कर, छकि, (तृप्त हो) कर क्यों नहीं रहते हो। मैं (सद्गुरु) ने तुझे क्षण २ में इस प्रकार समझाया है, तो भी उस निर्मल खसम (स्वामी) को छोड कर, कस (कैसे–क्यों) आप बन्धन में पडे हो। अर्थात् अज्ञान ही से बन्धन में हो, ज्ञान के लिये यत्न करो ॥ ८ ॥

मरने पर वा जन्मान्तर में मोक्ष की आशा का वारण करते हुए, जीवन्मुक्ति के लिये उपदेश देते हैं कि—

चौतीसी ९

जज्जा ई तन जियत हिं जारो । यौवन जारि युक्ति तन पारो ॥
जो कछु जानि जानि परजरै । घटहिं जोति उजियारी करै ॥९॥

जेता च गायनश्चैव वेगितश्च निगद्यते ।
जेमनं च जकारेण तस्मादित्थं विबुध्यताम् ॥ ७ ॥
जेता स्वमनसो भूत्वा षडरींश्च विजित्य वै ।
प्रारब्धं चैव भुञ्जानो विमोक्षायातिवेगितः ॥ ८ ॥

जितनेवाला, गायक, वेगित (प्रवाह जवयुक्त), जेमन (भोजन) जकार से कहा जाता है, तिससे इस प्रकार समझा जाय कि अपने मन का विजयी होकर, कामादि छौ अरि का विजयी होकर, और प्रारब्ध को

गायनो वचसां भूत्वा सतां च शान्तमानसः ।
इदं कलेवरं जीवन्भस्मसात् कुरु मूलतः ॥ ९ ॥
यौवनं च मदं त्यक्त्वा यौवने सति युक्तितः ।
देहसिन्धोः परे पारे प्राप्तो भव त्वमञ्जसा ॥१०॥
ज्ञातं ज्ञातं हि यत्किञ्चिदात्मान्यद्विद्यते जगत् ।
दग्धं ज्ञानाग्निना तच्च स्वान्ते ज्योतिः प्रकाशयेत् ॥११॥
" वैराग्याभ्यासवशतस्तथा तत्त्वावबोधनात् ।
संसारस्तीर्यते तेन तत्रैवाभ्यासमाहर " ॥१२॥

भोगता हुवा ही, विमुक्ति के लिये अति वेगवाला होकर सतपुरुषों के वचनों का गायक होकर, शान्त मनवाला तुम जीते ही रहते इस देह को मूल से सर्वथा भस्म करो ॥ ७-८-९ ॥ यौवन (तारुण्य) के रहते ही यौवन (युवा सम्बन्धी) मद (गर्व कामादि) को युक्ति से त्याग कर, देहरूप समुद्र के पर (उत्तम-दूर) पार (प्रान्त-तीर) में शीघ्र तुम प्राप्त होवो ॥१०॥ आत्मा से अन्य जाना २ हुवा जो कुछ जगत है, सो ज्ञानाग्नि से जलने पर देह में ही ज्योति का प्रकाश करेगा ॥११॥ वैराग्य और अभ्यास के वश से तथा तत्त्वज्ञान से संसार तरा जाता है, तिससे इनमें अभ्यास करो । (योगवा० ६।२।२१) ॥१२॥

अक्षरार्थ-हे जज्जा (जेता) जीव ! मरने पर अग्नि, काकादि के जेमन (भोजन)रूप ई तन (इस देह) को जियते ही रहते ज्ञानाग्नि से जलावो, और यौवन (तारुण्य) को जला कर, युक्ति (विवेकादि) से सब तनु (देह) से पार होवो, या युक्ति से तनु को पारो (वश करो) । और जब जो कुछ जानि २ (ज्ञेय दृश्य-अनात्मा) वस्तु हैं, सो परजरैं (अत्यन्त जले, परतत्त्व में लीन होयँ) तब वे घट में ही परतत्त्व का उजियारी (प्रकाश) करें, और करते हैं ॥ ९ ॥

चौंतीसी १०

झझ़ा अरुझ सरुझ कित जाना । हींढ़त ढूंढ़त जात पराना ॥
कोटि सुमेरु ढूंढ़ि फिरि आवै । जो गढ़ गढ़ा गढ़हिं सो पावै ॥१०॥

रवो नष्टश्च वायुश्च नेपथ्यश्च झ उच्यते ।
तदात्मकेऽत्र संसारे देहे प्राणे च किं भवान् ॥१३॥
संसजत्यविवेकेन कुत्र गत्वा विवेक्ष्यति ।
आत्मानं वा परं चाऽपि सक्तो वा कुत्र यास्यति ॥१४॥
ह्यत्र लभते नैव विविक्तं स्वं परं पदम् ।
व्यर्थं प्राणाः प्रयास्यन्ति धावमानस्य सर्वतः ॥१५॥
सुमेरुकोटिदुर्गेषु ह्यन्विष्यापि यदा भवान् ।
आगत्य मानवे देहे विचारादि करिष्यति ॥१६॥
येनेदं रचितं चित्रं गृहं तं तु गृहेऽत्र वै ।
संलप्स्यसे तदा नैव त्वन्यत्र बहुजन्मसु ॥१७॥१०॥

रव (शब्द) नष्ट, वायु, नेपथ्य (अलंकार कृत शोभा, रंगभूमि, वेषभेदादि) झ शब्द से कहा जाता है, तिस अलंकारादि रूप इस संसार देह और प्राण में आप अविवेक से क्यों संसक्त होते हो, कहां जाकर आत्मा वा पर का भी विवेक करोगे, वा यहां आसक्त रह कर कहाँ जावोगे ॥ १३–१४ ॥ यदि यहां विविक्त (असंग–पवित्र) अपना पर पद (उत्तम स्थान) नहीं पाते हो, तो सर्वत्र धावते हुए के प्राण व्यर्थ ही जायगें ॥ १५ ॥ आप जब करोड़ों सुमेरु आदि दुर्गम स्थानों में पर तत्त्व को खोज कर, फिर मानव देह में आकर विचारादि करोगे, तभी जिससे यह चित्र रूप गृह (देहादि) रचा गया है, उसको इस गृह में ही उसी समय पावोगे । और अन्यत्र बहुत जन्मों में भी नहीं पावोगे ॥१६–१७॥

अक्षरार्थ–उक्त अर्थ की दृढता के लिये कहते हैं कि, झझ़ा (शब्दादि संसार नेपथ्य) में तुम अरुझे (फंसे) हो । सरुझ (विवेक) करने के लिये

तुमने कित (कहाँ) जाना (समझा) है। या विवेक के लिये कहां जाना (चलना) होगा। यदि इस देह में सरुझ नहीं हुआ तो, अन्यत्र ढींढते ढूंढते (खोजते विचारते) में तेरा प्राण व्यर्थ जाता है, या तुम सत्य से पराने (भागे) जाते हो। क्योंकि करोड़ों सुमेरुओं पर से भी ढूंढ कर, जब मानवदेह में फिर जीव आता है, तब जो इस गढ़ (देह) को गढ़ा (रचा) है, उसको इसी में पाता है ॥ १० ॥

उक्त झझ्झा से उबरने के लिये उपाय बताते हैं कि-

चौंतीसी ११

अञ्ञा निग्रह से करु नेहू। करु निरुआर छाडु संदेहू ॥
नहिं देखै नहिं भाजै केहू। जानहु परम सयानप येहू ॥

गायने शयने चैव ञशब्दः प्रोच्यते बुधैः।
केवलाद् गायनाच्चैव मोहस्वप्नान् निरन्तरम्।
मनसो निग्रहे प्रीतिः साधो ! सम्यग् विधीयताम् ॥१८॥
शयालु मोहतः किञ्च गायकोऽपि भवन् पुरा।
इन्द्रियाणां निरोधेऽद्य स्नेहः सद्यो विधीयताम् ॥१९॥
मोहनिद्रां परित्यज्य जागृहि स्वं विविङ्धि च।
संदेहस्त्यज्यतां साधो ! मा द्वैविध्येन पीड्यताम् ॥२०॥

गायन और शयन अर्थ में पण्डितों से ञ शब्द कहा जाता है। हे साधो ! केवल गायन और मोहरूप स्वप्न (शयन) से मन का निग्रह (निरोध) में सम्यक् निरन्तर (सान्द्र) प्रेम करो ॥ १८ ॥ किञ्च (और) पुरा (प्रथम) मोह से शयालु (निद्रालु) होते, और गायक होते भी आप आज इन्द्रियों के निरोध में झटिति स्नेह (प्रेम) करो ॥ १९ ॥ मोहरूप निद्रा को त्याग कर जागो, आत्मा का विवेक करो, और हे साधो ! संशय को त्यागो, और द्वैविध्य (संदेह) से पीडित नहीं होवो ॥ २० ॥

नहिं देखै नहिं आपु भजाऊ । जहाँ नहीं तहँ तन मन लाऊ ॥
जहाँ नहीं तहँ सब कछु जानी । जहाँ नहीं तहँ लै पहिचानी ॥११॥

विश्वं नैवेन्द्रियं पश्येत्सत्यत्वे· मनस्तथा ।
न चेद्धावेन कुत्रापि विद्ध्येतत् परविज्ञनाम् ॥ २१ ॥
यश्च सत्पुरुषः किञ्चित्सत्यं नैवाऽत्र पश्यति ।
नात्मनोऽन्यत्र कुत्रापि धावते चाशयाऽनृते ॥२२॥
तत्र तत्परमं ज्ञेयं चातुर्यं मोक्षदं शुभम् ।
वैराग्यमात्मविज्ञानं समता क्षान्तिरक्षया ॥ २३ ॥
अतस्त्वयाऽत्र सत्यं नो किञ्चित्साधो ! निरीक्ष्यताम् ।
आत्मनो न पृथग् याहि तृष्णाशादिभिरङ्ग ! हे ॥ २४ ॥
किन्तु यत्र न किञ्चिद्धि सर्वं यत्र च दृश्यते ।
तत्रैव स्वतनुः स्वस्य मनश्च नीयतां त्वया ॥ २५ ॥
यत्र किञ्चिन्न तत्रैव विश्वं ज्ञात्वा हि कल्पितम् ।
तत्र सत्यं सुखं मोक्षश्चैतन्यं परिचीयताम् ॥ २६ ॥

इति चौतीसीचर्चायां निर्मलात्मप्राप्त्युपायप्रदर्शनं नाम तृतीयं वाक्यम् ॥३॥

इन्द्रिय तथा मन विश्व को सत्यरूप से नहीं देखे, और यदि कहीं भी नहीं दौड़े, तो यह उत्तम ज्ञानीपन जानो ॥ २१ ॥ और जो सत्पुरुष यहां कुछ भी सत्य नहीं देखता है, न आत्मा से अन्यत्र अनृत (मिथ्या) किसीमें आशा से धावता (जाता) है ॥ २२ ॥ उस सतपुरुष में वह मोक्ष देनेवाला शुभ परम चतुराई समझना चाहिये और वैराग्य आत्मविज्ञान समता अक्षय क्षान्ति (तितिक्षा) वह समझना चाहिये ॥२३॥ इससे हे साधो ! हे अङ्ग ! यहां तुम सत्य कुछ नहीं देखो, और तृष्णा आशा आदि से आत्मा से पृथक् नहीं जावो ॥ २४ ॥ किन्तु जिसमें सत्य कुछ नहीं है, और मिथ्या सब वस्तु जिसमें दीखता है, उसी में अपने देह और मन को तुम प्राप्त विलन करो ॥ २५ ॥ जहाँ कुछ नहीं है, उसीमें विश्व को माया

से कल्पित (सिद्ध) जान कर, उसी में सत्य सुख मोक्ष चैतन्य का परिचय लाभ करो ॥ २६ ॥

अक्षरार्थ–हे जञ्ञा (सोने गानेवाले) उक्त शब्दादि रूप झझ्झा से मन आदि का निग्रह से (में) प्रेम करो, या हे मनुष्यों! जञ्ञा (शयनादि) से निरोध में प्रेम करो। और आत्मादि का निरुआर (विवेक) करो। संदेह (संशय) को छोड़ो। यदि मन इन्द्रियादि उक्त झझूझा को सत्य नहीं देखे, और केहू (किसी) में भाजै (भागै) नहीं, तो यह परम सयानप (ज्ञानीपन) जानो। और ऐसा ही चतुर न अन्य को देखता है, न आप अपने स्वरूप से कहीं भागता है. और जहां सत्य संसार नहीं है. तहां तन मन को लगाता है। और जहां कुछ नहीं है, तहां सब संसार कल्पित जानकर, और सत्य सुखादि समझ कर. जहां नहीं है तहां ही पहचान लेता है, इससे ऐसा करना चाहिये ॥ ११ ॥

मनःप्रपञ्चप्रदर्शन प्र० ॥ ४ ॥

चौंतीसी १२

मन इन्द्रियादि के निरोध विना मन की दुष्टता का वर्णन करते हैं कि–

टट्टा विकट बाट मन माहीं। खोलि कपाट महल ते जाहीं ॥

टो धरित्र्यां ध्वनौ चैव गायने करके मतः।
विषमो वर्तते मार्गस्तत्र गन्तुं स्वमानसे ॥ १ ॥
विवृत्य स्वेन्द्रियद्वारं बहिर्गच्छन्ति जन्तवः।
विषयादौ शरीरे च समासक्ता भवन्ति हि ॥ २ ॥

ट शब्द धरित्री (भूमि), ध्वनि (शब्द), गायन और करक (कमण्डलु मेघोपल करंकादि) अर्थ में माना गया है। तिस भूमि आदि में जाने के लिये अपने मन में विषम (टेढा) मार्ग है ॥ १ ॥ प्राणी सब अपने इन्द्रिय के द्वार को खोल कर उसी मार्ग से बाहर षिषयादि और शरीर

रहिं लटपटी जुटा तन मांहीं । होहिं अटल ते कतहुं न जाहीं॥१२॥

अध्यासेनाविवेकेन ह्येकीभूताः सदाऽचलाः ।
सत्सङ्गादौ विवेकार्थं नैव कुत्रापि यान्त्यतः ॥ ३ ॥
ध्वनिरेवास्ति मार्गो वा स्वान्तेऽतिविषमः शुभः ।
विवृत्यैव कपाटं च बुधा मोहादिलक्षणम् ॥ ४ ॥
तेन मार्गेण संयान्ति हृद्‌गेहे योगयुक्तितः ।
मिलित्वा स्वात्मना तत्र सदा तिष्ठन्त्यभेदतः ॥ ५ ॥
अतस्ते ह्यचला भूत्वा नैव यान्ति पुनः क्वचित् ।
भ्रमन्त्यज्ञाश्च सर्वत्र हृद्‌गेहे नैव यान्ति ते ॥ ६ ॥
विषयाः संविशन्त्येव तेषां च हृदये सदा ।
वासनाद्यात्मना तत्र स्थिराश्चैव भवन्ति ते ॥७॥१२॥

में जाते हैं, और उनमें अत्यन्त आसक्त होते हैं ॥२॥ अध्यास (भ्रम) और अविवेक से देहादि के साथ एक स्वरूप और सदा अचल (पर्वततुल्य) होते हैं । इसीसे विवेकादि के लिये सत्संगादि में कहीं नहीं जाते हैं ॥ ३ ॥ अथवा मन में ध्वनि ही अति विषम और शुभ मार्ग है, और बुध सब मोहादि रूप कपाट को खोल कर, उसी मार्ग से योग की युक्ति से हृदय रूप घर में अच्छी तरह जाते हैं, और वहां अपनी आत्मा से मिल कर सदा अभेद रूप से स्थिर होते हैं ॥ ४ ५ ॥ इससे वे अचल (अक्रिय) होकर फिर कहीं नहीं जाते हैं । और अज्ञ सब सर्वत्र भ्रमते हैं, परन्तु वे हृदय रूप घर में नहीं जाते हैं ॥ ६ ॥ और विषय तो उन अज्ञों के हृदय में सदा पैठते ही हैं, तथा वासना आदि रूप से तिस हृदय में विषय स्थिर भी होते ही हैं ॥ ७ ॥

अक्षरार्थ–अनिरुद्ध मन में टट्टा (शब्दादि) विषयों के पैठने के लिये विकट (कठिन) मार्ग है । उसी मार्ग के कपाट को खोल कर ते (ध्वनि आदि) हृदय महल (घर) में जाते हैं । और वासनादि रूप से

लटपट (मिश्रित) रह कर तनु में जुटे (लगे) रहते हैं, अटल होते हैं। विवेकादि विना कभी कहीं जाते (निवृत्त होते) नहीं हैं। इसी प्रकार मन द्वारा बाहर जाकर जीव बिषयों में आसक्त होता है इत्यादि ॥१२॥

चौंतीसी १३

ठठ्ठा ठौर दूर ठग नियरे। नित के निठुर कीन्ह मन धीरे॥
जे ठग ठगु सब लोग सयाना। सो ठग चीन्हि ठौर पहिचाना ॥१३

जननाग्रं ध्वनौ शून्ये महेशे चन्द्रमण्डले।
शठे प्रयुज्यते चाऽयं ठशब्दः शब्दकोविदैः ॥ ८ ॥
शठेभ्यो जनसंघेभ्यो ध्वनिकर्मभ्य एव च।
सर्वप्रपञ्चसंशून्यो महेशः स्थानमव्ययम् ॥ ९ ॥
आत्मव सर्वभूतस्याऽप्यतिदूरे हि वर्तते।
कामाद्या वञ्चकाश्चैव तिष्ठन्ति निकटे सदा ॥१०॥
ते च नित्यं शनैः स्वान्तं कृतवन्तोऽति निष्ठुरम्।
दयामैत्र्यादिभिर्हीनं घातुकं वञ्चनापरम् ॥११॥
वञ्चका वञ्चयन्त्येव ये सदा कुशलानपि।
सर्वांस्तान् सुविदित्वाऽत्र ज्ञायते शाश्वतं पदम् ॥१२॥

जनसमूह, शब्द, शून्य, महेश, चन्द्रमण्डल, शठ अर्थ में यह ठ शब्द शब्दज्ञानी से प्रयुक्त (उच्चारित) होता है ॥ ८ ॥ शठों (धूर्तों) से, जनसमूहों से, शब्द रूप कर्मों (क्रियाओं) से, सब प्रपञ्च से रहित महेश, अव्यय स्थान सब प्राणी के आत्मा ही होते भी अति दूर में रहता है, और कामादि रूप वञ्चक सदा पास ही में रहते हैं ॥ ९–१० ॥ और वे कामादि, धीरे से स्वान्त (मन) को नित्य (सदा) अति निष्ठुर (कठोर) दया मित्रतादि से रहित, घातुक (क्रूर) वञ्चनापरक कर दिये हैं ॥११॥ जो वञ्चक सदा चतुरों को भी ठगते ही हैं, तिन सबको यहां समझ कर

अतो ज्ञात्वा च तांस्त्यक्त्वा धूर्तान् कामादिकान् खलु।
आत्मानं सदधिष्ठानं विद्धि विद्धं चिदव्ययम् ॥१२॥१३॥

के ही शाश्वत पद जाना जाता है ॥१२॥ इससे उन्हे जान कर, और उन धूर्त कामादिकों को त्याग कर, सत्य अधिष्ठान व्यापक चिदव्यय स्वरूप आत्मा को जानो ॥१३॥

अक्षरार्थ-ठठ्ठा (जनसंघादि) से नित्य ठौर (स्थान) दूर है, और कामादि ठग सदा नियरे (पास) में हैं, सो कामादि नितके (सदा के लिये) मन को धीरे २ निठुर (कठिन क्रूर) कर दिये हैं। और ठग सब सयानों (चतुरों) को भी ठगते हैं, उन्हें चिन्ह करके ही विवेकियों ने नित्य निर्मल ठौर को पहचाना (जाना) है, इत्यादि ॥१३॥

चौंतीसी १४

डड्डा डर उपजे डर होई। डर ही में डर राखु समोई॥
जो डर डरै डरै फिरि आवै। डर ही में फिरि डरहिं समावै॥१४॥

डकारः शंकरे त्रासे ध्वनौ भीमे निरुच्यते।
स्थानाऽपरिचयाद् भीष्माच्छङ्कराच्च ध्वनेरपि।
भयमुत्पद्यते पुंसां त्रासात्त्रासश्च जायते॥१४॥
सकारणमतस्त्रासं भीतेरपि भयप्रदे।
ईश्वरे जगतां सारे स्थापयित्वा लयं कुरु॥१५॥
नैवं कृत्वा तु यः कश्चिद् बिभेति भयकारणात्।
स स्वयं भयदो भूत्वा ह्यायाति साध्वसप्रदे॥१६॥

शंकर, भय, ध्वनि, भीम, (भीषण-भयंकर) अर्थ में डकार कहा जाता है। अव्यय स्थान के अपरिचय (अज्ञान) से भयंकर शंकर शब्द से भी पुरुष को भय उत्पन्न होता है, और त्रास (भय) के अनन्तर भय होता है ॥१४॥ इससे कारण(अज्ञानादि)सहित भय को भी भय देनेवाला जगत के सार सर्वात्मा ईश्वर में लय करो (उसके विना मिथ्या समझो)॥१५॥ जो कोई ऐसा

आगतौ तत्र चान्यस्माद् भयं तस्य विजायते ।
अन्ततो वै यमान्मृत्योर्दुःखाच्च जायते भयम् ॥१७॥
" शोकस्थानसहस्राणि भयस्थानशतानि च ।
दिवसे दिवसे मूढमाविशन्ति न पण्डितम् " ॥१८॥
इति चौतीसीचर्यायां मनःप्रपञ्चप्रदर्शनं नाम चतुर्थं वाक्यम् ॥ ४ ॥

नहीं करके भय के कारण से डरता है, वह स्वय भयदायक होकर साध्वसप्रद (भयप्रद) देहादि में आता है ॥१६॥ और वहां आगति (आगमन) होने पर उसको फिर अन्य से भय होता है। अन्त में यम, मरण और दुःख से भय होता है ॥१७॥ और शोक के स्थान हजारों तथा भय के स्थान सैकडों दिन २ में मूढ को प्राप्त होते हैं, पण्डित को नहीं प्राप्त होते ॥१८॥

अक्षरार्थ–उक्त ठौर के ज्ञान विना डड्डा (शंकर भयानक शब्दादि) से डर (भय) उत्पन्न होता है। फिर सकाम कर्मादि करने से डरके बाद डर होते ही जाते हैं। तुम सब भयों को भयों के भय रूप ईश्वर में समोई (लय कर) के रख दो, सबको ईश्वरीय मायामय जानो। ऐसा नहीं करके, जो डर के हेतु ईश्वरादि से डरता है, सो भेदबुद्धिवाला फिर भी डर ही में आता है, फिर भी भय में भयरूप होकर समाता है, इत्यादि ॥१४॥

आत्मान्वेषणागम्यसंसारप्रदर्शनप्र० ॥ ५ ॥

चौतीसी १५

ढढ्ढा ढूंढत है कत आना। हींढत ढूंढत जात पराना ॥
कोटि सुमेरु ढूंढ़ि फिरि आवै। जो गढ़ गढ़ा गढ़हिं सो पावै ॥१५॥
निर्गुणं कथ्यते ढेन तत् किमन्यत्र मृग्यसि ।
स्वस्मादन्यत्र तन्मृग्यंस्तस्मात्त्वं प्लायसे सदा ॥ १ ॥

ढ शब्द से निर्गुण ब्रह्म कहा जाता है, तिसको अन्यत्र क्यों खोजते हो। अपने से अन्यत्र उसको खोजता हुआ तुम उस ब्रह्म से सदा भागते

अन्यं मृगयमाणश्च सुमेरुष्वपि कोटिषु।
तदप्राप्यैव चागत्य देहगेहे हि लप्स्यसे ॥ २ ॥
येनेदं रचितं हर्म्यं स सदाऽत्रैव तिष्ठति।
असङ्गो लभते तं च ज्ञानेनामलचेतसा ॥ ३ ॥
असङ्गो भव शीघ्रं त्वमन्यथा मृग्यतस्तव।
प्राणा यास्यन्त्यसन्मार्गे स्थितिः क्वापि भवेन्नहि ॥ ४ ॥
"नाहं कर्ता न भोक्ता च न च बाध्यो न बाधकः।
इत्यसज्जनमर्थेषु सामान्यासङ्गनामकम ॥ ५ ॥
नाहं कर्तेश्वरः कर्ता कर्म वा प्राक्कृतं मम।
कृत्वा दूरतरे नूनमिति शब्दार्थभावनम् ॥
यन्मौनमासनं शान्तं तच्छ्रेष्ठासङ्ग उच्यते" ॥ ६ ॥

हो ॥ १ ॥ आत्मा से अन्य पदार्थ को कोटि सुमेरु में भी खोजता हुआ तुम उस ब्रह्म को नहीं पाकर, फिर देह रूप घर में आकर ही उस ब्रह्म को पावोगे ॥ २ ॥ जिसने इस हर्म्य (गृह विशेष) को रचा है, सो सदा यहाँ ही रहता है। और असङ्ग पुरुष ज्ञान निर्मल चित्त से उसको पाता है ॥३॥ तुम शीघ्र असङ्ग होवो, अन्यथा खोजते रहने पर भी तेरा प्राण असत् मार्ग में नष्ट होगें, और कहीं भी स्थिति नहीं होगी ॥ ४ ॥ न मैं कर्ता हूं, न भोक्ता हूं, न बाध्य (बाधा योग्य) हूं, न बाधक हूं, इस निश्चय से अर्थों विषयक रति आसक्ति का अभाव सामान्य असङ्ग नामवाला है ॥ ५ ॥ मैं कर्ता नहीं हूं, किन्तु ईश्वर कर्ता है, वा पूर्व किया हुआ मेरा कर्म कर्ता है, ऐसा निश्चय से शब्द और अर्थ की भावना को अति दूर करके जो शान्त मौन आसन (स्थिति) वह श्रेष्ठ असङ्ग कहा जाता है (योगवासिष्ठ के दो श्लोक हैं) ॥ ६ ॥

अक्षरार्थ–ढढ्ढा (निर्गुण ब्रह्म) को आन (अन्यत्र–अन्य जानकर) कत (क्यों वा कितना कहाँ) ढूंढ़ता (खोजता है)। इस प्रकार ढींढता

ढूंढ़ता (बार २ विचारता खोजता) हुआ तुम सत्य निर्गुण से पराना (भागा) जाता है, वा इससे व्यर्थ तेरा प्राण जाता है। करोड़ों सुमेरु पर ढूंढ कर, फिर आने से ही, जिसने इस गढ को गढ़ा है, सो निर्गुण इस गढ ही में पाया जायगा ॥ १५ ॥

चौंतीसी १६

णण्णा दुई बसाये गाऊँ। रे णण्णा टूटे तेरि नाऊँ॥
मूये एक जाय तजि घना। मुये इत्यादि कहौं कत गना॥१६॥

णकारो निश्चये ज्ञाने निर्णयेऽपि च पठ्यते॥
निश्चयज्ञानरूपोऽयं जीवात्मा सुखलब्धये।
स्वर्गमर्त्यावुभौ ग्रामौ वासयामास कर्मतः॥ ७॥
यशोनामप्रसिद्ध्यर्थं पदार्थनिचयं बहु।
अगृह्णाच्च ततः प्राह सद्गुरुर्मोक्षसिद्धये॥ ८॥
निर्णीतज्ञानरूपात्मन्! रे जीव! तव नाम च।
यशश्च त्रुट्यते कालैरन्यत् सर्वं च नश्यति॥ ९॥
मृत्वा यासि स्वयं चैकस्त्यक्त्वा बहुधनादिकम्।
एव मृतोऽसि जातोऽसि कियत् संख्याय कथ्यताम्॥१०॥

णकार शब्द निश्चय, ज्ञान और निर्णय अर्थ में पढ़ा जाता है। निश्चय (अविनाशी) ज्ञानस्वरूप यह जीवात्मा ने सुख की प्राप्ति के लिये स्वर्ग और मर्त्य (मनुष्य) लोक रूप दो ग्राम को कर्म से बसाया है॥७॥ और यश नाम की प्रसिद्धि (प्रख्याति) के लिये बहुत पदार्थों के निचय (समूह) का ग्रहण किया है, तिससे मोक्षसिद्धि के लिये सद्गुरु कहते हैं कि, रे निर्णीत ज्ञानाकार स्वरूपवाला जीव! तेरा नाम और यश कालों से त्रुटित (छिन्न नष्ट) किया जाता है। और अन्य सब वस्तु भी नष्ट होती हैं॥८-९॥ मर कर तुम बहुत धनादि को त्याग कर स्वयं अकेला जाते हो। और इसी प्रकार मरे हो, जन्मे हो, गिन कर कितना कहा जाय

कालो महाबली सैकस्ते तोडति तनूः सदा ।
त्रुट्यन्ति सर्वसम्बन्धाः स लुण्ठति धनादिकम् ॥११॥
तस्मात्सर्वं परित्यज्य स्वयं त्वं मनसा सुधीः ।
अनासक्तो गतस्नेहः कालातीतं सुसाधय ॥१२॥१६॥

॥१०॥ काल महाबली है, सो अकेला तेरे शरीरों को सदा तोडता (नष्ट करता) है, सब सम्बन्ध छिन्न (नष्ट) होते हैं। वह धनादि को लूटता है ॥११॥ तिससे सुन्दर बुद्धिवाला तुम स्वयं सब को त्याग कर, आसक्ति स्नेह रहित होकर, कालातीत को अच्छी तरह सिद्ध (प्राप्त) करो ॥१२॥

अक्षरार्थ-णण्णा (निश्चय निर्णीत ज्ञान) रूप जीव ने नाम यश के लिये लोक परलोक रूप दो ग्राम बसाया है, परन्तु रे णण्णा (जीव !) अन्त में तेरा नाम टूटता (नष्ट होता) है। मरने पर तुम एकाकी ही घना (बहुत) वस्तु को छोड़कर जाता है। और तेरी मुये इत्यादि (मरण जन्मादि) की कथा कत (कितना) गना (गिन) कर कहें, या कहा जाय, यह अनन्त है ॥ १६ ॥

चौतीसी १७

तत्ता अति त्रियो नहिं जाई। तन त्रिभुवन में राखु छिपाई ॥
जो तन त्रिभुवन माँह छिपावै। तत्त्वहिं मिलै तत्त्व सो पावै ॥१७॥

तकारः कथितश्चौरो ब्रह्म जीवश्च कथ्यते ॥
देहादिषु समासक्तो जीवोऽयं त्रिगुणात्परे ।
देहादिभ्यः परे नैव शुद्धे ब्रह्मणि गच्छति ॥१३॥
अतस्त्रिभुवने स्वस्य तनुं संछाद्य यत्नतः ।
चेष्टते रक्षितुं जीवस्तन्न सिद्ध्यति जातुचित् ॥१४॥

चोर तकार कहा गया है, और ब्रह्म जीव भी कहा जाता है। देहादि में अत्यन्त आसक्त यह जीव त्रिगुण से पर (भिन्न) देहादि से पर (उत्तम) शुद्ध ब्रह्म में नहीं जाता है ॥ १३ ॥ इससे तीनों लोक

किञ्च यो भुवने स्वस्य तनुं गोप्तुमिहेच्छति।
मिलति पञ्चतत्त्वेषु तत्त्वानि लभते च सः ॥१५॥
किम्वाऽतिचतुराश्चौराः स्त्रियो वा त्रिगुणादयः।
हरन्ते भावसर्वस्वं ज्ञानध्यानादिकं समम् ॥१६॥
नैव गत्वा त्वया तेषु स्वस्य ज्ञानादिलक्षणाम्।
संसाध्य रक्ष्यतां शुद्धां भुवनेषु तनुं त्रिषु ॥१७॥
किञ्च स्वस्य शरीरं च मनो रुध्वा कुमार्गतः।
संसारस्य निदाने तज्जहीहि च लयं कुरु ॥१८॥
एवं यो भुवने स्वस्य तनुं छादयते बुधः।
परे तत्त्वे मिलत्येष तच्च प्राप्नोति सर्वथा ॥१९॥

में अपने देह को ही यत्न से संछादन (आवृत) करके जीव रक्षा करने के लिये चेष्टा करता है, परन्तु वह संछादन रक्षण कभी सिद्ध नहीं होता है ॥ १४ ॥ और जो अपने देह को भुवन (संसार) में यहाँ रक्षा करने के लिये इच्छा करता है, सो पांच तत्त्वों में मिलता है। और पांच तत्त्वों को ही पाता है ॥१५॥ अथवा स्त्रियाँ और त्रिगुणादि अनात्मपदार्थ अति चतुर चोर रूप हैं; क्योंकि भाव (सत्यात्मा सत्याऽभिप्राय) रूप सर्वस्व को और ज्ञान ध्यानादि सब को हरते (चुराते) हैं ॥१६॥ तुम उन स्त्री त्रिगुणादि में नहीं जाकर (मन को नहीं लगाकर, और ज्ञान ध्यानादि रूप अपनी शुद्ध तनु (देह) को सिद्ध करके उसे तीनों भुवन (लोक) में रक्षा करो ॥१७॥ और अपने शरीर तथा मन को कुमार्ग से रोक कर, संसार के निदान (आदि कारण) में उसे त्यागो, उसका लय करो ॥१८॥ जो बुध (विवेकी) इस प्रकार अपने देह को भुवन (संसार) में ढांपता है। यह बुध पर (उत्तम) तत्त्व (स्वरूप परमात्मा) में मिलता है, और सर्वथा उस तत्त्व को प्राप्त करता है ॥१९॥

अक्षरार्थ–दो ग्राम बसानेवाला तत्ता (जीव) अति त्रियो (त्रिगुण पर) में नहीं जाता है, किन्तु देह को तीनों भुवन (लोक) में छिपा कर रखना चाहता

है, और जो तनु को त्रिभुवन में छिपाता है, सो पांच तत्त्व से ही मिलता है, और पांच तत्त्व ही पाता है। अथवा अतितत्ता (अत्यन्त चोर) त्रियो (त्रिगुण वा स्त्री) के वश में नहीं जाकर, अपने तनु मन आदि को त्रिभुवन में उनसे छिपाकर रखो; क्योंकि जो तनु को त्रिभुवन में छिपाता है, सो परम तत्त्व से मिलता है इत्यादि ॥१७॥

चौतीसी १८

थथ्था अथाह थाहि नहिं जाई। ई थिर ऊ थिर नाहिं रहाई ॥
थोरे थोरे थिर हो भाई। बिनु थम्भे जस मन्दिर थम्हाई ॥१८॥

शिलोच्चये थकारः स्यान्नयस्य च सुरक्षणे ॥
शिलोच्चयो मनश्चेदमगम्यं सर्वजन्तुभिः।
यत्रोऽत्र तदमुत्रापि न क्वचित् स्थितिमेति हि ॥२०॥
अभ्यासेन विरागेण शनैस्त्वं स्थिरतां व्रज।
यथा स्तम्भं विना लोके वर्तते देवमन्दिरम् ॥२१॥
मनःसुमेरुणा यद्वा नावगाह्यो भवार्णवः।
सद्धर्मो नीतिमार्गश्च गुणदेहचयोऽथवा ॥२२॥
विद्यते स हि गम्भीरः पारावारविवर्जितः।
सद्बोधादि विना सर्वैस्तलं तस्मान्न लभ्यते ॥२३॥

शिलोच्चय (पर्वत) अर्थ में थकार होता है, और नय (नीति) के सुरक्षण में होता है। यह मन ही पर्वत है, और सब प्राणी से अगम्य (अप्राप्य) है। जिससे इस लोक वा परलोक में कहीं भी स्थिति को नहीं पाता है ॥२०॥ अभ्यास और वैराग्य से धीरे २ तुम स्थिरता को प्राप्त करो (मन को स्थिर करो)। जैसे लोक में स्तम्भ (खंभा) विना भी देवमन्दिर वर्तमान रहता है, तैसा करो ॥२१॥ अथवा मन रूप सुमेरु पर्वत से, संसार समुद्र, सत्य धर्म, नीतिमार्ग अथवा गुणदेह का समूह, अवगाहने (थाहने) योग्य नहीं है ॥२२॥ क्योंकि सत्य बोधादि के विना

तथापि ह्यस्थिरं मत्वा लोकमिमममुं तथा ।
स्थिरो भव शनैर्भ्रातरन्यथा त्वस्त्यसंभवः ॥२४॥
स्तम्भाद्यै र्हि विना यद्वद् गृहं न स्थिरतां व्रजेत् ।
अभ्यासादि विना तद्वन्न स्थिरं लभते पदम् ॥२५॥

वह सब पारावार (तटद्वय) रहित हैं, गम्भीर हैं, तिसीसे सद्बोधादि विना सबसे इनका तल (मूलाश्रय स्वरूप) नहीं पाया जाता है ॥२३॥ तो भी हे भाई ! इस लोक परलोक को अस्थिर (नश्वर) मान कर, धीरे से स्थिर होवो, अन्यथा स्थिरता, का असम्भव है ॥२४॥ स्तम्भादि के विना जैसे गृह स्थिरता को नहीं पाता है, तैसे ही अभ्यासादि विना स्थिर पद को नहीं पाता है ॥२५॥

अक्षरार्थ–यह मन रूप थथूथा (पर्वत) अथाह है, किसीसे थाहा नहीं जाता, और पर्वत तुल्य होते भी ई (यह) ऊ (वह) लोक परलोक में थिर नहीं रहता है। तो भी हे भाई! थोरे २ धीरे २ अभ्यास वैराग्यादि से थिर होवो, कि जैसे थम्भा के विना ही खिलान पर धीरे २ देवमन्दिर को थम्भाया (रखा) जाता है, तैसे ही मन को भी स्थिर करो। अथवा अवशीभूत मनरूप थथूथा (पर्वत) से अथाह संसार थाहा नहीं जाता है, न लोक परलोक थिर रहनेवाले हैं इत्यादि ॥१८॥

मन का निरोध के हेतुरूप वैराग्य के लिये संसार की क्षणभङ्गुरता का वर्णन करते हैं कि--

चौंतीसी १९

दद्दा देखहु विनशन हारा । जस देखहु तस करहु बिचारा ॥
दशहूं द्वारे तारी लावै । तब दयाल को दर्शन पावै ॥१९॥

दकारोऽभ्रे कलत्रे च धारणे शोभने मतः ।
छेदने च दकारो वै तथा दाने च दातरि ॥२६॥

अभ्र (मेघ), कलत्र (स्त्री), धारण, शोभन अर्थ में दकार माना गया है, और छेदन तथा दान और दाता अर्थ में माना गया है ॥२६॥

शोभनं यत् कलत्रादि व्यवहारस्य धारणम् ।
अपि दृश्यं जगत् सर्वं नश्वरं विद्धि मेघवत् ॥२७॥
प्रत्यक्षमभ्रवद् दृष्ट्वा भूतभाविषु वस्तुषु ।
नश्वरत्वं विजानीहि विचाराच्च गुरोर्मुखात् ॥२८॥
इत्थं ज्ञात्वा त्रिलोकस्थं दशद्वारेषु यन्त्रिकाम् ।
निरोधाख्यां यदा दत्ते विरागाभ्यासतो हि यः ॥२९॥
स तदैव दयालोश्च सर्वस्य सुहृदः प्रभोः ।
सर्वसाक्षिस्वरूपस्य दर्शनं लभते ध्रुवम् ॥३०॥
" अनित्यं सर्वमेवेदं तापत्रितयदूषितम् ।
असारं निन्दितं हेयमिति निश्चित्य शाम्यति " ॥३१॥१९॥

शोभन (सुन्दर) जो स्त्री आदि, व्यवहार का धारण है, और दृश्य सब जगत् है, उन सबको मेघ तुल्य नश्वर समझो ॥२७॥ प्रत्यक्ष को मेघ तुल्य देख कर भूत भावी वस्तु में विचार और गुरुमुख से नश्वरत्व जानो ॥२८॥ इसी प्रकार तीनों लोक में स्थिर पदार्थों को जानकर, जो पुरुष जब दशों द्वार में निरोध नामक यन्त्रिका (ताला) विराग अभ्यास से देता (लगाता) है ॥२९॥ तभी वह पुरुष दयालु सब के सुहृद सबका साक्षी स्वरूप प्रभु का दर्शन अवश्य पाता है ॥३०॥ यह सब वस्तु अनित्य, और तीन ताप से दूषित तथा असार निन्दित हेय हैं, ऐसा निश्चय करके शान्त उपरत होता है ॥३१।

अक्षरार्थ–इस प्रत्यक्ष संसार को ददुदा (मेघ) तुल्य विनशनिहार (नश्वर) देखो (जानो) । और प्रत्यक्ष को जैसा देखो, तैसा ही भूत भावी दूरस्थ को भी विचारो (विचारादि से जानो) । और ऐसा जानकर जो कोई जब दशों द्वारों में तारी (समाधि-ताला) लगाता है, तभी वह दयालु सर्वात्मा राम का दर्शन को प्राप्त करता है ॥१९॥

जीवसंसारादिप्रदर्शन प्रकरण ॥ ६ ॥

चौतीसी २०

धधूधा अर्ध माहँ अँधियारी । अर्द्धं ऊर्ध्वें लेहु विचारी ॥
अर्ध छाड़ि ऊर्ध्व मन लावै । आपा मेटि के प्रेम बढ़ावै ॥
चौथे वे नन्ना महँ जाई । राम के गदह होय खर खाई ॥२०॥

धं धने सधने धः स्याद्विधातरि मनावपि ।
नो नेता चन्द्रमाः सूर्यो बन्धुर्वृक्षः स्तुतिस्तरिः ॥ १ ॥
अधो लोकेऽथ मध्ये च धनं च धनितादिकम् ।
अन्धकारमयं नित्यं चिन्तागर्वादिवर्द्धनम् ॥ २ ॥
यथैवाऽत्र तथैवोर्ध्वे स्वर्गेऽपि ज्ञायतां त्वया ।
रागद्वेषादिहेतुत्वाद् दुःखाऽऽलयमशाश्वतम् ॥ ३ ॥
विचारेण परिज्ञाय हीत्थं तत्रत्य सम्पदम् ।
निरुध्यैव मनस्तस्मात्स्वात्मन्येव वशं नय ॥ ४ ॥
एवमत्र त्वबुध्वा यस्त्यक्त्वाऽप्यत्रत्य सम्पदम् ।
ऊर्ध्वलोके मनो धत्ते तत्रत्य धनमिच्छति ॥ ५ ॥

धन अर्थ में ध शब्द नपुंसक है, और धनी विधाता मनु अर्थ में पुल्लिङ्ग है । नेता, चन्द्र, सूर्य, बन्धु, वृक्ष, स्तुति, नौका अर्थ में न शब्द है ॥१॥ अधो (नीचे) के लोक में और मध्य (मनुष्य) लोक में धन और धनिकता आदिक, सदा अन्धकार (अज्ञान) मय, और चिन्तागर्वादि को बढानेवाला है ॥२॥ जैसा यहाँ है. तैसा ही तुम ऊपर स्वर्ग में भी समझो, और राग द्वेषादि के कारण होने से इसको दुःखों का आलय (भवन) रूप और अशाश्वत (अनित्य) रूप विचार से जानकर, और वहाँ की सम्पत्ति को भी इसी प्रकार जानकर, तिससे मन को रोक करके ही, उसे अपनी आत्मा में ही वश प्राप्त करो ॥३-४॥ और जो कोई इस प्रकार यहाँ नहीं

ममतामत्र हित्वा च बन्ध्वादिषु सुरादिषु ।
स्नेहं वर्द्धयते नित्यं तत्रत्य वस्तुबन्धुषु ॥ ६ ॥
चतुर्थे जनलोके स चन्द्रे सूर्येऽथवा क्वचित् ।
स्वर्गेऽपि वा स्वयं गत्वा तत्रत्यस्वामिनो वशे ॥
तस्य गर्दभवद् भूत्वा फलमत्ति स्वकर्मजम् ॥ ७ ॥
विधातोक्तदयालो र्वा ह्यधस्ताद्वर्तते मनुः ।
यतस्तत्रापि मोहान्धरात्रिरद्यापि विद्यते ॥ ८ ॥
अतोऽधःस्थं तथोर्ध्वस्थं विचारेण विलोक्यताम् ।
तत्यक्त्वा चात्मसंस्थः सञ्जीवन्मुक्तो हि जायताम् ॥९॥२०॥

समझकर, यहाँ की सम्पत्ति को त्याग कर भी ऊपरके लोक में मन का धारण करता है, वहाँ के धन चाहता है ॥५॥ और यहाँ बन्धु आदि में ममता को त्याग कर, देवादि में ममता को बढाता है, तथा वहाँ वस्तु बन्धुओं में नित्य (सदा) स्नेह (प्रेम) को बढ़ाता है ॥६॥ सो चतुर्थ जन लोक, चन्द्र, सूर्य, स्वर्ग में अथवा अन्यत्र कहीं स्वयं जाकर, और वहाँ का स्वामी के वश में स्वयं होकर, तथा उस स्वामी के गदहा तुल्य होकर, अपने कर्मजन्य फल को भोगता है ॥७॥ अथवा पूर्व वर्णित दयालु से विधाता मनु नीचे वर्तमान हैं, जिससे वहाँ (विधाता आदि के पास में) भी अभी मोहरात्रि है ॥८॥ इससे नीचे स्थित और ऊपर स्थित को विचार से देखो. और उसे त्याग कर, आत्मा में सम्यक् स्थिर होकर जीवन्मुक्त हो जाओ ॥९॥

अक्षरार्थ–धनादि की निन्दा वैराग्य के लिये करते हैं कि धधूधा (धनादि) अर्ध (अधो–नीचे) लोक में अँधियारी (अन्धकार) रूप हैं। अर्ध की बात ही ऊर्ध्व लोकों में भी विचारादि से जान लो। जो कोई ऐसा नहीं करके अर्ध के धनादि छोड़कर, ऊर्ध्व के धनादि में मन लगाता है। और यहाँ के आपा (ममता) को मेटकर देवादि में प्रेम बढाता है, सो चौथे (जन) लोक में या स्वर्ग चन्द्रादि लोक में जाकर, वहाँ नन्हा (नेता) ओं के

वश में होकर, उस नेता रूप रामके गर्दभ होकर, स्वकर्मार्जित खर (तृण तुल्य फल) खाता (भोगता) है। या राम का गदहा होकर खरवांड (मान्य) होता है, मुक्त नहीं होता ॥२०॥

चौंतीसी २१

नन्ना निरखत निशिदिन जाई। निरखत नयन रहा रतनाई ॥
निमिष एक जो निरखे पावै। ताहि निमिष में नयन छिपावै ॥२१॥

पश्यतो बन्धुवर्गास्ते सदा याति ह्यहर्दिवम् ।
तेषां च दर्शने नेत्रं रक्त रत्नं यथास्ति च ॥१०॥
दर्शनात्पलमात्रं हि येषां ज्ञानं विनश्यति ।
तान् पश्यसि सदैव त्वं कथं ते कुशलं भवेत् ॥११॥
किम्वा नक्तंदिवं याति पश्य विद्यात्मिकां तरिम्।
नेतारं च परं शुद्धं नेत्रं ते वर्ततेऽमलम् ॥
रत्नवद्दर्शनाह च ज्ञायतां ज्ञायतां त्वया ॥१२॥
पलमात्रमपि ज्ञानमस्य चेत्ते भविष्यति ।
तावतैवान्यदृष्टिस्ते लुप्ता स्यान्नात्र संशयः ॥१३॥२१॥

प्रतिदिन बन्धु वर्गों (समूहों) को देखते में तेरा समय जा रहा और उनके देखने में तेरा नेत्र रक्त (लाल) और रत्न तुल्य है ॥१०॥ जि पलमात्र का दर्शन से ज्ञान विनष्ट होता है, उनको तुम सदा ही देखते तो तेरा कुशल (कल्याण) कैसे होगा ॥११॥ अथवा रातदिन जा रहा विद्या रूप नाव को देखो, और उत्तम शुद्ध नेता (स्वामी) को देखो, नेत्र विमल रत्नतुल्य दर्शन के योग्य है, इससे तुम समझो २ ॥१२॥ शुद्ध नेता का ज्ञान यदि तुम्हे पलमात्र भी होगा, तो उतने से तेरी दृष्टि (अनात्मबुद्धि) लुप्त होगी, इसमें संशय नहीं है ॥१३॥

अक्षरार्थ–बन्धु आदि में आसक्ति को त्यागने के लिये दोष दर्शा कि, नन्ना (बन्धुओं) को निरखते (देखते) ही में तेरा रातदिन बीता जा

है। और उन्हे देखने में तेरा नेत्र रत्नतुल्य हुआ है, इत्यादि ङङ्ङा तुल्य अर्थ है। अथवा परम शुद्ध नन्ना (नेता) को देखो, व्यर्थ समय जा रहा है, और नेता आदि को देखने के लायक रत्नतुल्य नेत्र (विवेक) तुझे मिला है, यदि उसे एक निमिष भी तुम देखोगे, तो अन्य सब भ्रमदृष्टि नष्ट हो जायगी इत्यादि ॥२१॥

चौतीसी २२

पप्पा पाप करे सब कोई। पाप करे कछु धर्म न होई॥
पप्पा कहै सुनहु रे भाई। हमरे सेवे कछू न पाई ॥२२॥

कुबेरे पवने पाने पातरि पश्चिमे च पः ॥
प्रियाणां वै निषिद्धानां विषयाणां पिबः स्मृतः ।
तेषां रसस्य पानात्मकल्मषं कुरुते सदा ॥१४॥
तत्राऽऽसक्त्याऽविवेकेन तृष्णाकामादियन्त्रितः ।
हितं पश्यति न स्वस्य न धर्मं न परां गतिम् ॥१५॥
अतिपापे कृते चात्र सद्धर्मो नैव कश्चन ।
जायते न सुखं नैव विश्रमः शान्तिरेव वा ॥१६॥
अतः पापफलस्थाऽत्ता दर्शयन् स्वदशां ननु ।
पातारं हि वदत्येवं भो भ्रातः! श्रृणतादिदम ॥१७॥

कुबेर, वायु, पान, पाता, पश्चिम अर्थ में प शब्द है। प्रिय (हृद्य) निषिद्ध विषयों को पीने (भोगने) वाला सब प्राणी, उन विषयों के रस (आनन्द) का पान (भोग) रूप पाप सदा करता है ॥१४॥ तृष्णा (लोभ) कामादि से यन्त्रित (परवश-बंधा) हुआ प्राणी, उन विषयों में आसक्ति और अविवेक से, अपना हित धर्म उत्तम गति को नहीं देखता ॥१५॥ और यहाँ अत्यन्त पाप कर लेने पर, कोई सत्य धर्म, सुख, विश्राम, और शान्ति भी नहीं होते हैं ॥१६॥ इससे पाप का फल को भोगनेवाला अपनी दशा को ही देखता हुआ, मानो विषय रस पाता (भोक्ता) को इस प्रकार

मां सेवित्वा न कुत्रापि किञ्चित्सत् प्राप्यते जनैः ।
इदमेव वचः पातुः पानस्यापि च बुध्यताम् ॥१८॥
अर्थकामेष्वसक्तैर्हि धर्मो ज्ञानं च लभ्यते ।
तत्राऽऽसक्तैरधर्मादि नरकस्तदनन्तरम् ॥१९॥
गतसारेऽत्र संसारे सुखभ्रान्तिः शरीरिणाम् ।
लालापानमिवाङ्गुष्ठे बालानां स्तन्यविभ्रमः ॥२०॥२२॥

कहता है कि, हे भाई यह बचन सुनो ॥१७॥ मुझे सेव कर जन को कहीं कुछ सत्य नहीं मिलता है, और यही वचन पान पाता का भी समझो, उनके सेवन से भी कुछ नहीं मिलता है ॥१८॥ अर्थ कामों में आसक्ति रहितों को धर्म और ज्ञान मिलते हैं, और उनमें आसक्तों को अधर्माज्ञानादि मिलते हैं, इसके बाद नरक मिलता है ॥१९॥ सार रहित इस संसार में शरीरी को सुख की भ्रान्ति इस प्रकार है. कि जैसे बालकों को अपने लार पीने पर अङ्गुष्ठे में दूध की भ्रान्ति होती है ॥२०॥

अक्षरार्थ–पप्पा (विषयरस को पीनेवाले) सब कोई पाप करते हैं, और पाप करने पर कुछ भी धर्म नहीं होता है । इसलिये पप्पा (पाप फल भोक्ता) जीव अपनी दशा दिखाकर मानो कहता है कि, रे भाई ! सुनो हमारी सेवा से कुछ नहीं पावोगें । और कुबेर पवनादि देव भी कहते हैं कि हे भाई! पाप को त्यागने विना हमें सेवने से कुछ नहीं पावोगे इत्यादि ॥२२॥

चौतीसी २३

फफ्फा फल लागा बड़ि दूरी । चाखै सतगुरु देइ न तूरी ॥
फफ्फा कहै सुनहु रे भाई । फलबिहीन कहुं थिर न रहाई ॥२३॥

निष्फले भाषणे वारे ह्याह्वानेऽपि फले च फः ॥
मिथ्यानिष्फलभाषिभ्य आह्वायकजनात्तथा ।
कामिभ्यो ह्यतिदूरे सत् फलं लगति सर्वदा ॥२१॥

निष्फल भाषण, वार (वृन्द–अवसर–दिन–हर–द्वार), आह्वान, अर्थ में

स्वदते सद्गुरुः सत्यं फलं तच्च निरन्तरम् ।
तोडित्वा न दद्मात्येभ्यो जनेभ्यश्च कदाचन ॥२२॥
निष्फलं भाषणं तच्च ह्याह्वानं केवलं तथा ।
संजातं फलरूपेण भाषते सज्जनं प्रति ॥२३॥
भो भ्रातः श्रूयतामेतत् सत्यं मे परमं वचः ।
सत्फलेन विहीनो हि कोऽपि कुत्रापि न स्थिरम् ।
स्थातुमर्हति कालेन भीतो भ्रमति सर्वतः ॥२४॥
"दिनमेकं शशी पूर्णः क्षीणस्तु बहुवासरान् ।
सुखाद्दुःखं सुराणामप्यधिकं का कथा नृणाम्" ॥२५॥२३

फ है ॥ झूठ निष्फल भाषण (कथन) करनेवालों से, तथा केवल पुकारनेवाला कामियों से सत्य फल (मोक्ष) सदा अति दूर में लगता (स्थिर) है ॥२१॥ और निरन्तर उस सत्य फल को सद्गुरु स्वदते (अनुभव करते आस्वाद लेते) हैं, परन्तु इन जनों को तोड़कर कभी नहीं देते हैं (प्राप्त नहीं कराते हैं) ॥२२॥ वह निष्फल भाषण तथा केवल आह्वान (पुकारना) फल रूप से उत्पन्न होकर, सज्जन के प्रति कहता है कि, हे भाई ! मेरा यह परम सत्य वचन सुनो, कि सत्य फल से रहित कोई भी कहीं भी स्थिर रूप से ठहरने के लिये अर्ह (योग्य) नहीं होता है किन्तु काल से डर कर सर्वत्र भ्रमता है ॥२३-२४॥ किसी अभियुक्त का कहना है कि, चन्द्रमा एक दिन पूर्ण रहते हैं, और बहुत दिन क्षीण रहते हैं, इससे देवों को भी सुख से अधिक दुःख है, मनुष्यों की कथा ही क्या है ॥२५॥

अक्षरार्थ-निष्फल भाषणादि रूप फफूफा से सत्य फल बहुत दूर लगता है, और सद्गुरु सदा उस फल को चाखते (जानते स्वाद लेते) हैं। परन्तु निष्फल भाषी आदि को तोड़कर नहीं देते हैं, और फफूफा (मोक्ष फल रूप ज्ञानी हरादि) कहते हैं कि, रे भाई ! सुनो, सत्य फल से विहीन (रहित) जीव कहीं स्थिर नहीं रहने पाता है ॥२३॥

चौंतीसी २४

बब्बा बर बर करे सब कोई। बर बर करे काज नहिं होई॥
बब्बा बात कहे अर्थाई। फल का मर्म न जानै भाई॥२४॥

वरुणे कलशे बः स्यात् फले वक्षःस्थलेऽपि च॥
सत्यं यद्धि फलं तस्य कथां सर्वेऽपि कुर्वते।
तावता नैव कार्यस्य सिद्धिर्भवति कस्यचित्॥२६॥
वार्तां सत्यफलस्यापि व्याख्यायुक्तां प्रकुर्वते।
तस्य मर्म न जानन्ति फलस्यापरिणामिनः॥२७॥
"आशावैवश्यविरसे चित्ते संतोषवर्जिते।
म्लाने वक्त्रमिवादर्शे न ज्ञानं प्रतिबिम्बति॥२८॥
यथा देहोपयुक्तं हि करोत्यारोग्यमौषधम्।
तथेन्द्रियजयेऽभ्यस्ते विवेकः फलितो भवेत्॥२९॥
विवेकोऽस्ति वचस्येव चित्रेऽग्निरिव भास्वरः।
यस्य तेनापरित्यक्ता दुःखायैवाविवेकिता"॥३०॥

वरूण, कलश, फल, वक्षःस्थल (उरःस्थान) अर्थ में ब शब्द होता है। सत्य जो फल है, तिसकी कथा सभी करते हैं, परन्तु उतने से किसी का कार्य की सिद्धि नहीं होती है॥२६॥ व्याख्यान (अर्थ) युक्त सत्य फल कि बात भी अच्छी तरह करते हैं। परन्तु उस अपरिणामी (नित्य) फल के मर्म (रहस्य) को नहीं जानते हैं।२७। योगवासिष्ठ के वचन हैं कि, आशा की विवशता से विरस (सत्य भक्ति आदि रहित) संतोष रहित चित्त में, मलीन दर्पण में मुख की नाईं, ज्ञान प्रतिबिम्बित (प्रगट) नहीं होता है॥२८॥ जैसे देह में उपयुक्त (भुक्त) औषध आरोग्य करता है, तैसे ही इन्द्रिय जय के अभ्यस्त (प्राप्त) होने पर विवेक फलित (सफल) होता है, और होगा॥२९॥ चित्र में अग्नि की तरह जिसके वचन में ही भास्वर (दीप्त) विवेक है, तिससे नहीं त्यागी गई अविवेकिता दुःख के ही लिये होती है॥३०॥

अक्षरार्थ—अर्थधर्मादि रूप बबूवा (फल) के वर २ (बड़ाई कथा) प्रायः सब कोई करते हैं, परन्तु वर २ करने से कार्य (प्रयोजन) सिद्ध नहीं होता है, बबूवा (फल) की बातों को लोक अर्थाई (व्याख्या कर) के कहते हैं, फलों के मर्म (रहस्य विचारादि) को नहीं जानते हैं इत्यादि ॥२४॥

चौतीसी २५

भभूभा भरम रहा भरि पूरी । भभरे ते है नियरे दूरी ॥
भम्भा कहै सुनहु रे भाई । भभरे आवै भभरे जाई ॥२५॥

आकाशे भवने चैव नक्षत्रे भ्रमणे च भः ॥
संसारभवने देहे सर्वत्राकाशमण्डले ।
गृहादिविषया भ्रान्तिः पूर्णा नित्यादिगोचरा ॥२५॥
भ्रान्तेरेव समीपस्थाज्जीवो दूरे हि वर्तते ।
आत्मनोऽपि निजात्सोऽपि तस्माद् दूरतरः शिवः ॥२६॥
भ्रमणं च गृहं चतद्वदतीव जनं मुहुः ।
भ्रान्भ्रान्त्यैव सर्वेऽमी यान्त्यापान्ति च सर्वदा ॥२७॥
अन्धं तमो विशन्त्येते पुत्रदारादिमोहदम् ।
अनित्ये चाऽशुचौ दुःखे रमन्ते न निजात्मनि ॥२८॥

आकाश, गृह, नक्षत्र, भ्रमण अर्थ में भ शब्द है ॥ संसार रूप भवन, देह, सर्वत्र आकाश मण्डल (देश) में गृहादि विषयक नित्यादिगोचर (विषयवाली) भ्रान्ति (भ्रम) पूर्ण (व्याप्त) है ॥२५॥ भ्रांति से ही समीपस्थ अपनी आत्मा से भी जीव दूर में रहता है, और वह शिव (आत्मा) भी जिससे अति दूर है ॥२६॥ और भ्रमण तथा गृह जन को यह बचन मानो बार २ कहते हैं कि हे भाई ! भ्रान्ति से ही ये सब जीव सदा आते जाते (जन्मते मरते) हैं ॥२७॥ पुत्र स्त्री आदि द्वारा मोह को देनेवाला अन्ध तम में ये जीव भ्रम से ही पैठते हैं । और अनित्य अशुचि दुःख में रमते (प्रेम करते) हैं, निजात्मा में नहीं रमते हैं ॥२८॥

अक्षरार्थ—भभ्भा (गृह देहादि) के भरम (भ्रान्ति सत्यत्वात्मत्वादि का ज्ञान) सर्वत्र भरपूर हो रहा है। और भभरें ते (भ्रान्त होने से) नियरे (पास की वस्तु) से जीव दूर है, और भभ्भा भी कहता है (संसारी जीव भी समझाते हैं) कि रे भाई! भभरे (भ्रान्त होने) से ही जीव आता जाता (संसार चक्र में भ्रमता) है ॥२५॥

चौंतीसी २६

मम्मा सेवे मर्म न पावै। हमरे सेवे मूल गमावै॥
मम्मा कहै सुनहु रे भाई। मूल छोड़ि कस डारहिं जाई ॥२६॥

शिवे चन्द्रे च मः प्रोक्तो बन्धने च विधातरि।
कमलायां तथा माने मातरि मा निगद्यते ॥२९॥
बन्धनात्मगृहादिनां शिवादिनां च कामतः।
सेवनात्सत्फलस्यात्र मर्म कोऽपि न विन्दते ॥३०॥
किन्तु तेषां ममत्वेन सेवनान्मूलमात्मनः।
धनं लुम्पति येनाऽत्र त्वनाथ इव धावति ॥३१॥
यद्वा सद्गुरुसेवातो जन्ममूलं विनश्यति।
अज्ञानं तेन लभते धनं मूलं निजेप्सितम् ॥३२॥

शिव, चन्द्र, बन्धन, विधाता, अर्थ में म शब्द है, और कमला (लक्ष्मी), मान (प्रमाण), माता अर्थ में मा शब्द है ॥२९॥ बन्धन स्वरूप गृहादि और शिवादि का काम (इच्छा) पूर्वक सेवन से यहाँ कोई भी सत्य फल का मर्म नहीं पाता (जानता) है ॥३०॥ किन्तु उनका ममता पूर्वक सेवन से अपना मूल धन (आत्मज्ञान विवेकादि) को नष्ट करता है, कि जिससे अनाथ (रक्षक स्वामी रहित) की नाईं यहाँ बार २ धावता है ॥३१॥ अथवा सद्गुरु की सेवा से जन्म का मूल कारण अज्ञान विनष्ट होता है, कि तिससे अपना ईप्सित मूल धन को मनुष्य पाता है ॥३२॥ और

शिवाद्याश्च वदन्त्येवं मूलं त्यक्त्वाऽत्र किं भवान् ।
याति शाखासु संमोहाद्देवतासु गृहादिषु ॥३३॥
" आत्माऽज्ञानादहो प्रीतिर्विषये भ्रमगोचरे ।
शुक्तेरज्ञानतो लोभो यथा रजतविभ्रमे " ॥३४॥
" पञ्चाग्निवित्तथाऽन्योऽपि गृहस्थान्यत्रयाश्रमी ।
पुण्यं कर्म विधायापि विशन्ति मोहगह्वरे ॥३५॥
देवभक्ताश्च तैर्लब्ध्वा परमैश्वर्यमत्र वै ।
कर्मिभ्योऽप्यधिकासक्ता जायन्तेऽनात्मविभ्रमे " ॥३६॥२६॥

शिवादि तो यहाँ इस प्रकार कहते हैं कि, आप मूल धन को त्याग कर, संमोह से शाखा रूप गृहादि और देवादि में क्यों जाते हो ॥३३॥ आत्मा के अज्ञान से ही भ्रम के विषय शब्दादि विषय में आश्चर्य रूप प्रीति होती है, जैसे शुक्ति के अज्ञान से रजत (चांदी) के भ्रम में लोभ होता है ॥३४॥ पञ्चाग्नि के उपासक गृहस्थ तथा अन्य भी तीन आश्रमी अपने आश्रमोचित पुण्य कर्म करके भी विचारादि बिना कामादि से मोहादि रूप गह्वर (गुहा गहन) में पैठते हैं ॥३५॥ देवता के भक्त उन देवों से यहाँ परम ऐश्वर्य पाकर, अनात्मविभ्रम (शोभा) में कर्मियों से भी अधिक आसक्त होते हैं ॥ ३६ ॥

अक्षरार्थ–मम्मा (बन्धन रूप गृहादि लक्ष्मी आदि) के सेवने से सत्य फल का मर्म कोई नहीं पाता है, किन्तु हमरे (सद्गुरु के) निष्काम सेवन से संसार के मूल अज्ञानादि को गमाता (नष्ट करता) है, या गृहादि को ये हमरे (मेरे) हैं, इस प्रकार ममता पूर्वक सेवने से जीव मूल धन (आत्मा) को को गमाता (खोता) है। मम्मा (शिवादि) कहते हैं कि रे भाई ! सुनो, मूल सर्वात्मा को छोड़कर डार (कार्य) में क्यों जाता है ? (मूल गहे ते काम है, तैं मति भर्म भुलासि । साखी) ॥२६॥

चौंतीसी २७

यय्या जगत रहा भरि पूरी । जगतहुं ते है यय्या दूरी ॥
यय्या कहै सुनहु रे भाई । हमरे सेवे जय जय पाई ॥२७॥

यशो यानं च वायुश्च त्यागो याता य उच्यते ॥
त्यागो परवशः पूर्णः संसारे विद्यते सदा ।
विवेकेन तु यस्त्यागो जगतो दूरतो ह्यसौ ॥३७॥
एवं यशोऽपि यानं च वायुश्च विदितं भुवि ।
सत्यं यशश्च यानं च प्राणात्माऽस्ति तथा नहि ॥३८॥
विवेकजनितस्त्यागोऽभिधत्ते शृणु सज्जन ! ।
अस्माकं सेवया सत्यजयस्ते सर्वतो भवेत् ॥३९॥
सेवनात्सत्ययशसो यानात्सत्ये निजात्मनि ।
प्राणप्राणस्य विज्ञानात्पुनर्जन्म न विद्यते ॥४०॥
सति सक्तो नरो याति सद्भावं ह्येकनिष्ठया ।
कीटको भ्रमरं ध्यायन् भ्रमरत्वाय कल्पते ॥४१॥

यश (कीर्ति), यान (गति-वाहन), वायु, त्याग, याता (भ्रातृभार्या) य कहाते हैं। परवश त्याग संसार में सदा पूर्ण है, परन्तु विवेक से जो त्याग है। वह संसार से दूर है ॥३७॥ इसी प्रकार यश, यान (गति), वायु, भूमि में विदित है, परंतु सत्य, यश और यान और प्राणस्वरूप वायु वैसा विदित (प्रसिद्ध) नहीं है ॥३८॥ विवेक से जन्य त्याग (त्यागवान्) कहता है कि हे सज्जन ! तुम सुनो, कि हमारी सेवा से तेरा सर्वत्र सच्चा विजय होगा ॥३९॥ सत्य स्वरूप यश के सेवन से, और सत्य निजात्मा में यान गति से तथा प्राणों के प्राणस्वरूप आत्मा के विज्ञान से फिर जन्म नहीं होता है ॥४०॥ विवेक चूडामणि का वचन है कि सत (आत्मा) में आसक्त मनुष्य एकनिष्ठा (व्रत-संमता-सिद्धि) से सत्स्वरूपता को प्राप्त होता है, कि जैसे कीट भ्रमर (भृङ्ग) का ध्यान करता हुआ भ्रमर-

बाह्ये निरुद्धे मनसः प्रसन्नता मनःप्रसादे परमात्मदर्शनम् ।
तस्मिन् सुदृष्टे भवबन्धनाशो बहिर्निरोधः पदवी विमुक्तेः ॥४२॥

इति चौतीसीचर्चायां जीवसंसारादिवर्णनं नाम षष्ठं वाक्यम् ॥६॥

रूपता को प्राप्त होता है ॥४१॥ बाहर के इन्द्रिय का निरोध से मन की प्रसन्नता (निर्मलता) होती है । और मन के प्रसाद (निर्मलता) होने पर परमात्मा का दर्शन (ज्ञान) होता है । और परमात्मा के सम्यग् ज्ञान होने पर संसारबन्धन का नाश होता है । इस से बाहर का निरोध ही विमुक्ति की पदवी (मार्ग) है ॥४२॥

अक्षरार्थ-यय्या (त्याग-गति) जगत में भरपूर (व्यापक) है । अन्त में सभी सब त्याग कर चलते हैं, परन्तु सच्चा त्यागादि जगत से दूर भी है । और वह सच्चा त्याग कहता है कि रे भाई ! सुनो, हमारी सेवा से ही सर्वत्र जय २ शब्द और विजय पाया पाता है ॥२७।

परमात्मविचार प्रदर्शन प्र० ॥ ७ ॥

चौतीसी २८

ररा रारि रहा अरुझाई । राम कहत दुख दारिद जाई ॥

रामेऽनिले धने रोगे भूमौ वन्हौ तथेन्द्रिये ।
रशब्दः कथ्यते तेषु विग्रहो विद्यते महान् ॥ १ ॥
रामेति कथनात्केचित्केचित्प्राणनिरोधनात् ।
मोक्षं वदन्ति वादांश्च कुर्वते बहुधाऽबुधाः ॥ २ ॥

राम (ब्रह्म-ईश्वर), वायु, धन, रोग, भूमि, अग्नि, और इन्द्रिय, अर्थ में र शब्द कहा जाता है, और तिस रामादि विषयक महान् विग्रह (कलह-विस्तार) है ॥१॥ कोई राम ऐसा शब्द कहने से, कोई प्राणवायु के निरोध से मोक्ष कहते हैं । और अबुध लोक बहुत प्रकार के वाद (जल्प

ररा कहै सुनहु रे भाई । सतगुरु पूछि के सेवहु जाई ॥२८॥

भूमेर्धनस्य लब्ध्यर्थमिन्द्रियाणां च तृप्तये ।
युद्ध्यन्ति बहुधा लोका व्यापारान् कुर्वते बहून् ॥ ३ ॥
रामादिकथनादेव दुःखं दारिद्र्यमेव च ।
रुङ् नश्यतीति कथयन् प्रमादं कुरुते जनः ॥ ४ ॥
अतो रामो गुरुः प्राह भो भ्रातः ! शृणु सादरम् ।
सद्गुरुं परिपृच्छ्यैव रामं गत्वा सुसेवताम् ॥ ५ ॥
अनात्मचिन्तनं त्यक्त्वा कश्मलं दुःखकारणम् ।
चिन्तयाऽऽत्मानमानन्दरूपं यन्मुक्तिकारणम् ॥ ६ ॥

वितण्डा) करते हैं ॥२॥ और भूमि तथा धन की प्राप्ति के लिये, और इन्द्रियों की तृप्ति के लिये भी लोक बहुत प्रकार से युद्ध करते हैं, और बहुत व्यापार करते हैं ॥३॥ और रामादि शब्दों के कथन से ही दुख दरिद्रता और रोग नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार कहता हुआ मनुष्य अपने कर्तव्य विचारादि में प्रमाद (अनवधानता–भूल) करता है ॥४॥ इससे राम रूप गुरु कहते हैं कि हे भाई ! प्रेम आदर सहित सुनो, कि सद्गुरु से राम को अच्छी तरह पूछ (प्रश्नयुक्त श्रवण) करके ही राम को प्राप्त करके अच्छी तरह सेवो (भजो) ॥५॥ अनात्म का चिन्तन और दुःख का कारण कश्मल (मोह) को त्याग कर, आनन्द स्वरूप आत्मा का चिन्तन करो, जो चिन्तन मोक्ष का कारण है ॥६॥

अक्षरार्थ–ररा (राम भूमि धनादि) के रारि (झगडा) में संसार अरुझाय (फंस) रहा है, विवादादि में लगा है, और कहता समझता है कि राम कहते ही दुःख दारिद्रादि सब नष्ट हो जाते हैं। परन्तु ररा (रामरूप ज्ञानी) कहते हैं कि रे भाई ! सुनो, सतगुरु से पूछ कर राम के पास जाओ, और राम ही को सेवो (भजो) तब दुःखादि से रहित होगे ॥२८॥

चौतीसी २९

ललला तुतरे बात जनाई । तुतरे तुतरे परिचय पाई ॥
अपने तुतर और को कहई । एकै खेत दोऊ निर्वहई ॥२९॥

लो दीप्तौ द्यवि भूमौ च भये चाह्लादनेऽनिले ।
दाने च साधने श्लेषे ह्याशये मानसे तथा ॥
विरञ्चौ वरुणे चेन्द्रे प्रलये सान्त्वनेऽपि च ॥ ७ ॥
आत्मदीप्तिस्वरादीनां वार्तां संदेहसंयुताम् ।
अस्फुटां खल्वभाषन्त लोहला गुरवोऽनृताम् ॥ ८ ॥
तेनाऽन्येऽपि ततो बोधमव्यक्तं लेभिरे न तु ।
प्रत्यक्षं स्वयमात्मानं साक्षिरूपं हि लेभिरे ॥ ९ ॥
लोहला ल्लोहलः श्रुत्वा ज्ञानिमानी भवत्यथ ।
लोहलान् वदतश्चान्यान् क्षेत्रासक्तौ स्वयं तु तौ ॥१०॥
यद्वा स्वयं विमूढोऽपि ह्यन्यं किमपि भाषते ।
गुरुंमन्यस्ततश्चाभावेकक्षेत्रनिवासिनौ ॥
क्षेत्रज्ञं नैव जानीतो देवः किंलक्षणो ह्यसौ ॥११॥

दीप्ति (प्रभा–द्युति), स्वर्ग, भूमि, भय, आनन्द, वायु, दान, साधन, श्लेष (संबन्ध), आशय (आश्रय–तात्पर्य), मानस, ब्रह्मा, वरुण, इन्द्र, प्रलय, सान्त्वन (सान्त्व–अति मधुर वचन) अर्थ में ल शब्द है ॥ ७ ॥ आत्मा की दीप्ति (प्रभा-द्युति) और स्वर्गादि की संदेहयुक्त अनृत (मिथ्या) अस्फुट वार्ता को लोहल (अस्फुट वाक्‌वाले) गुरुलोक कहे हैं ॥ ८ ॥ तिससे अन्य लोक भी उससे अव्यक्त (अस्फुट) ज्ञान को प्राप्त किये हैं, प्रत्यक्ष साक्षिस्वरूप स्वयं आत्मा को नहीं पाये हैं ॥ ९ ॥ लोहल (अस्पष्ट वक्ता) से लोहल शिष्य कुछ सुनकर, अपने को ज्ञानी मानने वाला होता है, और अन्य को लोहल, वे गुरु शिष्य दोनो कहते हैं, और स्वयं दोनों क्षेत्र (शरीरादि) में आसक्त होते हैं ॥१०॥ अथवा

विधाताऽप्यथवा वेदे ह्यव्यक्तं प्रोक्तवांस्ततः ।
मन्दप्रज्ञा न वेदेन सम्यग् बोधादि लेभिरे ॥१२॥

स्वयं विमूढ भी अपने को गुरु मान कर, अन्य को कुछ कहता है, तिससे श्रोता वक्ता दोनों किसी एक क्षेत्र (प्रकृति) के निवासी होते हुए, क्षेत्रज्ञ (पुरुष–आत्मा) को नहीं जानते हैं, कि वह सर्वात्मा देव किम लक्षण वाला है ॥११॥ अथवा ब्रह्माजी ने भी वेद में अव्यक्त (अस्फुट) वचन ही कहा है, तिस कारण से मन्द बुद्धिवाले वेद से सम्यक ज्ञानादि गुरु बिना नहीं पाये ॥१२॥

अक्षरार्थ–उक्त रार (झगड़ा) में फंसने के कारण का वर्णन करते हैं कि, गुरुआ लोकों ने ललूला (आत्मप्रकाश साधनादि) की बातों को तुतरे (अस्पष्ट) जनाई है, अर्थात् अस्पष्ट शब्दों से प्रकाश, स्वर्ग, दान साधनादि का वर्णन किया है। और तुतरे (अस्पष्ट भाषी) से तुतरे लोकों ने परिचय (अस्पष्ट मिथ्या ज्ञान) पाया है। और अपने (आप) तुत्तर होते भी और (अन्य) को सब तुतर कहते हैं, और स्वयं गुरु शिष्य दोनों किसी एक ही खेत (क्षेत्र) में निर्वाह करते हैं, क्षेत्रज्ञ को नहीं जानते हैं इत्यादि ॥२९॥

चौंतीसी ३०

ववूवा वर वर करे सब कोई । वर वर किये काज नहिं होई ॥
ववूवा कहै सुनहु रे भाई । स्वर्ग पाताल कि खबरि न पाई ॥३०॥

परमात्मनि तद्भक्ते वरुणे वश्च पठ्यते ।
परात्मभक्तयोः श्रैष्ठ्यं भाषन्ते सर्वमानवाः ॥१३॥
तावता कार्यसिद्धिर्न कस्याऽपि जायते नतः ।
भक्तो वदति चेशोऽपि भवद्भि र्ज्ञायते नहि ॥१४॥

परमात्मा, परमात्मा के भक्त, वरुण, अर्थ में व शब्द पढा जाता है। और परात्मा (परमात्मा) भक्त की श्रेष्ठता को सब मनुष्य कहते हैं ॥१३॥ परन्तु तावता (कथन मात्र से) किसी का भी कार्य की सिद्धि

परमात्माऽस्ति कुत्रेति स्वर्गे पाताल एव वा ।
यावन्न ज्ञायते तावत्कथनात् किं भवेन्मुहुः ॥१५॥
विकल्प्य बहुधा वेशं तच्छ्रैष्ठ्यमपि मन्यते ।
विवदन्तश्च भाषन्ते मतभेदैरनेकधा ॥१६॥
तेन कस्यापि कार्यस्य सिद्धिः क्वापि न जायते ।
ब्रह्ममूर्तिगुरुस्तस्माच्छ्रवणायैतदुक्तवान् ॥१७॥
स्वर्गपातालयोर्दुःखं भवद्भिर्ज्ञायते नहि ।
तेन तत्र सुखं मत्वा तत्रैवेशं च मन्यते ॥१८॥

इति चौतीसीचर्चायां परमात्मविचारप्रदर्शनं नाम सप्तमं वाक्यम् ॥७॥

नहीं होती, तिससे भक्त और ईश्वर कहते हैं, कि आप लोक नहीं जानते हो कि, परमात्मा कहाँ है, स्वर्ग में है वा पाताल में ही है। और जबतक नहीं जानते हो, तब तक बार २ कथन से क्या होगा ॥१४-१५॥ वा (अथवा) ईशं बहुधा विकल्प्य (ईश्वर का बहुत प्रकार से विकल्प, भेद की कल्पना, करके) उस भेद की श्रेष्ठता ही मानते हैं। और विवाद करते हुए मतभेद से अनेक प्रकार के ईश्वर कहते हैं ॥१६॥ तिस कथन से ज्ञानादि विना किसी कार्य की कहीं भी सिद्धि नहीं होती है, तिससे ब्रह्ममूर्ति गुरु ने श्रवणादि के लिये यह वचन कहा है कि, स्वर्गपाताल के दुःख को आप लोक नहीं जानते हो, तिसी कारण से वहां सुख मानकर, वहां ही ईश्वर को भी मानते हो ॥१७-१८॥

अक्षरार्थ—वव्वा (परमात्मा-भक्त) को सब कोई वर २ (श्रेष्ठ २) करते (कहते) हैं। परन्तु वर २ करने से कार्य नहीं होता। इससे वव्वा (परमात्मा भक्त) कहते हैं, कि रे भाई! सुनो, तुमने स्वर्ग पाताल की खबर नहीं पाई है। ब्रह्मरन्ध्र हृदयादि रूप परमात्मा के स्थानों को समझ कर परमात्मा को समझो, वर २ करने मात्र से क्या होगा इत्यादि ॥३०॥

चौतीसी ३१

शश्शा सर देखै नहिं कोई । सर शीतलता एकै होई ॥
शश्शा कहै सुनहु रे भाई । शून्य समान चला जग जाई ॥३१॥

शं सुखं शंकरः श्रेयः शेषः शः शान्त उच्यते ।
हिंसायां शयने सीम्नि श्रेयसश्च सरः सदा ॥
प्रत्यक्षं विद्यते तन्न मूढाः पश्यन्ति केचन ॥१॥
आनन्दसिन्धुरानन्दस्त्वेक एवात्र विद्यते ।
सुबोधेन तथा भाति दुर्बोधेन विभिद्यते ॥२॥
सीमभूतोऽस्य विश्वस्य वदति ज्ञानवान् ननु ।
भ्रातः शृणु विना तेन जगद्यानि हि शून्यवत् ॥३॥३१॥

सुख, शंकर, श्रेयः (मोक्ष), शेष को शं कहा जाता है, और शान्त, हिंसा, शयन, सीमा, अर्थ में शः कहा जाता है। श्रेय (मोक्ष) का सर (तडाग) प्रत्यक्ष आत्मस्वरूप ही है, सो शान्त सुखरूप है। परन्तु कोई मूढ उसको नहीं देखता है ॥ १ ॥ इस संसार में आनन्द का समुद्र (सर) और आनन्द एक ही स्वरूप है, और सुन्दर ज्ञान से तैसा (एक स्वरूप) प्रतीत होता है। दुर्बोध (भ्रम) से विभिन्न (भेदयुक्त) होता (भासता) है ॥ २ ॥ इस विश्व के सीमास्वरूप ज्ञानी ही कहता है, कि हे भाई ! सुनो, उस आनन्दसिन्धु के विना जगत् शून्य के तुल्य जाता है (आत्मज्ञान विना संसारी जीव तुच्छ तुल्य नष्ट होता है) ॥३॥

अक्षरार्थ–शश्शा (नित्य सुख मोक्ष) के सर (तालाब) को केवल वर २ करने वाला कोई नहीं देखता है, कि जहां सर और शीतलता (सुखसिन्धु और सुख) एक है, और जानने पर एक ही होता है। शश्शा (उस सुख रूप शान्त ज्ञानी) तो कहते हैं कि, रे भाई ! सुनो, उसके ज्ञानादि विना संसारी जीव शून्यतुल्य होकर चले जा रहे हैं ॥३१॥

चौतीसी ३२

षषा षर षर करे सब कोई। षर षर किये काज नहिं होई॥
षषा कहै सुनहु रे भाई। राम नाम ले जाहु पराई॥ ३॥

षः श्रेष्ठे च परोक्षे च तथा गम्भीरलोचने॥
श्रेष्ठत्वं स्वमतेष्वेवं परोक्षेषु च वस्तुषु।
सत्यत्वं हि प्रभाषन्ते सर्वे मोक्षो न तावता॥४॥
विज्ञाश्च कथयन्त्यस्माद् भ्रातस्त्वं श्रवणं कुरु।
रामनामानमात्मानं गृहीत्वैभ्यो द्रुतं व्रज॥५॥

इति चौतीसीचर्चायामानन्दात्मरामप्रदर्शनं नामाष्टमं वाक्यम्॥८॥

श्रेष्ठ, परोक्ष और गम्भीर नेत्र, अर्थ में ष शब्द है। अपने २ मतों में सब श्रेष्ठता कहते हैं। इसी प्रकार परोक्ष वस्तुओं में सत्यता कहते हैं, परन्तु तिस कथन मात्र से मोक्षादि कार्य नहीं होता है॥ ४॥ इससे श्रेष्ठ ज्ञानी कहते हैं कि, तुम श्रवणादि करो, और रामनामवाला आत्मा का ग्रहण (अनुभव प्राप्ति) करके इन सांसारिक वस्तु आदि से शीघ्र चलो (पृथक् होवो)॥ ५॥

अक्षरार्थ–षषा (परोक्ष श्रेष्ठ वस्तु) को सब कोई षर २ (सत्य २) किया (कहा) करते हैं। अर्थात् उस सुखसिन्धु के ज्ञान बिना परोक्ष को श्रेष्ठ सत्य कहते हैं, और उस कहने से कार्य नहीं होता है। इससे षषा (श्रेष्ठ ज्ञानी) कहते हैं कि रे भाई! सुनो, अपरोक्ष राम नाम (सर्वात्मा राम) को प्राप्त करके संसार के झंझट से पराय जाओ (दूर भगो)। (कहहिं कबिर कोइ भागि उबरे, अभय सतगुरु शरण)॥३२॥

कोपादि प्रदर्शन प्र० ॥ ९ ॥

चौतीसी ३३

सस्सा सरा रचो वरियाई । शर बेधे सब लोग तवाई ॥
सस्सा के घर सुन गुन होई । इतनी बात न जानै कोई ॥३३॥

स: कोपे वरणे चैव परोक्षे शूलिनीश्वरे ॥
कोपाद्यात्मचिता तीव्रा कृता मूढविदग्धये ।
ईश्वरेण च विश्वात्मा सुदीप्ता रचिता चिता ॥१॥
तत्रास्थाप्य जनान् कालो मनश्चैवेन्द्रियाणि च ।
शोकादिलक्षणै र्बाणै र्विद्ध्वैव तापयन्ति तान् ॥२॥
यत्किञ्चित् क्रियते लोकैस्तत्सर्वमीश्वराश्रमे ।
श्रूयते तावदन्यो न कश्चिद्वेदितुमर्हति ॥३॥
एवं कोपगृहे स्वान्ते हीन्द्रियार्थस्य संश्रुतौ ।
मनोरथादिबाणैस्तन्मनो विद्ध्यति देहिनम् ॥४॥

क्रोध, वरण (प्राकार–आवरण), परोक्ष, शूली (त्रिशूलधारी शिव), ईश्वर, अर्थ में स शब्द है। मूढ का विशेष दाह के लिये कोपादि रूप तीव्र (दृढ़) चिता ईश्वर से की गयी है, विश्व रूप भी सुदीप्त चिता (चिता-सरा) रची गई है ॥१॥ काल, मन, और इन्द्रियाँ सब प्राणियों को उस चिता में रख कर, और शोकादि रूप बाणों से वेधित करके उन लोकों को तपाते (पीडित करते) हैं ॥२॥ और लोकों से जो कुछ शुभाशुभ किया जाता है, वह सब ईश्वर के आश्रम (मठ–स्थान रूप वन) में सुनाई पड़ता है, और जितना वह ईश्वर शुभाशुभ को जानता है, उतना अन्य कोई जानने के लिये समर्थ नहीं है ॥३॥ इसी प्रकार कोप के घर रूप मन में इन्द्रियार्थ (विषय) का अच्छी तरह श्रवण (ज्ञान) होने पर, वह मन मनोरथादि रूप बाणों से देही (जीव) को पीडित करता है ॥४॥ और

परोक्षस्याशयाऽप्येवं विद्ध्यन्ति केऽपि मानवान् ।
अहो एतन्न पश्यन्ति मूढास्तु मन्वते हितम् ॥५॥३३॥

कोई (कामादि) परोक्ष (स्वर्गादि) की आशा से भी इसी प्रकार मनुष्यों को पीडित करते हैं, और आश्चर्य है कि मूढ लोक इस रहस्य को नहीं जानते हैं, और काम आशा आदि से ही हित समझते हैं ॥५॥३३॥

अक्षरार्थ–ससुसा (ईश्वर) ने संसार रूप चिता बरियाई (प्रबल) रचा है । या ससुसा (कोप) रूप सरा (चिता) बरिआई (बलात्कार) से रची गई है । और उस चिता में अज्ञ जीवों को डार कर, शोकादि शरों से वेध कर, मनु कामादि शत्रु जीवों को तवाते (पीड़ित–तप्त करते) हैं. क्योंकि जीव जो कुछ करते हैं, उनका ससुसा (ईश्वर) के घर (हृदयादि) में सुनगुन (श्रवण–विचार) होता है, और उन कर्मों के अनुसार दण्डादि मिलते हैं । और जितनी बात का सुनगुन ईश्वर के घर में होता है । इतनी बात को कोई नहीं जानता है, न उक्त चिता से बचने के लिये रामनाम लेकर भागता है इत्यादि ॥३३॥

चौतीसी ३४

हहूहा करत जीव सब जाई । हर्ष शोक सब माहिं समाई ॥

हः कोपे वारणे रुद्रे तं कृत्वा जन्तवः स्वयम् ।
चित्यां यान्त्यथ चिन्तायां वारणेऽपि कृते ननु ॥६॥
अतो हर्षश्च शोकश्च सर्वेषु संविशत्यलम् ।
द्वन्द्वमुक्ता न दृश्यन्ते नैव विज्ञानसंयुताः ॥७॥

क्रोध और वारण (प्रतिषेध–हस्ती) तथा रुद्र (शूली-शिव) अर्थ में ह शब्द है, जन्तु तिस कोप और परहित का प्रतिषेध को करके स्वयं संसारादि रूप चिति (चिता) में जाते हैं । अथ (फिर) चिन्ता में प्राप्त होते हैं, स्मरण (विचार) करते हैं, प्रथम नहीं करते, वारण (कुमार्गादि से निषेध) करने पर भी प्राणी की यह दशा है ॥६॥ इससे हर्ष और शोक

हँकरि हँकरि सब बड़ बड़ गयऊ। हहूहा मर्म न काहू पयऊ ॥३४॥

द्वन्द्वमोहाभिभूताश्च महान्तोऽपि जनाः सदा ।
रुदित्वैव मुहुर्नष्टा क्रुधो मर्म नचाविदुः ॥८॥
" सापराधं हि हिंस्रं यः शपेत् कोपेन धार्मिकः ।
विनाशः सापराधस्य धर्मो नष्टश्च धर्मिणः " ॥९॥
" जयन्ति मुनयः केचित्पञ्चबाणं कथञ्चन ।
तदीयं तनयं क्रोधं शक्ता जेतुं न तेऽपि हि ॥१०॥
अश्ववारं यथा दुष्टो वाजी गर्ते निपातयेत् ।
एवं क्रोधोऽपि नरके नरं विज्ञानवर्जितम् " ॥११॥३४॥

सब में अच्छी तरह प्रविष्ट होते हैं, द्वन्द्वों से रहित प्राणी नहीं देखे जाते हैं, न विज्ञान सहित देखे जाते हैं ॥७॥ द्वन्द्व और मोह से अभिभूत (पराजित) महान लोक भी सदा बार २ रो करके ही नष्ट हुए, और क्रोध का मर्म को नहीं जान सके ॥८॥ ब्रह्मवैवर्त पु० कृष्णजन्म खं० अ० ५९।६। का वचन है कि, जो धर्माचारी क्रोध से अपराध सहित हिंस्र (घातुक) को भी शाप देता है, तो अपराधी का विनाश होता है, और धर्मी का भी धर्म नष्ट होता है ॥९॥ आत्मपु० अ० ४।१३९। कोई मुनि पञ्चवारण (काम) को किसी प्रकार जीतते हैं। परन्तु वे भी उस काम का तनय (पुत्र) क्रोध को जीतने के लिये शक्त (समर्थ) नहीं होते ॥१०॥ आत्मपु० अ० २।७५। जैसे दुष्ट वाजी (अश्व) अश्ववार (अश्वारोह) को गर्त (अवट–गड्हा) में गिराता है। इसी प्रकार क्रोध भी, क्रोध को रोकने का विज्ञान से रहित मनुष्य को नरक में गिराता है ॥११॥३४॥

अक्षरार्थ–रामनाम को लेकर भागने आदि बिना हहूहा (क्रोध) करते, या वारण करते रहने पर भी जीव सब संसार चिता में जा रहे हैं। इससे हर्ष शोकादि द्वन्द्व भी सब में समा रहे हैं। और द्वन्द्व से पीडित होने पर बडे २ लोक सब भी हँकर २ (रो २) कर गये। और हहूहा (क्रोध–वारण–रुद्र) का मर्म कोई नहीं पाया इत्यादि ॥३४॥

चौतीसी ३५

क्षक्षा क्षण में सब मिटि जाई । क्षेव परे कहु कहाँ समाई ॥
क्षेव परे काहु अन्त न पाया । कहहिं कबीर अगुमन गुहराया ॥३५

क्षः शब्दशासने क्षेत्रे क्षेत्रपाले च वक्षसि ।
सर्वं नश्यति यत् क्षेत्रं क्षणादेव सदा मुहुः ॥१२॥
कथ्यतां तत् त्वया साधो ! सुविचार्यं च दृश्यताम् ।
मृत्युना छिद्यमानं सत् कुत्राविशति सत्वरम् ॥१३॥
क्व याति क्षेत्रपालश्च च्छिन्ने ह्यस्मिन् कलेवरे ।
अद्यैव ज्ञायतां चैतन्मृत्योः पश्चान्न कश्चन ॥१४॥
अस्यान्तमविदन्नैव क्षेत्रज्ञं लब्धवानिति ।
प्राज्ञाः प्रोचुस्तदाहूय प्राक्तना गुरवो हि ये ॥१५॥
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयो र्यावद्विवेको नात्र जायते ।
न तावन्मुच्यते कश्चिदपि चेद्वेदविद् भवेत् ॥१६॥

शब्दशासन (शब्दशास्त्र–व्याकरण), क्षेत्र (शरीर–सिद्धभूमि-स्त्री आदि), क्षेत्रपाल, वक्षः (उरः) अर्थ में क्ष शब्द है । जो क्षेत्र (शरीर) सब क्षणमात्र में ही सदा नष्ट होता है ॥१२॥ हे साधो ! उसे अच्छी तरह विचार कर तुम समझो, और कहो कि, वह मृत्यु से छिद्यमान (नष्ट) होने पर, सत्वर (शीघ्र) कहां आविष्ट (लीन) होता है ॥१३॥ और इस कलेवर (देह) के छिन्न (नष्ट) होने पर क्षेत्रपाल (क्षेत्रज्ञ) कहाँ जाता है, और इस शरीरादि को अभी समझो, मृत्यु के बाद में इसके अन्त (स्वरूप -प्रान्त-अन्य निश्चय) को कोई नहीं समझा, और क्षेत्रज्ञ को भी नहीं पाया। इस कारण से अभी समझो। इस उपदेश वचन को प्राज्ञ (विद्वान्) सब पुकार कर कह गये हैं, जो कि पूर्वकाल के गुरु हुए हैं ॥१४–१५॥ जब तक यहाँ क्षेत्र क्षेत्रज्ञ का विवेक नहीं होता है, तबतक कोई मुक्त नहीं

कर्मबीजस्य वापार्थं क्षेत्रं यद्धि कलेवरम् ।
मृत्युना छिद्यमानं तत् प्रकृतावेव लीयते ॥१७॥
आत्मा क्षेत्रज्ञ इत्युक्तः कूटस्थो दोषवर्जितः ।
अविनाश्यप्रमेयश्च साक्ष्यसङ्गोऽपि चिद्वपुः ॥१८॥
तस्याभासाऽविवेकाभ्यां प्रकृतिः सर्वकारिणी ।
धारिणी हारिणी चैव ह्यध्यासात्सर्वमात्मनि ॥१९॥

यावन्नि जात्मानुभवो भवेन्नहि तावत्प्रकृत्या खलु जायतेऽखिलम् ।
सा क्षेत्ररूपा प्रतनोति संतर्ति क्षेत्रस्य देवोऽपि तयैव कारकः २०॥
भक्त्या विशुद्धो गतरागरोषो विविक्ततत्त्वे स्थिरमानसश्च ।
क्षेत्रं समूलं प्रविलूय धीरो जीवन् विमुक्तः पुनरेव मोक्ता ॥२१॥

होता। यदि वह वेदवेत्ता भी क्यों न हो ॥१६॥ कर्मरूप बीज को बोने के लिये क्षेत्र (भूमि) रूप जो देह है, वह मृत्यु से नष्ट होने पर अपनी प्रकृति (उपादान कारण) में ही लीन होता है ॥१७॥ कूटस्थ (निर्विकार), दोष रहित, अविनाशी, अप्रमेय (अविषय स्वरूप), असङ्ग, चिद्वपुः (चैतन्यस्वरूप) भी आत्मा क्षेत्रज्ञ इस प्रकार कहा गया है ॥१८॥ इस आत्मा के आभास (व्यापक प्रकाश) और अविवेक (अपार्थक्य) से प्रकृति (सत्वादि गुणवाली माया) सब कार्य को करनेवाली, तथा धारण पालन करनेवाली, और हरण (नाश) करनेवाली है। अध्यास (भ्रम) से कर्तृत्वादि सब आत्मा में है ॥१९॥ जब तक अपनी आत्मा का अनुभव नहीं होता, तब तक प्रकृति से जीव के जन्ममरणादि सब होते हैं। और क्षेत्ररूप ही वह प्रकृति देहरूप क्षेत्र की संतति (पङ्क्ति-परंपरा) को विस्तार करती है, और सर्वात्मा देव (ईश्वर) भी उसीके द्वारा करनेवाला है ॥२०॥ भक्ति से विशुद्ध, रागद्वेष रहित, विविक्त (असङ्ग विवेचित) तत्त्व (स्वरूप) में स्थिर मनवाला, धीर (ज्ञानी) मूल सहित क्षेत्र (देह) को ज्ञान से काटकर, जीवन्मुक्त होकर, फिर मोक्ता (विदेह

द्विधाऽत्र माया परिकथ्यते या भवत्यविद्याऽथ परा च विद्या।
विद्या ह्यविद्यां प्रविलूय तूर्णं वन्हिर्यथा नश्यति सा स्वयं च ॥२२॥
तूलेति मूलेति विभेदतोऽपि व्यष्ट्यादिभेदेन पुनर्द्विधा सा।
आद्या विनष्टा भवति प्रबोधात् तिष्ठेद् द्वितीया ननु बाधिताऽपि॥२३
आद्यानिवृत्तावपि सैव देहं यावद् विदेहं धरते बुधानाम्।
प्रारब्धकर्मानुमतौ स्थिता वै नान्ते पुनः कर्तुमसौ समर्था ॥२४॥
यावन्न बोधो हि परात्मनः स्यात्तावत् प्रसूते धरते च संघान्।
ज्ञानेन दग्धे तद्बोधसंघे नैव प्रसूते खलु सा कदाचित् ॥२५॥
प्राणान्न् मनो नैव जहाति तावद्यावन्न बोधं लभते विशुद्धम्।
धूर्त्वैव चैनान्ननु धावते तत् सर्वासु योनिष्वपि संकटेषु ॥२६॥

मुक्त होनेवाला) है। २१॥ यहां दो प्रकार की जो माया कही जाती है, उसमें एक अविद्या है। उसके बाद उससे भिन्न विद्या होती है, सो विद्या अविद्या को शीघ्र नष्ट करके अग्नि के समान वह स्वयं भी नष्ट होती है ॥२२॥ तूला (अवस्था-परिणाम) और मूला (कारण) रूप के भेद से, तथा व्यष्टि (एक देश-असाधारण). समष्टि (समूह-साधारण) आदि भेद से भी वह माया दो २ प्रकार की कही जाती है। उसमें पहले की तूला-व्यष्टि, श्रेष्ठ ज्ञान से विनष्ट होती है, और दूसरी मूला समष्टि ज्ञान से बाधित (मिथ्या निश्चित) होने पर भी स्थिर रहेगी और रहती है ॥२३॥ पहली तूला व्यष्टि की निवृत्ति होने पर भी वह दूसरी ही माया प्रारब्ध कर्म के अनुमति (अनुज्ञा) में स्थिर रहकर ज्ञानियों के देह को विदेह मोक्ष तक धारण करती है। और अन्त में वह भी फिर देह करने के लिये बहु समर्था नहीं होती है ॥२४॥ उत्तमात्मा का ज्ञान जब तक नहीं होता है, तब तक वह माया देहादि संघों को उत्पन्न करती है, धारण करती है, और ज्ञान से उस आत्मा के अज्ञान संघ के नष्ट होने पर, वह कभी भी संघ को नहीं उत्पन्न करती है ॥२५॥ जब तक विशुद्ध ज्ञान को मन नहीं पाता है, तब

लब्ध्वा च बोधं खलु तान् विहाय तूर्णं विलीनं निजबोधरूपे।
नैवाश्रयेत्तान् हि ततश्च ते स्वे स्वयं विशीर्णा विलयं व्रजन्ति ॥२७॥

इत्थं यतः स्वात्मनिबोधतः स्यान्नित्यो विमुक्तो निजसौख्यरूपः।
सर्वं परित्यज्य विवेकमार्गात्तस्माद् गुरुः सर्वमिदं जगाद ॥२८॥

चौतीस्याः खल्वियं चर्चा चर्या चारुविधायिनी।
चर्विता साधुभिश्चित्ते चैतन्यरसवर्द्धिनी ॥२९॥

चन्द्रकान्तसमा चेयं ज्ञानचन्द्रसमाश्रयात्।
ब्रह्मानन्दरसैर्नित्यं पुनात्वेव हि सज्जनान् ॥३०॥३५॥

इति चौतीसीचर्चायां कोपक्षेत्रक्षेत्रज्ञप्रदर्शनं नाम नवमं वाक्यम् ॥ ९ ॥

तक प्राणों को भी नहीं त्यागता है, किन्तु वह मन इन प्राणों को धर करके ही सब योनियों और संकटों (संबाधों–दुःखद संकीर्ण स्थानों) में भी धावता ही है ॥२६॥ और ज्ञान को पाकर के ही वह मन उन प्राणों को शीघ्र छोड़ कर, निज (नित्य) ज्ञान स्वरूप में लीन होकर, उन प्राणों का आश्रयण नहीं कर सकता, तिससे वे प्राण स्वयं विशीर्ण (नष्ट होकर) आत्मा में विलय पाते हैं ॥२७॥ जिससे इस प्रकार विवेक मार्ग से सब को त्याग कर, अपनी आत्मा के निश्चित बोध (ज्ञान) से नित्य (ध्रुव–शाश्वत) स्वरूप, विमुक्त, निज (नित्य) सुखस्वरूप होगा, और होता है, तिस हेतु से सद्गुरु ने यह सब वचन ज्ञान के लिये कहा है ॥२८॥ चर्या (ध्यानादि में स्थिति रूप, कर्तव्य रूप) चारु (साधु–सुन्दर) को सिद्ध करनेवाली, यह चौंतीसी की चर्चा (चिन्ता–विचारणा) साधुजनों से चर्विता सती (मुक्ता–अनुभूता होकर) चित्त में चैतन्यानन्द को बढ़ानेवाली हो ॥२९॥ और चन्द्रकान्त मणि तुल्य यह चर्चा ज्ञानरूप चन्द्रमा के सम्बन्ध से ब्रह्मानन्दरूप रस द्वारा सज्जनों को सदा पवित्र ही करे ॥३०॥३५॥

अक्षरार्थ–क्षक्ष्क्षा (क्षेत्र) रूप देह सब क्षण में मिट जाते हैं। तहाँ

कहो (समझो) कि क्षेव पडने (अन्त-मृत्यु होने) पर जीवात्मा कहाँ समाता है, और देह कहाँ लीन होता है। और इस बात को अभी समझो, क्योंकि क्षेव पडने पर तो, इसका अन्त (निश्चय-ज्ञान) कोई पाया नहीं, सो अगुअन (आगे के गुरु महात्मा) पुकार कर कह गये हैं। इत्यादि ॥३५॥

जिहि पदरज को सुमिरि नर, चौतिस अक्षर पार।
हनूमान पावै सहज, सो हरु सकल विकार॥

समाप्तेयं चौंतीसीचर्चा।

श्रीसद्गुरुचरणकमलेभ्यो नमः।

अथ नवमं बेलिप्रकरणम् ॥९॥

तत्रादौ मङ्गलं संबंधश्च।

मोहान्धकूपात्परिवारयन्तस्त्वं जागृहि प्रापत मा रटन्तः।
मा हिन्धि माऽमार्गगतो व्रज त्वं ये वै सदा तान् प्रणमामि शुद्धान्॥१॥

लब्धव्यो यो हि देवो निगमनिकुरम्बं विमृशता,
प्राप्तव्यं यच्च सौख्यं निगमविहितैः कर्मनिवहैः,
यत्सांख्यैर्यच्च योगैः स्थितिमितिहितं शेषविधिभिः,
तत्सर्वं यस्य भक्त्या हि सुलभतरं तं भज मनः! ॥२॥

मोह अन्ध (तम-तिमिर) रूप कूप से सर्वथा वारण (निवारण) करते हुए, और मोहान्ध कूप में तुम नहीं गिरो, जागो (मोह को त्यागो), किसी की हिंसा नहीं करो, अमार्ग (निषिद्ध मार्ग) में प्राप्त होकर तुम नहीं चलो, इस प्रकार जो सदा कहते हैं, उन शुद्ध सद्गुरुओं को मैं प्रणाम करता हूं ॥१॥ निगम (वेद) निकुरम्ब (समूह) को विचारनेवाला से जो देव पाने योग्य है, और वेदविहित कर्मसमूह से जो सुख पाने योग्य है, और सांख्य, योग, शेषविधि (कर्माङ्गानुष्ठान, भाग्य) से जो फल होता है, सो सब जिस सद्गुरु राम की भक्ति से अति सुलभ होता है, रे मन उसको भज ॥२॥

पूर्व प्रकरण में ओंकार वृक्ष का वर्णन हुआ है, तदाश्रित माया बेलि (बल्ली) का और उससे बचने के उपाय का वर्णन करते हैं कि—

बेलि १

हंसा सरवर शरिर में हो रमैया राम ।
*जगत चोर घर मूसल हो रमैया राम ॥
जो जागल सो भागल हो रमैया राम ।
सुतल से गेल बिगोय हो रमैया राम ॥

सरोवरे शरीरे स्वे रममाणोऽत्र कामतः ।
संसुप्तो मोहतश्चैव धावमानश्च लोभतः ॥ १ ॥
हंस ! [1]जागृहि तूर्णं त्वं मोहनिद्रां परित्यज ।
कामादिलक्षणाश्चौरा मुष्णन्ति मन्दिरं तव ॥ २ ॥
संसारभवनाच्चैते हरन्ति धनमुत्तमम् ।
सुखशान्त्यादिरूपं वै व्यवहारे हि जाग्रतः ॥ ३ ॥

इस अपने शरीर रूप सरोवर (श्रेष्ठ तालाब) में काम से रमण करता हुआ, और मोह से ही सोया हुआ, लोभ से धावता हुआ हे हंस! (विवेकी गमनशील जीव!) तुम शीघ्र मोहनिद्रा को त्यागो, जागो। (कामक्रोधादयश्चौरास्तप एव धनं तथा। स्कन्दपु० खं० १।२।६।१६) इसके अनुसार कामादि रूप चोर तेरे मन्दिर को मुसते हैं, मन्दिर (देह) के तप आदि को नष्ट करते हैं ॥१-२॥ संसारी जीव के देह रूप घर से ये कामादि सुख शान्ति आदि रूप उत्तम धन को हरते हैं (चुराते हैं)। आत्मस्वरूप में जागने विना व्यवहार में जागनेवाला के धन को भी हरते

*जागत । पा०

१ 'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत'। कठ० १।३।१४॥ 'नवद्वारे पुरे देही हंसो लेलायते बहिः'। श्वेता० ३।१८॥ हंसः-गन्ता, लेलायते(प्रकाशते-गच्छति वा)॥

आजु बसेड़ा नियरे हो रमैया राम ।
काल्हु बसेड़वा (बड़ि) दूरि हो रमैया राम ॥
परेहु विराणे देश (वा) हो रमैया राम ।
नयन भरेहु गे दूर हो रमैया राम ॥

अजाग्रन् ये विवेकेन ते गृहीत्वा स्वकं धनम् ।
पलायन्तैव चौरेभ्यः प्राप्ताश्च नित्यमुक्तताम् ॥ ४ ॥
अशेरत तु ये मोहादासक्ताश्च सरोवरे ।
स्वसर्वस्वं विनाश्यैते क गतास्तन्न विद्महे ॥ ५ ॥
मोक्षाऽऽख्याद्भवनाद्राज्यादद्यत्वे निकटे स्थितिः ।
वर्तते मानवे देहे पश्चाद् दूरे भविष्यति ॥ ६ ॥
कुत्सिता च स्थितिस्तत्र भविता तिर्यगादिषु ।
सुलभो नैव देवत्वे मोक्षो बोधो भवेदतः ॥ ७ ॥
अस्वतन्त्रोऽन्यदेशेषु यथा कश्चिद्वसेत्तथा ।
अवात्सीस्त्वं च भूयोऽपि वस्ता विज्ञानमन्तरा ॥ ८ ॥

हैं ॥३॥ जो विवेक से जाग गये, वे लोक अपने धन को ले करके ही चोरों से भग गये, और नित्यमुक्तता को प्राप्त हुए ॥४॥ और जो सरोवर (देहादि) में आसक्त होकर मोह से सोये, वे लोक अपने सर्वस्व को विनष्ट करके कहाँ गये, सो भी हम नहीं जानते हैं ॥५॥

वर्तमान समय (मनुष्यता) के रहते मोक्ष नामक घर राज्य से पास में स्थिति है, पीछे दूर में होगी ॥६॥ वह तिर्यगादि योनियों में कुत्सित (अधम) स्थिति होगी, और देवत्व होने पर भी इस मनुष्यता काल के ज्ञानादि की अपेक्षा ज्ञान वा मोक्ष सुलभ नहीं होगा ॥७॥ जैसे कोई अन्य के देश में अस्वतन्त्र बसे, तैसे तुम अन्य देहों में वस चुके हो, विज्ञान

त्रास मथन दधि (मथन) कीयो हो रमैया राम ।
भवन मथेउ भरपूर हो रमैया राम ॥
फिरि हंसा पाहुन भयल हो रमैया राम ।
बेधिन्ह पद निर्वाण हो रमैया राम ॥

तत्र च ज्ञानविज्ञाननेत्राभ्यां दूरतः स्थितः ।
त्वं मृतोऽसि तथा मर्ता शान्ति लब्धा न कुत्रचित् ॥ ९ ॥

स्वदेशादात्मनोऽन्यत्र स्थितोऽसि च यतः सदा ।
ततो नेत्रैर्विहीनः सन् मरिष्यसि विरुद्य च ॥१०॥

त्रासश्च दधिवत्त्वां वै न्यमथ्नाच्च मथिष्यति ।
भवनान्यपि ते सैव न्यमथ्नादधिकं सदा ॥११॥

शरीरे मथितेऽत्यन्तं हंसो गन्ताऽभवत्पुनः ।
भविताऽतिथिवत्तस्मान्निर्वाणमप्यनाशयत् ॥१२॥

विना फिर बहुत वैसे ही बसोगें ॥८॥ और वहाँ ज्ञान विज्ञान नेत्र से दूर में स्थिर हो कर तुम मरे हो, और तैसे ही मरनेवाला हो; कहीं भी शान्ति पानेवाला नहीं हो ॥९॥ और अपना देशरूप आत्मा से अन्यत्र ही जिससे सदा स्थिर हो, तिससे नेत्र विहीन होकर, विशेष रो कर मरोगे ॥ १० ॥

त्रास (भय) तुम को दधि के समान मथा है (प्रतिहत किया है) और मथेगा, और तेरे भवन (देहों) को भी वही सदा अधिक निमन्थन (आलोडन) किया है ॥११॥ और शरीर के अत्यन्त मथित (पीडित) होने पर ही हंस (जीव) अतिथि तुल्य गन्ता (देह से गमनकर्ता) हुआ और फिर गन्ता होगा। स्वस्थ दशा में देह से पृथक् नहीं हुवा, तिससे निर्वाण (मोक्ष) को भी नष्ट कर लिया ॥१२॥

तुम हंसा मन मानिक हो रमैया राम ।
हटलो न मानहु मोर हो रमैया राम ।।
जस रे किय तस पायहु हो रमैया राम ।
हमर दोष जनि देहू हो रमैया राम ।।
अगम काटि गम कियेहु हो रमैया राम ।
सहज कियेहु व्यापार हो रमैया राम ।।

मनसोऽस्यानुगन्ता त्वं विवेकविकलस्य च
अतो मे वारणं नैवाऽमन्यथा वै कुमार्गतः ।।१३।।
यथा कृतं त्वया कर्म फलं प्राप्तं च तादृशम् ।
पुनः कर्मानुसारेण प्राप्स्यते हि फलं सदा ।।१४।।
ईश्वरेभ्यो गुरुभ्यो वा दोषा देया नहि त्वया ।
तेषां दोषस्य चोक्तौ ते दोषो वृद्धिं गमिष्यति ।।१५।।
अगम्यवनवत् कष्टं छित्वैव यातनामयम् ।
संसारं कृतवान् गम्यं मनुष्यत्वे कथञ्चन ।।१६।।
अहो तत्रापि मोहेन व्यापारं कृतवान् भवान् ।
तुच्छं स्वभावजं नित्यं नैव जातु विवेकजम् ।।१७।।

और विवेक रहित इस मन के तुम अनुगन्ता (अनुगामी) हो, इससे कुमार्ग से मेरा (सद्गुरु का) वारण (प्रतिषेध) को नहीं माने हो ।।१३।। तुमने जैसा कर्म किया, तैसा ही फल मिला है । और फिर कर्मानुसार से ही सदा फल मिलेगा ।।१४।। इससे तुझे ईश्वर वा गुरु के प्रति दोष देने योग्य नहीं है । उनके दोष का कथन करने पर तेरा दोष वृद्धि को प्राप्त करेगा (बढेगा) ।।१५।।

अगम्य वन के समान कष्ट (दुष्प्रवेश) यातना (तीव्र वेदना नरक दुःख)मय संसार को मनुष्यता होने पर आपने किसी प्रकार गम्य (प्राप्य सुखमय) किया है ।।१६।। आश्चर्य है कि उस मनुष्यता में भी आपने मोह

रामनाम धन बणिज किय हो रमैया राम ।
लादेहु वस्तु अमोल हो रमैया राम ॥
पांच लद्नु (आँ) लादि चले हो रमैया राम ।
नव बहियाँ दश गोण हो रमैया राम ॥

रामनाम्नो धनस्याथ वाणिज्यं कृतवांस्तथा ।
आरोपितममूल्यं च स्वयमेव धनं हृदि ॥१८॥
अगोचरं हि यत्तत्त्वं सुखं चैवाऽव्ययं सदा ।
नाममात्रेण तत्प्राप्तिं मुक्तिं चेच्छति वै भवान् ॥१९॥
व्यापारे भवतश्चात्र सन्ति भारवहाः वृषाः ।
पञ्चतत्त्वानि ते कर्मभारमादाय यन्ति हि ॥२०॥
अन्तःकरणसङ्घाश्च प्राणाश्च सङ्गिनो नव ।
दशेन्द्रियाणि पात्राणि गोणाख्यानि भवन्ति च ॥२१॥
मोक्षतत्त्वं नचास्तीत्थं यत्स्यादिन्द्रियगोचरम् ।
मन्यते तु भवानेवं तथाऽप्यत्र विमोहतः ॥२२॥

से स्वभाव (अज्ञान निसर्ग) जन्य तुच्छ व्यापार को नहीं किया ॥१७॥ उसके बाद रामनाम रूप धन का वाणिज्य (व्यापार) भी किया, तथा सद्गुरु आदि बिना स्वयं अपने मन से ही अमूल्य धन मोक्ष सुखादि का हृदय में आरोप (कल्पना) किया ॥१८॥ जो अव्यय (विकार रहित) स्वरूप सुख सदा अगोचर (इन्द्रियों के अविषय) है, उसकी प्राप्ति मुक्ति को आप नाम मात्र से चाहते हो, इससे अहिंसादि धर्म और विचारादि नहीं करते हो ॥१९॥

आपके इस व्यापार में भार ढोनेवाले बैल रूप पांच तत्त्व हैं। सो कर्मरूप भार को लेकर ही चलते हैं ॥२०॥ इस व्यापार में अन्तःकरण का समूह और प्राण नौ साथी हैं, और दशेन्द्रिय गोण (बोरा) नामक पात्र होते हैं ॥२१॥ परंतु मोक्ष का तत्त्व (स्वरूप) इस प्रकार का नहीं है,

पांच लदनुआँ हारे हो रमैया राम ।
खाँखर डारिन फोरी हो रमैया राम ॥
शिर धुनि हंसा उड़ि चले हो रमैया राम ।
सरवर मीत जोहार हो रमैया राम ॥
आगि जो लागि सरवर (में) हो रमैया राम ।
सरवर जरि भेल धूरि हो रमैया राम ॥

तत्त्वानि हि यदा देहे जरारोगादिपीडनात् ।
शिथिलानि भवन्त्यङ्ग ! तदा ते सम्मतं सुखम् ॥
निःसारं नाशयन्त्येव शरीरं च कुपात्रवत् ॥ २३ ॥
निःसारं हि शरीरादि यदा तानि व्यनाशयन् ।
शिरो विधूय संताड्य हंसोऽप्युड्डीय चागमत् ॥ २४ ॥
तस्मिन् कालेऽपि मित्रं म नमस्कृत्य सरोऽगमत् ।
आसक्त्या वा पुनश्चान्यत्सरसोऽन्वेषणाय वै ॥ २५ ॥
त्यक्ते सरसि तस्मिंश्चालगद्वह्निस्ततस्तु तत् ।
दग्धं सद्भवद्धूलिर्जीवोऽन्यत्र समाविशत् ॥२६॥

कि जो इन्द्रिय का विषय हो, तो भी इस विषय में विमोह से आप तो ऐसा ही मानते हो ॥ २२ ॥

हे अङ्ग ! जरा रोगादि द्वारा पीडन (अवमर्दन) से जब देह में तत्त्व (भूत) शिथिल होते हैं, तब उस समय तेरे सम्मत (इष्ट) सुख को और निःसार शरीर को कुपात्र की नाईं नष्ट ही करते हैं ॥२३॥ जब वे भूत निःसार शरीरादि को नष्ट किये, तब हंस भी शिर धून पीट कर, उड कर गया ॥२४॥ उस समय भी वह हंस मित्र रूप सर (देह) को नमस्कार करके ही गया, अथवा देह में आसक्ति प्रेम से फिर अन्य सर को खोजने के लिये गया ॥२५॥

तिस देह रूप सर के त्यागने पर उस त्यक्त देह में अग्नि लगी, तिससे

कहहि कबिर सुनु सन्तो हो रमैया राम।
परखी लेहु खरा खोंट हो रमैया राम॥

विना ज्ञानं न मोक्षोऽभून्नाम्ना व्यापारतोऽथवा।
सद्गुरुरेवमाह्वातः साधो! त्वं श्रवणं कुरु॥२७॥
मननादि विधायैवं सत्यानृतविवेकतः।
जानीहि त्वनुभूत्याऽत्र सत्यमेवामृतं परम्॥२८॥
अज्ञानविषयाद्यस्माज्जन्मादिभयमापतेत्।
सम्यग् ज्ञानाच्च तस्यैव भयं सर्वं विलीयते॥२९॥
अग्निं मत्वा मणिं दूरात्तत्संस्पर्शाद्बिभेति यः।
स तं चिन्तामणिं बुद्ध्वा स्कन्धेऽर्पित्वा विराजते॥३०॥
एवमीशं पृथग् मत्वा यो बिभेत्यस्य शासनात्।
स तं सौख्याकरं बुद्ध्वा स्वात्मान तेन राजते॥३१॥

वह जल कर धूलि (रज) हो गई, और जीव अन्यत्र कहीं प्रवेश किया॥२६॥ ज्ञानादि विना नाम से वा किसी व्यापार कर्मादि से मोक्ष नहीं हुआ, इससे सद्गुरु इस प्रकार कहते हैं कि हे साधो! तुम आत्मश्रवण करो॥२७॥ और सत्य मिथ्या का विवेकपूर्वक इसी प्रकार (श्रवण के समान) मननादि करके, फिर अनुभव से सत्य (अबाध्य–अविनाशी) पर (उत्तम) अमृत (पीयूष–मोक्ष) को यहां ही जानो, प्राप्त करो॥२८॥ अज्ञान के विषय (अज्ञात) जिस सर्वात्मा ईश्वर से जन्मादि रूप भय की प्राप्ति होती है, तिसी के सम्यग् ज्ञान से सब भय नष्ट होता है॥२९॥ दूर से जो मनुष्य मणि को अग्नि समझ कर, उसके संस्पर्श (संबन्ध) से डरता है, वही मनुष्य उसे चिन्तामणि जान कर गले में अर्पण (हार) करके विराजता (शोभता) है॥३०॥ इसी प्रकार ईश्वर को पृथक् मानकर, इस ईश्वर के शासन (आज्ञा–शिक्षा) से जो डरता है, सो उसको सुख का आकर (खानि) अपनी आत्मा ही समझ कर,

विमलदृशा भवभावगणे विचरति मोहगणै र्विगतः ।
तिमिरमुदस्य विधूय मलं हरिमलमत्र मुदा लभते ॥३२॥

तिस रूप से राजता (प्रकाशता) है ॥३१॥ फिर मोह के गण से रहित पुरुष विमल दृष्टि से, अज्ञान रूप तिमिर (तम) को नष्ट करके, पाप रूप मल को नष्ट करके भव (संसार) के भाव (पदार्थ) संघ में विचरता है, और यहां ही हरि को अच्छी तरह आनन्द से पाता है ॥३२॥

अक्षरार्थ–मानव देह रूप श्रेष्ठ सर में वर्तमान, हे रमैया (अज्ञानादि से संसार में रमनेवाला) और वस्तुतः राम (चिदानन्द स्वरूप) हे हंस ! (गमनकर्ता विवेकी जीव !) जगत (संसारी) के घर (देह) में चोर (कामादि) मुस लिये (चोरी किये) हैं, सो जागने बिना किये हैं, इससे तुम जागो। जगत के स्थान में जागत भी पाठ है, परन्तु छन्द के अनुसार, जगत, ही उचित है। जो जग गया, सो भग गया (चोर संसार झंझट से रहित हुआ)। सोनेवाला अपना सर्वस्व (तप आदि) बिगोय (खोय) कर गया।

आजु (इस देह के रहते) बसेड़ा (वास-स्थिति) मोक्ष स्वर्ग भवन के नियरे (पास) में है। और काल्ह (जन्मान्तर) में दूर बसेडा होगा। और ज्ञानादि विना बिराने (अन्य के) देश (मायादि के वश) में पड़े हो, विज्ञानादि नेत्र से दूर रहकर मरोगे तो यही दशा रहेगी।

विज्ञानादि विना त्रास (भय) ने जीव को दधि की तरह मथ दिया है, और इसके (भवन) देह को भी भरपूर (अत्यन्त) मथा है। फिर मथने पर हंस (जीव) पाहुन हुवा (इसे त्याग कर चला), इससे निर्वाण पद का भी बेधन (नाश) किया।

हे हंसा ! तुम मनमानिक (मन के कहने में) हो, इससे मेरा (गुरु का) हटल (निवारण) को तुमने नहीं माना। जसा कियो, वैसा पाये हो, पावोगे, इससे हमर (ईश्व-गुरु) का दोष जनि (नहीं) दो (नहीं कहो)।

अगम (गहन) वन तुल्य संसार (तिर्यगादि योनि) को काट (भोग) कर, तुम गम (सुगम) किया है, परन्तु फिर सहज (स्वाभाविक) भोजनादि रूप ही व्यापार किये हो। रामनाम (ईश्वर नाम) रूप धन बणिज (व्यापार) तुमने किया है, तथा अमूल्य वस्तु (मोक्ष) को भी तुमने लादा है, अर्थात् केवल नाम से मोक्ष को प्राप्त ही समझा है, या प्राप्ति माना है।

उस अमूल्य वस्तु को पांच लदनु (लदना बैल तुल्य पांच तत्त्वमयं देह) पर लाद कर तुम चले हो (शारीरिक सुख आरोग्यादि को ही मोक्ष समझे हो)। और चार अन्तःकरण पांच प्राण इन नवों को बहियाँ (संगी–सहायक) बनाये हो। दश इन्द्रियों को (बोरा) बनाये हो। और मोक्ष इनके सम्बन्धी वा विषय है नहीं।

पांच लदनुआँ (भूत) जब हारे (थके) तब खांखर (असार सुखादि–देह पात्र) को फोर (नष्ट कर) डारे (दिये)। फिर जीव शिर धून कर सरवर मित्र को जोहार (नमस्कार) करके चला, या जो सरवर रूप मित्र था उसे हार (गमा कर) चला, वा अन्य देह का जोहार (खोज) में चला।

फिर त्यागा हुआ देह में अग्नि लगी, वह जल कर धूलि (रेणु) हो गया। ज्ञानादि विना उससे सत्य फल नहीं मिला, मित्रता के कारण फिर जन्मादि संसार ही हुआ। इससे साहब का कहना है कि, श्रवणादि करो, और खरा खोट, सत्य मिथ्या को परख लो, विज्ञात कर लो कि जिससे यह देह सफल हो ॥ १ ॥

बेली २

उक्त पारख के विना होनेवाली विपरीत प्रवृत्ति का वर्णन करते हुए उपदेश देते हैं कि—

भल सुमिरण जहडायहु हो रमैया राम।
धोख कियहु विश्वास हो रमैया राम॥
ई तो है वन सीकत हो रमैया राम।
सीरा कियो विश्वास हो रमैया राम॥

संसारे स्वशरीरे वा रममाणेन कामतः।
सद्विचारस्त्वया त्यक्तोऽभिभूतश्च विवेकवान्॥३३॥

सुस्मृतेर्विषयश्चात्मा सत्यो न चिन्तितस्त्वया।
किन्तु मिथ्याकुमार्गादौ विश्वासो वञ्चके कृतः॥३४॥

संसारवनमध्ये ये विषया बालुका इमे।
विरसा घातुकाश्चैव प्राणिनां बन्धनप्रदाः॥३५॥

बडिशादिसमास्तीक्ष्णास्तत्र भोग्यत्वबुद्धितः।
महत्त्वं सरसत्वं च मोहतः कल्पितं त्वया॥३६॥

संसार वा अपने देह में काम (इच्छा) से रमण करता हुवा तुमने सत्य विचार को त्यागा है, और विवेकी तुमसे अभिभूत (धिक्कृत) अनादृत हुवा है ॥३३॥ और सुन्दर स्मृति (शास्त्र) का विषय (प्रतिपाद्य) सत्य आत्मा तुमसे नहीं विचारा गया है, किन्तु तुमने मिथ्या कुमार्गादि में और वञ्चक में विश्वास किया है ॥३४॥ संसाररूप वन में जो ये विषय रूप बालू नीरस (सुखशून्य) घातुक (हिंस्र क्रूर) हैं, और प्राणियों को बन्धन देनेवाले हैं ॥३५॥ बडिशादि (बलिश-मत्स्यवेधनादि) के तुल्य तीक्ष्ण हैं, उनसें भोग्यत्व की बुद्धि (ज्ञान) से तुमने महत्त्व और सरसत्व को भी मोह से सिद्ध किया (माना) है ॥३६॥

ई (तो) है वेद भागवत हो रमैया राम ।
गुरु मोही दीहल थापि हो रमैया राम ॥
गोबर कोट उठायहु हो रमैया राम ।
परिहरि फेंकहु खेते हो रमैया राम ॥

कस्मिंश्चिदर्थवादादौ कुस्मृतौ कल्पितं त्वया ।
अयं वै भगवान् वेदो ह्यास्ते भागवतं त्विदम् ॥ ३७ ॥
गुरुभि र्मे विमोक्षाय स्थापितः सेतुरद्भुतः ।
अनेनैव भवाम्भोधेः दरं यास्यामि निर्वृतः ॥ ३८ ॥
तत्रेत्थं निश्चयं कृत्वा प्राकारो गोमयस्य च ।
कृतो वै भूतसंघस्य देहलोकमयश्च सः ॥ ३९ ॥
अनेन न कदाप्यङ्ग ! कामाद्यरिपराजयः ।
भवितेति सुनिश्चित्य क्षेत्रेषु क्षिप्यतां हितम् ॥ ४० ॥
आत्मतां सत्यतां त्यक्त्वा तत्रासत्यधियं कुरु ।
क्षेत्रज्ञं च ततो भिन्नं विद्धि देवं निरञ्जनम् ॥ ४१ ॥

किसी अर्थवाद (स्तुति निन्दादि) आदि रूप वाक्य में वा दुष्ट स्मृति में तुमने कल्पित (सिद्ध) किया, कि यही भगवान् वेद हैं, और यही भागवत (भगवान को देखने वाला) है ॥३७॥ और गुरुओं ने मेरी विमुक्ति के लिये यह अद्भुत सेतु (पूल) स्थापित किया है, इसीसे निर्वृत (सुखित-रक्षित) होकर संसार समुद्र के पार जाऊंगा ॥३८॥ उसमें इस प्रकार का निश्चय कर के गोमय (गोविट्) रूप भूत समूह का देह लोकमय चल (लोभ) प्राकार (वरण) तुमने किया है (इसको अपना रक्षक समझा है) ॥३९॥ परन्तु हे अङ्ग ! इस प्रकार द्वारा कभी भी कामादि शत्रु का पराजय होनेवाला नहीं है। ऐसा निश्चय करके उसको क्षेत्रों में फेंक दो (उसे अनात्मा, असत्य समझो) ॥४०॥ उसमें

बुधि बल जहाँ न पहुंचे हो रमैया राम ।
तहवाँ खोज कस होय हो रमैया राम ॥
सो सुनि मन धीरज भयल हो रमैया राम ।
मन बढ़ि रहल लजाये हो रमैया राम ॥

यत्र बुद्धे र्बलं नैव याति देवे निरञ्जने ।
तस्याप्यन्वेषणं केन प्रकारेण भवेत् प्रभो ! ॥ ४२ ॥
इत्येवं सद्गुरुं पृच्छ श्रद्धाभक्त्यादिसंयुतः ।
तस्योपदेशतस्ते स्याच्छान्तिर्धैर्यं निरंतरम् ॥ ४३ ॥
तस्यैव चोपदेशेन हृदयेष्वभवत् स्थिरम् ।
धैर्यं पूर्वं मुमुक्षूणां गर्वी च लज्जितोऽभवत् ॥ ४४ ॥
लज्जितेव मनोवृद्धिः संकोचं चागमत्ततः ।
सुबुद्धेः सुप्रकाशेन जीवन्मुक्तिरवर्तत ॥ ४५ ॥

आत्मता सत्यता को त्याग कर, असत्य बुद्धि करो, और रक्षक क्षेत्रज्ञ निरञ्जन देव को उससे भिन्न जानो ॥४१॥

और हे प्रभो ! जिस निरञ्जन देव में बुद्धि का बल भी नहीं प्राप्त होता है (जो बुद्धिबल से नहीं समझा जाता है) उसका अन्वेषण (खोज) किस प्रकार से होगा ॥४२॥ इस प्रकार श्रद्धा भक्ति सहित सद्गुरु को पूछो, तब तिस सद्गुरु के उपदेश से आत्मज्ञान होने पर तुझे निरन्तर शान्ति होगी, धैर्य होगा ॥४३॥ पूर्व (प्रथम) भी तिस सद्गुरु के उपदेश से ही मुमुक्षुओं के हृदयों में स्थिर धैर्य हुआ है। और गर्वी (अहंकारी) लज्जित हुआ है ॥४४॥ और तिस गुरु के उपदेश से ही मन की वृद्धि लज्जित के समान संकोच को प्राप्त हुई है, और सुन्दर बुद्धि के सुन्दर प्रकाश से जीवन्मुक्ति सिद्ध हुई है ॥४५॥

फिर पाछे जनि हेरहु हो रमैया राम ।
कालभूत सब आहीं हो रमैया राम ॥
कहहिं कबिर सुनु सन्तो हो रमैया राम ।
मति ढीगहु फैलाये हो रमैया राम ॥ २ ॥

उपदेशं गुरोः प्राप्य पश्चाद्भूयो न पश्यतु ।
किन्तु भूमिषु चोर्ध्वासु सावधान धावताम् ॥४६॥
आत्मनो ये ह्यधो लोकाः पश्चाच्च वर्तते जगत् ।
कालभूतं हि तत्सर्वं दुःखद्वन्द्वादिकारणम् ॥४७॥
अतः साधो ! कुरुष्व त्वं श्रवणं च मतिं स्वकाम् ।
निकटे स्वात्मतत्त्वेऽत्र विस्तारय न कुत्रचित् ॥४८॥
आविद्यो बन्धकक्षो विरमति सुगुरो र्वाक्यजाद् बोधवन्हे-
र्वैराग्याद्यैः सुदीप्ताच्छमदमनिरतैर्योगभक्त्यादिलब्धात् ।
नैवाप्य कर्मजातैर्विरमति सदनुष्ठानहेत्वादिसिद्धै-
रेवं निश्चित्य धीमान् गुरुवरचरणं सेवमानो यतेत ॥४९॥

गुरु का उपदेश को श्रवण द्वारा प्राप्त करके, फिर आप पीछे बहुत वस्तु को नहीं देखो, किन्तु ऊपर के भूमिकाओं में सावधान मन से चलो ॥४६॥ आत्मा से नीचे जो लोक हैं, और उससे पीछे वर्तमान जो जगत है, दुःखद्वन्द्वादि के कारण रूप वह सब कालभूत (यमराज तुल्य) ही है ॥४७॥ इससे हे साधो ! तुम आत्मा का श्रवण करो, और अपनी मति (बुद्धि) को यहाँ निकट (पास) में आत्मस्वरूप ही में विस्तार करो, और कहीं नहीं ॥४८॥ अविद्याजन्य बन्ध (संसार) रूप कक्ष (वनशुष्क तृण), सुगुरु के वाक्य से जन्य, वैराग्यादि से सुदीप्त, शमदमादि में निरत (सम्यक् प्रवृत्त) अधिकारियों से योगभक्ति आदि द्वारा लब्ध (प्राप्त) ज्ञानरूप अग्नि से ही विरमता (निवृत्त होता) है । और सत् (श्रेष्ठ) अनुष्ठान हेतु आदि से सिद्ध भी कर्मसमूह से नहीं निवृत्त होता है।

(वेल्या) वल्ल्या विलासममलं मधुरं निरीक्ष्य,
निगृह्य मानसमलं ममतां विहाय ।
आहृत्य लोककलाच्चलनाच्च चित्तं
लोका विशन्तु निकटे परमात्मधाम्नि ॥५०॥
दीव्यन्तं बालवज्जीवं दिव्यभोगादिवाञ्छया ।
अजस्रं वारकं वन्दे कबीरं करुणामयम् ॥५१॥२॥

इतिश्री सद्गुरुकबीरसाहेबकृते विविधबन्धबीजविध्वंसने बीजकग्रन्थे मायानिवृत्तिसम्पादकं नाम नवमं वेलिप्रकरणं समाप्तम् ॥ ९ ॥

बुद्धिमान पुरुष इस प्रकार निश्चय करके और गुरुवर के चरण को सेवता हुआ ज्ञानादि के लिये यतन करे ॥४९॥ वेलि का अमल मधुर विलास (लीला) को देखकर, मन का अच्छी तरह निग्रह करके, ममता को छोड़कर, लोक के कलन (चिन्तनादि) और चलन (कम्पन-भ्रमण) से चित्त को हटाकर, लोक सब पास में परमात्मस्वरूप धाम में वा परमात्मा के धाम (तेज वा मन्दिर-गृह) में प्रवेश करें ॥५०॥ दिव्य (स्वर्गादि) भोग की इच्छा से बालक के समान व्यवहार स्तुति आदि करता हुआ जीव को उससे सदा वारण करते हुए, निष्कामता आत्मतत्त्व का उपदेश देते हुए करुणामय कबीर गुरु की मैं वन्दना करता हूं ॥५१॥

अक्षरार्थ-तुमने पारख विना भल सुमिरण को (श्रेष्ठ विचारवाला को, श्रेष्ठ विचार को) जहडाया (तंग किया वा त्यागा) है, और धोखे (मिथ्या) में विश्वास किया है । और ई (यह) जो संसार वन के सीकत (नीरस बालू) तुल्य विषयादि हैं उनमें तुमने सीरा (श्रेष्ठ सरस महाभोग्य) पन का विश्वास किये हो ।

और धोखा असार में विश्वास करके समझे हो कि यही वेद भागवत है । और गुरु ने मेरे लिये इसको थाप (स्थिर कर) गये हैं । साहब का कहना है कि, तुम गोबर तुल्य भूतों के लोक देह रूप कोट (किला)

अपनी रक्षा आदि के लिये कामादि शत्रु का पराजय के लिये अज्ञान को उढाय (रचे–माने) हो । और इससे रक्षा आदि हो नहीं सकता, इससे उसे परिहरि (त्याग कर) उसमें सत्यात्मादि बुद्धि को त्याग कर, प्रकृति तन्मात्रादि रूप खेत (क्षेत्र) में उसे फेंक दो ।

जहाँ .बुद्धि का बल नहीं पहुंचता, तहवाँ (निर्गुण में) भी किस प्रकार खोज (विचारादि) होता है । इस बात को सद्गुरु से पूछ कर समझो । क्योंकि सो सुनि (इसी के श्रवणादि द्वारा स्वयंप्रकाश आत्मा के परिचय से) प्रथम के जिज्ञासुओं के मन में धीरज (धैर्य-शान्ति) भयल (हुवा) है । और मन बढि (अभिमानी–मनबढु) लजाय रहे हैं, मन की वृद्धि लज्जित (निवृत्त) हुई है और इस उपदेशादि से ही निवृत्त होती है ।.

इससे सद्गुरु के उपदेश को सुनकर, फिरि (लौट कर वा पुनः) पाछे संसार के तरफ जनि हेरो (नहीं देखो), संसार की सब वस्तु कालभूत (यम मृत्यु तुल्य) हैं । साहब का कहना है कि, हे सन्तो ! श्रवणादि करो, और अपनी मति (बुद्धि) को ढ़िग (पास) में ही फैलाये रहो । या फैलाये (विस्तृत संसार) में मन इन्द्रियादि को मति ढिगहु (नहीं छोड़ो) किन्तु आत्मनिष्ठ करो, इत्यादि ॥२॥

माया बेली केलि से, मोह द्रोह से पार ।
जो सद्गुरु तिहि चरणरज, हनूमान शिरधार ॥१॥

इति बेलिविलासाख्याव्याख्या समाप्ता ॥

श्रीसद्गुरुचरणकमलेभ्यो नमः ।

अथ दशमं बिरहुली प्रकरणम् ।

तत्रादौ मङ्गलं, सम्बन्धश्च ।

तत्त्वज्ञानं विना ये स्वजनिमृतिमुखं मन्यमानाश्च दीनाः,
सत्यानन्दाद्वितीयस्वपतिविरहजे दुःखसिन्धौ निमग्नाः ।
मोहाख्यैश्चातितीव्रैर्विषयविषधरैस्तद्विषैर्व्याप्तचित्ता-
स्तेषां दैन्यादिहत्यै गुरुवरवचनं मन्त्ररूपं प्रवृत्तम् ॥ १ ॥
विरहिप्रं प्रतिबोधनदक्ष ! हे विरहसर्पनिवारणरक्षक ! ।
विषयसर्पसुदष्टसुदुःखितं गरुडमन्त्रबलेन सुशिक्षय ॥ २ ॥
कुरु दयां करुणार्णव ! मां प्रति प्रतिपलं विषमं विषमश्नुते ।
नहि विरागसुयोगशमादयो हृदि लगन्ति वसन्ति न धर्मकाः ॥३॥
तनुधनादि जनादि न मे प्रभो ! भयनिवारणकारणमस्ति चेत् ।
न वनिता न सुतो न सहोदरस्तव कृपालवमात्रमथोऽस्ति तत् ॥४॥

तत्त्वज्ञान के विना जो अपने जन्ममरणादि को मानते हुए अतिदीन (भीत) हैं, और सत्य आनन्द अद्वितीय जो अपना पति (सर्वात्मा ईश्वर) उसका विरह (अभाव–अप्राप्ति) जन्य दुःख समुद्र में निमग्न (डूबे) हैं, और विषय रूप विषधर (सर्प) तथा अति तीव्र मोह नामक उस विषधर के विषों से जो व्याप्त चित्तवाले हैं, उनकी दीनता (भय) आदि की निवृत्ति के लिये मन्त्र रूप गुरुवर का वचन प्रवृत्त हुआ है ॥ १ ॥ हे प्रतिबोधन (उपदेशन) में दक्ष ! विरह (अभाव) रूप सर्प का निवारण से रक्षक !, विषय रूप सर्प से अत्यन्त दष्ट (दशन से वेधित) अत्यन्त दुःखी, विरही (आत्माराम के वियोगी) को गरुड मन्त्र के बल से सचेत करो ॥ २ ॥ हे करुणार्णव ! मेरे प्रति दया करो, विषम (कठिन) विष प्रतिपल में व्याप्त हो रहा है, विराग सुयोग शमादि, हृदय में नहीं संवन्ध करते वसते हैं, न धर्म बसते हैं ॥ ३ ॥ हे प्रभो ! यदि तनुधनादि जनादि, मेरे भय के निवारण का

इति निशम्य सुदीनवचः प्रभुर्भयनिवारणतारणहेतवे ।
गुरुवरो वरगारुडिवत्स्वयं विरहुलीं वरमन्त्रमुवाच ह ॥ ५ ॥

आत्मैव सर्वजनकः स च मूलहीनो,
निःसाक्षिकस्य जननस्य हि मानबाधात् ।
किञ्चास्य मूलकलने कलहो न नश्येद्,
आत्माश्रयादिसकलः कलिराश्रयेत्तत् ॥ ६ ॥
निःसङ्गसाक्षिततरूपतयाऽद्वितीयः,
स्वात्मा श्रुतौ स्मृतिचये विमलस्त्वनङ्गः ।
ज्ञातः स एव गुरुणा विमलानुभूत्या,
लभ्यस्ततो गुरुवरैरुपदिश्यतेऽसौ ॥ ७ ॥

कारण नहीं है, न स्त्री न पुत्र वा भाई भय के निवारण का कारण हैं, तो भी आपकी कृपा का लेशमात्र भी अथ (सब) भय के निवारण का उस कारण रूप है ॥ ४ ॥ इस प्रकार के सुदीन (अतिदीन) का वचन को सुनकर, प्रभु (समर्थ) गुरुवर ने भय का निवारण द्वारा दुःख संसार से तारण रूप प्रयोजन (फल) के लिये, श्रेष्ठ गारुडि के समान स्वयं विरहुली रूप श्रेष्ठ मन्त्र बोले कि, आत्मा ही सबका कारण है, और वह मूल (कारण) से हीन (रहित) है। क्योंकि अन्य के कारण उत्पत्ति में आत्मा साक्षी है। और आत्मा की उत्पत्ति में कोई साक्षी नहीं है, और साक्षी रहित जनन (जन्म उत्पत्ति) का प्रमाण से बाध, अभाव सिद्ध होता है, इससे भी आत्मा मूल रहित है। और इस आत्मा के मूल का कलन (स्वीकार) करने पर कलह (विवाद) नहीं निवृत्त होगा, और उस कलन को आत्माऽऽश्रयादि रूप सब कलि (कलह) भी आश्रयण करेगा (प्राप्त होगा), इससे मूल रहित ही आत्मा है ॥ ५–६ ॥ असङ्गसाक्षिव्यापकरूप होने से अद्वितीय अनङ्ग (निरवयव) अपनी आत्मा, वेद और स्मृति समूह में ज्ञात (प्रसिद्ध) है, वही गुरु और विमल अनुभव से प्राप्त करने योग्य है, तिससे गुरुवरों से

मायामयो हि सकलः खलु विश्वभेद-
स्तेनाऽस्य सङ्ककलना नहि विद्यतेऽलम् ।
एतत्सुबोधजननाय गुरोः प्रवृत्ति-
स्तेनेह मुक्तिरपि साधुजनस्य सिद्धा ॥ ८ ॥

जिस निकटवर्ती आत्मा में मन बुद्धि को लगाना चाहिये, उसका इस बिरहुली प्रकरण में संक्षेप से वर्णन किया गया है। और अज्ञान वश उसके वियोगी को बिरहुली शब्द से कहा गया है। यह बिरहुली जीव परतत्त्व को अनात्मस्वरूप मान कर, और अपनी आत्मा के उत्पत्ति नाशादि समझ कर, सदा दुःखी रहता है, तथा कामादि विषयादि रूप सर्प के वश में होने से, मोह ममता वासनादि रूप विष से अचेत रहता है, इससे सद्गुरु रूप गारुडि ने उस विष की निवृत्ति आदि के लिये मन्त्र रचा और पढ़ा पढ़ाया है कि—

बिरहुली १

आदि अन्त नहिं होते बिरहुली। नहिं जर पल्लव पेंड़ बिरहुली ॥
निशिवासर नहिं होते बिरहुली। पवन पानि नहिं मूल बिरहुली ॥

अये विरहिणो! नैव युष्माकमादिरस्ति नो।
अन्तो वा विद्यते मध्यो ह्यात्माऽखण्डोस्ति सर्वदा ॥१॥

उसी का उपदेश दिया जाता है ॥ ७ ॥ यह सब संसार का भेद मायामय है, उसके साथ इस आत्मा का संग की कलना (सिद्धि) अलम् (सत्य) नहीं है, इस अर्थ को समझाने के लिये गुरु की प्रवृत्ति है, और उस समझ से ही यहाँ साधुजन की मुक्ति भी सिद्ध है ॥ ८ ॥

हे विरही! (आत्मप्राप्ति के अभाववाले) तुम्हारा आदि, अन्त वा मध्य नहीं है। आत्मा सदा ही अखण्ड है ॥ १ ॥ तुम्हारी आत्मा सर्वत्र

ब्रह्मादिक सनकादिक बिरहुली । कथि गये योग अपार बिरहुली ॥
मास असाढे शीतल बिरहुली । बोईन सातों बीज बिरहुली ॥

सर्वत्रात्माऽस्ति युष्माकं तस्य मूलं न विद्यते ।
पल्लवा नैव सन्त्येव मध्यस्कन्धः कुतो भवेत् ॥ २ ॥

नक्तन्दिवप्रभेदो नो स्वप्रकाशेऽत्र विद्यते ।
असङ्गत्वान्न पवनः पानीयं मूलमस्य वा ॥ ३ ॥

अस्यैवात्रोपलब्ध्यर्थं ब्रह्माद्याः सनकादयः ।
कर्मज्ञानादियोगांश्च प्रोचुस्ते बहुधा बुधाः ॥ ४ ॥

आदौ कृतयुगे शुद्धे शुचितुल्ये सुशीतले ।
साप्तभूमिकबोधस्य बीजान्यूपुर्हि ते सदा ॥ ५ ॥

साप्तधातुकदेहस्य सप्तस्वरमयस्य च ।
शब्दस्याप्युप्तवन्तस्ते बीजानि विविधानि च ॥ ६ ॥

है, उसके मूल (आद्य) नहीं है, न पल्लव (नवपत्र वा विस्तार) है। मध्य का स्कन्ध (प्रकाण्ड) तो किससे होगा ॥ २ ॥ इस स्वयंप्रकाश में रातदिन का प्रभेद भी नहीं है । असङ्ग होने से इसमें पवन पानी नहीं है, वा इस पवनादि का मूल भी उसमें नहीं है ॥ ३ ॥

इस आत्मा ही की यहाँ उपलब्धि (ज्ञान) के लिये ब्रह्मा आदि और सनकादि वे बुध (पण्डित) सब बहुत प्रकार के कर्म ज्ञानादिरूप योग कहे हैं ॥ ४ ॥ शुचि (आषाढ) तुल्य, अति शीतल (शान्तियुक्त), शुद्ध, सृष्टि के आदि के कृतयुग (सत्ययुग) में, वे ब्रह्मादि सनकादि, सात भूमिका (अवस्था) वाला ज्ञान के बीजों को उसी समय बोये ॥ ५ ॥ और सात धातुवाला देह, तथा सात स्वरमय शब्द के विविध प्रकार के बीज भी वे लोक बोये ॥ ६ ॥

निति कोड़हिं निति सींचहिं विरहुली । निति नव पल्लव पेंड वि० ॥
छिछिल विरहुली छिछिल विरहुली । छिछिल रहल तिहुं लोक वि० ॥
फुलवा एक भल फुलल बिरहुली । फूलि रहल संसार विरहुली ॥
सो (फुल) वन्दहिं भक्तजना विरहुली । वन्दि के राउर बाँह विरहुली ॥

तेषां क्षेत्राणि चाद्यापि जना अन्येऽपि यत्नतः ।
नित्यं कर्षन्ति सिञ्चन्ति यथायोग्यं पृथक् पृथक् ॥ ७ ॥
तेन संजातवृक्षेषु स्कन्धाश्च नवपल्लवाः ।
नित्यमेव हि जायन्ते विस्तारं यान्ति सर्वतः ॥ ८ ॥
शब्दज्ञानात्मका वृक्षा देहाद्यात्मान एव च ।
विस्तृतास्त्रिषु लोकेषु तच्छाखाद्यास्तथैव च ॥ ९ ॥
संसारे वृक्षरूपे च योषास्वर्णादिलक्षणम् ।
पुष्पमेकमफुल्लद् यद् विश्वे सर्वत्र वर्तते ॥१०॥
आपातरमणीयं तद् दोषयुक्तं सदैव च ।
तस्यैव त्वत्र लब्ध्यर्थं भक्तो देवान् हि वन्दते ॥११॥

उन वीजों (उपदेशादिकों) के क्षेत्रों (अन्तःकरणादिकों) को आज भी अन्य जन भी यथायोग्य जुदा २ यत्न से सदा कर्षते (खोदते –जोतते) हैं (साधनों से ज्ञानादि योग्य करते हैं) और सींचते (रक्षित रखते) हैं ॥ ७ ॥ तिससे उत्पन्न ज्ञानादि रूप वृक्षों में स्कन्ध और नवीन पल्लव (विटप–शृङ्गार) नित्य ही होते हैं, और ज्ञानादि वृक्ष सर्वत्र विस्तार को प्राप्त करते हैं ॥ ८ ॥ शब्द ज्ञानादिरूप वृक्ष और देह स्वरूप वृक्ष भी तीनों लोक में विस्तृत हैं, और उनके शाखा आदि भी वैसे ही विस्तृत हैं ॥ ९ ॥

और वृक्षरूप संसार में जो स्त्री सुवर्णादिरूप एक फूल विकसित हुवा है, सो सब विश्व (भुवन) में वर्तमान है ॥१०॥ और वह देखने मात्र के सुन्दर सदा ही दोषयुक्त है, और उसीकी यहां प्राप्ति के लिये भक्त

सो (फुल) लोढ़हिं सन्तजना बिरहुली। डंसि गेल बैतल सांप बिरहुली॥
बिषहर मन्त्र न मानै बिरहुली। गारुड बोलै अपार बिरहुली॥

स्तुवन्ति चेश्वरं केचित् कुर्वते बहु कर्म च।
देवादीनां बलं स्तुत्वा तत्पुष्पं चिन्वते सदा ॥१२॥

आश्चर्यं यद्धि सन्तोऽपि विरक्तैर्वेषधारिणः।
पुष्पं चयन्ति तत्तुच्छं स्वर्गं वाञ्छन्ति तद्यतः ॥१३॥

ततश्च तीव्रकामादिरूपो मत्तो भुजङ्गमः।
तान् सर्वानदशद्वेगान्मोहाद्यं विषमाविशत् ॥१४॥

विषाणां हारकान् मन्त्रान् मन्यन्ते यदि ते नहि।
गुरवो गारुडान् मन्त्रान् वदन्त्येभ्यस्ततः किमु ॥१५॥

अपारस्यात्मनो बोधो यद्येषां नैव जायते।
कुविचारादिदोषेण तत्कथाया भवेत् किमु ॥१६॥

देवों की वन्दना करता है ॥११॥ और कोई ईश्वर की स्तुति करते हैं, और कोई बहुत कर्म करते हैं, तथा देवादि के बल की स्तुति करके उस पुष्प का सदा चयन (संग्रह) करते हैं ॥१२॥

आश्चर्य है कि, जो विरक्ति के वेष का धारण करनेवाले सत् पुरुष भी, उस तुच्छ पुष्प का चयन करते हैं, जिससे उसे स्वर्ग वैकुण्ठादि में चाहते हैं ॥१३॥ और तिसीसे तीव्र कामादि रूप मतवाला सर्प उन सब को भी वेग (जव) से काट लिया है, और मोहादि रूप विष उन में पैठ गया है ॥१४॥ इससे यदि वे विषों को हरनेवाले मन्त्रों को नहीं मानते हैं, तो गुरु सब इनके लिये गारुड मन्त्र बोलते हैं, तो तिससे क्या फल है वा होगा ॥१५॥ यदि कुविचारादि दोष से इनको अपार (विभु) आत्मा का ज्ञान नहीं होता है, तो उस आत्मा की कथा से भी क्या फल है ॥१६॥

विष कि क्यारि तुम बोयहु बिर० । लोढ़त का पछताहु बिर० ॥
जन्म जन्म यम अन्तर बिर० । फल एक कनयल डार बिर० ॥
कहहिं कबिर सचु पाव बिर० । जो फल चाखहु मोर बिर० ॥

कुविचारफलस्यात्र भोगकाले सदा जनाः ।
पश्चात्तापेन पीड्यन्ते कथ्यते तान् प्रति त्विदम् ॥१७॥
विषयान् विषकेदारेषूप्तवन्तो भवे यदि ।
शोकः किं क्रियतेऽद्यत्वे फलकाले ह्युपस्थिते ॥१८॥
प्रारब्धं भुज्यतां हर्षादुद्वेगो न विधीयताम् ।
भाविदुःखनिवृत्त्यर्थमुपायश्च सुचिन्त्यताम् ॥१९॥
बोधवृक्षस्य शाखास्थं स्वादिष्टं परमामृतम् ।
फलं चेत्स्वाद्यतेऽस्माकं जीवन्मुक्तिकरं शुभम् ॥२०॥
महद्भिरीक्षितं शुद्धं पावनं तत् सनातनम् ।
लप्स्यतेऽत्र तदा सौख्यमचलं गुरुराह तत् ॥२१॥

इतिश्री सद्गुरुकबीरसाहबकृते निखिलकलिमलविध्वंसने बीजकग्रन्थे निखिलविषविध्वसनं नाम दशमं बिरहुलीप्रकरणं समाप्तम् ॥१०॥

यहाँ कुविचार का फल के भोगकाल में मनुष्य सदा पश्चात्ताप से पीडित होते हैं, उनके प्रति यह वचन कहा जाता है कि, यदि संसार में विष के कियारी (दुःखादि के स्थानादि) में विषय विष को बोये हो, तो इस समय फलकाल के उपस्थित होने पर शोक क्यों करते हो ॥१७–१८॥ हर्ष से प्रारब्ध को भोगो, मन में उद्वेग (उद्वेजन) नहीं करो। भावी दुःख की निवृत्ति के लिये सुन्दर रीति से उपाय को सोचो ॥१९॥ ज्ञानवृक्ष की शाखा में स्थिर, अति स्वादु, परम अमृत रूप, जीवन्मुक्तिकारक, शुभ, महान् लोकों से देखा गया, शुद्ध, पावन, सनातन, हमारा वह फल यदि तुमसे स्वादित हो, तो इस संसार में ही अचल सुख मिले, सो गुरु कहते हैं ॥२०–२१॥

अक्षरार्थ—हे बिरहुली (विरही) ! तेरे आदि अन्त (जन्म मरण) नहीं होते हैं, तुम अज अविनाशी हो। तुम में जर पल्लव (जड़ पत्र) पेंड (स्कन्ध शाखा) आदि नहीं है। न रात दिन का भेद है, न पवन पानी का सम्बन्ध है, न तेरा कोई मूल कारण है, न पवनादि के कारण से तुझे सम्बन्ध है।

उक्त आत्मा का ज्ञान के लिये प्रवृत्ति–निवृत्ति मार्ग के गुरु ब्रह्मादिक और सनकादिक अपार (अनन्त प्रकार के) योग कह गये हैं। और आद्य सत्ययुग रूप शीतल (सात्विक) आषाढ मास में उन लोकों ने सात भूमिका युक्त योग ज्ञान का तथा सात स्वर युक्त शब्द सात धातुयुक्त देह का बीज बोया।

उक्त बीज के क्षेत्रों को विवेकी आदि आज भी सदा कोड़ते सींचते रहते हैं। जिससे सदा नवीन २ पल्लव (पत्र–किसलय), पेड़ (विटप वृक्ष) आदि होते ही रहते हैं। और वह ज्ञान वृक्षादि सर्वत्र छिछिल (फैल–छितराय) रहा है, तथा तीनों लोक में छाय फैल रहा है।

और एक भला (मनोहर) स्त्री धनादि विषय रूप फूल संसार वृक्ष में फूला (विकसा) है, सो संसार में सर्वत्र फूल रहा है। और उक्त ज्ञानादि के विना सो (उस) सांसारिक फूल के ही लिये भक्तजन भी देवादि को बन्दते (भजते स्तुति करते) हैं। और राउर (सर्वश्रेष्ठ-हृदयवासी स्वामी ईश्वर) के बाँह (सामर्थ्य बाहुबल) की वन्दना करके इसी फल को चाहते हैं।

वेषधारी सन्त जन भी सो (उस) फूल को ही लोढते (प्राप्त करते) हैं, जिससे प्रबल कामादि रूप बैतल (बौरा) सांप इन्हें डंस गया है। इससे ये लोक विषहर मन्त्र को नहीं मानते हैं। गुरु गारुडी तो अपार बोलते हैं (बहुत कुछ कहते हैं, विभु आत्मतत्त्व को समझाते हैं) इत्यादि।

यदि विषय विष की कियारी में वासनादि बीज बोये हो, तो उसके फल फूल को लोढ़ते (चुनते–भोगते) समय क्यों पश्चात्ताप करते हो।

जन्म २ (हर एक जन्म) में यम के अन्दर (वश) में होना ही रूप एक मुख्य फल, संसार कर्मादि रूप कनयल (विषवृक्ष) के डार में लगता है। साहब का कहना है कि, यदि तुम एक बार मेरा फल (मोक्षानुभव, आत्मज्ञान) को चखो (प्राप्त करो) तो सदा सचु (सत्यानन्द) पावो, और सब विष वासनादि भी निवृत्त हो जायँ इत्यादि ॥ १ ॥

पाठान्तर।

फुलवा एक भल फुलल वि० । फूलि रहल संसार वि० ॥
सो लोढहिं सन्त जना वि० । बन्दि के राउर जाहि वि० ॥
सो बन्दहिं भक्त जना वि० । डंसि गेल बैतल सांप वि० ॥

इस पाठ पक्ष में और श्वेत कनयल के फल से सर्पविष निवृत्त होता है। इस लोकप्रसिद्धि का स्वीकार करने पर, अर्थ का भेद है। तथाहि—

विज्ञानादि सुपुष्पं वै फुल्लमेकं च वर्तते ।
संसारद्रुमशाखायां लग्नं तदपि चाद्भुतम् ॥२२॥
गुरुभक्त्या विचाराद्यैस्तद्धि चिन्वन्ति साधवः ।
मुमुक्षवो विरक्ताश्च सदाऽध्यात्मपरायणाः ॥२३॥
सद्गुरुं परमात्मानं ज्ञानविज्ञानतत्परान् ।
अभिवाद्यैव सर्वांस्ते भवमुक्ता भवन्ति हि ॥२४॥

संसारवृक्ष की शाखा रूप ज्ञानी की बुद्धि में विज्ञानादि रूप विकसित एक सुन्दर पुष्प लगा है, और सो भी अद्भुत (आश्चर्य) स्वरूप है ॥२२॥ सदा अध्यात्म (सूक्ष्म) वस्तु ज्ञानादि परायण, विरक्त मुमुक्षु साधु सब, गुरुभक्ति विचारादि द्वारा उस पुष्प का चयन (प्राप्ति) करते हैं ॥२३॥ और वे लोक, सद्गुरु, परमात्मा, ज्ञानविज्ञान में तत्पर इन सब का अभिवादन (नमस्कार) करके ही संसार से मुक्त होते हैं ॥२४॥

पुनरावृत्तिहीनं सत्पदं गच्छन्ति सज्जनाः ।
हृदिस्थं विमलं चैव विभुं च प्रकृतेः परम् ॥२५॥
सकामाश्चान्यभक्ता वै काम्यकर्मात्मकं मृषा ।
संचिन्वन्ति सदा पुष्पं बन्धदं न विमोक्षदम् ॥२६॥
कालरागादिकास्तेन ह्युन्मनाः पवनाशनाः ।
अदशन् तान्न मन्यन्ते मन्त्रांश्च विषहारकान् ॥२७॥
सद्गुरुर्भाषते नित्यमनन्तं मन्त्रसत्पदम् ।
किं करोतु त्वसाध्यत्वे विषस्यास्योल्बणस्य वै ॥२८॥
पश्चात्तापैः किमद्यत्वे ह्युप्तं चेद्विषये विषम् ।
यमधाम्नोऽन्तरे तेन प्राप्तिर्भवति जन्मसु ॥२९॥
मिथ्यास्वाद्यत्वहीनेऽस्मिन् मम वाक्यकरञ्जके ।
मधुरेऽमधुराभासे फलमेकं हि लभ्यते ॥३०॥

सज्जन सब पुनरावृत्ति (उत्पत्ति–नाश) से हीन (रहित), हृदयस्थ, विमल, विभु, प्रकृति से पर (भिन्न), सत्यपद (स्थान वस्तु) को प्राप्त करते हैं ॥२५॥ कामी अन्य भक्त सब सकाम कर्मरूप बन्धप्रद मिथ्या पुष्प का सदा चयन (संग्रह प्राप्ति) करते हैं, विमुक्तिप्रद का नहीं करते ॥२६॥ तिससे काल रागादि रूप बावरा सांप उन्हें दँश (काट) लिया है, और विषनाशक मन्त्रों को भी नहीं मानता है ॥२७॥ सद्गुरु तो सदा अनन्त मन्त्ररूप सत् पद (शब्द) का भाषण करते हैं, परन्तु उल्वण (स्पष्ट) इस विष की असाध्यता होने पर क्या करें ॥२८॥ यदि विषय (हृदयादि देश) में वासनादि विष बोये हो, तो इस समय पश्चात्तापों से क्या होगा । उस बीज के बोने से अनेकों जन्म के होने पर यम का धाम के अन्तरे (मध्य में) प्राप्ति ही होती है ॥२९॥ मिथ्या मधुरता से रहित, अमधुर तुल्य प्रतीयमान, वस्तुतः मधुर मेरे इस वाक्य रूप कनयल में एक फल लगा है ॥३०॥ यदि कोई गुरुसत्संग से प्राप्त उस

स्वाद्येन यदि तद्युक्त्या गुरुमत्सङ्गलब्धया ।
लभ्येन हि तदा सौख्यमित्येवं गुरुराह तान् ॥३१॥

न रात्रिन्दिवभेदोऽस्ति यस्मिन् परमशासने ।
देशकालभिदा नैव दिशन्तं संश्रयामि तम् ॥३२॥

प्रोवाच योऽक्षरैरल्पै वेंदसारं जगद्धितम् ।
हिंसाकल्कादिशुद्धं तमास्तिकः संश्रयेन्न कः ॥३३॥

यस्योपदेशसाम्राज्यात्कामक्रोधादयोऽरयः ।
प्लायन्तेऽपुनरावृत्ति तं कबीरं भजाम्यहम् ॥३४॥

यस्य वाक्यात्सुमन्दोऽपि द्वन्द्वमुक्तो भवत्यलम् ।
स्वच्छन्दं तमहं वन्दे कबीरं भावभास्करम् ॥३५॥

यस्य सत्ताप्रकाशाभ्यां ब्रह्मविष्णुहरादयः ।
अवतारान् प्रतन्वन्ति दिशन्तं तं भजाम्यहम् ॥३६॥

युक्ति द्वारा एक फल का स्वाद ले तो सुख पावे । इस प्रकार गुरु उन पश्चात्ताप करनेवालों को कहते हैं ॥३१॥

जिस परम शासन (निदेश–उपदेश) में रातदिन का भेद नहीं है, न देश का भेद है, तिस शासन को देते हुए उस गुरु का शरण लेता हूं ॥३२॥ जो अल्प अक्षरों से वेद के सार जगत् का हित को अच्छी तरह कहे हैं । हिंसा कल्क (ताप–दम्भ–पापाशय) आदि से रहित उनको कौन आस्तिक नहीं सेवेगा ॥३३॥ जिनके उपदेशरूप सम्राट्पन से कामादि रूप शत्रु अपुनरावृत्ति जैसे हो तैसे भागते हैं, तिस कबीर साहब को मैं भजता हूं ॥३४॥ जिनके सुगमार्थक वाक्य से अति मन्द (आलसी–अल्प पटु) भी द्वन्द्वों से मुक्त अति स्वच्छन्द होता है । भवों (पदार्थोत्मादि) के प्रकाशक उस कबीर गुरु को मैं भजता हूं ॥३५॥ जिसके सत्ता प्रकाश से ब्रह्मा, विष्णु आदि, अवतारों का विस्तार करते हैं, उसका उपदेश देते

नाऽस्पर्शि यो दोषलवैर्विशुद्धो यस्मिंश्च सर्वे सुगुणा वसन्ति।
भिन्ने गुणैराकुलिताश्च लोका भेदैर्विहीनं तमहं भजामि ॥३७॥
तत्त्वज्ञसत्तत्त्वपरं जितेन्द्रियं जितामयं चैव जितारिसंचयम्।
शान्तं सदा शान्तिपरं जनप्रियं वन्दे मुनीन्द्रं हि कबीरसंज्ञकम् ॥३८॥
श्रमैर्विहीनं गतकामकल्मषं क्रोधादिदोषैः खलु वर्जितं सदा।
गुणज्ञमुख्यं च परार्थवृत्तिनं वन्दे कबीरं करुणामयं गुरुम् ॥३९॥
सत्यैकसन्धं निजबोधनिर्मलं सांख्ये च योगे परिनिष्ठितं कविम्।
सर्वज्ञसर्वाभयविग्रहं हितं ह्याहारसंहारविवर्जितं भजे ४०॥
ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिर्नान्यः पन्था मुक्तये चेति वाक्यात्।
ज्ञप्तौ साक्षान्मुक्तिहेतुत्वमत्र तत्संसिद्धयै यो हि वक्ता नुमस्तम्॥४१॥

हुए को मैं भजता हूं ॥३६॥ जो विशुद्धात्मा दोष के लवों (लेशों) से स्पृष्ट नहीं हुवा, और जिसमें सब सुगुण वसते हैं, लोक भिन्न (अन्य) वस्तु में आकुल (व्यस्त) हुए हैं, भेदों से रहित उस विशुद्ध को मैं भजता हूं ॥३७॥ जो तत्त्वज्ञ हैं, जिनकी दृष्टि में सत्तत्त्व ही उत्तम हैं, जितेन्द्रिय, जितरोग, जितारिसमूह, सदा शान्त, शान्तिपर, कबीर नामक, उस मुनीन्द्र की मैं बन्दना करता हूं ॥३८॥ श्रमों (खेदों) से रहित, काम पाप रहित, क्रोधादि दोषों से सदा रहित, गुणज्ञों में प्रधान, परार्थक वृत्त (चरित्र) वाला करुणामय कबीर गुरु की वन्दना करता हूं ॥३९॥ सत्य एक (मुख्य) सन्धा (प्रतिज्ञा मर्यादा) वाला, निज (नित्य-आत्म) बोध (ज्ञान) से निर्मल, सांख्य (विवेक विचार) योग (मन इन्द्रिय निरोध) में परिनिष्ठित (परिपूर्ण-स्थिर), कवि, सर्वज्ञ और जिससे सबको अभय हो ऐसा विग्रह देहवाला, हित, और आहार (भोग-संग्रह) और संहार (नाश) से रहित को भजता हूं ॥४०॥ सर्वात्मा देव को जानकर सर्व पाश (बन्धन) की हानि (निवृत्ति) को मनुष्य प्राप्त करता है, ज्ञान से अन्य मुक्ति के लिये मार्ग नहीं है, इस वेद वाक्य से ज्ञान में प्रत्यक्ष मुक्ति के कारणत्व है। तिस ज्ञान की ही सम्यक् सिद्धि के लिये

विरहिवर्तनमाशु निरीक्ष्यतां स्वजननादिभयं च विसृज्यताम् ।
अतिविशुद्धमनन्तचिदव्ययं परिनिरीक्ष्य जनैः सुखमास्यताम् ॥४२॥१॥

इति विरहुलीवर्तनाख्या व्याख्या समाप्ता ।

जो गुरु वक्ता हैं, उनको नमस्कार करता हूं ॥४१॥ विरही का वर्तन (जीवन) को शीघ्र देखा जाय, और अपने जन्मादि भय को त्यागा जाय, और अत्यन्त विशुद्ध अनन्त चेतन अव्यय आत्मा को देखकर, जनों से सुखपूर्वक रहा जाय ॥४२॥

अक्षरार्थ—विज्ञान रूप एक भला फूल भी संसार में फूला है, उसके लिये ईश्वर गुरु की बन्दना करके जो उस फूल को लोढ़ते (प्राप्त करते) हैं, सो सज्जन संसार से परे पहुंचते हैं, और सकाम भक्त भी उसके लिये वन्दना करते हैं, परन्तु काम रूप बौरा सांप के काटने से मोक्ष ज्ञान नहीं पाते इत्यादि ॥ १ ॥

हरि गुरु चरण सरोज में, भाव सहित शिर नाय ।
हनूमान सहजै तरै, वारिधि विरह विलाय ॥ १ ॥

इति विरहुली प्रकरण समाप्तम् ।

॥ समाप्तश्चायं द्वितीयो भागः ॥

पू० स्वामी श्री हनुमानदासजी साहेब षड्शास्त्री विरचित अमूल्य ग्रन्थ।

१ तत्त्वार्थ दोहावली (द्वितीय संस्करण)

इसमें श्रुति, स्मृति, और पुराणेतिहास के उपदेशप्रद श्लोकों का सुन्दर भावार्थ दोहाओं में उतारा गया है। वर्ण, आश्रम, और पितापुत्र, गुरुशिष्य आदि के समस्त भिन्न २ धर्मों का सुन्दर दोहाओं में ११ काण्डों में वर्णन किया गया है। अनेकों धर्मशास्त्रों का सार इसमें भर दिया गया है। स्त्री पुरुष बालक सब कोई सरलता से पढ सकते हैं। कठिन स्थलों पर टिप्पणी भी दे दी गई है। सर्वजनोपयोगी सामान्य धर्मज्ञान का अपूर्व ग्रन्थ। **मूल्य २॥ ढाई रुपया।**

२ संस्कृत बीजक (प्रथम भाग और द्वितीय भाग)

सद्गुरु कबीर साहब के मुख्य ग्रन्थ 'बीजक' का संस्कृत श्लोकबद्ध पद्यानुवाद, श्लोकार्थ और अक्षरार्थ के साथ परिवर्द्धित, संशोधित संस्कृत बीजक का पुनर्मुद्रण। जिसमें 'शिशुबोधिनी' नामक बृहत् भाषा टीका को भी समाविष्ट कर दिया है। साथ २ श्लोकों का अर्थ भी क्रमपूर्वक दिया गया है। प्रथम संस्करण के अनुसार ही मूल पाठ, संस्कृत श्लोकमय अनुवाद, श्लोकार्थ और अक्षरार्थ; इस प्रकार समग्र ग्रंथ की रचना की गई है। आवश्यक स्थलों पर टिप्पणी भी दी गई हैं।

प्रथम भाग–जिसमें बीजक सुरहस्य और रमैनी प्रकरण है। छपकर तैयार है। **मूल्य ७ सात रुपया।**

द्वितीय भाग–जिसमें शब्द, कहरा, विप्रमतीसी, हिंडोला, बसंत, चांचर, ज्ञान चौतीसी, बेलि और बिरहुली ये ९ प्रकरण दिये गये हैं। छपकर तैयार है। **मूल्य ५) पांच रुपया।**

तृतीय भाग–जिसमें अन्तिम साखी प्रकरण दिया गया है। छपनेवाला। **मूल्य ३) तीन रुपया।**

पता— **स्वसंवेद-कार्यालय,**
'चेतनधाम' सीयाबाग, बडोदा (गुजरात)।